

भ ग व इति

विआहपण्णत्ती



नित नया उन्मेष जिस मस्तिष्क का संधान है ।
वाचना के प्रमुख तुलसी का सकल अनुदान है ।
भाष्य-युग की शृंखला में एक नव्य प्रयोग है ।
राष्ट्रभाषा में विनिर्मित “भगवती”-अनुयोग है ॥

वाचना - प्रमुख

गणाधिपति तुलसी

संपादक : भाष्यकार

आचार्य महाप्रज्ञ

भ ग व ई विआहपण्णत्ती

[खण्ड - १]
(शतक १,२)

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य तथा परिशिष्ट—शब्दानुक्रम आदि,
जिनदास महत्तर कृत चूर्ण एवं अभयदेवसूरिकृत वृत्ति सहित)

वाचना-ग्रमुख
गणाधिपति तुलसी

संपादक : भाष्यकार
आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं, राजस्थान-३४१३०६

प्रकाशकः

श्रीचन्द रामपुरिया
कुलाधिपति
जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं

© जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

प्रथम संस्करण : १९९४

पृष्ठ संख्या : ४२ + ४१४

मूल्य : ५९५/-
US \$ 40.00

कम्प्यूटर द्वारा टाईप सेटिंग

कम्प्यूटर विभाग,
जैन विश्व भारती संस्थान,
लाडनूं (राजस्थान)
कोड - JVBI/CD/BHAGWAI/0001/94

मुद्रण :

निओ आफसेट प्रेस, नई दिल्ली

BHAGAWAI VIAHAPANNATTĪ

[Volume - 1]
(Shatak 1, 2)

(Prakrit Text, Sanskrit Renderings, Hindi Translation and Critical Annotations
with Appendices—Indices, Chūrni of Jinadāsa Mahattara and Vitti of
Abhayadevasūri)

Synod Chief
(*Vachanā-pramukha*)
GANADHIPATI TULSI

Editor and Annotator (Bhāshyakara)
ACHARYA MAHAPRAJNA

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE
(Deemed University)
Ladnun, Rajasthan-341306

Publisher :

Srichand Rampuria
Chancellor

Jain Vishva Bharati Institute
(Deemed University), Ladnun (Raj.)

© Jain Vishva Bharati Institute

First Edition : 1994

Pages : XLII + 414

Price : Rs. 595/-
US \$40

Typeset by :

Computer Department
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun (Raj.)
Code No.: JVB/CD/BHAGWAI/0001/94

Printed by :

Neo Offset, New Delhi, Phones : 6822911, 6823601, 6910427

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्टो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पट्ट,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्धान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

विनयावन्त

गणाधिपति तुलसी

भगवती भाष्य वन्दना

वाणी-वन्दना

सत्य की अभिव्यक्ति में अक्षर सहज अक्षर बना ।
वन्दना उस आप्त-वाणी की करें पुलकितमना ।
भारती कैवल्य-पथ से अवतरित अधिगम्य है ।
सुचिर-संचित तम-विदारक रम्य और प्रणम्य है ॥

वीर-वन्दना

पुरुष के पुरुषार्थ का अधिकृत प्रवक्ता जो रहा ।
चेतना-निष्णात हो जो कुछ हुआ सबको सहा ।
समन्वय का सूत्र सम्यग् दृष्टि का पहला चरण ।
वीर प्रभु के चरण-चिह्नो का करें हम अनुसरण ॥

भिक्षु-वन्दना

अगम आगम के पदों का काव्य था जिसने लिखा ।
सहज प्रज्ञा से अपथ का पथ था जिसको दिखा ।
भिक्षु का वर मार्गदर्शन भाग्य से उपलब्ध है ।
सूत्र-सम्पादन नियति का वह बना प्रारब्ध है ॥

जय-कालु-वन्दना

सुचिर पोषित आप्त-चाङ्मय-धेनु का दोहन किया ।
मुनिप जय ने भिक्षु-गण में प्रवर सूर्योदय किया ।
उदय की इस उर्वरा का बीज हर आलेख है ।
पूज्य कालू के सुचिन्तन का नया अभिलेख है ॥

वाचना-प्रमुख गणाधिपति तुलसी-वन्दना

नित नया उन्मेष जिस मस्तिष्क का संधान है ।
वाचना के प्रमुख तुलसी का सकल अनुदान है ।
भाष्य-युग की शृंखला में एक नव्य प्रयोग है ।
राष्ट्रभाषा में विनिर्मित "भगवती"-अनुयोग है ॥

विनयावनत :
आचार्य महाप्रज्ञ

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का जो अपने हाथों से उम्र और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

संपादक : भाष्यकार	—	आचार्य महाप्रज्ञ
सहयोगी संस्कृत छाया, अनुवाद	—	महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा
सहयोगी सम्पादन-भाष्य	—	महाश्रमण मुदित कुमार
		मुनि हीरालाल
		मुनि महेन्द्र कुमार

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

गणाधिपति तुलसी

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम-प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हम वत्तीस आगमों का पाठान्तर, शब्दसूची तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सुसंपादित मूल पाठ प्रकाशित कर चुके हैं। उसके साथ-साथ आगम-ग्रन्थों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं प्राचीनतम व्याख्या-सामग्री के आधार पर सूक्ष्म ऊहापोह के साथ लिखित विस्तृत मौलिक टिप्पणों से मंडित संस्करण प्रकाशित करने की योजना भी चलती रही है।

इस शृंखला में पांच आगम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

१. दसवेआलियं
२. उत्तरज्जयणाणि
३. सूयगडो
४. ठाणं
५. समवाओ

प्रस्तुत आगम भगवई विआहपण्णत्ती उसी शृंखला का छठा आगम है। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख गणाधिपति श्री तुलसी एवं अप्रतिम विद्वान् संपादक-भाष्यकार आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने जो श्रम किया है, वह ग्रन्थ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवई विआहपण्णत्ती के प्रथम दो शतकों का समावेश है।

संपादन-भाष्य-सहयोगी महाश्रमण मुनि श्री मुदित कुमारजी, मुनि श्री महेन्द्र कुमारजी और मुनि श्री हीरालालजी ने इसे सुसज्जित करने में श्रम किया है। संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा श्री कनकप्रभाजी ने सम्पन्न किया है। ग्रन्थ की स्वच्छ प्रति तैयार करने में आदरणीय समणीवृन्द का बहुत सहयोग रहा है।

प्रस्तुत आगम का प्रकाशन कम्प्यूटर द्वारा सेटिंग कर किया गया है जिसमें गणाधिपति श्री तुलसी की शिष्या-द्वय समणी शशीप्रज्ञा एवं प्रतिभाप्रज्ञा ने बहुत परिश्रम किया है। जैन विश्व भारती में श्री बजरंगलाल जैन, कम्प्यूटर प्वाइंट द्वारा स्थापित कम्प्यूटर विभाग के माध्यम से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। आर्थिक सहयोग के लिए भी हम उनके ऋणी हैं।

ऐसे सुसम्पादित आगम ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सौभाग्य जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) को प्राप्त हुआ है।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

सुजानगढ़
३०-१-६४

श्रीचन्द्र रामपुरिया
कलाधिपति, जैन विश्व भारती संस्थान

सम्पादकीय

भगवई विआहपण्णती का प्रथम भाग पाठक के सम्मुख प्रस्तुत हो रहा है। इसके सम्पूर्ण मूलपाठ का सम्पादन अंगसुताणि भाग २ में हो चुका है। हमने जो सम्पादन-शैली स्वीकृत की है, उसमें पाठ-शोधन और अर्थ-बोध दोनों समवेत हैं। अर्थ-बोध के लिए शुद्ध पाठ अपेक्षित है और पाठ-शुद्धि के लिए अर्थ-बोध अनिवार्य है।

प्रस्तुत संस्करण अर्थ-बोध कराने वाला है। इसमें मूल पाठ के अतिरिक्त संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और सूत्रों का हिन्दी भाष्य समवेत है। पाठ-सम्पादन का काम जटिल है। अर्थ-बोध का काम उससे कहीं अधिक जटिल है। कथा-भाग और वर्णन-भाग में तात्पर्य-बोध की जटिलता नहीं है। किन्तु तत्त्व और सिद्धान्त का खण्ड बहुत गम्भीर अर्थ वाला है। उसकी स्पष्टता के लिए हमारे सामने दो आधारभूत ग्रन्थ रहे हैं—

१. अभयदेव सूरिकृत वृत्ति—इसे अभयदेवसूरि ने स्वयं विवरण ही माना है और उसे पढ़ने पर वह विवरण-ग्रन्थ का बोध ही कराता है, व्याख्या-ग्रन्थ का बोध नहीं देता।

२. भगवती-जोड—इसमें श्रीमज्जयाचार्य ने अभयदेवसूरि की वृत्ति का पूरा उपयोग किया है। 'धर्मसी का टबा' का भी अनेक स्थलों पर उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त आगम और अपने तत्त्वज्ञान के आधार पर अनेक समीक्षात्मक वार्तिक लिखे हैं। हमने भाष्य के लिए आगम-सूत्रों, श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ-साहित्य, वैदिक और बौद्ध परम्परा के अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया है। 'आयारो' का भाष्य संस्कृत भाषा में लिखा गया है। भगवती का भाष्य हिन्दी में लिखा गया है। ठाणं, सूयगडो आदि की सम्पादन-शैली यह रही—मूल पाठ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा स्थान और अध्ययन की समाप्ति पर टिप्पण अथवा भाष्य। भगवती की सम्पादन-शैली में एक नया प्रयोग किया गया है। प्रत्येक सूत्र अथवा प्रत्येक आलापक (प्रकरण) के साथ भाष्य की समायोजना है। अन्त में छह परिशिष्ट हैं, जैसे—

१. नामानुक्रम
२. भाष्यविषयानुक्रम
३. पारिभाषिक शब्दानुक्रम
४. आधारभूत ग्रन्थ सूची ।
५. जिनदास महत्तरकृत चूर्णि—दो शतक।
६. अभयदेवसूरिकृत वृत्ति—दो शतक।

प्रत्येक शतक के पहले एक आमुख है। पाद-टिप्पण में सन्दर्भ-वाक्य उद्धृत हैं।

उपलब्ध आगम-साहित्य में भगवती सूत्र सबसे बड़ा ग्रन्थ है। तत्त्वज्ञान का अक्षयकोष है। इसके अतिरिक्त इसमें प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले दूर्लभ सूत्र विद्यमान हैं। इस पर अनेक विद्वानों ने काम किया है। किन्तु जितने श्रम-बिन्दु झलकने चाहिए, उतने नहीं झलक रहे हैं, यह हमारा विनम्र अभिमत है। गुरुदेव की भावना थी कि भगवती पर गहन अध्ययन के साथ कार्य होना चाहिए। हमने उस भावना को शिरोधार्य किया है और उसके अनुरूप फलश्रुति भी हुई है। इसका मूल्यांकन गहन अध्ययन करने वाले ही कर पाएँगे। हमारा यह निश्चित मत है कि सभी परम्पराओं के ग्रन्थों के व्यापक अध्ययन और व्यापक दृष्टिकोण के बिना प्रस्तुत आगम के आशय को पकड़ना सरल नहीं है। उदाहरण के लिए एक शब्द को प्रस्तुत करना अभीष्ट है। प्रथम शतक के एक सूत्र (३४६) में 'अवरा' पाठ है। पंडित बेचरदास जी ने उसका अर्थ दूसरी एक नाड़ी (तथा वीजी पण एक नाड़ी छै) किया है।^१

चरकसंहिता के अनुसार-गर्भस्थ शिशु को रसवाहिनियों से पोषण प्राप्त होता है। गर्भ की नाभि में नाड़ी लगी रहती है, नाड़ी में अपरा (Placenta) लगी रहती है और अपरा का संबंध माता के हृदय के साथ लगा रहता है। माता का हृदय उस अपरा को स्यन्दमान (जिसमें रस-रक्त आदि का वहन होता है) शिराओं द्वारा रस-रक्त से आप्नावित किए रहता है।^२

१. श्रीमद् भगवती सूत्र बेचरदास जी द्वारा अनुवादित, संपादित, प्रथम खण्ड, पृ. १८२।

२. चरक संहिता, शारोस्थान, ६।२३।

सहयोगानुभूति

जैन परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत प्राचीन है। आज से १५०० वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएं हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उनके वाचना-काल में जो आगम लिखे गए थे, वे इस लम्बी अवधि में बहुत ही अव्यवस्थित हो गए। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए आज फिर एक सुनियोजित वाचना की अपेक्षा थी। गणाधिपति पुज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने सुनियोजित सामूहिक वाचना के लिए प्रयत्न भी किया था, परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारी वाचना अनुसन्धानपूर्ण, तटस्थ दृष्टि-समन्वित तथा सपरिश्रम होगी, तो वह अपने-आप सामूहिक हो जाएगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

हमारी इस वाचना के प्रमुख गणाधिपति श्री तुलसी हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति में अध्यापन-कर्म के अनेक अंग हैं—पाठ का अनुसन्धान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक अध्ययन आदि आदि। इन सभी प्रवृत्तियों में गुरुदेव का हमें सक्रिय योग, मार्ग-दर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भगवती का सानुवाद और सभाष्य संस्करण है। इसमें भगवती के प्रथम दो शतक व्याख्यात हैं। मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य और उसके सन्दर्भ-स्थल—ये सब प्रस्तुत संस्करण के परिकर हैं। अनुवाद-कार्य साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी ने संपन्न किया है। भाष्य-लेखन और सम्पादन में महाश्रमण मुनि मुदित कुमार, मुनि महेन्द्र कुमार और मुनि हीरालालजी सहयोगी रहे हैं। परिशिष्टों के निर्माण एवं सम्पादन में उक्त मुनियों के अतिरिक्त साध्वियों एवं समणियों का भी योगदान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में अनेक साधु-साध्वियों का योग है। गुरुदेव के वरद हस्त की छाया में बैठकर कार्य करने वाले हम सब संधागी हैं। फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूं जिनका इस कार्य में स्पर्श हुआ है।

आचार्य महाप्रज्ञ

संकेत-निर्देशिका

अ.चू.—अगस्त्य चूर्णि (दशवैकालिक)

अंत.—अंतगडदसाओ

अणु.—अणुओगदाराइं

अनु. चू.—अनुयोगद्वारचूर्णि

अनु. मल. वृ.—अनुयोगद्वार मलधारीय वृत्ति

अनु. हा.वृ.—अनुयोगद्वार हरिभद्रीय वृत्ति

अभि.—अभिधान चिन्तामणि

आ. चू.—आचारांग चूर्णि

आ. चूला—आधार चूला

आ. वृ.—आचारांग वृत्ति

आटे.—आटे का संस्कृत इंग्लिश कोश

आव.—आवस्सयं

आव. चू.—आवश्यक चूर्णि

आव. नि.—आवश्यक निर्युक्ति

उत्तर.—उत्तरज्झयणाणि

उत्तरा. नि.—उत्तराध्ययन निर्युक्ति

उत्तरा.बृ. वृ.—उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति

उत्तरा.वृ.—उत्तराध्ययन वृत्ति

उवा.—उवासदसाओ

ओघ.—ओघनिर्युक्ति

ओ/ओवा.—ओवाइयं

औप. वृ.—औपपातिक वृत्ति

क. पा.—कसाय पाहुडं

गो. सा.—गोम्मेट सार

छा. उ.—छान्दोग्य उपनिषद्

जंबु.—जंबुद्वीवपण्णत्ती

जम्बू. वृ.—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति

जि. चू.—जिनदास चूर्णि

जीवा.—जीवाजीवाभिगमे

जीवा. वृ.—जीवाजीवाभिगम वृत्ति

जै. सि.को.—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

ज्ञाता. वृ.—ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति

ज्ञान. प्र.—ज्ञान बिन्दु प्रकरण

त. रा. वा.—तत्त्वार्थ वार्तिक (राजवार्तिक)

त. सू.—तत्त्वार्थ सूत्र

त. सू. भा. वृ.—तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र-भाष्यानुसारिणी वृत्ति

ति. प.—तिलोय पण्णत्ती

दशवै. अ. चू.—दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि

दशवै. जि. चू.—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि

दशवै. नि.—दशवैकालिक निर्युक्ति

दशवै. हा. टी.—दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका

दसवे.—दसवेआलियं

नंदी चू.—नंदी चूर्णि

नन्दी हा. वृ.—नन्दी हरिभद्रीय वृत्ति

नन्दी वृ.—नन्दी वृत्ति

नाया.—नायाधम्मकहाओ

नि. चू.—निशीथ चूर्णि

नि. भा. चू.—निशीथभाष्य चूर्णि

निरया.—निरयावलियाओ

निसीह.—निसीहज्झयणं

पं. सं. (श्वे.)—पञ्च संग्रह (श्वेताम्बर)

पं. सं. दि.—पञ्चसंग्रह (दिगम्बर)

पण्ण.—पण्णवणा
 पण्हा.—पण्हावागरणाइं
 पा. यो. द.—पातञ्जलयोगदर्शनम्
 प्र. न. त.—प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
 प्र. सा.—प्रवचन सार
 प्र. सारो. वृ.—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
 प्रज्ञा. वृ.—प्रज्ञापना वृत्ति
 बृ. क. भा.—बृहत्कल्प भाष्य
 भ. चू.—भगवती चूर्णि
 भ. जो.—भगवतीजोइ
 भ.—भगवई विआहपण्णत्ती
 भ. वृ.—भगवती वृत्ति
 मनु.—मनुस्मृति
 राज. वृ.—राजप्रश्नीय वृत्ति
 राय.—रायपसेणइयं
 वि. भा.—विशेषावश्यक भाष्य
 वि. भा. वृ.—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति
 विजयोदया वृ.—विजयोदया वृत्ति
 व्य. भा. वृ.—व्यवहार भाष्य वृत्ति
 व्य. भा.—व्यवहार भाष्य
 श्वे. उ.—श्वेताश्वतर उपनिषद्

ष. खं.—षट्खण्डागम
 सम.—समवाओ
 सम. प.—समवाओ, पइण्णग समवाओ
 सम. वृ.—समवायांग वृत्ति
 सम्मति.—सम्मति प्रकरणम्
 सूत्र. चू.—सूत्रकृतांग चूर्णि
 सूत्र. नि.—सूत्रकृतांग निर्युक्ति
 सूत्र. वृ.—सूत्रकृतांग वृत्ति
 सूय.—सूयगडो
 सू.—सूरपण्णत्ती
 स्था. वृ.—स्थानाङ्ग वृत्ति
 हा. वृ.—हारिमद्रीय वृत्ति
 अ.—अध्ययन
 उ.—उद्देशक
 खं.—खण्ड
 गा.—गाथा (पद्य)
 भा.—भाग
 प.—पत्र
 पृ.—पृष्ठ
 पु.—पुस्तक
 सू.—सूत्र

भूमिका

नाम—भगवान् महावीर की वाणी द्वादशांगी में संकलित है। उस द्वादशांगी के पाँचवे अंग का नाम है—‘विआहपण्णत्ती’। इसका संस्कृत रूप है—‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’। प्रश्नोत्तर की शैली में लिखा जाने वाला ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है। व्याख्या का अर्थ है विवेचन करना और प्रज्ञप्ति का अर्थ है समझाना। जिसमें विवेचनपूर्वक तत्त्व समझाया जाता है उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। नंदीसूत्र में चार प्रज्ञप्तियों का उल्लेख है—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति। इनमें प्रथम तीन कालिकश्रुत हैं^१ और सूर्यप्रज्ञप्ति उत्कालिकश्रुत है।^२ ‘कसायपाहुड’ में परिकर्म के पांच अधिकार बतलाए गए हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।^३ श्वेताम्बर साहित्य में व्याख्याप्रज्ञप्ति का उल्लेख केवल द्वादशांगी के पाँचवे अंग के रूप में ही मिलता है। यदि द्वादशांगी के ग्यारह अंगों को बारहवें अंग (दृष्टिवाद) से उद्धृत माना जाए तो दिग्म्बर साहित्य के आधार पर व्याख्याप्रज्ञप्ति को परिकर्म के पाँचवें अधिकार (व्याख्याप्रज्ञप्ति) से उद्धृत माना जा सकता है। इन दोनों की विषयवस्तु भी समान है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म रूपी-अरूपी, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य के प्रमाण और लक्षण, मुक्त-जीवों तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन करता है।^४ तत्त्वार्थराजवार्तिक तथा नंदी और समवायांग में भी व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के विषय-प्रतिपादन का उल्लेख मिलता है, वह भी जीव-अजीव आदि द्रव्यों के वर्णन की सूचना देता है।^५ समवायांग और नंदी में व्याख्याप्रज्ञप्ति और व्याख्या—ये दोनों नाम मिलते हैं।^६ व्याख्या व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही संक्षिप्त रूप है। अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत सूत्र के प्रारम्भ में व्याख्याप्रज्ञप्ति पद की व्याख्या की है। उनके अनुसार प्रस्तुत आगम में गौतम आदि शिष्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में महावीर ने जो प्रतिपादन किया, उसकी प्रज्ञापना है। इसलिए इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। उन्होंने इसके चार अर्थ और किए हैं—

१. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञप्ति।

२. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञाप्ति।

इसमें व्याख्या की प्रज्ञा से अर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए यह व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञाप्ति है।

३. व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञाप्ति।

४. व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञाप्ति।

व्याख्याप्रज्ञ भगवान् महावीर के द्वारा गणधरों को अर्थ की प्राप्ति हुई है, इसलिए इस आगम का नाम व्याख्याप्रज्ञाप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञाप्ति है।

ये चारों अर्थ बौद्धिक हैं। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से किए जा सकते हैं, इसलिए किए गए हैं। ये मूलस्पर्शी नहीं हैं। विआहपण्णत्ती का कुछ आदर्शों में विआहपण्णत्ती पाठ भी मिलता है। यह संभवतः लिपिकारों के प्रमाद से हुआ है। अभयदेवसूरि ने इस पाठ की भी व्याख्या की है—

१. वि + वाह + प्रज्ञप्ति = विवाहप्रज्ञप्ति। इसमें विविध या विशिष्ट अर्थप्रवाहों का प्रज्ञापन है, इसलिए यह विवाहप्रज्ञप्ति है।

२. वि + बाध + प्रज्ञप्ति = विबाधप्रज्ञप्ति। इसमें बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित अर्थ का निरूपण है, इसलिए यह विबाधप्रज्ञप्ति है।

प्रस्तुत आगम का दूसरा नाम ‘भगवती’ है।^७ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र की अपनी विशिष्टता थी, इसलिए भगवती इसका एक विशेषण था। समवायांग में विआहपण्णत्ती के साथ भगवती विशेषण रूप में प्रयुक्त है।^८ आगे चलकर यह विशेषण नाम बन गया। इस सहस्राब्दी में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा ‘भगवती’ नाम अधिक प्रचलित है।

१. नंदी,सू.७८।

२. वही,सू.७९।

३. क.पा.प्रथम अधिकार,पृ.१३२—परियम्मं चंद-सूर-जंबूद्वीव-दीवसायार-विआहपण्णत्तिभेएण पंच-विहं।

४. वही,प्रथम अधिकार,पृ.१३३—

जा पुण विआहपण्णत्ती सा रुवि-अरुवि-जीवाजीवदव्वाणं भवसिद्धिय-अभवसिद्धियाणं।
पमाणस तल्लक्खणस अणंतर-परंपरसिद्धाणं च अण्णेसिं च वत्थुणं वण्णणं कुणइ॥

५. त.रा.वा.१।२०;नंदी,सू.१५;सम.प.सू.६३।

६. सम.प.सू.८८,६३;नंदी,सू.८०,८५।

७. म.वृ.प.२।

८. वही,प.२—इयं च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते।

९. सम.८४।११—विआहपण्णत्तीए णं भगवतीए चउरासीइ पयसहसा पदग्गेणं पण्णत्ता।

विषयवस्तु

समवायांग और नंदी के अनुसार प्रस्तुत आगम में ३६ हजार प्रश्नों का व्याकरण है।^१ तत्त्वार्थराजवार्तिक, षट्खण्डागम और कसायपाहुड के अनुसार प्रस्तुत आगम में ६० हजार प्रश्नों का व्याकरण है।^२ प्रस्तुत आगम के विषय के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ मिलती हैं। समवायांग में बताया गया है कि अनेक देवों, राजाओं और राजर्षियों ने भगवान् से विविध प्रकार के प्रश्न पूछे और भगवान् ने विस्तार से उनका उत्तर दिया। इसमें स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, लोक और अलोक व्याख्यात हैं।^३ नंदी में भी यही विषयवस्तु निर्दिष्ट है,^४ किन्तु उसमें समवायांग की भांति प्रश्नकर्ताओं का उल्लेख नहीं है। आश्चर्य है कि समवायांग में सबसे बड़े प्रश्नकार गौतम का उल्लेख नहीं है। आचार्य अकलंक के अनुसार प्रस्तुत आगम में जीव है या नहीं है—इस प्रकार के अनेक प्रश्न निरूपित हैं।^५ आचार्य वीरसेन के अनुसार प्रस्तुत आगम में प्रश्नोत्तरों के साथ-साथ ६६ हजार छिन्नच्छेद नयों,^६ ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है।^७

उक्त सूचनाओं से प्रस्तुत आगम का महत्त्व जाना जा सकता है। वर्तमान ज्ञान की अनेक शाखाओं ने अनेक नए रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम प्रस्तुत आगम की गहराइयों में जाते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि इन रहस्यों का उद्घाटन अतीत में भी हो चुका था। प्रस्तुत आगम तत्त्वविद्या का आकरग्रन्थ है। इसमें चेतन और अचेतन—इन दोनों तत्त्वों की विशद जानकारी उपलब्ध है। संभवतः विश्व विद्या की कोई भी ऐसी शाखा नहीं होगी जिसकी इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में चर्चा न हो। तत्त्वविद्या का इतना विशाल ग्रंथ अभी तक ज्ञात नहीं है। इसके प्रतिपाद्य विषय का आकलन करना एक जटिल कार्य है। अंगसुत्ताणि भाग दो में इसकी विस्तृत विषयसूचि उपलब्ध है। फिर भी कुछ विषयों की चर्चा करना अपेक्षित है।

प्रस्तुत आगम में तत्त्वविद्या का प्रारम्भ 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न से होता है।^८ जैन-दर्शन में प्रत्येक तत्त्व का प्रतिपादन अनेकान्त की दृष्टि से होता है। एकान्त दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में नहीं हो सकते। अनेकान्त की दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में होते हैं। समूचे आगम में अनेकान्त दृष्टि का पूरा उपयोग किया गया है। अनेकान्त का स्वरूप है नयवाद या दृष्टिवाद। मध्ययुग में तर्कप्रधान आचार्यों ने अनेकान्त का प्रमाण के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मौलिक नहीं है। अनेकान्तवाद के अनुसार प्रमाण औपचारिक है, वास्तविक है नय। इस प्रश्न की व्याख्या ऋजुसूत्र नय से होती है। जयधवल में पच्यमान-पक्क की व्याख्या ऋजुसूत्र नय के आधार पर की गई है। इसी प्रकार क्रियमाण कृत, भुज्यमान भुक्त, बद्धमान बद्ध और सिद्धमान सिद्ध आदि की व्याख्या एकसमयवर्ती पर्याय को सूचित करने वाले ऋजुसूत्र नय के द्वारा होती है।^९ अभयदेवसूरी ने इसकी व्याख्या निश्चय नय के अनुसार की है। उनका कहना है कि व्यवहारनय के अनुसार चलित को ही चलित कहा जा सकता है और निश्चय नय के अनुसार चलमान को भी चलित कहा जा सकता है।^{१०} इसका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति और निष्पत्ति का क्षण एक ही है जिस क्षण में उत्पत्ति है उसी क्षण में निष्पत्ति हो जाती है। उत्पत्ति और निष्पत्ति की शृंखला चालू रहती है।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में धर्मदर्शनों का बहुत बड़ा समवाय था। श्रमण और वैदिक—दोनों परम्पराओं के सैकड़ों सम्प्रदाय प्रचलित थे। महावीर ने अपनी दीर्घ तपस्या से सूक्ष्म सत्त्वों का साक्षात्कार और उनका प्रतिपादन किया। षड्जीवनिकाय लोक-अलोकवाद, पञ्चास्तिकाय, परमाणुवाद, तमस्काय, कृष्णराजि—ये जैन दर्शन के सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रज्ञापक हैं। कुछ पश्चिमी विचारकों ने लिखा है—जैन दर्शन अन्यान्य दर्शनों के विचारों का संग्रह-मात्र है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनकी इस स्थापना को हम सर्वथा निराधार नहीं मानते, इसका एक आधार भी है। मध्य युग के आचार्यों ने न्याय या तर्कशास्त्र के जिन ग्रंथों की रचना की उनमें बौद्ध और नैयायिक आदि दर्शनों के विचारों का संग्रह किया गया है। उन ग्रंथों को पढ़कर जैन दर्शन के बारे में उक्त धारणा होना अस्वाभाविक नहीं है। जैन दर्शन का वास्तविक स्वरूप आगम सूत्रों में निहित है। मध्यकालीन ग्रन्थ खंडन-मंडन के ग्रन्थ हैं। हमारी दृष्टि में वे दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं हैं। पहली भ्रान्ति यह है कि तार्किक ग्रन्थों को दार्शनिक ग्रन्थ माना जा रहा है। दूसरी भ्रान्ति इसी मान्यता के आधार पर चल रही है कि जैन दर्शन दूसरे दर्शनों के विचारों का संग्रह-मात्र है। पहली भ्रान्ति टूटे बिना दूसरी भ्रान्ति नहीं टूट सकती। जैन दर्शन के आधारभूत और मौलिक ग्रन्थ आगम-ग्रन्थ हैं। ये दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका गम्भीर अध्येता नहीं कह सकता कि जैन दर्शन दूसरे विचारों का संग्रह मात्र है। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—भगवान् ! आपकी सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिए मुझे बहुत प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। आपके द्वारा प्रतिपादित षड्जीवनिकायवाद आपके सर्वज्ञत्व का प्रबलतम साक्ष्य है।^{११}

१. सम.प.सू.६३;नंदी,सू.८६।

२. त.रा.वा.१।२०;ष.खं.१,पृ.१०१;क.पा.प्रथम अधिकार,पृ.१२५।

३. सम.प.सू.६३।

४. नंदी,सू.८६।

५. त.रा.वा.१।२०।

६. जिस व्याख्यापद्धति में प्रत्येक श्लोक और सूत्र की स्वतन्त्र, दूसरे श्लोकों और सूत्रों से निरपेक्ष व्याख्या की जाती है उस व्याख्या पद्धति का नाम छिन्नच्छेद

७. क.पा.प्रथम अधिकार,पृ.१२५।

८. १।११।

९. क.पा.प्रथम अधिकार,पृ.२२३,२२४।

१०. भ.वृ.प.१६।

११. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका,१।१३—

य एव षड्जीवनिकायविस्तारः, परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।

अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वथि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः॥

भगवान् महावीर ने जीवों के छह निकाय बतलाए। उनमें त्रस निकाय के जीव प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। वनस्पति निकाय के जीव अब विज्ञान द्वारा भी सम्मत हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार निकायों के जीव विज्ञान द्वारा स्वीकृत नहीं हुए। भगवान् महावीर ने पृथ्वी आदि जीवों का केवल अस्तित्व ही नहीं बतलाया, उनका जीवनमान, आहार, श्वास, चैतन्यविकास, संज्ञाएं आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। पृथ्वीकायिक जीवों का न्यूनतम जीवनकाल अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट जीवनकाल बाईस हजार वर्ष का होता है। वे श्वास निश्चित क्रम से नहीं लेते—कभी कम समय से और कभी अधिक समय से लेते हैं। उनमें आहार की इच्छा होती है। वे प्रतिक्षण आहार लेते हैं। उनमें स्पर्शनिन्द्रिय का चैतन्य स्पष्ट होता है। चैतन्य की अन्य धारायें अस्पष्ट होती हैं।^१ मनुष्य जैसे श्वासकाल में प्राणवायु का ग्रहण करता है वैसे पृथ्वीकाय के जीव श्वासकाल में केवल वायु को ही ग्रहण नहीं करते, किन्तु पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन सभी को ग्रहण करते हैं।^२

पृथ्वी की भांति पानी आदि के जीव भी श्वास लेते हैं, आहार आदि करते हैं। वर्तमान विज्ञान ने वनस्पति जीवों के विविध पक्षों का अध्ययन कर उनके रहस्यों को अनावृत किया है, किन्तु पृथ्वी आदि के जीवों पर पर्याप्त शोध नहीं की। वनस्पति क्रोध और प्रेम प्रदर्शित करती है। प्रेमपूर्ण व्यवहार से वह प्रफुल्लित होती है और घृणापूर्ण व्यवहार से वह मुरझा जाती है। विज्ञान के ये परीक्षण हमें महावीर के इस सिद्धान्त की ओर ले जाते हैं कि वनस्पति में दस संज्ञाएं होती हैं। वे संज्ञाएं इस प्रकार हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा। इन संज्ञाओं का अस्तित्व होने पर वनस्पति अस्पष्ट रूप में वही व्यवहार करती है जो स्पष्ट रूप में मनुष्य करता है।

प्रस्तुत विषय की चर्चा एक उदाहरण के रूप में की गई है। इसका प्रयोजन इस तथ्य की ओर इंगित करना है कि इस आगम में ऐसे सैकड़ों विषय प्रतिपादित हैं, जो सामान्य बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। उनमें से कुछ विषय विज्ञान की नई शोधों द्वारा अब ग्राह्य हो चुके हैं और अनेक विषयों को परीक्षण के लिए पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

पंचास्तिकाय

पं. दलसुख मालवणिया ने लिखा है^३—पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की कल्पना नव तत्त्व या सात तत्त्व के बाद ही हुई है। उनका प्रमाण हमें भगवती सूत्र से मिल जाता है। वहां प्रश्न किया गया है कि लोकान्त में खड़ा रहकर देव अलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? उत्तर दिया गया कि नहीं हिला सकता और उसका कारण बताया है कि “जीवाणं आहारोवचिया पोग्गला, वीदचिया पोग्गला, कलेवरचिया पोग्गला, पोग्गलमेव पप्प जीवाणं य अजीवाणं य गतिपरियाए आहज्जइ अतोए णं नेवत्थि जीवा नेवत्थि पोग्गला।” स्पष्ट है कि जीव और अजीव की गति का कारण पुद्गल को माना गया है। यदि भगवती के इस स्तर की रचना के समय में धर्मास्तिकाय द्रव्य की कल्पना स्थिर हो गई होती तो ऐसा उत्तर नहीं मिलता। धर्मास्तिकाय आदि की प्ररूपणा क्या भगवान् महावीर ने की है? ऐसे प्रश्न भी अन्य तीर्थिकों के हुए हैं, यह भी सूचित करता है कि यह कोई नई बात दार्शनिक क्षेत्र में चल पड़ी थी।^४ भगवती में ही धर्मास्तिकाय आदि के जो पर्याय दिए गए हैं वह भी उन्हें द्रव्य मानने के पक्ष में नहीं हैं।^५

पं. मालवणियाजी की उक्त स्थापना समीक्षणीय है, मालवणियाजी ने लिखा है—सूत्रकृतांग के काल तक पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य की चर्चा ने तत्त्व-विचारणा में स्थान पाया नहीं है।^६

आचारांग और सूत्रकृतांग में दर्शन के आधारभूत तत्त्वों की खोज एक सुसंगत उपक्रम नहीं है। महावीर ने किसी आगम की रचना नहीं की। उन्होंने जो कहा उसको आधार मानकर गणधरों और स्थविरों ने आगम की रचना की। आचार आदि अंग सूत्रों की रचना एक योजनाबद्ध ढंग से की गई थी। समवायांग और नंदी में उपलब्ध द्वादशंगी के विवरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

आचारांग में निर्ग्रंथों के आचार-गोचर, विनय-वैनयिक, शिक्षा-भाषा आदि आख्यात हैं।^७

सूत्रकृतांग में लोक-अलोक, जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय की सूत्र रूप में सूचना है।^८

स्थानांग में स्वसमय-परसमय, जीव-अजीव, लोक-अलोक की स्थापना या प्रज्ञापना है।^९

१. भ.१।३२।

२. वही, ६।२५३, २५४।

३. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. ३४, ३५।

४. १६।११६।

५. ७।२१३, २१६।

६. २०।१४-१८।

७. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. ३५।

८. नंदी, सू. ८१; सम. प. सू. ८६।

९. नंदी, सू. ८२; सम. प. सू. ६०।

१०. नंदी, सू. ८३; सम. प. सू. ६१।

समवायांग में जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वसमय-परसमय की समस्थिति का निरूपण है अथवा संक्षिप्त विमर्श है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वसमय-परसमय की व्याख्या है।^१

आचारांग में आत्मा और जीव की चर्चा आचार के प्रसंग में की गई है। वहां द्रव्यमीमांसा का स्वतन्त्र स्थान नहीं है। यद्यपि आचार-मीमांसा द्रव्यमीमांसा से जुड़ी हुई है। आचार को समझने के लिए द्रव्य को समझना आवश्यक है। दार्शनिक दृष्टि को स्थिर किए बिना आचार का सिद्धान्त प्रस्थापित नहीं हो सकता। प्रत्येक दार्शनिक पहले अपने दर्शन को स्थिर करता है फिर उसके आधार पर आचार का सिद्धान्त प्रस्थापित करता है। सूत्रकृतांग में भी द्रव्यमीमांसा प्रासंगिक है। उसका विस्तृत रूप व्याख्याप्रज्ञप्ति में ही मिलता है। दार्शनिक विकास की रूपरेखा इसके आधार पर निश्चित की जा सकती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में लोक की व्याख्या पंचास्तिकाय के आधार पर की गई है। उत्तरवर्ती साहित्य में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को लोक और अलोक का विभाजक माना गया है, वैसा स्पष्ट उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति में उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भगवान् महावीर ने जीव और अजीव की प्ररूपणा से पहले लोक और अलोक की प्ररूपणा की है। मालवणियाजी सूत्रकृतांग की जिस सूचि को सात पदार्थ या नव तत्त्व का आधार मानते हैं उस सूचि में सबसे पहले लोक और अलोक का, उसके पश्चात् जीव और अजीव का उल्लेख है।^२ लोक और अलोक के विभाग का आधार धर्मास्तिकाय है। आकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश।^३ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—ये पांचों लोकप्रमाण हैं—जितने आकाश में ये व्याप्त हैं उतना ही लोक है, जहाँ ये नहीं हैं वह अलोक है।^४ लोकस्थिति का सिद्धान्त है—जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीव है और जहाँ तक जीव है वहाँ तक लोक है—यह लोकस्थिति का आठवां प्रकार है। जहाँ तक जीवों और पुद्गलों का गतिपर्याय है वहाँ तक लोक है और जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीवों और पुद्गलों का गतिपर्याय है—यह लोकस्थिति का नौवां प्रकार है। सभी लोकान्तों के पुद्गल दूसरे रूक्ष पुद्गलों के द्वारा अबद्धपार्श्वस्पृष्ट (अबद्ध और अस्पृष्ट) होने पर भी लोकान्त के स्वभाव से रूक्ष हो जाते हैं। जिससे जीव और पुद्गल लोकान्त से बाहर जाने में समर्थ नहीं होते—यह लोकस्थिति का दसवां प्रकार है।^५

यह सही है कि अलोक में जीव और पुद्गल नहीं हैं और लोकान्त के सभी भागों में रूक्ष पुद्गल हैं, इसलिए गति नहीं होती। मुक्त आत्मा की गति लोकान्त तक ही क्यों होती है, आगे अलोक में क्यों नहीं होती ? वह गति पुद्गल-परमाणु के योग से नहीं होती, इसलिए अलोक में जीव नहीं है, अजीव नहीं है—यह नियम भी बाधक नहीं बन सकता। लोकांत के परमाणु रूक्ष हैं, यह नियम भी उसमें बाधक नहीं बन सकता। मुक्त आत्मा की गति अलोक में नहीं होती, इसका नियामक तत्त्व धर्मास्तिकाय ही हो सकता है। जहाँ तक गति का माध्यम है वहाँ तक अर्थात् लोकान्त तक मुक्त आत्मा चली जाती है, उससे आगे अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं है इसलिए वह वहाँ नहीं जा सकती। नव तत्त्व से पूर्व लोक और अलोक का उल्लेख प्राप्त है तथा नवतत्त्व की व्यवस्था में मोक्ष तत्त्व का समावेश है। इन दोनों आधारों पर इस निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन नहीं है कि नवतत्त्व की व्यवस्था पंचास्तिकाय की अवधारणा के साथ जुड़ी हुई है। षड् द्रव्य पंचास्तिकाय का विकसित रूप है। पंचास्तिकाय में काल सम्मिलित नहीं है, क्योंकि वह अस्तिकाय नहीं है। वह एक द्रव्य है, इसलिए षड् द्रव्य में परिगणित है। यह बहुत संभव है कि जैनदर्शन में द्रव्य के अर्थ में अस्तिकाय का प्रयोग प्राचीन है और द्रव्य का प्रयोग उसके बाद का है, इसलिए पंचास्तिकाय का सिद्धान्त लोक-अलोक, जीव-अजीव और मोक्ष के सिद्धान्त के साथ ही स्थापित हुआ था।

लोक की परिभाषा पंचास्तिकाय के आधार पर की गई है। प्रश्न पूछा गया—लोक क्या है ? इसका उत्तर मिला—पंचास्तिकाय लोक है।^६ पांचों अस्तिकाय क्षेत्र की दृष्टि से लोकप्रमाण मात्र होते हैं।^७

धर्मास्तिकाय में गति होती है, वह गति का प्रेरक नहीं। आगमन-गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग, काययोग—ये जितने चल या गतिशील भाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय में गति करते हैं। सूत्र में 'धम्मस्तिकाय' का निर्देश है। इसका अर्थ है—धर्मास्तिकाय में गति होती है, धर्मास्तिकाय के द्वारा गति नहीं होती। जीव शरीर, इन्द्रिय, मनयोग, वचनयोग, काययोग और आनापान के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा वे गतिशील बनते हैं।^८ धर्मास्तिकाय के होने पर भी पुद्गल के सहयोग के बिना जीव की गति नहीं होती। अलोक में पुद्गल नहीं है, इसलिए वहाँ जीव नहीं जा सकते।

अलोक में जीव की गति नहीं होती, इसमें मुख्य कारण वहाँ पुद्गल का अभाव है और गौण कारण है—धर्मास्तिकाय का अभाव। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि धर्मास्तिकाय की कल्पना स्थिर हो गई होती तो ऐसा उत्तर नहीं मिलता।

स्थानांग में बतलाया गया है—चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक से बाहर नहीं जा सकते। उनमें धर्मास्तिकाय के अभाव

१. नंदी, सू. ८४; सम. प. सू. ६२।

२. नंदी, सू. ८५; सम. प. सू. ८३।

३. सूय. २।५।१२, १३।

४. म. २।१३८।

५. वही, २।१४१-१४५।

६. ठाण, १०।१।

७. म. १३।५५

८. वही, २।१२४-१२६; २।१४१-१४५।

९. वही, १३।५६, ६०।

का स्पष्ट निर्देश है। चार कारण ये हैं—

१. गति का अभाव।
२. निरुपग्रहता—गतितत्त्व के आलंबन का अभाव।
३. रूक्षता।
४. लोकानुभाव—लोक की सहज सामर्थ्य।

तीसरे स्थान में परमाणु के गति-स्खलन के कारण बतलाए गए हैं।^१ वहां गतितत्त्व का उल्लेख नहीं है। सब स्थानों पर एक ही प्रकार के कारण निर्दिष्ट नहीं हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न कारण निर्दिष्ट हैं।

अन्ययूथिक पंचास्तिकाय के विषय में संदिग्ध थे। उनका तर्क था—जिसे हम नहीं जानते-देखते, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? भगवान् महावीर के श्रमणोपासक मद्दुक ने उनसे कहा—इन्द्रियज्ञानी जिसे नहीं जानता, नहीं देखता उसका अस्तित्व नहीं होता, ऐसा नहीं है।^२ इससे पंचास्तिकाय की स्थापना के काल का निर्णय नहीं होता।

सूयगडो में क्रियावाद के पन्द्रह अंग बतलाए गए हैं—१. आत्मा २. लोक ३. आगति ४. गति ५. शाश्वत ६. अशाश्वत ७. जाति ८. मरण ९. च्यवन १०. उपपात ११. अधोगमन १२. आश्रव १३. संवर १४. दुःख १५. निर्जरा।

प्रस्तुत आगम का बड़ा भाग क्रियावाद के निरूपण से व्याप्त है। क्रियावाद की व्यवस्था तत्त्वदर्शन के आधार पर हुई है, इसलिए उसमें अस्तिकायवाद और नवतत्त्ववाद दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक के रूप में व्याख्यात हुए हैं।

भगवान् महावीर ने पांच अस्तिकायों का प्रतिपादन किया। वे पंचास्तिकाय कहलाते हैं। उनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनों अमूर्त होने के कारण अदृश्य हैं। जीवास्तिकाय अमूर्त होने के कारण दृश्य नहीं है, फिर भी शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली चैतन्य-क्रिया के द्वारा वह दृश्य है। पुद्गलास्तिकाय (परमाणु और स्कन्ध) मूर्त होने के कारण दृश्य है। हमारे जगत् की विविधता जीव और पुद्गल के संयोग से निष्पन्न होती है। डा. वाल्टर शुब्रिंग ने लिखा है—जीव-अजीव और पंचास्तिकाय का सिद्धान्त महावीर की देन है। यह उत्तरकालीन विकास नहीं है।^३ प्रस्तुत आगम में जीव और पुद्गल का इतना विशद निरूपण है जितना प्राचीन धर्मग्रन्थों या दर्शनग्रन्थों में सुलभ नहीं है।

प्रस्तुत आगम का पूर्ण आकार आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु जितना उपलब्ध है, उसमें हजारों प्रश्नोत्तर चर्चित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक संघ के आचार्य मंखलिंगोशल, जमालि, शिवराजर्षि, स्कन्दक संन्यासी आदि प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, भगवान् पार्श्व के शिष्य कालासवेसियपुत्त, तुंगिया नगरी के श्रावक आदि प्रकरण पठनीय हैं। गणित की दृष्टि से पार्श्वपत्नीय मांगेय अनगार के प्रश्नोत्तर बहुत मूल्यवान् हैं।

१. ठाणं, ४।४६८—चउहिं ठणेहिं जीवा य पोगला य णो संचाएति बहिया लोणंता गमणयाए, तं जहा—गतिअभावेणं, गिरुवग्गहयाए, लुक्खताए, लोणाणु-भावेणं।

२. ठाणं, ३।४८६—तिविहे पोग्गलपडिघाते पण्णत्ते, तं जहा—परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलं पप्प पडिहण्णिञ्जा, लुक्खताए वा पडिहण्णिञ्जा, लोणंते वा पडिहण्णिञ्जा।

३. १८।१३४-१४२।

४. सूय. १।१२।२०, २१—

अत्ताण जो जाणइ जो य लोणं जो आगतिं जाणइऽणगतिं च ।

जो सासयं जाण असासयं च जातिं मरणं च चयणोववातां ॥

अहो वि सत्ताण विउट्टणे च जो आसवं जाणति संवरं च ।

दुक्खं च जो जाणइ गिज्जरं च सो भासिउपरिहति किरियवादां ॥

५. The Doctrines of the Jainas, p.126—The five fundamental facts constitute the world, or, rather, the world and the non-world (Viy. 608 a). Their qualities are laid down in Viy. 147 b. They all share in eternity. The space embraces both the world and the non-world, whereas the remaining four are concerned with the expansion of the world. For the dimensions of parts of the world proportional to motion, stop and space see

Viy. 151a ff. and, nearly consonant, 775 a. All *atthikāya* except the *jiva* are inanimate (*ajīva*), and with the single exception of matter, all are immaterial (*aruva*). The last two sentences explicitly represent Mv.'s personal conception (Viy. 324 b). (F.n.—Some of the audience had difficulties in understanding this as we are told in two reports (Viy. 323b, 750b). Dissenters led by Kalodāi ask Goyama and the layman Madduya respectively for an interpretation. While Goyama is at a loss for an answer, Madduya declares himself incompetent in the matter, but when pressed he shows by pointing out to the wind, sweet scent particles, fire made by rubbing two sticks, persons living beyond the seas, and gods, all being existent without being visible, that something, even though nothing can be said about it except by a *Kevalin*, yet may exist. Mahāvīra commends him for not having taught things he does not understand and for thus having evaded giving offence (*asayana*) to the sacred law, the *Arhats* and the *Kevalins*.)

भगवान् महावीर के युग में अनेक धर्म-सम्प्रदाय थे। साम्प्रदायिक कट्टरता बहुत कम थी! एक धर्मसंघ के मुनि और परिव्राजक दूसरे धर्म संघ के मुनि और परिव्राजकों के पास जाते, तत्त्वचर्चा करते और जो कुछ उपादेय लगता वह मुक्त भाव से स्वीकार करते। प्रस्तुत आगम में ऐसे अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनसे उस समय की धार्मिक उदारता का यथार्थ परिचय मिलता है।

प्रस्तुत आगम भगवान् महावीर के दर्शन या तत्त्व-विद्या का प्रतिनिधि सूत्र है। इसमें महावीर का व्यक्तित्व जितना प्रस्फुटित है उतना अन्यत्र नहीं है। डा. वाल्टर शुब्रिंग ने प्रस्तुत आगम के सन्दर्भ में महावीर को समझने के लिए मार्मिक भाषा प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—“महावीर एक सुव्यवस्थित (निरूपण के) पुरस्कर्ता हैं। उन्होंने अपने निरूपणों में प्रकृति में पाए जाने वाले तत्त्वों को स्थान दिया, जैसा कि विआहपण्णत्ती के कुछ अवतरणों से स्पष्टतया परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ—रायगिह (राजगृह) के समीपस्थ उष्णजल स्रोत, जहां वे स्वयं अवश्य गए होंगे, के सम्बन्ध में उनकी व्याख्या (६६४), वायु सम्बन्धी उनका सिद्धान्त (११०) तथा अग्नि एवं वायु जीवों के सामुदायिक जीवन आदि के विषय में उनकी व्याख्या! आकाश में उड़ने वाले पदार्थ की गति मन्द होती जाती है, विआहपण्णत्ती; १७६ बी; जीवाभिगम, (३७४बी)—यह निष्कर्ष महावीर ने सम्भवतः गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के आधार पर निकाला होगा। इसी प्रकार, एक सरपट चौकड़ी भरते हुए अश्व के हृदय और यकृत के बीच उद्भूत ‘कव्वडय’ नामक वायु के द्वारा ‘खूखू’ की आवाज की उत्पत्ति (विआहपण्णत्ती, ४६६बी.) को भी हम विस्मृत नहीं कर सकते। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्राचीन भारत के जिन मनीषियों के विषय में हमें जानकारी है उन सब में सर्वाधिक ज्ञानवान् मनीषी महावीर की संख्या और गणित के प्रति रुचि थी तथा उनके प्रवचनों में इन विषयों का असाधारण वैशिष्ट्य झलकता है। यद्यपि बहुत सारे प्रसंगों में यह सिद्ध करना कठिन है कि उनमें से कितना निरूपण उनका अपना है तथा कितना दूसरों का है, फिर भी कहीं-कहीं वे स्वयं स्पष्ट रूप से अपने आपको अमुक सिद्धान्त के निरूपक के रूप में घोषित करते हैं। वे स्वयं कहते हैं—“एवं खलु, गयामा, मए सत्त सेदीओ पण्णत्ताओ।” (विआहपण्णत्ती, ६५४बी.)—इस प्रकार मैंने सात श्रेणियों का निरूपण किया है।—इन सबके सन्दर्भ में परमाणुओं और आकाश-प्रदेशों के जघन्य एवं उत्कृष्ट अंकों का विवेचन किया है, जो हमें गणनात्मक चिन्तन तक पहुंचाता है! इन सब में हमें एक परिवारगत रुचि दृष्टिगोचर हो रही है। जहां इसके साथ इसको प्रयोग में लाने की रुचि भी जुड़ती है, वहां सम्भवतः हम महावीर के मौलिक विचार से साक्षात्कार करते हैं।”

डा. डेल्यू ने लिखा है^१—“निष्कर्ष रूप में मैं कहना चाहूंगा कि ‘अन्यतीर्थिक आगम-पाठों’ में अनेक विविधतापूर्ण विषयों की जो चर्चा की गई है, वे महावीर के व्यक्तित्व को एक चिन्तक एवं एक प्रणेता के रूप में प्ररूपित करते हैं तथा उस अद्भुत युग का चित्रण भी, जब धर्म और दर्शन का सृजनात्मक दौर चल रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर उस युग के अन्य किसी भी दार्शनिक की

9. The Doctrines of the Jainas, p.40,41—Even individual traits borrowed from nature have been incorporated into the total conception by Mahāvīra, the systematizer, as is shown by many passages of the *Vij*. Thus his explanation for a hot spring he must have visited near Rāyagiha (94), his theory of the wind (110), and the life-community of fire and wind (105). The fact that the movement of a flying object slows down (*Vij*. 176 b; *Jiv*. 374 b) was probably concluded by Mahāvīra from the effect of gravitation. Nor should we omit the wind *Kavvadaya* (*Vij*. 499b) arising between the heart and the liver and causing within a galloping horse the sound of *khu khu*. Above all, however the most versatile thinker we know of in ancient India, had a liking for figures and arithmetic, that characterizes his speeches most extraordinarily. In most cases we are not able to prove which considerations are his own and which are of others, but he calls himself the author of a theory of the 7 possible lines (*evam khalu, Goyamā, mae satta sedhio pannattāo, Vij*. 954b). In referring to them the

minimum and maximum numbers of the atoms and space units are being discussed, and this leads us up to the calculative reflections. In them a certain family likeness seems to become apparent, and where it goes together with a special liking for applying it we are probably confronted with an original idea of Mahāvīra's.

2. J. Deleu's article on “Lord Mahāvīra and the *Anyatīrthikas*” in “Mahāvīra and His Teachings,” p.193—“In conclusion I would like to state, that the great diversity of topics discussed in the *anyatīrthika* texts is illustrative both of Mahāvīra's personality as a thinker and a teacher, and of that wonderful time of creative ferment in religion and philosophy that was his. It would seem that Mahāvīra, more than anyone around him, even more than the Buddha, was inspired by the *spiritual unrest and eagerness of his day*. Speaking of the Buddha, and probably comparing him with the Jina, Frauwallner, in his *History of Indian Philosophy*, expressed the opinion that ‘his (the Buddha's) contribution to the enlargement of the range of philosophical ideas in his time was a rather small one’¹. A severe verdict indeed, which, however,

1. E. Frauwallner, *Geschichte der Indischen Philosophie* (Salzburg 1953), vol. I, p.247; cf. also p.253.

तुलना में, यहां तक कि बुद्ध की तुलना में भी अपने समय के आध्यात्मिक उत्साह एवं उक्तयता से अधिक प्रेरित थे।

“फ्राउवालनार ने अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासोफी में बुद्ध के विषय में सम्भवतः जिन (महावीर) से उनकी तुलना करते समय, यह अभिमत व्यक्त किया है कि उनका (बुद्ध का) दार्शनिक विचारों के क्षेत्र के विकास में अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा योगदान मिला। यद्यपि यह फैसला बहुत अधिक कड़ा है, फिर भी यह एक मजबूत आधारभित्ति पर आधारित है कि बुद्ध अपने समकालीन दार्शनिकों के सामने आने वाले प्रश्नों के उत्तर देने से साफ इन्कार कर देते थे। चूंकि महावीर ने इन सभी प्रश्नों के बहुत ही व्यवस्थित रूप से उत्तर दिए; इसलिए उन्हें जो प्राचीन भारत के ज्ञानी चिन्तकों में सर्वाधिक ज्ञानी कहा गया है, वह बिलकुल उचित ही है।”

प्रस्तुत आगम में गति-विज्ञान,^१ भावितात्मा द्वारा नाना रूपों का निर्माण,^२ भोजन और नाना रूपों के निर्माण का सम्बन्ध,^३ चतुर्दशपूर्वी द्वारा एक वस्तु के हजारों प्रतिरूपों का निर्माण,^४ भावितात्मा द्वारा आकाशगमन,^५ पृथ्वी आदि स्थावर जीवों का श्वास-उच्छ्वास,^६ सार्वभौम धर्म का प्रवचन,^७ गतिप्रवाद अध्ययन की प्रज्ञापना,^८ कृष्णराजि,^९ तमस्काय,^{१०} परमाणु की गति,^{११} दूरसंचार^{१२} आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं। उनका वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है।

विभाग और अवान्तर विभाग

समवायांग और नंदीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत आगम के सौ से अधिक अध्ययन, दस हजार उद्देशक और दस हजार समुद्देशक हैं।^{१३} इसका वर्तमान आकार उक्त विवरण से भिन्न है। वर्तमान में इसके एक सौ अड़तीस शत या शतक और उन्नीस सौ पच्चीस उद्देशक मिलते हैं। प्रथम बत्तीस शतक स्वतन्त्र हैं। तेतीस से उनचालीस तक के सात शतक बारह-बारह शतकों के समवाय हैं। चालीसवां शतक इक्कीस शतकों का समवाय है। इकतालीसवां शतक स्वतन्त्र है। कुल मिलाकर एक सौ अड़तीस शतक होते हैं। उनमें इकतालीस मुख्य और शेष अवान्तर शतक हैं।

शतकों में उद्देशक तथा अक्षर-परिमाण इस प्रकार है—

शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण	शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण	शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण
१	१०	३८८७	१६	१४	१५६३६	३१	११	२३४४
२	१०	२३८४४	१७	१७	८६१२	३२	२८	३६३
३	१०	३६७३२	१८	१०	२२४६२	३३ (१२)	१२४	३०८६
४	१०	७५३	१९	१०	८०२७	३४ (१२)	१२४	८६६६
५	१०	२५६६१	२०	१०	१६८७१	३५ (१२)	१३२	४१८१
६	१०	१८६०२	२१ (आठ वर्ग)	८०	१६३०	३६ (१२)	१३२	७३१
७	१०	२४६३६	२२ (छह वर्ग)	६०	१०६८	३७ (१२)	१३२	११५
८	१०	४८५३४	२३ (पांच वर्ग)	५०	७१५	३८ (१२)	१३२	८७
९	३४	४५८८३	२४	२४	३६६२६	३९ (१२)	१३२	१३६
१०	३४	६६०७	२५	१२	४५१०३	४० (१२)	२३१	२७३४
११	१२	३२३३८	२६	११	४४५५	४१	१६६	३६१६
१२	१०	३२८६८	२७	११	१६०			
१३	१०	२१६१४	२८	११	६६४	१३८	१६२३ ^{१४}	६१७२१४
१४	१०	१६०३३	२९	११	१०२७			
१५	०	३६८२२	३०	२८	४७६४			

is soundly based on the Buddha's well-known stern refusal to consider a great many question that occupied his contemporaries. Because of his systematic approach to all these questions, Mahāvīra has, I think, rightly been called 'the most versatile thinker we know of in ancient India.'^१

१. ३।११७-१२६।

२. ३।१८६-१९१; ३।१९४-१९६।

३. ३।१९१।

४. ५।११२, ११३।

५. ३।१९७-२१८।

६. २।२-८।२५३-२५७।

७. ६।६-३३।

८. ८।२६२, २६३।

९. ६।८६-११८।

१०. ६।७०-८८।

११. १६।११६।

१२. ५।१०३।

१३. सम.प.सू.६३; नंदी, सू. ८५।

१४. बीसवें शतक के छठे उद्देशक में पृथ्वी, अप, और वायु इन तीनों की उत्पत्ति का निरूपण है। एक परम्परा के अनुसार यह एक उद्देशक है, दूसरी परम्परा के मत में ये तीन उद्देशक हैं। इस परम्परा के अनुसार प्रस्तुत आगम के कुल उद्देशक १६२५ हैं।

1. W. Schubring, The Doctrine of the Jainas (Delhi etc., 1962), p.40.

प्रस्तुत आगम के अध्ययन को शत कहा जाता है। समवायांग और नन्दी में अध्ययन शब्द का ही प्रयोग मिलता है—‘एगे साइरेगे अज्जयणसते।’ इसका अर्थ है कि व्याख्याप्रज्ञति के सौ से अधिक शतक हैं, किन्तु चूर्णिकार ने शत को अध्ययन के अर्थ में माना है—‘इह सतं चेव अज्जयणसण्णं।’ इसका अर्थ उक्त पाठ से फलित नहीं होता, किन्तु परम्परा से लिया गया है। भगवती के पाठसंक्षेपीकरण में तथा संग्रहणी गायाओं में अनेक स्थलों पर शत शब्द का प्रयोग मिलता है।^१ उदाहरण स्वरूप—

१. जहा सक्कस्य वत्तव्वया तइयसए तहा ईसाणस्स वि।^२

२. एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए अट्टावीसं उट्टेसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्टावीसं उट्टेसगा भाणियव्वा निरवसेसा।^३

समवायांग और नन्दी में व्याख्याप्रज्ञति के विवरण में अध्ययन शब्द का प्रयोग तथा मूल आगम में शत शब्द का प्रयोग है, इसलिए शत और अध्ययन को पर्यायवाची माना गया है। शत का अर्थ सौ होता है। जिसमें सौ श्लोक या प्रश्न हो उसे शतक कहा जाता है। वर्तमान रूप में इस अर्थ की कोई सार्थकता दृष्ट नहीं है।

रचनाशैली

प्रस्तुत आगम में ३६ हजार व्याकरणों का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि इसकी रचना प्रश्नोत्तर की शैली में की गई थी। नन्दी के चूर्णिकार ने बतलाया है कि गौतम आदि के द्वारा पूछे गए प्रश्नों तथा अपृष्ट प्रश्नों का भी भगवान् महावीर ने व्याकरण किया था।^४ वर्तमान आकार में आज भी यह प्रश्नोत्तर शैली का आगम है। प्रश्न की भाषा संक्षिप्त है और उनके उत्तर की भाषा भी संक्षिप्त है। ‘से नूणं भंते’—इस भाषा में प्रश्न का और ‘हंता गोयमा’—इस भाषा में उत्तर का आरम्भ होता है।^५

‘से नूणं भंते ! चलमाणे चलिए।’

‘हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए।’

कहीं-कहीं उत्तर के प्रारम्भ में केवल संबोधन का प्रयोग होता है, हंता का प्रयोग नहीं होता—‘गोयमा ! चलमाणे चलिए।’ उद्देशक के प्रारम्भ में नगर आदि का वर्णन मिलता है—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था—वण्णओ।^६

उद्देशक की पूर्ति पर भगवान् द्वारा दिए गए उत्तर की स्वीकृति और विनम्र वन्दना का उल्लेख मिलता है—

‘सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अण्णणं भावेमाणे विहरति ॥’^७

प्रश्न और उत्तर की भाषा सहज-सरल है। अनेक स्थलों पर गद्यकाव्य जैसी छटा दृष्टिगत होती है—^८

पुच्चिं भंते ! अंडए, पच्छा कुक्कुडी ? पुच्चिं कुक्कुडी, पच्छा अंडए ?

रोहा ! से णं अंडए कओ ?

भयवं ! कुक्कुडीओ।

सा णं कुक्कुडी कओ ?

भंते ! अंडयाओ।

एवामेव रोहा ! से य अंडए, सा य कुक्कुडी पुच्चिं पेटे, पच्छा पेटे—दो वेते सासया भावा, अणापुपुव्वी एसा रोहा !

विषय की दृष्टि के अनुसार उत्तर बहुत विस्तार से दिए गए हैं।^९ कहीं कहीं प्रश्न विस्तृत है और उत्तर संक्षिप्त, इसलिए प्रतिप्रश्न भी मिलता है। ‘से केणट्टेणं भंते’—इस भाषा में प्रतिप्रश्न प्रारम्भ होता है और विषय का निगमन ‘से तेणट्टेणं’—इस भाषा में होता है—^{१०}

१. सम.प.सू.६३;नन्दी,सू.८५।

८. १।१२,१३।

२. नन्दी चूर्णिकार,सू.८६,पृ.६५—इह सतं चेव अज्जयणसण्णं।

९. १।४।

३. देखें—आगम शब्दकोश,अंगसुत्ताणि शब्द सूची।

१०. १।५१।

४. ४।४।

११. १।२६५।

५. ३२।६।

१२. ८।२६-३६।

६. नन्दी चू.सू.८६।पृ.६५—‘गौतमादिपेहिं पुट्टे अपुट्टे वा जो पण्हो तव्वापरणं।’

१३. १।३१२,३१३।

७. १।११,१२।

अत्थि णं भंते ! जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ? हंता अत्थि।

से केणट्ठेणं भंते! एवं बुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ?

गोयमा ! से जहाणामए हरेदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिद्धइ।

अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं सयच्छिद्धं ओगाहेज्जा। से नूणं गोयमा ! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी-आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिद्धइ ?

हंता चिद्धइ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ?

अधिकांशतया प्रश्नोत्तर-पद्धति में प्रत्यक्ष शैली का प्रयोग किया गया है। प्रश्नकर्ता प्रश्न पूछता है और भगवान् उत्तर देते हैं। कहीं-कहीं रचनाकार ने परोक्ष शैली का भी प्रयोग किया है—^१

अह भंते ! गोनंगूलवसभे, कुक्कुडवसभे, मंडुक्कवसभे—एए णं निस्सीला निव्वया निग्गुणा निम्मेरा निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुट्ठीए उक्कोसं सागरोवमड्ढितीयांसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जेज्जा ?

समणे भयवं महावीरे वागरेइ—उववज्जमाणे उववज्जे त्ति वत्तव्वं सिया।

इससे अगले दो सूत्रों में भी यही शैली मिलती है। कहीं-कहीं स्फुट प्रश्न हैं^२, तो कहीं-कहीं एक ही प्रकरण से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर की शृंखला चलती है।^३

शतक के प्रारम्भ में संग्रहणी गाथा होती है। उसमें उस शतक के सभी उद्देशकों की सूची मिल जाती है। गद्य के मध्य में भी संग्रहणी गाथाएं प्रचुरता से मिलती हैं। उदाहरण के लिए चतुर्थ शतक का पांचवां और आठवां तथा छठे शतक का १३२, १३४ वां सूत्र द्रष्टव्य हैं।

प्रस्तुत आगम के दो संस्करण मिलते हैं। एक संक्षिप्त संस्करण और दूसरा विस्तृत संस्करण। विस्तृत संस्करण का ग्रन्थमान सवा लाख श्लोकप्रमाण है, इसलिए उसे सवालक्खी भगवती कहा जाता है। उसकी एक प्रति हमारे पुस्तक-संग्रह में है। इन दोनों संस्करणों में कोई मौलिक भेद नहीं है। लघु संस्करण में जो समर्पण सूत्र है—पूरा विवरण देखने के लिए किसी दूसरे आगम को देखने की सूचना दी गई है, उसको पूरा लिख दिया गया है। प्रस्तुत आगम में समर्पण सूत्रों की संख्या बहुत बड़ी है। प्रथम शतक के चौदहवें सूत्र से ही समर्पण सूत्रों का प्रारम्भ हो जाता है और वह इकतालीसवें शतक तक चलता है। समर्पण-सूत्रों की पूरी तालिका इस प्रकार है:—

प्रथम शतक

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१. जहा उत्सासपदे	१४	पण्ण.पद ७
२. जहा पण्णवणाए पटमए आहारुहेसए	१५	पण्ण.पद २८।३-२४
३. ठिती—जहाठितीपदे	३२	पण्ण.पद ४
४. आहारो वि—जहा पण्णवणाए पटमे आहारुहेसए	३२	पण्ण.पद २८।३-२७
५. लेस्साणं बीओ उदेसो भाणियव्वो जाव इइदी	१०२	पण्ण.पद १७।३६-८६
६. अंतकिरियापयं नेयव्वं	११२	पण्ण.पद २०
७. कम्मपगडीए पटमो उदेसो नेयव्वो जाव—अणुचायो समत्तो	१७४	पण्ण.पद २३।१-२३
८. वक्कंतीपयं भाणियव्वं	४४७	पण्ण.पद ६

द्वितीय शतक

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१. आहारगमो नेयव्वो	४	पण्ण.पद २८।३०
२. समुग्घायपदं नेयव्वं	७४	पण्ण.पद ३६।१-५२, ५६-६३
३. जीवाभिगमे नेरइयाणं जो वित्तिओ उहेसो सो नेयव्वो	७५	जीवा. ३।७६-१२७
४. पढमित्तो इंदियउहेसओ नेयव्वो	७७	पण्ण.पद १५।१-५७
५. जहा केसिसामिस्स	६८	राय.सू. ६६३
६. एवं भासापदं भाणियव्वं	११५	पण्ण.पद ११
७. जहा टाणपदे देवाणं वत्तव्वथा	११७	पण्ण.पद २।३०-६७
८. जीवाभिगमे जो वेमाणिउहेसो सो भाणियव्वो	११७	जीवा. ३।१०५७-११३०
९. एवं जीवाभिगमवत्तव्वथा नेयव्वो	१२३	जीवा. ३।२५६-८३४

तृतीय शतक

१. जहेव रायप्पसेणइजे जाव दिवं	२७	राय.सू. ७-१२०
२. जहा जीवाभिगमे लवणसमुद्भवत्तव्वथा	१५२	जीवा. ३।७२३-७६५
३. वण्णओ जहा रायपसेणइजे	२४४	राय.सू. ६६४
४. जहा सूरियाभविमाणस्स वत्तव्वथा	२५०	राय.सू. १२६-२८०
५. जीवाभिगमे जोइसियउहेसओ नेयव्वो अपरिसेसो	२७६	जीवा. ३।६७६-१०३७

चतुर्थ शतक

१. पण्णवणाए लेस्सापए तइओ उहेसओ भाणियव्वो जाव नाणाई	७	पण्ण.पद १७।६०-११३
२. एवं चउत्थो उहेसो पण्णवणाए चेव लेस्सापदे नेयव्वो जाव	८	पण्ण.पद १७।११४-१४६

पंचम शतक

१. जहा अणुओगदारे	६७	अणु.सू. ५१६-५५१
२. जहा जीवाभिगमे आलावगो तथा नेयव्वो जाव दुरहियासं	१३८	जीवा. ३।११०

षष्ठ शतक

१. आहारुहेसओ जो पण्णवणाए सो सव्वो निरवसेसो नेयव्वो	१८	पण्ण.पद २८
२. जहा जीवाभिगमे देवुदेसए	११५	जीवा. ३।१०५६, १०६६, १०७१

समर्पण सूत्र

	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
३. एत्तो आदत्तं जहा जीवाभिगमे	१५६	जीवा. ३।७८४-७८७
४. बंपुहेसो षण्णवणाए नेयव्वो	१६२	षण्ण.पद २४

सप्तम शतक

१. एवं जहेव षण्णवणाए तहेव भाणियव्वं जाव वेमाणिया	५४	षण्ण.पद ३२
२. एवं जहा जीवाभिगमे जाव सम्पत्किरियं	६७	जीवा. ३।१८२-२११
३. एवं जहा जीवाभिगमे जाव नो	६६	जीवा. ३।१४७-१८२
४. एवं जहा रायपसणइजे जाव खुडियं वा महालियं वा	१५८	राय.सू. ७७२
५. सुनिउणोहिं एवं जहा ओववाइए जाव	१७५	ओ.सू. ५७
६. मंगलजयसइकयातोए एवं जहा उववाइए	१७६	ओ.सू. ६३
७. एवं जहा उववाइए	१७७	ओ.सू. ६५

अष्टम शतक

१. एवं जहा षण्णवणाए तहेव निरवसेसं जाव जे संठाणओ	४२	षण्ण.पद १।५-६
२. ओगाहणसंठाणे	६०	षण्ण.पद २१।५०-५५
३. ओगाहणसंठाणे	६२	षण्ण.पद २१।७२
४. ओगाहणसंठाणे	६४	षण्ण.पद २१।६४
५. एवं जहा रायपसेणइजे नाणाणां भेदो तहेव इह भाणियव्वो	६८	राय.सू. ७४१-७४५
६. जहा नंदीए जाव चत्तारि	१०२	नंदी.सू. ६७
७. जहा नंदीए जाव भावओ	१८६	नंदी.सू. २२
८. जहा नंदीए जाव आवओ	१८७	नंदी.सू. २५
९. संचिदुणा जहा कायठितीए अंतरं सव्वं जहा जीवाभिगमे अप्पाबहुगाणि तिण्णि जहा बहुवत्तव्वयाए	१६३-२०७	षण्ण.पद १८।८०-८४ जीवा. ६।३३,३४ षण्ण.पद ३।१०१-१०३
१०. जहा षण्णवणाए जाव नालिएरी	२१७	षण्ण.पद १।४३
११. जहा षण्णवणापदे जाव फला	२१६	षण्ण.पद १।३५,३६
१२. चरिमपदं निरवसेसं भाणियव्वं	२२५	षण्ण.पद १०
१३. किरियापदं निरवसेसं भाणियव्वं	२२८	षण्ण.पद २२
१४. एत्तो आरम्भ षयोपपयं निरवसेसं भाणियव्वं	२६३	षण्ण.पद १६।१७-५५
१५. जहा जीवाभिगमे तहेव निरवसेसं	३४०	जीवा. ३।८४२, ८४३
१६. जहा जीवाभिगमे	३४३	जीवा. ३।८४५, ८४६

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१७. जहा ओगाहणसंठाणे	३६८	पण्ण.पद २१।२-२०
१८. जहा ओगाहणसंठाणे	३८७	पण्ण.पद २१।५०-५५
१९. जहा ओगाहणसंठाणे	४०६	पण्ण.पद २१।७२
२०. जहा ओगाहणसंठाणे	४१३	पण्ण.पद २१।७६।७७

नवम शतक

१. एवं जंबुदीवपण्णती भाणियव्वा जाव एवामेव	१	जंबु.वक्त.१-६
२. एवं जहा जीवाभिगमे जाव एगं०	३	जीवा.३।७०३
३. (क) एवं जहा जीवाभिगमे जाव ताराओ	४	जीवा.३।७२२
(ख) एवं जहा जीवाभिगमे जाव एगं०	४	जीवा.३।८०६,८२०,८३०, ८३४,८३७
४. एवं जहा जीवाभिगमे	७	जीवा.३।२१६-२२६
५. जहा ओववाइए जाव एगाभिमुहे	१५७	ओ.सू. ५२
६. एवं जहा ओववाइए	१५७	ओ.सू. ५२,५६
७. जहा ओववाइए जाव सत्पवाह०	१५८	ओ.सू. ५२
८. जहा ओववाइए जाव खत्तिय०	१५८	ओ.सू. ५२
९. ओववाइए परिसावण्णओ तथा भाणियव्वं	१६२	ओ.सू. ५२,६३
१०. जहा आवस्सए जाव सव्वदुक्खापं	१७७	आव. ४।६
११. जहा ओववाइए जाव	१८०	ओ.सू. ५५
१२. एवं जहा रायप्पसेणइजे जाव अट्टसएणं	१८२	राय.सू. २८०
१३. एवं जहा सूरियामस्स अलंकारो तहेव जाव चित्तं	१६०	राय.सू. २८५
१४. जहा रायप्पसेणइजे	१६१	राय.सू. १७
१५. जहा ओववाइए जाव गगण०	२०४	ओ.सू. ६४
१६. एवं जहा ओववाइए तहेव भाणियव्वं	२०४	ओ.सू. ६४
१७. जहा ओववाइए	२०४	ओ.सू. ५२
१८. जहा ओववाइए जाव अभिनंदंता	२०८	ओ.सू. ६८
१९. एवं जहा ओववाइए कूणिओ जाव निग्गच्छइ	२०९	ओ.सू. ६९

दशम शतक

१. एवं ओगाहणासंठाणं निरवसेसं भाणियव्वं	६	पण्ण.पद २१
--	---	------------

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
२. एवं जोणीपदं निरवसेसं भाणियव्वं	१५	पण्ण.पद ६
३. एवं बेयाणापदं निरवसेसं भाणियव्वं	१६	पण्ण.पद ३५
४. जहा दसाहिं जाव आराहिया	१८	दसाओ, ७।५-२५
५. जहा सूरियाभस्स	७२	राय.सू. ७
६. एवं जहा जीवाभिगमो जोइसिय उद्देसए	६०	जीवा. ३।१०२३-१०२६
७. जहा रायप्पसेणइजे	६६	राय.सू. १२४,१२५
८. जह सूरियाभे.....जह सूरियाभस्स	६६	राय.सू. १२६-६६६
९. एवं जहा जीवाभिगमे तहेव निरवसेसं जाव	१०२	जीवा. ३।२२७

एकादश शतक

१. जहा वक्कंतीए वणस्सइकाइयाणं जाव ईसाणैति	२	पण्ण.पद ६।८६
२. एवं जहा आहारुद्देसए	३५	पण्ण.पद २८।३६
३. एवं जहा वक्कंतीए उव्वट्टणाए	३६	पण्ण.पद ६।१०४
४. जहा सूरियकंते	५८	राय.सू. ६७३
५. जहा ओववाइए जाव	५६	ओ.सू. ६४
६. जहा ओववाइए कूणियस्स	६१	ओ.सू. ६८
७. एवं जहा जीवाभिगमे जाव सयंभूरमण	७७	जीवा. ३।२५६
८. जहा ओववाइए जाव गहणयाए	८५	ओ.सू. ५२
९. एवं जहेव ओववाइए तहेव	८८	ओ.सू. १८५-१६५
१०. एवं ठिइपदं निरवसेसं भाणियव्वं	१३०	पण्ण.पद ४
११. जहा ओववाइए तहेव अट्टणसात्ता तहेव मज्जणघरे	१३८	ओ.सू. ६३
१२. एवं जहा ददपइण्णस्स जाव	१५४	ज्वंगमुत्ताणि भाग ४, खण्ड १, पृ. ६४ वाचनान्तर; सू. ८०४
१३. एवं जहा ददप्पइण्णे जाव अलं०	१५६	ओ.सू. १४६-१४८, राय.सू. ८०६-८०६
१४. जहा रायप्पसेणइजे जाव पडिरुवे	१५७	राय.सू. १३७
१५. जहा रायप्पसेणइजे	१५७	राय.सू. ३२
१६. जहा रायप्पसेणइजे जाव अट्ट	१५६	राय.सू. १६१
१७. जहा ओववाइए जाव	१५६	ओ.सू. ७०
१८. जहा केत्तिसामिस्स	१६२	राय.सू. ६८६

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१६. धम्मकहा जहा केसिसामिस्स	१६६	राय.सू. ६६३
२०. जहा अम्मडो जाव बंभलोए	१६६	ओ.सू. १४० का टिप्पण तथा इसी सूत्र का टिप्पण द्रष्टव्यम्

द्वादश शतक

१. जहा जीवाभिगमे पढमो नेरइयउहेसो	६७	जीवा. ३।३-७५
२. भेदो जहा वक्कंतीए	१६६	पण्ण.पद ६।८८-८२
३. वक्कंतीए भेदेणं	१७२	पण्ण.पद ६।६२
४. एवं जहा वक्कंतीए भवण्णवासीणं	१७७	पण्ण.पद ६।८१
५. जहा वक्कंतीए	१६०	पण्ण.पद ६।१०१, १०२
६. एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसे अप्पाबहुयं	१६८	जीवा. २।६६

त्रयोदश शतक

१. एवं परिपारणापदं निरवसेसं	४०	पण्ण.पद ३४
२. एवं जहा जीवाभिगमे वितिप नेरइयउहेसए	४५	जीवा. ३।१२४, १२५
३. एवं जहा नेरइयउहेसए	४६	जीवा. ३।१२६
४. जहा रायण्णसेणइओ जाव दुवारवयणाइं	८७	राय.सू. ७५५
५. पढमो नेरइयउहेसओ जाव निरवसेसो	६३	पण्ण.पद २८।१-१०५
६. जहा रायण्णसेणइओ जाव कल्लाण.	६८	राय.सू. १८५
७. जहा कूणिओ ओववाइए	१०७	ओ.सू. ५५-६६
८. एवं बंधट्टिइ-उहेसो भाणियव्वो निरवसेसो जहा पण्णवणाए	१४७	पण्ण.पद २३
९. जहा पण्णवणाए जाव आहारसमुग्घायेत्ति	१६८	पण्ण.पद ३६।५३-५८

चतुर्दश शतक

१. एवं जहा जीवाभिगमे वितिप नेरइयउहेसए	४१	जीवा. ३।१२८
२. एवं परिणामपयं निरवसेसं भाणियव्वं	५२	पण्ण.पद १३
३. एवं जहा ओववाइए जाव आराहणा	१०७	ओ.सू. ११५-११७
४. एवं जहा ओववाइए अम्मडस्स वत्तव्वथा जाव दट्ठण्णो अंतं काहिति	११०-११२	ओ.सू. ११८-१५४

पञ्चदश शतक

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१. एवं जहा भावणाए जाव एगं देवदूसमादाय	२०	आयारचूला, १५।२६-२६
२. जहा ठाणपदे जाव पंच बडेसगा	१०१	पण्ण.पद २।५४
३. जहा एओगपदे जाव बोरं	१२५	पण्ण.पद १६।५५.
४. जहा पण्णवणाए जाव जाहगाणं	१८६	पण्ण.पद १।७६
५. जहा पण्णवणापदे जाव गोमयकीडाणं	१८६	पण्ण.पद १।५१
६. एवं जहा ओववाइए दठम्पइण्णवत्तव्वया	१८६	ओ.सू. १४१-१५३
७. एवं जहा ओववाइए	१८६	ओ.सू. १५४

सोलहवां शतक

१. एवं जहा पण्णवणाए		
वेदावेउहेसओ		पण्ण.पद २७
वेदाबंधो वि तहेव,		पण्ण.पद २६
बंधावेदो वि तहेव,		पण्ण.पद २५
बंधाबंधो वि तहेव	४५	पण्ण.पद २४
२. परिवारो जहा सूरियाभत्स	५५	राय.सू. ५८
३. एवं जहा सूरियाभो	६०	राय.सू. ६२
४. एवं जहा उवओग पदं पण्णवणाए तहेव निरवसेसं नेयव्वं, पासणयापदं च नेयव्वं	१०८	पण्ण.पद २६, ३०
५. ओहीपदं निरवसेसं भाणियव्वं	१२३	पण्ण.पद ३३

सत्तरहवां शतक

१. जहा अणुओगदारे छन्नामं.....	१७	अणु.सू. २७१-२६७
२. जहा ठाणपदे	६५	पण्ण.पद २।५१

अठारहवां शतक

१. एवं जहा रायपसेणइजे चित्ते जाव चक्खुमूए	४०	राय.सू. ६७५
२. एवं जहा इंदियउहेसए पढमे जाव वेमाणिया.....	६६	पण्ण.पद १५।४४-४६
३. कसायपदं निरवसेसं भाणियव्वं	८८	पण्ण.पद १४
४. एवं जहा रायपसेणइजे चित्तो	२२१	राय.सू. ६६५

उन्नीसवां शतक

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१. एवं जहा पण्णवणाए खजत्थो लेसुद्देसओ	१	पण्ण.पद १७।११४-१४६
२. एवं जहा पण्णवणाए गन्धुद्देसो	३	पण्ण.पद १७।१५६-१७२
३. एवं जहा पण्णवणाए पढमे आहारुद्देसए	११	पण्ण.पद २८।५-२०
४. एवं जहा वक्कंतीए	१६	पण्ण.पद ६।८२-८५
५. एवं उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए	२०	पण्ण.पद ६।१०३
६. उववाओ ठिती उव्वट्टणा य जहा पण्णवणाए	२२	पण्ण.पद ६।८६।;४।७२;६।१०४
७. जहा पण्णवणाए	६३	पण्ण.पद ३५।१७-२३
८. एवं जहा जीवाभिगमे दीवसमुद्देसो	६५	जीवा. ३।२५६-६७५

बीसवां शतक

१. ठिती जहा पण्णवणाए	३	पण्ण.पद ४।६८,१०१
२. एवं वितिओ इंदिउद्देसओ.....जहा पण्णवणाए	२४	पण्ण.पद १५।५८-१४३

इक्कीसवां शतक

१. जहा वक्कंतीए तहेव उववाओ	१	पण्ण.पद ६।८६
----------------------------	---	--------------

वाईसवां शतक

१. जहा पण्णवणाए गाहाणुसारेणं	४	पण्ण.पद १।३७
२. जहा पण्णवणाए पढमे पदे	५	पण्ण.पद १।३८
३. पण्णवणागाहाणुसारेणं	६	पण्ण.पद १।४०

चौबीसवां शतक

१. जहा वक्कंतीए	१६४	पण्ण.पद ६।८३-८५
२. सरीरोगाहाणा जहा ओगाहणसंठाणे	२४३	पण्ण.पद २१।६७
३. ओगग्रहणा जहा ओगाहणसंठाणे	२६३	पण्ण.पद २१।७०,७१
४. जहा ठितिपदे	२६३	पण्ण.पद ४।२१३-२६६

पच्चीसवां शतक

१. जहा अजीवपज्जवा	११-१४	पण्ण.पद ५।१२४-१२७
-------------------	-------	-------------------

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
२. एवं जहा पण्णवणाए षट्ठमे आहारुद्देसए	२५	पण्ण.पद २८।५-१६
३. एवं जहा भासापदे	२८	पण्ण.पद. ११।४६-६८
४. एवं अंगपरुवणा भाणियब्बा जहा नंदीए	६७	नंदी.सू. ८१-१२७
५. अप्पाबहुयं जहा बहुवत्तव्वाए	६८	पण्ण.पद. ३।३८,३९
६. जहा बहुवत्तव्वाए त्हेव.....सकाइयअप्पबहुयं त्हेव.....	६९	पण्ण.पद. ३।४०
७. जहा बहुवत्तव्वाए	१००	पण्ण.पद. ३।१२४
८. जहा बहुवत्तव्वाए	१०१	पण्ण.पद. ३।१७४
९. अप्पाबहुयं जहा बहुवत्तव्वाए	११४	पण्ण.पद. ३।११४-१२२
१०. सरीरगपदं निरवसेसं भाणियब्बं जहा पण्णवणाए	१४०	पण्ण.पद. १२
११. पज्जवापदं निरवसेसं भाणियब्बं जहा पण्णवणाए	२४६	पण्ण.पद. ५
१२. एवं निओदा भाणियब्बा जहा जीवामिगमे	२७४	जीवा. ५।३७-६०
१३. जहा ओववाइए जाव सुद्धेसपिण	५६६	ओ.सू. ३४
१४. जहा ओववाइए जाव लूहाहारे	५७०	ओ.सू. ३५
१५. जहा ओववाइए जाव सव्वगाय०	५७१	ओ.सू. ३६

इकतीसवां शतक

१. जहा वक्कंतीए	३	पण्ण.पद ६।७०-७२
२. जहा वक्कंतीए	६	पण्ण.पद ६।७३-८०
३. जहा वक्कंतीए	७	पण्ण.पद. ६।७०-७२
४. जहा वक्कंतीए	१२	पण्ण.पद ६।७७
५. जहा वक्कंतीए	१३	पण्ण.पद ६।७८-८०

बत्तीसवां शतक

१. जहा वक्कंतीए	१	पण्ण.पद. ६।६६,१००
-----------------	---	-------------------

चौतीसवां शतक

१. जहा ठाणपदे	३३	पण्ण.पद. २।१-१५
२. जहा वक्कंतीए	३७	पण्ण.पद ६।८२-८५
३. जहा ठाणपदे	४३	पण्ण.पद २।१

छत्तीसवां शतक

समर्पण सूत्र	प्रमाण	निर्दिष्ट स्थल
१. जहा वक्तंतीए		पण्ण.पद ६।२६

इकतालीसवां शतक

१. जहा वक्तंतीए	३	पण्ण.पद ६।७०-७२
२. जहा वक्तंतीए	२८	पण्ण.पद ६।७०-६८

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगप्रविष्ट श्रुत के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसमें अंग बाह्य आगमों के निर्देश क्यों ? यह प्रश्न सभ्य ही उत्पन्न होता है। इस प्रश्न को पंडित मालवगिण्या ने बहुत व्यवस्थित ढंग से उभारा है। उन्होंने लिखा है—

"माथुरीवाचनान्तर्गत अंग आगमों में जैसे कि भगवती-व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे बहुमान्य आगम में भी जहाँ भी विवरण की बात है— वहाँ अंगबाह्य उपांगों का औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि का आश्रय लिया गया है। यदि ये विषय मौलिक रूप से अंग के होते तो उन अंगबाह्यों में ही अंगनिर्देश आवश्यक था। ऐसा न करके अंग में उपांग का निर्देश यह सूचित करता है कि तद्विषयकी मौलिक विचारणा उपांगों में हुई है और उपांगों से ही अंग में जोड़ी गई है।

"यह भी कह देना आवश्यक है कि ऐसा क्यों किया गया। जैन-परम्परा में यह एक धारणा पक्की हो गयी है कि भगवान् महावीर ने जो कुछ उपदेश दिया वह गणधरों ने अंग में ग्रथित किया। अर्थात् अंगग्रन्थ गणधरकृत हैं और तदितर स्थविरकृत हैं। अत एव प्रामाण्य की दृष्टि से प्रथम स्थान अंग को ही मिला है। अत एव नया बात को भी यदि प्रामाण्य अर्पित करना हो तो उसे भी गणधरकृत बताना आवश्यक था। इसी कारण से उपांग की चर्चा को भी अंगान्तर्गत कर लिया गया है। यह तो प्रथम भूमिका की बात हुई, किन्तु इतने से संतोष नहीं हुआ तो बाद में दूसरी भूमिका में यह परम्परा भी चलाई गई कि अंगबाह्य भी गणधरकृत हैं और उसे पुराण तक बढ़ाया गया। अर्थात् जो कुछ जैन नाम से चर्चा हो उस सबको भगवान् महावीर और उनके गणधर के साथ जोड़ने की यह प्रवृत्ति इसलिए आवश्यक थी कि यदि उसका संबंध भगवान् और उनके गणधरों के साथ जोड़ा जाता है तो फिर उसके प्रामाण्य के विषय में किसी को संदेह करने का अवकाश मिलता नहीं है। इस प्रकार चारों अनुयोगों का मूल भगवान् महावीर के उपदेश में ही है, यह एक मान्यता दृढ़ हुई।"

इस प्रश्न के कुछ पहलुओं पर विमर्श अपेक्षित है। महावीरकालीन साधुओं का अध्ययन ग्यारह अंगों या द्वादशांगी तक सीमित है। उसमें अंगबाह्य श्रुत का कोई उल्लेख नहीं है। महावीर के निर्वाण के पश्चात् उत्तरवर्ती काल में अनेक आगम रचे गए। उन्हें अंगबाह्य श्रुत माना गया। यदि वे आगम स्थविरों द्वारा रचित होते तो उन्हें आगम की कोटि में स्थान नहीं मिलता। आगम के प्रामाण्य की एक निश्चित मर्यादा थी। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी द्वारा रचित ग्रन्थ ही आगम की कोटि में मान्य हो सकता था। नदी सूत्र के अनुसार चतुर्दशपूर्वी और अभिशदशपूर्वी नियमतः सम्यग् श्रुत होते हैं। उससे नीचे नवपूर्वी आदि के लिए वह नियम नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी नियमतः सम्यग्दृष्टि सम्पन्न होते हैं। नवपूर्वी आदि सम्यग्-दृष्टि और मिथ्यादृष्टि—दोनों हो सकते हैं।^१

अंगबाह्य आगम स्थविरों द्वारा रचित हैं। सभी स्थविर चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी नहीं थे; प्रामाण्य की कसौटी के आधार पर उन्हें आगम की कोटि में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक समस्या थी। इसका समाधान किया गया—जो आगमपुरुष नहीं है उसके वचन का प्रामाण्य नहीं हो सकता, किन्तु यदि वह अंग-सूत्रों के आधार पर रचना करता है तो उसका वचन प्रमाण हो सकता है। देवर्धिगणी ने आगम वाचना के समय इसी आधार पर स्थविरकृत ग्रन्थों को आगम की कोटि में परिगणित किया। अंगबाह्य श्रुत उत्तरकालीन रचना है, इसलिए वह व्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। उसका कोई भी हिस्सा विच्छिन्न नहीं है, विच्छिन्नता की बात अंगों के साथ जुड़ी हुई है, इसलिए वे अंगबाह्य श्रुत की भांति व्यवस्थित नहीं हैं। प्रस्तुत आगम में 'चलमापो चलिए'—यह पहला प्रश्न है।^२ इसके बाद ही नैरयिकों की कितनी स्थिति है और वे कितने काल से श्वासोच्छ्वास लेते हैं—ये प्रश्न आते हैं और यही से प्रज्ञापना को देखने का

१. जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. १३।

धन, पृ. ५।

२. व्यवहारभाष्य और भगवतीवृत्ति में नवपूर्वी को भी आगम माना गया है।

३. नदी सू. सू. ६६, पृ. ४२, ४६।

विशेष जानकारी के लिए देखें—दशवैकालिक: एक समीक्षालक अध्य-

४. १।११।

निर्देश शुरू हो जाता है। पहले प्रश्न के साथ इन प्रश्नों का कोई संबन्ध स्थापित नहीं होता। सम्बन्ध-स्थापना या व्यवस्था की दृष्टि से ग्यारहवें और बारहवें सूत्र के पश्चात् सोलहवां सूत्र होना चाहिए। इसमें किसी दूसरे आगम को देखने की जरूरत नहीं है और पूर्व प्रश्न के साथ इनका संबंध भी जुड़ता है। इसी प्रकार इकतीसवें सूत्र के पश्चात् तेतीसवां सूत्र होना चाहिए। बत्तीसवें सूत्र में फिर प्रज्ञापना को देखने का निर्देश है। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि नैरयिक के प्रसंग में नैरयिक सम्बंधी पूरी जानकारी देने के लिए प्रज्ञापना का कुछ भाग प्रस्तुत सूत्र में साक्षात् लिखा गया और शेष भाग को देखने की सूचना की गई। इसी प्रकार प्रथम शतक के एक सौ एकवें सूत्र में सलेश्य का निरूपण है। प्रसंगवश लेश्या का नाम-निरूपण कर उसके विस्तार के लिए प्रज्ञापना के लेश्यापद का निर्देश है। प्रथम शतक के एक सौ पचहत्तरवें सूत्र में मोहनीय कर्म के विषय में चर्चा है। इस प्रसंग में सभी कर्मों का बोध कराने के लिए प्रज्ञापना के कर्मप्रकृति पद का निर्देश है। जहाँ-जहाँ प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि का निर्देश है वे सब प्रस्तुत आगम में परिवर्धित विषय हैं। यह कल्पना उन प्रकरणों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। इसकी संभावना नहीं की जा सकती कि प्रस्तुत आगम में निर्देशित विषय पहले विस्तृत रूप में थे और संकलन काल में उन्हें संक्षिप्त किया गया और उनका विस्तार जानने के लिए अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश किया गया। अंगबाह्य सूत्रों में अंगों का निर्देश किया जा सकता था, किन्तु अंग-सूत्रों में अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश कैसे किया जा सकता था? वह किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उन निर्देशों से संबंधित विषय प्रस्तुत आगम में जोड़कर उसे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

अंग सूत्रों में अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश उनका (अंगबाह्य सूत्रों का) प्रामाण्य स्थापित करने के लिए किया गया है, इस कल्पना में कोई विशेष अर्थ प्रतीत नहीं होता। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा छेदसूत्रों का प्रामाण्य स्थापित करने के लिए भी उनका निर्देश किया जाता। दूसरी बात, अंग-सूत्रों में अंगबाह्य सूत्रों का सर्वाधिक निर्देश व्याख्याप्रज्ञप्ति में ही मिलता है। यदि प्रामाण्य स्थापना की बात होती तो उनका निर्देश प्रत्येक अंग में भी किया जा सकता था। ऐसा नहीं है। इससे वही कल्पना पुष्ट होती है कि संकलन-काल में प्रस्तुत आगम के रिक्त स्थानों की पूर्ति तथा प्रासंगिक विषय का परिवर्धन किया गया।

उक्त स्थापना की पुष्टि के लिए एक तर्क और प्रस्तुत किया जा सकता है: आठवें शतक के एक सौ चार सूत्र से 'क्या जीव ज्ञानी अथवा अज्ञानी'—यह प्रकरण शुरू होता है। इस प्रसंग में इसकी पृष्ठभूमि के रूप में सूत्र ६७ से १०३ तक ज्ञान की चर्चा है। चर्चा का प्रारम्भ कर पूरा विवरण देखने के लिए 'रायपसेण्डय' सूत्र का निर्देश किया गया है, 'श्रुत अज्ञान की विशेष जानकारी के लिए नदी का निर्देश किया गया है।' इस ऐतिहासिक कालक्रम से भ्रम उत्पन्न हुए हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र, माठर और पुराण आदि ग्रन्थों की रचना व्याख्याप्रज्ञप्ति की रचना के बाद और नदी की रचना से पूर्व हुई थी। इसलिए व्याख्याप्रज्ञप्ति में उनका निर्देश एक भ्रम उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस प्रकार के सूत्र प्रसंग की स्पष्टता के लिए जोड़े गए थे।

पांचवें शतक में प्रमाण के चार प्रकार बतलाए गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम। इनकी विशेष जानकारी के लिए अनुयोगद्वारा का निर्देश किया गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की रचना के समय जैन-ज्ञान-मीमांसा में प्रमाण का विकास नहीं हुआ था। इन चार प्रमाणों का समावेश आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारा में किया था। व्याख्याप्रज्ञप्ति में इनका संदर्भ बहुत भ्रम पैदा करता है। नदी की श्रुतअज्ञान की व्याख्या तथा अनुयोगद्वारा का प्रमाण-चतुष्टय—ये सब उत्तरकालीन विकास हैं।

दोनों आगमों के पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है—

नदी

से कि तं मिच्छसुयं ? मिच्छसुयं—जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठिहिं सच्छंदबुद्धिमइ-विगपियं, तं जहा—१. भारहं २. रामायणं ३,४ हंभीमासुरुतं ५. कोडिल्लयं ६. सगभदियाओ ७. घोडमुहं ८. कप्पासियं ९. नागसुहुमं १०. कणगसत्तरी ११. वडसिसियं १२. बुद्धवयणं १३. वेसियं १४. काविलं १५. लोगाययं १६. सडितंतं १७. माढरं १८. पुराणं १९. वागरणं २०. नाडगादि। अहवा—बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेया संगोचंगा।

व्याख्याप्रज्ञप्ति

से कि तं सुयअण्णाणे ? सुयअण्णाणे—जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि-मइ-विगपियं, तं जहा—भारहं, रामायणं जहा नदीए जाव चत्तारि वेदा संगोचंगा।

आगमसंकलन के समय कुछ मानदण्ड निश्चित किए गए। उनके अनुसार नगर, राजा, चैत्य, तपस्वी, परिव्राजक आदि का एक जैसा वर्णन किया जाता है। इससे ऐतिहासिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

भगवती के मूल पाठ और संकलनकाल में परिवर्धित पाठ का निर्णय करना यद्यपि सरल कार्य नहीं है, फिर भी सूक्ष्म अध्ययन के साथ यह कार्य किया जाए तो असंभव भी नहीं।

डा. शुब्रिंग आदि विदेशी विद्वानों ने रचना के आधार पर मूल पाठ और परिवर्धित पाठ का निर्धारण किया है। उनका एक अभिमत

यह है कि बीस शतक प्राचीन हैं और अगले शतक परिवर्धित हैं। यह विषय भाषा, वाक्यरचना आदि की दृष्टि से सूक्ष्मता के साथ अन्वेषणीय है। अन्वेषण के पश्चात् ही उत्तरवर्ती शतकों में परिवर्धित भाग अधिक है, यह स्वीकार किया जा सकता है। चौबीसवां शतक भाषा और वाक्य-रचना की दृष्टि से पूर्ववर्ती शतकों से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें प्रस्तुत आगम की सहज सरलता नहीं है, किन्तु प्रज्ञापना जैसी जटिलता है। पच्चीसवें शतक के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसमें कुछ परिवर्धित नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। प्रतिसेवना,^१ आलोचना^२, सामाचारी^३, प्रायश्चित्त^४ विषयकसूत्र छेदसूत्रों और उत्तराध्ययन से संकलित हैं।

डा. डेल्यू ने इस विषय का स्पर्श इन शब्दों में किया है—“विआहपण्णत्ति में चर्चित विषयों की विविधता और अनेक स्थलों पर इस चर्चा में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों तथा परिस्थितियों का विषय में दी गयी जानकारी—यह सारा व्यवस्थित पद्धति से दिए जाने वाले विवरण जैसा नहीं है। इसी कारण से हमारे पास यहां एक ऐसा विवरण उपलब्ध है, जो कि महावीर के सिद्धान्त वस्तुतः कैसे थे, उस विषय में निरूपण करता है, न कि उन सिद्धान्तों का जिन्हें उत्तरकाल में व्यवस्थित रूप दिया गया। वस्तुतः तो ऐसा यही एक मात्र यथार्थतः महत्त्वपूर्ण आगमिक विवरण उपलब्ध है। हां, यह अवश्य है कि परम्परा ने बहुत प्रकार से महावीर को यात्रा तथा वे जिन नगरों एवं उद्यानों में गए उनके सम्बन्ध में और वे जिन लोगों से मिले व उनकी उपदेश देने की पद्धति के विषय में एकरूप विवेचन प्रस्तुत कर उक्त विवरण को रूढ़-सा बना दिया है। फिर भी यहां जो महत्त्वपूर्ण बिन्दु है वह यह है कि महावीर जिन स्थानों में वस्तुतः रहे थे, जिन लोगों से वस्तुतः मिले थे, अमुक प्रश्नों के बारे में जिन विचारों को उन्होंने निरूपित किया था, जिन अन्य लोगों के अभिप्राय को उन्होंने समर्थन दिया था या असमर्थन दिया था, अपने समय के जिन व्यक्तियों, पदार्थों और घटनाओं के विषय में उन्होंने टिप्पणी की थी, उनके विषय में यहां बताया गया है; तथा संक्षेप में यह कि यहां महावीर अपने काल की स्थितियों और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में एक सक्रिय व्यक्ति के रूप में अधिक प्रतीत हो रहे हैं। दूसरे शब्दों में—विआहपण्णत्ती के केन्द्रीय शतकों में एक मात्र वे असली संवादात्मक आगम-पाठ उपलब्ध हैं (जिन्हें पण्णत्ती कहा जाता है) जिनका अनुसरण आगे चलकर प्रज्ञापना जैसे संवादात्मक आगमों में (जिन्हें गौण पण्णत्ती कहा जा सकता है) तथा विआहपण्णत्ती में प्रक्षिप्त पाठों में किया गया है।”

पाठ-विमर्श

प्रस्तुत आगम के पचीसवें शतक में तप का विस्तृत प्रकरण है। यह औपपातिक में भी उपलब्ध होता है।^५ इसमें चार ध्यानो का निरूपण है। ध्यानचतुष्टयी का निरूपण स्थानांग में भी मिलता है। इनमें कहीं-कहीं क्रम-भेद और कहीं-कहीं मौलिक अन्तर है। शुक्लध्यान के लक्षण और आलम्बन के विषय में व्याख्याप्रज्ञप्ति तथा स्थानांग और औपपातिक में पाठ का विपर्यय मिलता है—

१. २५।५५१

२. २५।५५२-५५४

३. २५।५५५

४. २५।५५६

५. विआहपण्णत्ती की भूमिका, पृष्ठ ३४-३५—“On the whole the texts and fragments embodied in the *Vij.* by way of references and quotations, derive from the systematic enunciation of the doctrine. If they are eliminated from the nucleus *sayas*, what is left proves to be a rather bewildering amalgam of detached teaching. The diversity of the topics discussed and in many cases that of the persons and the circumstances attending these discussions all but defy methodical description that is because here we have a record, of what Mv.'s teaching actually was like, not of what later systematization has made of it. Of course, tradition has, in many ways, formalized this record by

stereotyping the description of Mv.'s peregrination, of the towns and sanctuaries he visited, of the people he met and of his method of teaching. The important point, however, is that here Mv. is actually said to have stayed at places, to have approved or disapproved of other people's opinions, to have commented upon persons, things and events of his time, that, in fine, Mv. here appears more as an active personality set against the background of its environmental conditions and circumstances. In other words: the nucleus *sayas* of the *Vij.* are, or rather contain, the only genuine dialogue text (*paññatti*) to be found in the canon, the example imitated by would-be dialogue texts (*secondary paññattis*) such as *pañnav.*”

६. ओ.सू. ३०-४४।

शुक्ल ध्यान के लक्षण^१

व्याख्याप्रज्ञप्ति	क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव
स्थानांग	अव्यथ	असम्मोह	विवेक	व्युत्सर्ग
औपपातिक	विवेक	व्युत्सर्ग	अव्यथ	असम्मोह

शुक्ल ध्यान के आलम्बन^२

व्याख्याप्रज्ञप्ति	अव्यथ	असम्मोह	विवेक	व्युत्सर्ग
स्थानांग	क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव
औपपातिक	क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव

ध्यानशतक में स्थानांग और औपपातिक का क्रम मिलता है।^३ अव्यथ, असम्मोह आदि शुक्ल ध्यान के लक्षण हो सकते हैं। ध्यानशतक में इसे विस्तार के साथ समझाया गया है।^४ प्रतीत होता है कि स्मृतिदोष अथवा लिपिदोष के कारण यह विपर्यय हो गया।

धर्म ध्यान के लक्षण^५

व्याख्याप्रज्ञप्ति	आज्ञारुचि	निसर्गरुचि	सूत्ररुचि	अवगाढरुचि
स्थानांग	आज्ञारुचि	निसर्गरुचि	सूत्ररुचि	अवगाढरुचि
औपपातिक	आज्ञारुचि	निसर्गरुचि	उपदेशरुचि	सूत्ररुचि

धर्म ध्यान के आलम्बन^६

व्याख्याप्रज्ञप्ति	वाचना	प्रतिप्रच्छना	परिवर्तना	धर्मकथा
स्थानांग	वाचना	प्रतिप्रच्छना	परिवर्तना	अनुप्रेक्षा
औपपातिक	वाचना	प्रच्छना	परिवर्तना	धर्मकथा

धर्म ध्यान की अनुप्रेक्षा^७

व्याख्याप्रज्ञप्ति	एकत्वानुप्रेक्षा	अनित्यानुप्रेक्षा	अशरणानुप्रेक्षा	संसारानुप्रेक्षा
स्थानांग	एकानुप्रेक्षा	अनित्यानुप्रेक्षा	अशरणानुप्रेक्षा	संसारानुप्रेक्षा
औपपातिक	अनित्यानुप्रेक्षा	अशरणानुप्रेक्षा	एकत्वानुप्रेक्षा	संसारानुप्रेक्षा

शुक्ल ध्यान के प्रकार^८

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति	पृथक्त्ववितर्कसविचारी	एकत्ववितर्कअविचारी	सूक्ष्मक्रियंअनिवृत्ति	समुच्छिन्नक्रियंअप्रतिपाति
२. स्थानांग	पृथक्त्ववितर्कसविचारी	एकत्ववितर्कअविचारी	सूक्ष्मक्रियंअनिवृत्ति	समुच्छिन्नक्रियंअप्रतिपाति
३. औपपातिक	पृथक्त्ववितर्कसविचारी	एकत्ववितर्कअविचारी	सूक्ष्मक्रियंअप्रतिपाति	समुच्छिन्नक्रियंअनिवृत्ति

देशी शब्दों का प्रयोग

प्रस्तुत आगम में यत्र-तत्र देशी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है—

१. भ. २५। ६१०; टाणं, ४। ७०; ओ. सू. ४३।

२. भ. २५। ६११; टाणं, ४। ७१; ओ. सू. ४३।

३. ध्यान-शतक, ६६, ६०।

४. वही, ६१, ६२---

चालिज्जइ वीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।

सुहुमेसु न संमुज्जइ भावेसु न देवमायासु॥

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सच्चसंजोगे।

देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सच्चहा कुणइ॥

५. भ. २५। ६०६; टाणं, ४। ६६; ओ. सू. ४३।

६. भ. २५। ६०७; टाणं, ४। ६७; ओ. सू. ४३।

७. भ. २५। ६०८; टाणं, ४। ६८; ओ. सू. ४३।

८. भ. २५। ६०६; टाणं, ४। ६६; ओ. सू. ४३।

देशी शब्द	प्रमाण	देशी शब्द	प्रमाण
गड़द	३।६५	भगवओ	७।१५२
बोदि	३।११२	छाणे	८।२५
खत्त	७।११७	चिक्खल	८।३५७
ओंगर	७।११७	मत्था	६।४६
गड़ड	७।११७	नत्थ	६।१४१
संकुडित	७।११६	छण	६।१८६
टोल	७।११६		

रचनाकार, रचनाकाल

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का पांचवा अंग है। इसमें भगवान् महावीर की वाणी गणधर सुधर्मा के द्वारा संकलित है, इसलिए इसके रचनाकार गणधर सुधर्मा हैं। इसका प्रस्तुत संस्करण देवर्द्धिगणी की वाचना के समय का है। ई. पू. पांच सौ से ईस्वी सन् पांच सौ तक के सूत्र इसमें मिलते हैं। गौतम ने पूछा—भंते ! पूर्वगत श्रुत कब तक चलेगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! मेरे निर्वाण के एक हजार वर्ष तक पूर्वगत श्रुत चलेगा—

“जंबुद्वीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे आसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति ?

गोयमा ! जंबुद्वीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति ।”

यह सूत्र संकलनाकालीन रचना है। देवर्द्धिगणिकमाश्रमण ने पार्श्वनाथ की परंपरा देवगुप्त से एक पूर्व अर्थ सहित और दूसरे पूर्व का केवल मूल पाठ पढ़ा था।^१ अंतिम पूर्वधारी सत्यमित्र माने जाते हैं। उनके स्वर्गवास के पश्चात् पूर्वश्रुत का सर्वथा विच्छेद हो गया। धर्मसागरगणि लिखित तपागच्छ पट्टावलि में इसका उल्लेख मिलता है^२—श्रीवीरात् वर्षसहस्रे १००० गते सत्यमित्रे पूर्वव्यवच्छेदः पूर्वविच्छेदः।

भगवान् महावीर के प्रवचन में कहीं भी भविष्यवाणी नहीं है। यह सामयिक स्थिति का आकलन करने वाला सूत्र देवर्द्धिगणी की वाचना के समय जोड़ा गया प्रतीत होता है।

समर्पण-सूत्रों या निर्देश-सूत्रों के अध्ययन से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत आगम में अनेक शताब्दियों की रचना का संकलन किया गया है। गणपिटक की जानकारी के लिए नंदी सूत्र का निर्देश किया गया है। उसमें नियुक्ति का उल्लेख है।^३ यह उत्तरकालीन पाठरचना है। प्रस्तुत आगम में विभिन्न पाठों के रचनाकाल का निर्धारण करना बहुत आवश्यक कार्य है। इससे दार्शनिक विकास के कालक्रम को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

आकार और वर्तमान आकार

प्रस्तुत आगम का ग्रन्थमान अनुष्टुप् श्लोक के अनुपात से १६ हजार श्लोक प्रमाण माना जाता है। हमने अंगसुत्ताणि भाग दो में प्रकाशित प्रस्तुत आगम के संस्करण में अनेक स्थलों पर जाव शब्द की पूर्ति की है। उससे इसका ग्रन्थमान १६२८६/२ श्लोक प्रमाण हो गया है। इसका सवा लाख प्रमाण वाला भी संस्करण मिलता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। समवायांग और नंदी में इसका प्राचीन रूप और आकार मिला है। वह इस प्रकार है—

सूत्रांग	प्रमाण	सूत्रांग	प्रमाण
१. वाचना	अनेक	५. नियुक्तियां	संख्येय
२. अनुयोगद्वार	संख्येय	६. संग्रहणियां	संख्येय
३. वेदा छन्द	संख्येय	७. प्रतिपत्तियां	संख्येय
४. श्लोक	संख्येय	८. अंग	पांचवां
९. श्रुतस्कन्ध	एक	१३. व्याकरण	छत्तीस हजार
१०. अध्ययन	सौ से अधिक	१४. पद	दो लाख अट्ठासी हजार ^४
११. उद्देशक	दस हजार	१५. पद	चौरासी हजार ^५
१२. समुद्देशक	दस हजार		

१. २०।७०।

२. आत्मप्रबोध, ३३।१।

३. पट्टावली समुच्चय, भा. १, पृ. ५१।

४. २५।६६, ६७—कतिविहे णं भंते ! गणपिडए पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुवालसंगे गणपिडए पण्णत्ते, तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ।

अे त्ति नं आगमणे ? आगमणे णं समवायां निरांग्गाणां आगार-गोय- विणय-

वेणइय-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तिओ आधविज्जति,

एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा नंदीए जाव।

सुत्तयो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ।

तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओमे॥

५. नंदी, सू. ८५ के अनुसार।

६. सम.प.स. ६३ के अनुसार है।

जयधवला के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में दो लाख अर्द्धस हजार पद हैं।^१

व्याख्याग्रन्थ

प्रस्तुत आगम की निर्युक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसके विवरण में संख्येय निर्युक्तियों का उल्लेख है: ये निर्युक्तियां आगम के साथ जुड़ी हुई थी या स्वतन्त्र व्याख्या-ग्रन्थ के रूप में थीं, इसका अभी कोई समाधान नहीं हुआ। नंदी सूत्र में उपलब्ध ग्यारह अंगों के विवरण में सभी अंगों में संख्येय निर्युक्तियों का उल्लेख है।^२ वर्तमान में केवल दो अंगसूत्रों—आचाराङ्ग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियां मिलती हैं, शेष, अंगों की निर्युक्तियां उपलब्ध नहीं हैं।

प्रस्तुत आगम में कुछ निरुक्त मिलते हैं—

१. जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया।^३
२. जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया।^४
३. जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवति तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया।^५
४. जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मोहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।^६
५. जम्हा तित्तकडुकसायविलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विण्णु त्ति वत्तव्वं सिया।^७
६. जम्हा वेदेति य सुह-दुक्खं तम्हा वेदे त्ति वत्तव्वं सिया। से तेणट्टेणं पाणे त्ति वत्तव्वं सिया जाव वेदे त्ति वत्तव्वं सिया।^८
७. जे लोक्कइ से लोए।^९

इन निरुक्तों को भी निर्युक्ति कहा जा सकता है। हरिभद्रमूरि ने निर्युक्ति का अर्थ निक्षेपनिर्युक्ति आदि किया है।^{१०} वहां यह अर्थ घटित हो सकता है। निर्युक्ति अनुगम के तीन प्रकार हैं—

१. निक्षेप निर्युक्ति अनुगम
२. उपोद्घात निर्युक्ति अनुगम
३. सूत्रस्पर्शा निर्युक्ति अनुगम

प्रस्तुत आगम में निक्षेप-निर्युक्ति का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है^{११}—

१. दव्वओ लोए सअंते
खेत्तओ लोए सअंते
कालओ लोए अणंते
भावओ लोए अणंते।
२. दव्वओ जीवे सअंते
खेत्तओ जीवे सअंते
कालओ जीवे अणंते
भावओ जीवे अणंते।

इस प्रकार २।१२५-१२६, ५।२०५; ८।१८४-१८९; ११।३५, १०८; १४।८१; १६।११; २५।२५, २८—ये स्थल द्रष्टव्य हैं।

चूर्णि

चूर्णि अभी मुद्रित नहीं है। वह हस्तलिखित मिलती है। उसकी पत्र संख्या ८० है। उसका ग्रंथमान ३५६० श्लोक परिमाण है। उसके प्रारंभ में मंगलाचरण नहीं है और अन्त में प्रशस्ति नहीं है। रचनाकार और रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं है। चूर्णि की भाषा प्राकृत प्रधान है। इसे प्राकृत प्रधान चूर्णियां—नंदीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, और जीतकल्प चूर्णि की कोटि में रखा जाता है! विद्वानों के अनुसार भगवतीचूर्णि के रचनाकार जिनदास महत्तर हैं

१- क.पा.प्रथम अधिकार,पृ.६३,६४।

२- नंदी.सू.८१-६१।

३-८. २।१५।

६. ५।२५५।

१०. नंदी,हा.वृ.पृ.७६—निर्युक्तानां युक्तिर्निर्युक्तियुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपात्
निर्युक्तिरिति, एताश्च निक्षेपनिर्युक्त्याद्याः।

११. अणु.सू.७११।

१२. २।४५,४६।

वृत्ति

प्रस्तुत आगम पर नवाङ्गीटीकाकार अभयदेवसूरी की वृत्ति उपलब्ध है। सं. ११२८ अणहिलपाटक नगर में इस वृत्ति का निर्माण संपन्न हुआ। इसका ग्रन्थमान अनुष्टुप् श्लोक के अनुपात से १८६१६ है। वृत्ति का प्रारम्भ मंगलाचरण के साथ किया गया है—

सर्वज्ञमीश्वरमन्तमसङ्गग्रं सार्वीयमस्मरनीशमनीहमिच्छम् ।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतं, श्रीमञ्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे ।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा ॥ २ ॥
एतद्वीकाचूर्णं जीवाभिगमादिवृत्तिलेशांश्च ।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं विदूणोभि विशेषतः किञ्चित् ॥ ३ ॥

वृत्ति की परिसमाप्ति पर प्रशस्ति के सोलह श्लोक हैं। उनमें अपनी परम्परा का परिचय और वृत्ति के शोधनकार द्रोणसूरी के प्रति कृतज्ञता, सहायकों के प्रति आभार, रचनापूर्ति का काल तथा ग्रन्थमान का उल्लेख है—

यदुक्तमादाविह साधुयोधैः श्रीपञ्चमाङ्गेत्रतकुञ्जरोऽयम् ।
सुखाधिगम्योऽस्त्विति पूर्वगुर्वी, प्रारभ्यते वृत्तिवत्रिकेयम् ॥ १ ॥
समर्थितं तत्सद्बुद्धिसाधुसाहायकालेवलमत्र सन्तः ।
सद्बुद्धिदात्र्याऽपगुणाल्लुनन्तु, सुखग्रहा येन भवत्यथैषा ॥ २ ॥
चांद्रे कुले सद्बनकक्षकल्पे, महाद्भुतो धर्मफलप्रदानात् ।
छायान्वितः शस्तविशालशाखः, श्रीवर्द्धमानो मुनिनायकोऽभूत् ॥ ३ ॥
तत्सुष्पकल्पौ विलसद्बिहारसद्गन्धसम्पूर्णदिशौ समन्तात् ।
बभूवतुः शिष्यवरावनीचवृत्तिश्रुतज्ञानपरागवन्तौ ॥ ४ ॥
एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः, ख्यातस्तथान्यो भुवि बुद्धिसागरः ।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाथलं, वृत्तिः कृतैषाऽभवदेवसूरिणा ॥ ५ ॥
तयोरेव विनेयानां, तत्पदं चानुर्कुर्यताम् ।
श्रीमतां जिनचन्द्राख्यसद्व्रभूणां नियोगतः ॥ ६ ॥
श्रीमञ्जिनेश्वराचार्यशिष्याणां गुणशालिनाम् ।
जिनभद्रमुनीन्द्राणामस्माकं चांदिसेविनः ॥ ७ ॥
यशश्चन्द्रगणेशादसाहाय्यात् सिद्धिभागता ।
परित्यक्तान्यकृत्यस्य, युक्तायुक्तविवेकिनः ॥ ८ ॥ युग्मम् ।
शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य, विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः ।
श्रीनिर्वृताख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः, श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययशःपरागः ॥ ९ ॥
शोधितवान् वृत्तिमिमां युक्तो विदुषां महासमूहेन ।
शास्त्रार्थनिष्कनिकषणकषपट्टककल्पबुद्धीनाम् ॥ १० ॥
विशोधिता तावदियं सुधीभिस्तथापि दोषाः किल संभवन्ति ।
मन्मोहतस्तांश्च विहाय सद्भिस्ताद्प्राह्यमात्ताभिमतं यदस्वाम् ॥ ११ ॥
यदवासं मया पुण्यं, वृत्ताविह शुभाशयात् ।
मोहाद् वृत्तिजमन्यच्च, तेनागो मे विशुद्ध्यतात् ॥ १२ ॥
प्रथमादर्शे लिखिता विमलगणिप्रभृतिभिर्निजविनेयैः ।
कुर्वद्भिः श्रुतभक्तिं दक्षैराधिकं विनीतैश्च ॥ १३ ॥
अस्याः करणव्याख्याश्रुतिलेखनपूजनादिषु यथार्हम् ।
दायिकसुतमाणिष्यः प्रेरितवानस्मदादिजनान् ॥ १४ ॥
अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुद्धनिवसती ॥ १५ ॥
अष्टादश सहस्राणि, षट् शतान्यथ षोडश ।
इत्येवमानमेतस्याः, श्लोकमानेन निश्चितम् ॥ १६ ॥

वृत्तिकार ने मूल टीका और चूर्णिकार का अनेक बार उल्लेख किया है—

	वृत्तिपत्र		वृत्तिपत्र
मूलटीकाकृता	१२	चूर्णिकार मतमुपजीव्य	६४०
वृद्धैस्तु काञ्चिद्वाचनमाश्रित्येदं व्याख्यातम्	६४	चूर्णिकारः पुनरेवमाह	६४२
वृद्धैरयं विशेष उक्तः	८३	परिपूर्णस्त्ववीचिद्रव्यापीति टीकाकारः,	
घटवदिति चूर्णिव्याख्या, टीकाकारस्त्वेवमाह	८४	चूर्णिकारस्त्वाहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्येदम्	६४४
एतच्च टीकाकारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति	८४	वृद्धै व्याख्यातम्	६५६
टीकाकारेण तु....	८६	पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः	
टीकाकारव्याख्यानं त्विह	६८	'पातावधिञ्ज' ति चूर्णिकारः	६५६
चूर्णिकारोपि आह	१५०	प्रस्तावाद्युक्तमाहुर्वृद्धाः	६६८
वृद्धैस्तु व्याख्यातम्	१५४	इह वृद्धव्याख्या	६७३
अन्योन्यमनुप्रविभन्ते इति वृद्धाः	१६७	वृद्धैरप्यनाख्यातत्वात्, आह च चूर्णिकारः	६७६
अथात्तधूनि—महान्ति वरिष्ठानीति वृद्धाः	१७४	इह टीकाव्याख्या	६८४
आह च चूर्णिकारः	१७८	वृद्धाः	७०१
वृद्धाः पुनरेवमाहुः	१८४	चूर्णिकारः	७०४
चूर्णिकारमतं तु	१८५	चूर्णिकारेण तु	७०५
वृद्धोक्तोभिधीयते	२४१	झूरित इति टीकाकारः	७०५
वृद्धव्याख्या तु	२६६	वलितोद्भवलितामिति वृद्धाः	७०५
वृद्धव्याख्या तु	२६३	वक्रामिति वृद्धा	७०५
आह च भाष्यकारः, आह च भाष्यकारः	३५८	इयं चेह वृद्धोक्ता गाया.	८०४
वृद्धैः पुनः पश्यतीत्यत्रेदमुक्तम्	३५८	आह च चूर्णिकारः	८१६
चूर्णिकारव्याख्या, टीकाकारव्याख्या तु	३६८	अत एवोक्तं चूर्णिकारेण	८२०
इहाल्पबहुत्वाधिकारे वृद्धा गाया		इह चैता वृद्धोक्ताः संग्रहगाया	८६४
एवं प्रपञ्चितवन्तः	४१४	चूर्णिकारव्याख्या	८३५
इत्येतस्य चूर्ण्यनुसारेण व्याख्या	४१७	टीकाकारस्तु साक्षेपपरिहारं चेह प्राह	८६५
इति च वृद्धाः....इति च वृद्धाः	४६४	वृद्धाः	८७६
आह च भाष्यकारः	४८७	चूर्णिकारः	८८६
इह पूज्यव्याख्या	४६२	केनचिद्वृत्तिकृतेहान्यत्र च ग्रन्थे व्याख्यानमध्येनमेव	८६३
अयं च सूत्रार्थोऽभूमिवृद्धोक्तगायाभिर्भावनीयः	५२८	चूर्णिकारस्त्वाह	९०५
एतच्च टीकामुपजीव्य व्याख्यातम्, इह कश्चिदाह		एतच्च टीकाकारव्याख्यानम्, चूर्णिकारव्याख्यानमध्येनमेव	९१८
ननु देवत्वाच्च्युतस्यानन्तरमेव...इति टीकाकारमतभवसीयते	५८७	चूर्ण्यां तूक्तम्—जं वत्याइं....	९२४
उक्तञ्च चूर्ण्याम्	६००	चूर्ण्यां तूक्तम् झंझा....	९२४
इह चूर्णिकारव्याख्यानमिदम्	६११	उक्तं च वृद्धैरिह	९२६
वृत्तिकृता त्वेवमुक्तम्	६११	प्राक्तनशतमङ्कशांशाश्रित्य वृद्धरुक्तम्	९४१
इह च प्रकरणे इमे वृद्धोक्तगाये	६१२	इदं च प्रायोवृत्तिमङ्गीकृत्योक्तं, अन्यथा पञ्चसामयिक्यपि	
चूर्णिकारेण पुनः कायसूत्राणि	६२३	गतिः सम्भवति	९६०
इति च वृद्धाः	६२८	व्याख्या शतस्यास्या कृता सकष्टं, टीकाऽल्पिका येन न चास्ति चूर्णिः ।	
वल्त्याधाक्रान्तत्वादिति च वृद्धाः	६२८	मन्दैकनेत्रो बत पश्यताद्वा, दृश्यान्यकष्टं कथमुद्यतोऽपि ॥ १ ॥	९७०

विषयानुक्रम

प्रथम शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
प्रथम उद्देशक		१६१-१६६	पुद्गल और जीव की त्रैकालिकता का पद ६६-१०१
१-३ मंगल-पद	०५-११	२००-२१०	मोक्ष-पद १०१-१०४
४-१० उत्क्षेप-पद	११-२०	पांचवां उद्देशक	
११,१२ चलमान पद	२१-२३	२११,२१२ पृथ्वी-पद	१०५
१३-३२ नैरयिकों की स्थिति आदि का पद	२३-३१	२१३-२१५ आवास-पद	१०५,१०६
३३-३८ आरंभ-अनारंभ-पद	३१-३६	२१६-२४४ नैरयिकों का नानादशाओं में क्रोधोपयुक्त आदि भंग-पद	१०६-११७
३९-४३ ज्ञानादि का भवान्तर-संक्रमण-पद	३६-३९	२४५-२५५ असुरकुमार आदि का नानादशाओं में क्रोधोपयुक्त आदि भङ्ग-पद	११७-१२१
४४,४७ असंचृत-संचृत-अनगार-पद	३९-४२		
४८-५१ असंयत का वानमंतरदेव-पद	४२-४६	छठा उद्देशक	
द्वितीय उद्देशक		२५६-२६७ सूर्य-पद	१२२-१२५
५२	४७	२६८-२७५ स्पर्शना-पद	१२५-१२७
५३-५६ कर्म-वेदन-पद	४७,४८	२७६-२८७ क्रिया-पद	१२७-१२९
६०-८५ नैरयिक आदि जीवों का समान आहार, समान शरीर आदि-पद	४९-५३	२८८-३०८ रोह के प्रश्न-पद	१२९-१३६
८६-१०१ मनुष्यों आदि का समान आहार, समान शरीर आदि-पद	५३-६२	३०९-३११ लोकस्थिति-पद	१३६-१३८
१०२ लेश्या-पद	६२,६३	३१२,३१३ जीव-पुद्गल-पद	१३८-१४०
१०३-१११ जीवों का भव-परिवर्तन-पद	६३-६६	३१४-३१७ स्नेहकाय-पद	१४०,१४१
११२,११३ अन्तक्रिया-पद	६६,६७	सातवां उद्देशक	
११४-११७ असंज्ञी-आयुष्य-पद	६७-७१	३१८-३३४ देश-सर्व-पद	१४२-१४६
तृतीय उद्देशक		३३५-३३८ विग्रहगति-पद	१४६,१४७
११८-१३० कांक्षामोहनीय-पद	७२-७५	३३९ आयु-पद	१४८,१४९
१३१,१३२ श्रद्धा-पद	७५-७६	३४०-३४६ गर्भ-पद	१४९-१५४
१३३-१३८ अस्ति-नास्ति-पद	७६-७९	३५०-३५२ मात्रिक-पैत्रिक-अंग-पद	१५४,१५५
१३९ भगवान् की समता का पद	७९,८०	३५३,३५४ गर्भ का नरक-गमन-पद	१५५
१४०-१७३ कांक्षामोहनीय का बंध आदि-पद	८०-९३	३५५-३५८ गर्भ का देवलोक-गमन-पद	१५५-१५८
चतुर्थ उद्देशक		आठवां उद्देशक	
१७४ कर्म-पद	९३,९४	३५९ बाल का आयुष्य-पद	१५९
१७५-१८८ उपस्थान-अपक्रमण-पद	९४-९७	३६०,३६१ पंडित का आयुष्य-पद	१५९,१६०
१८९,१९० कर्म-मोक्ष-पद	९७-९९		

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ		
३६२, ३६३	बालपंडित का आयुष्य-पद	१६०, १६१	४३४-४३५	अप्रत्याख्यानक्रिया-पद	०००-१८४
३६४-३७२	क्रिया-पद	१६१-१६६	४३६-४३७	आधारकर्म-पद	१८४, १८५
३७३, ३७४	जय-पराजय-पद	१६६, १६७	४३८-४३९	प्रासु-एषणीय-पद	१८६
३७५-३८४	वीर्य-पद	१६७-१६९	४४०-४४१	शाश्वत-अशाश्वत-पद	१८७
नवमां उद्देशक			दसवां उद्देशक		
३८४-४१६	गुरु-लघु-पद	१७१-१७६	४४२	परसमयवक्तव्यता-पद	१८८-१८९
४१७-४१८	प्रशस्त-पद	१७६-१७७	४४३	स्वसमय वक्तव्यता-पद	१८९-१९१
४१९	कांक्षाप्रदोष-पद	१७७	४४४-४४५	ऐर्यापथिकी-साम्परायिकी-पद	१९२, १९३
४२०-४२२	इह-पर-भविक-आयु-पद	१७८-१७९	४४६-४४८	उपपात-पद	१९३
४२३-४३३	कालासवैश्यपुत्र-पद	१७९-१८३			

द्वितीय शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ	
प्रथम उद्देशक		सातवां उद्देशक		
-०१	उत्क्षेप-पद	११६, ११७	स्थान-पद	२८१
०२-०८	श्वासोच्छ्वास-पद			
०९-१२	वायुकाय का कायस्थिति-पद			
१३-१६	मृतादीनिर्ग्रन्थ-पद			
२०-७३	स्कन्दककथा-पद			
द्वितीय उद्देशक		आठवां उद्देशक		
-७४	समुद्घात-पद	११८-१२१	चमरसभा-पद	२८२-२८४
तृतीय उद्देशक		नवमां उद्देशक		
७५, ७६	पृथ्वी-पद	१२२, १२३	समयक्षेत्र-पद	२८४
चतुर्थ उद्देशक		दसवां उद्देशक		
७७, ७८	इन्द्रिय-पद	१२४-१३५	अस्तिकाय-पद	२८५-२९१
		१३६, १३७	जीवत्व-उपदर्शन-पद	२९१-२९२
		१३८-१४०	आकाश-पद	२९२-२९४
		१४१-१४५	अस्तिकाय-पद	२९४-२९५
		१४६-१५३	स्पर्शना-पद	२९५-२९७
पांचवा उद्देशक		परिशिष्ट		
७९, ८०	परिधारणा-वेद-पद			
८१-९१	गर्भ-पद			
९२-१११	तुंगियानगरी-श्रमणोपासक-पद			
११२-११४	उष्णजलकुण्ड-पद			
छठा उद्देशक		नामानुक्रम (व्यक्ति और स्थान)	३०३-३०४	
११५	भाषा-पद	भाष्यविषयानुक्रम	३०५-३१०	
		पारिभाषिक शब्दानुक्रम	३११-३२६	
		आधारभूत ग्रन्थ-सूची	३३०-३३६	
		जिनदास महत्तरकृत चूर्णि—दो शतक	३३८-३३९	
		अभयदेवसुरिकृत वृत्ति—दो शतक	३४०-४१२	

पढमं सतं

प्रथम शतक

आमुख

प्रस्तुत है भगवती का पहला शतक। इसमें दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, जीवविद्या, लोकविद्या, सृष्टिविद्या, परामनोविज्ञान आदि अनेक विषयों का गंभीर परामर्श हुआ है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का विकास जीव और पुद्गल के योग से हुआ है। मूल तत्त्व दो हैं— जीव और अजीव। उनका अस्तित्व त्रैकालिक है, अनादि है।^१ प्रत्येक अस्तित्व में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की त्रिपदी का समन्वय है। ध्रौव्यांश अनादि है। उत्पाद और व्यय परिणमन के अंग हैं।^२ यह परिणमन ही सृष्टि का मूल बीज है।

रोहक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—रोहक ! जीव और अजीव—ये हैं। उनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है। पहले जीव और पश्चाद् अजीव—यह नहीं है। पहले अजीव और पश्चाद् जीव—यह भी नहीं है। दोनों में पौर्वापर्य नहीं है।^३ यह सिद्धान्त वेदान्त के चैतन्याद्वैत से भिन्न है। उसके अनुसार ब्रह्म या चेतन से जड़ पदार्थ की उत्पत्ति होती है।

इस सिद्धान्त में जड़द्वैतवाद का भी अस्वीकार है। उसके अनुसार जड़ पदार्थ से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

चेतन और अचेतन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है, फिर उनमें संबंध स्थापित कैसे हो सकता है ?—यह प्रश्न दर्शन के क्षेत्र में बहुचर्चित रहा है^४ और आज भी है। इस प्रश्न का एक नया समाधान उपलब्ध है। जीव और पुद्गल दोनों में एक स्नेह नाम का तत्त्व होता है। इस तत्त्व के कारण उन दोनों में संबंध स्थापित हो जाता है।

रेने देकार्त ने शरीर और मन की निरपेक्ष सत्ता का प्रतिपादन किया। स्पिनोजा ने शरीर और मन में अद्वैत की स्थापना की। आधुनिक वैज्ञानिक शरीर और मन में अन्तःक्रिया (Interaction) मानते हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस अन्तःक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर अनेक समस्याएं सुलझाई गई हैं। शरीर का मन पर और मन का शरीर पर प्रभाव होता है, यह स्पष्ट है। शरीर और मन दोनों भिन्न सत्ताएं हैं; फिर एक दूसरे का प्रभाव एक दूसरे पर कैसे होता है ? देकार्त ने शरीर और मन की पारस्परिक क्रियाओं का संबंध-सूत्र पाइनिगल ग्लैंड को बतलाया है। इससे प्रश्न का सही समाधान नहीं होता। शरीर और जीव दोनों में कोई ऐसा संबंध-सूत्र होना चाहिए जिससे वे एक-दूसरे को परस्पर प्रभावित कर सकें। स्नेह का संबंध जीव और पुद्गल दोनों से है। उसके आधार पर पारस्परिक संबंध की व्याख्या सरल हो जाती है।

जीव और पुद्गल का संबंध शरीर-धारण, आहार-ग्रहण, कर्म-बंध, कर्म-विपाक आदि अनेक रूपों में होता है। इस प्रसंग में जीवविद्या और कर्मविद्या के अनेक नए पक्षों पर विमर्श हुआ है।^५

परामनोविज्ञान (Parapsychology) विज्ञान की नई और दर्शन की बहुत पुरानी शाखा है। उसका एक महत्वपूर्ण अंग है—पुनर्जन्म। एक जीव वर्तमान जीवन को समाप्त कर नए जीवन का प्रारंभ करता है। गीता की भाषा में—

“बासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥”^६

१. सूत्र १६१-१६६।

२. सूत्र २६१।

३. सूत्र ४४०।

४. द्रष्टव्य सूत्र ३१२, ३१३ का भाष्य।

५. जीवविद्या के लिए द्रष्टव्य सूत्र—

जीवन का स्थिति-काल—१३-१५, ३२

सम-आहार, समशरीर आदि—६०-१००

संसार-संस्थान काल—१०३-१११

स्थिति-स्थान—२१६-२५४

स्नेहकाय—३१४-३१६

आयुष्य—३५६-३६३, ४२०, ४२१

वीर्य—३७५-३८२, ३६१-३६६

जीव और लेश्या—१०१, १०२, ४०८-४१६

गुरुत्व-लघुत्व—३८४-३६१

जीव और पुद्गल—१६, २७।

कर्मविद्या के लिए द्रष्टव्य सूत्र—

चलित-अचलित—२८-३१

कर्म-वेदन—५३-५६

उपस्थापन, अवक्रमण—१७५-१८८

कांक्षापोहनीय—११८-१३०, १४०-१७२

कर्म-प्रकृति—१७४

कर्म-मोक्ष—१८६, १६०

जय-परजय—३७३, ३७४, ४०७।

६. भगवद्गीता, २।२२।

“मनुष्य जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़ नए वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देही (जीव) पुराने शरीर को छोड़ नए शरीर को धारण करता है।”

प्रस्तुत शतक में एक जीवन से दूसरे जीवन के मध्य होनेवाली गति (अंतराल गति) का विवेचन मिलता है।^१ पुनर्जन्म की आयु का संवेदन कब होता है ?^२ अंतराल गति में जीव इन्द्रिय-ज्ञान और शरीर से युक्त होता है या वियुक्त ?—इन प्रश्नों पर विचार किया गया है।^३ पुनर्जन्म से संबंध रखने वाले अनेक सूत्र हैं।^४

गर्भ-विद्या के सूत्रों की तुलना आयुर्वेद के मौलिक ग्रन्थ चरक और सुश्रुत से होती है।^५ गर्भस्थ शिशु वैक्रिय लब्धि के द्वारा सेना का निर्माण कर युद्ध करता है और वह मरकर नरक में उत्पन्न हो जाता है।^६ कोई गर्भस्थ शिशु धार्मिक प्रवचन सुनं उसमें लीन हो जाता है, गर्भ-अवस्था में उसकी मृत्यु होती है और वह स्वर्ग में उत्पन्न हो जाता है।^७

जैन दर्शन के विकास में जीवविज्ञान (Biology) का मुख्य आधार रहा है। पुद्गल का विवेचन जीव के सहायक द्रव्य के रूप में हुआ है।

जीव-विकास का घरम बिंदु है मोक्ष। जैनों का आचारशास्त्र जीव और मोक्ष के अन्तराल में विकसित हुआ है। प्रस्तुत शतक में आचार के अनेक पक्ष चर्चित हैं।^८ क्रिया से अन्तक्रिया तक उनकी यात्रा करना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शतक के १० उद्देशक हैं। उनमें विषय की क्रमबद्धता नहीं है। एक विषय से संबंध रखने वाले सूत्र अनेक उद्देशकों में उपलब्ध हैं। इसका हेतु यह है कि भगवती में प्रश्नों और उत्तरों का संग्रह है। कर्म के विषय में एक प्रश्न पहले पूछा गया और दूसरा प्रश्न कुछ समय के अन्तराल से पूछा गया। उनको उसी रूप में रखा गया है। सूत्रकार ने संकलन-काल में विषय के वर्गीकरण को प्रधानता नहीं दी। प्रस्तुत शतक को पढ़ते समय इस तथ्य की स्मृति रखना आवश्यक है।

१. सूत्र ३३५-३३८।

२. सूत्र ३३६।

३. सूत्र ३४०-३४३।

४. सूत्र ३६-४३, ४८-५०, ११३-११६, ३१८-३३४।

५. द्रष्टव्य सूत्र ३४०-३४६ का भाष्य।

६. सूत्र ३५३, ३५४।

७. सूत्र ३३५-३५६।

८. द्रष्टव्य सूत्र—

क्रिया—२७६-२८६, ३६४-३७२, ४३४, ४३५, ४४४, ४४५

आरम्भ अनारम्भ—३३-३८

श्रद्धा—१३१, १३२

लाघव—४१७, ४१८

सामायिक—४२३-४३३

साधु और मोक्ष—४४-४७, २००-२०६

अंतकर—४१६

अंतक्रिया—११२।

पढमं सतं : पहला शतक

पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
मंगल-पदं	मंगल-पदम्	मंगल पद ^१
१. नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आचार्याणं, नमो उवज्जायाणं, नमो सब्बसाहूणं ॥	नमः अर्हद्भ्यः नमः सिद्धेभ्यः नमः आचार्येभ्यः नमः उपाध्यायेभ्यः नमः सर्वसाधुभ्यः ।	१. अर्हतों को नमस्कार सिद्धों को नमस्कार आचार्यों को नमस्कार उपाध्यायों को नमस्कार सब साधुओं को नमस्कार । ^२
२. नमो बंधीए लिवीए ॥	नमो ब्राह्म्यै लिच्यै ।	२. ब्राह्मी लिपि को नमस्कार । ^३
संगहणी गाहा	संग्रहणी गाथा	संग्रहणी गाथा
रायगिह १ चलण २ दुक्खे, ३ कंखपओसे य ४ पगइ ५ पुढवीओ । ६ जावते ७ नेरइए , ८ बाले ९ गुरुए य १० चलणाओ ॥ १ ॥	राजगृहे चलनः दुःखः, कांक्षाप्रदोषश्च प्रकृतिः पृथिव्यः । यावान् नैरयिकः, बालः गुरुकश्च चलनाः ॥	प्रथम शतक में दस उद्देशक हैं—राजगृह में प्रश्नोत्तर—१ चलमान चलित २ दुःख ३ कांक्षा-प्रदोष ४ कर्म-प्रकृति ५ पृथिव्यां ६ यावान् ७ नैरयिक ८ बाल ९ गुरुक १० चलमान अचलित ।
३. नमो सुयस्स ॥	नमः श्रुताय ।	३. श्रुत को नमस्कार । ^४

भाष्य

१. मंगल-पद

प्रस्तुत आगम मंगल-पद के साथ प्रारम्भ होता है। इसमें तीन मंगल-सूत्र हैं। प्रथम मंगल में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि को नमस्कार किया गया है और दूसरे मंगल में ब्राह्मी लिपि को। इसके बाद संग्रहणी गाथा है और फिर तीसरे मंगल में श्रुत को नमस्कार किया गया है। मंगल का प्रयोजन है—इष्ट अर्थ की प्राप्ति।^१ निर्विघ्न रूप से शास्त्र या लौकिक कार्यों की परिसमाप्ति तथा वांछित अभिसिद्धि के लिए जो किया जाता है, वह मंगल है; इसीलिए

शास्त्र के आदि, मध्य तथा अंत में मंगल करने का विधान किया गया है। आदि मंगल से शत्रुओं के द्वारा आने वाले विघ्नों का विघात, मध्य मंगल से बिना किसी विक्षेप के शास्त्र की सम्पन्नता तथा अंत मंगल से आयुष्मान् श्रोता की उपलब्धि होती है।^२

मुख्य रूप में मंगल दो प्रकार का होता है—द्रव्य मंगल और भाव मंगल। लौकिक कार्यों में अक्षत, कुंकुम, दही, नारियल आदि पदार्थ मंगल माने जाते हैं। लोकोत्तर कार्यों में अपने इष्ट देवता का

१. प्रज्ञा.वृ.प. १—

मंगलं चैव शास्त्रादी, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥

२. (क) वि.भा.गा. १३, १४—

तं मंगलमाईए मज्जे, पजंतए य सत्थस्स ।

पढमं सत्थत्थाऽविग्घपारगमणाय णिदिद्धं ॥

तस्सेव य धेज्जत्थं, मज्झिमयं अत्तिमं पि तस्सेव ।

अब्बोच्छित्तिणिमित्तं, सिस्सपसिस्सादिवंसस्स ॥

(ख) प्रमाण-मीमांसा, ११११—मंगले च सति परिपन्थिविघ्नविघाताद् अक्षे-पेण शास्त्रसिद्धिः आयुष्मच्छ्रोतुकता च भवति ।

स्मरण ही मंगल है।

प्राचीन आगम-साहित्य में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल-विन्यास करने की पद्धति नहीं थी। उत्तरकाल में इस पद्धति का विकास हुआ। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि का अभिमत है कि आगम स्वयं एक मंगल है। उसमें दूसरे-दूसरे मंगलों का समावेश करने का कोई औचित्य नहीं बनता। इससे अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। फिर भी शिष्य की मति को मंगलमय बनाने तथा शिष्ट परम्परा के निर्वाह के लिए प्रस्तुत सूत्र में ऐसा प्रयत्न किया गया। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि प्रस्तुत नहीं की, केवल प्राचीन परम्परा की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है "पूर्व वृत्तिकार ने पूर्वव्याख्यात नमस्कार आदि ग्रन्थ की व्याख्या नहीं की। उनके सामने इसका कोई कारण रहा है।" यह कारण क्या रहा होगा, इस पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। हमारे अभिमत से इसका कारण यह है कि मंगल-सूत्र रचनाकालिक नहीं हैं, वे उत्तरकाल में जुड़े हैं। इसीलिए चूर्णि और मूलवृत्ति में वे व्याख्यात नहीं हैं।

प्रस्तुत सूत्र के पन्द्रहवें शतक के प्रारम्भ में भी मंगल-वाक्य उपलब्ध होता है—नमो सुषुदेवयाए भगवईए। अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या नहीं की है, इससे लगता है कि प्रारम्भ के मंगल-वाक्य, लिपिकारों या अन्य किसी आचार्य ने, वृत्ति की रचना से पूर्व जोड़ दिये थे और मध्यवर्ती-मंगल वृत्ति की रचना के बाद जुड़ा। पन्द्रहवें शतक का पाठ विघ्नकारक माना जाता था, इसलिए इस अध्ययन के साथ मंगलवाक्य जोड़ा गया, यह बहुत संभव है। मंगलवाक्य के प्रक्षिप्त होने की बात अन्य आगमों से भी पुष्ट होती है।

दशाश्रुतस्कंध की वृत्ति में मंगल-वाक्य के रूप में नमस्कार-मंत्र व्याख्यात है, किन्तु चूर्णि में वह व्याख्यात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि चूर्णि के रचनाकाल में वह प्रतियों में उपलब्ध नहीं था और वृत्ति की रचना से पूर्व वह उनमें जुड़ गया था। पञ्जोसणाकण्पो (कल्पसूत्र) दसाओ का आठवां अध्ययन है। उसके प्रारम्भ में भी नमस्कार-मंत्र लिखा हुआ मिलता है। आगम-अनुसंधाता मुनि पुण्यविजयजी ने इसे प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है और वृत्ति में भी व्याख्यात नहीं है। यह अष्टम अध्ययन होने के कारण इसमें मध्य मंगल भी नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रक्षिप्त है। पण्णवणा के प्रारम्भ में भी नमस्कार-मंत्र लिखा हुआ है, किन्तु हरिभद्रसूरि और मलयगिरि—इन दोनों व्याख्याकारों के द्वारा यह व्याख्यात नहीं है।

पण्णवणा के रचनाकार श्री श्यामार्य ने मंगल-वाक्य-पूर्वक रचना

का प्रारम्भ किया है।^१ इससे ज्ञात होता है कि ई. पू. पहली शताब्दी के आसपास आगम-रचना से पूर्व मंगल-वाक्य लिखने की पद्धति प्रचलित हो गयी। प्रज्ञापनाकार का मंगल-वाक्य उनके द्वारा रचित है। इसे 'निवद्ध-मंगल' कहा जाता है। दूसरों के द्वारा रचे हुए मंगल-वाक्य उद्धृत करने को 'अनिवद्ध-मंगल' कहा जाता है।^२ प्रति-लेखकों ने अपने प्रति-लेखन में कहीं-कहीं 'अनिवद्ध-मंगल' का प्रयोग किया है। इसीलिए मंगल-वाक्य लिखने की परम्परा का सही समय खोज निकालना कुछ जटिल हो गया।

प्रस्तुत आगम पांचवां अंग है। उपलब्ध आचार्य आदि ग्यारह अंगों में प्रस्तुत आगम को छोड़कर किसी भी अंग-सूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार-मंगल उपलब्ध नहीं है:

सुयं मे आजसं ! तेषं भगवया एवमक्खायं—(आचार्य, १११)

बुज्जेज्ज तिउटेज्जा, बंधणं परिजाणिया। (सूयगडो, ११११)

सुयं मे आजसं ! तेषं भगवया एवमक्खायं—(ठाण, १११)

सुयं मे आजसं ! तेषं भगवया एवमक्खायं—(समवाओ, १११)

तेणं कालेणं तेषं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। (नायाधम्मकहाओ, १११११)

तेणं कालेणं तेषं समएणं चंपा नामं नयरी—(उवासगदसाओ, १११)

तेणं कालेणं तेषं समएणं चंपा नामं नयरी ! (अंतगडदसाओ, १११)

तेणं कालेणं तेषं समएणं रायगिहे नयरे। (अणुत्तरोववाइयदसाओ, १११)

जंबू ! इणमो अण्हय-संदर-विणिच्छयं पवयणस्स निस्संदं। (पण्हावागरणाइ, १११)

तेणं कालेणं तेषं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। (विवागसुयं, १११)

आचार्य आदि अंगों के प्रारम्भिक सूत्रों का अध्ययन करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवल प्रस्तुत अंग के प्रारम्भ में ही नमस्कार-मंगल का विन्यास क्यों ? इसका उत्तर पाना कठिन नहीं है। लगता है, रचनाकाल में प्रस्तुत आगम का प्रारम्भ भी 'तेषं कालेणं तेषं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था' इस वाक्य से ही था, किन्तु लिपिकारों द्वारा लिखित नमस्कार-मंगल-सूत्र मूल के साथ जुड़ गये और उन्हें मौलिक अंग मान लिया गया।

२. अर्हत्तों को नमस्कार....सब साधुओं को नमस्कार

नमस्कार महामंत्र के पाठ-भेद

नमस्कार महामंत्र का बहुत प्रचलित पाठ यह है—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उक्खायाणं, णमो लोए

१. भ.वृ. १।२—ननु अधिकृतशास्त्रस्यैव मङ्गलत्वात् किं मङ्गलेन ? अनवस्थादि-दोषप्राप्तेः। सत्यं, किन्तु शिष्यमतिमंगलपरिग्रहार्थं मंगलोपादानं शिष्टसमय-परिपालनाय चेत्युक्तमेवेति।

२. वही, १।४—अयं च प्राग् व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यातः कुतोऽपि कारणादिति।

३. कल्पसूत्र (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित) पृ. ३—कल्पसूत्रारम्भे नैतद् नमस्कारसूत्ररूपं सूत्रं भूम्ना प्राचीनतमेषु ताडपत्रीयादर्शेषु दृश्यते, नापि टीकाकृदादिभिरेतदादृतं व्याख्यातं वा, तथा चास्य कल्पसूत्रस्य दशाश्रुत-स्कंधस्याष्टमाध्ययनत्वात् मध्यं मंगलरूपत्वेनापि एतसूत्रं संगतमिति

प्रक्षिप्तमेवैतत् सूत्रमिति।

४. पण्ण. पद १, गा. १—

ववगयजरमरणभए, सिद्धे अभिवदिऊण तिंविहेणं।

वंदामि जिणवरिंदं, तेलोक्कगुं महावीरं ॥

५. ष. खं. धवला, पु. १, खं. १, भा. १, सू. १, पृ. ४१—तच्च मंगलं दुविहं णिवद्धमणि-बद्धमिदि। तस्य णिवद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिवद्ध-देवदानोक्कारो तं णिवद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सत्तारेण कयदेवदानोक्कारो तमणिवद्धमंगलं।

सबसाहूणं ।

प्राचीन ग्रन्थों में इसके अनेक पदों एवं वाक्यों के पाठान्तर मिलते हैं—

गमो—नमो ।

अरहंताणं—अरिहंताणं, अरुहंताणं ।

आयरियाणं—आइरियाणं ।

गमो लोए सबसाहूणं—गमो सबसाहूणं ।

नमो अरहंतानं, नमो सबसिधानं ।

पाठान्तर-विमर्श

गमो, नमो—प्राकृत में आदि में 'न' का 'ण' विकल्प से होता है, इसलिए नमो, गमो—ये दोनों रूप मिलते हैं ।

अरहंताणं, अरिहंताणं—प्राकृत में 'अर्ह' धातु के दोनों रूप बनते हैं—अरहइ, अरिहइ । अरहंताणं और अरिहंताणं ये दोनों 'अर्ह' धातु के शतृ प्रत्ययांत रूप हैं । अरहंत और अरिहंत—इन दोनों में कोई अर्थ-भेद नहीं है । व्याख्याकारों ने अरिहंत शब्द को संस्कृत की दृष्टि से देखकर उसमें अर्थ-भेद किया है । अरि+हन्त= शत्रु का हनन करने वाला ! यह अर्थ शब्द-साम्य के कारण किया गया है । आवश्यक निर्युक्ति में यह अर्थ उपलब्ध है ।^१ अर्हता का अर्थ इसके बाद किया गया है । इस अर्थभेद के होने पर अरहंत और अरिहंत ये एक ही धातु के दो रूपों में निष्पन्न दो शब्द नहीं होते, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो शब्द बन जाते हैं ।

आवश्यक सूत्र के निर्युक्तिकार ने अरहंत, अरिहंत के तीन अर्थ किये हैं—

१. पूजा की अर्हता होने के कारण अरहंत ।^१
२. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत ।
३. रज-कर्म का हनन करने के कारण अरिहंत ।^३

वीरसेनाचार्य ने अरिहंताणं पद के चार अर्थ किये हैं—

१. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत ।
 २. रज का हनन करने के कारण अरिहंत ।
 ३. रहस्य के अभाव से अरिहंत ।
 ४. अतिशय पूजा की अर्हता होने के कारण अरिहंत ।^४
- प्रथम तीन अर्थ अरि+हंता—इन दो पदों के आधार पर किये

गये हैं और चौथा अर्थ अर्ह धातु के अर्हता पद के आधार पर किया गया है ।

भाषा की दृष्टि से नमो और गमो तथा अरहंताणं और अरिहंताणं—इन दो में मात्र रूपभेद है, किन्तु मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से 'न' और 'ण' के उच्चारण की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है । 'ण' मूर्धन्य वर्ण है । उसके उच्चारण से जो घर्षण होता है, जो मत्तिष्कीय प्राण-विद्युत् का संचार होता है, वह 'न' के उच्चारण से नहीं होता ।

अरहंताणं के अकार और अरिहंताणं के इकार का भी मंत्रशास्त्रीय अर्थ एक नहीं है । मंत्रशास्त्र के अनुसार अकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद नमकीन होता है तथा इकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद कषैला होता है । अकार पुल्लिंग और इकार नपुंसकलिंग होता है ।

अरुहंताणं—यह पाठ-भेद भगवती सूत्र की वृत्ति में व्याख्यात है । वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ 'अपुनर्भव' किया है । जैसे बीज के अत्यन्त दग्ध होने पर इससे अंकुर नहीं फूटता, वैसे ही कर्म-बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर भवांकुर नहीं फूटता ।^५

आवश्यक निर्युक्ति और घबला में अरुहंत पाठ व्याख्यात नहीं है । इससे प्रतीत होता है कि यह पाठान्तर उनके उत्तरकाल में बना है । ऐसी अनुश्रुति भी है कि यह पाठान्तर तमिल और कन्नड़ भाषा के प्रभाव से हुआ है । किन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है ।

अरुह शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलता है । उन्होंने अरुहंत और अरहंत का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है । वे दक्षिण के थे, इसलिए अरहंत के अर्थ में अरुह का प्रयोग दक्षिण के उच्चारण से प्रभावित है, इस उपपत्ति की पुष्टि होती है । बोधपाहुड में उन्होंने 'अर्हत्' का वर्णन किया है । उसमें २८, २९, ३०, ३२—इन चार गाथाओं में अरहंत का प्रयोग है और ३१, ३४, ३६, ३९, ४१—इन पांच गाथाओं में अरुह का प्रयोग है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपलब्ध प्रयोगों के आधार पर अर्हत् शब्द के तीन रूप सिद्ध किये हैं—अरुहो, अरहो, अरिहो, अरुहन्तो, अरहन्तो, अरिहन्तो ।

डॉ. पिशेल ने अरहा, अरिहा, अरुहा और अरिहन्त का विभिन्न भाषाओं की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है^६—

१. आव.नि.गा. ६१६, ६२०—

इंदियविसयकसाये परीसहे बेयणाओ उवसग्गे ।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण बुद्धंति ॥
अट्ठविहं वि य कम्मं, अरिभूअं होइ सब्बजीवाणं ।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण बुद्धंति ॥

२. वही, गा. ६२१, ६२२—

अरिहंति वंदणनमंसणाइ अरिहंति पूअसक्कारे ।
सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण बुद्धंति ॥
देवानुरमणुएसु अरिहा पूआ मुरुत्तमा जम्हा ।

३. वही, गा. ६२२—

अरिणो रयं च हंता अरिहंता तेण बुद्धंति ॥

४. प. खं. घबला, पु. १, खं. १, भा. १, सू. १, पृ. ४२-४४—अरिहननादरिहन्ता ।.....

रजोहननाद् वा अरिहंता ।.....रहस्याभावाद् वा अरिहंता ।....अतिशयपूजा-
हंत्वाद् यार्हन्तः ।

५. विद्यानुशासन, योगशास्त्र, पृ. ६०, ६१ ।

६. भ. वृ. १११—अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरं, तत्र अरोहद्भ्यः अनुपजायमाने-
भ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्, आह च—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥

७. हेमशब्दानुशासन, ८।२।१११—उच्चारंति ।

८. पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पारा १४० ।

अरहा, अरहन्त—अर्द्धमागधी

अरिहा—शौरसेनी

अरुहा—जैन महाराष्ट्री

अलिहंतार्ण—भागधी

आयरियाणं, आइरियाणं—आगम साहित्य में यकार के स्थान में इकार के प्रयोग मिलते हैं—बयगुत्त—बइगुत्त। बयर—बइर। इस प्रकार आयरिय और आइरिय में रूपभेद हैं।

गमो लोए सब्साहूणं, गमो सब्साहूणं—अभयदेवसूरि के अनुसार भगवती सूत्र के मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध नमस्कार मंत्र का पांचवां पद 'गमो सब्साहूणं' है। 'गमो लोए सब्साहूणं' का उन्होंने पाठान्तर के रूप में उल्लेख किया है—गमो लोए सब्साहूणं ति क्वचित्पाठः।^१ इस पाठान्तर की व्याख्या में उन्होंने बताया है कि 'सर्व' शब्द आंशिक सर्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः परिपूर्ण सर्व का बोध कराने के लिए इस पाठान्तर में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है।^२ 'लोक' और 'सर्व'—इन दोनों शब्दों के होने पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है और अभयदेवसूरि ने इसी का समाधान किया है।

दशाश्रुतस्कंध के वृत्तिकार ब्रह्मरूपि ने भी गमो लोए सब्साहूणं को पाठान्तर के रूप में व्याख्यात किया है।^३ इसकी व्याख्या में वे अभयदेवसूरि का अक्षरशः अनुसरण करते हैं।

हमने अभयदेवसूरि की वृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र में गमो सब्साहूणं को मूल पाठ और गमो लोए सब्साहूणं को पाठान्तर स्वीकृत किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गमो लोए सब्साहूणं सर्वत्र पाठान्तर है। आवस्सयं में हमने गमो लोए सब्साहूणं को ही मूल पाठ माना है। हमने आगम-अनुसंधान की जो पद्धति निर्धारित की है, उसके अनुसार हम प्राचीनतम प्रति या चूर्ण, वृत्ति आदि व्याख्या में उपलब्ध पाठ को प्राथमिकता देते हैं। सबसे अधिक प्राथमिकता आगम में उपलब्ध पाठ को देते हैं। आगम के द्वारा आगम के पाठ-संशोधन में सर्वाधिक प्रामाणिकता प्रतीत होती है। इस पद्धति के अनुसार हमें सर्वत्र 'गमो लोए सब्साहूणं' इसे मूलपाठ के रूप में स्वीकृत करना चाहिए था, किन्तु नमस्कार मन्त्र किस आगम का मूलपाठ है, इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। यह जहाँ कहीं उपलब्ध है, वहाँ ग्रन्थ के अवयव के रूप में उपलब्ध नहीं है, मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध है। आवस्सयं के प्रारंभ में

नमस्कार मन्त्र मिलता है। किन्तु वह आवस्सयं का अंग नहीं है। आवस्सयं के मूल अंग सामायिक, चतुर्विंशस्तय आदि हैं। इस दृष्टि से भगवती सूत्र में नमस्कार मंत्र का जो प्राचीन रूप हमें मिला, वही हमने मूलरूप में स्वीकृत किया। अभयदेवसूरि की व्याख्या से प्राचीन या उसके समकालीन कोई भी प्रति प्राप्त नहीं है। यह वृत्ति ही सबसे प्राचीन है! इसलिए वृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ और पाठान्तर को स्वीकार करना ही उचित प्रतीत हुआ।

नमो अरहंतानं, नमो सब-सिधानं—यह पाठान्तर खारवेल के हाथीगुंफा लेख में मिलता है।^४ इसमें अंतिम नकार भी णकार नहीं है, सिद्ध के साथ सर्व शब्द का योग है और 'सिधानं' में द्वित्व 'ध' प्रयुक्त नहीं है। यह पाठ भी बहुत पुराना है, इसलिए इसे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

नमस्कार महामन्त्र का मूल स्रोत और कर्ता

नमस्कार महामन्त्र आदि-मंगल के रूप में अनेक आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, किन्तु इससे उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलता। महानिशीथ में लिखा है कि पंचमंगल-महाश्रुतस्कंध का व्याख्यान सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में किया गया था और वह व्याख्यान तीर्थकरों के द्वारा प्राप्त हुआ था। कालदोष से वे निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियाँ विच्छिन्न हो गयीं। फिर कुछ समय बाद वज्रस्वामी ने नमस्कार महामन्त्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह बात वृद्ध सम्प्रदाय के आधार पर लिखी गयी है।^५ इससे भी नमस्कार मंत्र के मूल स्रोत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

आवश्यक निर्युक्ति में वज्रसूरि के प्रकरण में उक्त घटना का उल्लेख भी नहीं है। वज्रसूरि दस पूर्वधर हुए हैं। उनका अस्तित्वकाल ई.पू.पहली शताब्दी है। शय्यभवंसूरि चतुर्दशपूर्वधर हुए हैं और उनका अस्तित्वकाल ई.पू.५-६ शताब्दी है। उन्होंने कायांत्सर्ग को नमस्कार के द्वारा पूर्ण करने का निर्देश किया है।^६ दशवैकालिक सूत्र की दोनों चूर्णियों और हारिभद्रिय वृत्ति में नमस्कार की व्याख्या 'गमो अरहंतार्ण' मंत्र के रूप में की है।^७

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के प्रारम्भ में दिये गए नमस्कार मंत्र को निवद्धमंगल बतलाया है।^८ इसका फलित यह होता है कि नमस्कार महामन्त्र के कर्ता षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं। आचार्य वीरसेन ने यह किस आधार पर लिखा, इसका कोई

१. भ.वृ.१।१।

२. वही, १।१—तत्र सर्वशब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते 'लोके'—मनुष्यलोके न तु गच्छादी ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नमः।

३. हस्तलिखित वृत्ति, पत्र ४।

४. प्राचीन भारतीय अभिलेख, द्वितीय खण्ड, पृ. २६।

५. महानिशीथ, अ. ५; अधिधानराजेन्द्र, पृ. १८३५—एयं तु जं पंचमंगलमहासुय-क्खंधंस्स वक्खाणं, तं मइया पवधेणं अणंतगयपज्जवेहिं सुत्तस्स थ पियभूयाहिं णिजुत्तिभासचुत्तीहिं जहेव अणंतगणदंसणधरोहिं तित्थयरोहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणियंजंतं आसि, अहऽत्रयाकालपरिहाणियोसेणं ताओ णिजुत्ति-भासचुत्तीओ वुच्छिन्नाओ। इओ य वच्चतेणं कालेणं समएणं महहिंपते पयाणु-

सारी बइरतापी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पत्ते। तेण य पंचमंगल-महासुयक्खंधंस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्जे लिहिओ...एस वुद्धसंपयाओ।

६. दसवे. ५।१।६३—णमोक्कारेण पारित्ता।

७. (क) अ.चू.पृ. १२३—'नमो अरहंतार्ण' ति एतेण वधणेण काउत्सग्गं पारैत्ता।

(ख) जि.वृ.पृ. १८६।

(ग) हा.वृ.पृ. १८०—नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरहंतार्णं' इत्यनेन।

८. प.खं.धवला, पु. १, खं. १, भा. १, सू. १, पृ. ४२—इवं पुण जीवद्वणं णिवद्ध-मंगलं। एत्तो इमेसिं चोदसण्हं जीवसमासाणं इदि एदस्स सुत्तसादीए णिवद्धं 'णमो अरहंतार्ण' इच्चादि देवदाणमोक्कारदंसणादो।

अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसे भगवती सूत्र की प्रतियों के प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र लिखा हुआ था और अभयदेवसूरि ने उसे सूत्र का अंग मानकर उसकी व्याख्या की, वैसे ही आचार्य पुष्पदन्त को उसका कर्ता बतला दिया। आचार्य पुष्पदन्त का अस्तित्व-काल वीर-निर्वाण की सातवीं शताब्दी (ई.पहली शताब्दी) है। खारवेल का शिलालेख ई.पू. १५२ का है। उसमें नमो अरहंताणं नमो सबसिघानं—ये पद मिलते हैं। इससे नमस्कार महामंत्र का अस्तित्व-काल आचार्य पुष्पदन्त से बहुत पहले चला जाता है। शय्यभयसूरि का दसवेआलियं में प्राप्त निर्देश भी इसी ओर संकेत करता है। भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया था।^१ उत्तरज्जयणाणि के बीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाण च भावओ—सिद्धों और साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार की परिपाटी बहुत पुरानी है, किन्तु भगवान् महावीर के काल में पंच मंगलात्मक नमस्कार मंत्र प्रचलित था या नहीं—इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना सरल नहीं है। महानिशीथ के उक्त प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान स्वरूप वाला नमस्कार महामंत्र भगवान् महावीर के समय में प्रचलित था। किन्तु उसकी पुष्टि के लिए कोई दूसरा प्रमाण अपेक्षित है। आवश्यक निर्युक्ति में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। निर्युक्तिकार ने लिखा है—पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए। यह पंचनमस्कार सामायिक का ही एक अंग है।^१

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार महामंत्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यकता का प्रथम अध्ययन है। नदी में आयी हुई आगम की सूची में उसका उल्लेख है। नमस्कार महामंत्र का वहां एक श्रुतस्कन्ध या महाश्रुतस्कन्ध के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि यह सामायिक अध्ययन का एक अंगभूत रहा है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अन्त में भी पंचनमस्कार की पद्धति प्रचलित थी। आचार्य भद्रवाहु के अनुसार नदी और अणुओगदाराई को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र का प्रारम्भ किया जाता है।^१ संभव है इसीलिए अनेक आगमसूत्रों के प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र लिखने की पद्धति प्रचलित हुई। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उसी आधार पर नमस्कार महामंत्र को

सर्वश्रुतान्तर्गत बतलाया।^१ उनके अनुसार पंचनमस्कार करने पर ही आचार्य सामायिक आदि आवश्यक और क्रमशः शेष श्रुत शिष्यों को पढ़ाते थे। प्रारम्भ में नमस्कार मंत्र का पाठ देने और उसके बाद आवश्यकता का पाठ देने की पद्धति थी।^१ इस प्रकार अन्य सूत्रों के प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र का पाठ किया जाता था। इस दृष्टि से उसे सर्वश्रुताभ्यन्तरवर्ती कहा गया। फिर भी नमस्कार मंत्र को जैसे सामायिक का अंग बतलाया है, वैसे किसी अन्य आगम का अंग नहीं बताया गया है। इस दृष्टि से नमस्कार महामंत्र का मूल स्रोत सामायिक अध्ययन ही सिद्ध होता है। आवश्यकता या सामायिक अध्ययन के कर्ता यदि गौतम गणधर को माना जाए, तो पंचमंगल रूप नमस्कार महामंत्र के कर्ता भी गौतम गणधर ही ठहरते हैं।

३. ब्राह्मी लिपि को नमस्कार

लिपि का अर्थ है—अक्षर-विन्यास। नदी में अक्षर के तीन—प्रकार बतलाए गए हैं—१. संज्ञाक्षर २. व्यञ्जनाक्षर और ३. लब्ध्याक्षर।^१

पट्टिका या पत्र आदि पर होनेवाली अक्षर की संस्थानाकृति (अक्षरों की लिखावट) का नाम संज्ञाक्षर है।^१ संज्ञाक्षर, लिपि और वर्णविन्यास—ये सब पर्यायवाची हैं।

मनुष्य के चिंतन, स्मृति और कल्पना का माध्यम है भाषा। वह अक्षरात्मक होती है। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना कर मनुष्य जानता है, वह लब्ध्याक्षर है। अपनी जानी हुई बात का उच्चारण करता है, वह व्यञ्जनाक्षर है। उसे आकार देता है, वह संज्ञाक्षर है। इससे फलित होता है कि मनुष्य ने सबसे पहले जानना सीखा, फिर बोलना और उसके पश्चात् लिखना। मनुष्य के पास अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के दो बड़े माध्यम हैं—उच्चारण और अक्षर-विन्यास।

जैन साहित्य के प्राग्-ऐतिहासिक सन्दर्भों के अनुसार ब्राह्मी लिपि का संबन्ध भगवान् ऋषभ के साथ जुड़ता है। भगवान् ऋषभ ने दाएं हाथ से ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान कराया और बाएं हाथ से सुन्दरी को गणित-विद्या सिखाई।^१ दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने भी इसका उल्लेख किया है।^१ माना जाता है कि ब्राह्मी को लिपि का ज्ञान कराया, इसलिए उस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' हो गया। किन्तु यह मत भी मीमांसनीय है। ब्राह्मी को अठारह लिपि

१. आ.चूला, १५। ३२— तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्टियं लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोकारं करेइ ।

२. आव.नि.गा. १०२७—

कयपंचनमोकारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहितो ।
सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं ॥

३. वही, गा. १०२६—

नंदिमणुओगदारं विहिवदुवग्घाइयं च नाऊणं ।
काऊणं पंचमंगलभारंभो होइ सुत्तस्स ॥

४. वि.भा.गा. ६—

सो सव्वसुत्तक्खंधन्धन्तरभूतो जओ ततो तस्स ।
आवासयाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगोऽवि ॥

५. वही.गा. ८—

आईय णमोकारो जइ पच्छऽऽवासयं ततो पुव्वं ।
तस्स भणितेऽणुयोगे जुत्तो आवासयस्स ततो ॥

६. नदी, सू. ५६—से किं तं अक्खरमुयं ? अक्खरमुयं तिविहं णणन्तं, तं जहा—१. सण्णक्खरं २. वंजणक्खरं ३. लद्धिअक्खरं ।

७. नन्दी वृ.प. १२८ ।

८. आव.नि.गा. २०७ का भाष्य—

लेहं लिवीविहाणं जिणेण वंभीइ दाहिणकरेणं ।
गण्णिअं संखाणं सुंदरीइ वामेण उवट्टं ॥

९. आदिपुराण, १६। १०४-१०८—

विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखत्रक्षरमालिकाम् ।

का ज्ञान कराया गया। उनमें से केवल एक लिपि का नाम ब्राह्मी है, शेष सब के नाम स्वतन्त्र हैं। समवाओ में ब्राह्मी लिपि के अठारह प्रकार बतलाए गए हैं: १. ब्राह्मी २. यवनानी ३. दोसउरिया ४. खरोष्ठीका ५. खरशाहिका ६. प्रभारजिका ७. उच्चतरिका ८. अक्षरिपृष्ठिका ९. भोगवतिका १०. वैनतिकी ११. निहविका १२. अंकलिपि १३. गणितलिपि १४. गंधर्वलिपि १५. आदर्शल्लिपि १६. माहेश्वरी १७. द्राविडी १८. पोलिदी।^१ इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मी प्रथम या प्राचीनतम लिपि है। अन्य लिपियों का उसके आधार पर विकास हुआ है। इसलिए शेष सतरह लिपियों को ब्राह्मी लिपि का परिवार कहा जा सकता है। भगवान ऋषभ ने ब्राह्मी को लिपि सिखाई; इसलिए उसका नाम ब्राह्मी हो गया, यह बात संगत हो सकती है, किन्तु भगवान ने ब्राह्मी को अठारह लिपियां सिखाई; इसलिए लिपि का नाम ब्राह्मी प्रचलित हो गया,^२ यह बात तर्कसंगत नहीं लगती।

ब्राह्मी लिपि के नामकरण के विषय में अनेक कल्पनाएं मिलती हैं।^३ किन्तु ऐतिहासिक आधार पर कुछ भी कहा जा सके, यह कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि परस्पर सम्बन्धित रही हैं। भाषा-आर्य वे होते हैं जो अर्धमागधी (प्राकृत) बोलते हैं और जिनकी लिपि ब्राह्मी होती है।^४ जैन आचार्यों ने जैसे प्राकृत भाषा को माध्यम बनाया, वैसे ही ब्राह्मी लिपि को भी माध्यम बनाया; इसीलिए प्रस्तुत आगम के प्रारम्भ में ब्राह्मी लिपि के नमस्कार का उल्लेख जुड़ा हुआ है।

जयाचार्य ने वृत्तिकार के मत की मीमांसा की है। उन्होंने लिखा है—“वृत्तिकार ने लिपि का अर्थ अक्षर-विन्यास किया है। अक्षर-विन्यास को नमस्कार कैसे किया जा सकता है? निक्षेप की दृष्टि से लिपि के दो प्रकार हो जाते हैं—द्रव्यलिपि और भावलिपि। द्रव्यलिपि अक्षरात्मक और भावलिपि अक्षरज्ञानात्मक होती है।”

जयाचार्य ने नयदृष्टि से विचार करते हुए लिखा है कि जैसे एवंभूत नय की दृष्टि से प्रस्थक के कर्ता को प्रस्थक कहा जाता है, वैसे ही यहां लिपिकर्ता भगवान ऋषभ को लिपि मानकर उन्हें नमस्कार किया गया है।^५

४. श्रुत को नमस्कार

जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं। उनमें दूसरा ज्ञान है श्रुतज्ञान। उसके दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। लिपि और उच्चारण ये दोनों द्रव्यश्रुत हैं। उनसे होने वाला अर्थबोध भावश्रुत है।

वृत्तिकार ने यहां श्रुत का अर्थ द्वादशांगी या अर्हत्प्रवचन किया है।^६ एक प्रश्न उपस्थित हुआ—मंगल के लिए इष्ट देवता को नमस्कार किया जाता है। श्रुत इष्ट देवता नहीं है, फिर उसे नमस्कार क्यों? इसके समाधान में वृत्तिकार ने लिखा है—श्रुत इष्ट देवता ही है, क्योंकि अर्हद् भी उसे नमस्कार करते हैं। अर्हद् जैसे सिद्ध को नमस्कार करते हैं, वैसे श्रुत को भी नमस्कार करते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने ‘नमस्तीर्थाय’ इस वाक्य को उद्धृत किया है। तीर्थ का अर्थ श्रुत है; उसका आधार होने के कारण संघ भी तीर्थ कहलाता है।^७

श्रुत इष्ट देवता ही है। वृत्तिकार के इस अभिमत का समर्थन दिगम्बर-साहित्य में भी मिलता है—आप्त पुरुषों ने जिनवाणी और जिनदेव में किञ्चिद् भी अन्तर नहीं बतलाया है। इसलिए जिनवाणी की सभक्ति पूजा करने वाला परमार्थतः जिनदेव की ही पूजा करता है।^८

अर्हत् सिद्धों को नमस्कार करते हैं, इसका समर्थन आषारचूला से होता है।^९ अर्हत् तीर्थ को नमस्कार करते हैं, यह मत आगम के द्वारा समर्थित नहीं है, यह आगम-युग के बाद की अवधारणा है।

उपादिशल्लिपि संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ॥
ततो भगवतो वक्राग्निःसुतामक्षरावलीम्,
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ॥
अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव ।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु संतताम् ।
संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम् ॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यतिसुन्दरी ।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यग्धारयत् ॥

१. सम. १८।५।

२. भ. वृ. १।२ - लिपिः—पुस्तकादावक्षरविन्यासः सा चाष्टादशप्रकाराऽपि श्रीम-
त्राभेयजिनेन स्वमुताया ब्राह्मीनामिकाया दर्शिता ततो ब्राह्मीत्यभिधीयते ।

३. देखें, डा. प्रेमसागर जैन, विध की मूल लिपि ब्राह्मी, पृ. ५७-७०।

४. पण्य. १।६८—भासतरिषा जे णं अद्धमागहाए भासाए भासिंवि, जत्य वि य
णं वंभो लिवी पवतइ ।

५. भ. जो. १।१।१६६-१७३ -

नमो वंभीए लिवीए, लिपिकर्ता नामेय ।

चरण सहित धुर जिन लिपिक, अर्थ धर्मसो एह ॥

पाषा ना कर्ता भणी, पाथो कहियै ताहि ।

एवंभूतनय नै मते, अनुयोगदुवार रै माहि ॥

अथवा लिपि ते भावलिपि, जे मुनि नै आधार ।

नमस्कार छै तेहनै, एहवू दीरो सार ॥

तीर्थ नाम जिम सूत्र नों, ते संघ में आधार ।

तिण सू संघ नै तीर्थ कह्युं, तिण भावे लिपि सार ॥

वृत्तिकार द्रव्य लिपि कही, ते लिपि छै गुणशून्य ।

नमस्कार तेहनै करी, ते तो वात जयून्य ॥

६. भ. वृ. १।३—‘नमो सुधस्स’ ति नमस्कारोऽस्तु ‘श्रुताय’ द्वादशाङ्गीरूपया-
हंद्रव्यवचनाय ।

७. भ. वृ. १।३ - नन्विष्टदेवतानमस्कारो मङ्गलाद्यो भवति, न च श्रुतमिष्टदेवतेति
कथमयं मंगलार्थं इति ? अत्रोच्यते श्रुतमिष्टदेवतैव, अर्हता नमस्कारणीयत्वात्
सिद्धवत्, नमस्कुर्वन्ति च श्रुतमर्हतां ‘नमस्तीर्थाय’ ति भणनात् ।

८. पं. आशाधर, सागायधर्माप्त, २।४४ -

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽजसा जिनम् ।

न किञ्चिदन्तरं प्राहुरात्मा हि श्रुतदेवयोः ॥

९. देखें, पीछे पृ. ६ का पा. टि. १।

अर्हत् अर्हत्-प्रवचन को नगस्कार करे, इसमें अन्तर्विरोध है। अर्हत्-प्रवचन द्रव्यश्रुत है, ज्ञान का निमित्त है। जयाचार्य ने निमित्त

को नगस्कार करने की समीक्षा की है।^१

उदखेव-पदं

उत्क्षेप-पदम्

उत्क्षेप-पद

४. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था—वण्णओ।।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरम् आसीत्—वर्णकः।

४. उस काल और उस समय^१ राजगृह नाम का नगर था^२—नगर का वर्णन।^३

भाष्य

१. उस काल और उस समय

यहां काल और समय दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। काल प्रलम्ब कालखण्ड का और समय निश्चित कालावधि का सूचक है। वृत्तिकार के अनुसार 'काल' पद के द्वारा वर्तमान अवतर्पिणी के चतुर्थ विभाग का बोध होता है और 'समय' पद के द्वारा उस काल-खण्ड का बोध होता है जिसमें भगवान् महावीर ने प्रवचन किया था।

उक्त दोनों पदों पर नय-दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। समभिरुद्ध नय की दृष्टि से कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं होते। प्रत्येक शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। एक अर्थ को बताने के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग आगम-संरचना की एक शैली है। अनेक देशों के शिष्यों को समझाने के लिए तत्तद्-देश-प्रचलित अनेक समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता था।

शब्दकोश के विकास की दृष्टि से अनेक शब्द प्रयुक्त किये जाते थे। अतः शब्द-नय की दृष्टि से इसका प्रयोग वांछनीय है।

२. राजगृह नाम का नगर था

'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था' में देश और काल का निर्देश है। आइंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार देश और काल से निरपेक्ष किसी भी वस्तु को समझा नहीं जा सकता। जर्मन दार्शनिक इम्मेन्युअल काण्ट ने भी देश और काल को बहुत महत्त्व दिया है। आचार्य सिद्धसेन ने अर्थबोध के लिए कम से कम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद—इन आठ नयों को अनिवाय माना है।^४ राजगृह का परिवर्तित रूप आज राजगिर है। पांच पर्वतों से घिरा हुआ यह नगर भगवान् महावीर का मुख्य विहार-क्षेत्र था। यहां भगवान् ने चौदह चातुर्मास-प्रवास किए थे। प्रस्तुत आगम में राजगृह का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यहां के

संवाद और पूछे गये प्रश्नों के उत्तर सर्वाधिक संख्या में संकलित हैं। अतः प्रस्तुत आगम को राजगृह का प्रवचन कहा जा सकता है। वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है—'राजगृह' वर्तमान में विद्यमान है, फिर उसके लिए 'होत्था' इस अतीतकालीन क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया? इसके समाधान में उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर के समय में वह जिस वैभव से सम्पन्न था, वैसा सुधर्मा के काल में नहीं रहा।^५ इसका यह समाधान अधिक स्वाभाविक होगा कि पर्यायार्थक दृष्टि से महावीर के साथ किए गए संवाद के समय जो राजगृह था, वह रचना-काल के समय परिवर्तित हो चुका था।

३. वर्णनवाची आलापक

अढ़ाई हजार वर्ष पहले लेखन की प्रणाली बहुत कम प्रचलित थी। मध्यकाल में लेखन की पद्धति चली। किन्तु हस्त-लेखन का कार्य बहुत जटिल था। ग्रन्थ-गौरव से बचने तथा लेखन की सुविधा की दृष्टि से सूत्र-शैली का विकास हुआ।^६ 'वर्णक' उसी का प्रतीक है। इस पद के द्वारा अनपेक्षित वर्णन से बचा जा सकता है। ओवाइयं की रचना इसी उद्देश्य से हुई थी। उसमें नगर, उद्यान, राजा आदि के वर्णन प्राप्त हैं। प्रस्तुत आगम में अनेक स्थानों पर 'वण्णओ' का प्रयोग किया गया है।

वर्णन को भी शैलीगत माना जा सकता है। सभी नगर और सभी चेत्य एक जैसे नहीं होते, जैसे—काव्यानुशासन में कवि-समय (काव्य-सिद्धान्त) सत्य होता है। उसके अनुसार जलाशयभात्र में कमल का वर्णन किया जा सकता है। इसी प्रकार नगर आदि का वर्णन रचनाशैलीगत सत्य है। इसलिए प्रत्येक नगर के साथ इस वर्णन को आयोजना की जा सकती है।

५. तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिस्सा

तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिस्ताद्

५. उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग

१. (क) भ.जो.१।१।१९०—

नमोश्रुत ते भावश्रुत, चरणयुक्त श्रुतवत् ।

लिपि शब्दे तो देशश्रुत, इहां सर्व श्रुतमंत ॥

(ख) वहा,पृ.२०-२२ ।

२. सम्मति.३।६० ।

३. भ.वृ.१।४- नन्विदानीमपि तत्रगरमस्यतः कथमुक्तमभवादिति ? उच्यते.

वर्णकग्रन्थोक्तविभूतियुक्त तदेवामवत् न तु सुधर्मस्वामिनी वाचनराजनकाले, अवतर्पिणीत्यात्कालस्य नदीयशुभभावानां हानिभावात् ।

४. भ.वृ.१।४ 'वण्णओ' इति इह स्थानके नगरवर्णको नाम्नः ग्रन्थगौरवमयाहोदह तस्यालिखितत्वात् ।

उत्तरपुराणमें दिसीभागे गुणसिलए नामं उत्तरपौरस्ये दिग्भागे गुणशिलकं नाम चैत्यम् में गुणशिलक नाम का चैत्य था।
चेइए होत्या ॥ आसीत् ॥

भाष्य

१. चैत्य

‘चैत्य’ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—चिता संबंधी, प्रत्येक आत्मा, बल्मीक (चींटी आदि की चाली हुई मिट्टी का ढेर) सीमाचिह्न बनाने वाले पत्थरों का निर्मित ढेर, स्मारक, समाधि-मंदिर, यज्ञशाला, धर्मस्थान, वेदिका, मृगवन, मंदिर, प्रतिबिम्ब, ‘उदुम्बर, पीपल, वट आदि धार्मिक वृक्ष’, सड़क के किनारे उगने वाले कोई भी वृक्ष।

आगम-साहित्य में यह अनेक स्थानों में प्रयुक्त हुआ है, जिसके विभिन्न अर्थ आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं; जैसे—

१. व्यन्तर का आयतन—(क) चित्तैर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यं—सञ्ज्ञाशब्दत्वाद्देवविम्बं तदाश्रयत्वाद् तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेह व्यन्तरायतनम्। (ख) चैत्यं—व्यन्तरायतनम्।
२. इष्ट देवता की प्रतिमा—चैत्यं—इष्टदेवता प्रतिमा।

३. उद्यान—चैत्यम्—उद्यानम्।

४. चित्त को आह्लादित करने वाला—चैत्याः चित्ताह्लादकाः।

५. इष्ट देवता का आयतन—चैत्यं च इष्टदेवतायतनम्।

६. पण्डवापरणाई में ‘चेइयट्टे’ पाठ प्राप्त होता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने यहां प्रयुक्त ‘चेइय’ शब्द के दो अर्थ किये हैं—पहला ज्ञान और दूसरा केवली। उन्होंने चैत्य के ‘केवली’ अर्थ की पुष्टि के लिए रायपसेणइयं का पाठ उद्धृत किया है, जिसमें भगवान् महावीर को चेइय कहा गया है। इसकी वृत्ति में मलयगिरि ने लिखा है—चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात्—सुप्रशस्तमन का हेतुभूत।

भगवती के वृत्तिकार के अनुसार चैत्य शब्द यहां व्यन्तरायतन के अर्थ में प्रयुक्त है।

६. सेणिए राया, चिल्लणा देवी ॥

श्रेणिको राजा, चिल्लणा देवी।

६. वहां श्रेणिक राजा था और उसकी पटरानी थी चिल्लणा।

७. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्यगरे सहसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवरपौंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी लोगुत्तमे लोगनाहे लोग-पदीवे लोगपञ्जोयगरे अभयदए चक्खुदए मग्गदए सरणदए धम्मवेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाण-दंसणधरे वियइछउमे जिणे जाणए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सब्बणू सब्बदरिसी सिव-मयलमरुयमणंतमक्खयमन्वावाहं सिद्धि-

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः आदिकरः तीर्थकरः स्वसंबुद्धः पुरुषोत्तमः पुरुषसिंहः पुरुषवरपुण्डरीकः पुरुषवरगन्धहस्ती लोकोत्तमः लोकनाथः लोकप्रदीपः लोकप्रद्योतकरः अभयदयः चक्षु-र्दयः मार्गदयः शरणदयः धर्मदेशकः धर्म-सारथिः धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती अप्रतिहत-वरज्ञानदर्शनधरः व्यावृत्तछद्मा चिनः (जिनः) चायकः (ज्ञायकः) बुद्धः बोधकः मुक्तः मोच-कः सर्वज्ञः सर्वदर्शी शिवमचलमरुजमनंत-

७. उस काल और उस समय प्रवचन के आदिकर्ता, तीर्थकर, स्वयंसंबुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषों में प्रवर पुण्डरीक, पुरुषों में प्रवर गन्धहस्ती, लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक में प्रदीप, लोक में प्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, धर्मदेशक, धर्म के सारथि, धर्म के प्रवर चतुर्दिग्जयी चक्रवर्ती, अप्रतिहत प्रवर ज्ञान-दर्शन के धारक, निरावरण, ज्ञाता, ज्ञान देने वाले, बुद्ध, बोध देने वाले, मुक्त, मुक्त करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, अचल, अरुज,

१. आपटे.—चैत्य—Relating to a pile, the individual soul, the ant-hill, a pile of stones forming a landmark, a monument, tombstone, a sacrificial shed, a place of religious worship, altar, sanctuary, a temple, a reflection, a religious fig-tree, any tree growing by the side of streets.

२. भ.वृ.१।५।

३. औप.वृ.पृ.८।

४. वही,पृ.१०।

५. उत्तरा.वृ.पृ.३०६। देखें, उत्तर. ६।६ का टिप्पण। इसके साथ यह भी मननीय है कि समवाजो में चौबीस तीर्थकरों के चौबीस चैत्यवृक्षों का उल्लेख है—‘एतेसि णं चउवीसाए तित्यगराणं चउवीसं चेइयरुक्खा होत्या।’

(पइण्णग समवाजो सू. २३१)। इसकी वृत्ति में चैत्यवृक्ष का अर्थ किया है ‘बद्धपीठ वृक्ष जिनके नीचे तीर्थकरों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ’ (चेइयरुक्खे त्ति बद्धपीठवृक्षाः येषामधः केवलान्भुत्वन्नातीति वृ.पृ.१४५)।

६. जम्बू.वृ.पृ.१६३।

७. वही,पृ.१२३।

८. पण्ड.८।६।

९. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, ६।३१८-३२५।

१०. राय. सू. ६—तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वेदामि....कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि।

११. राज.वृ.पृ. ५२।

गतिनामधेयं ठाणं संपाविउकामे जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव गुणसिल्लए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिस्सुवं ओग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावमाणे विहरइ ॥

मक्षयमव्यावाधं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामः यावत् पूर्वानुपूर्वीं चरन् ग्रामानुग्रामं दवन् सुखंसुखेन विहरन् यत्रैव राजगृहं नगरं यत्रैव गुणशिलकं चैत्यं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य यथाप्रतिरूपम् अवग्रहम् अवगृह्णाति, अवगृह्य संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ।

अनन्त, अक्षय, अव्यावाध, सिद्धिगति नामक स्थान की संप्राप्ति के इच्छुक यावत् श्रमण भगवान् महावीर क्रमानुसार विचरण, ग्रामानुग्राम में परित्रजन और सुखपूर्वक विहार करते हुए जहां राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य हैं, वहां आते हैं, वहां आकर वे प्रवास-योग्य स्थान की अनुमति लेते हैं, अनुमति लेकर संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए रह रहे हैं ।

भाष्य

१. ज्ञाता, ज्ञान देने वाले

'राग-द्वेष को जीतने वाला जिन होता है तथा प्रति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव—इस ज्ञान-चतुष्टयी के द्वारा जो जानता है, वह ज्ञायक है'—यह अभयदेवसूरि की व्याख्या है।^१ यहां 'जिन' शब्द विमर्शनीय है। 'जिण' शब्द 'चिण' शब्द का प्राकृत रूप है। जिण के 'च' को 'ज' हुआ है। प्राकृतसर्वस्व में चिण का अर्थ है—प्रत्यक्षज्ञानी। प्रत्यक्ष के अर्थ में चि धातु का प्रयोग वेदकालीन है।^२ प्राकृत में चकार को जकार होता है।^३ आर्य प्राकृत में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं—आणाविजते, अपायविजते, विवागविजते, संटाणविजते।^४ यहां 'विजते' शब्द विचय का प्राकृत रूप है। अभयदेवसूरि ने इसका संस्कृत रूप विचय किया है।^५ अणुजोगदाराई^६ में अधीतग्रन्थ के विषय में 'सिक्खितं हितं जितं मितं परिजितं' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें चित और परिचित का प्राकृत रूप जित और परिजित है। शिक्षित के बाद वह विषय 'स्थित' अर्थात् अविस्मृत होता है। चित का अर्थ है—तत्काल स्मृति में आने योग्य हो जाना।^७

हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक की वृत्ति में 'जित' शब्द का अर्थ 'परिचित' किया है।^८ अन्य स्थानों पर चकार के स्थान पर जकार

का प्रयोग मिलता है।^९ जिण शब्द का पारम्परिक अर्थ राग-द्वेष को जीतने वाला है। यह अर्थ 'चि' धातु से घटित होता है, किन्तु जिण शब्द का संस्कृत रूप 'चिण' करने पर उसका संबंध चि धातु से हो जाता है। इस आधार पर इसका अर्थ केवली या प्रत्यक्षज्ञानी होता है।

ठाणं में तीन प्रकार के जिन बतलाए गये हैं—तओ जिणा पण्णता, तं जहा—ओहिणाणजिणे, मपपज्जवणाणजिणे, केवलपाणजिणे।^{१०}

अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी—ये तीनों प्रत्यक्षज्ञानी हैं।

व्याख्याकारों ने 'जिन' शब्द की व्युत्पत्ति 'राग-द्वेष-विजेता' की है, किन्तु इसका अर्थ सर्वज्ञ किया है।^{११} स्थानांग के वृत्तिकार यदि जिन शब्द का अर्थ प्रत्यक्षज्ञानी करते, तो उन्हें अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी को उपचरित जिन और केवलज्ञानी को निरुपचरित जिन मानना आवश्यक नहीं होता, जैसा कि उन्होंने माना है।^{१२} ठाणं के अनुसार चतुर्दशपूर्वी मुनि जिन न होते हुए भी जिन

१. भ.वृ.१।७—जयति—निराकरोति रागद्वेषादिरूपानरातीनिति जिनः। जानाति छाग्रस्थिकज्ञानचतुष्टयेनेति ज्ञायकः ।
२. आप्टे.—चि—(Vedic) to perceive.
३. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, १।१७७—कचिह्यस्य जः—पिशची—पिसाजी ।
४. ठाणं, ४।६५।
५. स्था.वृ.प.१७६—आ—अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया सा आज्ञा—प्रवचनं सा विदीयते निर्णायते पर्यालोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं धर्मध्यानमिति प्राकृतत्वेन विजयमिति ।
६. अनु.सू.१३; अनु.मल.वृ.प.१३ ।
७. (क) अनु.वृ.पृ.७—जं परवत्तयतो परेण वा पुच्छितस्स आदिमज्जंते सव्वं वा सिग्घमागच्छति तं जितं ।
(ख) अनु.हा.वृ.प.६—जितमिति परिपार्थी कुर्वतो द्रुतमागच्छति ।
(ग) अनु.मल.वृ.प.१४—परवर्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित् पृष्टस्य यच्छीघ्रमागच्छति तज्जितं ।
८. हा.वृ.प.२३५—जितां परिचिताम् ।

९. (क) आ.चू.पृ.७६ ।
(ख) वि.भा.पा.८५१ ।
(ग) वि.भा.कोट्याचार्य, वृ.प.२७३—परिचितमेव ।
(घ) नमस्कार स्वाध्याय, प्राकृत विभाग, पृ.५३; महानिशीथ—थिरं परिचियं ।
(ङ) सूय.२।२।३०—अदुतरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि ।
१०. ठाणं, ३।५१२ ।
११. (क) वि.भा.चू.भाग ४, पृ. ३५७—जिणा केवलिणो ।
(ख) स्था.वृ.प.१६४—जिनाः सर्वज्ञाः ।
(ग) वि.भा.कोट्याचार्य वृ.प.८६०—जिनाः केवलिनः ।
१२. स्था.वृ.प.१६४—तओ जिणेत्यादि सुग्गमा, नवरं रागद्वेषमोहान् जयन्तीति जिनाः—सर्वज्ञाः तथा जिना इव ये वर्तन्ते निश्चयप्रत्यक्षज्ञानतया तेऽपिजिनास्तत्रावधिज्ञानप्रधानो जिनोऽवधिजिनः एवमितरावधि, नवरमाधावुपचरितावित्तरो निरुपचारः उपचारकरणं तु प्रत्यक्षज्ञानित्वमिति ।

सदृश होते हैं और वे जिन की भांति ही अपना व्याकरण करते हैं। वृत्तिकार ने लिखा है कि वे सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए जिन नहीं हैं, किन्तु सकल संशयों का उच्छेद करने में वे जिन के समान हैं।^१ उक्त विवेचन से यह फलित होता है कि 'जिन' का अर्थ प्रत्यक्षज्ञानी अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानी है।

प्रस्तुत प्रकरण में 'जिणे जाणए' यह एक युगल है। वह ज्ञान से संबंधित है। इसके आगे 'बुद्धे बोहए' 'मुत्ते मोयए'—ये दो युगल

उल्लिखित हैं। 'बुद्ध' का अर्थ है ज्ञाता और 'बोधक' का अर्थ है बोध देने वाला। मुक्त का अर्थ है ग्रन्थि से मुक्त और मोचक का अर्थ है दूसरों को ग्रन्थि से मुक्त करने वाला। इसी प्रकार 'जिन' का अर्थ है ज्ञाता और जाणय का अर्थ है—दूसरों को ज्ञान देने वाला। जैसे उत्तरवर्ती दोनों युगल एकविषयक हैं, वैसे ही जिणे और जाणए एकविषयक हैं।^२ जावय का अर्थ ज्ञापक होता है। जाणय और जावय—ये दोनों पद एक अर्थ वाले हैं।

८. परिसा निगया। धम्मो कहिओ।
पडिगया परिसा ॥

परिषद् निर्गता। धर्मः कथितः। प्रतिगता
परिषद्।

८. परिषद् ने नगर से निर्गमन किया। भगवान् ने
धर्म कहा। परिषद् वापस नगर में चली गई।

६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स
भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी
इंद्रभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं
सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभ-
नारायसंधयणे कणगपुलगनिघसपम्हगारे
उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले
घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभेचरवासी
उच्छुद्धसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से चोद्दस-
पुव्वी चउनाणोवगए सब्बखरसन्निवाती
समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते
उडुंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोडोवगए संजमेणं
तवत्ता अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः
महावीरस्य ज्येष्ठः अन्तेवासी इन्द्रभूतिः नाम
अनगारः गौतमसगोत्रः सतोत्सेधः समचतुरस्र-
संस्थानसंस्थितः वज्ररूपभनारायसंहननः कनक-
पुलकनिकपपक्ष्मगौरः उग्रतपाः दीप्ततपाः
तप्ततपाः महातपाः 'ओराले' घोरः घोरगुणः
घोरतपस्वी घोरब्रह्मचर्यवासी उल्लिखितशरीरः
संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः चतुर्दशपूर्वी चतु-
र्ज्ञानीपगतः सर्वाक्षरसन्निपाती श्रमणस्य भग-
वतो महावीरस्य अदूरसामन्ते ऊर्ध्वजानुः
अधःशिराः ध्यानकोष्ठोपगतः संयमेन तपसा
आत्मानं भावयन् विहरति।

६. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर
के ज्येष्ठ अन्तेवासी^२ गौतमसगोत्र^३ सात हाथ की
ऊंचाई वाले, समचतुरस्र संस्थान से संस्थित,
वज्ररूपभनाराय संहनन-युक्त^४, कर्सीटी पर
लखित स्वर्ण-रेखा तथा पद्मकेसर की भांति
पीताभ गौर वर्ण वाले^५, उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी,
तप्ततपस्वी, महातपस्वी, महान्, घोर, घोर गुणों
से युक्त, घोरतपस्वी, घोरब्रह्मचर्यवासी^६, लघि-
माक्रद्धि-सम्पन्न^७, विपुल तेजोलेश्या को अन्तर्लीन
रखने वाले^८, चतुर्दशपूर्वी^९, चार ज्ञान से सम्बन्धित
और सर्वाक्षरसन्निपाती लब्धि से युक्त^{१०} इन्द्रभूति
नामक अनगार श्रमण भगवान् महावीर के न अति
दूर और न अति निकट, ऊर्ध्वजानु अधःशिर
(उकडू आसन की मुद्रा में)^{११} और ध्यानकोष्ठ में
लीन होकर^{१२} संयम और तप से अपने आपको
भावित करते हुए^{१३} रह रहे हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६

प्रस्तुत सूत्र में प्रथम गणधर इन्द्रभूति के अंतरंग और बाह्य व्यक्तित्व का समग्रता से निरूपण हुआ है। इसमें अनुवांशिकी (जेनेटिक साइंस), आकृति-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि की दृष्टियों से कई नये तथ्य उपलब्ध होते हैं। व्यक्तित्व-निर्माण में अनेक घटक तत्त्वों का योग होता है। यह प्रस्तुत सूत्र के आधार पर स्पष्टता से जाना जा सकता है।

२. अन्तेवासी

अन्तेवासी का शाब्दिक अर्थ है—निकट रहने वाला। इन्द्रभूति गौतम सदा भगवान् महावीर के सन्निकट रहते थे, इसलिए उन्हें

अन्तेवासी कहा गया। वैदिक साहित्य में अन्तेवासी को 'सद्धि विहारी'—आचार्य के साथ विहार करने वाला, रहने वाला कहा गया है।^१

रण में अन्तेवासी के चार प्रकार बतलाए गये हैं—

"कुछ प्रव्राजना-अन्तेवासी होते हैं, उपस्थापना-अन्तेवासी नहीं होते। कुछ उपस्थापना-अन्तेवासी होते हैं, प्रव्राजना-अन्तेवासी नहीं होते। कुछ प्रव्राजना-अन्तेवासी भी होते हैं, उपस्थापना-अन्तेवासी भी होते हैं। कुछ न प्रव्राजना-अन्तेवासी होते हैं और न उपस्थापना-अन्तेवासी होते हैं, वे धर्मान्तेवासी होते हैं।"^२

१. टाणं, ३।५३४—समणस्स णं भगवतो महावीरस्स तिण्णि सया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सब्बखरसन्निवातीणं जिणा इव अविहत्तं वागर-माणणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया ह्यथा।

२. स्या. वृ. प. २७४—अजिनानामसर्वज्ञत्वात् जिनसंकाशानामविसंवादिदचमत्वात्

यथापृष्टनिर्वृत्त्याद्य।

३. सम. १।२।

४. सुतनिपात, ३।११।

५. टाणं, ४।४२४।

प्रजाजना-अन्तेवासी—जो केवल प्रज्या (मुनि-दीक्षा या सामायिक चारित्र) की दृष्टि से आचार्य के पास रहे।

उपस्थापना-अन्तेवासी—जो केवल उपस्थापना (महाव्रत आरोपण या छेदोपस्थापनीय चारित्र) की दृष्टि से आचार्य के पास रहे।

धर्मान्तेवासी—जो केवल धर्म-श्रवण के लिए आचार्य के पास रहे।

यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक प्रकार का अन्तेवासी भिन्न-भिन्न आचार्य के पास रहे।

एक ही व्यक्ति धर्मान्तेवासी, प्रजाजना-अन्तेवासी और उपस्थापना-अन्तेवासी हो सकता है।

इसी प्रकार उद्देशना-अन्तेवासी, वाचना-अन्तेवासी और धर्मान्तेवासी के विकल्प भी ज्ञातव्य हैं।^१

३. गौतमसंगोत्र

व्यक्तित्व-निर्माण का आधारभूत तत्त्व है वंश-परम्परा। आनुवंशिकी के अनुसार व्यक्ति वैसा ही बनता है, जैसा वह संस्कार-सूत्र (gene) और गुणसूत्र (chromosome) लेकर आता है। इन्द्रभूति, उस समय के प्रतिष्ठित गौतम नाम के गोत्र में उत्पन्न हुए थे। स्वस्थ वंश-परंपरा से उन्हें आभिजात्य संस्कार सहज उपलब्ध थे।

४. सात हाथ ऊंचाई वाले, समचतुरस्र संस्थान से संस्थित, वज्ररूपभनाराच संहनन-युक्त

इन तीनों विशेषणों के द्वारा आर्य गौतम की लंबाई, विशिष्ट शरीर-रचना (आकृति) और संहनन (अस्थिबन्ध) की सूचना मिलती है। उनके शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी। चौबीस अंगुल का एक हाथ होता है।^२

आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में उक्त तथ्यों के आधार पर व्यक्ति की मनोवृत्तियों और उसके सम्पूर्ण आंतरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व-विकास में तीन शारीरिक तत्त्वों का विशेष प्रभाव पड़ता है। वे ये हैं—१. जैव-रसायन २. शारीरिक गठन और स्वास्थ्य ३. तन्त्रिका-तंत्र। आकार, रूप, रंग, वजन, शरीर-परिमाण—ये व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष पहलु हैं। आगम-साहित्य में उपलब्ध व्यक्तित्व-वर्णन के ये दो पहलु—संस्थान और संघात आधुनिक दृष्टि से भी विशेष मूल्यवान हैं। आज शरीर-संस्थान के आधार पर व्यक्तित्व-विश्लेषण की पद्धति बहुत विकसित हो चुकी है। किस प्रकार की आंखों वाला, किस प्रकार की नाक वाला, किस प्रकार के चेहरे वाला व्यक्ति कैसा होता है, उसका स्वभाव कैसा होता है, वह कौन-से कार्यक्षेत्र में सफल होता है, ठिगने व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ कैसी होती हैं और लम्बे की कैसी होती हैं—इन सबका विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

समचतुरस्र संस्थान

संस्थान का अर्थ है आकृति, शरीर के अवयवों की रचना।

आगम-साहित्य में आकृति के आधार पर मनुष्य को छह वर्गों में वर्गीकृत किया गया है—१. समचतुरस्र २. न्यग्रोध परिमंडल ३. सदि ४. कुब्ज ५. वामन ६. हुंड।

वृत्तिकार के अनुसार समचतुरस्र संस्थान की व्याख्या इस प्रकार है:^३ सम—नाभि के ऊपर और नीचे के अवयव सकल पुरुष-लक्षणों से युक्त होने के कारण तुल्य; चतुरस्र का अर्थ है—प्रधान। जिसके अवयव सम और प्रधान हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं।

वृत्तिकार ने इसके तीन वैकल्पिक अर्थ किये हैं—

१. शरीर-लक्षण के जो प्रमाण कहे गये हैं, चारों कोण उसीके अविसंवादी हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहा जाता है। कोण का अर्थ है—चारों दिशाओं (ऊपर, नीचे, दाएं और बाएं) से उपलक्षित शरीर के अवयव।

२. शरीर के चारों ही कोण न न्यून और न अधिक हों, उसे समचतुरस्र कहा जाता है—पर्वक-आसन में बैठे हुए व्यक्ति के

(१) दोनों जानुओं का अन्तर

(२) आसन और ललाट के उपरी भाग का अन्तर

(३) दक्षिण स्कन्ध से वाम जानु का अन्तर

(४) वाम स्कन्ध से दक्षिण जानु का अन्तर। ये चार कोण हैं।

३. पर्यकासन में बैठने पर जिसकी ऊंचाई और विस्तार समान हों—उस संस्थान को समचतुरस्र कहा जाता है।

स्थानांग वृत्ति में समचतुरस्र का अर्थ इस प्रकार किया गया है—शरीर के सभी अवयव जहां अपने-अपने प्रमाण के अनुसार होते हैं, वह समचतुरस्र संस्थान है। अत्र का अर्थ है—कोण। जहां शरीर के चारों कोण समान हों, वह समचतुरस्र संस्थान है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है—समचतुरस्र—जिस शरीर रचना में ऊर्ध्व, अधः और मध्य भाग सम होता है, उसे समचतुरस्र संस्थान कहा जाता है। एक कुशल शिल्पी के द्वारा निर्मित चक्र की सभी रेखाएं समान होती हैं, इसी प्रकार इस संस्थान में सब भाग समान होते हैं।^४

पद्मता के अनुसार समान मान और उन्मान वाला शरीर-संस्थान समचतुरस्र है।^५ समचतुरस्र की अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं। इनमें वृत्तिकार द्वारा व्याख्यायित दूसरा और तीसरा विकल्प अधिक संगत लगता है।

वज्ररूपभनाराच संहनन

संहनन का अर्थ है—अस्थि-संचय।

अस्थि-कील के लिए 'वज्र', परिवेष्टन अस्थि के लिए 'ऋषभ' और परस्पर गूंथी हुई आकृति के लिए 'नाराच' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जिस शरीर में परस्पर गूंथी हुई अस्थियों और परिवेष्टित

१. टाणं, ४।४२५।

२. भ. ६।१३४—चउवीसं अंगुलाइं रपणी।

३. भ. वृ. १।६।

४. स्था. वृ. प. ३३८।

५. त. रा. वा. पृ. ५७६, ५७७।

६. ष. खं. धवला, पु. १३, खं. ५, भा. ५, सू. १०७, पृ. ३६५।

ग्रथियों को अस्थि-कील द्वारा आर-पार कसा हुआ हो, उसको वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन कहते हैं—



कुछ आचार्य अस्थियों को ही कीलिका मानते हैं।^१

५. कसौटी पर खचित स्वर्ण-रेखा तथा पद्म-केसर की भांति पीताम गौरवर्ण वाले

इस विशेषण से वर्ण के आधार पर गणधर गौतम के व्यक्तित्व का वर्णन किया गया है। इससे एक बात और ध्वनित होती है कि अच्छे व्यक्तित्व के लिए मात्र गौरवर्ण ही पर्याप्त नहीं हैं, वह दीप्तिमान भी होना चाहिए। महत्त्व मात्र रंग का नहीं, आभा का भी होता है। आर्य गौतम का देह स्वर्णभा था। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'कसौटी पर खींची हुई स्वर्ण-रेखा' तथा 'पद्म के पक्ष की भांति गौर' किया है। यहां पक्ष को रेखा से पृथक् कर दो अर्थ किए गए हैं। यह संगत नहीं है। वृत्तिकार द्वारा उद्धृत वृद्धव्याख्या का अर्थ संगत है। वृद्धव्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है—स्वर्ण-रेखा के पक्ष की भांति गौर।^२ 'पम्ह' शब्द का संस्कृत रूप 'पद्म' नहीं बनता, किन्तु 'पक्ष' बनता है।^३ उसका अर्थ है पद्म-केसर।

६. उग्र तपस्वी.....घोरब्रह्मचर्यवासी

उग्रतप से लेकर सब्बखरसन्निवाती तक चौदह विशेषणों के द्वारा गौतम की योग्य विभूतियों—लब्धियों का महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। वृत्तिकार ने उग्रतपे आदि पदों का केवल शाब्दिक अर्थ किया है—

उग्रतपस्वी—असाधारण तप करने वाला।

दीप्ततपस्वी—प्रज्वलित धर्मध्यान रूप तप करने वाला।

तप्ततपस्वी—जिसका तप मूर्तिमान् बन जाए।

महातपस्वी—आशंसा से मुक्त तप करने वाला।

ओराल—अल्पसत्त्व के लिए भयंकर अथवा प्रधान तप करने वाला। ओराल देशी शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ भीम किया है, किन्तु अन्य आचार्यों का मत उद्धृत करते हुए उन्होंने इसका अर्थ उदार—प्रधान किया है। पंचसंग्रह में 'ओराल' के अनेक पर्यायवाची शब्द बतलाए गए हैं। उनमें एक है—महान्।^४

घोर—परीषहजयी और इन्द्रियजयी तप करने वाला।

घोरगुण—असाधारण मौलिक गुणों का विकास करने वाला।

घोरतपस्वी—घोर तप करने वाला।

घोरब्रह्मचर्यवासी—अल्पसत्त्व मनुष्यों के द्वारा दुरनुचर ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला।^५

दिगम्बर परम्परा के साहित्य को देखने से पता चलता है कि उग्रतपे आदि का अर्थान्नाय श्वेताम्बर परम्परा में विस्मृत हो गया। इसीलिए वृत्तिकार ने उसकी शब्दाश्रयी व्याख्या की। चूर्ण में इसकी व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में इन में से कुछ पदों की मूलस्पर्शी व्याख्या उपलब्ध होती है। यहां तप के अतिशय की ऋद्धि के सात प्रकार बतलाए गए हैं—उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, वीरपराक्रम और घोरब्रह्मचर्य।^६

उग्रतपस्वी—जो मुनि एक, दो या बत् मासिक आदि उपवास योग में से किसी एक उपवास-योग की आराधना प्रारंभ कर जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह करता है, वह उग्रतपस्वी कहलाता है।^७ आजीवक सम्प्रदाय में भी उग्रतप की परम्परा प्रचलित थी। ठाणं में आजीवकों के चार प्रकार के तप बतलाए गये हैं—उग्रतप, घोरतप, रसनिर्ग्रहण, जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसलीनता।^८

दीप्ततपस्वी—दीर्घकालीन उपवास करने पर भी जिसका कायिक, वाचिक और मानसिक बल प्रवर्धमान रहता है, मुंह में

१. भ.वृ.१।६।

२. वही,१।६—कनकस्य—सुवर्णस्य 'पुलनं'ति यः पुलको—सर्वस्तस्य यो निकषः—कषपट्टके रेखालक्षणः तथा 'पम्ह'ति पद्मपक्ष्माणि—केशराणि—तद्वद्गौरो यः स तथा। वृद्धव्याख्या तु—कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः—सारो वर्णातिशयस्तद्वधो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म—बहुलत्वं तद्वद्गौरो यः स तथा। अथवा—कनकस्य यः पुलको—द्रुतत्वे सति विन्दुस्तस्य निकषो—वर्णतः सदृशो यः स तथा 'पम्ह'ति पद्मं तस्य वेह प्रस्तावात्केशराणि गृह्यन्ते ततः पद्मवद्गौरो यः स तथा।

३. हेमचन्द्र, प्राकृतव्याकरण, २।७४—पक्ष्म-श्म-ष्म-ह्यां-म्हः।

४. पं.सं.(दि.)१।६३—पुरु महमुदारुरालं एण्डं।

५. भ.वृ.१।६—'उग्रतपे'ति उग्रम्—अप्रघृष्यं तपः अनशनादि यस्य स उग्रतपः, यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः। 'दिततपे'ति दीप्तं—जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवन्गहनदहन-समर्थतया ज्वलितं तपो—धर्मध्यानादि यस्य स तथा। 'तप्ततपे'ति तप्तं तपो येनासौ तप्ततपः एवं हि तेन तप्ततपस्तप्तं येन कर्माणि संताप्य तेन तपसा स्वा

त्वाऽपि तपो रूपः संतापितो यतोऽन्यस्यास्यास्पृश्यमिव व जातमिति। 'महातपे'ति आशंसादोषरहितत्वाद्यशस्ततपः। 'ओराले'ति भीम उग्रदि-विशेषणविशिष्टतपःकरणात्पार्थस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—'ओराले'ति उदारः प्रधानः। 'घोरे'ति घोरः अतिनिर्घृणः परीष हेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः। अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोर माहुः। 'घोरगुणे'ति घोरा—अन्यैर्दुरनुचरा गुणा—मूलगुणादयो यस्य स तथा। 'घोरतपस्वि'ति घोरैस्तपोभिस्तपस्वीत्यर्थः। 'घोरबंभचेरवासि'ति घोरं—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यद् ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा।

६. त.रा.वा.३।३६—तपोऽतिशयार्द्धिः सप्तविधा—उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्।

७. वही,३।३६—चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनियतका उग्रतपसः।

८. ठाणं, ४।३५०—आजीवियाणं चउच्चिहे तवे पण्णत्ते, तं जहा—उग्रतपे, घोर-तपे, रसणिज्जहणता, जिह्वेन्द्रियपडिसलीणता।

दुर्गन्ध नहीं होती, निःश्वास में पद्योत्पल आदि जैसी सुरभि फूटती है और शरीर की दीप्ति प्रच्युत नहीं होती, वह दीप्ततपस्वी कहलाता है।^१

तप्ततपस्वी—तपे हुए लोह के तवे पर गिरा हुआ जलकण जैसे तत्काल सूख जाता है, वैसे ही जिस मुनि के द्वारा किया हुआ शुष्क और अल्प आहार तत्काल परिणत हो जाता है, यह मल और रक्त के रूप में परिणत नहीं होता, वह तप्ततपस्वी कहलाता है।

महातपस्वी—सिंहनिष्क्रीडित आदि महान् उपवास का अनुष्ठान करने वाला महातपस्वी कहलाता है।

घोरतपस्वी—चात, पित्त, कफ और सत्रिपात से होने वाले नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त होने पर भी जो अनशन एवं कायक्लेश आदि के तप से पराङ्मुख नहीं होता, तथा हिंस्र पशुओं एवं घोर आदि से घिरे हुए प्रदेश में अवास करता है, वह घोरतपस्वी कहलाता है।

घोरब्रह्मचर्यवासी—जिसका ब्रह्मचर्यवास अस्खलित होता है, चारित्र्यमोह के प्रकृष्ट विलय (क्षयोपशम) से जिसके स्वप्न भी नष्ट हो जाते हैं, वह घोरब्रह्मचर्यवासी कहलाता है।

७. लघिमाऋद्धिसम्पन्न

उच्चूदशरीर (उत्क्षिप्त शरीर)—इस पद के दो अर्थ किये जा सकते हैं—

१. शरीर के हल्का होने से ऊपर उठने वाला। जो लघिमाऋद्धि-सम्पन्न होते हैं, वे अपने शरीर को वायु से भी हल्का कर सकते हैं।^१

यह ऋद्धि 'विक्रिया ऋद्धि' का एक प्रकार है। 'विक्रिया ऋद्धि' में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि ऋद्धियों का समावेश होता है।^२ इन्द्रभूति गीतम प्रसिद्ध रूप से महान् ऋद्धिधर माने जाते हैं। महापुराण के अनुसार वे जब भगवान् महावीर के पास ५०० शिष्यों के साथ दीक्षित हुए, तब उन्हें सातों ऋद्धियां प्राप्त हो गईं।^३ बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र (अक्षीण)—ये सात ऋद्धियां हैं।^४ लघिमाऋद्धि इसी विक्रिया ऋद्धि के अन्तर्गत समाविष्ट है।

२. शरीर-निरपेक्ष—चृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—

१. त.रा.वा.३।३६—महोपवासकारणेऽपि प्रवर्धमानकायवाङ्मानसबलाः विगन्धरहितवदनाः पद्योत्पलादिसुरभिनिश्वासा अप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्ततपसः।

२. वही, ३।३७—वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा।

३. वही, ३।३६—विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा.....।

४. महापुराण, ७४।३६६-३७०।

५. तिलोपपण्णत्ती, ४।६६८।

६. म. महावीर के अनेक शिष्य विभिन्न प्रकार की ऋद्धियों के धारक थे जिनमें विउव्वणिट्टि (विक्रिया ऋद्धि) का भी उल्लेख है। (ओवा. २४)।

७. भ.वृ. १।६—उच्चूदशरीरे सि उच्चूदम् उज्जितमिवोज्जितं शरीरं येन तत्-संस्कारत्यागात्स तथा।

जिसने शरीर के संस्कार का त्याग किया है, वह उज्जित-शरीर अर्थात् शरीर-निरपेक्ष कहलाता है।^५

मुनित्व का पहला लक्षण है—देहासक्ति से मुक्त होना। जो शारीरिक परिकर्म (शरीर का संवारना, सजाना) या संस्कार से मुक्त नहीं होता, वह आत्मा या चैतन्य के प्रति समर्पित नहीं हो सकता। भगवान् महावीर ने शरीर-निरपेक्ष साधना को बहुत महत्त्व दिया, इसीलिए उनकी साधना-पद्धति में अभ्यङ्ग, स्नान, अञ्जन, मर्दन आदि की वर्जना की गई है।

८. विपुल तेजोलेश्या को अन्तर्लीन रखने वाला

नदी चूर्णि में लेश्या का अर्थ रश्मि किया गया है।^६ रश्मि—रस्सी—लेस्स इस आधार पर उसका संस्कृत रूप 'लेश्या' किया जाता है, वह विमर्शनीय बन जाता है।

वृत्तिकार ने तेजोलेश्या का अर्थ तेजो—ज्वाला किया है। यहां तेजोलेश्या का प्रयोग एक ऋद्धि (लब्धि या योगज विभूति) के अर्थ में हुआ है। ठाणं के अनुसार यह ऋद्धि तीन कारणों से उपलब्ध होती है।^७ इसकी तुलना हठयोग की कुण्डलिनी से की जा सकती है। कुण्डलिनी की दो अवस्थाएं होती हैं—सुप्त और जागृत। तेजोलेश्या की भी दो अवस्थाएं होती हैं—संक्षिप्त और विपुल। इसके द्वारा हजारों किलोमीटर में अवस्थित वस्तु को भस्म किया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत दूर तक अनुग्रह भी किया जा सकता है। इसके द्वारा अनुग्रह और निग्रह दोनों किये जा सकते हैं। साधारणतया अप्रयोग की स्थिति में वह संक्षिप्त की अवस्था में रहती है। इन्द्रभूति गीतम को यह ऋद्धि उपलब्ध थी। किन्तु वे उस विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त अवस्था में बनाए रखते थे। ऋद्धिसम्पन्न होते हुए भी उस ऋद्धि का प्रयोग नहीं किया करते थे।^८

९. चतुर्दशपूर्वी, चार ज्ञान से समन्वित

ज्ञान भीमांसा के अनुसार ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान।^९ इनमें प्रथम दो परोक्ष या इन्द्रियसंबद्ध और अन्तिम तीन प्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय ज्ञान हैं।

बारहवां अंग दृष्टिवाद है। वह वर्गीकृत रूप में पांच भागों में विभाजित है।^{१०} उसमें तीसरा विभाग पूर्वगत है। उसमें चौदह पूर्वों का समावेश हुआ है।^{११} उनका ज्ञाता चतुर्दशपूर्वी या श्रुत-केवली

८. नन्दी चू.पृ. ४—'लेस्स' ति रस्सीयो। विस्तार के लिए देखें भ. १।१०२ का भाष्य।

९. ठाणं, ३।३८६—तिहिं ठापेहिं समणे णिग्गये संखितविउललेउलेस्से भवति, तं जहा—आयावणताए, खंतिखभाए, अपाणणेणं तवोक्कमेणं।

१०. भ.वृ. १।६—संक्षिप्ता—शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता, विपुला—विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा।

११. नदी, २—नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—आभिण्णिवोहिणनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपञ्चवनाणं, केवलनाणं।

१२. वही, ६२।

१३. वही, १०४।

कहलाता है। चौदह पूर्वों का श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव होता है। किन्तु श्रुतज्ञानी का चतुर्दशपूर्वी होना अनिवार्य नहीं है। चतुर्दशपूर्वी होने का अर्थ है—प्रकृष्ट श्रुतज्ञानी होना। श्रुतकेवली की तुलना केवली से की गई है। केवली सब द्रव्यों और सब पर्यायों को साक्षात् जानता है और श्रुतकेवली उन्हें श्रुत के आधार पर जानता है।

इन्द्रभूति गौतम गणधर थे। गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं, यह सर्वसम्मत तथ्य है।^१ उत्तरज्जयणाणि में इन्द्रभूति गौतम को बारह अंगों का ज्ञाता कहा गया है।^२

अध्ययन के विषय में तीन परम्पराएं मिलती हैं—

१. ग्यारह अंगों का अध्येता।^३

२. बारह अंगों का अध्येता।^४

३. चौदह पूर्वों का अध्येता।^५

जिनभद्राणि क्षमाश्रमण के अनुसार दृष्टिवाद में समस्त शब्दज्ञान का अवतार हो जाता है, फिर भी ग्यारह अंगों की रचना अल्पमेधा पुरुषों और स्त्रियों के लिए की गई।^६

यद्यपि बारह अंगों को पढ़ने वाले और चौदह पूर्वों को पढ़ने वाले—ये भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि चौदह पूर्वों के अध्येता बारह अंगों के अध्येता नहीं थे और बारह अंगों के अध्येता चतुर्दशपूर्वी नहीं थे। गौतम स्वामी को 'द्वादशांगवित्' कहा गया है। वे चतुर्दशपूर्वी और अंगधर दोनों थे, यह कहने का प्रकार-भेद रहा है कि श्रुतकेवली को कहीं 'द्वादशांगवित्' और कहीं 'चतुर्दशपूर्वी' कहा गया है।

ग्यारह अङ्ग पूर्वों से उद्धृत या संकलित हैं। इसलिए जो चतुर्दशपूर्वी होता है, वह स्वाभाविक रूप से ही द्वादशांगवित् होता है। बारहवें अङ्ग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं। इसलिए जो द्वादशांगवित् होता है, वह स्वभावतः ही चतुर्दशपूर्वी होता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आगम के प्राचीन वर्गीकरण दो ही हैं—

१. चौदह पूर्व और २. ग्यारह अङ्ग। द्वादशांगी का स्वतन्त्र स्थान नहीं है। यह पूर्वों और अङ्गों का संयुक्त नाम है।

वृत्तिकार ने बतलाया है कि इन्द्रभूति गौतम चतुर्दश पूर्वों के रचयिता थे, इसलिए उन्हें 'चतुर्दशपूर्वी' कहा गया है।^७

१. नंदी, १२७—तथ्य दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ।

.....भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ।

२. आव. नि. गा. ६२—

अत्थं भासइ अरह्मा, सुत्तं गंयन्ति गणहरस निउणं।

सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तए ॥

३. ५. उत्तर. २३। ७—बारसंगविकु बुद्धे।

४. अंत. ६। १५। ६६—सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाइं अहिज्जइ।

६. वही, ३। ६। ११६—चोइस पुव्वाइं अहिज्जइ।

७. वि. भा. गा. ५५४—

जइवि य भूतावाए वओगयस्स ओपारो ।

निज्जुहणा तहावि हु, दुप्पेहे पप्प इत्थी य ॥

८. भ. वृ. १। ६—चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दश-पूर्वी।

१०. सर्वाक्षरसन्निपाती लब्धि से युक्त

विशेषावश्यकभाष्य में ऋद्धि के अनेक प्रकार बतलाए गये हैं। उनमें 'सर्वाक्षरसन्निपात' की परिगणना नहीं है। 'तन्वार्थसज्जवार्तिक' में बुद्धि-ऋद्धि के अठारह प्रकार बतलाए गये हैं। उसमें भी इसका उल्लेख नहीं है।^{१०}

वृत्तिकार ने 'सव्वक्खरसन्निपाती' के दो अर्थ किये हैं—१. सब अक्षरों के संयोग के ज्ञाता, २. श्रव्य अक्षरों के वक्ता।^{११}

औपपातिक वृत्ति में 'सव्वक्खरसन्निपाइयाए' पाठ तथा वैकल्पिक रूप से 'सव्वक्खरसन्निपाइयाए' पाठ व्याख्यात हैं। ये दोनों वाणी के विशेषण हैं। श्रमण भगवान् महावीर ने सर्वाक्षरसन्निपाती की वाणी के द्वारा धर्म-प्रवचन किया।^{१२}

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पद का संबंध वाणी से है। 'चोइसपुब्बी' और 'चउनाणोवगए' इन दो पदों के द्वारा गौतम के ज्ञानातिशय और 'सव्वक्खरसन्निपाती' इस पद के द्वारा उनके वचनातिशय का निर्देश किया गया है।

११. न अति दूर और न अति निकट ऊर्ध्वजानु अधःशिर (उकडू आसन की मुद्रा में)

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के पाश्चवर्ती स्थल में ठहरे हुए थे, वह स्थल बहुत निकट भी नहीं था और बहुत दूर भी नहीं था।^{१३}

ऊर्ध्वजानु अधःशिरा के दो अर्थ किए जा सकते हैं—उकडू आसन और सर्वांगासन। मुनि के लिए शुद्ध पृथ्वी (आसन-रहित भूमि) पर बैठना वर्जित था।^{१४} उसका एक कारण अहिंसा की दृष्टि और दूसरा कारण मानसिक एकाग्रता की सिद्धि के लिए पृथ्वी के आकर्षण से बचाव करना था। मुनि के लिए दो प्रकार के उपकरणों का विधान है—औधिक और औपग्रहिक। अनिवार्य उपकरण औधिक कहलाते हैं और ऋतुविशेष में रखे जाने वाले औपग्रहिक। गौतम के पास औपग्रहिक निषद्या नहीं थी, इसलिए वे उकडू आसन में बैठते थे। घेरण्डसंहिता में उल्कटासन का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—दोनों पैरों के अंगुठों को भूमि पर टिका, दोनों एडियों को

६. वि. भा. गा. ७७५-७६।

१०. त. रा. ना. ३। ३६।

११. भ. वृ. १। ६—सर्वेषां वाऽक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यम्य ज्ञेय-तस्य सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती, श्रव्याणि वा—श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गुत्थेन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्रव्याक्षरसन्निवादी।

१२. औप. वृ. पृ. १४७—सव्व(सव्वत्त)क्खरसन्निपाइयाए सुव्वक्क-अक्षरसन्निपातो-वर्णसंयोगो यस्यां सा तथा तथा.....सव्वक्खरसन्निपाइयाए सर्वाक्षराणां सन्नि-पातः—अवतारो यस्यामस्ति सर्वे वाक्षरसन्निपाताः—संयोगाः सन्ति यस्यां सा सर्वाक्षरसन्निपातिका तथा।

१३. भ. वृ. १। ६—तत्र दूरं च—विप्रकृष्टं सामन्नं च—सन्निकृष्टं तन्निषेधाददूर-सामन्नं तत्र, नातिदूरे नातिनिकट इत्यर्थः।

१४. दसवे. ८। ५—सुद्धपुढवीए न निसिए।

देखें, दसवे. ८। ५ का टिप्पण।

निरालम्ब कर ऊपर को उठा दो। गुह्यस्थान को एडियों पर रखो, यह उत्कटासन है।

हठयोगप्रदीपिका में ऊर्ध्व नाभेरघस्तातुः (३।७६) और अधः-शिराश्चोर्ध्वपादः (३।८१)—ऐसे प्रयोग मिलते हैं। सर्वांगासन और शीर्षासन में भी यह मुद्रा बनती है। इसका बहुत संभव अर्थ उकडू आसन ही है। ठाणं में पांच प्रशस्त स्थान बतलाए गए हैं। उनमें एक उकडू आसन है।^१ वहां निषद्या के पांच प्रकार निर्दिष्ट हैं। उनमें पहली निषद्या उत्कटिका है।^२ निषद्या ध्यान का आसन है। भगवान महावीर स्वयं उकडू—गोदोहिका आदि निषद्याओं में ध्यान किया करते थे। भगवान की ध्यान-मुद्रा के लिए भी 'ऊर्ध्वजानु अधःतिर' की मुद्रा का प्रयोग किया गया है।^३

१२. ध्यानकोष्ठक में लीन होकर

'ध्यानकोष्ठ' पद एकाग्रता का सूचक है। कोठे में डाला हुआ अनाज इधर-उधर नहीं बिखरता, वैसे ही एकाग्रता की साधना के द्वारा इन्द्रियां, मन और वृत्तियां इधर-उधर नहीं दौड़ती, किन्तु एक ध्येय पर ही स्थिर हो जाती हैं। कोष्ठ का तात्पर्य है ध्येय। जब ध्यान अपने ध्येय में लीन हो जाता है, उस अवस्था में चित्त की

'ध्यान-कोष्ठ' अवस्था का निर्माण होता है। पतञ्जलि ने इसे 'देशबन्ध' या 'प्रत्ययैकतानता' कहा है।^४

'कोष्ठ' का एक अर्थ आन्तरिक अंग या अवयव है।^५ इस आधार पर ध्यानकोष्ठ का अर्थ—ध्यान के लिए उपयुक्त शरीरवर्ती चैतन्य-केन्द्र नाभि, कण्ठ, हृदय, फुफुस, जीभ आदि किया जा सकता है। यह अर्थ अधिक प्रासंगिक है। व्यास-भाष्य में 'देश-बन्ध' के लिए बाह्यदेश का गीण रूप में और शरीर के अंगों का मुख्य रूप में निर्देश मिलता है।^६

१३. संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए

वृत्तिकार ने संयम का अर्थ संवर किया है।^७ ठाणं में संयम और संवर का पृथक् निर्देश है।^८ संयम का अर्थ नियमन अथवा उपरति है।^९ संवर का अर्थ निरोध है।^{१०}

इन्द्रभूति गौतम के मन, वचन और शरीर का संयम स्वतः सिद्ध था, इनसे उनकी आत्मा सहज भावित थी।

जिससे कर्म की निर्जरा होती है, वह तप है। उसके बारह प्रकार हैं।^{११}

१०. तप णं से भगवं गोयमे जायसहे जाय-संसप जायकोउहल्ले उप्पन्नसहे उप्पन्नसंसप उप्पन्नकोउहल्ले संजायसहे संजायसंसप संजायकोउहल्ले समुप्पन्नसहे समुप्पन्नसंसप समुप्पन्नकोउहल्ले उट्टाप उट्टेति, उट्टेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिवखुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता

ततः स भगवान् गौतमः जातश्रद्धः जात-संशयः जातकुतूहलः उत्पन्नश्रद्धः उत्पन्न-संशयः उत्पन्नकुतूहलः संजातश्रद्धः संजात-संशयः संजातकुतूहलः समुत्पन्नश्रद्धः समुत्पन्न-संशयः समुत्पन्नकुतूहलः उत्थया उत्तिष्ठति, उत्थाय यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वंदते

१०. उस समय भगवान् गौतम के मन में एक श्रद्धा (इच्छा), एक संशय (जिज्ञासा) और एक कुतूहल जन्मा; एक श्रद्धा, एक संशय और एक कुतूहल उत्पन्न हुआ; एक श्रद्धा, एक संशय और एक कुतूहल बढ़ा तथा एक श्रद्धा, एक संशय और एक कुतूहल प्रबलतम बना।^१ वे उठने की मुद्रा में उठते हैं, उठकर जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां आते हैं, वहां आकर श्रमण भगवान्

१. घेरण्डसंहिता, द्वितीयोपदेश २३—

अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ।
तत्रोपरि मुदं न्यस्य, विज्ञेयमुत्कटासनम् ॥

२. ठाणं, ५।४२—पंच ठाणाईं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिगंधाणं, णिघं वण्णिताइं, णिघं कित्तिताइं, णिघं बुइयाइं, णिघं पसत्थाइं, णिघं अढम-णुण्णाताइं भवन्ति, तं जहा—ठाणातिए, उक्कुडुआसणिए, पडिमट्टाई, वीरासणिए, जेसजिए।

३. वही, ५।५०—पंच णिसिज्जाओ षण्णत्ताओ, तं जहा—उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अद्धपलियंका।

४. आ.चूला, १५।३८—सालरुक्खस्स अदूरसामंते, उक्कुडुयस्स, गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स, छट्ठेणं भतेणं अपाणएणं, उट्टंजानुअहोसिरस्स, धम्मज्झाणोवगयस्स, ज्ञाणकोट्टोवगयस्स, सुक्कज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स, निव्वाणे, कसिणे, पडिपुण्णे, अब्बाहए, णिरावरणे, अणंते, अणुत्तरे, केवल-वरणाणदंसणे समुप्पण्णे।

५. पा.यो.द.३।१,२—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

६. आ.पेटे.—कोष्ठ—Any one of the viscera of the body such as the heart, lungs etc.

७. पा.यो.द.व्यास-भाष्य, ३।१—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रं जिह्वग्रं इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिभात्रेण बन्ध इति धारणा।

८. भ.वृ.१।६—'संजमेणं'ति संवरेणं।

९. (क) ठाणं, २।४५-४६—दो ठाणाईं अपरियाणेतता आया णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

दो ठाणाईं अपरियाणेतता आया णो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

(ख) वही, ३।१६६, १६७—तिहिं जामेहिं आया केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, तं जहा—पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे। तिहिं जामेहिं आया केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, तं जहा.....।

१०. जीतकल्प भाष्य, पा.११०७—

सं एणीभावमि, जमउवरम एणीभावउवरमणं।

सम जमो वा संजमो, मणयइकायाण जमणं तु ॥

११. स्या.वृ.प.१७—संनियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः।

१२. देखें, भ.२५।५५७-६१६।

बंदइ नमंसइ, बंदिता नमंसिता णचासन्ने
णातिदूरे सुस्सुसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे
विणएणं पंजलियडे पज्जुवासमाणे एवं
बयासी—

नमस्यति, बन्दित्वा नमस्यित्वा न अत्यासन्नः
नातिदूरः शुश्रूषमाणः नमस्यन् अभिमुखः
विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपासीनः एव-
मवादीत्—

महावीर को दाई ओर से प्रारंभ कर तीन बार
प्रदक्षिणा^१ करते हैं, वन्दन-नमस्कार करते हैं,
वन्दन-नमस्कार कर न अति निकट, न अति दूर
शुश्रूषा और नमस्कार की मुद्रा में उनके सम्मुख
सविनय बद्धाञ्जलि होकर पर्युपासना करते हुए
इस प्रकार बोले—

भाष्य

१. गौतम के मन में एक श्रद्धा, एक संशय और एक कुतूहल जन्मा.....प्रबलतम बना

श्रद्धा का अर्थ है इच्छा, रुचि अथवा उत्सुकता।^१ पातञ्जल
योग-भाष्य में इसका अर्थ चित्त का संप्रसाद किया है।^२ इसका अर्थ
विश्वास भी होता है, पर यहां वह प्रासंगिक नहीं है। संशय का
अर्थ है जिज्ञासा और कुतूहल का अर्थ है आश्चर्य। यह दर्शन के
उद्भव की त्रिपदी है। किसी भी अज्ञात वस्तु के विषय में एक
इच्छा पैदा होती है, फिर उसे 'जानने की इच्छा' पैदा होती है।
तीसरी अवस्था में एक आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया
से दर्शन का विकास हुआ है। प्लेटो और अरस्तु ने भी आश्चर्य
की अवस्था में ज्ञान का अभ्युदय माना है। प्रस्तुत आगम में इस
त्रिपदी का अनेक बार प्रयोग हुआ है।

जात, उत्पन्न, सञ्जात और समुत्पन्न—ये चारों शब्द क्रमिक
विकास के सूचक प्रतीत होते हैं। जैसे बीज बोया जाता है, अंकुरित
होता है, पौधा वृद्धिगत होता है और अन्त में पूर्ण रूप से निष्पन्न
हो जाता है, वैसे जात अर्थात् अस्तित्व में आना (जन्मा), उत्पन्न
अर्थात् पैदा होना (उत्पन्न हुआ), सञ्जात अर्थात् वृद्धिगत होना
(बढ़ा), समुत्पन्न अर्थात् पूर्ण रूप से निष्पन्न होना (प्रबलतम बना)।^३

वृत्तिकार के अनुसार 'जात' का अर्थ है—'प्रवृत्त' और 'उत्पन्न'
का अर्थ है—जो पहले नहीं था उसका होना।^४

इस प्रकार यद्यपि 'उत्पन्न' पद को हेतु रूप मानकर अर्थ
घटित करने का प्रयत्न किया गया है,^५ फिर भी क्रम की दृष्टि से

यह क्रम संगत लगता है। अतः इन चारों शब्दों को क्रमिक विकास
का द्योतक मानना अधिक संगत प्रतीत होता है।^६

२. दायी ओर से प्रारंभ कर तीन बार प्रदक्षिणा

आदक्षिण-प्रदक्षिणा कृतिकर्म का एक प्रकार है। वृत्तिकार ने
इसका अर्थ किया है—दक्षिण हस्त से प्रारंभ कर चारों ओर प्रदक्षिणा
करना।^७

प्राचीन काल में अपने इष्ट देव या गुरु के चारों ओर घूमकर
प्रदक्षिणा की जाती थी। उसका प्रारंभ गुरु के दाएं हाथ की ओर से
होता और प्रदक्षिणा करने वाले के शरीर का दायां भाग निरन्तर गुरु
की ओर रहता।^८ वृत्तिकार ने भी 'प्रदक्षिण' पद की व्याख्या के द्वारा
इसी बात की ओर संकेत किया है। इस प्रकार आदक्षिण और
प्रदक्षिण दोनों पद परिक्रमा की विधि के सूचक बन जाते हैं। प्रदक्षिण
का अर्थ नमस्कार या सम्मान-पूर्ण व्यवहार भी है।^९ षट्खण्डागम में
'आदाहीणं पदाहीणं' पाठ मिलता है। 'आदाहीणं' का अर्थ आत्माधीनम्
किया गया है।^{१०} इस प्रसंग में इस अर्थ की संगति विमर्शनीय है।
दिगम्बर सम्प्रदाय तथा दक्षिण भारत में प्रदक्षिणा की परम्परा आज
भी प्रचलित है। वर्तमान में श्वेताम्बर जैन परम्परा में इसका प्रचलन
नहीं है। अभी वंदना के समय हाथों को बद्धाञ्जलि कर दायी ओर
से प्रारंभ कर तीन बार घुमाने की परम्परा प्रचलित है। यह आवर्त
है, प्रदक्षिणा नहीं है, कृतिकर्म में बारह आवर्त किये जाते हैं।^{११}

१. भ.वृ.१।१०—श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थं तत्त्वज्ञानं प्रति।

२. पा.यो.द.व्यास-भाष्य, १।२०—श्रद्धा चेतसः संप्रसादः।

३. आटे.—जात—brought into existence; उत्पन्न—emerged
(उत्+पत्= to emerge into view); सञ्जात—grown; समुत्पन्न—
(सम्+उत्+पत्=) spring up, rise.

४. भ.वृ.१।१०—जाता प्रवृत्ता।

५. वही, १।१०—उत्पन्ना—प्रागभूता सती भूता।

६. (क) भ.वृ.१।१०।

(ख) भ.जो.प्रथम खण्ड, पृ. ४३ पादटिप्पण।

७. तुलना करें दसवे. ७।३५।

८. भ.वृ.१।१०—आदक्षिणाद्—दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणाः—परितो भ्राम्य-
तो दक्षिण एव आदक्षिण-प्रदक्षिणः।

९. आटे.—प्रदक्षिणः, प्रदक्षिणा, प्रदक्षिणम्—Circumambulation from
left to right so that the right side is always turned towards
the person or object circumambulated, a reverential
salutation made by walking in this manner.

१०. वही—प्रदक्षिण—respectful, reverential.

११. ष.खं.पु.१३, खं.५, भा.४, सू.२८, पृ.८८—तथादाहीणं पदाहीणं तिक्रुत्तुं...।

१२. (क) सम. १२।३—दुवालसावते कितिकम्मे पण्णत्ते [तं जहा—
दुओणयं जहाजायं, कितिकम्मे वारसावयं।

चउत्तिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥१॥]

(ख) ष.खं.धवला, पु.१३, खं.५, भा.४, सू.२८, पृ.८८—तियोणदं चदुत्तिरं
वारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम।

चलमाण-पदं

११. से नूणं भंते ! चलमाणे चलिए ? उदीरिजमाणे उदीरिए ? वेदिजमाणे वेदिए ? पहिजमाणे पहीणे ? छिजमाणे छिण्णे ? भिजमाणे भिण्णे ? दज्जमाणे दइडे ? मिजमाणे मए ? निज्जिजमाणे निज्जिण्णे ? हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए । उदीरिजमाणे उदीरिए । वेदिजमाणे वेदिए । पहिजमाणे पहीणे । छिजमाणे छिण्णे । भिजमाणे भिण्णे । दज्जमाणे दइडे । मिजमाणे मए । निज्जिजमाणे निज्जिण्णे ॥

१२. एए णं भंते ! नव पदा किं एगडा नाणाघोसा नाणावंजणा ? उदाहु नाणडा नाणाघोसा नाणावंजणा ? गोयमा ! चलमाणे चलिए, उदीरिजमाणे उदीरिए, वेदिजमाणे वेदिए, पहिजमाणे पहीणे—एए णं चत्तारि पदा एगडा नाणाघोसा नाणावंजणा उप्पण्णपक्खस्स । छिजमाणे छिण्णे, भिजमाणे भिण्णे, दज्जमाणे दहे, मिजमाणे मए, निज्जिजमाणे निज्जिण्णे—एए णं पंच पदा नाणडा नाणाघोसा नाणावंजणा विगय-पक्खस्स ॥

चलत्-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! चलत् चलितम् ? उदीर्यमाणम् उदीरितम् ? वेद्यमानं वेदितम् ? प्रहीयमाणं प्रहीणम् ? छिद्यमानं छिद्रम् ? भिद्यमानं भिद्रम् ? दह्यमानं दग्धम् ? प्रियमाणं मृतम् ? निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम् ? हन्त गौतम ! चलत् चलितम्, उदीर्यमाणम् उदीरितम्, वेद्यमानं वेदितम्, प्रहीयमाणं प्रहीणम्, छिद्यमानं छिद्रम्, भिद्यमानं भिद्रम्, दह्यमानं दग्धम्, प्रियमाणं मृतम्, निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम् ।

एते भदन्त ! नव पदाः किम् एकार्थाः नानाघोषाः नानाव्यञ्जनाः ? उताहो नानार्थाः नानाघोषाः नानाव्यञ्जनाः ? गौतम ! चलत् चलितम्, उदीर्यमाणम् उदीरितम्, वेद्यमानं वेदितम्, प्रहीयमाणं प्रहीणम्—एते चत्वारः पदाः एकार्थाः नानाघोषाः नानाव्यञ्जनाः उत्पन्नपक्षस्य । छिद्यमानं छिद्रम्, भिद्यमानं भिद्रम्, दह्यमानं दग्धम्, प्रियमाणं मृतम्, निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम्—एते पंच पदाः नानार्थाः नानाघोषाः नानाव्यञ्जनाः विगतपक्षस्य ।

चलमान-पद

११. भन्ते ! क्या चलमाण चलित, उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, प्रहीयमाण प्रहीण, छिद्यमान छिद्र, भिद्यमान भिद्र, दह्यमान दग्ध, प्रियमाण मृत, निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण होता है ?

हां, गौतम ! चलमाण चलित, उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, प्रहीयमाण प्रहीण, छिद्यमान छिद्र, भिद्यमान भिद्र, दह्यमान दग्ध, प्रियमाण मृत, निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण होता है ।

१२. भन्ते ! क्या ये नव पद एकार्थक, नानाघोष और नानाव्यञ्जन वाले हैं अथवा नाना-अर्थ, नानाघोष और नानाव्यञ्जन वाले हैं ? गौतम ! चलमाण चलित, उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित और प्रहीयमाण प्रहीण—ये चार पद उत्पाद-पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक, नानाघोष और नानाव्यञ्जन वाले हैं । छिद्यमान छिद्र, भिद्यमान भिद्र, दह्यमान दग्ध, प्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण—ये पांच पद व्यय-पक्ष की अपेक्षा से नाना-अर्थ, नानाघोष और नानाव्यञ्जन वाले हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ११, १२

प्रस्तुत आगम में गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर की एक शृंखला है। उस शृंखला का यह पहला प्रश्न है। इसके नीचे पद हैं। प्रत्येक पद का संबन्ध पुद्गल से है।

कार्य की उत्पत्ति के दो प्रकार हैं—नैसर्गिक और प्रायोगिक। नैसर्गिक कार्य की उत्पत्ति का कालमान एक 'समय' (काल का अविभाज्य अंश) है। प्रायोगिक कार्य की उत्पत्ति का कालमान दीर्घ होता है। अस्तित्व (सत्) का लक्षण है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय ये दोनों अस्थिरांश हैं, परिवर्तनचक्र के प्रतीक हैं। ध्रौव्य स्थिरांश है, वह अपरिवर्तनीय का प्रतिनिधित्व करता है। अस्तित्व परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों का समन्वय है।

उसे प्राचीन शब्दावली में 'अस्तिकाय' और उत्तरकालीन (दार्शनिक युग की) शब्दावली में 'द्रव्य' कहा जाता है। द्रव्य का ध्रौव्यांश सदा अनुत्पन्न रहता है। पर्यायांश की दृष्टि से वह उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों अस्तित्वगत हैं, इसलिए वह त्रैकालिक है।

प्रश्न उपस्थित हुआ कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों का काल अभिन्न है या भिन्न ? तीनों एक साथ होते हैं या भिन्न-भिन्न क्षणों में ? इस प्रश्न पर जैन दर्शन में नय-दृष्टि से विचार किया गया। आचार्य सिद्धसेन के अनुसार इन तीनों का काल अभिन्न भी है, और भिन्न भी।

१. सम्प्रति. ३।३५—

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य ।

अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥

क्रमवर्ती दो पर्यायों की दृष्टि से उत्पाद और व्यय समकालीन होते हैं। पूर्व पर्याय का अन्तिम बिन्दु और उत्तर पर्याय का आदि बिन्दु एक है। ठाणं के अनुसार चार अघ्रात्य कर्मों के क्षय और आत्मा के सिद्ध होने का समय एक ही है, क्योंकि ये दोनों क्रमवर्ती पर्याय हैं।^१ पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद जिस समय में होता है, उसी समय में वह वस्तु सामान्य रूप से स्थिर भी होती है। इस दृष्टि से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों का एक काल माना जा सकता है। एक पर्याय की दृष्टि से उत्पाद और व्यय का काल भिन्न होता है। एक पर्याय की उत्पत्ति का आदि बिन्दु और अन्तिम बिन्दु भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार दोनों की काल-सीमाओं में रहने वाला द्रव्य भी भिन्न हो जाता है। इसे हम घट के उदाहरण से समझने का प्रयत्न करेंगे। एक घट बन रहा है। वह एक समग्र घट के रूप में उत्पद्यमान है—बन रहा है। जितने भाग में वह बन चुका है, उतने रूप में वह उत्पन्न है—बन गया है और जो भाग बनना शेष है, उसकी अपेक्षा से वह घट उत्पत्त्यमान है—बनने वाला है। उस उत्पद्यमान घट में जितने पूर्व पर्याय छोड़े जाते हैं, वे विगच्छत्—नष्ट हो रहे हैं। जितना भाग बन चुका, उतने पर्याय विगमित—नष्ट हो चुके हैं। जो भाग बनना शेष है, उसके पर्याय विगमिष्यत्—नष्ट होने वाले हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक होता है।^२ जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य त्रैकालिक है और पर्याय वर्तमानकालिक है। यह परिणामी-नित्यवाद का सिद्धान्त है। इसमें द्रव्य और पर्याय दोनों मान्य हैं।

प्रस्तुत सूत्र द्रव्य के सामान्य पक्ष को गौण करके विशेष पक्ष को ग्रहण करने वाली नय-दृष्टि का सूत्र है। तत्त्वार्यराजवार्तिक और जयध्वला में प्रस्तुत सिद्धान्त की व्याख्या ऋजुसूत्र के नय के दृष्टिकोण से है। ऋजुसूत्र वर्तमान पर्याय की सत्ता का प्रतिपादन करता है। 'पच्यमान-पक्व' इसमें दो पक्ष हैं। पच्यमान वर्तमान है और पक्व

अतीत। ये दोनों विरोधी धर्म एक साथ कैसे हो सकते हैं? आचार्य ने इस प्रश्न के समाधान में बताया है कि पचन-क्रिया के पहले अविभागी समय में वस्तु का कोई अंश पका या नहीं पका? यदि नहीं पका तो वह दूसरे आदि समयों में भी नहीं पकेगा! इस पक्व-अंश की अपेक्षा से यह 'पच्यमान-पक्व' सिद्धान्त सही है। जितने अंश में वस्तु पक चुकी है, उसकी अपेक्षा से वह वस्तु पक्व है। उसका पूरा पक नहीं हुआ है, इस अपेक्षा से वह पच्यमान भी है।^३ अभयदेवसूरि ने इस सिद्धान्त को पट के उदाहरण से समझाया है। यदि प्रथम तंतु-प्रवेश के समय पट उत्पन्न नहीं होता है, तो फिर वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता तथा क्रिया की व्यर्थता सिद्ध होगी।^४ आचार्य मलयगिरि ने भी क्रियमाण-कृत, अभ्यवहियमाण-अभ्यवहृत (खाया जा रहा—खाया जा चुका) और परिणम्यमाण-परिणत—(जिसका परिणमन हो रहा है—परिणमन हो चुका) इस सिद्धान्त की स्वीकृति ऋजुसूत्र नय द्वारा बतलाई है।^५ प्रस्तुत दृष्टिकोण का निष्कर्ष यह है कि उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया को समझने के लिए द्रव्य और पर्याय के संयुक्त रूप का स्वीकार आवश्यक है। केवल द्रव्य या केवल पर्याय के आधार पर उत्पत्ति या विनाश की व्याख्या नहीं की जा सकती।

एक समय में एक द्रव्य में अनेक उत्पाद और विनाश होते हैं और अनेक ध्रौव्य भी होते हैं।^६

'चलमाणे चलिए' आदि नव पद हैं। इनमें पहले चार पद उत्पाद-पर्याय की अपेक्षा से और शेष पांच पद व्यय-पर्याय की अपेक्षा से बतलाए गए हैं। अभयदेवसूरि ने पहले चार पदों की व्याख्या 'केवलज्ञान' के उत्पाद की अपेक्षा से की है। इस व्याख्या में उन्होंने पूर्ववर्ती टीकाकार के मत का अनुसरण किया है। उनके अनुसार जो कर्म चलित होते हैं, उनकी ही उदीरणा होती है। उदीरित का ही वेदन होता है, और वेदित का ही क्षय होता है;

१. (क) ठाणं, ४।१४४—पढमसमयसिद्धस्स षं चत्तारि कम्मंसा जुगवं खिञ्जति, तं जहा—वेयणिञ्जं, आउयं, णामं, गोतं।

(ख) जयाचार्य, झीणी चरचा, ढाल १७, गा. ६—

प्रथम समय नां सिद्ध च्यार कर्मा नां अंश खपावै रे।

चौथे ठाणे प्रथम उद्देशे, बुद्धिवंत न्याय मिलावै रे ॥

२. सम्मति. ३।३६, ३७—

जो आउंचणकालो सो चेव पसारियस्स वि ष जुत्तो।

तेसिं पुण पडिवत्ती—विगमे कालंतरं णत्थि ॥

उपपज्जमाणकालं उपपणं ति विगयं विगच्छंत्तं।

दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥

३. (क) त. रा. वा. १।३३, पृ. ६७।

(ख) क. पा. प्रथम अधिकार, पृ. २०३, २०४।

४. भ. वृ. १।११—कथं पुनस्तद्वर्तमानं सदतीतं भवतीति? अत्रोच्यते—यथा पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एवोत्पन्नो भवतीति, उत्पद्यमानत्वं च तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यते इत्येवं व्यपदेशदर्शनात् प्रसिद्धमेव, उत्पन्नत्वं तुपपत्त्या प्रसाध्यते, तथाहि—उत्पत्तिक्रियाकाल एव

प्रथमतन्तुप्रवेशेऽसवुत्पन्नः, यदि पुनर्नोत्पन्नोऽभविष्यत्तदा तस्याः क्रियाया वैयर्थ्यमभविष्यत् निष्फलत्वाद्, उत्पाद्योत्पादनार्था हि क्रियाः भवन्ति, यथा च प्रथमे क्रियाक्षणे नासावुत्पन्नस्तथोत्तरेष्वपि क्षणेष्वनुत्पन्न एवासी प्राप्नोति, को ह्युत्तरक्षणक्रियाणामात्मनि रूपविशेषो? येन प्रथमया नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्याद्यते, अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः, दृष्टा चोत्पत्तिः, अन्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात्, अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाल एव किञ्चिदुत्पन्नं पटस्य यावद्योत्पन्नं न तदुत्तरक्रियायोत्पाद्यते, यदि पुनरुत्पाद्येत तदा तदेकदेशोत्पादन एव क्रियाणां कालानां च क्षयः स्यात्, यदि हि तदंशोत्पादननिरपेक्षा अन्याः क्रिया भवन्ति तदोत्तरांशानुक्रमणं युज्येत, नान्यथा।

५. प्रज्ञा. वृ. प. ५०६—इह प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनां करोति नयः ऋजुसूत्रो न शेषा नैगमादयः, ऋजुसूत्रश्च क्रियमाणं कृतं अभ्यवहियमाणमभ्यवहृतं परिणम्यमाणं परिणतमभ्युपगच्छति।

६. सम्मति. ३।४१—

एगसमयमि एकदवियस्स बहुया वि होति उप्पाया।

उप्पायसमा विगमा टिईउ उस्सग्गओ णियमा ॥

इसलिए ये चार पद एकार्थक हैं—एक ही उत्पाद-पर्याय को सिद्ध करने वाले हैं।^१ अन्तिम पांच पद भिन्नार्थक हैं—व्यय-पर्याय के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन करने वाले हैं।^२

आचार्य अकलंक ने 'चलमाणे चलिए' सिद्धान्त की व्याख्या ऋजुसूत्र नय के आधार पर की है। अभयदेवसूरि इसकी व्याख्या निश्चय नय के आधार पर करते हैं। उनका अभिमत यह है कि व्यवहार नय की दृष्टि से जो चलित हो गया, वह चलित कहलाता

है। निश्चय नय की दृष्टि से चलत् भी चलित कहलाता है।^३

इस सिद्धान्त में पर्याय की प्रधानता है; इसलिए ऋजुसूत्र नय के साथ इसकी अधिक संगति है। अभयदेवसूरि ने इन नौ पदों की व्याख्या कर्म के आधार पर की है। उन्होंने मतान्तर का भी उल्लेख किया है। मतान्तर के द्वारा इन पदों की व्याख्या सामान्य रूप से की गई है।^४ इसलिए इन्हें केवल कर्म के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। दोनों अभिमतों की जानकारी के लिए निम्नांकित कोष्टक देखें—

वृत्ति का मत		मतान्तर
१. चलन	अकर्म-स्कन्धों का विपाक के अभिमुख होना, उदय में आना।	अस्थिर पर्याय
२. उदीरण	आगामी काल में उदय में आने वाले कर्म का प्रयत्न के द्वारा उदय में प्रक्षेपण करना।	स्थिर वस्तु को प्रेरित करना।
३. वेदन	उदय में आए हुए कर्म-स्कन्धों का वेदन करना।	कम्पमान पर्याय।
४. ग्रहाप	जीव-प्रदेशों से कर्म-स्कन्धों का पृथक् होना।	गिरना—स्थान से च्युत होना।
५. छेदन	स्थितिबन्ध का छेदन, स्थिति का अल्पीकरण।	कुठार आदि से होने वाला छेदन।
६. भेदन	अनुभाग का भेदन, कर्म के रस का मन्दीकरण।	खण्डखण्ड किया जाने वाला भेदन पर्याय।
७. दहन	कर्मस्कन्धों का प्रज्वलन।	अग्नि के द्वारा होने वाली ज्वलन-क्रिया।
८. मरण	आयुष्य के कर्म-स्कन्धों का समापन।	प्राण-त्याग।
९. निर्बरा	समस्त कर्म-स्कन्धों का जीव-प्रदेशों से पृथक् होना। ^५	पृथग्भवन अथवा बहुत पुराना होना।

इस क्रियाकाल और निष्ठाकाल (सम्पन्नता-काल) के अभेद के सिद्धान्त का प्रस्तुत आगम में अनेक बार प्रयोग किया गया है— १।३।७१ में यह 'क्रियमाण-कृत' के रूप में उल्लिखित है। १।४।४२, ४३ में यह सिद्धान्त पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में निरूपित है। ६।२।२२८ में जमाली ने इस सिद्धान्त के प्रति विप्रतिपत्ति प्रकट की है। १२।१।५६-१६१ में यह सिद्धान्त 'उपपद्यमान-उत्पन्न' के रूप में प्रतिपादित हुआ है।

शब्द-विमर्श

एकार्थक—एक अर्थ या प्रयोजन वाले।

नानार्थक—भिन्न अर्थ या प्रयोजन वाले।

नानाधोष—विभिन्न उदात्त आदि धोषों से युक्त।

नानाव्यञ्जन—विभिन्न अक्षरों से युक्त।

नेरइयाणं ठित्तिआदि-पदं

नैरयिकाणां स्थित्वादि-पदम्

नैरयिकों की स्थिति आदि का पद

१३. नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठित्ती पण्णत्ता ?
गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं,
उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवभाइं ठित्ती पण्णत्ता ॥

नैरयिकाणां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?
गौतम ! जघन्यतः दश वर्षसहस्राणि, उत्कर्षतः त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

१३. भन्ते ! नैरयिक जीवों की स्थिति कितने काल की प्रज्ञप्त है ?
गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति प्रज्ञप्त है।

१. म.वृ. १।१२—एषां च पदानामेकार्थानामपि सतामयमर्थः सामर्थ्यप्रापितक्रमः, यदुत—पूर्वं तस्मैलति—उदेतीत्यर्थः, उदितं च वेद्यते अनुभूयत इत्यर्थः। तच्च द्विधा—स्थितिक्षयादुदयप्राप्तं उदीरणया चोदयमुपनीतं, ततश्चानुभवानन्तरं तत् प्रहीयते, दत्तफलत्वाऽरीवाद्यपयातीत्यर्थः। एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातम्।
२. वही, १।१२—छिद्यमानपदे हि स्थितिखण्डनं विगम उक्तः, मिद्यमानपदे त्वनुभावभेदो विगमः, दह्यमानपदे त्वकर्मताभवनं विगमः, त्रियमाणपदे पुनरायुः-कर्मभावो विगमः, निर्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगम उक्तः। तदेवमेतानि विगतपक्षस्य प्रतिपादकानीत्युच्यन्ते।

३. वही, १।१२—न च वक्तव्यं—किमेतैश्चलनादिभिरिह निरूपितैः ? अतत्त्वरूपत्वादेशाम्। अतत्त्वरूपत्वस्यासिद्धत्वात् तदसिद्धिश्च निश्चयनयमतेन वस्तु-स्वरूपस्य प्रज्ञापयितुमारब्धत्वात्, तथाहि—व्यवहारनयश्चित्तमेव चलितमिति मन्यते, निश्चयनयस्तु चलदपि चलितमिति।

४. वही, १।१२—अन्ये तु कर्मोत्पिपदस्य सूत्रेऽनभिधानाच्चलनादिपदानि सामान्येन व्याख्यान्ति, न कम्पयिष्यैव।

५. वही, १।११, १२।

१४. नेरइया णं भंते ! केवइकालस्स
आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति
वा ? णीससंति वा ?
जहा उस्सासपदे ॥

नैरयिका: भदन्त ! कियत्कालाद् आनन्ति वा?
अपानन्ति वा ? उच्छ्वासन्ति वा ? निःश्व-
सन्ति वा ?
यथा उच्छ्वासपदे ।

१४. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल से आन,
अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं?^१
यह पण्णवणा के 'उच्छ्वास-पद' (७) की भांति
वक्तव्य है ।

भाष्य

१. आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं

व्याकरण की दृष्टि से अन् और श्वस् दोनों एकार्थक धातुएं हैं—अन-श्वसुक-प्राणने। इस आधार पर आणमंति और ऊससंति को दोहरा प्रयोग कहा जा सकता है। सूत्र-रचनाशैली के अनुसार इस प्रकार के दोहरे प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलते हैं।

आन का अर्थ है—'श्वास लेना' और अपान का अर्थ है—'श्वास छोड़ना'।^१ वृत्तिकार के अनुसार इन्हीं दोनों पदों को स्पष्ट करने के लिए उच्छ्वास और निःश्वास पद का प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में आनमन्ति की णमु धातु से संबंध-योजना की है।^२

कुछ आचार्यों के मतानुसार श्वासोच्छ्वास दो प्रकार का होता है—आध्यात्मिक (आन्तरिक) श्वासोच्छ्वास और बाह्य श्वासोच्छ्वास। आध्यात्मिक श्वास, निःश्वास को आन, अपान तथा बाह्य को उच्छ्वास, निःश्वास कहा जाता है।

व्यावहारिक भाषा में प्राण और श्वास दोनों एकार्थक माने जाते हैं, किन्तु वास्तव में दोनों एक नहीं हैं। प्राण हमारी जीवनी-शक्ति है और श्वास वायुमण्डल से लिए जाने वाले श्वास-वर्गणा के पुद्गल हैं। प्रस्तुत सूत्र में श्वासोच्छ्वास-प्राण और श्वासोच्छ्वास इन दोनों

का निर्देश है।

'पण्णवणा' सूत्र में कहा गया है कि नैरयिक जीव निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त दुःखी हैं।^३ जो अत्यन्त दुःखी होता है, वह निरन्तर श्वास लेता है और निरन्तर श्वास छोड़ता है। श्वासोच्छ्वास-प्राण की क्रिया के लिए 'आनमन्ति पाणमन्ति' का तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया के लिए 'ऊससंति णीससंति' का प्रयोग किया गया है।

प्राण और श्वास दोनों में गहरा सम्बन्ध है। श्वास के साथ प्राण-तत्त्व का आकर्षण होता है। श्वास लेते समय प्राण-शक्ति और श्वास छोड़ते समय अपान-शक्ति सक्रिय रहती है। इसलिए उच्छ्वास-निःश्वास की आन्तरिक शक्ति को आनापान और बाहरी शक्ति को उच्छ्वास-निःश्वास कहा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण में ऑक्सीजन का ग्रहण और कार्बन-डाइऑक्साइड का निष्कासन फुफ्फुस में भी होता है और शरीर की कोशिकाओं में भी होता है। फुफ्फुस और कोशिकाओं के भीतर होने वाली ये क्रियाएं क्रमशः बाह्य और आन्तरिक शक्ति की प्रक्रियाएं हैं। इनकी क्रमशः उच्छ्वास-निःश्वास और आनापान के साथ तुलना की जा सकती है।

१५. नेरइया णं भंते ! आहारदी ?

नैरयिका: भदन्त ! आहारार्थिनः?

१५. भन्ते ! क्या नैरयिक जीव आहार की इच्छा करते हैं ?

हंता गोयमा ! आहारदी । जहा पण्णवणाए
पढमए आहारुद्देशए तथा भाणियब्बं—

हन्त गीतम ! आहारार्थिनः । यथा प्रज्ञापनायां
प्रथमकः आहारोद्देशकः तथा भणितव्यः ।

हां, गीतम ! वे आहार की इच्छा करते हैं। यह पण्णवणा के 'आहार-पद' (२८) के प्रथम उद्देशक की भांति वक्तव्य है।

संग्रहणी गाथा

ठिई उस्सासाहारे,
किं वाऽऽहरंति सच्चओ वाधि,
कतिभागं सच्चाणि व,
कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

स्थितिः उच्छ्वासाहारी,
किं वाऽऽहरन्ति सर्वतो वापि ।
कतिभागं सर्वाणि वा,
कीदृशं वा भूयः परिणमन्ति ? ॥

संग्रहणी गाथा

नैरयिकों की स्थिति कितनी है ? वे कितने काल से उच्छ्वास लेते हैं ? क्या वे आहार के इच्छुक हैं ? वे किस प्रकार का आहार करते हैं ? वे सब आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं ? वे कितने भाग का आहार करते हैं ? वे आहार-परिणाम-योग्य सब पुद्गलों का आहार करते हैं ? वे उसका किस रूप में परिणमन करते हैं ?

१. आपटे. —आन—Inhalation अपान—Breathing out.

धसनार्थत्वात् ।

२. भ. वृ. १/१४—अथवा आनमन्ति प्राणमन्तीति 'णमु प्रहृत्वे' इत्यस्यानेकार्थत्वेन

३. पण्ण. ७/१

१६. नेरइयाणं भंते ! पुब्बाहारिया पोग्गला परिणया ?
 आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया ?
 अणाहारिया आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ?
 अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ?
 गोयमा ! नेरइयाणं पुब्बाहारिया पोग्गला परिणया ।
 आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया परिणमंति य ।
 अणाहारिया आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्संति ।
 अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला णो परिणया, णो परिणमिस्संति ॥

१७. नेरइयाणं भंते ! पुब्बाहारिया पोग्गला चिया? पुच्छा—
 जहा परिणया तथा चिया वि ॥

१८. एवं उवचिया, उदीरिया, वेइया, निज्जिण्णा ।

संगहणी गाहा

परिणय चिया उवचिया
 उदीरिया वेइया य निज्जिण्णा ।
 एकैकम्मि पदम्मि,
 चउब्बिहा पोग्गला होंति ॥ १ ॥

१९. नेरइयाणं भंते ! कइविहा पोग्गला भिज्जंति ?
 गोयमा ! कम्मदब्बवग्गणमहिक्किच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति, तं जहा—अणू चेव, बादरा चेव ॥

२०. नेरइयाणं भंते ! कइविहा पोग्गला चिज्जंति ?
 गोयमा ! आहारदब्बवग्गणमहिक्किच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति, तं जहा—अणू चेव, बादरा चेव ॥

२१. एवं उवचिज्जंति ॥

नेरयिकाणां भदन्त ! पूर्वाहताः पुद्गलाः परिणताः ?
 आहताः आहियमाणाः पुद्गलाः परिणताः ?
 अनाहताः आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः ?
 अनाहताः अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः ?
 गौतम ! नेरयिकाणां पूर्वाहताः पुद्गलाः परिणताः ।
 आहताः आहियमाणाः पुद्गलाः परिणताः परिणन्ति च ।
 अनाहताः आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, परिणंस्यन्ति ।
 अनाहताः अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, नो परिणंस्यन्ति ।

नेरयिकाणां भदन्त ! पूर्वाहताः पुद्गलाः चिताः ? पृच्छा—
 यया परिणताः तथा चिताः अपि ।

एवम् उपचिताः, उदीरिताः, वेदिताः, निर्जीर्णाः ।

संग्रहणी गाथा

परिणताः चिताः उपचिताः,
 उदीरिताः वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।
 एकैकस्मिन् पदे,
 चतुर्विधाः पुद्गलाः भवन्ति ॥

नेरयिकाणां भदन्त ! कतिविधाः पुद्गलाः भिद्यन्ते ?
 गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणमधिकृत्य द्विविधाः पुद्गलाः भिद्यन्ते, तद् यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव ।

नेरयिकाणां भदन्त ! कतिविधाः पुद्गलाः चीयन्ते ?
 गौतम ! आहारद्रव्यवर्गणमधिकृत्य द्विविधाः पुद्गलाः चीयन्ते, तद् यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव ।

एवम् उपचीयन्ते ।

१६. भन्ते ! क्या नेरयिक जीवों के पूर्वगृहीत पुद्गल परिणत हुए हैं ?
 पूर्वगृहीत और गृह्यमाण पुद्गल परिणत हुए हैं ?

पूर्वअगृहीत और भविष्य में गृह्यमाण पुद्गल परिणत हुए हैं ?

पूर्वअगृहीत और भविष्य में अगृह्यमाण पुद्गल परिणत हुए हैं ?

गौतम ! नेरयिक जीवों के पूर्वगृहीत पुद्गल परिणत हुए हैं ।

पूर्वगृहीत और गृह्यमाण पुद्गल परिणत हुए और परिणत हो रहे हैं ।

पूर्वअगृहीत और भविष्य में गृह्यमाण पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं, किन्तु वे परिणत होंगे ।

पूर्वअगृहीत और भविष्य में अगृह्यमाण पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं और परिणत नहीं होंगे ।

१७. भन्ते ! क्या नेरयिक जीवों के पूर्वगृहीत पुद्गल चित हुए हैं ? यह प्रश्न है ।

जैसे परिणत का सूत्र है, चित का सूत्र भी वैसे ही वक्तव्य है ।

१८. इसी प्रकार उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण वक्तव्य हैं ।

संग्रहणी गाथा

परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण—इनमें से प्रत्येक पद में पुद्गल के पूर्वोक्त चार भंग होते हैं ।

१९. भन्ते ! नेरयिक जीवों के पुद्गलों का भेदन कितने प्रकार का होता है ?

गौतम ! कर्म-पुद्गल-वर्गण^२ की अपेक्षा से पुद्गलों का भेदन दो प्रकार का होता है, जैसे—अणु और बादर ।

२०. भन्ते ! नेरयिक जीवों के पुद्गलों का चय कितने प्रकार का होता है ?

गौतम ! आहार-पुद्गल-वर्गण^३ की अपेक्षा से पुद्गलों का चय दो प्रकार का होता है, जैसे—अणु और बादर ।

२१. इसी प्रकार उपचय वक्तव्य है ।

२२. नेरइया णं भंते ! कइविहे पोग्गले उदी-
रेंति ?

गोयमा ! कम्मदब्बवग्गणमहिक्किच्च उचिहे
पोग्गले उदीरेंति, तं जहा—अणू चेव,
बादरा चेव ॥

नेरयिका: भदन्त ! कतिविधान् पुद्गलान्
उदीरयन्ति ?

गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणमधिकृत्य द्विविधान्
पुद्गलान् उदीरयन्ति, तद् यथा—अणूश्चैव,
बादरांश्चैव ।

२२. भन्ते ! नेरयिक जीव पुद्गलों की उदीरणा
कितने प्रकार की करते हैं ?

गौतम ! कर्म-पुद्गल-वर्गण की अपेक्षा में दो
प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, जैसे—
अणु और बादर ।

२३. सेसा वि एवं चेव भाणियन्वा—वेदेति,
निज्जेरेंति ॥

शेषा: अपि एवं चेव भाणितव्याः—वेदयन्ति,
निर्जोरयन्ति ।

२३. शेष सूत्र भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं—वेदन
करते हैं, निर्जरा करते हैं ।

२४. एवं ओयट्ठेंसु, ओयट्ठेंति, ओयट्ठिस्संति ।

संकाभिसु, संकामेति, संकामिस्संति ।
निहत्तिसु, निहत्तेति, निहत्तिस्संति ।

निकाएसु, निकायंति, निकाइस्संति ।

एवम् अपावर्तिषत्, अपवर्तन्ते, अपवर्ति-
ष्यन्ते ।

समक्रामिषुः, संक्रामन्ति, संक्रमिष्यन्ति ।
अनिधत्तयिषुः, निधत्तयन्ति, निधत्तयि-
ष्यन्ति ।

अनिकाचयिषुः, निकाचयन्ति, निकाचयि-
ष्यन्ति ।

२४. इसी प्रकार अपवर्तन किया था, करते हैं और
करेंगे ।

संक्रमण किया था, करते हैं और करेंगे ।
निधत्तन किया था, करते हैं और करेंगे ।

निकाचन किया था, करते हैं और करेंगे ।

संगहणी गाहा

भेदिया चिया उवचिया,
उदीरिया वेदिया य निज्जिण्णा ।
ओयट्ठणसंक्रामण-
निहत्तणनिकायणे तिबिहकालो ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

भेदिता: चिता: उपचिताः,
उदीरिता: वेदिताश्च निर्जोर्णाः ।
अपवर्तनसंक्रमण-
निधत्तननिकाचनानि त्रिविधकालः ॥

संग्रहणी गाथा

भेदित, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, निर्जीणं,
अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन—
इन पदों के साथ अतीत, वर्तमान और अनागत
तीनों काल वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र १६-२४

सोलहवें सूत्र से चौबीसवें सूत्र तक कुछ विशिष्ट शब्द प्रयुक्त
हुए हैं—परिणमन, भेद, चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, निर्जरा,
अपवर्तना, उद्वर्तना, संक्रमण, निधत्ति और निकाचना ।

परिणमन—अवस्थान्तर होना ।

भेद—पृथक् होना ।

चय, उपचय—वृद्धि, अतिवृद्धि ।

उदीरणा आदि सभी पद कर्म-पुद्गलों से सम्बद्ध हैं—

उदीरणा—जो कर्म-पुद्गल अनुदित हैं, उनका परिणामविशेष
के द्वारा उदय-प्राप्त कर्मदलिकों में प्रक्षेप कर देना ।

वेदना—उदय-प्राप्त कर्म-पुद्गलों का जब तक उनका अनुभाग
या रसविपाक समाप्त न हो जाए, तब तक अनुभव करना ।

निर्जरा—वेदना के पश्चात् पुद्गलों का जीव-प्रदेशों से पृथक्
होना ।

भोगे हुए पुद्गल वेदित और पृथक् हुए पुद्गल निर्जीण
कहलाते हैं ।

अपवर्तना—वीर्यविशेष के द्वारा कर्म की स्थिति और अनुभाग
को क्रम करना ।

उद्वर्तना—वीर्यविशेष के द्वारा कर्म की स्थिति और अनुभाग
को बढ़ा देना ।

संक्रमण—वीर्यविशेष के द्वारा सजातीय कर्म-प्रकृतियों का एक
दूसरे में संक्रान्त होना । इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—
ये चारों एक रूप से दूसरे रूप में संक्रान्त हो जाते हैं । जैसे कोई
व्यक्ति सातवेदनीय कर्म का अनुभव कर रहा है, उस समय उसके
अशुभ कर्म की परिणति प्रचल हो गई; परिणामस्वरूप सातवेदनीय
असातवेदनीय में संक्रान्त हो गया ।

संक्रमण के कुछ अपवाद हैं—आयुष्य कर्म का चार उत्तर
प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता । इसी प्रकार मोह कर्म की

१. ५. वृ. १।२४—यथा कस्यचित् सद्देधमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवैवधा जाता
येन तदेव सद्देधमसद्देधतया संक्रामतीति ।

मुख्य दो प्रकृतियाँ—दर्शनमोह और चारित्रमोह का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता।

निधत्ति—वीर्यविशेष के द्वारा कर्म को उद्धर्तना और अपवर्तना के अतिरिक्त शेष करणों के अयोग्य बना देना।

निकाचना—वीर्यविशेष के द्वारा कर्म को उस अवस्था में व्यवस्थापित करना, जो उद्धर्तना आदि किसी भी करण के द्वारा बदला न जा सके; जो अवश्य भोगा जाए।^१

कर्मशास्त्र में बन्धन, संक्रमण, उद्धर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमना, निधत्ति और निकाचना ये आठ करण माने जाते हैं।^१

प्रस्तुत प्रकरण में अपवर्तना, संक्रमण, निधत्ति और निकाचना इन चार करणों का उल्लेख है। वृत्तिकार ने उपलक्षण से उद्धर्तना का ग्रहण किया है।^१

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए ढाणं, ४।२६०-२६६, के टिप्पण ७०-७६ द्रष्टव्य हैं।

महावीर का दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्मवादी दर्शन के तीन मुख्य फलित हैं—१. पुरुषार्थवाद २. कर्मवाद ३. पुनर्जन्मवाद।

पुरुषार्थवाद ईश्वर-कर्तृत्व का अस्वीकार है। ईश्वर-कर्तृत्व और पुरुषार्थ दोनों की एक-साथ सार्थकता सिद्ध नहीं होती। यदि ईश्वर-कर्तृत्व है तो पुरुषार्थ व्यर्थ होगा और यदि पुरुषार्थ की सार्थकता है, तो ईश्वर-कर्तृत्व अर्थहीन बन जाएगा। ईश्वर-कर्तृत्व के आधार पर प्राणी-जगत् में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती; इसलिए भगवान् महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह आत्म-कर्तृत्ववाद है। प्रत्येक आत्मा अपने वीर्य के द्वारा कुछ करता है और उसका परिणाम भुगतता है।

आत्मा के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह कर्म है। कर्म का एक अर्थ है प्रवृत्ति और उसका दूसरा अर्थ है प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा के साथ कर्मप्रायोग्य पुद्गलों का बंध या संबंध।

पुरुषार्थवाद और कर्मवाद में विरोध प्रतीत होता है। यदि प्राणी-जगत् में होने वाला परिवर्तन कर्म के द्वारा सम्पादित होता है, तो पुरुषार्थ की व्यर्थता सिद्ध होगी और यदि वह पुरुषार्थ के द्वारा सम्पादित होता है, तो कर्म की व्यर्थता हो जायेगी। इस विरोध का भगवान् महावीर ने परिहार किया। उनका दर्शन है कि कर्म पुरुषार्थ के द्वारा किया जाता है। पुरुषार्थ कर्म के द्वारा नहीं किया जाता। इसलिए प्राणी-जगत् में होने वाले परिवर्तन का मूल हेतु पुरुषार्थ है। कर्म उसका गौण हेतु है। पुरुषार्थ के द्वारा किये हुए कर्म को भी बदला जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र में बदलने के चार नियम निर्दिष्ट हैं—उदीरणा, अपवर्तना, उद्धर्तना और संक्रमण।

पुरुषार्थ की भी सीमा है। उसके द्वारा सब कुछ नहीं किया जा सकता। कुछ कर्म अपरिवर्तनीय भी हैं, जैसे—निकाचित कर्म पुरुषार्थ के द्वारा बदला नहीं जा सकता। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में

पुरुषार्थ और कर्म की सीमा-विषयक एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। वह यह है कि पुरुषार्थ और कर्म दोनों सापेक्ष हैं। कर्म सर्वशक्तिसम्पन्न नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ भी सर्वशक्तिसम्पन्न नहीं है। निकाचित कर्म को बदलने के लिए वह अकिञ्चित्कर हो जाता है। इसलिए दोनों की शक्ति सापेक्ष है, कहीं कर्म बलवान् है और कहीं पुरुषार्थ।

बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थों के मुंह से संक्रमण-विरोधी तथा परिवर्तन-विरोधी बातें कहलाई गई हैं, जैसे—“और फिर भिक्षुओ! मैं उन निगंटों को ऐसा कहता हूँ—तो क्या मानते हो आवुसो! निगंटो! जो यह इसी जन्म में वेदनीय (भोगा जाने वाला) कर्म है, वह उपक्रम से (या प्रधान से) संपराय (दूसरे जन्म में) वेदनीय किया जा सकता है?”

‘नहीं, आवुस !’

‘और जो यह जन्मान्तर (संपराय) वेदनीय कर्म है, वह—उपक्रम से (या प्रधान से) इस जन्म में वेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो, आवुसो! निगंटो! जो यह सुख-वेदनीय (सुख भोग करने वाला) कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) दुःखवेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो, आवुसो निगंटो! जो यह दुःख वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) सुख-वेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो आवुसो! निगंटो! जो यह अवेदनीय कर्म है, क्या उपक्रम से (या प्रधान से) वेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो आवुसो! निगंटो! जो यह परिपक्व अवस्था (बुद्धापा) वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) अपरिपक्व वेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो आवुसो! निगंटो! जो यह अपरिपक्व (शैशव, जवानी) वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) परिपक्व-वेदनीय किया जा सकता है?’

‘नहीं, आवुस !’

‘तो क्या मानते हो आवुसो! निगंटो! जो यह बहु-वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) अल्प-वेदनीय किया जा

१. भ.वृ. १।१६।

२. कर्मप्रकृति, बंधनकरण, गा. २—

बंधणसंकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया।

उवसामणा निहत्ती निकायणा रत्ति करणाइं ॥

३. भ.वृ. १।२४—अपवर्तनस्य धोपलक्षणत्वादुद्धर्तनमपीह दृश्यं, तच्च स्थित्या-
देवृद्धिकरण-स्वरूपम्।

सकता है ?'

'नहीं, आवुस !

'तो क्या मानते हो आवुसो ! निगठो ! जो यह अल्प-वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) बहु-वेदनीय किया जा सकता है ?'

'नहीं, आवुस !'

'इस प्रकार आवुसो ! निगठो ! जो यह वेदनीय कर्म है, क्या वह उपक्रम से (या प्रधान से) अवेदनीय किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस !'

'ऐसा होने पर आयुष्मान् निगठों का उपक्रम निष्फल हो जाता है, प्रधान निष्फल हो जाता है।'

२. सूत्र १६

सूत्र १६ से आगे अनेक सूत्रों में अणु और बादर शब्द का प्रयोग हुआ है। अणु का अर्थ है सूक्ष्म और बादर का अर्थ है स्थूल। कर्म-पुद्गल चतुःस्पर्शी होने के कारण सूक्ष्म होते हैं, उनकी स्थूल परिणति नहीं होती। आहार-द्रव्य के पुद्गल अष्टस्पर्शी होने के कारण केवल स्थूल होते हैं, उनकी सूक्ष्म परिणति नहीं होती। इस अवस्था में कर्म-पुद्गलों को स्थूल और आहार-पुद्गलों को सूक्ष्म सापेक्ष दृष्टि से कहा गया है। वृत्तिकार ने उस अपेक्षा का स्पष्टीकरण किया है। उसके अनुसार कर्म-द्रव्य की सूक्ष्मता और स्थूलता कर्मपुद्गलों की अपेक्षा से है, किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार आहार-पुद्गलों की सूक्ष्मता और स्थूलता भी स्ववर्गणा की अपेक्षा से है, किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा से नहीं।

३. कर्म-पुद्गल-वर्गणा

वर्गणा का अर्थ है समान जाति वाले तत्त्वों का वर्गीकरण। जीव और पुद्गल दोनों की अपनी-अपनी वर्गणाएं होती हैं। ठाण में इसका विशद वर्णन मिलता है। वहां पहले जीवों की अनेक वर्गणाएं बतलाई गई हैं।^१ उसके पश्चात् परमाणु और स्कन्धों की वर्गणाएं निर्दिष्ट हैं।^२

पौद्गलिक वर्गणाओं के मुख्य आठ प्रकार हैं—१. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा ३. आहारक वर्गणा ४. तैजस वर्गणा ५. भाषा वर्गणा ६. धासोच्छ्वास वर्गणा ७. मनोवर्गणा ८. कर्मण वर्गणा।^३

इस प्रकार वर्गणाओं के अनेक प्रकार हैं।^४

४. आहार-पुद्गल-वर्गणा

औदारिक, वैक्रिय और अहारक इन तीन शरीरों तथा छहों पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण का नाम आहार है। यह आचार्य अकलंक की परिभाषा है।^५ पञ्चसंग्रह के अनुसार औदारिक आदि तीन शरीरों की वर्गणा तथा भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने वाला आहारक कहलाता है।^६ इस परिभाषा के अनुसार भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करना भी आहार है। इससे यह फलित होता है कि अहारक की व्याख्या में आहार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है।

'कर्म प्रकृति' में तीन शरीर की वर्गणा के ग्रहण को आहार बतलाया गया है।^७

ये परिभाषाएं ओज आहार की अपेक्षा से की गई हैं।

जो खाया-पिया जाता है, वह आहार है, यह सामान्य धारणा है। विमर्श करने पर इसका अर्थ बहुत व्यापक है। आहार के चार प्रकार हैं—ओज आहार, लोम आहार, प्रक्षेप आहार, मनोमक्ष्य आहार।^८ ओज आहार तैजस और कर्म-शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है। कोई प्राणी मृत्यु के पश्चात् दूसरे जन्म-स्थल में पहुंचकर सर्वप्रथम आहार लेता है, वह ओज आहार कहलाता है।^९ उस समय उस प्राणी के स्थूल शरीर नहीं होता, इसलिए वह तैजस शरीर और उसके सहवर्ती कर्म शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है। औदारिक या वैक्रिय शरीर के निष्पत्तिकाल में औदारिक मिश्र या वैक्रिय मिश्र का योग भी उसमें प्राप्त होता है।^{१०} औदारिक या वैक्रिय शरीर की पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् प्राणियों के लोम आहार होता है। यह त्वचा (स्पर्शनिन्द्रिय) के द्वारा जीवन्पर्यन्त निरन्तर गृहीत होता है। प्रक्षेप आहार मुख के द्वारा गृहीत होने वाला आहार है।

१. मज्झिम निकाय, देवदत्तसुत्त, ३।१।१।

२. भ.वृ.१।१९६—तत्तश्चापदश्च बादराश्च, सूक्ष्माश्च स्थूलाश्चेत्यर्थः। सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चैषां कर्मद्रव्यापेक्षयैवावगन्तव्यं, नान्यापेक्षया, यत् औदारिकादि-द्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणीति।

३. ठाणं, १।१४१-२२६।

४. वही, १।२३०-२४७।

५. वि.भा.गा. ६२७—ओराल-विउव्याहार-तेय-भासाणपाण-मण-कम्मे।

६. कर्मप्रकृति, १६, २०—

अण्णहणंतरियाओ, तेयगभासामणे य कम्मे च।

धुवअधुवअच्चिता, सुत्रा चउअंतरेसुण्णि॥

पत्तेगतथुसु वायर-सुहुमणिगोए तथा महाखंधे।

गुणानिष्फत्रसनामो, असंखभागांगुलवगाहो॥

७. त.रा.वा.२।३०।४, पृ. १४०—त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तिनां योग्य-

पुद्गलग्रहणमाहारः।

८. पं.सं.(दि.)१।१७६---

आहारइ सरीराणं तिण्हं एक्कदरवग्गणाओ य।

भासा मणस्स णिययं तम्हा आहारओ भणिओ॥

९. कर्मप्रकृति, गा. १८—

.....आहारगवग्गणा तित्तयू॥

१०. पण्ण, २८।१०२-१०५।

११. प्रज्ञा.वृ.प.५१०—ओजः उत्पत्तिदेश आहारयोग्यपुद्गलसमूहः।

१२. सूत्र.वृ.प.८७—तैजसेन शरीरेण तत्सहचरित्तेन च कर्मणेनाभ्यां द्वा-

भ्यामप्याहारयत्ति यावदपरमौदारिकादिकं शरीरं न निष्पद्यते, तथा चोक्तम्—

तेण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो।

तेण परं मिरसेणं जाव सरीरस्स निष्फत्तो॥

मनोभक्ष्य आहार मानसिक संकल्प के द्वारा सम्यक् होता है।^१

आहार शरीर के चय और उपचय का कारण है। यहां उसकी दृष्टि से ही चय और उपचय का विचार किया गया है।^१ अनाहार

के समय बहुत कम होते हैं। कोई भी प्राणी अधिक अनाहारक नहीं रह सकता।^१

२५. नेरइया णं भन्ते ! जे पोग्गले तेया-
कम्मत्ताए गेण्हंति, ते किं तीतकालसमए
गेण्हंति ? एडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति ?
अणागयकालसमए गेण्हंति ?

गोयमा ! नो तीयकालसमए गेण्हंति,
एडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति, नो अणागय-
कालसमए गेण्हंति ॥

२६. नेरइया णं भन्ते ! जे पोग्गले तेया-
कम्मत्ताए गहिए उदीरंति, ते किं तीयकाल-
समयगहिए पोग्गले उदीरंति ? एडुप्पन्न-
कालसमए घेप्पमाणे पोग्गले उदीरंति ?
गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरंति ?

गोयमा ! तीयकालसमयगहिए पोग्गले
उदीरंति, नो एडुप्पन्नकालसमए घेप्पमाणे
पोग्गले उदीरंति, नो गहणसमयपुरक्खडे
पोग्गले उदीरंति ॥

२७. एवं वेदंति, निज्जरेति ॥

नैरयिका: भदन्त ! यान् पुद्गलान् तैजसक-
र्मतया गृह्णन्ति, तान् किम् अतीतकालसमये
गृह्णन्ति ? प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्णन्ति ?
अनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

गौतम ! नो अतीतकालसमये गृह्णन्ति, प्रत्यु-
त्पन्नकालसमये गृह्णन्ति, नो अनागतकाल-
समये गृह्णन्ति ।

नैरयिका: भदन्त ! यान् पुद्गलान् तैजस-
कर्मतया गृहीतान् उदीरयन्ति, तान् किम्
अतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरय-
न्ति ? प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्यमाणान्
पुद्गलान् उदीरयन्ति ? ग्रहणसमयपुरस्कृतान्
पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

गौतम ! अतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान्
उदीरयन्ति, नो प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्यमाणान्
पुद्गलान् उदीरयन्ति, नो ग्रहणसमय-
पुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ।

एवं वेदयन्ति, निर्जीर्यन्ति ।

२५. भन्ते ! नैरयिक जीव तैजस और कर्म-शरीर
के रूप में जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, क्या
उन्हें अतीत काल-समय^१ में ग्रहण करते हैं?
वर्तमान काल-समय में ग्रहण करते हैं ? भविष्य
काल-समय में ग्रहण करते हैं ?

गौतम ! अतीत काल-समय में ग्रहण नहीं करते,
वर्तमान काल-समय में ग्रहण करते हैं, भविष्य
काल-समय में ग्रहण नहीं करते ।

२६. भन्ते ! नैरयिक जीव तैजस और कर्म-शरीर
के रूप में गृहीत जिन पुद्गलों की उदीरणा करते
हैं, क्या अतीत काल-समय में गृहीत उन पुद्गलों
की उदीरणा करते हैं ? क्या वर्तमान काल-समय
में गृह्यमाण पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? क्या
ग्रहण-समय के पुरोवर्ती (ग्रहीष्यमाण) पुद्गलों
की उदीरणा करते हैं ?

गौतम ! अतीत काल-समय में गृहीत- पुद्गलों
की उदीरणा करते हैं, वर्तमान काल-समय में
गृह्यमाण पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते,
ग्रहण-समय के पुरोवर्ती (ग्रहीष्यमाण) पुद्गलों
की उदीरणा नहीं करते ।

२७. इसी प्रकार वेदन और निर्जरण करते हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २५-२७

संसारी जीव के साथ दो शरीर—तैजस और कर्मण अनादि काल से जुड़े हुए हैं। शरीर-संरचना की प्रकृति यह है कि पहले ग्रहण किए हुए पुद्गलों का पृथक्करण और नए पुद्गलों का ग्रहण होता रहता है। पच्चीसवें सूत्र में पुद्गल के ग्रहण का नियम प्रतिपादित है। पुद्गल का ग्रहण केवल वर्तमान काल में होता है, अतीत और भविष्य काल में नहीं होता।

उदीरणा, वेदना और निर्जरा के नियम इससे भिन्न हैं। उदीरणा अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की ही होती है, गृह्यमाण और ग्रहीष्यमाण पुद्गलों की नहीं होती। वेदना और निर्जरा का भी यही नियम है।

२. काल-समय

काल एक अखण्ड प्रवाह है। समय उसकी सूक्ष्मतम इकाई

१. पण्ण. २८। १०५—देवा सव्वे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्खी वि । तत्थ णं जेते मणभक्खी देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ—इच्छामो णं मणभक्खणं करित्तए । तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकते समाणे खिप्पामेव जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया सुभा मणुण्णा मणामा ते तेसिं मणभक्खत्ताए परिणमंति, से जहाणामए—सीता पोग्गला सीयं पप्प सीयं देव अतिवत्तिताणं चिट्ठंति, उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्प उसिणं देव अतिवत्तिताणं चिट्ठंति,

एवामेव तेहिं देवेहिं मणभक्खणे से इच्छामणे खिप्पामेव अवेत्ति ।

२. भ. वृ. १। २०—आहारदव्यवगणमहिगिच्छेत्ति यदुक्तं तत्रायमभिप्रायः—शरीर-
माश्रित्य चयोपचयो प्राग् व्याख्यातो, तौ चाहारद्रव्येभ्य एव भवतो नान्यतः,
अत आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तमिति ।

३. द्रष्टव्य भ. ७। १ ।

है। वृत्तिकार ने काल और समय की शाब्दिक मीमांसा की है। काल का अर्थ है कृष्ण और समय का अर्थ है सिद्धान्त या आचार। काल और समय का प्रयोग कर सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि यहां समय का सम्बन्ध काल से है, सिद्धान्त या आचार से नहीं और काल का सम्बन्ध समय से है, कृष्ण वर्ण से नहीं।^१

शब्द-विमर्श

प्रत्युत्पन्न—वर्तमान।

पुरस्कृत—पुरस्कृत का अर्थ है वर्तमान समय का पुरोवर्ती समय। इसका तात्पर्यार्थ है प्रहीष्यमाण।^२

२८. नेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं बंधंति ? अचलियं कम्मं बंधंति ?

नैरयिका: भदन्त ! जीवात् किं चलितं कर्म बध्नन्ति ? अचलितं कर्म बध्नन्ति ?

२८. भन्ते ! नैरयिक जीव क्या जीव-प्रदेशों से चलित कर्म का बन्ध करते हैं अथवा अचलित कर्म का बंध करते हैं ?

गोयमा ! नो चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति ॥

गौतम ! नो चलितं कर्म बध्नन्ति, अचलितं कर्म बध्नन्ति ।

गौतम ! वे चलित कर्म का बन्ध नहीं करते, अचलित कर्म का बन्ध करते हैं।

२९. नेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं उदीरंति ? अचलियं कम्मं उदीरंति ?

नैरयिका: भदन्त ! जीवात् किं चलितं कर्म उदीरयन्ति ? अचलितं कर्म उदीरयन्ति ?

२९. भन्ते ! नैरयिक जीव क्या जीव-प्रदेशों से चलित कर्म की उदीरणा करते हैं अथवा अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं ?

गोयमा ! नो चलियं कम्मं उदीरंति, अचलियं कम्मं उदीरंति ॥

गौतम ! नो चलितं कर्म उदीरयन्ति, अचलितं कर्म उदीरयन्ति ।

गौतम ! वे चलित कर्म की उदीरणा नहीं करते, अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं।

३०. एवं वेदंति, ओयदंति, संक्रामंति, निधत्तंति, निकाचंति ॥

एवं वेदयन्ति, अपवर्तन्ते, संक्रामन्ति, निधत्तयन्ति, निकाचयन्ति ।

३०. इसी प्रकार अचलित कर्म का वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन करते हैं।

३१. नेरइया णं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं निर्जरंति ? अचलियं कम्मं निर्जरंति ?

नैरयिका: भदन्त ! जीवात् किं चलितं कर्म निर्जीर्यन्ति ? अचलितं कर्म निर्जीर्यन्ति ?

३१. भन्ते ! नैरयिक जीव क्या जीव-प्रदेशों से चलित कर्म की निर्जरा करते हैं अथवा अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं ?

गोयमा ! चलियं कम्मं निर्जरंति, नो अचलियं कम्मं निर्जरंति ॥

गौतम ! चलितं कर्म निर्जीर्यन्ति, नो अचलितं कर्म निर्जीर्यन्ति ।

गौतम ! वे चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते ।

संग्रहणी गाहा

बंधोदयवेदोयदृसंकमे
तह निधत्तनिकाए ।
अचलिय-कम्मं तु भवे,
चलियं जीवाउ निजरए ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

बन्धोदयवेदापवर्तसंक्रमाः
तथा निधत्तनिकाचौ ।
अचलित-कर्म तु भवेत्,
चलितं जीवान् निर्जीर्यत् ॥

संग्रहणी गाथा

बन्ध, उदय,^२ वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन जीव-प्रदेशों से अचलित कर्म का होता है तथा निर्जरा जीव-प्रदेशों से चलित कर्म की होती है।

भाष्य

१. सूत्र २८-३१

यहां 'चलित' और 'अचलित' शब्द का प्रयोग सापेक्ष है। जीव-प्रदेशों के द्वारा गृहीत होकर जो कर्म-पुद्गल स्थित हो जाते हैं, वे अचलित हैं और जो स्थिर अवस्था को छोड़कर प्रकम्पित हो जाते हैं, वे चलित कहलाते हैं।^३

जीव कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करता है, तब वे चलित ही होते हैं। ग्रहण के पश्चात् जीव-प्रदेशों में स्थित होकर वे अचलित हो जाते हैं। इस अपेक्षा से बन्ध-अवस्था को अचलित कहा गया है। उदीरणा, वेदना, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचना—ये सब

१. भ. वृ. १।२५—कालरूपः समयो न तु समाचाररूपः। कालोऽपि समयरूपो न तु वर्णादिस्वरूप इति परस्पर्येण विशेषणात् कालसमयः।

२. भ. वृ. १।२६—ग्रहणसमयः पुरस्कृतो—वर्तमानसमयस्य पुरोवर्ती येषां ते ग्रहणसमयपुरस्कृताः प्राकृतत्वादेवं निर्देशः, अन्यथा पुरस्कृतग्रहणसमया इति

स्याद्, प्रहीष्यमाणा इत्यर्थः।

३. वही. १।२८—जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं तेज्यनवस्थानशीलं तदितरत्त्वचलितम्।

कर्म-पुद्गलों की अचलित अथवा जीव-प्रदेशों से संयुक्त अवस्थाएं हैं। जीव-प्रदेशों से विचलित कर्म-प्रदेशों का निर्जरा होता है, इस अपेक्षा से निर्जरा विचलित कर्म-पुद्गलों की ही होती है।^१ णं में पुद्गल

के चलित होने के दस कारण बतलाए गए हैं। उनमें निर्जरा के समय पुद्गल के चलित होने का उल्लेख मिलता है।^२ देखें यन्त्र—

	जीव-प्रदेशों से अचलित	जीव-प्रदेशों से चलित
बन्ध	है	नहीं
उदीरणा	"	"
वेदना	"	"
अपवर्तन	"	"
संक्रमण	"	"
निधत्ति	"	"
निकाचना	"	"
निर्जरा	नहीं	है

२. उदय

सूत्र-पाठ में 'उदीरण' शब्द का प्रयोग और संग्रहणी गाथा में 'उदय' शब्द का प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार के अनुसार 'उदय' शब्द के द्वारा 'उदीरणा' का ग्रहण अपने आप हो जाता है।^३

३२. एवं ठिई आहारो य भाणियब्बो ।
ठिती—जहा ठित्तिपदे तहा भाणियब्बा
सव्वजीवाणं । आहारो वि—जहा पण्ण-
वणाए पढमे आहारुद्देसए तहा भाणियब्बो,
एत्तो आढत्तो—नेरइया णं भंते ! आहा-
रद्धी ? जाव दुक्खत्ताए भुज्जो-भुज्जो परि-
णमंति ॥

एवं स्थितिः आहारश्च भणितव्यौ । स्थितिः
—यथा स्थितिपदे तथा भणितव्या सर्व-
जीवानाम् । आहारोऽपि—यथा प्रज्ञापनायां
प्रथमः आहारोद्देशकः तथा भणितव्यः, इतः
आरब्धः—नैरयिकाः भदन्त ! आहारार्थिनः ?
यावद् दुःखत्वेन भूयो-भूयः परिणमन्ति ।

३२. इसी प्रकार स्थिति और आहार वक्तव्य हैं ।
'स्थिति-पद' में जो स्थिति निर्दिष्ट है, सब जीवों
की स्थिति वैसे ही वक्तव्य है। आहार भी प्रज्ञापना
के 'आहार-पद' के प्रथम उद्देशक की भांति
वक्तव्य है—भन्ते ! क्या नैरयिक जीव आहार
की इच्छा करते हैं ? यहां से प्रारंभ कर यावत्
वे गृहीत पुद्गलों को दुःख रूप में पुनः-पुनः
परिणत करते हैं, यहां तक वक्तव्य है।

आरंभ-अणारंभ-पदं

३३. जीवा णं भंते ! किं आयांरंभा ? परा-
रंभा ? तदुभयांरंभा ? अणारंभा ?
गोयमा ! अत्येगइया जीवा आयांरंभा वि,
परांरंभा वि, तदुभयांरंभा वि, णो अणा-
रंभा । अत्येगइया जीवा नो आयांरंभा, नो
परांरंभा, नो तदुभयांरंभा, अणारंभा ॥

आरम्भ-अनारम्भ-पदम्

जीवाः भदन्त ! किम् आत्मारम्भाः ? परा-
रम्भाः ? तदुभयारम्भाः ? अनारम्भाः ?
गौतम ! अस्त्येकके जीवाः आत्मारम्भाः अपि,
परांरम्भाः अपि, तदुभयारम्भाः अपि, नो
अनारम्भाः ! अस्त्येकके जीवाः नो आत्मा-
रम्भाः, नो परारम्भाः नो तदुभयारम्भाः अना-
रम्भाः ।

आरम्भ-अनारम्भ-पद

३३. भन्ते ! जीव क्या आत्मारम्भक हैं ? परारम्भक
हैं ? उभयारम्भक हैं ? अनारम्भक हैं ?
गौतम ! कुछ जीव आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक
भी हैं, उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक नहीं हैं।
कुछ जीव न आत्मारम्भक हैं, न परारम्भक हैं, न
उभयारम्भक हैं, अनारम्भक हैं।

३४. से केणट्ठेणं भंते! एवं बुच्चइ—अत्येग-
इया जीवा आयांरंभा वि, परारंभा वि, तदु-
भयांरंभा वि, णो अणारंभा ? अत्येगइया

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—
अस्त्येकके जीवाः आत्मारम्भाः अपि, परा-
रम्भाः अपि, तदुभयारम्भाः अपि, नो अना-

३४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा में कहा जा रहा है—
कुछ जीव आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक भी हैं,
उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक नहीं हैं ? कुछ

१. भ.वृ.१।२१ निर्जरा तु पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामासप्रदेशेभ्यः सातनम् । वा चलेज्जा ॥

सा च नियमाच्चलितस्य कर्मणो नार्थालतय्येति ।

२. णं, १०।६ दसेहि णणेहि अट्ठिण्णे णंगले चलेज्जा.....गिज्जरिअमाणे

३. भ.वृ.१।३१ उदयशब्दोदाहरणा गृहीतोति ।

जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा ?
 गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा
 —संसारसमावण्णगा य असंसारसमा-
 वण्णगा य। तत्थ णं जेते असंसारस-
 मावण्णगा, ते णं सिद्धा। सिद्धा णं नो
 आयारंभा नो परारंभा, नो तदुभयारंभा,
 अणारंभा। तत्थ णं जेते संसार-
 समावण्णगा, ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा
 —संजया य असंजया य। तत्थ णं जेते
 संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा
 —पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य।
 तत्थ णं जेते अप्पमत्तसंजया, ते णं नो
 आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा,
 अणारंभा। तत्थ णं जेते पमत्तसंजया, ते
 सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा,
 नो तदुभयारंभा, अणारंभा। असुभं जोगं
 पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि,
 तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा। तत्थ णं
 जेते असंजया, ते अविरत्तिं पडुच्च आयारंभा
 वि परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो
 अणारंभा। से तेण्णट्ठेणं गोयमा ! एवं बुद्धइ
 —अत्येगइया जीवा आयारंभा वि,
 परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणा-
 रंभा। अत्येगइया जीवा नो आयारंभा, नो
 परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा ॥

रम्भा: ? अस्त्येकके जीवा: नो आत्मारम्भा:,
 नो परारम्भा:, नो तदुभयारम्भा:, अनारम्भा: ?
 गौतम ! जीवा: द्विविधा: प्रज्ञाता:, तद् यथा
 —संसारसमापन्नकाश्च असंसारसमापन्न-
 काश्च। यत्र ये एते असंसारसमापन्नका:, ते
 सिद्धा:। सिद्धा: नो आत्मारम्भा:, नो
 परारम्भा:, नो तदुभयारम्भा:, अनारम्भा:।
 तत्र ये एते संसारसमापन्नका:, ते द्विविधा:
 प्रज्ञाता:, तद् यथा—संयताश्च असंयताश्च।
 तत्र ये एते संयतास्ते द्विविधा: प्रज्ञाता:, तद्
 यथा—प्रमत्तसंयताश्च अप्रमत्तसंयताश्च।
 तत्र ये एते अप्रमत्तसंयता:, ते नो आत्मा-
 रम्भा:, नो परारम्भा:, नो तदुभयारम्भा:,
 अनारम्भा:। तत्र ये एते प्रमत्तसंयता:, ते शुभं
 योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भा:, नो परारम्भा:,
 नो तदुभयारम्भा:, अनारम्भा:। अशुभं योगं
 प्रतीत्य आत्मारम्भा: अपि, परारम्भा: अपि,
 तदुभयारम्भा: अपि, नो अनारम्भा:। तत्र ये
 एते असंयता:, ते अविरत्तिं प्रतीत्य आत्मा-
 रम्भा: अपि, परारम्भा: अपि, तदुभयारम्भा:
 अपि, नो अनारम्भा:। तत् तेनार्येन गौतम !
 एवमुच्यते—अस्त्येकके जीवा: आत्मारम्भा:
 अपि, परारम्भा: अपि, तदुभयारम्भा: अपि,
 नो अनारम्भा:। अस्त्येकके जीवा: नो आत्मा-
 रम्भा:, नो परारम्भा:, नो तदुभयारम्भा:,
 अनारम्भा:।

जीव न आत्मारम्भक हैं, न परारम्भक हैं, न
 उभयारम्भक हैं, अनारम्भक हैं ?
 गौतम! जीव दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—संसार-
 समापन्न और असंसारसमापन्न। जो असंसार-
 समापन्न हैं, वे सिद्ध हैं। सिद्ध न आत्मारम्भक
 हैं, न परारम्भक हैं, न उभयारम्भक हैं, अनारम्भक
 हैं। जो संसारसमापन्न जीव हैं, वे दो प्रकार के
 प्रज्ञप्त हैं, जैसे—संयत और असंयत। जो संयत
 हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—प्रमत्त संयत
 और अप्रमत्त संयत। जो अप्रमत्त संयत हैं, वे न
 आत्मारम्भक हैं, न परारम्भक हैं, न उभयारम्भक
 हैं, अनारम्भक हैं। जो प्रमत्त संयत हैं, वे शुभयोग
 की अपेक्षा न आत्मारम्भक हैं, न परारम्भक हैं,
 न उभयारम्भक हैं, अनारम्भक हैं। अशुभ योग
 की अपेक्षा वे आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक भी
 हैं, उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक नहीं हैं। जो
 असंयत हैं, वे अविरत्ति की अपेक्षा आत्मारम्भक
 भी हैं, परारम्भक भी हैं, उभयारम्भक भी हैं,
 अनारम्भक नहीं हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह
 कहा जा रहा है—कुछ जीव आत्मारम्भक भी हैं,
 परारम्भक भी हैं, उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक
 नहीं हैं। कुछ जीव न आत्मारम्भक हैं, न
 परारम्भक हैं, न उभयारम्भक हैं, अनारम्भक हैं।

भाष्य

१. सूत्र ३३, ३४

‘आरम्भ’ शब्द का सामान्य अर्थ है प्रवृत्ति का प्रारम्भ।
 शब्दकोष में इसके अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं—जैसे—प्रस्तुति,
 शुरु, कार्य, प्रयत्न, अभिमान, वध, उत्पत्ति, उपक्रम, तीव्रता आदि।
 धर्मग्रंथों में इसका अर्थ है—हिंसा। वैदिक काल में ‘आलम्भ’ का
 प्रयोग पशुबलि के अर्थ में होता था। ‘रत्नयोरेकत्वम्’ इस न्याय के
 आधार पर उत्तरवर्ती साहित्य में आरम्भ का प्रयोग हिंसा के अर्थ में
 होने लगा। अभयदेवसूरि ने आरम्भ का अर्थ ‘जीवों का उपघात या
 उपद्रवण’ किया है। उनकी दृष्टि में इस शब्द का प्रयोग सामान्यतः

प्रत्येक आश्रवद्वार की प्रवृत्ति के लिए किया जा सकता है।’

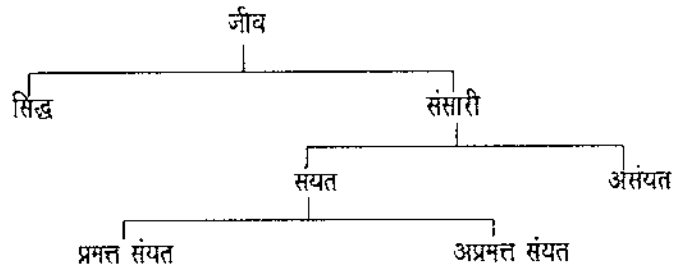
प्रस्तुत प्रकरण में ‘आरम्भ’ शब्द का प्रयोग अविरत्ति (अव्रत)
 और योग आश्रव के संदर्भ में हुआ है—“असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा
 वि।” “अविरत्तिं पडुच्च आयारंभा वि।” तात्पर्य में हिंसा आदि आश्रवों
 के दो रूप फलित होते हैं—अविरत्ति और अशुभ योग—दुष्प्रवृत्ति।
 देखें, यन्त्र—

१. भ.वृ. १।३३—आरम्भो—जीवोपघातः उपद्रवणमित्यर्थः, सामान्येन
 वाश्रवद्वारप्रवृत्तिः।

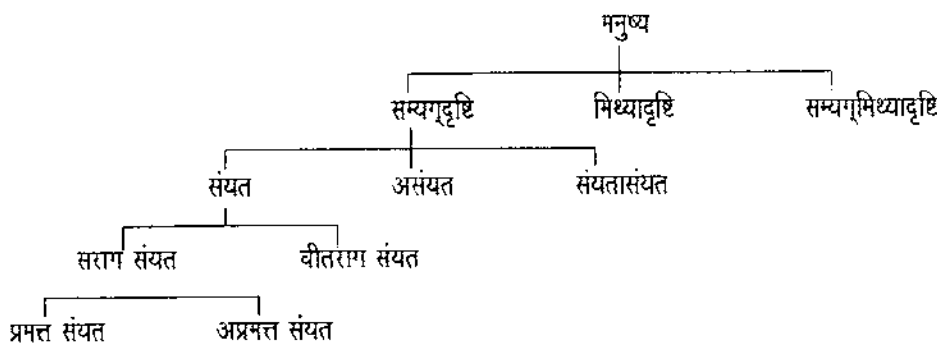
प्राणातिपात	अविरति	आत्मारम्भ
"	दुष्प्रवृत्ति	"
मृषावाद	अविरति	"
"	दुष्प्रवृत्ति	"
अदत्तादान	अविरति	"
"	दुष्प्रवृत्ति	"
मैथुन	अविरति	"
"	दुष्प्रवृत्ति	"
परिग्रह	अविरति	"
"	दुष्प्रवृत्ति	"
व्रती की	दुष्प्रवृत्ति	"
"	विरति	अनारम्भ
"	सत्प्रवृत्ति	"

फलितार्थ की भाषा में अव्रती जीव अनारम्भ या अहिंसक नहीं हो सकता। व्रती शुभयोग की अवस्था में अनारम्भ हो सकता है। वह अशुभ योग की अवस्था में अनारम्भ नहीं हो सकता।

३४वें सूत्र में आध्यात्मिक दृष्टि से जीवों का वर्गीकरण किया गया है—



इसी शतक के ६७वें सूत्र में मनुष्यों का वर्गीकरण मिलता है। वह इससे कुछ विकसित है—



उपर्युक्त सूत्र में सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—संयत, असंयत और संयतासंयत।^१ इस आधार पर जयाचार्य ने प्रश्न उपस्थित किया—यहां जीवों के संयत और असंयत दो भेद बतलाए गए हैं। संयतासंयत का समावेश किसमें किया जाए—संयत में या असंयत में ? इसके समाधान में उन्होंने लिखा—यहां संयत के

दो भेद किए गए हैं—प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। इनमें संयतासंयत का समावेश नहीं हो सकता। उसके अविरति आश्रय विद्यमान है, इस अपेक्षा से उसका समावेश असंयत में किया जा सकता है।^२ पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्च में संयतासंयत भी होते हैं। उन्हें अविरति की अपेक्षा से 'सारम्भ' बतलाया गया है। इसी प्रकार संयता-

१. भ. १।६७—तत्थ ञं जेते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया, असंजया, संजयासंजया।

२. भ. जौ. १।५।१५-१८—

संसारी ना क्रिया दोय भेद, संजती असंजती मुवेद।

संजतासंजती कियो नाहो, हिंवे श्रावक किण मांहे आयो ? ॥

संजती ना वे भेद सुत्थ, प्रमत्त संजता वे अप्रमत्त।

संयत मनुष्य का भी अविरति के कारण असंयत में समावेश होता है।^१

प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत

आश्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जो संयति प्रमाद आश्रव की विद्यमानता में साधना करता है, वह प्रमत्तसंयति कहलाता है। इस संयति में अप्रमाद समग्रता से नहीं होता, इसलिए वह अशुभ प्रवृत्ति भी कर लेता है। अप्रमत्तसंयति की साधना सर्वात्मना जागरूकतापूर्ण होती है; इसलिए वह अशुभ प्रवृत्ति नहीं करता। प्रमत्तसंयति के दो क्रियाएं होती हैं—आरम्भिकी और मायाप्रत्यया। अप्रमत्तसंयति के आरम्भिकी क्रिया नहीं होती,

केवल मायाप्रत्यया क्रिया होती है।^२ प्रमत्तसंयति में छहों लेश्याएं होती हैं। अप्रमत्तसंयति में केवल तीन प्रशस्त लेश्याएं ही होती हैं।^३

शुभ-योग और अशुभ योग—शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहा जाता है।^४ मोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न प्रवृत्तियों से युक्त होकर वह अशुभ बन जाता है और उससे वियुक्त होकर वह शुभ बनता है।

अविरति

जीव के आन्तरिक अध्यवसायों में एक अव्यक्त आकांक्षा विद्यमान रहती है, वह अविरति है। सारी आकांक्षाएं उसी की अभिव्यक्ति हैं।

३५. नेरइया णं भंते ! किं आयांरंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ? गोयमा ! नेरइया आयांरंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा ॥

नैरयिका: भदन्त ! किं आत्मारम्भा: ? परारम्भा: ? तदुभयारम्भा: ? अनारम्भा: ? गौतम ! नैरयिका: आत्मारम्भा: अपि, परारम्भा: अपि, तदुभयारम्भा: अपि, नो अनारम्भा: ।

३५. भन्ते ! नैरयिक जीव क्या आत्मारम्भक हैं ? परारम्भक हैं ? उभयारम्भक हैं ? अनारम्भक हैं ? गौतम ! नैरयिक जीव आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक भी हैं, उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक नहीं हैं।

३६. से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया आयांरंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा ॥

तत् केनार्थेन ?

गौतम ! अविरतिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्च्यते—नैरयिका: आत्मारम्भा: अपि, परारम्भा: अपि, तदुभयारम्भा: अपि, नो अनारम्भा: ।

३६. यह किस अपेक्षा से है ?

गौतम ! अविरति की अपेक्षा से। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—नैरयिक जीव आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक भी हैं, उभयारम्भक भी हैं, अनारम्भक नहीं हैं।

३७. एवं जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिया । मणुस्सा जहा जीवा, नवरं—सिद्धविरहिया भाणियव्वा । वानमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया जहा नेरइया ॥

एवं यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका: । मनुष्या: यथा जीवा: , नवरं—सिद्धविरहिता: भणितव्या: । वानमन्तरा: , ज्योतिषिका: , वैमानिका: यथा नैरयिका: ।

३७. इस प्रकार यावत्^१ पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक नैरयिक की भांति वक्तव्य हैं। मनुष्य जीव की भांति वक्तव्य हैं। केवल इतना अन्तर है कि मनुष्य के प्रकरण में सिद्ध (असंसारसमापन्न) का सूत्र वक्तव्य नहीं है। वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव नैरयिक की भांति वक्तव्य हैं।

३८. सलेस्सा जहा ओहिया । कण्हलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं—पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा । तेउलेसस्स, पम्हलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं—सिद्धा न भाणियव्वा ॥

सलेश्या: यथा औघिका: । कृष्णलेश्यस्य, नीललेश्यस्य, कापोतलेश्यस्य यथा औघिका: जीवा: , नवरं—प्रमत्ताप्रमत्ता: न भणितव्या: । तेजोलेश्यस्य, पद्मलेश्यस्य, शुक्ललेश्यस्य यथा औघिका: जीवा: , नवरं—सिद्धा: न भणितव्या: ।

३८. लेश्यायुक्त जीव सामान्य जीव^२ की भांति वक्तव्य हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या से युक्त जीव सामान्य जीव की भांति वक्तव्य हैं। केवल इतना अन्तर है—(कृष्ण आदि तीन लेश्याएं अप्रमत्त संयति में नहीं होतीं, इसलिए) यहां प्रमत्त और अप्रमत्त का विभाग वक्तव्य नहीं है।^३ तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या से युक्त जीव सामान्य जीव की भांति

प्रमत्त संजती छठो गुणठाणो, अप्रमत्त सातमां थी जाणो ॥

यां में तो श्रावक नहीं आवै, पंचमे गुण श्रावक पावै ।

अविरत आश्री असंजती मांय, इणरो जाणै समदृष्टि न्याय ॥

सर्व संसारी ना सुविचार, दोय भेद किया जणतार ।

तीजो भेद इहां कियो नाहीं, तिणसूं अविरत आश्री असंजती मांहि ॥

१. भ.जो.१।५।२४,२५—

इहां जय जश आखै न्याय, वीसमां दण्डक रे मांय ।

आल, पर, उभयारंभा कहाया, तिर्यंच श्रावक सहु इहां आया ॥

तिम मनुष्य श्रावक में लंभ, अन्नत आश्री आलादि आरंभ ।

अन्नतरी क्रिया देश थी ताहि, अन्नत आश्री असंजती मांहि ॥

२. भ.१।६७।

३. वही, १।१०१। देखें १।३८ के भाष्य का पा.टि.३।

४. त.सू.६।१—कायवाङ्मनःकर्म योगः ।

वक्तव्य हैं। केवल इतना अन्तर है—लेश्यासूत्र में सिद्ध का सूत्र वक्तव्य नहीं है।

भाष्य

१,२. यावत्, सामान्य जीव

‘यावत्’ और ‘औधिक’ ये दोनों शब्द रचना-शैली से सम्बद्ध हैं। जहां जीव-सामान्य का वर्णन होता है, उसका कोई भेद विवक्षित नहीं होता, उसकी सूचना ‘औधिक’ पद के द्वारा दी गई है। उदाहरणस्वरूप, ३३ वें और ३४ वें सूत्र का वर्णन औधिक है। ३५ वें, ३६ वें सूत्र में नैरयिक का वर्णन है। ३७ वें सूत्र में ‘यावत्’ पद के द्वारा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तक की वर्गणाओं की सूचना दी गई है। प्रस्तुत आगम की रचना-शैली में चौबीस वर्गणाओं का इसी वर्गणा-पद्धति से निरूपण किया गया है। इसीलिए अनेक विषयों का प्रतिपादन नैरयिक से ही प्रारम्भ होता है। इन चौबीस वर्गणाओं का क्रमबद्ध नामोल्लेख ऋण में मिलता है।^१ उन्हें दण्डक भी कहा गया है।^२ इस आधार पर दण्डक और वर्गणा एकार्थक बन जाते हैं। संसार के सभी जीव चौबीस वर्गणाओं में वर्गीकृत होते हैं—

१. नारकीय जीवों की वर्गणा
२. असुरकुमार देवों की वर्गणा
३. नागकुमार देवों की वर्गणा
४. सुपर्णकुमार देवों की वर्गणा
५. विद्युत्कुमार देवों की वर्गणा
६. अग्निकुमार देवों की वर्गणा
७. द्वीपकुमार देवों की वर्गणा
८. उदधिकुमार देवों की वर्गणा
९. दिशाकुमार देवों की वर्गणा
१०. वायुकुमार देवों की वर्गणा
११. स्तनितकुमार देवों की वर्गणा
१२. पृथ्वीकायिक जीवों की वर्गणा
१३. अष्कायिक जीवों की वर्गणा
१४. तेजस्कायिक जीवों की वर्गणा
१५. वायुकायिक जीवों की वर्गणा
१६. वनस्पतिकायिक जीवों की वर्गणा
१७. द्वीन्द्रिय जीवों की वर्गणा
१८. त्रीन्द्रिय जीवों की वर्गणा
१९. चतुरिन्द्रिय जीवों की वर्गणा
२०. पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिक जीवों की वर्गणा

२१. मनुष्यों की वर्गणा
२२. वानमंतर देवों की वर्गणा
२३. ज्योतिष्क देवों की वर्गणा
२४. वैमानिक देवों की वर्गणा

प्रस्तुत आगम में ‘दण्डक’ शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों में मिलता है, जैसे—

१।५६—“आरण्य वि दो दंडगा—एगत्तपोहत्तिया।”

१।१२५—“एणं अभितावेणं दंडओ भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं।”

१।१२६—“एवं करेत्ति। एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं।”

उक्त सूत्रों में दण्डक का प्रयोग समान वाक्य-पद्धति के अर्थ में हुआ है।

चौबीस दण्डक का प्रयोग प्रस्तुत आगम में भी मिलता है।

१।२७६-२८० तक प्राणातिपात क्रिया का औधिक वर्णन है। २८१-२८६ तक उसका चौबीस दण्डक के रूप में वर्णन है— “चउवीसं दंडगा भाणियव्वा।”

३. प्रमत्त-अप्रमत्त का विभाग वक्तव्य नहीं है

लेश्या का अर्थ है—जीव का परिणाम और परिणामधारा में सहयोगी पुद्गल-द्रव्य। उसके छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल।

इनमें प्रथम तीन अप्रशस्त हैं और अन्तिम तीन प्रशस्त।^३ प्रथम लेश्या-त्रिक में संयति के प्रमत्त और अप्रमत्त ये दो भेद वक्तव्य नहीं हैं। यह पाठ विमर्शनीय है। वृत्तिकार ने इसका विमर्श किया है। उनके अनुसार अप्रशस्त लेश्या-त्रिक में संयतत्व नहीं होता, इसलिए यहां प्रमत्त और अप्रमत्त विशेषण की वर्जना की गई है।^४ जयाचार्य ने वृत्तिकार के विमर्श की समीक्षा की है। उनके अनुसार अप्रशस्त लेश्या वाले जीव असंयति और संयति दोनों होते हैं। किन्तु इनमें संयति को प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो भागों में विभक्त करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इसका हेतु यह है कि अप्रमत्त संयति में अप्रशस्त लेश्या नहीं होती।^५

१. ऋण, १।१४५-१६४।

२. वही, १।१६०—चउवीसदंडओ, १।२१३—चउवीसदंडया।

३. वही, ३।५१७, ५१८।

४. भ.वृ. १।३८ कृष्णादिपु हि अप्रशस्तभावलेश्यामु संयतत्वं नास्ति, यद्योच्यते—पुव्वपडिेवण्ण ओ पुण अउयरीए उ लेसाएत्ति, तद्वच्चलेदयां प्रतीर्यति मन्तव्यं तत्तस्सामु प्रमत्ताद्यभावः।

५. भ.जो. १।५।२८-३२

कृष्ण नील कापोत ने जाणो, औधिक ससारी जेम पिअणो।

णवरं प्रमत्त अप्रमत्त वे भेद, नाहं करंवा न मणवा वदं॥

संसारी ना किया भेद दोय, मंजती न असंजती जाय।

मंजती ना दोय भेद काया, प्रमादा ने अप्रमादा सायाः॥

प्रस्तुत आगम के पच्चीसवें शतक में बतलाया गया है कि 'कषायकुशीलनिर्ग्रथ' के छहों लेश्याएं होती हैं।^१ इसकी वृत्ति में अभयदेवसूरि ने लिखा है कि कषायकुशीलनिर्ग्रथ सकषाय होने के कारण छहों लेश्याओं में प्राप्त होता है।^२ पणवणा में बतलाया गया है कि कृष्ण लेश्या वाला जीव मनःपर्यवज्ञान को उपलब्ध हो सकता है।^३ केवल संयत जीव ही मनःपर्यवज्ञानी होता है; इससे संयत में कृष्ण लेश्या का अस्तित्व सिद्ध होता है। पणवणा के वृत्तिकार मलयगिरि के अनुसार प्रमत्त संयत में कृष्ण लेश्या के मन्द अनुभाव वाले अध्यवसाय-स्थान होते हैं।^४ इन प्रमाणों के आधार पर जयाचार्य का विमर्श संगत प्रतीत होता है।

सलेश्य के क्रियासूत्र में बतलाया गया है—कृष्ण लेश्या और नील लेश्या वाले मनुष्यों में सराग और वीतराग तथा प्रमत्त और अप्रमत्त इनका वक्तव्य आवश्यक नहीं है।^५ वृत्तिकार ने फिर उसी सिद्धांत की पुनरावृत्ति की है। उन्होंने लिखा है कि औधिक दण्डक

के अनुसार मनुष्य के तीन भेद होते हैं—असंयत, संयतासंयत और संयत। संयत के दो भेद—सराग संयत और वीतराग संयत तथा सराग संयत के प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत ये दो भेद होते हैं। फिर भी कृष्ण और नील लेश्या में यह पाठ अनुसरणीय नहीं है। इसका हेतु यह है कि इन लेश्याओं का उदय होने पर संयम उपलब्ध नहीं होता।^६ सराग और वीतराग के प्रकरण में वृत्तिकार ने लिखा है—तेजस् और पद्म लेश्या में वीतरागता उपलब्ध नहीं होती; इसलिए इनमें सराग और वीतराग का विशेषण विवक्षित नहीं है।^७

वृत्तिकार ने सराग और वीतराग के विशेषण के लिए जिस युक्ति का प्रयोग किया है, वही युक्ति प्रमत्त और अप्रमत्त के विशेषण में घटित होती है। अप्रशस्त लेश्या-त्रिक में अप्रमत्तता प्राप्त नहीं होती; इसलिए कृष्ण आदि तीन लेश्या-संयुक्त संयति में प्रमत्त और अप्रमत्त की विवक्षा नहीं की जा सकती। जयाचार्य ने क्रिया-सूत्र के प्रकरण में फिर अपने पूर्ववर्ती विमर्श का समर्थन किया है।^८

नाणादीणं भवंतर-संकमण-पदं

ज्ञानादीनां भवान्तर-संकमण-पदम्

ज्ञान आदि का भवान्तर-संकमण-पद

३६. इहभविए भंते ! नाणे ? परभविए नाणे ? तदुभयभविए नाणे ?

इहभविकं भदन्त ! ज्ञानम् ? परभविकं ज्ञानम् ? तदुभयभविकं ज्ञानम् ?

३६. ^१भन्ते ! क्या (कोई) ज्ञान इस जन्म तक ही सीमित रहता है ? क्या ज्ञान अगले जन्म में साथ जाता है ? क्या ज्ञान वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान रहता है ?

गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे ॥

गौतम ! इहभविकमपि ज्ञानम्, परभविकमपि ज्ञानम्, तदुभयभविकमपि ज्ञानम् ॥

गौतम ! (कोई) ज्ञान इस जन्म तक भी सीमित रहता है, अगले जन्म में भी साथ जाता है, वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में भी विद्यमान रहता है।

तिण कृष्णादिक त्रिहुं ना भेद दोय, संजती नै असंजती होय ।
संजती ना वे भेद न युणवा, प्रमत्त अप्रमत्त भेद न भणवा ॥
प्रमादी में कृष्णादिक पावै, अप्रमादी में ए त्रिहुं नावै ।
तिण सूं संजती ना वे भेद, नहि भणवा इम कहुं वेद ॥
धुर भेद संजत वज्जो नाहि, तिण सूं कृष्णादि साधु रे माहि ।
संजत शुभ जोग थी अणारंभ, अशुभ जोग आश्रयी आरंभ ॥
विस्तृत विमर्श के लिए इसी ढाल की ३३-१४६ तक गाथाएं मननीय हैं ।

१. भ. २६।३७५, ३७६—कषायकुशीले—पुच्छा ।

गोयमा ! सलेसे होजा, ने अलेसे होजा ॥

जइ सलेसे होजा, से णं भंते ! कतिसु लेस्सासु होजा ?

गोयमा ! छसु लेस्सासु होजा, तं जहा—कण्हेस्साए जाव सुक्कलेस्साए ।

२. भ. वृ. १।३६—कषायकुशीलस्तु षट्षपि सकषायमेव आश्रित्य ।

३. पण. १७।११२—कण्हेस्से णं भंते! जीवे कतिसु गाणेसु होजा ?

गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा गाणेसु होजा—दोसु होमाणे आभिणि-
वोहिय-सुयणाणेसु होजा, तिसु होमाणे आभिणिवोहिय-सुयणाण-ओहिणाणेसु
होजा, अहवा तिसु होमाणे आभिणिवोहिय-सुयणाण-मणपज्जवणाणेसु होजा,
चउसु होमाणे आभिणिवोहियणाण-सुयणाण-ओहिणाण-मणपज्जवणाणेसु

होजा। एवं जाव पण्हेस्से ।

४. प्रज्ञा. वृ. प. ३५७—इह लेश्यानां प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि
अध्यवसायस्थानानि, तत्र कानिचिन्मदानुभावान्ध्यवसायस्थानानि, प्रमत्त-
संयतस्यापि लभ्यन्ते, अत एव कृष्ण-नील-कापोतलेश्याः प्रमत्तसंयतस्यापि
गीयन्ते ।

५. भ. १।१०१ ।

६. भ. वृ. १।१०१—मनुष्यपदे क्रियासूत्रे यद्यप्यौधिक-दण्डके 'तिविहा मणुस्सा
पत्रता, तं जहा --संजया, असंजया, संजयासंजया । तथ णं जेते संजया ते
दुविह पत्रता, तं जहा—सरागसंजया य वीयरागसंजया य । तथ णं जेते
सरागसंजया ते दुविहा पत्रता, तं जहा—पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य'ति
पठितं, तथाऽपि कृष्णनीललेश्यादण्डकयोर्नाध्येतव्यं, कृष्णनीललेश्योदये
संयमस्य निषिद्धत्वात् ।

७. वही, १।१०१—केवलमौधिकदण्डके क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागविशे-
षणा अधीताः, इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपद्मलेश्ययोर्वीतरागत्वासम्भवात्,
शुक्ललेश्यायामेव तत्सम्भवात् । प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्त इति ।

८. भ. जो. १।७, १७१-१८० ।

४०. इहभविण भंते ! दंसणे ? परभविण दंसणे ? तदुभयभविण दंसणे ?

गोयमा ! इहभविण वि दंसणे, परभविण वि दंसणे, तदुभयभविण वि दंसणे ॥

४१. इहभविण भंते ! चरित्ते ? परभविण चरित्ते ? तदुभयभविण चरित्ते ?

गोयमा ! इहभविण चरित्ते, नो परभविण चरित्ते, नो तदुभयभविण चरित्ते ॥

४२. इहभविण भंते ! तवे ? परभविण तवे ? तदुभयभविण तवे ?

गोयमा ! इहभविण तवे, नो परभविण तवे, नो तदुभयभविण तवे ॥

४३. इहभविण भंते ! संजमे ? परभविण संजमे ? तदुभयभविण संजमे ?

गोयमा ! इहभविण संजमे, नो परभविण संजमे, नो तदुभयभविण संजमे ॥

इहभविकं भदन्त ! दर्शनम् ? परभविकं दर्शनम् ? तदुभयभविकं दर्शनम् ?

गीतम ! इहभविकमपि दर्शनम्, परभविकमपि दर्शनम्, तदुभयभविकमपि दर्शनम् ।

इहभविकं भदन्त ! चरित्रम् ? परभविकं चरित्रम् ? तदुभयभविकं चरित्रम् ?

गीतम ! इहभविकं चरित्रम्, नो परभविकं चरित्रम्, नो तदुभयभविकं चरित्रम् ।

इहभविकं भदन्त ! तपः ? परभविकं तपः ? तदुभयभविकं तपः ?

गीतम ! इहभविकं तपः, नो परभविकं तपः, नो तदुभयभविकं तपः ।

इहभविकः भदन्त ! संयमः ? परभविकः संयमः ? तदुभयभविकः संयमः ?

गीतम ! इहभविकः संयमः, नो परभविकः संयमः, नो तदुभयभविकः संयमः ।

४०. भन्ते ! क्या दर्शन (सम्यक्त्व) इस जन्म तक ही सीमित रहता है ? क्या दर्शन अगले जन्म में साथ जाता है ? क्या दर्शन वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान रहता है ?

गीतम ! दर्शन इस जन्म तक भी सीमित रहता है, अगले जन्म में भी साथ जाता है, वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में भी विद्यमान रहता है ।

४१. भन्ते ! क्या चारित्र इस जन्म तक ही सीमित रहता है ? क्या चारित्र अगले जन्म में साथ जाता है ? क्या चारित्र वर्तमान और भावी जन्म दोनों में विद्यमान रहता है ?

गीतम ! चारित्र इस जन्म तक ही सीमित रहता है, वह अगले जन्म में साथ नहीं जाता, वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान नहीं रहता ।

४२. भन्ते ! क्या तपस्या इस जन्म तक ही सीमित रहती है ? क्या तपस्या अगले जन्म में साथ जाती है ? क्या तपस्या वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान रहती है ?

गीतम ! तपस्या इस जन्म तक ही सीमित रहती है, अगले जन्म में साथ नहीं जाती, वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान नहीं रहती ।

४३. भन्ते ! क्या संयम इस जन्म तक ही सीमित रहता है ? क्या संयम अगले जन्म में साथ जाता है ? क्या संयम वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान रहता है ?

गीतम ! संयम इस जन्म तक ही सीमित रहता है, अगले जन्म में साथ नहीं जाता, वर्तमान जन्म और भावी जन्म दोनों में विद्यमान नहीं रहता ।

भाष्य

१. सूत्र ३६-४३

जैन दर्शन ने पुनर्जन्म को केवल स्वीकार ही नहीं किया है, उसकी अनेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत आगम में पुनर्जन्म की अनेक समस्याओं पर विचार किया गया है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा दूसरे जन्म में जाती है, तो वह अकेली ही जाती है या उसके साथ कुछ दूसरे तत्त्व भी जाते हैं ? उसका यात्रा-पथ कितना होता है ? यह कैसे जाती है ? उसका नया जन्म कैसे होता है ?—इन प्रश्नों और इनसे सम्बद्ध अनेक प्रश्नों का समाधान मांगा गया है और भगवान् ने वह दिया है।

प्रस्तुत आलापक में पांच प्रश्न पूछे गए हैं—क्या आत्मा

पुनर्जन्म की यात्रा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम को साथ लेकर जाती है या उन्हें यहीं छोड़कर जाती है ? भगवान् ने इन प्रश्नों के उत्तर में बताया—ज्ञान और दर्शन—ये दोनों आत्मा के साथ जाते हैं। चारित्र, तप और संयम—ये तीनों ऐहभविक ही होते हैं, वे आत्मा के साथ नहीं जाते।

इसी प्रकार शरीर के वारे में पूछा गया कि नया जन्म लेते समय आत्मा सशरीर होती है या अशरीर ?

भगवान् ने कहा—“गीतम ! वह कथञ्चित् सशरीर होती है

और कथञ्चित् अशरीर।”

“भन्ते ! यह कैसे ?”

भगवान् ने कहा—“स्थूल (औदारिक, वैक्रिय और आहारक) शरीर की अपेक्षा से वह अशरीर होती है और सूक्ष्म (तैजस) और सूक्ष्मतर (कामर्ण) शरीर की अपेक्षा से वह सशरीर होती है।” इससे फलित होता है—आत्मा मृत्यु के पश्चात् और नया जन्म लेने से पूर्व स्थूल शरीर से मुक्त रहती है। फिर प्रश्न होता है—स्थूल शरीर नहीं है, तो ज्ञान कहां रहेगा ? इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर फिर पूछा—“भन्ते ! आत्मा इन्द्रिय-सहित अवस्था में जन्म लेती है या अनिन्द्रिय अवस्था में ?”

“गीतम ! कथञ्चित् वह सइन्द्रिय होती है और कथञ्चित् अनिन्द्रिय।”

“भन्ते ! यह कैसे ?”

भगवान् ने कहा—“गीतम ! इन्द्रिय-संस्थानों (द्रव्येन्द्रिय) की अपेक्षा से वह अनिन्द्रिय होती है और ज्ञानात्मक इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) की अपेक्षा से सइन्द्रिय।”

इससे फलित होता है कि एक जन्म से दूसरे जन्म के मध्य में ज्ञान सत्त्वरूप में रहता है, अभिव्यक्त नहीं होता। वह शरीर-रचना के पश्चात्, नाडी-तंत्र की रचना के बाद अभिव्यक्त होता है। उदाहरण के लिए, जाति-स्मृति (पूर्व जन्म की स्मृति) को लिया जा सकता है। इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान का आधारभूत कोश कर्म-शरीर है। स्थूल शरीर के नाडी-तंत्र या मस्तिष्क में उनके संवादी कोशों की रचना होती है। जिस आत्मा में दो इंद्रियों के विकास की सत्ता है, उसके दो इंद्रियों की रचना होगी। इसी प्रकार तीन, चार और पांच इंद्रियों की रचना भी सूक्ष्म शरीर के कोशों के आधार पर ही होगी। नाडी-तंत्र या मस्तिष्क में ज्ञान-कोशों की रचना की तरतमता का आधार भी कर्म-शरीरगत कोश ही बनते हैं। इसे सूत्ररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—जिस आत्मा के ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षयोपशम होता है, उसके उतने ही कोश कर्म-शरीर में निर्मित हो जाते हैं और उसके संवादी कोश नाडी-तंत्र या मस्तिष्क में निर्मित होते हैं।

इस सारे दार्शनिक चिन्तन को ध्यान में रखते हुए भगवान् ने

कहा—“ज्ञान पारभविक भी होता है।”

जैसे हमारे मस्तिष्क में वर्तमान जन्म के स्मृति-कोश होते हैं, वैसे ही पूर्वजन्म के स्मृति-कोश होते हैं या नहीं, यह एक जटिल प्रश्न है। आज के शरीर-शास्त्री और मनोवैज्ञानिक उन कोशों को खोज नहीं पाए हैं, किंतु कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जिसमें पूर्वजन्म की स्मृति की संभावना है, उसमें उन कोशों की विद्यमानता की संभावना भी की जा सकती है। मस्तिष्क का बहुत बड़ा भाग मौन क्षेत्र (silent area) या अन्धकार क्षेत्र (dark area) है। हो सकता है, उस क्षेत्र में वे स्मृतिकोश उपलब्ध हो जाएं।

वृत्तिकार के अनुसार ऐहभविक का अर्थ है—केवल वर्तमानभववर्ती। वह भवान्तर में साथ नहीं जाता। पारभविक का अर्थ है—दूसरे जन्म में साथ जाने वाला। तदुभयभविक का शाब्दिक अर्थ होता है—जो वर्तमान जन्म में होता है और भावी जन्म में भी साथ जाता है। यह अर्थ पारभविक से भिन्न नहीं होता; इसलिए तदुभयभविक का अर्थ ‘जन्म-जन्मान्तर तक साथ जाने वाला’ होना चाहिए।

वृत्तिकार ने तदुभयभविक के अन्तर्गत पारभविक का ‘परतर भव’ अर्थ कर इस विकल्प की सार्थकता बतलाई है, किंतु परतर भव का ग्रहण पारभविक में ही हो सकता है; इसलिए इस तीसरे भंग को केवल भंगरचना का प्रकार ही माना जा सकता है। इसमें कोई नई बात प्रतिपादित की गई है, ऐसा नहीं लगता।

ज्ञान और दर्शन दोनों का अनुगमन होता है; इसलिए इसके तीनों विकल्प सम्मत हैं। यहां दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व है। चारित्र, तप और संयम का अनुगमन नहीं होता; इसलिए इनका केवल ऐहभविक विकल्प ही सम्मत है, शेष दो विकल्पों का निषेध किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार चारित्र अनुष्ठान-रूप होता है और अनुष्ठान शरीर में ही सम्भव है।

चारित्र, तप और संयम—तीनों आचरण-पक्ष के तत्त्व हैं। सामायिक आदि की आराधना को चारित्र और संयम दोनों कहा गया है। समबाओ में संयम के सत्तरह प्रकार बतलाए गए हैं। तप चारित्र का ही एक प्रकार है।

१. भ. १।३४२, ३४३।

२. वही, १।३४०, ३४१।

३. भ. वृ. १।३६—वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते न तु भवान्तरे तदैहभविकम्। काकुपाठाच्चेह प्रश्नताऽवसेधा, तेन किमैहभविकं ज्ञानमुत ‘परभवि’ति परभवे—वर्तमानान्तरभाविन्द्यनुगापितया यद्वर्तते तत्पारभविकम्। आहो-स्त्वित् ‘तदुभयभवि’ति तदुभयरूपयोः—इहपरलक्षणयोर्भवयोर्वदनुगापितया वर्तते तत्तदुभयभविकम्, इदं चैवं न पारभविकाद् भिद्यत इति परतरभवेऽपि यदनुयाति तद् प्राह्यम्। इहभवव्यतिरिक्तत्वेन परतरभवस्यापि परभवत्वात्। हस्यतानिर्देशश्चेह सर्वत्र प्राकृतत्वादिति प्रश्नः, निर्वचनमपि सुगमं। नवरम् ‘इहभवि’ति ऐहभविकं यदिहाधीतं नान्तरभवेऽनुयाति, पारभविकं

यदनन्तरभवेऽनुयाति, तदुभयभविकं तु यदिहाधीतं परभवे परतरभवे चानुवर्तत इति।

४. वही, १।४०—दर्शनमिह सम्यक्त्वमवसेयं, मोक्षमार्गाधिकारत्।

५. वही, १।४१—अनुष्ठानरूपत्वात् चारित्रस्य शरीराभावे च तदयोगात्।

६. उत्तर. २८।३२, ३३।

७. टाणं, ५।१३६—पंचविधे संजमे पण्यते, तं जहा—सामाद्यसंजमे, छेदो-वद्वावणियसंजमे, परिहारवियुद्धिसंजमे, सुहुमसंपरागसंजमे, अहक्खायचरित-संजमे।

८. सम. १७।२।

असंबुड-संबुड-अणगार-पदं

४४. असंबुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिब्बाइ, सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ?

गोयमा ! णो इण्डे समइ ॥

४५. से केण्डेणं भंते ! एवं बुच्चइ—असंबुडे णं अणगारे नो सिज्झइ, नो बुज्झइ, नो मुच्चइ, नो परिनिब्बाइ, नो सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ?

गोयमा ! असंबुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिट्ठिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालट्टिइयाओ दीहकालट्टिइयाओ पकरेइ, मंदाणु-भावाओ तिब्बाणुभावाओ पकरेइ, अप्प-पएसग्गाओ बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ; आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणु-परियट्टइ। से तेण्डेणं गोयमा ! असंबुडे अणगारे नो सिज्झइ, नो बुज्झइ, नो मुच्चइ, नो परिनिब्बाइ, नो सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ॥

४६. संबुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिब्बाइ, सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ?

हंता ! सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिब्बाइ, सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ॥

४७. से केण्डेणं भंते ! एवं बुच्चइ—संबुडे णं अणगारे सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिब्बाइ, सब्बदुक्खाणं अंतं करेइ ?

गोयमा ! संबुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिट्ठिल-बंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्टिइयाओ हस्सकालट्टिइयाओ पकरेइ, तिब्बाणु-भावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएस-ग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरेइ; आउयं च णं कम्मं न बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तं संसार-कंतारं वीईवयइ। से तेण्डेणं गोयमा ! एवं

असंबुत-संबुत-अनगार-पदम्

असंबुतः भदन्त ! अनगारः सिद्ध्यति, 'बुज्झइ', मुज्जति, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—असंबुतः अनगारः नो सिद्ध्यति, नो 'बुज्झइ', नो परिनिर्वाति, नो सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

गौतम ! असंबुतः अनगारः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धाः 'धणिय'-बंधनबद्धाः प्रकरोति, हस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, मन्दानुभावाः तीव्रानुभावाः प्रकरोति, अल्पप्रदेशाग्राः बहु-प्रदेशाग्राः प्रकरोति, आयुश्च कर्म स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति, असातवेदनीयं च कर्म भूयो-भूयः उपचिनोति, अनादिकं च 'अणवदग्गं' दीर्घाध्वानं चतुरन्तं संसार-कान्तारम् अनुपर्यटति। तत् तेनार्थेन गौतम ! असंबुतः अनगारः नो सिद्ध्यति, नो 'बुज्झइ', नो मुज्जति, नो परिनिर्वाति, नो सर्वदुःखानामन्तं करोति।

संबुतः भदन्त ! अनगारः सिद्ध्यति, 'बुज्झइ', मुज्जति, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

हन्त ! सिद्ध्यति, 'बुज्झइ', मुज्जति, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—संबुतः अनगारः सिद्ध्यति, 'बुज्झइ', मुज्जति, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

गौतम ! संबुतः अनगारः आयुर्वर्जाः सप्त कर्म-प्रकृतीः 'धणिय'बन्धनबद्धाः शिथिलबन्धन-बद्धाः प्रकरोति, दीर्घकालस्थितिकाः हस्व-कालस्थितिकाः प्रकरोति, तीव्रानुभावाः मन्दा-नुभावाः प्रकरोति, बहुप्रदेशाग्राः अल्प-प्रदेशाग्राः प्रकरोति; आयुश्च कर्म न बध्नाति, असातवेदनीयं च कर्म न भूयो-भूयः उप-चिनोति, अनादिकं च 'अणवदग्गं' दीर्घाध्वानं चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति। तत् ते-नार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—संबुतः अनगारः

असंबुत-संबुत-अनगार-पद

४४. भन्ते ! क्या असंबुत अनगार सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?^२

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

४५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— असंबुत अनगार सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत नहीं होता, सब दुःखों का अन्त नहीं करता ?

गौतम ! असंबुत अनगार आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनबद्ध प्रकृतियों को गाढ बन्धनबद्ध करता है, अल्पकालिक स्थितिवाली प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थितिवाली करता है, मन्द अनुभाव वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाव वाली करता है, अल्पप्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को बहुप्रदेश-परिमाण वाली करता है; आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् करता है और कदाचित् नहीं करता, वह असातवेदनीय कर्म का बहुत-बहुत^३ उपचय करता है और आदि-अन्त-हीन^४ दीर्घपथवाले चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार में पर्यटन करता है। गौतम ! इस अपेक्षा से असंबुत अनगार सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत नहीं होता, सब दुःखों का अन्त नहीं करता।

४६. भन्ते ! क्या संबुत अनगार सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

हां ! वह सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है।

४७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— संबुत अनगार सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

गौतम ! संबुत अनगार आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ बन्धनबद्ध प्रकृतियों को शिथिल बन्धनबद्ध करता है, दीर्घकालिक स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्पकालिक स्थिति वाली करता है, तीव्र अनुभाव वाली प्रकृतियों को मन्द अनुभाव वाली करता है, बहुप्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश-परिमाण वाली करता है; वह आयुष्य कर्म का बन्ध नहीं करता, असात-वेदनीय कर्म का बहुत-बहुत उपचय नहीं करता और आदि-अन्तहीन दीर्घपथवाले चतुर्गत्यात्मक

वृत्तिकार ने शिथिल बन्धन के तीन अर्थ किए हैं—स्पृष्टता, बद्धता और निधत्ता। गाढ बन्धन के बद्धावस्था, निधत्तावस्था और निकाचितावस्था—ये तीन अर्थ किए हैं, किंतु ये विमर्श मांगते हैं।

‘बन्धन’ प्रकृति-बन्ध की एक सामान्य अवस्था है। उसकी विशेष अवस्थाएं सात हैं। उनमें निधत्त छोटी अवस्था है। उसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकते हैं; संक्रमण, उदीरणा और उपशामना—ये करण नहीं होते। निकाचना सातवीं अवस्था है। उसमें उद्वर्तन और अपवर्तन भी नहीं होते, कोई भी करण नहीं होता। इसलिए यदि गाढ बन्धन का अर्थ निकाचना किया जाए, तो स्थिति और रस का परिवर्तन नहीं हो सकता।

प्रस्तुत शतक के ३५७ वें सूत्र में ‘बद्ध, पुद्ग, निहत्त, कड, पडुविय, अभिनिविद्, अभिसमण्णागय, उदिण्ण’ इतनी कर्म की अवस्थाएं मिलती हैं। इनमें बद्ध और पुद्ग (स्पृष्ट) इन दो अवस्थाओं को शिथिल-बद्ध माना जा सकता है और निधत्त को गाढ अवस्था माना जा सकता है। इस अर्थ को स्वीकार करने पर स्थिति-परिवर्तन, रस-परिवर्तन और प्रदेश-परिमाण के परिवर्तन में बाधा नहीं आती। आयुष्य कर्म का बन्ध एक जन्म में एक बार ही होता है; इसलिए उसका विकल्प है—उसका बन्ध हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता।

असातवेदनीय कर्म सप्त कर्म-प्रकृतियों के अन्तर्गत प्राप्त है, फिर उसका पृथक् उल्लेख क्यों ? इसका समाधान यह है कि असंवृत अनगार के अशुभ भावधारा के कारण असात वेदनीय का अधिकतम बन्ध होता है—ऐसा बतलाने के लिए इसका स्वतन्त्र रूप में निर्देश किया गया है।

२. सिद्ध.....सब दुःखों का अन्त करता है।

प्रस्तुत आलापक में पांच क्रियापद हैं। इन पांच पदों द्वारा मुक्त होने की पांच अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है।

पहली अवस्था है—सिद्ध होना। जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह सिद्ध अवस्था है।

दूसरी अवस्था है—प्रशान्त होना या बुझ जाना।

तीसरी अवस्था है—कर्म-बन्धन से मुक्त होना।

चौथी अवस्था है—परिनिर्वृत—निःस्पन्द—गतिरहित हो जाना।

पांचवीं अवस्था है—सब दुःखों का अन्त कर देना।

वृत्तिकार ने पूर्ववर्ती चार अवस्थाओं के अर्थ भिन्न प्रकार से किए हैं। उन्होने सिद्धइ बुद्धइ मुचइ और परिनिव्वाइ इन पदों की अन्तिम क्षण से पूर्व की अवस्था मानकर व्याख्या की है। केवल सबदुःखाणं अंतं करेइ को अन्तिम क्षण की अवस्था माना है।

वृत्तिकार के अनुसार सिद्धइ का अर्थ है—‘चरमशरीरी जीव सिद्धिगमन के योग्य हो जाता है’, किन्तु यह अर्थ चिन्तनीय है। सिद्ध-अवस्था शरीर-मुक्ति के पश्चात् प्राप्त होती है। प्रश्न पूछा गया—

“कहिं पडिइया सिद्धा, कहिं सिद्धा पडिइया।

कहिं बोदिं चइत्ताणं, कत्थं गंतूणं सिद्धइ ?”

“सिद्ध कहां रुकते हैं ? कहां स्थित होते हैं ? कहां शरीर को छोड़ते हैं ? और कहां जाकर सिद्ध होते हैं ?” इसके समाधान में कहा गया—

“अलोए पडिइया सिद्धा, लोयणे य पडिइया।

इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थं गंतूणं सिद्धइ ॥”

“सिद्ध अलोक में रुकते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं। मनुष्य-लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।”

इस आधार पर सिद्धइ का अर्थ वृत्तिगत अर्थ से भिन्न पड़ता है।

वृत्तिकार ने बुद्धइ का अर्थ इस प्रकार किया है—सिद्धिगमन योग्य जीव जब केवली होकर समस्त जीव आदि पदार्थों को जानता है, उस समय वह बुद्ध कहलाता है।

किन्तु ‘मोक्षपद’ के अनुसार जो कोई जीव सब दुःखों का अन्त करता है, वह पहले उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधर अर्हत्, जिन और केवली होता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है। इस दृष्टि से वृत्तिकार

१. भ.वृ.१।४५—शल्यबन्धनं—स्पृष्टता वा बद्धता वा निधत्ता वा, तेन बद्धाः—आत्मप्रदेशेषु संबन्धिताः पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभाव-दिति शिथिलबन्धनबद्धाः, एताश्चाशुभा एव ब्रह्मव्याः। असंवृतभावस्य निदा-प्रस्तावात् ताः किमित्याह—‘धणियबंधणबद्धाओ पकरोति’ति गाढतरबन्धना बद्धावस्था वा निधत्तावस्था वा निकाचिता वा ‘प्रकरोति’।

२. वही, १।४५—आयुः पुनः कर्म स्यात्—कदाचिद् बध्नाति, स्यात् न बध्नाति। यस्मात्त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति। अन्यदा न बध्नातीति।

३. वही, १।४५—असातवेदनीयं च—दुःखवेदनीयं कर्म पुनः ‘भूयो भूयः’ पुनः पुनः ‘उपचिनोति’ उपचितं करोति। ननु कर्मसप्तकान्तर्वीत्त्वादसातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणभ्यः एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमेतद्ग्रहणेन ? अत्रोच्यते—असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीति प्रतिपादनेन भयजननादसंवृतत्वपरिहाराय-

मिदमित्यदुष्टमिति।

४. वही, १।४४—सिध्यन्ति स्म—निष्ठितार्था भवन्ति स्म।

५. वही, १।४४—‘सिद्धइ’ति सिध्यति अयात्तचरमभवतया सिद्धिगमनयोग्यो भवति। ‘बुद्धइ’ति स एव यदा समुत्पन्नकेवलज्ञानतया स्वपरपर्यायोपेता-त्रिखिलान् जीवादिपदार्थान् जानाति तदा बुध्यत इति व्यपदिश्यते। ‘मुचइ’ति स एव संजातकेवलबोधो भवोपग्राहिकर्मभिः प्रतिसमयं विमुच्यमानो मुच्यत इत्युच्यते। ‘परिनिव्वाइ’ति स एव तेषां कर्मपुद्गलानामनुसमयं त्रया यथा क्षयमाप्नोति तथा तथा शीतीभवन् परिनिर्वातीति प्रोच्यते। ‘सव्वदुःखाणमंतं करेइ’ति स एव चरमभवायुषोऽन्तिमसमये क्षपिताशेषकर्मांशः सर्वदुःखानामन्तं करोतीति।

६. उत्तर.३६।५५,५६।

७. भ.१।२०८।

द्वारा कृत बुज्झइ की व्याख्या विमर्शनीय है। प्रस्तुत प्रकरण में बुज्झइ यह देशी धातु होनी चाहिए। इसका अर्थ है—बुझ जाना, शान्त हो जाना। यह मुक्त होने की दूसरी अवस्था है। इसमें जन्म-मरण की आग बुझ जाती है।^१

वृत्तिकार ने मुच्चइ का अर्थ 'भवोपग्राही कर्मों से प्रति समय मुक्त होना' किया है। किन्तु यह भी उपर्युक्त तर्क से विमर्शनीय है। मुक्त होना सिद्ध होने से प्रथम समय में ही होता है।

वृत्तिकार के अनुसार परिनिब्बाइ का अर्थ है—'जैसे-जैसे कर्म क्षय होते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा शीतीभूत, शान्त या परिनिर्वृत हो जाती है।' यह अर्थ भी विमर्शनीय है। 'वा' धातु का एक अर्थ गति भी है (वाङ्—गतिबन्धनयोः)। इस आधार पर परिनिर्वाण का अर्थ 'गतिरहित' या निःस्पन्द' किया जाना चाहिए। मुक्त होने वाला जीव मुक्तिस्थान में पहुँचकर गति-शून्य हो जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार घरम भव के आयुष्य के अन्तिम समय में सिद्ध होने वाला जीव अशेष कर्मों को क्षीण कर सब दुःखों का अन्त कर देता है। इसका संवादी पाठ ठाणं में उपलब्ध होता है।^१ जयाचार्य ने भगवती की जोड़ में इन पांच पदों के वृत्तिसम्मत अर्थ का अनुसरण नहीं किया है।

शब्द-विमर्श

३. बहुत-बहुत

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'पुनः पुनः' किया है। किन्तु प्रसंगवश इसका 'बहुत-बहुत' अर्थ संगत है।

४. अन्तहीन

'अवदग्ग' अन्तवाचक देशीशब्द है। 'अणवदग्ग' का अर्थ है अनन्त।^१

असंजयस्स वाणमंतरेदेव-पदं

४८. जीवे णं भंते ! असंजए अविरए
अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए
पेच्चा देवे सिया ?

गोयमा ! अत्येगइए देवे सिया, अत्येगइए
णो देवे सिया ॥

४९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जीवे णं
असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-
कम्मे इओ चुए पेच्चा अत्येगइए देवे सिया,
अत्येगइए नो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-
नगर-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-
पट्टणासम-सण्णियेसेसु अकामतण्हाए, अ-
कामछुहाए, अकामवंपचेरवासेणं, अकाम-
सीतातय-दंस-मसग-अण्णहाणग-सेय-जल्ल-
मल-पंक-परिदाहेणं अप्पतरं वा भुज्जतरं वा
कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, परिकिले-
सित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु
वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो
भवन्ति ॥

असंयतस्य वानमन्तरदेव-पदम्

जीवः भदन्त ! असंयतः अविरतः अप्रतिहत-
प्रत्याख्यातपापकर्मा इतः च्युतः प्रेत्य देवः
स्यात् ?

गौतम ! अस्त्येककः देवः स्यात्, अस्त्येककः
नो देवः स्यात् ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जीवः
असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यात-
पापकर्मा इतः च्युतः प्रेत्य अस्त्येककः देवः
स्यात्, अस्त्येककः नो देवः स्यात् ?

गौतम ! ये इमे जीवाः ग्राम-आकर-नगर-
निगम-राजधानी-खेट-कर्वट-मडम्ब-द्रोणमुख-
पत्तनाश्रम-सन्निवेशेषु अकामतृष्णया, अकाम-
क्षुधया, अकामब्रह्मचर्यवासेन, अकामशीता-
तप-दंश-मशक-अस्नान-स्वेद-जल्ल-मल-
पंक-परिदाहेन अल्पतरं वा भूयस्तरं वा कालं
आलानं परिवलेशयन्ति, परिक्लेश्य कालमासे
कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया
उपपत्तारो भवन्ति ।

असंयत का वानमंतरदेव-पद

४८. भन्ते ! असंयत, अविरत और अतीत पापकर्म
का प्रतिक्रमण तथा अनागत पापकर्म का
प्रत्याख्यान न करने वाला जीव इस तिर्यच या
मनुष्य जन्म से मरकर क्या अगले जन्म में देव
होता है ?

गौतम ! कोई जीव देव होता है और कोई जीव
देव नहीं होता ।

४९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—असंयत, अविरत और अतीत पापकर्म का
प्रतिक्रमण तथा अनागत पापकर्म का प्रत्याख्यान
न करने वाला कोई जीव इस तिर्यच या मनुष्य
जन्म से मरकर अगले जन्म में देव होता है और
कोई जीव देव नहीं होता ?

गौतम ! ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी,
खेट, कर्वट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम और
सन्निवेश^३ में रहने वाले जो ये जीव निर्जरा की
अभिलाषा के विना प्यास और भूख सहन करते
हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, सर्दी, गर्मी,
दंश-मशक, अस्नान, स्वेद, रज, मैल, पंक (गीला
मैल) के परितप द्वारा थोड़े समय या अधिक
समय तक अपने आपको परितप्त करते हैं, अपने
आपको परितप्त कर मृत्यु-काल में मृत्यु का वरण
कर किसी एक वानमंतर देवलोक में देवरूप में
उपपन्न होते हैं ।

१. भ.वृ.२।५२।

२. ठाणं, ४।१४४—पढमसमयसिद्धस्स णं चत्तारि कम्मंसा जुगवं खिञ्जंति, तं
जहा—वेयणिञ्जं, आउयं, णामं, गोतं ।

३. भ.वृ.१।४५—'अवयग्गं'ति देशी वचनोऽन्तवाचकस्ततस्तत्रिषेधाद् अण-
वयग्गं, अनन्तमित्यर्थः ।

५०. केरिसा णं भंते ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए इहं असोयवणे इ वा, सत्तवण्णवणे इ वा, चंपयवणे इ वा, चूयवणे इ वा, तिलगवणे इ वा, लउयवणे इ वा, नग्गोहवणे इ वा, छत्तोहवणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंभवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलुइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिंडि-मंजरि-वडंसगधरे सिरीए अतीव-अतीव उवसोभेमाणे-उवसोभेमाणे चिट्ठइ ।

एवामेव तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा जहण्णेणं दससासहस्सड्ढितीएहिं, उब्बोसेणं पलिओवमड्ढितीएहिं, बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं य देवीहिं य आइण्णा वित्तिक्किण्णा उवत्थडा संयडा फुडा अवग्गढा सिरीए अतीव-अतीव उवसोभेमाणा-उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।

एरिसगा णं गोयमा ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता । से तेण्णट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—जीवे णं अस्संजए अविरए अण्णडिहयपच्चवखापपावकम्मे इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया ॥

कीदृशाः भदन्त ! तेषां वानमन्तराणां देवानां देवलोकाः प्रज्ञाताः ?

गौतम ! यथानामकम् इह अशोकवनं वा, सप्तपर्णवनं वा, चम्पकवनं वा, चूतवनं वा, तिलकवनं वा, लकुचवनं वा, न्यग्रोधवनं वा, छत्रौघवनं वा, असनवनं वा, शणवनं वा, अतसीवनं वा, कुसुम्भवनं वा, सिद्धार्थवनं वा, बन्धुजीवकवनं वा, नित्यं कुसुमित-मयूरित-लयकित-स्तवकित-गुल्मकित-गुच्छित-यमलित-युगलित-विनमित-प्रणमित-सुविभक्त-पिण्डीमञ्जर्यवतंसकधरं श्रिया अतीव-अतीव उपशोभमानं-उपशोभमानं तिष्ठति ।

एवमेव तेषां वानमन्तराणां देवानां देवलोकाः जघन्येन दससहस्रवर्षस्थितिकैः उत्कर्षेण पत्न्योपमस्थितिकैः बहुभिः वानमन्तरैः देवैश्च देवीभिश्च आकीर्णाः व्यतिकीर्णाः उपस्तुताः संस्तुताः स्पृष्टाः गाढावगाढाः श्रिया अतीव-अतीव उपशोभमाना-उपशोभमानाः तिष्ठन्ति ।

ईदृशकाः गौतम ! तेषां वानमन्तराणां देवानां देवलोकाः प्रज्ञाताः । तत् तेनार्येण गौतम ! एवमुच्यते—जीवः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा इतः च्युतः प्रेत्य अस्त्येककः देवः स्यात्, अस्त्येककः नो देवः स्यात् ।

५०. भन्ते ! उन वानमंतर देवों के देवलोक किस प्रकार के प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! जैसे इस मनुष्य लोक में सदा पुष्पित (कुसुमिय), बीराया हुआ (माइय), नए पल्लवों (लवइय) और फूलों के गुच्छों से लदा हुआ (थवइय), शाखाओं से घिरा हुआ (गुलुइय), पत्र-गुच्छों से लदा हुआ (गोच्छिय), समश्रेणि में स्थित वृक्षां वाला (जमलिय), युग्म रूप में स्थित वृक्षां वाला (जुवलिय), फूलों और फलों के भार से विनत, प्रणत, सुव्यवस्थित लुम्बी (पिण्डी) और मञ्जरी-रूप मुकुट से युक्त, अशोक-वन, सप्तपर्ण (सतौना)-वन, चम्पक-वन, आम्र-वन, तिलकवन, लकुच (वहड़ल)-वन, न्यग्रोध (वट)-वन, छत्रौघ-वन, असन (बीजक, विजयसार)-वन, शण-वन, अलसी-वन, कुसुम्भ-वन, श्वेत सर्षप का वन और बन्धुजीवक (दुपहरिया के वृक्ष) का वन कान्ति से अतीव-अतीव उपशोभित-उपशोभित रहता है ।

इसी प्रकार उन वानमंतर देवों के देवलोक जघन्यतः दस हजार वर्ष की स्थितिवाले और उत्कर्षतः एक पत्न्योपम की स्थितिवाले अनेक वानमंतर देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उनके ऊपर और नीचे आने से ढके हुए, आच्छादित, स्पृष्ट^३ (आसन, शयन आदि द्वारा परिभुक्त) और अत्यधिक अवगाढ़ अतीव-अतीव उपशोभित-उपशोभित हो रहे हैं ।

गौतम ! वानमंतर देवों के देवलोक इस प्रकार के प्रज्ञप्त हैं ! गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—असंयत, अविरत, अतीव पापकर्म का प्रतिक्रमण और अनागत पापकर्म का प्रत्याख्यान न करनेवाला कोई जीव इस तिर्यंच या मनुष्य जन्म से मरकर अगले जन्म में देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता ।

भाष्य

१. सूत्र ४८-५०

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्य मृत्यु के पश्चात् फिर मनुष्य ही नहीं होता, वह नरक, तिर्यञ्च या देव किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है। इन सब गतियों में उत्पन्न होने के कुछ नियामक तत्त्व हैं। उनका निर्देश भगवती,

८।४२५-४२८ में किया गया है। देव गति के नियामक तत्त्व चार बतलाए गए हैं—१. सराम संयम २. संयमासंयम ३. बाल तप ४. अकाम निर्जरा।^१

प्रस्तुत सूत्र अकाम निर्जरा का एक उदाहरण है। एक ऐसा

१. म. ८।४२८—देवाउयकम्मासरीरप्ययोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामनिजराए देवा-

उयकम्मा सरीरप्योगनामाए कम्मस्स उदएणं देवाउयकम्मासरीरप्ययोगबंधे ।

जीव जिसके कोई संयम नहीं है, कोई व्रत नहीं है, जिसने पापकर्म का कोई प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह जीव भी मृत्यु के पश्चात् देव बन सकता है। इसका हेतु है—अकाम निर्जरा। जो व्यक्ति निर्जरा का अभिलाषी नहीं है, जिसका कर्म-निर्जरण का अभिप्राय भी नहीं है, फिर भी निर्जरा की हेतुभूत क्रिया होने पर उसके निर्जरा हो जाती है। उसे अकाम निर्जरा कहा जाता है।^१ भूख और प्यास सहना, ब्रह्मचारी रहना, सर्दी-गर्मी आदि सहना—ये सब निर्जरा के हेतु हैं। केवल एक ही शर्त है कि इनको सहन करने में परिणाम संकलित नहीं होने चाहिए। तत्त्वार्थराजवार्तिक में दीर्घकाल-रोगी आदि का भी उल्लेख किया गया है।^२ यह सूत्र मिथ्यादृष्टि असंयमी के लिए प्रतिपादित है। सम्यग्दृष्टि असंयमी 'व्यन्तर देव' का आयुष्य-बन्ध नहीं करता। वह केवल 'वैमानिक देव' का ही आयुष्य-बन्ध करता है।^३

शब्द-विमर्श

२. ग्राम.....सन्निवेश

ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेत, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम और सन्निवेश—ये शब्द बारह बस्ती के प्रकार हैं:

१. ग्राम

१. जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रसित करे। यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। अथवा जहाँ १८ प्रकार के कर लगते हों।^४

२. जहाँ कर लगते हैं।^५

१. भ.वृ.१।४६—अकामानां—निर्जराद्यनभिलाषिणां सताम् अकामो वा—निरभिप्रायः।

२. त.रा.वा.६।२०—दीर्घकालरोगिणः असंकलितः तरुगिरिशिखरपातिनः अनशनज्वलनजलप्रवेशनविषभक्षणधर्मबुद्धयः व्यन्तरमानुषतियक्षु।

३. (क) भ.३०।१०, ११।

(ख) त.रा.वा.६।२१—सम्यक्त्वञ्च।

सम्यक्त्वं देवस्यायुष आश्रव इत्यविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिर्भवति। कुतः पृथक्करणत् पृथक्विशेषगतिरेवेद्य स्यात् पृथक्करणमनर्थकं स्यात् पूर्वसूत्रे एवोच्यते। यद्येवं पूर्वसूत्र उक्त आश्रवविधिः अविशेषेण प्रसक्तः तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आश्रवौ प्रसक्तौ ? न, अतस्तदसिद्धे नैष दोषः। कुतः ? अतस्तत्सिद्धे यत् एव सम्यक्त्वं सौधर्मादिविधि नियम्यते तत् एव तयोरपि नियमसिद्धिः, नासति सम्यक्त्वे सरागसंयमसंयमासंयमव्यपदेश इति।

४. (क) उत्तरा.वृ.पृ.६०५—ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टदशानां कारणाभिति ग्रामः।

(ख) दशवै.हा.टी.पृ.१७४—ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः।

५. नि.चू.भाग ३, पृ.३४६—करादियाण गम्यो गामो।

६. दशवैकालिकः एक सप्तीक्षालक अध्ययन, पृ.२२०।

७. उत्तरा.वृ.पृ.६०५।

८. भ.वृ.१।४६।

३. जिसके चारों ओर कांटे की बाड़ हो अथवा मिट्टी का परकोटा हो।^६

४. कृषक आदि लोगों का निवास-स्थान।^७

५. जनपद का एक हिस्सा।^८

२. आकर

१. सोना, लोहे आदि की खान।^९

२. खान आदि का समीपवर्ती गांव, मजदूर-बस्ती।^{१०}

३. नगर

१. जिसमें कर नहीं लगता हो।^{११} यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ है।

२. जो राजधानी हो।^{१२}

३. जो पण्यक्रिया आदि में निपुण चारों वर्णों के लोगों से सहित है, जो अनेक जातियों से सम्बन्ध है, जहाँ विभिन्न शिल्पवाले लोग रहते हैं और जिसमें सभी देवताओं से सम्बन्धित स्थान होते हैं।^{१३}

अर्थशास्त्र^{१४} में राजधानी के लिए 'नगर' या 'दुर्ग' और साधारण कस्बों के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में नगर और राजधानी दोनों का उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि नगर बड़ी बस्तियों का नाम है, भले फिर वे राजधानी हों या न हों। राजधानी वह होती है, जहाँ से राज्य का संचालन होता है।

४. निगम

१. व्यापारियों की बस्ती।^{१५}

६. (क) वही.१।४६।

(ख) नि.चू.भाग ३, पृ.३४६—सुवर्णादि आगरो।

(ग) स्था.वृ.पृ.८३—लोहाद्युत्पत्तिभूमयः।

१०. उत्तरा.वृ.पृ.६०५।

११. (क) भ.वृ.१।४६।

(ख) स्था.वृ.पृ.८२—नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि।

(ग) दशवै.हा.टी.पृ.१७४—नास्मिन् करो विद्यते इति नकरम्।

(घ) नि.चू.भाग ३, पृ.३४७—ण करा जत्थ तं णगरं।

(ङ) उत्तरा.वृ.पृ.६०५।

१२. विनयविजय कृत लोक-प्रकाश, सर्ग ३१, श्लोक ६—नगरे राजधानी स्यात्।

१३. आटे.—नगर—

पण्यक्रियादिनिपुणैश्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम्।

नेकजातिसम्बद्धं, नैकशिल्पीसमाकुलम्।

सर्वदैवतसम्बद्धं, नगरत्वभिधीयते ॥

१४. उत्तर.३०।१६ का टिप्पण।

१५. (क) भ.वृ.१।४६—वणिग्जनप्रधानं स्थानम्।

(ख) स्था.वृ.पृ.८२.—निगमाः वणिग्-निवासाः।

(ग) नि.चू.भाग.३, पृ.३४६—वणियवग्णे जत्थ बसति ते णेगमं।

२. जहां से अनेक प्रकार के भाण्ड निर्यात किए जाते हैं।^१

५. राजधानी

१. वह बस्ती जहां राजा रहता हो।^२
२. जहां राजा का अभिषेक हुआ हो।^३
३. जनपद का मुख्य नगर।^४

६. खेट

१. जिसके चारों ओर धूलि का प्राकार हो।^५

७. कर्बट

१. पर्वत की ढलान।^६
२. कुनगर। चूर्णिकार जिनदास ने 'कुनगर' का अर्थ किया है—जहां क्रय-विक्रय न होता हो।^७
३. बहुत छोटा सन्निवेश।^८
४. जिले का प्रमुख नगर।^९
५. वह नगर जहां बाजार हो।^{१०}
६. जहां माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय होता है।^{११}

८. मडम्ब

१. जिसके एक योजन तक कोई दूसरा गांव न हो।^{१२}
२. जिसके ढाई योजन तक कोई दूसरा गांव न हो।^{१३}
३. जिसके चारों ओर आधे योजन तक गांव न हो।^{१४}
४. जिसके चारों ओर दूर तक कोई सन्निवेश न हो।^{१५}

९. द्रोणमुख

१. जहां जल और स्थल दोनों निर्गम और प्रवेश के मार्ग हों।^{१६}
उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने इसके लिए भृगुकच्छ (भरौच, गुजरात) और ताम्रलिप्ति (तामलुक, बंगाल) का उदाहरण दिया है।^{१७}
२. समुद्र के किनारे बसा हुआ गांव, ऐसा गांव जिसमें जल और स्थल से पहुंचने का मार्ग हो।
३. ४०० गांवों की राजधानी।^{१८}

१०. पत्तन

१. (क) जलपत्तन—जलमध्यवर्ती द्वीप।
(ख) स्थलपत्तन—निर्जल भूभाग में होने वाला।^{१९}
उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने जलपत्तन के प्रसंग में काननद्वीप और स्थलपत्तन के प्रसंग में मथुरा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।^{२०}
२. जहां विविध देशों से सामान का आयात-निर्यात होता हो, वह व्यापारिक क्षेत्र।^{२१} (आज की भाषा में जिसे बन्दरगाह कहा जाता है—जैसे बम्बई, कलकत्ता आदि।)

११. आश्रम

१. तापसों का निवास-स्थान।^{२२}
२. तीर्थस्थान।^{२३}

१२. सन्निवेश

१. यात्रा से आए हुए मनुष्यों के रहने का स्थान।^{२४}
२. सार्थ (यात्रीदल) और कटक (सेना) का निवास-स्थान।^{२५}

१. उत्तरा.वृ.प. ६०५—निगमयन्ति तस्मिन्नेकविधभाण्डानीति निगमः।

२. नि.चू.भाग ३,पृ.३४६—जथ राया वसति सा रायहाणी।

३. स्था.वृ.प.८२,८३—राजधान्यो—यासु राजानोऽभिषिच्यन्ते।

४. उत्तरा.वृ.प.६०५।

५. (क) भ.वृ. १।४६।

(ख) नि.चू.भाग ३,पृ.३४६—खेडं णाम धूलीपागास्परिक्खित्तं।

६. A Sanskrit English Dictionary by Sir Monier Williams, p. 259.

७. (क) भ.वृ. १।४६।

(ख) नि.चू.भाग ३, पृ.३४६—कुणगरो कब्बडं।

८. दशवै.जि.चू.पृ.३६०।

९. (क) उत्तरा.वृ.प. ६०५।

(ख) दशवै.हा.टी.प.२७५।

१०. A Sanskrit English Dictionary by Sir Monier Williams, p. 259.

११. दशवैकालिकः एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. २२०।

१२. दशवै.जि.चू.पृ.३६०,अ.चू.पृ.२५६।

१३. नि.चू.भाग ३,पृ.३४६—जोयणब्भंतरे जस्स गामादी णत्थि तं मडंवं।

१४. उत्तरा.वृ.प.६०५।

१५. स्था.वृ.प.८३—मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात् परतोऽवस्थितग्रामणि।

१६. भ.वृ. १।४६—सर्वतो दूरवर्ती सन्निवेशान्तरम्।

१७. (क) नि.चू.भाग ३,पृ.३४६—दोष्णि मुहा जस्स तं दोष्णमुहं जलेण वि भंडमागच्छति।

(ख) स्था.वृ.प.८३।

(ग) भ.वृ. १।४६।

१८. उत्तरा.वृ.प.६०५।

१९. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २२—चतुःशतग्राम्यो द्रोणमुखम्।

२०. (क) नि.चू.भाग ३,पृ. ३४६।

(ख) उत्तरा.वृ.प.६०५।

(ग) स्था.वृ.प.८३।

२१. उत्तरा.वृ.प.६०५।

२२. भ.वृ. १।४६।

२३. (क) नि.चू.भाग ३, पृ.३४६।

(ख) उत्तरा.वृ.प.६०५।

(ग) भ.वृ. १।४६।

२४. स्था.वृ.प.८३।

२५. (क) उत्तरा.वृ.प.६०५।

(ख) नि.चू.भाग ३,पृ.३४६,३४७।

२६. स्था.वृ.प.८३—सार्थकटकादेः।

३. आकीर्ण.....स्पृष्ट

आकीर्ण—व्याप्त^१ (spread)।^२व्यतिकीर्ण—मिश्रित, एकीभूत (mixed, united)^३।

ढके हुए—उनके ऊपर और नीचे आने से ढके हुए। संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोश में 'उपस्तु' का एक अर्थ 'to strew or cover

with' किया गया है।^४आच्छादित—ऊपर से फैलाकर ढक देना^५ (to over-spread)।

स्पृष्ट—वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप किए हैं 'स्पृष्ट' और 'स्फुट'।

५१. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे
समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति,
वंदिता नमंसिता संजमेणं तवसा अप्पाणं
भावेमाणे विहरति ।।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान्
गीतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा संयमेन तपसा
आत्मानं भावयन् विहरति ।

५१. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही
है।^१ इस प्रकार भगवान् गीतम श्रमण भगवान्
महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-
नमस्कार कर वे संयम और तप से अपने आपको
भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

१. भंते ! वह ऐसा ही है, भंते ! वह ऐसा ही है।

भाष्य

भारतीय संस्कृति विनम्रता की संस्कृति है। उसके आधार पर गुरु और शिष्य के सम्बन्धों की परम्परा स्थापित हुई है। उसमें एक सम्बन्ध है—जिज्ञासा और समाधान। शिष्य जिज्ञासा करता है और गुरु उसका समाधान देता है। समाधान के समय गुरु के मन में शिष्य के ज्ञान-वृद्धि की भावना रहती है। समाधान के पश्चात् शिष्य का मन आनन्द-पुलकित और भाव-विभोर हो उठता है। वह सहज

ही कृतज्ञता के स्वर में बोल उठता है—“भन्ते ! आपने मुझे नया आलोक दिया है, नई दृष्टि दी है। आपने जो कहा वह बिलकुल सही है।” यह कृतज्ञता की अभिव्यक्ति एक नई प्रेरणा को संजीवित करती है। गुरु के मन में शिष्य को और अधिक ज्ञान देने की भावना पल्लवित हो जाती है। इस प्रकार यह अहोभाव ज्ञान की परम्परा के चिरजीवी होने का सूत्र बन जाता है।

१. म.वृ. १।५०।

२. आटे.।

३. वही।

४. वही।

५. म.वृ. १।५०—तीरेवाकीडमानैरन्योन्यस्पर्धया समन्ततश्चरन्निराच्छादिता इति।

६. आटे.।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
५२. रायगिहे नगरे समोसरणं। परिसा गिग्गया जाव एवं वयासी—	राजगृहे नगरे समवसरणम्। परिषद् निर्गता यावद् एवमवादीत्—	५२. राजगृह नगर में भगवान् का समवसरण। परिषद् ने नगर से निर्गमन किया। भगवान् ने धर्म कहा। परिषद् वापस नगर में चली गई, यावत् गीतम स्वामी बोले —
कम्म-वेयण-पदं	कर्म-वेदन-पदम्	कर्म-वेदन-पद
५३. जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेइ ? गोयमा ! अत्येगइयं वेदेइ, अत्येगइयं नो वेदेइ ॥	जीवः भदन्त ! स्वयंकृतं दुःखं वेदयति ? गीतम ! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति ।	५३. भन्ते ! क्या जीव स्वयंकृत दुःख का वेदन करता है ? गीतम ! जीव किसी दुःख का वेदन करता है, किसी दुःख का वेदन नहीं करता ।
५४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ— अत्येगइयं वेदेइ ? अत्येगइयं नो वेदेइ ? गोयमा ! उदिण्णं वेदेइ, नो अणुदिण्णं वेदेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ— अत्येगइयं वेदेइ, अत्येगइयं नो वेदेइ ॥	तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अस्त्ये- ककं वेदयति ? अस्त्येककं नो वेदयति ? गीतम ! उदीर्णं वेदयति, नो अनुदीर्णं वेदयति । तत् तेनार्थेन गीतम ! एवमुच्यते— अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति ।	५४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है —जीव किसी दुःख का वेदन करता है, किसी दुःख का वेदन नहीं करता ? गीतम ! जीव उदीर्ण (उदय-प्राप्त) दुःख का वेदन करता है, अनुदीर्ण (अनुदय-प्राप्त) दुःख का वेदन नहीं करता । गीतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव किसी दुःख का वेदन करता है, किसी दुःख का वेदन नहीं करता ।
५५. एवं जाव वेमाणिए ॥	एवं यावद् वैमानिकः ।	५५. (नैरयिक से लेकर) वैमानिक तक इसी प्रकार वक्तव्य है ।
५६. जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेति ? गोयमा ! अत्येगइयं वेदेति ? अत्येगइयं नो वेदेति ॥	जीवाः भदन्त ! स्वयंकृतं दुःखं वेदयन्ति ? गीतम ! अस्त्येककं वेदयन्ति, अस्त्येककं नो वेदयन्ति ।	५६. भन्ते ! क्या जीव स्वयंकृत दुःख का वेदन करते हैं ? गीतम ! जीव किसी दुःख का वेदन करते हैं, किसी दुःख का वेदन नहीं करते ।
५७. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ— अत्येगइयं वेदेति ? अत्येगइयं नो वेदेति ? गोयमा ! उदिण्णं वेदेति, नो अणुदिण्णं वेदेति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ —अत्येगइयं वेदेति, अत्येगइयं नो वेदेति ।	तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अस्त्ये- ककं वेदयन्ति ? अस्त्येककं नो वेदयन्ति ? गीतम ! उदीर्णं वेदयन्ति, नो अनुदीर्णं वेदयन्ति । तत् तेनार्थेन गीतम ! एवमुच्यते —अस्त्येककं वेदयन्ति, अस्त्येककं नो वेदयन्ति ।	५७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव किसी दुःख का वेदन करते हैं, किसी दुःख का वेदन नहीं करते ? गीतम ! जीव उदीर्ण दुःख का वेदन करते हैं, अनुदीर्ण दुःख का वेदन नहीं करते । गीतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव किसी दुःख का वेदन करते हैं, किसी दुःख का वेदन नहीं करते ।

५८. एवं जाव वेमाणिया ॥

एवं यावद् वैमानिकाः ।

५८. (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक इसी प्रकार वक्तव्य है ।

५९. जीवे णं भन्ते ! सयंकडं आजयं वेदेइ ?

जीवः भदन्त ! स्वयंकृतं आयुः वेदयति ?

५९. भन्ते ! क्या जीव स्वयंकृत आयुष्य का वेदन करता है ?

गोयमा ! अत्येगइयं वेदेइ, अत्येगइयं नो वेदेइ । जहा दुक्खेणं दो दंडगा तथा आउ-एण वि दो दंडगा—एगत्त-पोहत्तिया ॥

गीतम ! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति । यथा दुःखेन द्वौ दण्डकौ तथा आयुषाऽपि द्वौ दण्डकौ—एकत्वपृथक्त्वकौ ।

गीतम ! जीव किसी आयुष्य का वेदन करता है, किसी आयुष्य का वेदन नहीं करता ! जैसे—दुःख के दो दण्डक (वाक्य-रचना चिकित्सा) बतलाए गए हैं, वैसे ही आयुष्य के भी दो दण्डक वक्तव्य हैं—एकवचन वाला और बहुवचन वाला ।

भाष्य

१. सूत्र ५३-५६

दार्शनिक क्षेत्र में कर्मवेदन के विषय में तीन धारणाएं प्रचलित हैं—ईश्वरकर्तृत्ववाद, अज्ञेयवाद और कर्मवाद । कुछ दार्शनिक मानते हैं कि प्राणी को सुख-दुःख का फल ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है, यह ईश्वरकर्तृत्ववाद है । कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सुख-दुःख के फल-भोग का हेतु अज्ञात है, यह अज्ञेयवाद है । सुख दुःख का फल अपने किए हुए कर्मों के द्वारा प्राप्त होता है, यह कर्मवाद है । जैन दर्शन कर्मवादी दर्शन है । वह प्रत्येक वेदन को अपने किए हुए कर्म का फल मानता है । इसीलिए स्वयंकृत कर्म का प्रश्न उपस्थित किया गया है । इसी से जुड़ा प्रश्न वेदन का, कर्म के भोग का है । क्या कोई जीव एक जन्म में अपने किए हुए सारे कर्मों का वेदन कर लेता है ? यदि कर लेता है तो पहले किसका करेगा और बाद में किसका ? इस पौर्वापर्य का निर्धारण कौन करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि कर्म के वेदन की एक व्यवस्था है, वह स्वयंकृत है, उस व्यवस्था का नाम है काल-मर्यादा । कर्म-बन्ध के समय उसकी स्थिति और फल देने की क्षमता का निर्धारण हो जाता है । जैसे ही स्थिति का परिपाक होता है, वैसे ही कर्म विपाकाभिमुखी होकर उदय में आता है । जिसका उदय होता है, उसी का वेदन होता है । जिसका उदय नहीं होता, उसका वेदन नहीं होता । इसी कर्मवाद के रहस्य को अभिव्यक्ति देने के लिए भगवान् ने कहा—किसी कर्म का वेदन होता है, किसी का नहीं होता ।

वृत्तिकार ने दुःख का अर्थ कर्म किया है । उन्होंने लिखा है कि सांसारिक सुख भी वस्तुतः दुःख होता है, दुःख का हेतु कर्म होता है । इसलिए वहां दुःख का अर्थ कर्म है ।^१ किन्तु यहां दुःख और वेदन दो पदों का योग है; इसलिए यहां दुःख का अर्थ वेदनीय कर्म तक सीमित रखना संगत लगता है ।

दूसरा प्रश्न आयुष्य से सम्बन्धित है । आयुष्य का बन्ध पूर्वजन्म में हो जाता है, किन्तु उसका वेदन नए जन्म के साथ ही प्रारम्भ होता है । इस आधार पर कहा जा सकता है कि सुख-दुःख और आयु के वेदन में नया जन्म नियामक की भूमिका निभाता है । पातञ्जल योगदर्शन के 'सति मूले तद्विपाको ज्ञत्यापुर्भोगाः'^२ सूत्र के साथ इसकी तुलना की जा सकती है । वृत्तिकार ने आयुष्य के विषय में वृद्धोक्तभावना का उल्लेख किया है । उसके अनुसार कोई जीव सातवीं नारकी के योग्य आयु कर्म का बन्ध कर लेता है और कालान्तर में परिणामधारा के परिवर्तन के साथ तीसरे नरक के योग्य कर्म का निर्वर्तन कर लेता है । इस प्रकार की घटना के आधार पर कहा जाता है कि कोई जीव अनुदीर्ण, पूर्ववद्ध आयु का वेदन नहीं करता । जिस स्थान का आयु-बन्ध करता है, वहीं पैदा होता है, तब वह उदीर्ण आयु का वेदन करता है ।

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि प्रस्तुत आलापक में एकवचन और बहुवचन का प्रयोग क्यों ? इसके उत्तर में उन्होंने लिखा है कि कुछ स्थलों में एकवचन और बहुवचन का विषय बदल जाता है । उदाहरणस्वरूप—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति एक जीव की अपेक्षा साधिक ६६ सागर की है और नाना जीवों की अपेक्षा उसकी स्थिति सर्वकालिक है ।^३ किन्तु यहां ऐसा भेद नहीं है । दुःख और आयुष्य के वेदन का नियम जो एक जीव के लिए है, वही सब जीवों के लिए है । सांख्यिकी (statistics) के अनुसार सर्माष्ट और व्यष्टि में सर्वथा समान नियम लागू हो, यह आवश्यक नहीं है । पर यहां समानता का नियम लागू हो रहा है, यह उसका उदाहरण है ।

१. भ.वृ.१।५३

२. पा.यो.द.२।१३।

३. भ.वृ.१।५६।

नेरइयादीणं समाहार-समसरीरादि-पदं

नैरयिकादीनां समाहार-समशरीरादि-पदम्

नैरयिक आदि जीवों का समान आहार, समान शरीर आदि-पद

६०. नेरइया णं भंते ! सब्बे समाहारा ? सब्बे समसरीरा ? सब्बे समुस्सासनीसासा ? गोयमा ! नो इण्डे समडे ॥

नैरयिका: भदन्त ! सर्वे समाहारा: ? सर्वे समशरीरा: ? सर्वे समोच्छ्वासनि:श्वासा: ? गौतम ! नो अयमर्थ: समर्थ: ।

६०. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान आहार, समान शरीर और समान उच्छ्वास-नि:श्वास वाले हैं ? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६१. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समाहारा ? नो सब्बे समसरीरा ? नो सब्बे समुस्सासनीसासा ? गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—महासरीरा य, अप्पसरीरा य । तत्थ णं जेते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारोत्ति, बहुतराए पोग्गले परिणामेत्ति, बहुतराए पोग्गले उस्ससंत्ति, बहुतराए पोग्गले नीससंत्ति; अभिक्खणं आहारोत्ति, अभिक्खणं परिणामेत्ति, अभिक्खणं ऊससंत्ति, अभिक्खणं नीससंत्ति । तत्थ णं जेते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारोत्ति, अप्पतराए पोग्गले परिणामेत्ति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंत्ति, अप्पतराए पोग्गले नीससंत्ति; आहच्च आहारोत्ति, आहच्च परिणामेत्ति, आहच्च उस्ससंत्ति, आहच्च नीससंत्ति । से तेणट्टेणं

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—नो सर्वे समाहारा: ? नो सर्वे समशरीरा: ? नो सर्वे समोच्छ्वासनि:श्वासा: ? गौतम ! नैरयिका: द्विविधा: प्रज्ञासा: , तद् यथा—महाशरीरा: च, अल्पशरीरा: च, तत्र ये एते महाशरीरा: ते बहुतरान् पुद्गलान् आहरन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वसन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् नि:श्वसन्ति; अभीक्ष्णम् आहरन्ति, अभीक्ष्णं परिणमयन्ति, अभीक्ष्णम् उच्छ्वसन्ति, अभीक्ष्णं नि:श्वसन्ति । तत्र ये एते अल्पशरीरा: ते अल्पतरान् पुद्गलान् आहरन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् उच्छ्वसन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् नि:श्वसन्ति; आहत्य आहरन्ति, आहत्य परिणमयन्ति, आहत्य उच्छ्वसन्ति, आहत्य नि:श्वसन्ति ।

६१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान आहार, समान शरीर और समान उच्छ्वास-नि:श्वास वाले नहीं होते ? गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—महाशरीरी और अल्पशरीरी । इनमें जो महाशरीरी हैं, वे बहुतर पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुतर पुद्गलों का परिणमन करते हैं और बहुतर पुद्गलों का उच्छ्वास करते हैं, बहुतर पुद्गलों का नि:श्वास करते हैं; बार-बार आहार करते हैं, बार-बार परिणमन करते हैं, बार-बार उच्छ्वास करते हैं और बार-बार नि:श्वास करते हैं । इनमें जो अल्पशरीरी हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं, अल्पतर पुद्गलों का परिणमन करते हैं, अल्पतर पुद्गलों का उच्छ्वास करते हैं और अल्पतर पुद्गलों का नि:श्वास करते हैं; वे कदाचित् (नियमित समय में) आहार करते हैं, कदाचित् परिणमन करते हैं, कदाचित् उच्छ्वास करते हैं और कदाचित् नि:श्वास करते हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान आहार, समान शरीर और समान उच्छ्वास-नि:श्वास वाले नहीं होते ।

गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समाहारा, नो सब्बे समसरीरा, नो सब्बे समुस्सासनीसासा ॥

तत् तेनार्येण गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिका: नो सर्वे समाहारा: , नो सर्वे समशरीरा: , नो सर्वे समोच्छ्वासनि:श्वासा: ।

६२. नेरइया णं भंते ! सब्बे समकम्मा ? गोयमा ! नो इण्डे समडे ॥

नैरयिका: भदन्त ! सर्वे समकर्माण: ? गौतम ! नो अयमर्थ: समर्थ: ।

६२. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान कर्म वाले हैं ? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६३. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समकम्मा ? गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समकम्मा ॥

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिका: नो सर्वे समकर्माण: ? गौतम ! नैरयिका: द्विविधा: प्रज्ञासा: , तद् यथा—पूर्वोपपन्नका: च, पश्चादुपपन्नका: च । तत्र ये एते पूर्वोपपन्नका: ते अल्पतरक-कर्माण: । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नका: ते महत्तरककर्माण: । तत् तेनार्येण गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिका: नो सर्वे समकर्माण: ।

६३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान कर्म वाले नहीं हैं ? गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे अल्पतरकर्म वाले हैं । इनमें जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे महत्तरकर्म वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान कर्म वाले नहीं हैं ।

६४. नेरइया णं भंते ! सब्बे समवण्णा ? गोयमा ! नो इण्डे समडे ॥

नैरयिका: भदन्त ! सर्वे समवर्णा: ? गौतम ! नो अयमर्थ: समर्थ: ।

६४. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान वर्ण वाले हैं ? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६५. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समवण्णा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धवण्ण-तरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धवण्णतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समवण्णा ॥

६६. नेरइया णं भंते ! सब्बे समलेस्सा ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

६७. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समलेस्सा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्स-तरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं अविमुद्धलेस्सतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समलेस्सा ॥

६८. नेरइया णं भंते ! सब्बे समवेयणा ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

६९. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समवेयणा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य, असण्णिभूया य । तत्थ णं जेते सण्णिभूया ते णं महावेयणा । तत्थ णं जेते असण्णिभूया ते णं अम्पवेयण-तरागा । से तेणट्टेणं गोयमा एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समवेयणा ॥

७०. नेरइया णं भंते ! सब्बे समकिरिया ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

७१. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समकिरिया ?

गोयमा ! नेरइया ति विहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्माभिच्छ-दिट्ठी । तत्थ णं जेते सम्मदिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समवर्णाः ?

गौतम ! नैरयिकाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—पूर्वोपपन्नकाः च, पश्चादुपपन्नकाः च, तत्र ये एते पूर्वोपपन्नकाः ते विशुद्धतरकवर्णाः । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नकाः ते अविशुद्धतरकवर्णाः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समवर्णाः ।

नैरयिकाः भदन्त ! सर्वे समलेश्याः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समलेश्याः ?

गौतम ! नैरयिकाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—पूर्वोपपन्नकाः च, पश्चादुपपन्नकाः च । तत्र ये एते पूर्वोपपन्नकाः ते विशुद्धतरक-लेश्याः । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नकाः ते अविशुद्धतरकलेश्याः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समलेश्याः ।

नैरयिकाः भदन्त ! सर्वे समवेदनाः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समवेदनाः ?

गौतम ! नैरयिकाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—संज्ञिभूताश्च, असंज्ञिभूताश्च । तत्र ये एते संज्ञिभूताः ते महावेदनाः । तत्र ये एते असंज्ञिभूताः ते अल्पतरकवेदनाः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समवेदनाः ।

नैरयिकाः भदन्त ! सर्वे समक्रियाः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समक्रियाः ?

गौतम ! नैरयिकाः त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—सम्यग्दृष्टयः मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्या-दृष्टयः । तत्र ये एते सम्यग्दृष्टयः तेषां चतस्रः क्रियाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—आरम्भिकी,

६५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान वर्ण वाले नहीं हैं ?

गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे विशुद्धतर वर्ण वाले हैं । इनमें जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे अविशुद्धतर वर्ण वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान वर्ण वाले नहीं हैं ।

६६. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान लेश्या वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान लेश्या वाले नहीं हैं ?

गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे विशुद्धतर लेश्या वाले हैं । इनमें जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे अविशुद्धतर लेश्या वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान लेश्या वाले नहीं हैं ।

६८. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान वेदना वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान वेदना वाले नहीं हैं ?

गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । इनमें जो संज्ञिभूत हैं, वे महान् वेदना वाले हैं । इनमें जो असंज्ञिभूत हैं, वे अल्पतर वेदना वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान वेदना वाले नहीं हैं ।

७०. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान क्रिया वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

७१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान क्रिया वाले नहीं हैं ?

गौतम ! नैरयिक तीन प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि । इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके चार क्रियाएं प्रज्ञप्त हैं, जैसे—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया

आरंभिया, पारिग्रहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया । तत्थ णं जेते मिच्छादिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्रहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया । एवं सम्मा-मिच्छदिट्ठीणं पि । से तेणदुणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समकिरिया ॥

पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया । तत्र ये एते मिथ्यादृष्टयः तेषां पञ्च क्रियाः क्रियन्ते, तद् यथा—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया, मिथ्यादर्शनप्रत्यया । एवं सम्यग्-मिथ्यादृष्टयोऽपि । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समक्रियाः ।

और अप्रत्याख्यानक्रिया । इनमें जो मिथ्यादृष्टि हैं, उनके पांच क्रियाएं होती हैं, जैसे—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया । इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीवों के भी पांच क्रियाएं होती हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान क्रिया वाले नहीं हैं ।

७२. नेरइया णं भंते ! सब्बे समाउया ? समोववन्नगा ? गोयमा ! णो इणदुए समदु ॥

नैरयिकाः भदन्त ! सर्वे समायुषः ? सर्वे समोपपन्नकाः ? गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

७२. भन्ते ! क्या सब नैरयिक समान आयु वाले हैं? क्या वे एक साथ उपपन्न हैं ? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

७३. से केणदुणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समाउया ? नो सब्बे समोववन्नगा ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समायुषः ? नो सर्वे समोपपन्नकाः ?

७३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान आयु वाले नहीं हैं और एक साथ उपपन्न नहीं हैं ?

गोयमा ! नेरइया चउच्चिहा षण्णत्ता, तं जहा—१. अत्येगइया समाउया समोववन्नगा २. अत्येगइया समाउया विसमोववन्नगा ३. अत्येगइया विसमाउया समोववन्नगा ४. अत्येगइया विसमाउया विसमोववन्नगा । से तेणदुणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया नो सब्बे समाउया, नो सब्बे समोववन्नगा ॥

गौतम ! नैरयिकाः चतुर्विधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—१.अत्येकके समायुषः समोपपन्नकाः २.अत्येकके समायुषः विषमोपपन्नकाः ३.अत्येकके विषमायुषः समोपपन्नकाः ४.अत्येकके विषमायुषः विषमोपपन्नकाः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो सर्वे समायुषः, नो सर्वे समोपपन्नकाः ।

गौतम ! नैरयिक चार प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—१.कुछ नैरयिक समान आयु वाले और एक साथ उपपन्न हैं, २.कुछ नैरयिक समान आयु वाले और भिन्न काल में उपपन्न हैं, ३.कुछ नैरयिक विषम आयु वाले और एक साथ उपपन्न हैं, ४.कुछ नैरयिक विषम आयु वाले और भिन्न काल में उपपन्न हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब नैरयिक समान आयु वाले नहीं हैं और एक साथ उपपन्न नहीं हैं ।

७४. असुरकुमारा णं भंते ! सब्बे समाहारा ? सब्बे समशरीरा ?

असुरकुमाराः भदन्त ! सर्वे समाहाराः ? सर्वे समशरीराः ?

७४. भन्ते ! क्या सब असुरकुमार देव समान आहार और समान शरीर वाले हैं ?

जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं—कम्म-वण्ण-लेस्साओ परिवत्तेयव्वाओ (पुब्बोववन्ना महाकम्मतरा, अविमुद्ध-वण्णतरा, अविमुद्धलेसतरा । पच्छोववन्ना पसत्त्वा । सेसं तहेव) ॥

यथा नैरयिकाः तथा भणितव्याः, नवरं—कर्म-वर्ण-लेश्याः परिवर्तितव्याः (पूर्वोपपन्नाः महत्तरकर्माणः अविशुद्धतरवर्णाः अविशुद्धतरलेश्याः । पश्चादुपपन्नाः प्रशस्ताः । शेषं तथैव) ।

यह पूरा प्रकरण नैरयिक जीवों की भांति वक्तव्य है । केवल इतना अन्तर है—कर्म, वर्ण और लेश्याओं का विषय परिवर्तनीय है—नारकीय जीवों के वर्णन से विपरीत रूप में वक्तव्य है । (पूर्व उपपन्न होने वाले असुरकुमार देव महत्तर कर्मवाले, अविशुद्धतर वर्ण और अविशुद्धतर लेश्या वाले हैं । पश्चाद् उपपन्न असुरकुमार देव अल्पतर कर्म वाले, विशुद्धतर वर्ण और विशुद्धतर लेश्या वाले हैं । शेष नैरयिक की भांति वक्तव्य हैं ।)

७५. एवं जाव थणियकुमारा ॥

एवं यावत् स्तनितकुमाराः ।

७५. इसी प्रकार नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के देवों के विषय में वक्तव्य हैं ।

७६. पुढ्विकाइयाणं आहार-कम्म-वण्ण-लेस्सा जहा णेरइयाणं ॥

पृथ्वीकायिकानां आहार-कर्म-वर्ण-लेश्याः यथा नैरयिकाणाम् ।

७६. पृथ्वीकायिक जीवों के आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिक जीवों की भांति वक्तव्य हैं ।

७७. पुढविकाइया णं भंते ! सब्बे समवेदणा?

हंता गोयमा ! पुढविकाइया सब्बे सम-
वेदणा ॥

७८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—पुढवि-
काइया सब्बे समवेदणा ?

गोयमा ! पुढविकाइया सब्बे असण्णी
असण्णिभूतं अणिदाए वेदणं वेदंति । से
तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—पुढवि-
काइया सब्बे समवेदणा ॥

७९. पुढविकाइया णं भंते ! सब्बे
समकिरिया?

हंता गोयमा ! पुढविकाइया सब्बे सम-
किरिया ।

८०. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ— पुढवि-
काइया सब्बे समकिरिया ?

गोयमा ! पुढविकाइया सब्बे मायीमिच्छा-
दिदी । ताणं णेयतियाओ पंच किरियाओ
कज्जंति, तं जहा—आरंभिया, पारिग्गहि-
या, मायावत्तिया, अप्पच्चव्खाणकिरिया,
मिच्छादंसणवत्तिया । से तेणट्ठेणं गोयमा !
एवं बुच्चइ—पुढविकाइया सब्बे सम-
किरिया ॥

८१. समाउया, समोववज्जगा जहा नेरइया तहा
भाणियव्वा ॥

८२. जहा पुढविकाइया तहा जाव चउरिदिया ॥

८३. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया,
नाणत्तं किरियासु ॥

८४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सब्बे
समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ॥

पृथिवीकायिका: भदन्त! सर्वे समवेदनाः?

हन्त गौतम ! पृथिवीकायिका: सर्वे सम-
वेदनाः ।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—पृथिवी-
कायिका: सर्वे समवेदनाः ?

गौतम ! पृथिवीकायिका: सर्वे असंज्ञिनः
असंज्ञिभूतां अनिदया वेदनां वेदयन्ति । तत्
तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—पृथिवी-
कायिका: सर्वे समवेदनाः ।

पृथिवीकायिका: भदन्त ! सर्वे समक्रियाः ?

हन्त गौतम ! पृथिवीकायिका: सर्वे सम-
क्रियाः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—पृथिवी-
कायिका: सर्वे समक्रियाः ?

गौतम ! पृथिवीकायिका: सर्वे मायिमिथ्या-
दृष्टयः । तेषां नैयतिक्यः पंच क्रियाः क्रियन्ते,
तद् यथा—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, माया-
प्रत्यया, अप्रत्यख्यानक्रिया, मिथ्यादर्शन-
प्रत्यया । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते
—पृथिवीकायिका: सर्वे समक्रियाः ।

समाउषः, समोपपन्नका: यथा नैरयिका: तथा
भणितव्याः ।

यथा पृथिवीकायिका: तथा यावच् चतु-
रिन्द्रियाः ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका: यथा नैरयिका:,
नानात्वं क्रियासु ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका: भदन्त ! सर्वे सम-
क्रियाः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

७७. भन्ते ! क्या सब पृथ्वीकायिक जीव समान
वेदना वाले हैं ?

हां, गौतम ! सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना
वाले हैं ।

७८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है
—सब पृथ्वीकायिकजीव समान वेदना वाले हैं ?

गौतम ! सब पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी (अमन-
स्क) हैं । वे असंज्ञी के होने वाली वेदना को
अव्यक्त रूप में (मूर्च्छित की भांति) अनुभव करते
हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा
है—सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले
हैं ।

७९. भन्ते ! क्या सब पृथ्वीकायिक जीव समान
क्रिया वाले हैं ?

हां, गौतम ! सब पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया
वाले हैं ।

८०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है
—सब पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया वाले हैं ?

गौतम ! सब पृथ्वीकायिक जीव मायीमिथ्यादृष्टे
हैं । उनके निश्चित रूप से पांचों क्रियाएं होती
हैं, जैसे—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्य-
या, अप्रत्यख्यानक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्य-
या । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा
है—सब पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया वाले
हैं ।

८१. पृथ्वीकायिक जीवों के समान आयु और एक
साथ उपपन्न होने का प्रकरण नैरयिक जीवों की
भांति वक्तव्य है ।

८२. अपृकायिक जीवों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों
तक पूरा प्रकरण पृथ्वीकायिक जीवों की भांति
वक्तव्य है ।

८३. पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव नैरयिक जीवों
की भांति वक्तव्य हैं, केवल क्रिया का विषय भिन्न
है ।

८४. भन्ते ! क्या सब पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव
समान क्रिया वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं हैं ।

८५. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—
पंचिदियतिरिक्खजोणिया नो सब्बे सम-
किरिया ?

गोयमा ! पंचिदियतिरिक्खजोणिया तिविहा
पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छ-
दिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ।

तत्थ णं जेते सम्मदिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता,
तं जहा—असंजया य, संजयासंजया य ।

तत्थ णं जेते संजयासंजया, तेसि णं तिण्णि
किरियाओ कज्जांति, तं जहा—आरंभिया,
पारिग्गहिया, मायावत्तिया ।

असंजयाणं चत्तारि । मिच्छादिट्ठीणं पंच ।
सम्मामिच्छदिट्ठीणं पंच ॥

मणुस्सादीणं समाहार-समशरीरादि-पदं

८६. मणुस्सा णं भंते ! सब्बे समाहारा ?
सब्बे समशरीरा ? सब्बे समुस्सासनीसासा ?
गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे ॥

८७. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा
नो सब्बे समाहारा ? नो सब्बे समशरीरा ?
नो सब्बे समुस्सासनीसासा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा
—महाशरीरा य, अप्पशरीरा य ।

तत्थ णं जेते महाशरीरा ते बहुतराए पोग्गले
आहारंति, बहुतराए पोग्गले परिणामंति,
बहुतराए पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए
पोग्गले नीससंति; आहच्च आहारंति,
आहच्च परिणामंति, आहच्च उस्ससंति
आहच्च नीससंति ॥

तत्थ णं जेते अप्पशरीरा ते णं अप्पतराए
पोग्गले आहारंति, अप्पतराए पोग्गले परि-
णामंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति,
अप्पतराए पोग्गले नीससंति; अभिक्खणं
आहारंति, अभिक्खणं परिणामंति, अभि-
क्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति ।
से केणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा
नो सब्बे समाहारा, नो सब्बे समशरीरा, नो
सब्बे समुस्सासनीसासा ।

८८. मणुस्सा णं भंते ! सब्बे समकम्मरा ?
गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे ॥

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्च्यते—पज्जे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकाः नो सर्वे समक्रियाः ?

गौतम ! पज्जेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः त्रिविधाः
प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—सम्यग्दृष्टयः मिथ्यादृष्टयः
सम्यग्मिथ्यादृष्टयः ।

तत्र ये एते सम्यग्दृष्टयः ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः,
तद् यथा—असंयताः च, संयतासंयतः च ।

तत्र ये एते संयतासंयताः, तेषां तिस्रः क्रियाः
क्रियन्ते, तद् यथा—आरंभिकी, पारिग्रहि-
की, मायाप्रत्यया ।

असंयतानां चतस्रः । मिथ्यादृष्टीनां पञ्च ।
सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां पञ्च ।

मनुष्यादीनां समाहार-समशरीरादि-पदम्

मनुष्याः भदन्त ! सर्वे समाहाराः ? सर्वे सम-
शरीराः ? सर्वे समोच्छ्वासनिःश्वासाः ?
गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्च्यते—मनुष्याः
नो सर्वे समाहाराः ? नो सर्वे समशरीराः ?
नो सर्वे समोच्छ्वासनिःश्वासाः ?

गौतम ! मनुष्याः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा
—महाशरीराः च, अल्पशरीराः च ।

तत्र ये एते महाशरीराः ते बहुतरान् पुद्गलान्
आहारंति, बहुतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति,
बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वासन्ति, बहुतरान्
पुद्गलान् निःश्वसन्ति; आहत्य आहारन्ति,
आहत्य परिणमयन्ति, आहत्य उच्छ्वासन्ति,
आहत्य निःश्वसन्ति ।

तत्र ये एते अल्पशरीराः ते अल्पतरान् पुद्-
गलान् आहारन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् परि-
णमयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् उच्छ्वासन्ति,
अल्पतरान् पुद्गलान् निःश्वसन्ति; अभीक्षणम्
आहारन्ति, अभीक्षणं परिणमयन्ति, अभीक्षणम्
उच्छ्वासन्ति, अभीक्षणं निःश्वसन्ति । तत्
केनार्येण गौतम ! एवमुच्च्यते—मनुष्याः नो
सर्वे समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे
समोच्छ्वासनिःश्वासाः ।

मनुष्याः भदन्त ! सर्वे समकर्माणाः ?
गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

८५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—
सब पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव समान क्रिया वाले
नहीं हैं ?

गौतन ! पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव तीन प्रकार
के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और
सम्यग्मिथ्यादृष्टि ।

इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं,
जैसे—असंयत और संयतासंयत ।

इनमें जो संयतासंयत हैं, उनके तीन क्रियाएं होती
हैं, जैसे—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्य-
या ।

असंयत जीवों के चार, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-
मिथ्यादृष्टि जीवों के पांच क्रियाएं होती हैं ।

मनुष्यों आदि का समान आहार, समान
शरीर आदि-पद

८६. भन्ते ! क्या सब मनुष्य समान आहार, समान
शरीर और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले हैं ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

८७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—सब मनुष्य समान आहार, समान शरीर और
समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
महाशरीरी और अल्पशरीरी ।

इनमें जो महाशरीरी हैं, वे बहुतर पुद्गलों का
आहार करते हैं, बहुतर पुद्गलों का परिणमन
करते हैं, बहुतर पुद्गलों का उच्छ्वास करते हैं
और बहुतर पुद्गलों का निःश्वास करते हैं । वे
कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् परिणमन
करते हैं, कदाचित् उच्छ्वास करते हैं और
कदाचित् निःश्वास करते हैं ।

इनमें जो अल्पशरीरी हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का
आहार करते हैं, अल्पतर पुद्गलों का परिणमन
करते हैं, अल्पतर पुद्गलों का उच्छ्वास करते हैं
और अल्पतर पुद्गलों का निःश्वास करते हैं । वे
वार-वार आहार करते हैं, वार-वार परिणमन
करते हैं, वार-वार उच्छ्वास करते हैं और वार-
वार निःश्वास करते हैं । गौतम ! इस अपेक्षा में
कह कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान आहार,
समान शरीर और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले
नहीं हैं ।

८८. भन्ते ! क्या सब मनुष्य समान कर्म वाले हैं ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

८६. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समकम्ममा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समकम्ममा ॥

६०. मणुस्सा णं भंते ! सब्बे समवण्णा ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

६१. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समवण्णा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धवण्णतरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं अविशुद्धवण्णतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समवण्णा ॥

६२. मणुस्सा णं भंते ! सब्बे समलेश्सा ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

६३. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समलेश्सा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुब्बोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जेते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धलेश्सातरागा । तत्थ णं जेते पच्छोववन्नगा ते णं अविशुद्धलेश्सातरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समलेश्सा ॥

६४. मणुस्सा णं भंते ! सब्बे समवेयणा ?

गोयमा ! नो इणट्टे समट्टे ॥

६५. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समवेयणा ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य, असण्णिभूया य । तत्थ णं जेते सण्णिभूया ते णं महावेयणा । तत्थ णं जेते असण्णिभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समवेयणा ॥

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समकर्माणः ?

गौतम ! मनुष्याः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—पूर्वोपपन्नकाः च, पश्चादुपपन्नकाः च । तत्र ये एते पूर्वोपपन्नकाः ते अल्पतरककर्माणः । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नकाः ते महत्तरककर्माणः । तत् तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समकर्माणः ।

मनुष्याः भदन्त ! सर्वे समवर्णाः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समवर्णाः ?

गौतम ! मनुष्याः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—पूर्वोपपन्नकाः च, पश्चादुपपन्नकाः च । तत्र ये एते पूर्वोपपन्नकाः ते विशुद्धतरकवर्णाः । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नकाः ते अविशुद्धतरकवर्णाः । तत् तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समवर्णाः ।

मनुष्याः भदन्त ! सर्वे समलेश्याः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समलेश्याः ?

गौतम ! मनुष्याः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—पूर्वोपपन्नकाः च, पश्चादुपपन्नकाः च । तत्र ये एते पूर्वोपपन्नकाः ते विशुद्धतरकलेश्याः । तत्र ये एते पश्चादुपपन्नकाः ते अविशुद्धतरकलेश्याः । तत् तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समलेश्याः ।

मनुष्याः भदन्त ! सर्वे समवेदनाः ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समवेदनाः ?

गौतम ! मनुष्याः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—संज्ञिभूताश्च, असंज्ञिभूताश्च । तत्र ये एते संज्ञिभूताः ते महावेदनाः । तत्र ये एते असंज्ञिभूताः ते अल्पतरकवेदनाः । तत् तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—मनुष्याः नो सर्वे समवेदनाः ।

८६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान कर्म वाले नहीं हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रजात हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे अल्पतर कर्म वाले हैं । जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे बहुतर कर्म वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान कर्म वाले नहीं हैं ।

६०. भन्ते ! क्या सब मनुष्य समान वर्ण वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान वर्ण वाले नहीं हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रजात हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे विशुद्धतर वर्ण वाले हैं । जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे अविशुद्धतर वर्ण वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान वर्ण वाले नहीं हैं ।

६२. भन्ते ! क्या सब मनुष्य समान लेश्या वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान लेश्या वाले नहीं हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रजात हैं, जैसे—पूर्व उपपन्न और पश्चाद् उपपन्न । इनमें जो पूर्व उपपन्न हैं, वे विशुद्धतर लेश्या वाले हैं । जो पश्चाद् उपपन्न हैं, वे अविशुद्धतर लेश्या वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान लेश्या वाले नहीं हैं ।

६४. भन्ते ! क्या सब मनुष्य समान वेदना वाले हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान वेदना वाले नहीं हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रजात हैं, जैसे—संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । इनमें जो संज्ञिभूत हैं, वे महा वेदना वाले हैं । जो असंज्ञिभूत हैं, वे अल्पतर वेदना वाले हैं । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब मनुष्य समान वेदना वाले नहीं हैं ।

६६. मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?
गोयमा ! नो इण्ढे समइ ॥

६७. से केण्ढेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा
नो सव्वे समकिरिया?

गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा
—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्माभिच्छ-
दिट्ठी ।

तत्थ णं जेते सम्मदिट्ठी, ते तिविहा पण्णत्ता,
तंजहा—संजया, असंजया, संजयासंजया ।

तत्थ णं जेते संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं
जहा—सरागसंजया य, वीतरागसंजया
य ।

तत्थ णं जेते वीतरागसंजया, ते णं
अकिरिया ।

तत्थ णं जेते सरागसंजया ते दुविहा
पण्णत्ता, तं जहा—पमत्तसंजया य,
अप्पमत्तसंजया य ।

तत्थ णं जेते अप्पमत्तसंजया, तेसि णं एगा
मायावत्तिया किरिया कज्जइ ।

तत्थ णं जेते पमत्तसंजया, तेसि णं दो
किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया
य, मायावत्तिया य ।

तत्थ णं जेते संजयासंजया, तेसि णं आइ-
ल्लाओ तिविहा किरियाओ कज्जंति, तं जहा
—आरंभिया, पारिग्गहिया, माया-
वत्तिया । असंजयाणं चत्तारि किरियाओ
कज्जंति—आरंभिया, पारिग्गहिया, माया-
वत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया ।

मिच्छदिट्ठीणं पंच—आरंभिया, पारिग्ग-
हिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया,
मिच्छादंसंणवत्तिया । सम्माभिच्छदिट्ठीणं
पंच ॥

६८. मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समाउया? सव्वे
समोववन्नगा ?
गोयमा ! नो इण्ढे समइ ॥

६९. से केण्ढेणं भंते ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा
नो सव्वे समाउया? नो सव्वे समोववन्नगा?

गोयमा ! मणुस्सा चउच्चिहा पण्णत्ता, तं
जहा—१.अत्थेगइया समाउया समो-

मणुष्ठा: भदन्त ! सर्वे समक्रिया: ?
गौतम ! नो अयमर्थ: समर्थ: ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—मणुष्ठा:
नो सर्वे समक्रिया: ?

गौतम ! मणुष्ठा त्रिविधा: प्रज्ञाता:, तद् यथा
—सम्यग्दृष्टय:, मिथ्यादृष्टय:, सम्यग्मिथ्या-
दृष्टय: ।

तत्र ये एते सम्यग्दृष्टय:, ते त्रिविधा: प्रज्ञाता:,
तद् यथा—संयता:, असंयता:, संयता-
संयता: ।

तत्र ये एते संयता: ते द्विविधा: प्रज्ञाता:, तद्
यथा—सरागसंयता: च, वीतरागसंयता: च ।

तत्र ये एते वीतरागसंयता: ते अक्रिया: ।

तत्र ये एते सरागसंयता: ते द्विविधा: प्रज्ञाता:,
तद् यथा—प्रमत्तसंयता: च, अप्रमत्तसंयता:
च ।

तत्र ये एते अप्रमत्तसंयता:, तेषाम् एका
मायाप्रत्यया क्रिया क्रियते ।

तत्र ये एते प्रमत्तसंयता:, तेषां द्वे क्रिये
क्रियेते, तद् यथा—आरंभिकी च, माया-
प्रत्यया च ।

तत्र ये एते संयतासंयता:, तेषाम् आदिमा:
तिष्ठ: क्रिया: क्रियन्ते, तद् यथा—आरंभि-
की, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया ।

असंयतानां चतस्र: क्रिया: क्रियन्ते—
आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया,
अप्रत्याख्यानक्रिया ।

मिथ्यादृष्टीनां पञ्च—आरंभिकी, पारि-
ग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया,
मिथ्यादर्शनप्रत्यया । सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां
पञ्च ।

मणुष्ठा: भदन्त ! सर्वे समायुष: ? सर्वे समो-
पपन्नका: ?
गौतम ! नो अयमर्थ: समर्थ: ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—मणुष्ठा:
नो सर्वे समायुष: ? नो सर्वे समोपपन्नका: ?

गौतम ! मणुष्ठा: चतुर्विधा: प्रज्ञाता:, तद् यथा
—१.अस्त्येकके सनायुष: समोपपन्नका: ।

६६. भन्ते ! क्या सब मणुष्य समान क्रिया वाले हैं?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है
—सब मणुष्य समान क्रिया वाले नहीं हैं?

गौतम ! मणुष्य तीन प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि ।

इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तीन प्रकार के प्रज्ञात
हैं, जैसे—संयत, असंयत और संयतासंयत ।

जो संयत हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
सरागसंयत और वीतरागसंयत ।

जो वीतरागसंयत हैं, वे अक्रिय हैं—उनके ये
पांचों क्रियाएं नहीं होती ।

जो सरागसंयत हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे
—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ।

जो अप्रमत्तसंयत हैं, उनके एक मायाप्रत्यया क्रिया
होती है ।

जो प्रमत्तसंयत हैं, उनके दो क्रियाएं होती हैं, जैसे
—आरंभिकी और मायाप्रत्यया ।

जो संयतासंयत हैं, उनके प्रथम तीन क्रियाएं होती
हैं, जैसे—आरंभिकी, पारिग्रहिकी और माया-
प्रत्यया ।

असंयत जीवों के चार क्रियाएं होती
हैं—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और
अप्रत्याख्यानक्रिया ।

मिथ्यादृष्टि जीवों के पांच क्रियाएं होती हैं—
आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्या-
ख्यानक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया । सम्यग्-
मिथ्यादृष्टि जीवों के भी पांच क्रियाएं होती हैं ।

६८. भन्ते ! क्या सब मणुष्य समान आयु वाले हैं?
क्या वे एक साथ उपपन्न हैं ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—सब मणुष्य समान आयु वाले नहीं हैं और
एक साथ उपपन्न नहीं हैं ?

गौतम ! मणुष्य चार प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
कुछ मणुष्य समान आयु वाले और एक साथ

ववन्नगा। २. अत्येगइया समाउयाविसमो-
ववन्नगा। ३. अत्येगइया विसमाउया
समोववन्नगा। ४. अत्येगइया विसमाउया
विसमोववन्नगा। से तेण्डेणं गोयमा !
एवं बुच्चइ—मणुस्सा नो सब्बे समाउया,
नो सब्बे समोववन्नगा ॥

२. अस्त्येकके समायुषः विषमोपपन्नकाः।
३. अस्त्येकके विषमायुषः समोपपन्नकाः।
४. अस्त्येकके विषमायुषः विषमोपपन्नकाः।
तत् तेनार्थेन गीतम् ! एवमुच्यते—मनुष्याः
नो सर्वे समायुषः, नो सर्वे समोपपन्नकाः।

उपपन्न हैं, कुछ मनुष्य समान आयु वाले और
भिन्न काल में उपपन्न हैं, कुछ मनुष्य विषम आयु
वाले और समकाल में उपपन्न हैं, कुछ मनुष्य
विषम आयु वाले और भिन्न काल में उपपन्न हैं।
गीतम् ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सब
मनुष्य समान आयु वाले और एक साथ उपपन्न
नहीं हैं।

१००. वाणमंतर-ज्योतिस-वेमाणिया जहा
असुरकुमारा, नवरं—वेयणाए णाणत्तं—
मायिमिच्छदिद्वीउववन्नगा य अप्पवेयण-
तरा, अमायिसम्मदिद्वीउववन्नगा य महावे-
यणतरा भाणियन्वा ज्योतिसवेमाणिया ॥

वानमन्तर-ज्योतिष-वैमानिकाः यथा असुर-
कुमाराः, नवरं—वेदनायां नानात्वं—मायि-
मिध्यादृष्ट्युपपन्नकाः च अल्पतरवेदनाः अमा-
यिसम्यगृष्ट्युपपन्नकाः च महत्तरवेदनाः
भणितव्याः ज्योतिषवैमानिकाः।

१००. वानमंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव
असुरकुमार देवों की तरह वक्तव्य हैं। केवल
वेदना में भिन्नता है—(व्यंतर देवों का वेदना-
प्रकरण असुरकुमार की भांति ज्ञातव्य है)
—ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में (असंज्ञी जीव
उत्पन्न नहीं होते)। जो मायी मिध्यादृष्टि उपपन्न
हैं, वे अल्पतर वेदना वाले और अमायी सम्यगृष्टि
उपपन्न हैं, वे महत्तर वेदना वाले हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६०-१००

प्रस्तुत आलापक में नैरयिक के विषय में नौ प्रश्नों की मार्गणा
की गई है—प्रथम तीन प्रश्नों का एक वर्ग है। ये तीनों प्रश्न जीवन
के साथ जुड़े हुए हैं। आहार, शरीर और उच्छ्वास-निःश्वास—ये
तीनों जीवन के अनिवार्य अंग हैं; इसलिए आहार की मात्रा,
शरीर-परिमाण और उच्छ्वास-निःश्वास के परिमाण के विषय में
जिज्ञासा की गई है। उसके उत्तर में भगवान् ने कहा—सबका शरीर
एक जैसा नहीं होता, किसी का शरीर बड़ा होता है और किसी का
छोटा।^१ शरीर-भेद के आधार पर आहार और श्वास की मात्रा में
भी अन्तर आ जाता है। बड़े शरीर वाला अधिक आहार करता है
और छोटे शरीर वाला अल्प आहार करता है, यह प्राकृतिक नियम
है। वृत्तिकार ने इस प्रसंग को हाथी और खरगोश के उदाहरण
द्वारा समझाया है।^२ नैरयिक के रोम-आहार होता है।^३ वृत्तिकार ने
इस नियम को बाहुल्यापेक्ष बतलाया है।^४ किन्तु शरीर के परिमाण-भेद
को देखते हुए यह स्वाभाविक नियम प्रतीत होता है। दुःख (मानसिक
सन्ताप या तनाव) की मात्रा के आधार पर श्वास की संख्या में भी
परिवर्तन हो जाता है। अल्प दुःख—श्वास-उच्छ्वास की संख्या अल्प,
अधिक दुःख—श्वास-उच्छ्वास की संख्या अधिक। अल्प शरीर वालों

के लिए इसका नियम विपरीत है। पृथ्वीकाय आदि जीवों के आहार,
शरीर और उच्छ्वास-निःश्वास आदि नैरयिक की भांति बतलाए गए
हैं। पृथ्वीकायिक आदि जीवों के शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट
अवगाहना अंगुल के असंख्यातयें भाग की होती है।^५ फिर अल्प
शरीर पर महाशरीर का नियम कैसे लागू होगा ? यह प्रश्न अत्यन्त
जटिल है। किन्तु सूक्ष्मता का जगत् बहुत बड़ा है। इतनी सूक्ष्मता
अवगाहना में भी बहुत बड़ा तारतम्य है। पण्णवणा में उस तारतम्य
को चतुःस्थानपतित (असंख्येयभाग हीन, संख्येयभाग हीन, संख्येयगुण
हीन, असंख्येयगुण हीन; असंख्येयभाग अधिक, संख्येयभाग अधिक,
संख्येयगुण अधिक, असंख्येयगुण अधिक) बतलाया गया है।^६ इस
आधार पर पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर को अल्प और महान् दो
भागों में विभक्त किया गया है। उनमें महाशरीर वाले लोम-आहार
के द्वारा बहुततर पुद्गलों का आहार करते हैं और बार-बार
उच्छ्वास-निःश्वास करते हैं। अल्प शरीर वालों का व्यवहार इसके
विपरीत होता है।^७

आहार और उच्छ्वास-निःश्वास के विषय में मनुष्य का नियम

१. पण्ण. २१।६६, ६७।

२. म. वृ. १।६१—दृश्यते हि लोके बृहच्छरीरो बह्वाशी स्वल्प-शरीरश्चाल्पभोजी,
हस्तिशशकवत्।

३. पण्ण. २८।१०२; म. जो. १।७।४४।

४. म. वृ. १।६१—बाहुल्यापेक्षं चेदमुच्यते, अन्यथा बृहच्छरीरोऽपि कश्चि-

दल्पमश्नाति अल्पशरीरोऽपि कश्चिद् भूरि भुङ्क्ते, तथाविध-मनुष्यवत्। न
पुनरेवमिह, बाहुल्यपक्षस्यैवाश्रयणात्।

५. पण्ण. २१।४०।

६. वही, ५।१५६।

७. म. वृ. १।७६—केवलमाहारसूत्रे भावनैव—पृथिवीकायिकानामङ्गुलासंख्येय-

शेष प्राणियों से भिन्न है। महाशरीर वाले मनुष्य बहुत पुद्गलों का आहार और उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं, किन्तु वे बार-बार आहार आदि नहीं लेते। अल्प शरीर वाले बार-बार आहार और उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं। यौगलिक महाशरीर वाले होते हैं। उनका आहार मात्रा की दृष्टि से अल्प होता है, किन्तु सघनता (density) की दृष्टि से बहुत होता है, इसलिए महाशरीर वालों को बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है।

कर्म, वर्ण, लेश्या

कर्म, वर्ण और लेश्या—ये तीनों जीवन के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। पूर्वोपपन्न नैरयिक आयुष्य तथा अन्य कर्मों का अधिक वेदन कर लेता है, इसलिए वह अल्प कर्म वाला हो जाता है। पश्चाद् उपपन्न होने वाला उनका अधिक वेदन नहीं कर पाता, इसलिए वह पूर्वोपपन्न की अपेक्षा महाकर्म वाला रहता है।

वर्ण-सूत्र का भी यही नियम है। पूर्वोपपन्न के कर्म अल्प होते हैं, इसलिए उसका वर्ण विशुद्ध हो जाता है। पश्चाद् उपपन्न में कर्म की बहुलता होती है, इसलिए उनका वर्ण पूर्वोपपन्न की अपेक्षा अविशुद्धतर होता है।

लेश्या-सूत्र का नियम भी यही है।

वृत्तिकार ने 'वर्ण' को बाह्य द्रव्य लेश्या और लेश्या को भाव लेश्या बतलाया है। इन दोनों सूत्रों से आन्तरिक आभामण्डल और बाह्य आभामण्डल दोनों फलित होते हैं।

असुरकुमार देव के विषय में कर्म, वर्ण और लेश्या का नैरयिक से विपर्यय प्रतिपादित है। उसका रहस्य यह है—पूर्वोपपन्न देवों के भोग के कारण कर्म का बन्ध अधिक होता जाता है।^१ इस अपेक्षा से पूर्वोपपन्न देव महाकर्म वाले और पश्चाद् उपपन्न देव अल्प कर्म

वाले होते हैं। उनके निर्जरा के कारण कम और कर्म-बन्ध के कारण अधिक होते हैं। अनुत्तरीपपातिक देवों के भी निर्जरा अल्प बतलाई गई है।^२ इसके समर्थन में 'लवसत्तम' और अनुत्तरीपपातिक देवों को उद्धृत किया जा सकता है। लवसत्तम देवों का यदि सात लव (लगभग ४मिनिट २१ सैकिण्ड का) आयु शेष होता तो वे मुक्त हो जाते। अनुत्तरीपपातिक देवों के यदि बेला (दो उपवास) जितना आयुष्य और होता तो वे मुक्त हो जाते। वे नए कर्मों का अर्जन करते हैं, इसलिए लम्बी अवधि तक देव-आयु में रहकर फिर मनुष्य जीवन में आते हैं।^३

वर्ण और लेश्या कर्म से जुड़े हुए हैं, इसलिए उनका परिवर्तन स्वाभाविक है। वृत्तिकार ने कर्म आदि के परिवर्तन के लिए जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे पूर्णतः व्याप्त नहीं हैं।^४

वेदनावाद

यहां 'वेदना' शब्द से सात और असात दोनों गृहीत हैं। नैरयिकों के प्रसंग में असात वेदना मुख्य और सात वेदना गौण तथा देवों के प्रसंग में सात वेदना मुख्य और असात वेदना गौण रूप में ग्राह्य है। सभी तिर्यग्योनिक एवं मनुष्यों के प्रसंग में विमात्रा (अनियत परिमाण) में सात-असात वेदना होती है।^५

यहां नैरयिकों को दो भागों में विभक्त किया गया है—संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत। जो जीव अमनस्क भव से मरकर समनस्क भव में उत्पन्न होता है, उसे असंज्ञिभूत कहा गया है। जो जीव समनस्क भव से मरकर समनस्क भव में उत्पन्न होता है, उसे संज्ञिभूत कहा गया है।

वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने तथा प्रज्ञापना वृत्ति में आचार्य मलयगिरि ने असंज्ञिभूत के कई अर्थ किए हैं,^६ किन्तु अल्पवेदन

भागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वम्, इतरच्च इत आगमवाचनादवसेयम्—
'पुढविकायस्स ओगाहणट्ठायाए चउट्ठाणवडिए'ति, ते च महाशरीरा लोमा-
हारतो बहुतराम् पुद्गलानाहारयन्तीति उच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्णं महाशरीर-
त्वादेव। अल्पशरीराणांमत्याहारोच्छ्वासत्वमल्पशरीरत्वादेव। कादायित्कत्वं च
तयोः पर्याप्तकेतरावस्थापेक्षमवसेयम्।

१. भ.वृ. १।८७—इह स्थाने नारकसूत्रे 'अभिक्खणं आहारोती' त्यधीतम् इह तु
'आहच्चे' त्यधीयते, महाशरीरा हि देवकुर्वादिमिथुनकाः, ते च कदाचिदेवा-
हारयन्ति कावलिकाहारेण, 'अट्ठमभत्तस्स आहारो'ति वचनात्। अल्पशरीर-
स्त्वभीक्ष्णमल्पं च, बालानां तथैव दर्शनात्, संमुखिंमनुष्याणामल्पशरीराणा-
मनवरतमाहारसंभवाच्च।

२. ठाणं, ४।५८३—चउड्विहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—सिंगारा, कलुणा,
वीभच्छ, रोद्दा। सिंगारा कामा देवाणं, कलुणा कामा मणुयाणं, वीभच्छ कामा
तिरिक्खजोणियाणं, रोद्दा कामा णेरइयणं।

३. भ. ६।१५, १६।

४. वही, ६।१३२।

५. वही, १४।८४-८८।

६. भ.वृ. १।७४—कर्मादीनि नारकापेक्षया विपर्ययेण वाच्यानि, तथाहि—नारका
ये पूर्वोत्पन्नास्तेऽल्पकर्मकशुद्धतरवर्णशुभतरालेश्या उक्ताः, असुरास्तु ये पूर्वो-

त्पन्नास्ते महाकर्मणोऽशुद्धवर्णा अशुभतरालेश्याश्चेति कथम् ? ये हि पूर्वोत्पन्ना
असुरास्तेऽतिकन्दर्पदपांथातचित्त्वान्नारकाननेकप्रकारतया यातनया यात-
यन्तः प्रभूतमशुभं कर्म संधिन्वन्तीत्यतोऽभिधीयन्ते ते महाकर्मणः। अथवा ये
बद्धायुषस्ते तिर्यगादिप्रायोग्यकर्मप्रकृतिवन्धनामहाकर्मणः तथाऽशुद्धवर्णा
अशुभलेश्याश्च ते। पूर्वोत्पन्नानां हि क्षीणत्वात् शुभकर्मणः शुभो वर्णो लेश्या
च हसतीति। पश्चादुत्पन्नास्त्वबद्धायुषोऽल्पकर्मणो बहुतकर्मणां बन्धनाद-
शुभकर्मणांमक्षीणत्वाच्च शुभवर्णदयः स्युरिति।

७. भ. ७।१०३-१०५।

८. (क) भ.वृ. १।६८—सज्जा—सम्यग्दर्शनं तद्वन्तः सज्जिनः सज्जिनो भूताः
—सज्जित्वं गताः सज्जिभूताः। अथवाऽसज्जिनः सज्जिनो भूताः सज्जिभूताः,
च्चिप्रत्यययोगात्, मिथ्यादर्शनमपहाय सम्यग्दर्शनजन्मना समुत्पन्ना इति यावत्।
तेषां च पूर्वकृतकर्मविपाकमनुस्मरतामहो महदुःखसङ्कटमिदमकस्मादस्माक-
मापतितं, न कृतो भगवदहंअपीतः सकलदुःखक्षयकरो विषयविषमविषपरि-
भोगविप्रलब्धचेतोभिर्धर्म इत्यतो महददुःखं मानसमुपजायतेऽतो महावेदना-
स्ते। असज्जिभूतास्तु मिथ्यादृष्टयः ते तु स्वकृतकर्मफलमिदमित्येवमजानन्तो-
ऽनुपतममानसा अल्पवेदनाः स्युरित्येके। अन्ये त्याहुः सज्जिनः सज्जिपञ्चे-
न्द्रियाः सन्तो भूताः—नारकत्वं गता सज्जिभूताः, ते महावेदनाः। तीव्राशुभ-
ध्यवसायेनाशुभतरकर्मवन्धनेन महानरकेपूसादात्। असज्जिभूतास्तनुभूतपूर्वा-

और अनिदा—इन दो नियमों के आधार पर असंज्ञिभूत का उक्त अर्थ ही घटित होता है।

अमनस्क जीव में पुण्य या पाप का बन्ध तीव्र अध्यवसाय के साथ नहीं होता, इसलिए वह अगले समनस्क जीवन में भी पुण्य या पाप का अल्प वेदन करता है। दूसरी बात यह है कि अमनस्क जीव समनस्क भव में उत्पन्न होकर भी अविकसित मस्तिष्क वाला या मूर्च्छित चेतना वाला अथवा वेदना के मूल कारणों का सम्यग् निर्धारण न करने वाला होता है, इसलिए उसकी वेदना को अल्प वेदना और अनिदावेदना कहा गया है।^१ यह पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

समनस्क जीव समनस्क भव से मरकर फिर समनस्क भव में जन्म लेता है, उस संज्ञिभूत जीव के निदा और महावेदना होती है। इसका कारण स्पष्ट है—वह समनस्क होने के कारण पुण्य या पाप

का बन्ध तीव्र अध्यवसाय के साथ कर सकता है और वह वेदना के मूलिक कारणों का विवेक भी कर सकता है।

अमनस्क जीवों की वेदना को अल्प या महान् नहीं कहा जा सकता; उनकी वेदना अनिदा ही होती है, इसलिए वे समवेदना वाले होते हैं।

ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में अमनस्क जीव उत्पन्न नहीं होते। इसलिए उनके असंज्ञिभूत और संज्ञिभूत भेद नहीं किए जा सकते। उनमें मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक देवों के सात वेदना अल्प होती है और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक देवों के सात वेदना अधिक होती है। मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक देवों के अनिदा वेदना होती है और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक देवों के निदा वेदना होती है।^१ देखें यन्त्र—

	संज्ञिभूत	असंज्ञिभूत	सातवेदना	असातवेदना	मायी मिथ्यादृष्टि	अमायी सम्यग्दृष्टि
नैरयिक	महावेदना (निदा)	अल्पवेदना (अनिदा)	गौण	मुख्य		
असुरकुमार	महावेदना (निदा)	अल्पवेदना (अनिदा)	मुख्य	गौण		
पृथ्वीकाय से चतुरिन्द्रिय	X	समवेदना	विमात्रा (अनियत परिमाण)			
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च	महावेदना (निदा)	अल्पवेदना (अनिदा)	विमात्रा (अनियत परिमाण)			
मनुष्य	महावेदना (निदा)	अल्पवेदना (अनिदा)	विमात्रा (अनियत परिमाण)			
वानमंतर	महावेदना (निदा)	अल्पवेदना (अनिदा)	मुख्य	गौण		
ज्योतिष, वैमानिक			मुख्य	गौण	अल्पवेदना (अनिदा)	महावेदना (निदा)

क्रियावाद

क्रिया का अर्थ है—कर्मबन्ध की हेतुभूत प्रवृत्ति। यहां क्रिया

के पांच प्रकारों की मार्गणा की गई है। ढाणं में इनका विस्तृत वर्णन है।^१ वेदना और क्रिया में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। संज्ञितपुत्र ने

संज्ञिभवाः, ते चासंज्ञित्वादेवात्यन्ताशुभाध्यवसायाभावाद्बलप्रभायामनति-
तीव्रवेदनरकेषूत्सादादल्पवेदनाः अथवा संज्ञिभूताः पर्याप्तकीभूताः,
असंज्ञिनस्तु—अपर्याप्तकाः, ते च क्रमेण महावेदना इतरे च भवन्तीति प्रतीयत
एवेति।

(ख) प्रज्ञा.वृ.प.५५७,५८।

१. (क) प्रज्ञा.वृ.प.५५७—तत्र नितरां निश्चितं वा सम्यग् दीयते चित्तमस्यामिति
निदा।

(ख) म.वृ.१।७८—‘अणिदाए’ ति अनिर्धारणया वेदनां वेदयन्ति। वेदना-
मनुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमिति मिथ्यादृष्टित्वादवगच्छ-

न्ति। विमनस्कत्वाद् वा मत्तमूर्च्छितादिति भावना।

२. (क) पण्य.३५।२२,२३।

(ख) म.वृ.१।१००—यत्तु प्रागुक्तं संज्ञिनः सम्यग्दृष्टयोऽसंज्ञिनस्त्वितरे इति
तद्बुद्ध्याख्यानुसारेणैवेति। ज्योतिष्कवैमानिकेषु त्वसंज्ञिनो नोत्पद्यन्तेऽतो
वेदनापदे तेष्वधीयते ‘दुविहा जोतिसिया—मायिमिच्छदिद्वी उच्यन्नगा ये’त्या-
दि, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतरे च महावेदनाः शुभवेदनामाश्रि-
त्येति।

३. (क) ढाणं,५।११२-१२२; देखें ढाणं,२।३७ का टिप्पण।

(ख) म.३।१३४-१३६।

पूछा—भंते ! पहले क्रिया होती है और बाद में वेदना ? अथवा पहले वेदना और बाद में क्रिया ?

भगवान्—मंडितपुत्र ! पहले क्रिया और बाद में वेदना होती है। पहले वेदना और बाद में क्रिया—ऐसा नहीं होता।^१

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि कर्म-बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये आश्रय माने जाते हैं, फिर आरम्भ आदि को कर्म-बन्ध का हेतु मानने पर क्या परस्पर विरोध नहीं होगा ? इसके समाधान में उन्होंने लिखा है कि आरम्भ और परिग्रह योग के भेद हैं। ये सारी क्रियाएं आश्रय से ही संबद्ध हैं, इसलिए इनमें परस्पर विरोध नहीं है।^२

चौबीस दण्डकों में क्रिया की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव में पांच क्रियाएं, असंयत सम्यग्दृष्टि जीव में चार क्रियाएं, संयतासंयत में तीन क्रियाएं, प्रमत्तसंयत में दो क्रियाएं, अप्रमत्तसंयत में एक क्रिया और वीतराग इन क्रियाओं की अपेक्षा से अक्रिय होता है। इस प्रसंग में पणवणा का सक्रिय-अक्रिय प्रकरण द्रष्टव्य है।^३

संयतासंयत के तीन क्रियाएं बतलाई गई हैं। इनमें अप्रत्याख्यानक्रिया का उल्लेख नहीं है। 'संयतासंयत' शब्द से यह स्पष्ट है कि वह संयत है और साथ-साथ असंयत भी है। जब वह असंयत है, तो अप्रत्याख्यानक्रिया का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? यह प्रश्न सहज ही उठता है। वृत्तिकार इस विषय में मौन है। जयाचार्य ने इस प्रश्न पर विमर्श किया है।^४ उनके अनुसार संयतासंयत में अप्रत्याख्यान क्रिया का स्कन्ध (पूर्णरूप) नहीं होता, इस अपेक्षा से सूत्रकार ने उसकी यहां विवक्षा नहीं की। इसके समर्थन में उन्होंने दो तर्क प्रस्तुत किए हैं—(१) गीतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—पूर्व दिशा में धर्मास्तिकाय नहीं है, उसका देश और प्रदेश हैं।^५ (२) आग्नेय कोण में जीव नहीं हैं, किन्तु जीव के देश हैं, प्रदेश हैं।^६ धर्मास्तिकाय और जीव का निषेध स्कन्ध की अपेक्षा से किया गया है। इसी प्रकार संयतासंयत में स्कन्ध की अपेक्षा से अप्रत्याख्यान क्रिया का अग्रहण किया गया है। संयतासंयत में अप्रत्याख्यान क्रिया के देश का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बतलाया—गीतम ! किसी एक

प्राणी को मारने का त्याग करने वाले को भी एकान्त बाल नहीं कहा जा सकता। श्रमणोपासक (संयतासंयत) के प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान दोनों होते हैं। इस अपेक्षा से उसे बाल-पण्डित कहा गया है।^७ आगम-साहित्य में संयतासंयत के प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान के अनेक प्रमाण मिलते हैं।^८ प्रमत्तसंयत के आरम्भिकी क्रिया निरन्तर नहीं होती, फिर भी इसकी विवक्षा की गई है। संयतासंयत के अप्रत्याख्यानक्रिया निरन्तर होती है, फिर भी उसकी विवक्षा नहीं की गई है। अतः विवक्षा-भेद को समझना बहुत आवश्यक है। पञ्चसंग्रह में संयतासंयत के देशविरति गुणस्थान में कर्म-बन्ध की चर्चा की है। वहां अविरति को कर्म-बन्ध का मिश्र या आधा हेतु बतलाया गया है।^९ इससे भी अपूर्ण अप्रत्याख्यान क्रिया की पुष्टि होती है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी यही मत प्राप्त है।^{१०}

प्रमत्तसंयत में आरम्भिकी क्रिया का स्वीकार किया गया है, फिर पारिग्रहिकी क्रिया का स्वीकार क्यों नहीं ? जैसे मुनि से कदाचित् पृथ्वी आदि जीवों का आरम्भ या उपमर्द हो जाता है, वैसे कदाचित् वह धर्मोपकरण पर मूर्च्छा भी कर सकता है। वृत्तिकार ने परिग्रह के दो अर्थ किए हैं—धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तु का स्वीकरण और धर्मोपकरण पर मूर्च्छा।^{११} मुनि के भी धर्मोपकरण पर मूर्च्छा होना असम्भव नहीं है। फिर उसमें पारिग्रहिकी क्रिया का ग्रहण क्यों नहीं ?

प्रमत्तसंयत मुनि अनारम्भ भी होता है और अपरिग्रही भी होता है। फिर भी वह अशुभ योग की अपेक्षा से आरम्भ करने वाला हो जाता है।^{१२} इसलिए उसमें आरम्भिकी क्रिया का ग्रहण किया गया है। पारिग्रहिकी क्रिया का सम्बन्ध अविरति या अप्रत्याख्यान से है। प्रमत्तसंयत अविरति का प्रत्याख्यान कर देता है। इस अपेक्षा से उसमें पारिग्रहिकी क्रिया का ग्रहण नहीं किया गया है। पणवणा में प्रमत्तसंयत के आरम्भिकी क्रिया बतलाई गई है। पारिग्रहिकी क्रिया संयतासंयत के होती है। इन दोनों की व्याप्ति का नियम इस प्रकार है—जिसके पारिग्रहिकी क्रिया होती है, उसके आरम्भिकी क्रिया नियत होती है। जिसके आरम्भिकी क्रिया होती है, उसके पारिग्रहिकी क्रिया विकल्पतः होती है।^{१३} पणवणा २२।६१-६४ में भी इसका संवादी प्रकरण विद्यमान है।

१. भ. ३।१४०।

२. भ. वृ. १।७१—ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतव इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोधः? उच्यते—आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहो, योगानां तद्रूपत्वात् शेषबन्धहेतुपरिग्रहः प्रतीयत एवेति।

३. पणव. २२।७, ८।

४. भ. जो. १।७।१३४-१३६।

५. भ. १०।६६।

६. वही, १०।६।

७. सू. २।२।७५—विरयाविरई पडुच्च बालपडिए आहिज्जइ।

८. (क) वही, २।२।७१, २।७।२३।

(ख) ओवा. सू. १६१।

९. पं. सं. (दि.), पृ. १०५, गा. ७८—

चउपचइओ बंधो पढमे आणंतरतिए तिपचइओ।

मिस्सय विदिओ उवरिमदुगं च देसेकदेसमि ॥

१०. त. रा. वा. भा. २, पृ. ५६४, ८।२—संयतासंयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषाय-योगाश्च।

११. भ. वृ. १।७१—परिग्रहो—धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारो धर्मोपकरणमूर्च्छा च, स प्रयोजनं यस्याः सा पारिग्रहिकी।

१२. द्रष्टव्य, भ. १।३४।

१३. पणव. २२।३८।

यह क्रिया का सिद्धान्त मानसिक चेतना से परे का सिद्धान्त है। पृथ्वीकाय से लेकर अननस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में पांचों क्रियाएँ होती हैं। इससे स्पष्ट फलित होता है कि आत्मा का अस्तित्व मन से बहुत गहरे में है। मन केवल उसका सतही स्तर है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"—यह एक स्थूल सिद्धान्त है। कर्मबन्ध के कारण उसके भीतर चेतना के सूक्ष्म स्तर तक विद्यमान हैं।

जन्म और आयुष्यवाद

जन्म और आयु दोनों परस्पर संबद्ध हैं। उत्पत्ति का नाम जन्म

और उसके कालमान का नाम आयु है। इनके चार विकल्प बनते हैं—जो एक साथ उत्पन्न होते हैं और जिनकी आयु समान होती है, उनका समावेश प्रथम विकल्प में होता है। जिनकी आयु समान होती है, किन्तु जन्म का काल भिन्न होता है, उनका समावेश दूसरे विकल्प में होता है। जो एक साथ उत्पन्न होते हैं और जिनकी आयु समान नहीं होती, उनका समावेश तीसरे विकल्प में होता है। जिनका जन्मकाल भी भिन्न होता है और आयु भी समान नहीं होती, उनका समावेश चौथे विकल्प में होता है।

१०१. सलेस्ता णं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारणा ?

सलेश्याः भदन्त ! नैरयिकाः सर्वे समाहारकाः ?

१०१. ^१भन्ते ! क्या सब सलेश्य नैरयिक (आदि चौबीस दण्डक) समान आहार, शरीर, उच्छ्वास-निःश्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया, और उपपात वाले हैं?

ओहियाणं, सलेस्ताणं, सुक्कलेस्ताणं—एतेसि णं तिण्हं एको गमो ।

औधिकानां, सलेश्यानां, शुक्ललेश्यानां—एतेषां त्रयाणां एको गमः ।

औधिक (निर्विशेषण नैरयिक सू. १।६०-७३), सलेश्य (लेश्या-विशेषण-युक्त चौबीस दण्डक) और शुक्ल लेश्यायुक्त (बीस, इक्कीस और चौबीसवें दण्डक वाले) इन तीनों की वक्तव्यता एक समान है। (तात्पर्य की भाषा में सलेश्य औधिक के समान हैं)।

कण्हलेस्स-नीललेस्ताणं पि एगो गमो, नवरं—वेदणाए मायिभिच्छदिट्ठीउववन्नगा य, अमायिसम्मदिट्ठीउववन्नगा य भाणियव्वा ।

कृष्णलेश्य-नीललेश्यानामपि एको गमो। नवरं—वेदनायां मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाः च, अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाः च भणितव्याः ।

कृष्णलेश्या और नीललेश्या-युक्त नैरयिक आदि दण्डक की वक्तव्यता एक समान है, केवल वेदना में भिन्नता है—मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक (नैरयिक) महत्तर वेदना वाले, अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक (नैरयिक) अल्पतर वेदना वाले होते हैं।

मणुस्ता किरियासु सराग-वीतरागा प्रमत्ताप्रमत्ता न भाणियव्वा ।

मनुष्याः क्रियासु सराग-वीतरागाः प्रमत्ता-प्रमत्ताः न भणितव्याः ।

क्रिया-सूत्र में मनुष्य के सराग और वीतराग, प्रमत्त और अप्रमत्त—ये भेद वक्तव्य नहीं हैं।

काउलेस्ताण वि एसेव गमो, नवरं—नेरइया जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा ।

कापोतलेश्यानामपि एष एव गमो, नवरं—नैरयिकाः यथा औधिकः दण्डकः तथा भणितव्याः ।

कापोतलेश्या-युक्त नैरयिक आदि के लिये भी यही (कृष्णलेश्या के समान) वक्तव्यता है। केवल वेदना-सूत्र में नैरयिक की वक्तव्यता औधिकसूत्र के समान है।

तेजलेस्ता, पण्हलेस्ता जस्स अत्ति जहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा, नवरं—मणुस्ता सराग-वीतरागा न भाणियव्वा ।

तेजोलेश्या पद्मलेश्या यस्य अस्ति यथा औधिकः दण्डकः तथा भणितव्याः, नवरं—मनुष्याः सराग-वीतरागाः न भणितव्याः ।

जिन जीवों के तेजोलेश्या और पद्मलेश्या होती हैं, वे औधिक सूत्र की भाँति वक्तव्य हैं। केवल क्रिया-सूत्र में मनुष्य के सराग और वीतराग—ये भेद वक्तव्य नहीं हैं।

संगहणी गाहा

दुक्खाउए उदिण्णे,
आहारे कम्म-वण्ण-लेस्ता य ।
समवेयण-समकिरिया,
समाउए चैव बोधव्वा ॥१॥

संग्रहणी गाथा

दुःखायुष् उदीर्णम्,
आहारः कर्म-वर्ण-लेश्याश्च ।
समवेदना-समक्रिया,
समायुः चैव बोद्धव्याः ॥

संग्रहणी गाथा

[पूर्व आलापक में] उदीर्ण दुःख और आयु का वेदन, समान आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयु—ये इतने विषय ज्ञातव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र १०१

प्रस्तुत सूत्र की रचना संक्षिप्त है। इसलिए यह जटिल-सा बन गया है। पण्णवणा में इस विषय का पाठ विस्तृत है। उसके सन्दर्भ में प्रस्तुत पाठ का अध्ययन बहुत स्पष्ट हो सकता है, इसलिए पण्णवणा का वह पाठ अविकल रूप से यहां प्रस्तुत किया जा रहा है:—

सलेस्सा णं भंते ! गेरइया सब्बे समाहारा समसरीरा समुत्सास-
पिस्सासा ? स च्चेव पुच्छा एवं जहा ओहिओ गमओ तथा सलेस्सगमओ
वि गिरवसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिया ॥

कण्हलेस्सा णं भंते ! गेरइया सब्बे समाहारा समसरीरा समुत्सा-
सपिस्सासा पुच्छा। गोयमा ! जहा ओहिया, णवरं गेरइया वेदणाए
माइमिच्छदिइउववण्णगा य अमाइसम्मदिइउववण्णगा य भाणियव्वो। सेसं
तहेव जहा ओहियाणं।

असुरकुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया, णवरं— मणूसाणं
किरियाहिं वितेतो जाव तत्थ णं जेतो सम्मदिइी ते तिविहा पण्णत्ता, तं
जहा—संजया असंजया संजयासंजया य, जहा ओहि- याणं।
जोइसिय-वेमाणिया आइल्लिगासु तिसु लेस्सासु ण पुच्छिजंति।

एवं जहा किण्हलेस्सा चरिया तथा णीललेस्सा वि चरियव्वो।
काउलेस्सा गेरइएहिंते आरम्भ जाव वाणमंतरा, णवरं—काउलेस्सा गेरइया
वेदणाए जहा ओहिया।

तेजलेस्साणं भंते ! असुरकुमाराणं ताओ च्चेव पुच्छाओ। गोयमा।
जहेव ओहिया तहेव, णवरं—वेदणाए जहा जोतिसिया। पुढवि-
आउ-वणस्सइ-पंचेदियतिरिक्ख-मणूसा जहा ओहिया तहेव भाणियव्वो,
णवरं—मणूसा किरियाहिं जे संजया ते पमत्ता य अपमत्ता य भाणियव्वो,
सराणा वीयराणा णत्थि।

वाणमंतरा तेजलेस्साए जहा असुरकुमारा एवं जोतिसियवेमाणिया
वि सेसं तं च्चेव।

एवं पण्हलेस्सा वि भाणियव्वो, णवरं—जेसि अत्थि। सुक्कलेस्सा
वि तहेव जेसि अत्थि। सब्बं तहेव जहा ओहियाणं गमओ, णवरं—
पण्हलेस्सा-सुक्कलेस्साओ पंचेदिय-तिरिक्खजोणिय-मणूस-वेमाणियाणं च्चेव, ण
सेसाणं ति।

समाहारगा

इस पद के द्वारा आहार, शरीर और उच्छ्वास-निःश्वास आदि
नी पदों का ग्रहण किया गया है।^१

सुक्कलेस्साणं

शुक्ल लेश्या का सम्बन्ध नारकीय जीवों से नहीं हैं, वह
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य और वैमानिक देवों में ही पायी जाती है।^१

प्रथम नरक में कृष्ण और नील लेश्या नहीं होती, इसलिए
वेदना-सूत्र औषिक नरकसूत्र की भांति वक्तव्य नहीं है; इसलिए वहां
मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक ये दो भेद
किये गये हैं।

सराग, वीतराग, प्रमत्त और अप्रमत्त वक्तव्य नहीं हैं। इसके
विमर्श के लिए १।३८ का भाष्य द्रष्टव्य है।

णवरं—गेरइया

प्रथम नरक में कापोत लेश्या पायी जाती है, इसलिए कापोत
लेश्या वाले नैरयिक का सूत्र औषिक सूत्र की भांति वक्तव्य है।
उसमें संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत ये दो भेद प्राप्त होते हैं।

णवरं—मणुस्सा

तेजोलेश्या और पण्हलेश्या में वीतरागता नहीं होती, इसलिए
उन लेश्याओं में सराग और वीतराग के भेद वक्तव्य नहीं हैं।^२

मायी मिथ्यादृष्टि और अमायी सम्यग्दृष्टि

आगम-साहित्य में मिथ्यादृष्टि के साथ मायी और सम्यग्दृष्टि के
साथ अमायी विशेषण अनेक स्थानों पर मिलता है। इस विशेषण
के आधार पर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के दो-दो प्रकार हो जाते
हैं—१. मिथ्यादृष्टि और मायी मिथ्यादृष्टि २. सम्यग्दृष्टि और अमायी
सम्यग्दृष्टि। सविशेषण मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का विशेष अर्थ
क्या है, यह विमर्शनीय है।

ठाणं में क्रिया के बारह युगल हैं। उनमें मायाप्रत्यया क्रिया
का उल्लेख दो स्थानों पर हुआ है। छठे युगल में मायाप्रत्यया क्रिया
और मिथ्यादर्शनप्रत्यया इन—दो क्रियाओं का एक साथ प्रयोग हुआ
है। वहां मायाप्रत्यया क्रिया के दो अर्थ बतलाये गये हैं—
आत्मभाववञ्चना और परभाववञ्चना।^३ तत्त्वार्थराजवार्तिक में माया-
प्रत्यया क्रिया का अर्थ है—ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में प्रवंचना
करना।^४

बारहवें युगल में प्रेयःप्रत्यया और दोषप्रत्यया इन दो क्रियाओं
का उल्लेख है। प्रेयःप्रत्यया क्रिया के दो प्रकार हैं—मायाप्रत्यया

१. पण्ण.१७।२८-३५।

२. म. वृ. १।१०१—अनेनाहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदनाक्रियोपपाताख्य
पूर्वोक्तनवपदोपेतनारकादिचतुर्विंशतिपददण्डको लेश्यापदविशेषितः सूचितः।३. वही, १।१०१—‘जसत्थि’ इत्येतस्य वक्ष्यमाणपदस्येह सम्बन्धाद्यस्य शुक्ल-
लेश्याऽस्ति स एव, तद्दण्डकेऽध्येतव्यः; तेनेह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वैमा-
निकाश्च वाच्याः, नारकादीनां शुक्ललेश्याया अभावादिति।४. वही, १।१०१—केवलमौषिकदण्डके क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागविशेषणा
अधीताः इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपण्हलेश्ययोर्वीतरागत्व्यासम्भवात्, शुक्ल-
लेश्यायामेव तत्सम्भवात्। प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्त इति।

५. ठाणं, २।१७-१८।

६. त. रा. वा. ६।५—ज्ञानदर्शनादिषु विकृतिवञ्चनं मायाक्रिया।

और लोभप्रत्यया।^१

वृत्तिकार ने माया का अर्थ ऋजुता का अभाव किया है। उपलक्षण से उन्होंने क्रोध आदि के ग्रहण का संकेत भी किया है।^२ किन्तु क्रोध और मान—ये द्वेषप्रत्यया क्रिया के भेद हैं।^३ इसलिए उनका ग्रहण यहां अपेक्षित नहीं है। उक्त आधार-सूत्रों की मीमांसा करने से यह फलित होता है कि आरम्भिकी आदि पांच क्रियाओं के समूह में जो मायाप्रत्यया क्रिया है, उसका सम्बन्ध प्रेयःप्रत्यया क्रिया से है। इसका क्षय नवें गुणस्थान में होता है। एक अवधारणा से माया को पूरे कथाय का वाचक माना गया है, उसी अर्थ के आधार पर जयाचार्य ने मायाप्रत्यया क्रिया की प्राप्ति दसवें गुणस्थान तक बतलाई है।^४ मायी मिथ्यादृष्टि के साथ जो मायी शब्द है, उसका सम्बन्ध छठे युगल की मायाप्रत्यया क्रिया से होना चाहिए। मायाप्रत्यया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया का युगल किसी सापेक्ष दृष्टि से होना चाहिए। शल्य के प्रकरण में भी मिथ्यादर्शन के साथ माया का उल्लेख है।^५ इस आधार पर मायी मिथ्यादृष्टि का अर्थ माया-शल्य-युक्त मिथ्यादृष्टि और अमायी सम्यग्दृष्टि का माया-शल्य-रहित सम्यग्दृष्टि किया जा सकता है। इसका तात्पर्य सत्य और असत्य की भाषा में खोजा जा सकता है। सत्य और ऋजुता दोनों अभिन्न हैं, इसी प्रकार माया

और असत्य भी अभिन्न हैं। सत्य का अर्थ है—ऋजुता और अविस्वादन योग। असत्य का अर्थ है माया और विसंवादन योग।^६ विसंवाद का एक अर्थ है—धोखा देने वाली प्रवृत्ति। इस आधार पर मायाप्रत्यया के दो भेदों (आत्मभाववञ्चन और परभाववञ्चन) और विसंवादनयोग को समानार्थक कहा जा सकता है। अमाया और अविस्वादनयोग—ये भी समानार्थक हो जाते हैं।

शैव दर्शन में पांच प्रकार के पाश निर्दिष्ट हैं—१. मल पाश २. कर्म पाश ३. माया पाश ४. महामाया पाश ५. रोधक शक्ति। माया पाश के कारण मनुष्य का शरीर और इन्द्रियां निर्मित होती हैं। उसकी बाह्य परिस्थिति भी माया पाश से बनती है। यह माया अनादि है।

मिथ्यादृष्टि के शरीर-निर्माण और जन्म-मरण की परम्परा अनादिकाल से अबाधगति से चली आ रही होती है। उसमें कोई अवरोध पैदा नहीं होता। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि को मायी अथवा माया पाश-युक्त कहा जा सकता है। सम्यग्दर्शन जन्म-मरण की परम्परा का पहला अवरोध है। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को अमायी अथवा माया पाश से मुक्त कहा जा सकता है।

लेस्सा-पदं

१०२. कइ णं भंते । लेस्साओ पण्णत्ताओ ?
गोक्म ! छ लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा
—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा,
तेउलेस्सा, पम्भलेस्सा, सुकलेस्सा । लेस्सा-
णं बीओ उदेत्तो भाणियच्चो जाव इही ॥

लेश्या-पदम्

कति भदन्त ! लेश्याः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! षट् लेश्याः प्रज्ञप्ताः, तद् यया—
कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजो-
लेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या । लेश्यानां
द्वितीयः उद्देशः भणितव्यः यावद् ऋद्धिः ।

लेश्या-पद

१०२. भन्ते ! लेश्याएं^१ कितनी प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! लेश्याएं छह प्रज्ञप्त हैं, जैसे—कृष्णलेश्या,
नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या
और शुक्ललेश्या। यहां (पण्णवणा के) लेश्या-पद
का दूसरा उद्देशक ऋद्धि (सूत्र ३६-८६) तक
वक्तव्य है।

भाष्य

१. लेश्या

लेश्या का अर्थ है परिणामधारा या भावधारा।^१ अधिकांश व्याख्याकारों ने लेश्या को श्लेष या लेश के रूप में व्याख्यात किया है।

अभयदेवसूरि के अनुसार लेश्या के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संश्लेष होता है, इसलिए इसका नाम लेश्या है।^२ पञ्चसंग्रह में लेश्या का अर्थ 'पुण्य-पाप का लेप' या 'आत्मीकरण करने वाली क्रिया' है।^३ ये

१. ठाणं, २।३५, ३६।

२. भ.वृ.१।७१—माया—अनाजवं उपलक्षणत्वात्क्रोधादिरपि च।

३. ठाणं, २।३७।

४. श्री.च.६।६—

अष्टम नवमां दशमां रै मांय, पांच आसव तेहिज पाय ।

किरिया भायावतिया संपराय ॥

५. ठाणं, ३।३८५।

६. वही, ४।१०२, १०३।

७. प्रज्ञा.वृ.प.३३०—लिष्यते—श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या,

कृष्णादिद्रव्यसाधिव्यादात्मनः परिणामविशेषः, उक्तं च—

कृष्णादिद्रव्यसाधिव्यात् परिणामोऽयमात्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥

८. भ.वृ.१।१०२—तत्रात्मनि कर्मपुद्गलानां लेशानात्—संश्लेषणाल्लेश्या, योग-
परिणामश्चैताः, योगनिरोधे लेश्यानामभावात् । योगश्च शरीरनामकर्मपरि-
णतिविशेषः ।

९. पं.सं.(दि.)जीवहवास, गा.१४२—

लिप्यइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्य पावं च ।

जीवो ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया ॥

निर्वचन लेश्या को 'लिश्' धातु से निष्पन्न मानकर किये गये हैं। नंदी वृषि में लेश्या का अर्थ रश्मि किया गया है। 'रस्सी' का संस्कृत रूप बनता है—रश्मि। रस्सी देशी शब्द भी है। उसका अर्थ है रज्जु। भावधारा को रश्मि और रज्जु दोनों रूपों में अंकित किया जा सकता है, रश्मि और रस्सी का प्राकृत लस्सी हो सकता है। उच्चारण के संक्रमण से 'लेस्स' होना भी असंभव नहीं है।

हमारे परिणाम तैजस् शरीर से प्रभावित होकर विद्युतीकरण को प्राप्त कर इस स्थूल शरीर—औद्यारिक और वैक्रिय-शरीर में संक्रान्त होते हैं। अभयदेवसूरि ने लेश्या को योग-परिणाम और मलयगिरि ने आत्म-परिणाम बतलाया है। अभयदेवसूरि ने योग का अर्थ शरीर नामकर्म का एक प्रकार का परिणमन किया है।

नाम कर्म की एक प्रकृति है शरीर नामकर्म।^१ लेश्या या भावधारा की संरचना में तीन तत्त्वों का योग है—१. शरीर २. वीर्य-लब्धि ३. कषाय का उदय या विलय। लेश्या के सहकारी द्रव्य (द्रव्य लेश्या) योगवर्णणा में समाविष्ट होते हैं। आठ वर्णणाओं में लेश्याओं की कोई स्वतंत्र वर्णणा नहीं है। वह शरीर-योग-वर्णणा की

एक अदान्तर वर्णणा है। योगपरिणाम- या आत्मपरिणाम-रूप लेश्या (भाव लेश्या) कषाय के उदय या विलय से सम्बद्ध है। वीर्य-लब्धि का भावधारा की प्रकृति में सहयोग है। शिवशर्माचार्य के अनुसार प्रकृति- और प्रदेश-बन्ध का हेतु योग तथा स्थिति- और अनुभाग-बन्ध का हेतु कषाय है।^२ इसका तात्पर्य है कि स्थिति की तरतमता का निर्धारण कषाय तथा अनुभाग की तरतमता का निर्धारण लेश्या से होता है।^३ जाति-स्मृति, अवधि, मन-पर्याय और केवल—इन सब ज्ञानों की उत्पत्ति में शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और लेश्या की विशुद्धि की अनिवार्यता मानी गई है। इससे भी प्रतीत होता है कि अनुभाग की तरतमता में लेश्या एक हेतु है। इस प्रकार योग और लेश्या का स्वरूपभेद और कार्यभेद स्पष्ट हो जाता है। जयाचार्य ने रहस्य की भाषा में लिखा है—"जहां योग है वहां लेश्या है और जहां लेश्या है वहां योग है। योग और लेश्या में क्या अन्तर है—इसका रहस्य गूढ है।"^४

निम्नदर्शित कोष्ठक में इन दोनों का अन्तर दर्शाया गया है—

	योग	लेश्या
१. आलिक स्वरूप	मन, वचन, शरीर की प्रकृति	जीव का परिणाम (भावधारा)
२. पौद्गलिक स्वरूप	औद्यारिक, वैक्रिय, आहारक, कर्मण वर्णणा, भाषा वर्णणा, मनोवर्णणा	तैजस वर्णणा
३. प्रवर्तक शक्ति	वीर्य-लब्धि	वीर्य-लब्धि
४. घटक शक्ति	शरीर नाम-कर्म	शरीर नाम-कर्म
५. कार्य	१ समी वर्णणाओं का ग्रहण २. गति ३. क्रिया ४. वाणी ५. चिंतन	१. भावों का निष्पादन २. आमामंडल या वर्ण का हेतुत्व
६. कर्म-बन्ध	प्रकृति-, प्रदेश-बन्ध का हेतुत्व	अनुभाग-बन्ध की तरतमता का हेतुत्व

१. नदी वृ. पृ. ४—'लेस्स'ति रस्सीयो।

२. पण्ण. २३।३८, ४१।

३. पं.सं.दि. शतक अधिकार, गा. ५१३ (मूलगाथा, ६८)—

जोगा पयडिपदेसा, ठिदि अणुभागं कसायदो कुणइ ।

कालभवलेतपेही, उदओ सविवाग अविवागो ॥

४. प्रज्ञा. वृ. प. ३३०, ३३१—यः स्थितिपाकविशेषो लेश्यावशादुपगीयते शास्त्रान्तरे स सम्यगुपपन्नः, यतः स्थितिपाको नामानुभाग उच्यते, तस्य निमित्तं कषायो-दयान्तर्गत कृष्णादिलेश्यापरिणामाः, ते च परमार्यतः कषायस्वरूपा एव, तद-न्तर्गतत्वात्, केवलं योगान्तर्गतद्रव्यसहकारिकारणभेदवैचित्र्याभ्यां ते कृष्णा-दिभेदै र्भिन्नाः तारतम्यभेदेन विचित्राक्षोपजायन्ते, तेन यद् भगवता कर्म-प्रकृतिकृता शिवशर्माचार्येण शतकाख्ये ग्रन्थेऽभिहितं 'ठिई अणुभागं कसायओ कुणइ' इति तदपि समीचीनमेव, कृष्णादिलेश्यापरिणामानामपि कषायोदया-न्तर्गतानां कषायरूपत्वात्, तेन यदुच्यते कैश्चिद्—योगपरिणामत्वे लेश्यानां

'जोगा पयडिपएसं ठिई अणुभागं कसायओ कुणइ' इति वचनात् प्रकृति-प्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यात् कर्मस्थितिहेतुत्वमिति, तदपि न समीचीनं, यद्योक्त-भावायापरिज्ञानात्, अपि च—न लेश्याः स्थितिहेतवः, किन्तु कषायाः, लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभाग-हेतवः, अत एव च 'स्थितिपाक-विशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण' इत्यत्रानुभागप्रतिग्रत्यर्थं पाकग्रहणं, एतच्च सुनिश्चितं कर्मप्रकृतिटीकादिषु, ततः सिद्धान्तपरिज्ञानमपि न सम्यक् तेषामस्ति, यदप्युक्तम्—'कर्मनित्यन्दो लेश्या, नित्यन्दरूपत्वे हि यावत् कषायोदयः तावन्नित्यन्दस्यापि सद्भावात् कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यते एवेत्यादि, तदप्य-श्लीलं, लेश्यानामनुभागबन्धहेतुतया स्थितिबंधहेतुत्वायोगात्, ...।

५. शी.च. १।६—

जिहं सलेसी तिहां सजोगी, जोग तिहां कही लेस ।

जोग लेस्या में कांयक फेर छै, जाण रखा जिण रेस ॥

६. भाव के विस्तार के लिए देखें, उत्तर. अ. ३४।

जीवाणं भवपरिवृष्टण-पदं

१०३. जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउब्बिहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते, तं जहा—नेरइयसंसारसंचिट्ठण-काले, तिरिक्खजोगियसंसारसंचिट्ठण-काले, मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, देव-संसारसंचिट्ठणकाले ॥

१०४. नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुन्न-काले, असुन्नकाले, मिस्सकाले ॥

१०५. तिरिक्खजोगियसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—असुन्न-काले य, मिस्सकाले य ॥

१०६. मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुन्न-काले, असुन्नकाले, मिस्सकाले

१०७. देवसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुन्न-काले, असुन्नकाले, मिस्सकाले ॥

१०८. एतस्स णं भंते ! नेरइयसंसारसंचिट्ठण-कालस्स—सुन्नकालस्स, असुन्नकालस्स, मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंती अप्पे वा ? बहुए वा ? तुल्ले वा ? विसेसाहिए वा ? गोयमा ! सब्बत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे ॥

१०९. तिरिक्खजोगियाणं सब्बत्थोवे असुन्न-काले, मिस्सकाले अणंतगुणे ॥

११०. मणुस्स-देवाण य सब्बत्थोवे असुन्न-काले, मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे ॥

जीवानां भव-परिवर्तन-पदम्

जीवस्य भदन्त ! अतीताध्वनः आदिष्टस्य कतिविधः संसारसंस्थानकालः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! चतुर्विधः संसारसंस्थानकालः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—नैरयिकसंसारसंस्थानकालः, तिर्य-ग्योनिकसंसारसंस्थानकालः, मनुष्यसंसार-संस्थानकालः, देवसंसारसंस्थानकालः ।

नैरयिकसंसारसंस्थानकालः भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—शून्यकालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः ॥

तिर्यग्योनिकसंसारसंस्थानकालः भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—अशून्य-कालः, मिश्रकालः ।

मनुष्यसंसारसंस्थानकालः भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—शून्य-कालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः ।

देवसंसारसंस्थानकालः भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—शून्य-कालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः ।

एतस्य भदन्त ! नैरयिकसंसारसंस्थानकालस्य—शून्यकालस्य, अशून्यकालस्य, मिश्र-कालस्य च कतरः कतरैभ्यः अल्पो वा ? बहुर्या ? तुल्यो वा ? विशेषाधिको वा ? गौतम ! सर्वस्तोकः अशून्यकालः, मिश्रकालः अनन्तगुणः, शून्यकालः अनन्तगुणः ।

तिर्यग्योनिकानां सर्वस्तोकः अशून्यकालः, मिश्रकालः अनन्तगुणः ।

मनुष्य-देवानां च सर्वस्तोकः अशून्यकालः, मिश्रकालः अनन्तगुणः, शून्यकालः अनन्त-गुणः ।

जीवों का भव-परिवर्तन-पद

१०३. भन्ते ! आदिष्ट (विशेषणो से विशिष्ट) जीव का अतीत काल में संसार में अवस्थान-काल कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! उसका संसार में अवस्थान-काल चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—नैरयिक-संसार-अवस्थान-काल, तिर्यग्योनिक-संसार-अवस्थान-काल, मनुष्य-संसार-अवस्थान-काल और देव-संसार-अवस्थान-काल ।

१०४. भन्ते ! नैरयिकों का संसार-अवस्थान-काल कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! वह तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल ।

१०५. भन्ते ! तिर्यग्योनिक जीवों का संसार-अवस्थान-काल कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! वह दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—अशून्यकाल और मिश्रकाल ।

१०६. भन्ते ! मनुष्यों का संसार-अवस्थान-काल कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! वह तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल ।

१०७. भन्ते ! देवों का संसार-अवस्थान-काल कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! वह तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल ।

१०८. भन्ते ! नैरयिक जीवों के संसार-अवस्थान-काल के शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे अल्प अशून्यकाल है, मिश्रकाल उससे अनन्तगुना अधिक है और शून्यकाल मिश्रकाल से अनन्तगुना अधिक है ।

१०९. तिर्यग्योनिक जीवों के संसार-अवस्थान-काल में सबसे अल्प अशून्यकाल है और मिश्रकाल उससे अनन्तगुना अधिक है ।

११०. मनुष्य और देवों के संसार-अवस्थान-काल में सबसे अल्प अशून्यकाल है, मिश्रकाल उससे अनन्तगुना अधिक है और शून्यकाल मिश्रकाल से अनन्तगुना अधिक है ।

१११. एयस्स णं भंते ! नेरइयसंसार-संचिद्वणकालस्स, तिरिक्खजोगियसंसार-संचिद्वणकालस्स, मणुस्ससंसारसंचिद्वण-कालस्स, देवसंसारसंचिद्वणकालस्स, कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा ? बहुए वा ? तुल्ले वा ? विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सब्बत्थोये मणुस्ससंसारसंचिद्वण-काले, नेरइयसंसारसंचिद्वणकाले असंखेज्ज-गुणे, देव संसारसंचिद्वणकाले असंखेज्ज-गुणे, तिरिक्खजोगियसंसारसंचिद्वणकाले अणंतगुणे ॥

एतस्य भदन्त! नैरयिकसंसारसंस्थानकालस्य तिर्यग्योनिकसंसारसंस्थानकालस्य, मनुष्य-संसारसंस्थानकालस्य, देवसंसारसंस्थानकाल-स्य, कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा ? बहुर्या ? तुल्यो वा ? विशेषाधिको वा ?

गौतम ! सर्वस्तोकः मनुष्यसंसारसंस्थानकालः, नैरयिकसंसारसंस्थानकालः असंख्येयगुणः, देवसंसारसंस्थानकालः असंख्येयगुणः। तिर्य-ग्योनिकसंसारसंस्थानकालः अनन्तगुणः।

१११. भन्ते ! नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव—इनके संसार-अवस्थान-काल में कौन किनसे अल्प, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

गौतम ! मनुष्यों का संसार-अवस्थान-काल सबसे अल्प है, नैरयिक जीवों का संसार-अवस्थान-काल उससे असंख्येयगुण अधिक है, देवों का संसार-अवस्थान-काल उससे असंख्येयगुण अधिक है और तिर्यग्योनिक जीवों का संसार-अवस्थान-काल उससे अनन्तगुण अधिक है।

भाष्य

१. सूत्र १०३-१११

जीव एक भव से दूसरे भव में जन्म लेता है। यह जन्म-मरण का चक्र अनादिकालीन है। इस चक्र में वह अनेक गतियों में जन्म लेता है। जिस गति में जितने समय तक अवस्थिति होती है, उस कालांश को संसार-अवस्थान-काल या संस्थान-काल कहा जाता है।

यह प्रश्न सृष्टिवाद की अनुचिन्तना में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके पीछे एक दार्शनिक पृष्ठभूमि रही है। भगवान् महावीर के समय में एक दार्शनिक मान्यता प्रचलित थी—जो जीव जैसा है, वह जन्मान्तर में भी वैसा ही रहता है। इस मान्यता को जन्मान्तर-सादृश्यवाद कहा जा सकता है। गणधरवाद के अनुसार आर्य सुधर्मा इस सिद्धान्त के समर्थक थे। उनकी धारणा का आधार वह दर्शन-सूत्र था—“पुरुषो भूतः सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते पशवः पशुत्वम्।” जन्मान्तर-सादृश्यवादी मानते थे—‘मनुष्य सदा मनुष्य रहता है और पशु सदा पशु ही रहता है और स्त्री सदा स्त्री। किसी भी जीव का गति या योनि की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं होता।’

प्रस्तुत आलापक में इस मान्यता पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया गया है। उसका फलित है कि अपरिवर्तनीयता अमुक कालांश तक हो सकती है, किन्तु वह सार्वत्रिक और सार्वकालिक नहीं है। ठाणं में जीवों के जन्म-मरण के चक्र को कायस्थिति और भवस्थिति इन दो भागों में विभक्त किया गया है। एक ही काय (जाति) में निरंतर जन्म लेना कायस्थिति है और एक जन्म की आयुस्थिति का

नाम भवस्थिति है।^१

देव और नैरयिक मृत्यु के अनन्तर फिर देवगति और नरकगति में जन्म नहीं लेते। इसलिए उनके केवल भवस्थिति होती है, काय-स्थिति नहीं होती। मनुष्य लगातार सात-आठ जन्मों तक फिर मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्य फिर पञ्चेन्द्रिय तिर्यज्य का जन्म ले सकता है।^२ इस अनेकांत दृष्टि के आधार पर ‘मनुष्य मरकर मनुष्य होता है और पशु मरकर पशु होता है’ इसे मान्य किया जा सकता है।

शब्द-विमर्श

आदिष्ट—नैरयिक आदि विशेषणों से विशेषित।

संसार—एक भव से दूसरे भव में संचरण।

संस्थान—अवस्थिति या अवस्थान।

संस्थान-काल—एक ही गति में जीव के अवस्थान की अवधि।

अशून्य-काल—शून्य, अशून्य और मिश्रकाल एक ही गति में रहे सभी जीवों की अपेक्षा से है। किसी भी विवक्षित वर्तमान काल में जिस गति में जितने जीव हैं, उतने ही रहते हैं। उनमें से न कोई मरता है और न कोई नया जन्म लेता है, वह कालांश अशून्यकाल है।^३

मिश्रकाल—किसी भी विवक्षित वर्तमान काल में जिस गति

१. गणधरवाद, पृ. ६४।

२. ठाणं, २।२५६-२६१।

३. जीवा. ६।२१२।

४. भ. वृ. १।१०६—तत्राशून्यकालस्तावदुच्यते—अशून्यकालस्वरूपपरिज्ञाने हि

सति इतरौ सुन्नानौ भविष्यत इति। तत्र वर्तमानकाले सप्तसु पृथिवीसु ये नारका वर्तन्ते तेषां मध्याद्यावन्न कश्चिदुद्धर्त्तते, न चान्य उत्पद्यते, तावन्मात्रा एव ते आसते, स कालस्तावन्नारकानङ्गीकृत्याशून्य इति भण्यते।

में जितने जीव हैं, उनमें से कुछ निकलकर दूसरी गति में जन्म लेकर फिर वहीं उत्पन्न होते हैं और कुछ वहीं रहते हैं; जब तक कि उनमें से एक जीव भी शेष रहता है, वह कालांश मिश्रकाल कहलाता है।^१

शून्यकाल—किसी भी विवक्षित वर्तमान काल में जिस गति में जितने जीव होते हैं, उनमें से सबके सब वहां से निकल जाते हैं, एक भी शेष नहीं रहता, वह कालांश शून्यकाल कहलाता है।^१

अशून्य-काल में आदिष्ट गति में जीवों का आगमन और निर्गमन दोनों रुक जाते हैं। यह स्थिति नरक, मनुष्य और देव गति में उत्कृष्टतः बारह मुहूर्त तक रहती है। विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छित तिर्यज्च पञ्चेन्द्रिय में यह स्थिति अन्तर्मुहूर्त तक रहती है।^१ मिश्रकाल में आगमन और निर्गमन दोनों चालू रहते हैं। शून्यकाल में पुरानी

पीढी समाप्त हो जाती है, नई पीढी जन्म लेती है।

अशून्य-काल की अपेक्षा मिश्रकाल को अनंतगुना बतलाया गया है, वह उन जीवों की अपेक्षा से है, जो वर्तमान में नैरयिक हैं और दूसरी गति में जन्म लेने के पश्चात् पुनः नरकगति में उत्पन्न होने वाले हैं। यह प्रतिपादन अगर वर्तमान नरकभव की अपेक्षा से होता तो अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल अनंतगुना नहीं होता। कारण स्पष्ट है कि एक जन्म की आयु असंख्येयकाल से अधिक नहीं होती।

नरक आदि गति से निकलने वाला जीव वनस्पति में अनन्त-अनन्त काल तक रह जाता है, इस अपेक्षा से शून्य-काल मिश्रकाल से अनन्तगुना बतलाया गया है।

अंतकिरिया-पदं

अन्तक्रिया-पदम्

अन्तक्रिया-पद

११२. जीवे णं भन्ते ! अंतकिरियं करेज्जा ?
गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा, अत्येगइए नो
करेज्जा । अंतकिरियापयं नेयव्वं ॥

जीवः भदन्त ! अन्तक्रियां कुर्यात् ?
गीतम ! अस्त्येककः कुर्यात्, अस्त्येककः नो
कुर्यात् । अन्तक्रियापदं ज्ञातव्यम् ।

११२. भन्ते ! क्या जीव अन्तक्रिया^१ करता है ?
गीतम ! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं
करता। यहां षण्णवणा का अंतक्रियापद
(पद-२०) ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. अन्तक्रिया

अन्तक्रिया सब दुःखों के अन्त करने की प्रक्रिया का नाम है। यह अवस्था अन्तिम है। इसके पश्चात् कोई क्रिया नहीं होती। जन्म और मृत्यु का पर्यवसान हो जाता है। आत्मा तैजस और कार्मण

शरीर से मुक्त हो जाती है। वृत्तिकार के अनुसार कर्म-क्षय की यह अन्तिम क्रिया है।^१ विशेष जानकारी के लिए देखें—षण्णवणा का बीसवां पद तथा षण्, ४।१ और उसका टिप्पण।

असण्णि-आउय-पदं

असंज्ञि-आयुष्य-पदम्

असंज्ञी-आयु-पद

११३. अहं भन्ते ! असंजयभविद्यदम्बदेवाणं,
अविराहियसंजमाणं, विराहियसंजमाणं,
अविराहियसंजमासंजमाणं, विराहियसंज-
मासंजमाणं, असण्णीणं, तावसाणं, कंद-
प्पियाणं, चरग-परिव्यायगाणं, किल्विसिया-
णं, तेरिच्छियाणं, आजीवियाणं, आभि-
ओगियाणं, सर्लिगीणं दंसणवावण्णगाणं

अथ भदन्त ! असंयतभव्यद्रव्यदेवानाम् अवि-
राधितसंयमानां, विराधितसंयमानाम्, अविरा-
धितसंयमासंयमानां, विराधितसंयमासंयमा-
नाम्, असंज्ञिनां, तापसानां, कान्दर्पिकानां,
चरक-परिव्राजकानां, किल्विषिकानां, तैर-
श्चिकानाम्, आजीविकानाम्, आभियोगि-
कानां, स्वलिङ्गिनां, दर्शनव्यापन्नकानाम्—

११३. ^१भन्ते ! देवत्व प्राप्त करने योग्य असंयमी^२
संयम की आराधना करने वाले,^३ संयम की विरा-
धना करने वाले,^४ संयमासंयम की आराधना करने
वाले, संयमासंयम की विराधना करने वाले असं-
ज्ञी,^५ तापस,^६ कान्दर्पिक,^७ चरकपरिव्राजक,^८
किल्विषिक,^९ तिर्यज्च,^{१०} आजीविक,^{११} आभि-
योगिक और दर्शनभ्रष्ट स्वतीर्थिक—जैन मुनि-

१. भ.वृ. १।१०६—मिश्रकालस्तु तेषामेव नारकाणां मध्यादेकादय उद्धृताः
यावदेकोऽपि शेषस्तावन्मिश्रकालः ।

२. वही, १।१०६—शून्यकालस्तु यदा त एवादिष्टसामयिका नारकाः साम-
स्त्येनोद्धृता भवन्ति, नैकोऽपि तेषां शेषोस्ति स शून्यकाल इति ।

३. (क) वही, १।१०६—चान्तर्मुहूर्तमात्रः अयं च यद्यपि सामान्येन तिरश्चा-
मुक्तस्ताऽपि विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमानामेवावसेयः, तेषामेवान्तर्मुहूर्तमानस्य विरह-
कालस्योक्तत्वात्, यदाह—

"भिन्नमुहूर्तो विगलिदिएसु सम्मुच्छिमेसुवि स एव ।"

एकेन्द्रियाणां तूद्धर्तनोपपातविरहाभावेनाशून्यकालाभाव एव, आह च—

एगो असंखभागो वट्टइ उव्वट्टणोववायंभि ।

एकनिगोए निद्धं एवं सेसेसु वि स एव ॥

पृथिव्यादिषु पुनः 'अणुसमयमसंखेज्ज'ति वचनाद्विरहाभाव इति ।

(ख) भ.जो.१।८।७३१ ।

४. भ.वृ.१।११२ —अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया चान्त्यक्रिया, अन्तस्य वा
—कर्मान्तस्य क्रिया अन्तक्रिया, तां कृत्वकर्मक्षयलक्षणं मोहप्राप्तिमित्यर्थः ।

—एतेसिं णं देवलोगेसु उचवज्जमाणानं कस्स कर्हि उववाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंयतभवियदब्बदेवानं जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं उवरिमगेवेज्जएसु। अविराहियसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सब्बइसिद्धे विमाणे। विराहिय-संजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे। अविराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे। विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं जोइसिएसु। असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु।

अवसेसा सब्बे जहण्णेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वोच्छामि—तावसाणं जोति-सिएसु, कंदण्णियाणं सोहम्मे कप्पे, चरग-परिव्यायगाणं बंभलोए कप्पे, किब्बिसियाणं लंतगे कप्पे, तेरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे, आजीवियाणं अच्चुए कप्पे, आभियोगियाणं अच्चुए कप्पे, सल्लिणीणं वंसणवावज्जगाणं उवरिमगेविज्जेसु।।

एतेषां देवलोकेषु उपप्रथमानानां कस्य क उपपातः प्रज्ञप्तः?

गौतम ! असंयतभव्यद्रव्यदेवानां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कर्षेण उपरिमप्रैवेयकेषु। अविराधितसंयमानां जघन्येन सौधर्मे कल्पे, उत्कर्षेण सर्वार्थसिद्धे विमाने। विराधि-तसंयमानां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे। अविराधितसंयमासंयमानां जघन्येन सौधर्मे कल्पे, उत्कर्षेण अच्युते कल्पे। विराधितसंयमासंयमानां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कर्षेण ज्यौतिषिकेषु। असंज्ञिनां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कर्षेण वानमन्तरेषु।

अवशेषः सर्वे जघन्येन भवनवासिषु, उत्कर्षेण वक्ष्यामि—तापसानां ज्यौतिषिकेषु, कांदर्षिकानां सौधर्मे कल्पे, चरक-परि-ब्राजकानां ब्रह्मलोके कल्पे, किल्बिषिकानां लान्तके कल्पे, तैरिच्छिकानां सहस्रारे कल्पे, आजीविकानाम् अच्युते कल्पे, आभियोगि-कानाम् अच्युते कल्पे, स्वलिङ्गिनां दर्शनव्या-पन्नकानाम् उपरितनप्रैवेयकेषु।

वेषधारी^{१२}—ये देवलोक में उपपन्न हों तो किसका कहां उपपात प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! देवत्व प्राप्त करने योग्य असंयमी जघन्यतः भवनवासी, उत्कर्षतः उपरिचर्ती प्रैवेयकों में, संयम की आराधना करने वाले जघन्यतः सौधर्म कल्प, उत्कर्षतः सर्वार्थसिद्ध विमान में, संयम की विराधना करने वाले जघन्यतः भवनवासी, उत्कर्षतः सौधर्म कल्प में, संयमासंयम की आराधना करने वाले जघन्यतः सौधर्म कल्प, उत्कर्षतः अच्युतकल्प में, संयमासंयम की विराधना करने वाले जघन्यतः भवनवासी, उत्कर्षतः ज्योतिष्क देवों में, असंज्ञी जीव जघन्यतः भवनवासी, उत्कर्षतः वानमन्तरो में उप-पन्न होते हैं।

अवशेष सब जघन्यतः भवनवासी में उपपन्न होते हैं। उनका उत्कर्षतः उपपात इस प्रकार होगा—तापस ज्योतिष्क देवों में, कांदर्षिक सौधर्म कल्प में, चरक-परिब्राजक ब्रह्मलोक कल्प में, किल्बि-षिक लान्तक कल्प में, तिर्यञ्च सहस्रार कल्प में, आजीविक अच्युत कल्प में, आभियोगिक अच्युत कल्प में, दर्शनभ्रष्ट स्वतीर्थिक—जैन मुनि वेषधारी उपरिचर्ती प्रैवेयकों में उपपन्न होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ११३

प्रस्तुत सूत्र में देवगति में उत्पन्न होने योग्य जीवों का संकलन किया गया है। किस प्रकार की निर्जरा और संयम-साधना से देवों के विभिन्न स्तरों पर तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म लेते हैं। उनका एक वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण पणवण्ण में भी मिलता है।^१ ओवाइयं में भी इस विषय का एक लंबा प्रकरण है। उसमें कुछ विशद चर्चा उपलब्ध है।^२

२. देवत्व प्राप्त करने योग्य असंयमी

प्रस्तुत वर्गीकरण का पहला सूत्र है—असंयत भव्य द्रव्य देव। इसमें उन श्रमणों का संग्रह किया गया है जो श्रमण का जीवन जी रहे हैं, श्रमण की सामाचारी का अनुपालन कर रहे हैं, किन्तु वास्तव

में उनमें श्रमण्य का स्पर्श नहीं हुआ है। उनकी मिथ्या-दृष्टि छूटी नहीं है। इसमें भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के मनुष्य हो सकते हैं। वे द्रव्य क्रिया के कारण उच्च प्रैवेयक तक जा सकते हैं। श्रमण का अनुष्ठान होने पर भी वे चारित्र के परिणाम से शून्य होते हैं इसलिए उन्हें असंयत कहा गया है।^३

'भव्य-द्रव्य-देव'—यह पारिभाषिक शब्द है। जिसमें देव होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है उसे भव्य-द्रव्य-देव कहा जाता है।^४ वृत्तिकार ने बतलाया है कि मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी साधु की पूजा-प्रतिष्ठा देखकर साधुत्व के प्रति आकर्षित हो जाता है और साधु-जीवन की क्रिया का अनुपालन कर सकता है।^५

१. पण्ण.२०।६१।

२. ओवा.सू.८८-१६०।

३. भ.वृ.१।११३—असंयता—चरणपरिणामशून्याः भव्याः देवत्वयोग्या अत एव द्रव्यदेवाः, समासश्चैवं—असंयताश्च ते भव्यद्रव्यदेवाश्चेति असंयतभव्य-द्रव्यदेवाः।

४. भ.१२।१६४।

५. भ.वृ.१।११३—असंयताश्च ते सत्यन्धनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात्।

ननु कथं तेऽभव्या भव्या वा श्रमणगुणधारिणो भवन्ति ? इति, अत्रो-च्यते—तेषां हि महामिथ्यादर्शनमोहप्रादुर्भावे सत्यपि चक्रवर्तिप्रभृत्यनेकभूपति-प्रवरपूजासत्कारसन्मानदानान् साधून् समवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियाकलापा-नुष्ठानं प्रति श्रद्धा जायते। ततश्च ते यथोक्तक्रियाकारिण इति।

वृत्तिकार ने एक प्राचीन मत का उल्लेख किया है। उस मत के अनुसार यहां असंयत सम्यग्दृष्टि का ग्रहण होता है। वृत्तिकार ने इस मत को अमान्य ठहराया है और उसकी समीक्षा की है। उनके अनुसार सम्यग्दृष्टि देशविरत होने पर भी अच्युत (बारहवें स्वर्ग) से ऊपर उत्पन्न नहीं होता। प्रस्तुत सूत्र में निह्रवों का ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। उनका प्रतिपादन अंतिम सूत्र में किया गया है, इसलिए असंयत भव्य-द्रव्य-देव मिथ्यादृष्टि ही होता है।^१

३. संयम की आराधना करने वाले

प्रब्रज्याकाल से लेकर जीवन के अंत तक जिसके चरित्र का परिणाम खण्डित नहीं होता वह विराधनारहित संयम का अधिकारी माना जाता है। संयम की प्रारम्भिक साधना में संज्वलन कषाय का और प्रमत्त गुणस्थान का अस्तित्व रहता है, इस स्थिति में स्वल्प माया आदि दोष का संभव होने पर भी चारित्र का उपघात नहीं किया जाता; इसलिए उस जागरूक मुनि का संयम अविराधित माना गया है।^२

४. संयम की विराधना करने वाले

वृत्तिकार ने इस विषय की समीक्षा में लिखा है कि आर्या सुकुमालिका ने संयम की विराधना की थी और वह दूसरे स्वर्ग (ईशान कल्प) में उत्पन्न हुई; इसलिए उत्कर्षतः सौधर्म कल्प में उत्पन्न होने का नियम कैसे घटित हो सकता है? इसका समाधान उन्होंने इस प्रकार किया है कि आर्या सुकुमालिका ने संयम के उत्तरगुण की विराधना की थी, उसने मूल गुण की विराधना नहीं की थी। विराधित संयम की कोटि में संयम की अधिकतम विराधना करने वालों का ग्रहण किया गया है। कुछ अंशों में विराधना करने वाले मुनि अच्युत तक के स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।^३ वृत्तिकार के समाधान की पुष्टि नायाधम्मकहाओ और भगवई से भी होती है।^४

५. असंज्ञी

अमनस्क जीवों के मन का विकास नहीं होता, फिर भी अकाम

निर्जरा के कारण वे उच्च गति में उत्पन्न हो जाते हैं।^५ यहां 'असंज्ञी' पद अमनस्क तिर्यज्य पंचेन्द्रिय का सूचक है।^६ चतुरिन्द्रिय तक के जीव देवगति में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए यहां 'असंज्ञी' पद के द्वारा अमनस्क तिर्यज्य पंचेन्द्रिय का ही ग्रहण किया गया है।

६. तापस

दशवैकालिक निर्युक्ति में पांच प्रकार के श्रमण बतलाए गए हैं—

निर्ग्रन्थ—जैन मुनि
शाक्य—बौद्ध भिक्षु
तापस—जटाधारी वनवासी मुनि
गेरुक—त्रिदण्डी परिव्राजक
आजीवक—गोशालक के शिष्य ।

इसके आधार पर कहा जा सकता है कि तापस श्रमणों का एक सम्प्रदाय था। ओबाइय में तापसों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।^७

७. कान्दर्पिक, किल्चिषिक और आभियोगिक

उक्त तीनों पद तीन भावनाओं से संबद्ध हैं। कान्दर्पी भावना से भावित साधु कान्दर्पिक, किल्चिषी भावना से भावित साधु किल्चिषिक और अभियोगी भावना से भावित साधु आभियोगिक कहलाते हैं। ये व्यवहारदृष्टि से चारित्रवान होते हैं। यह वृत्तिकार की व्याख्या है। ओबाइय में इनके लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग किया गया है।^८ यहां किल्चिषिक का जघन्यतः उत्पाद भवनवासी में बतलाया गया है। पणवणा में उनका जघन्यतः उत्पाद सौधर्म देवलोक में बतलाया गया है।^९ भवनवासी में उत्पन्न होना विमर्शनीय है। किल्चिषिक देव तीन प्रकार के होते हैं और वे तीनों वैमानिक देवों के स्तर हैं।^{१०} कान्दर्पी भावना वाले हास्य-कुतूहलप्रधान प्रवृत्ति करते हैं। ओबाइय में कान्दर्पी भावना वालों का सौधर्म देवलोक में कान्दर्पिक के रूप में उत्पन्न होना बतलाया गया है। वहां उनके

१. भ.वृ.१।११३—तत्रैतेऽसंयतसम्यग्दृष्टयः किलेत्येके, यतः किलोक्तम्—

अणुव्ययमहव्ययेह य बालतवोऽकामनिज्जराए य ।

देवाउयं निबंघइ सम्महिंदि य जो जीवो ॥

एतस्माद्युक्तं, यतोऽमीषामुत्कृष्टत उपरिमग्रीवेयकेषूपपात उक्तः । सम्यग्दृष्टीनां तु देशविरतानामपि न तत्रासौ विद्यते, देशविरतश्रावकाणामच्युतादूर्ध्वमगमनात् । नाप्येते निह्रवाः तेषामिहैव भेदेनाभिधानात् । तस्मान्मिथ्यादृष्टय एव अभव्या भव्या वा असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठान-युक्ता द्रव्यलिंगधारिणो गृह्यन्ते । ते ह्यखिलकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरिम-ग्रीवेयकेषूपपद्यन्ते इति ।

२. वही, १।११३—प्रब्रज्याकालादारभ्याभ्रचारित्रपरिणामानां संज्वलनकषाय-सामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायादिदोषसम्भवेऽप्यनाचरित-चरणोपघातानामित्यर्थः ।

३. वही, १।११३—इह कश्चिदाह—विराधितसंयमानामुत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे इति यदुक्तं, तत्कथं घटते ? द्रौपद्याः सुकुमालिकाभवे विराधितसंयमाया ईशाने उत्पादश्रवणात् इति । अत्रोच्यते—तस्याः संयमविराधना उत्तरगुणविषया

बकुशत्वमात्रकारिणी न मूलगुणविराधनेति । सौधर्मोत्पादाश्च विशिष्टतर-संयमविराधनायां स्यात् । यदि पुनर्विराधनामात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारकं स्यात्तदा बकुशादीनामुत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युतादिपूत्यतिः स्यात् ? कथञ्चिद्विराधकत्वात्तेषामिति ।

४. (क) नाया.१।१६।११६।

(ख) भ.२५।३३७।

५. भ.वृ.१।११३—मनोलब्धिरहितानामकामनिर्जरावताम् ।

६. पण्ण.६।१०३, १०४।

७. ओबा.सू.६४।

८. वही, सू.६५—से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-दोगमुह मंडब-पट्टणासम-संबाह-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवन्ति, तं जहा—कंद-पिया कुक्कुइया मोहरिया गीयरइपिया नच्चणसीला ।

९. पण्ण.२०।६१।

१०. भ.६।२३७-२३६।

जघन्य उत्पाद की कोई चर्चा नहीं है।^१ किल्चिपी भावना वाले ज्ञान और ज्ञानी की अवहेलना नहीं करते हैं। ओवाइयं के अनुसार वे आचार्य, उपाध्याय आदि के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाले होते हैं।^२ प्रस्तुत आगम में भी इसका संवादी पाठ मिलता है।^३ अभियोगी भावना वाले विद्या और मन्त्र का प्रयोग करते हैं।^४ उत्तरज्जयणाणि में पांच भावनाएं बतलाई गई हैं, उनमें ये तीनों उल्लिखित हैं।^५

८. चरक और परिव्राजक

ये दोनों श्रमण-सम्प्रदाय के अंगभूत हैं। आगम के व्याख्या-साहित्य में चरक और परिव्राजक का बार-बार उल्लेख मिलता है। दशवैकालिक निर्युक्ति में श्रमण के बीस पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं। उनमें चरक और परिव्राजक इन दोनों का समावेश है।^६ ओवाइयं में परिव्राजकों के नौ सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है—सांख्य, योगी, कापिल, भार्गव, हंस, परमहंस, बहुउदक, कुटिद्रत और कृष्ण-परिव्राजक। वहां आठ ब्राह्मण परिव्राजक और आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख भी मिलता है।^७ प्रारम्भ में परिव्राजक तथा चरक का सांख्य दर्शन से सम्बन्ध रहा। उत्तरकाल में उनका विस्तार हो गया।

९. तिर्यञ्च

यहां गाय, अश्व आदि उन तिर्यञ्चों का ग्रहण किया गया है जो देशव्रत का पालन करते हैं।^८ ओवाइयं में इसका विशद विवेचन मिलता है। उसके अनुसार संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यग्यौनिक जलचर, स्थलचर और खेचर जीव जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त कर पांच अपुत्रतों को स्वीकार करते हैं, बहुत सारे शील व्रत आदि के द्वारा अपने आपको भावित कर अनशनपूर्वक मरकर उत्कर्षतः सहस्रारकल्प तक उत्पन्न हो जाते हैं।^९ इस विषय में प्रस्तुत आगम २४।३५२ तथा

पण्णवणा ६।१०५-१०६ द्रष्टव्य है।

१०. आजीविक

यह एक श्रमण-सम्प्रदाय था। भगवान् महावीर के समय में यह बहुत प्रसिद्ध और शक्तिशाली संघ था। मंखलिपुत्र गोशालक इसी सम्प्रदाय के आचार्य बने थे। इस सम्प्रदाय के बारे में आगम-साहित्य तथा आगम के व्याख्या-साहित्य में पर्याप्त जानकारी मिलती है। बौद्ध-साहित्य में वर्णित छह तीर्थकरों में मंखली गोशालक का आजीविकों के तीर्थकर के रूप में उल्लेख है।^{१०} इस विषय में प्रस्तुत आगम का पन्द्रहवां शतक द्रष्टव्य है। डॉ. ए. एल. बाशम ने 'आजीविक' पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है।^{११} ओवाइयं में आजीविकों के द्विगृहान्तरिक त्रिगृहान्तरिक आदि सात प्रकार बतलाए गए हैं।^{१२}

११. दर्शनभ्रष्ट स्वतीर्थिक—जैन मुनि वेषधारी

इन दो पदों के द्वारा निहचों की सूचना दी गई है। ढाणं में सात निहचों के बारे में जानकारी मिलती है।^{१३} ओवाइयं के अनुसार चर्चा और लिंग की दृष्टि से ये प्रारम्भ में श्रमण होते हैं, किंतु किसी कारणवश उनका दृष्टिकोण मिथ्या हो जाता है और वे मिथ्याभिनिवेश के कारण तीर्थकर द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का अपलाप करते हैं।^{१४} विस्तृत विवरण के लिए देखें ढाणं ७।१४० का टिप्पण।

वृत्तिकार ने 'आजीविक' शब्द का अर्थ 'नग्न रहने वाले श्रमणों का एक प्रकार' किया है। कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ 'गोशालक-सम्प्रदाय' मानते हैं। यह मतान्तर का उल्लेख है। वृत्तिकार ने इसका तीसरा अर्थ किया है—पूजा-प्रतिष्ठा के लिए तपश्चरण करने वाले।^{१५}

१. ओवा.सू. ६५।

२. वही,सू. १५५।

३. म. ६।२४०।

४. (क) म.वृ. १।११३—किल्चिषं—पापं तदस्ति येषां ते किल्चिषिकाः, ते च व्यवहारतश्चरणवन्तोऽपि ज्ञानाद्यवर्णवादिनः, यथोक्तम्—

पाणस्स केवलीणं, धम्मापरियस्स संघसाहूणं।

माई अवन्नवाई, किल्चिसियं भावणं कुणई॥

अतस्तेषां अभियोजनं—विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणाद्यभियोगः, स द्विधा, यदाह—

दुविहो खलु अभिओगो, दब्बे भावे य होइ नायव्वो।

दब्बमि होत्ति जोगा, विञ्जा मंता य भावमि ॥ इति।

सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति ये ते आभियोगिक वा। ते च व्यवहारत-श्चरणवन्त एव मन्त्रादिप्रयोक्तारः, यदाह—

कोउयभूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।

इट्टिरससायगरुओ अहिओगं भावणं कुणइ ॥ इति।

(ख) ओवा.सू. १५६।

५. उत्तर. ३६।२५६।

६. दशवै.नि.गा. १५८, १५६।

पव्वइए अणमारो, पासंडे चरग तावसे भिक्खू।

परिवाइए य सण्णे, निगंथे संजए मुत्ते ॥

तिप्पे ताई दविए, मुणी य खंते दंत विरए य।

लूहे तिरट्टेऽविय, हवति समणस्स नामाई ॥

७. ओवा.सू. ६६।

८. म.वृ. १।११३—'तिरश्चां' गवाशवादीनां देशविरतिभाजाम्।

९. ओवा.सू. १५६, १५७।

१०. दीघनिकाय, खण्ड १, पृ. ४१, २।१।३—अयं देव, मंखलि गोसालो सद्धी च्चैव गणी च गणाचरियो च, आतो, यसस्सी, तित्यकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्जू, चिरपव्वजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो।

११. History and Doctrines of Ajivakas.

१२. ओवा.सू. १५८।

१३. ढाणं, ७।१४०-१४२।

१४. ओवा.सू. १६०।

१५. म.वृ. १।११३—पाषण्डिदेशेषाणां नाग्यन्धारिणां, गोशालकशिष्याणामि-त्यन्ये। आजीवन्ति वा येऽविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तप-श्चरणादीनि ते आजीविकाऽस्तित्वेनाजीविका अतस्तेषाम्।

११४. कतिविहे णं भन्ते ! असण्णिआउए पण्णत्ते ?
गोयमा ! चउव्विहे असण्णिआउए पण्णत्ते,
तं जहा—नेरइयअसण्णिआउए, तिरिक्ख-
जोणियअसण्णिआउए, मणुस्सअसण्णि-
आउए, देवअसण्णिआउए ॥

कतिविधं भदन्त ! असंज्ञायुः प्रज्ञप्तम् ?

गीतम ! चतुर्विधं असंज्ञायुः प्रज्ञप्तम्, तद्
यथा—नैरयिकासंज्ञायुः तिर्यग्योनिका-
संज्ञायुः, मनुष्यासंज्ञायुः, देवासंज्ञायुः ।

११४. भन्ते ! असंज्ञी-आयु^१ कितने प्रकार की
प्रज्ञप्त है ?

गीतम ! असंज्ञी-आयु चार प्रकार की प्रज्ञप्त है,
जैसे—नैरयिक असंज्ञी-आयु,^२ तिर्यग्योनिक
असंज्ञी-आयु, मनुष्य असंज्ञी-आयु, देव असंज्ञी-
आयु ।

भाष्य

१. असंज्ञी-आयु

असंज्ञी का अर्थ है अमनस्क। जिस जीव के मन का विकास नहीं होता, वह असंज्ञी कहलाता है। जो जीव असंज्ञी अवस्था में अगले जन्म के योग्य आयु का बन्ध करता है उसका नाम असंज्ञी-आयु है।^१ यह भावी नैगम नय की अपेक्षा से व्याख्या की गई है। भावी नैगम नय, नैगम नय का एक भेद है जिसका विषय है—भविष्य में वर्तमान का आरोपण करना। जैसे—जब जीव असंज्ञी तिर्यज्य^२ अवस्था में नरक या देव गति का आयुष्य-बन्ध करता है, उस आयु बन्ध को असंज्ञी-आयुष्य-बन्ध कहा जाता है, जबकि देव

और नरक असंज्ञी होते ही नहीं। यहां भविष्य में वर्तमान का आरोपण किया गया है।

२. नैरयिक असंज्ञी-आयु

नैरयिक असंज्ञी-आयु का तात्पर्य है—नैरयिक-प्रायोग्य असंज्ञी-आयु यानि असंज्ञी जीव जब नरक का आयुष्य-बन्ध करता है। शेष तीनों इसी प्रकार व्याख्येय हैं।^३

११५. असण्णी णं भन्ते ! जीवे किं नेरइयाउयं पकरोइ ? तिरिक्खजोणियाउयं पकरोइ ? मणुस्साउयं पकरोइ ? देवाउयं पकरोइ ?

हंता गोयमा ! नेरइयाउयं पि पकरोइ, तिरि-
क्खजोणियाउयं पि पकरोइ, मणुस्साउयं पि
पकरोइ, देवाउयं पि पकरोइ ।

नेरइयाउयं पकरोमाणे जहण्णेणं दसवास-
सहस्साइं, उक्कोसेणं पत्तिओवमस्स असं-
खेज्जइभागं पकरोइ ।

तिरिक्खजोणियाउयं पकरोमाणे जहण्णेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पत्तिओवमस्स असं-
खेज्जइभागं पकरोइ ।

मणुस्साउयं पकरोमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,
उक्कोसेणं पत्तिओवमस्स असंखेज्जइभागं
पकरोइ ।

देवाउयं पकरोमाणे जहण्णेणं दसवास-
सहस्साइं, उक्कोसेणं पत्तिओवमस्स असंखे-
ज्जइभागं पकरोइ ॥

असंज्ञी भदन्त ! जीवः किं नैरयिकायुः
प्रकरोति ? तिर्यग्योनिकायुः प्रकरोति ? मनु-
ष्यायुः प्रकरोति ? देवायुः प्रकरोति ?

हन्त गीतम ! नैरयिकायुरपि प्रकरोति, तिर्यग्य-
ोनिकायुरपि प्रकरोति, मनुष्यायुरपि प्रकरो-
ति, देवायुरपि प्रकरोति ।

नैरयिकायुः प्रकुर्वन् जघन्येन दशसहस्र-
वर्षाणि, उत्कर्षेण पत्त्योपमस्य असंख्येयभागं
प्रकरोति ।

तिर्यग्योनिकायुः प्रकुर्वन् जघन्येन अन्त-
र्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण पत्त्योपमस्य असंख्येयभागं
प्रकरोति ।

मनुष्यायुः प्रकुर्वन् जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्,
उत्कर्षेण पत्त्योपमस्य असंख्येयभागं प्रकरो-
ति ।

देवायुः प्रकुर्वन् जघन्येन दश सहस्रवर्षाणि,
उत्कर्षेण पत्त्योपमस्य असंख्येयभागं प्रकरो-
ति ।

११५. भन्ते ! क्या असंज्ञी जीव नैरयिक-आयु का
बन्ध करता है ?^१ तिर्यग्योनिक-आयु का बन्ध
करता है ? मनुष्य-आयु का बन्ध करता है ?
देव-आयु का बन्ध करता है ?

हां, गीतम ! वह नैरयिक-आयु का भी बन्ध करता
है। तिर्यग्योनिक-आयु का भी बन्ध करता है।
मनुष्य-आयु का भी बन्ध करता है और देव-
आयु का भी बन्ध करता है।

नैरयिक-आयु का बन्ध करने वाला जघन्यतः दस
हजार वर्ष और उत्कर्षतः पत्त्योपम के असंख्येय
भाग का बन्ध करता है।

तिर्यग्योनिक-आयु का बन्ध करने वाला जघन्यतः
अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षतः पत्त्योपम के असंख्येय
भाग का बन्ध करता है।

मनुष्य-आयु का बन्ध करने वाला जघन्यतः अन्त-
र्मुहूर्त और उत्कर्षतः पत्त्योपम के असंख्येय भाग
का बन्ध करता है।

देव-आयु का बन्ध करने वाला जघन्यतः दश
हजार वर्ष और उत्कर्षतः पत्त्योपम के असंख्येय
भाग का बन्ध करता है।

१. भ.वृ.१।११४—असंज्ञी सन् यत्परभवयोग्यमायुर्बध्नाति तदसंज्ञायुः ।

२. भ.वृ.१।११४—नैरयिकप्रायोग्यमसंज्ञायुर्नैरयिकासंज्ञायुः, एवमन्यापि ।

३. असंज्ञी मनुष्य नरक और देवगति का आयुष्य-बंध नहीं करता।

भाष्य

१. बन्ध करता है

यहां 'प्रकरोति' का अर्थ 'बंध करना' है।^१ पकरोइ—इस धातु का कुछ विशिष्ट अर्थ भी है। इस विषय में भ. १।४३६-४३८ का आलापक द्रष्टव्य है। वहां बंध और पकरोइ दोनों धातु-पदों का प्रयोग

है। बंधइ का अर्थ सामान्य है—बांधना। पकरोइ का अर्थ कर्म की प्रकृति आदि में परिवर्तन करना है।

११६. एयस्स णं भन्ते ! नेरइयअसण्णी-
आउयस्स, तिरिक्खजोगियअसण्णीआउय-
स्स, मणुस्सअसण्णीआउयस्स, देवअस-
ण्णीआउयस्स कयरे कयरोहिंतो अप्पे वा ?
बहुए वा ? तुल्ले वा ? विसेसाहिए वा ?
गोयमा ! सब्वत्थोवे देवअसण्णिआउए,
मणुस्सअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे, तिरि-
क्खजोगियअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे,
नेरइयअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे ॥

एतस्य भदन्त ! नैरयिकासंज्ञयायुषः, तिर्यग्-
योनिकासंज्ञयायुषः, मनुष्यासंज्ञयायुषः, देवा-
संज्ञयायुषः, कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा ?
बहुर्वा ? तुल्यो वा ? विशेषाधिको वा ?

गीतम ! सर्वस्तोकः देवासंज्ञयायुः, मनुष्या-
संज्ञयायुः अख्येयगुणः, तिर्यग्योनिकासंज्ञयायुः
असंख्येयगुणः, नैरयिकासंज्ञयायुः असंख्येय-
गुणः ।

११६. ^१भन्ते! नैरयिक-असंज्ञी-आयु, तिर्यग्योनिक-
-असंज्ञी-आयु, मनुष्य-असंज्ञी-आयु, और देव-
-असंज्ञी-आयु, इनमें कौन किससे अल्प, अधिक,
तुल्य या विशेषाधिक है ?

गीतम ! देव की असंज्ञी-आयु सबसे अल्प है।
मनुष्य-असंज्ञी-आयु उससे असंख्येयगुणा है, तिर्य-
ग्योनिक-असंज्ञी-आयु उससे असंख्येयगुणा है
और नैरयिक-असंज्ञी-आयु उससे असंख्येयगुणा
है।

भाष्य

१. सूत्र ११६

आयुष्य का अल्पबहुत्व

जयाचार्य ने आयुष्य के अल्पबहुत्व का विमर्श किया है।
उन्होंने लिखा है कि प्रस्तुत आगम के चौबीसवें शतक के द्वितीय
उद्देशक की टीका में यह निर्दिष्ट है—"संमूर्च्छिम की उत्कृष्ट आयु
एक करोड़ पूर्व-प्रमाण होती है।" इसका हेतु यह है कि संमूर्च्छिम
जीव अपनी आयु के प्रमाण में ही देव-आयु का बंध कर सकता
है, उससे अधिक नहीं कर सकता।^२ इसी अपेक्षा से देव-आयु को

सबसे अल्प माना गया है।^३

यौगलिक मनुष्य की अपेक्षा से मनुष्य—आयु को उससे
असंख्यातगुणा तथा तिर्यञ्च यौगलिक की अपेक्षा से उससे असंख्यात-
गुणा माना गया है। रत्नप्रभा के चौथे प्रस्तर में मध्यम आयु में उत्पन्न
होता है, इस अपेक्षा से नरक का आयु तिर्यञ्च से असंख्यातगुणा
होता है।

११७. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते !

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त !

११७. भन्ते वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है।

१. भ.वृ.१।११५—'पकरोइ' ति बध्नाति।

२. बही,२।११७—इह पत्तोपमासंख्येयभागग्रहणेन पूर्वकोटी ग्राह्या, यतः
संमूर्च्छिमस्योत्कर्षतः पूर्वकोटिप्रमाणमायुर्भवति, स चोत्कर्षतःस्वायुष्कतुल्यमेव
देवायुर्बध्नाति नातिरिक्तं, अत एवोक्तं दूर्गिकारेण—"उक्कोसेणं स तुल्ल-

पुव्वकोडी आयुयत्तं निव्वत्तेइ, न य संमुच्छिमो पुव्वकोडीआयुयत्ताओ परो
अत्थि"ति।

३. भ.जो.१।१०।२२ का वार्तिक।

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

भूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
कंखामोहणिञ्ज-पदं	काङ्क्षामोहनीय-पदम्	कांक्षामोहनीय-पद
११८. जीवाणं भंते ! कंखामोहणिञ्जे कम्म कडे ? हंता कडे ॥	जीवानां भदन्त ! कांक्षामोहनीयं कर्म कृतम् ? हन्त कृतम् ।	११८. भन्ते ! क्या जीवों के कांक्षामोहनीय ^१ कर्म कृत ^३ होता है ? हां, कृत होता है ।
११९. से भंते ! किं १. देसेणं देसे कडे ? २. देसेणं सव्वे कडे ? ३. सव्वेणं देसे कडे ? ४. सव्वेणं सव्वे कडे ?	तस्य भदन्त ! किं १. देशेण देशः कृतः ? २. देशेण सर्वं कृतम् ? ३. सर्वेण देशः कृतः ? ४. सर्वेण सर्वं कृतम् ?	११९. भन्ते ! क्या १. देश के द्वारा देश कृत होता है ? २. देश के द्वारा सर्व कृत होता है ? ३. सर्व के द्वारा देश कृत होता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है ?
गोयमा ! १. नो देसेणं देसे कडे २. नो देसेणं सव्वे कडे ३. नो सव्वेणं देसे कडे ४. सव्वेणं सव्वे कडे ॥	गौतम ! १. नो देशेण देशः कृतः २. नो देशेण सर्वं कृतम् ३. नो सर्वेण देशः कृतः ४. सर्वेण सर्वं कृतम् ।	गौतम ! १. देश के द्वारा देश कृत नहीं होता । २. देश के द्वारा सर्व कृत नहीं होता । ३. सर्व के द्वारा देश कृत नहीं होता । ४. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है ।
१२०. नेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिञ्जे कम्म कडे ? हंता कडे ॥	नैरयिकाणां भदन्त ! कांक्षामोहनीयं कर्म कृतम् ? हन्त कृतम् ।	१२०. भन्ते ! क्या नैरयिक जीवों के कांक्षामोहनीय कर्म कृत होता है ? हां, कृत होता है ।
१२१. से भंते ! किं १. देसेणं देसे कडे ? २. देसेणं सव्वे कडे ? ३. सव्वेणं देसे कडे ? ४. सव्वेणं सव्वे कडे ?	तस्य भदन्त ! किं १. देशेण देशः कृतः ? २. देशेण सर्वं कृतम् ? ३. सर्वेण देशः कृतः ? ४. सर्वेण सर्वं कृतम् ?	१२१. भन्ते ! क्या १. देश के द्वारा देश कृत होता है ? २. देश के द्वारा सर्व कृत होता है ? ३. सर्व के द्वारा देश कृत होता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है ?
गोयमा ! १. नो देसेणं देसे कडे २. नो देसेणं सव्वे कडे ३. नो सव्वेणं देसे कडे ४. सव्वेणं सव्वे कडे ॥	गौतम ! १. नो देशेण देशः कृतः २. नो देशेण सर्वं कृतम् ३. नो सर्वेण देशः कृतः ४. सर्वेण सर्वं कृतम् ।	गौतम ! १. देश के द्वारा देश कृत नहीं होता । २. देश के द्वारा सर्व कृत नहीं होता । ३. सर्व के द्वारा देश कृत नहीं होता । ४. सर्व के द्वारा सर्व कृत होता है ।
१२२. एवं जाव वेमाणियाणं बंडओ भाणियच्चो ॥	एवं यावद् वैमानिकानां दण्डकः भणितव्यः ।	१२२. (असुरकुमारों से लेकर) वैमानिकों तक सभी दण्डक इसी प्रकार वक्तव्य हैं ।
१२३. जीवा णं भंते ! कंखामोहणिञ्जं कम्म करिसु ? हंता करिसु ॥	जीवा भदन्त ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म अकार्षुः ? हन्त अकार्षुः ।	१२३. भन्ते ! क्या जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म किये थे ? हां, किये थे ।
१२४. तं भंते ! किं १. देसेणं देसं करिसु ? २. देसेणं सव्वं करिसु ? ३. सव्वेणं देसं करिसु ? ४. सव्वेणं सव्वं करिसु ?	तस्य भदन्त ! किं १. देशेण देशम् अकार्षुः ? २. देशेण सर्वम् अकार्षुः ? ३. सर्वेण देशम् अकार्षुः ? ४. सर्वेण सर्वम् अकार्षुः ?	१२४. भन्ते ! क्या उन्होंने १. देश के द्वारा देश किया था ? २. देश के द्वारा सर्व किया था ? ३. सर्व के द्वारा देश किया था ? ४. सर्व के द्वारा सर्व किया था ?

गोयमा !१. नो देसेणं देसं करिसु २. नो देसेणं सव्वं करिसु ३. नो सव्वेणं देसं करिसु ४. सव्वेणं सव्वं करिसु ॥

गौतम ! १. नो देशेण देशम् अकार्षुः २. नो देशेण सर्वम् अकार्षुः ३. नो सर्वेण देशम् अकार्षुः ४. सर्वेण सर्वम् अकार्षुः ।

गौतम ! उन्होंने १. देश के द्वारा देश नहीं किया । २. देश के द्वारा सर्व नहीं किया । ३. सर्व के द्वारा देश नहीं किया । ४. सर्व के द्वारा सर्व किया था ।

१२५. एएणं अभिलावेणं दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं ॥

एतेन अभिलापेन दण्डकः भणितव्यः यावद् वैमानिकानाम् ।

१२५. इस अभिलाप (पाठ-पद्धति) द्वारा वैमानिकों तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं ।

१२६. एवं करेति । एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं ॥

एवं कुर्वन्ति । अत्रापि दण्डकः यावद् वैमानिकानाम् ।

१२६. इसी प्रकार (वर्तमान में जीव कांक्षामोहनीय कर्म) करते हैं । यहां भी वैमानिकों तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं ।

१२७. एवं करिस्संति । एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं ॥

एवं करिष्यन्ति । अत्रापि दण्डकः यावद् वैमानिकानाम् ।

१२७. इसी प्रकार (भविष्य में जीव कांक्षामोहनीय कर्म) करेंगे । यहां भी वैमानिकों तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं ।

१२८. एवं चिए, चिणिसु, चिणंति, चिणिसंति । उवचिए, उवचिणिसु, उवचिणंति, उवचिणिसंति । उदीरंसु, उदीरंति, उदीरिसंति । वेदंसु, वेदंति, वेदिसंति । निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरेसंति ।

एवं चितः, अचैषुः, चिन्वन्ति, चेष्णन्ति । उपचितः, उपाचैषुः, उपचिन्वन्ति, उपचेष्णन्ति । उदीरन्, उदीरयन्ति, उदीरयिष्यन्ति । अवेदयिषुः, वेदयन्ति, वेदयिष्यन्ति । निरजारिषुः, निर्जीरयन्ति, निर्जीरयिष्यन्ति ।

१२८. इसी प्रकार चित^४ है, चय किया था, चय करते हैं और चय करेंगे । उपचित^४ है, उपचय किया था, उपचय करते हैं और उपचय करेंगे । उदीरणा^५ की थी, उदीरणा करते हैं और उदीरणा करेंगे । वेदन^६ किया था, वेदन करते हैं और वेदन करेंगे । निर्जरण^७ किया था, निर्जरण करते हैं और निर्जरण करेंगे ।

संग्रहणी गाहा

कड-चिय-उवचिय-
उदीरिया वेदिया य निज्जिण्णा ।
आदितिए चउभेदा,
तिग्गभेदा पच्छिमा तिण्णि ॥१॥

संग्रहणी गाथा

कृत-चित-उपचित-
उदीरिता वेदिताः च निर्जीर्णाः ।
आदित्रिके चतुर्भेदाः,
त्रिकभेदाः पश्चिमाः त्रयः ॥

संग्रहणी गाथा^८

कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण—ये छह प्रकार हैं । इनमें प्रथम तीन के चार-चार भेद हैं और शेष तीन के तीन-तीन भेद हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ११८-१२८

प्रस्तुत आलापक में एक कर्मशास्त्रीय समस्या का समाधान किया गया है । जीव उन्हीं कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है, जो उसके प्रदेशों (आत्म-प्रदेशों) में अवगाढ होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जिन आकाश-प्रदेशों पर आत्मा के प्रदेश व्याप्त होते हैं, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर रहे हुए कर्म-पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु उन आकाश-प्रदेशों के अनन्तर और परम्पर प्रदेशों में अवगाढ कर्म-पुद्गलों का वह ग्रहण नहीं करता ।

कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार है—कभी जीव एक-दो से लेकर अनेक आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और कभी सभी आत्म-प्रदेशों पर अवगाढ कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है । ये दोनों प्रकार के पुद्गल जीव के सभी प्रदेशों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं । कर्म-प्रकृति में इसी सव्वेणं (सर्वात्मना) के नियम का निरूपण मिलता है ।^१ प्रस्तुत आगम तथा पण्णवणा में आहार के विषय में यही नियम मिलता है ।^२ वृत्तिकार ने भी इस नियम को

१. कर्म प्रकृति, २१—

एगमवि गहणदव्वं, सव्वपणयाए जीवदेसमि ।
सव्वपणया सव्वत्थ वावि सव्वे गहणखन्धे ॥

२. (क) भ.६।१८६।

(ख) पण्ण.२८।२०—आयसरीरखेतोगाढे पोग्गले सव्वपणयाए आहारमाह-
रेंति ।

जीव का स्वभाव मानकर उसकी व्याख्या की है।^१

इस नियम का दूसरा खण्ड है सब्ं। इसका तात्पर्य है कि एक काल में जितने कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना है उनका एक साथ ग्रहण किया जाएगा, उनका आंशिक ग्रहण नहीं होगा।^२ इस प्रकार सब्ं सब्े का नियम ग्राहक और ग्रहणीय द्रव्य दोनों से सम्बन्धित है। प्रस्तुत सूत्र के चार विकल्पों में यह चौथा विकल्प सम्मत है, शेष तीनों विकल्प कर्म-बन्ध के सम्बन्ध में मान्य नहीं हैं।

२. कांक्षामोहनीय

कांक्षा का अर्थ है अभिलाषा। विभिन्न दृष्टिकोणों या मतवादों के सामने आने पर कांक्षामोह की स्थिति बनती है। 'यह सही है' या 'वह सही है' इस प्रकार का विकल्प 'शंका' है। इसके पश्चात् 'इसे स्वीकार करूँ' या 'उसे स्वीकार करूँ' इस प्रकार की अभिलाषालक मनोदशा 'कांक्षा' है।

कांक्षा के साथ 'मोहनीय' शब्द का योग है। कांक्षा के द्वारा चेतना में एक प्रकार का मोह पैदा हो जाता है; इसलिए इसे मोहनीय कर्म कहा गया है।

वृत्तिकार ने कांक्षामोहनीय का अर्थ मिथ्यात्व मोहनीय किया है।^३ किन्तु इसी शतक के १७० वें सूत्र के सन्दर्भ में विमर्श करने पर प्रतीत होता है कि कांक्षामोहनीय का सम्बन्ध ज्ञानावरणीय कर्म से है, मोहनीय कर्म के अवान्तर भेद दर्शन-मोहनीय से नहीं है। द्रष्टव्य १।१६६-१७२ का भाष्य।

३. कृत

इसका अर्थ है कर्म रूप में बद्ध।

४. चित, उपचित

चित और उपचित का सामान्य अर्थ है—संचित होना और पुष्ट होना। कर्म-शास्त्र के प्रसंग में इनकी विशेष व्याख्या है—कर्म-पुद्गलों का जीव-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होते रहना, यह चय-अवस्था है। अभयदेवसूरि के अनुसार प्रदेश और अनुभाग आदि की वृद्धि का नाम चय है।^४ उन्होंने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार कर्म-पुद्गलों के ग्रहण-मात्र का नाम चय है।^५ आचार्य

मलयगिरि ने चित का अर्थ 'उत्तरोत्तर स्थितियों में प्रदेश-हानि और रस-वृद्धि के द्वारा अवस्थापित करना' किया है।^६

भगवती, प्रथम शतक के नौवें उद्देशक की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने चिणाइ का सम्बन्ध अनुभाग-बन्ध अथवा 'निधत्तावस्था' से बतलाया है।^७ पण्णवणा में भी बन्ध की छह अवस्थाएं प्रतिपादित हैं—१. बद्ध २. स्पृष्ट ३. बद्धस्पर्शस्पृष्ट ४. संचित ५. चित ६. उपचित।^८ इसी प्रकार उपचित पद के भी भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं—अभयदेवसूरि के अनुसार 'प्रदेश और अनुभाग आदि की बार-बार वृद्धि करना' उपचय है।^९ मतान्तर के अनुसार चित के अबाधाकाल को छोड़कर वेदन के योग्य निषेक की रचना करना उपचय है।^{१०}

प्रथम शतक के नौवें उद्देशक की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने उबचिणाइ का संबन्ध प्रदेश-बन्ध अथवा 'निकाचना' से बतलाया है।^{११}

आचार्य मलयगिरि ने उपचित का अर्थ 'संक्रमण के द्वारा उपचय करना' किया है।^{१२}

'चित' और 'उपचित' इन दोनों पदों की व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि सब व्याख्याकार इस विषय में एकमत नहीं हैं। 'चित' का 'अनुभाग-वृद्धि' अर्थ संगत लगता है। इस विषय में आचार्य मलयगिरि और अभयदेवसूरि दोनों सहमत हैं। 'उपचित' का अर्थ 'कर्म-पुद्गलों की निषेक-रचना' संगत प्रतीत होता है। अभयदेवसूरि ने मतान्तर के सन्दर्भ में जो गाथा उद्धृत की है, वह कर्म-प्रकृति की है—

मोतूण सगमवाहे, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं।

एत्तो विसेसहीणं, जावुक्कोसंति सव्वेसिं।^{१३}

निषेक-रचना का अर्थ 'बध्यमान कर्म-प्रकृतियों के अपने-अपने अबाधाकाल को छोड़कर कर्म-दलिकों और उनके स्थिति-काल में साभञ्जस्य स्थापित करना' है। इससे फलित होता है कि 'उपचय' का सम्बन्ध 'स्थिति-बन्ध' के साथ है।

यह आश्चर्य है कि प्रस्तुत आगम में उबचिणाइ धातु का प्रयोग सात-चेदनीय और असात-चेदनीय के साथ मिलता है।^{१४}

१. भ.वृ. १।११६—जीवस्वामाव्यात् सर्वस्वप्रदेशावगाढतदेकसपयबन्धनीय-कर्मपुद्गलबन्धने सर्वजीवप्रदेशानां व्यापार इत्यत उच्यते—सर्वालना।
२. वही, १।११६—'सर्व' तदेककालकरणीयं कांक्षामोहनीयं कर्म।
३. वही, १।११६—मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्च चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते—कांक्षा—अन्यान्यदर्शनग्रहः, उपलक्षणत्वाच्चास्य शंकादिपरि-ग्रहः। ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।
४. वही, १।१२८—चयः—प्रदेशानुभागादेर्वर्धनम्।
५. वही, १।१२८—अन्ये त्वाहुः—चयनं—कर्मपुद्गलोपादानमात्रम्।
६. प्रज्ञा. वृ. प. ४५६—चितस्य उत्तरोत्तरस्थितिषु प्रदेशान्या रसवृद्ध्या अवस्था-पितस्य।
७. भ.वृ. १।४३६—'किं चिणाइ'ति अनुभागबन्धाऽपेक्षया निधत्तावस्थाऽपेक्षया वा।
८. पण्ण. २३।१३।

९. भ.वृ. १।१२८—उपचयस्तदेव पौनःपुन्येन।
१०. वही, १।१२८—उपचयनं तु चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा वेदनार्थं निषेकः, स चैवम्—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीययां विशेषहीनं एवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति, उक्तं च—
"मोतूण सगमवाहं, पढमाइ ठिइए बहुतरं दव्वं।
सेसं विशेषहीणं, जावुक्कोसंति सव्वेसिं ॥"
११. वही, १।४३६—'किं उबचिणाइ'ति प्रदेशबन्धाऽपेक्षया निकाचनाऽपेक्षया वेति।
१२. प्रज्ञा. वृ. प. ४५६—उपचितस्य सभानजातीय-प्रकृत्यन्तरदलिक-संक्रमणोपचयं नीतस्य।
१३. कर्मप्रकृति, ८२।
१४. भ. १।४३६-४३६।

५. उदीरणा

अनुदित कर्म को 'अपवर्तना' करण के द्वारा उदय में लाना।

६. वेदन

कर्म का अनुभव करना।

७. निर्जरण

जीव-प्रदेशों से कर्म-प्रदेशों का पृथक्करण।

८. संग्रहणी गाथा

कृत, चित और उपचित में चार-चार विकल्पों का निर्देश किया गया है। कृत, चित और उपचित कर्म चिरस्थायी होता है; इसलिए तीन काल की क्रिया के अतिरिक्त एक सामान्य क्रिया का प्रयोग किया गया है। उदीरणा, वेदना और निर्जरण—ये चिरस्थायी नहीं होते; इसलिए इनके लिए केवल त्रिकालवर्ती क्रिया का ही प्रयोग किया गया है।'

१२६. जीवा णं भन्ते ! कंखामोहणिजं कम्मं वेदंति ?
हंता वेदंति ॥

जीवाः भदन्त ! कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?
हन्त वेदयन्ति ।

१२६. 'भन्ते ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?
हां, करते हैं।

१३०. कहण्णं भन्ते ! जीवा कंखामोहणिजं कम्मं वेदंति ?
गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिंछिया, भेदसमापन्ना, कलुससमापन्ना—एवं खलु जीवा कंखामोहणिजं कम्मं वेदंति ॥

कयं भदन्त ! जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?
गीतम ! तैः तैः कारणैः शङ्किताः, काङ्क्षिताः, विचिकित्ताः, भेदसमापन्नाः, कलुषसमापन्नाः—एवं खलु जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ।

१३०. भन्ते ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते हैं ?
गीतम ! उन-उन कारणों से जीव शंकित, कांक्षित, विचिकित्तित, भेद-समापन्न, कलुष-समापन्न हो जाते हैं ! इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १२६, १३०

प्रस्तुत आलापक में कांक्षामोहनीय कर्म-वेदन के पांच हेतु बतलाए गए हैं:

१. शंका—तत्त्व के विषय में सन्देह।
२. कांक्षा—कृतत्व की आकांक्षा।
३. विचिकित्सा—धार्मिक आराधना के फल के विषय में सन्देह।
४. भेद—तत्त्व या सत्य के प्रति मति का द्वैध—अनिर्णायक स्थिति का होना।
५. कलुष—तत्त्व के प्रति निर्मल बुद्धि का अभाव।

प्रस्तुत आगम के दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक में 'शंकित' आदि पांच पदों के अर्थ वृत्तिकार ने भिन्न प्रकार से किए हैं।^१ वहां

सन्दर्भ भिन्न है; इसलिए अर्थ-परिवर्तन होना स्वाभाविक है। वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रकरण में भेद का अर्थ मति का द्वैधभाव और कलुष का अर्थ 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का मति-विपर्यास किया है।^१

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है—जीव कांक्षामोहनीय का वेदन करता है—इसका प्रतिपादन पूर्व सूत्र में हो चुका, पुनः इसका प्रतिपादन क्यों ? इसके समाधान में उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है। इसका अर्थ है कि पूर्वप्रतिपादित तथ्य का पुनः प्रतिपादन किया जाता है, उसके तीन कारण हैं—प्रतिषेध, अनुज्ञा और हेतु-विशेष की उपलब्धि।^२ इस 'वेदन-सूत्र' में वेदन के हेतुओं का विशेष उल्लेख किया गया है; इसलिए यह सार्थक है।

सद्भा-पदं

श्रद्धा-पदम्

श्रद्धा-पद

१३१. से नूणं भन्ते ! तमेव सच्चं णीसकं,
जं जिणेहिं पवेइयं ?

अथ नूनं भदन्त ! तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज्
जिनैः प्रवेदितम् ?

१३१. 'भन्ते ! क्या वही सत्य और निःशंक है,
जो जिनों (अर्हत्तों) द्वारा प्रवेदित है ?

१. भ.वृ.१।१२८—नन्वाद्ये सूत्रत्रये कृतचित्तोपचितान्युक्तानि उत्तरेषु कस्मान्नो-दीरितवेदितनिर्जीर्णानि ? इति, उच्यते—कृतं चित्तमुपचितं च कर्म चिरमप्य-वतिष्ठत इति करणादीनां त्रिकालक्रियामात्रातिरिक्तं चिरावस्थानलक्षणकृतत्वा-द्याश्रित्य कृतादीन्युक्तानि। उदीरणां तु न चिरावस्थानमस्तीति त्रिकालवर्तिना क्रियामात्रेणैव तान्यभिहितानीति।

२. वही, २।२७।

३. वही, १।१३०—भेदसमापन्ना इति—किमिदं जिनशासनमाहोस्विदिदम् इत्येवं

जिनशासनस्वरूपं प्रति मतेर्द्वैधीभावं गताः, अनध्यवसायरूपं वा मतिभङ्गं गताः, अथवा यत एव शङ्कितविशेषणा अत एव मतेर्द्वैधीभावं गताः, 'कलुषसमापन्नाः' नैतदेवमित्येवं मतिविपर्यासं गताः।

४. वही, १।१२८—

पुव्वभणियं पि पच्छं जं भण्णइ तत्त्व कारणं अत्थि !
पडित्तेहो य अणुव्वा, हेउविसेसोवत्तंभो ति ॥

हंता गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ॥

हन्त गौतम ! तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज् जिनेः प्रवेदितम् ।

हां, गौतम ! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनों द्वारा प्रवेदित है ।

१३२. से नूनं भन्ते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

अथ नूनं भदन्त ! एवं मनः धारयन्, एवं प्रकुर्वन्, एवं चेष्टमानः, एवं संवृप्वानः आज्ञायाः आराधको भवति ?

१३२. भन्ते ! क्या (जिनों द्वारा प्रवेदित है, वही सत्य और निःशंक है) इस प्रकार के मन को धारण करता हुआ, उत्पन्न करता हुआ, इस प्रकार की चेष्टा करता हुआ, इस प्रकार मन का संवर करता हुआ^१ आज्ञा का आराधक होता है ?

हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ॥

हन्त गौतम ! एवं मनः धारयन्, एवं प्रकुर्वन्, एवं चेष्टमानः, एवं संवृप्वानः आज्ञायाः आराधको भवति ।

हां, गौतम ! इस प्रकार के मन को धारण करता हुआ, उत्पन्न करता हुआ, इस प्रकार की चेष्टा करता हुआ, इस प्रकार मन का संवर करता हुआ आज्ञा का आराधक होता है ।

भाष्य

१. सूत्र १३१, १३२

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं—यह कांक्षामोहनीय का आलम्बन-सूत्र है। अध्यात्म की अनेक भूमिकाएं हैं। उसकी पहली भूमिका है सम्यग् श्रद्धा।

ज्ञेय तीन प्रकार का होता है—

१. सुखाधिगम—जो सरलता से जाना जा सके।
२. दुरधिगम—जो कठिनाई से जाना जा सके।
३. अनधिगम—जो परोक्ष ज्ञान से न जाना जा सके।

सुखाधिगम के विषय में शंका का अवकाश विशेष नहीं होता। दुरधिगम के विषय में शंका का कुछ अवकाश रहता है। अनधिगम परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता, इसलिए यह शंका का मुख्य क्षेत्र बनता है। विभिन्न मान्यताएं हैं और विभिन्न विचार। इस अवस्था में ज्ञाता यह निर्णय नहीं कर पाता कि सम्यक् क्या है और मिथ्या क्या है ? सम्यक् और मिथ्या की कसौटी क्या है ? यह अनिर्णय की अवस्था कांक्षामोहनीय के वेदन का निमित्त बन जाती है। उस स्थिति में उक्त सूत्र आलम्बन बनता है।

'जो जिन द्वारा प्रवेदित है, वही सत्य है'—इस वाक्य से यह अर्थ ध्वनित होता है—जो जिन द्वारा प्रवेदित है, वही सत्य है, शेष नहीं। इसलिए 'एव' शब्द की व्याख्या सत्य के साथ करना अधिक संगत प्रतीत होता है। 'जो जिन द्वारा प्रवेदित है वह सत्य ही है'—इस वाक्य में दूसरों द्वारा प्रवेदित सत्य भी सुरक्षित है।

आचार्य सिद्धसेन ने दो प्रकार के पदार्थ बतलाए हैं—हेतुगम्य

और अहेतुगम्य। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा में विषय बनने वाले पदार्थ हेतुगम्य हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा से परे जो सूक्ष्म और अमूर्त हैं, वे अहेतुगम्य हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि आगम या अतीन्द्रिय के विषय में अहेतुवाद का और स्थूल पदार्थों के विषय में हेतुवाद का प्रयोग करना चाहिए।^१ उक्त सूत्र अहेतुवाद का आधारभूत सूत्र है।

आचार्य सिद्धसेन का ससमय-पण्णवओ यह वचन आणाए आराहए का अनुवाद जैसा लगता है।^२ उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत सूत्र को द्रव्य सम्यक्त्व का प्रतिपादक बतलाया है। किन्तु वह विमर्शनीय है। वास्तव में प्रस्तुत सूत्र अतीन्द्रिय ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञानी द्वारा प्रतिपादित सत्य की स्वीकृति का सूचक है।^३

शब्द-विमर्श

२. मन को धारण करता हुआ....संवर करता हुआ

मन को धारण करता हुआ—आस्थायुक्त मन को धारण करता हुआ।

मन को उत्पन्न करता हुआ—उस सत्य की ओर मन को गतिशील करता हुआ।

चेष्टा करता हुआ—उस दिशा में मन की निरन्तरता बनाता हुआ अथवा चेष्टा करता हुआ।

संवर करता हुआ—असत्य से अपने आपको निवृत्त करता हुआ।^४

१. सम्पत्ति. ३। ४३-४५—

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा ॥
भविओ सम्महंसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपपत्रो ।
णियमा दुक्खंतकडो ति लक्खणं हेउवायस्स ॥
जो हेउवायपक्खंमि हेउओ आगमे य आगमिओ ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतधिराहओ अब्भो ॥

२. तुलना—आयारो, ५। ६५ तथा उसका भाष्य ।

३. ज्ञान. प्र. ४०—अत एव चरणकरणप्रधानानामपि स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराणां द्रव्यसम्यक्त्वेन चारित्रव्यवस्थितावपि भावसम्यक्त्वाभावः प्रतिपादितः संमती महावादिना । द्रव्यसम्यक्त्वं च—'तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम्' इति ज्ञानाहितवासनारूपम्, माषतुपाद्यनुरोधाद् गुरुपातंत्र्यरूपं वा इत्यन्यदेतत् ।

४. भ. वृ. १। १३२—'तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनेः प्रवेदित'मित्यनेन प्रकारेण

अत्यि-नत्यि-पदं

अस्ति-नास्ति-पदम्

अस्ति-नास्ति-पद

१३३. से नूनं भन्ते ! अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ ? नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ ?

हंता गोयमा ! अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ । नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ ॥

१३४. जं णं भन्ते ! अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ, नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ, तं किं पयोगसा ? वीससा ?

गोयमा ! पयोगसा वि तं (अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ, नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ) ।

वीससा वि तं (अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ, नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ) ॥

१३५. जहा ते भन्ते ! अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ, तथा ते नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ ?

जहा ते नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ, तथा ते अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ ?

हंता गोयमा ! जहा मे अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ, तथा मे नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ ।

जहा मे नत्यिक्तं नत्यिक्ते परिणमइ, तथा मे अत्यिक्तं अत्यिक्ते परिणमइ ॥

अथ नूनं भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति ? नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ?

हन्त गौतम ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति । नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ।

यद् भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तत् किं प्रयोगेण ? विस्रसा ?

गौतम ! प्रयोगेण अपि तद् (अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति) ।

विस्रसा अपि तद् (अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति) ।

यथा तव भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, तथा तव नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ?

यथा तव नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तथा तव अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति ?

हन्त गौतम ! यथा मम अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, तथा मम नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ।

यथा मम नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तथा मम अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति ।

१३३. भन्ते ! क्या अस्तित्व अस्तित्व में (उत्पाद-पर्याय उत्पाद-पर्याय में) परिणत होता है ? नास्तित्व नास्तित्व में (व्यय-पर्याय व्यय-पर्याय में) परिणत होता है ?

हां, गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ।

१३४. भन्ते ! जो अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, वह किसी प्रयोग से^१ होता है अथवा स्वभाव से^२? गौतम ! वह प्रयोग से भी होता है (अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है) ।

वह स्वभाव से भी होता है (अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है) ।

१३५. भन्ते ! जैसे तुम्हारा^४ अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही क्या तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ?

जैसे तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही क्या तुम्हारा अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है ?

हां, गौतम ! जैसे मेरा अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही मेरा नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ।

जैसे मेरा नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही मेरा अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है ।

भाष्य

१. सूत्र १३३-१३५

भारतीय दर्शन में ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद—ये दो धारणाएं रही हैं। ईश्वरवादी दार्शनिक पदार्थ के उत्पाद और विनाश को ईश्वर-प्रयत्न-जन्य मानते थे। भगवान् महावीर ने उत्पाद और विनाश के साथ ईश्वर का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। उनका दर्शन था कि उत्पाद और विनाश दोनों प्राणी के प्रयत्न से भी होते हैं और उसके प्रयत्न के बिना (अप्रयत्नजनित) भी होते हैं। मिट्टी का पिण्ड घड़ा बन रहा है। उसके पीछे प्राणी का प्रयत्न है। आकाश

में बादल मंडरा रहे हैं। उसके पीछे प्राणी का प्रयत्न नहीं है, वह स्वाभाविक परिणामन है। परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बन रहा है, वह अप्रयत्नजन्य है। इस प्रकार जिस उत्पाद-पर्याय के पीछे प्राणी का प्रयत्न हो, उसे प्रायोगिक और जिसके पीछे किसी का प्रयत्न न हो, उसे स्वाभाविक मानना न्यायसंगत है। जैसे वैशेषिक दर्शन प्रत्येक उत्पद्यमान पदार्थ को प्रायोगिक मानता है, वैसे जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ को प्रायोगिक नहीं मानता, वह प्रायोगिक और

मनो—मानसम् उत्पन्नं सत् धारयन्—स्थिरीकुर्वन् 'एवं पकरेमाणे'ति उक्तरूपेणानुत्पन्नं सत् प्रकुर्वन्—विविधानः। 'एवं चिद्वमाणे'ति उक्तन्यायेन मनश्चेष्टयन् नान्यमतानि सत्वानीत्यादिचिन्तायां व्यापारयन्, चेष्टमानो वा विधेयेषु तपो-

ध्यानादिषु, 'एवं संवरेमाणे'ति उक्तवदेव मनः संवृण्वन्—मतान्तरेभ्यो निवर्त्तयन् प्राणातिपातादीन् वा प्रत्याचक्ष्माणो जीव इति गम्यते ।

वैज्ञानिक दोनों मानता है। जिस प्रकार उत्पाद-पर्याय प्रायोगिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकार का होता है, उसी प्रकार व्यय-पर्याय भी दोनों प्रकार का होता है। पानी की बर्फ जमाई, यह पानी का प्रयत्नजनित विनाश है। ऋतु के प्रभाव से पानी का बर्फ हो जाना पानी का अप्रयत्नजनित विनाश है।

अस्तित्व का एक अर्थ है सत् या सत्ता। यहां उसका अर्थ उत्पाद-पर्याय है। इसी प्रकार नास्तित्व का अर्थ अभाव नहीं, विनाश-पर्याय है। यह अर्थ 'प्रयोग' और 'विश्रसा' के आधार पर निष्पन्न होता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों का परिणमन प्रयोग से हो सकता है और स्वभाव से भी। सत्तालक अस्तित्व स्वभाव से परिणत होता है, किसी प्रयोग से नहीं। इसे जैन दर्शन में अनादि पारिणामिक भाव कहा जाता है। छहों द्रव्य अनादि पारिणामिक भाव हैं; वे ईश्वरकृत नहीं हैं। ईश्वरकारणवादी परमाणु और चेतन-द्रव्य को उत्पन्न नहीं मानते। वे केवल अवयवीमात्र को ईश्वरकृत मानते हैं। औपनिषद दर्शन में आकाश को ईश्वरजन्य माना गया है। इस ईश्वरकर्तृत्ववादी धारणा को अस्वीकार करने के साथ-साथ जैन दर्शन ने मूल द्रव्य और पर्याय का विस्तार से विवेचन किया है। उस सारे विस्तार को दो शब्दों में समेटा गया है—अनादि पारिणामिक और सादि पारिणामिक। मूल द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं। उनके जो पर्याय हैं वे सादि पारिणामिक हैं। प्रस्तुत आलापक में सादि पारिणामिक की चर्चा की गई है। इसलिए यहां अस्तित्व और नास्तित्व उत्पाद- और विनाश-पर्याय से संबद्ध हैं। आचार्य सिद्धसेन और अकलंक ने प्रायोगिक और वैज्ञानिक की सूक्ष्म दृष्टि से चर्चा की है।^१ अभयदेवसूरि ने अस्तित्व और नास्तित्व की व्याख्या तीन विकल्पों के साथ की है—

१. स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व—अंगुलि का सहज भाव से

१.(क) सम्मति. ३। ३२-३४—

उप्याओ दुवियप्पो पओगजणिओ य वीससा चेव ।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो ॥
साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगंतिओ (एगंतिओ) व्व होज्झाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥
विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्भि सो उ दुवियप्पो ।
समुदयविभागमेत्तं अत्यंतरभावगमयं च ॥

(ख) त. रा. वा. ५। २४।

२. भ. वृ. १। १३३—अस्तित्वम्—अङ्गुल्यादेः अङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वम्, उक्तं च—

सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वभावानामेकत्वं संप्रसज्यते ॥

तस्मैह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमवसेयम्, अङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथञ्चिद्-दृजुत्वादिपर्याया व्यतिरिक्तत्वाद् अस्तित्वे—अङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे वक्रत्वादिपर्याये इत्यर्थः। 'परिणमति' तथा भवति, इदमुक्तं भवति—द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां वर्तते, यथा मृद्द्रव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्तायामिति ।

'नखित्तं नखित्ते परिणमइ'ति नास्तित्वम्—अङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेनासत्त्वं तद्वाङ्गुल्यादिभाव एव । ततश्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुल्यादिस्तित्वरूपमङ्गुल्यादे-

सीधा होना। उसका वक्र पर्याय में चले जाना अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन है। मिट्टी का नास्तित्व तन्तु में है। तन्तु का मृत्तिका-नास्तित्व-रूप पट में बदलना नास्तित्व का नास्तित्व में परिणमन है।

२. सत् का सत् के रूप में परिणमन होना। नास्तित्व अर्थात् अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव के रूप में परिणमन होना।

३. अस्तित्व का अस्तित्व में होना—जैसे पट पटत्व में होता है। नास्तित्व का नास्तित्व में होना—जैसे अपट अपटत्व में होता है।^३

शब्द-विमर्श

२. प्रयोग से (पओगसा)

यह भागधी भाषा का प्रयोग है। तृतीया विभक्ति में सकार का प्रयोग भागधी का लक्षण है। वृत्तिकार ने इसे आगमिक प्रयोग माना है।^१

३. स्वभाव से (वीससा)

संस्कृत शब्दकोशों में विश्रसा का अर्थ बुढ़ापा या व्यय मिलता है। किन्तु यहां इसका प्रयोग स्वभाव के अर्थ में किया गया है।^१

४. तुम्हारा (ते)

'ते' पद की वृत्तिकार ने दो दृष्टियों से व्याख्या की है—

'ते' अर्थात् तुम्हारे मत में अथवा तुम्हारा।^१ पहला प्रश्न प्रमेय के विषय में किया गया है और दूसरा प्रश्न प्रमाता के विषय में किया गया है; इसलिए 'ते' पद का दूसरा अर्थ अधिक संगत लगता है।

नास्तित्वे अङ्गुल्यादेः पर्यायान्तराणास्तित्वरूपे परिणमति, यथा मृदो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपं मृत्नास्तित्वरूपे पटे इति । अथवाऽस्तित्वमिति—धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्रस्तु अस्तित्वे—सत्त्वे परिणमति, तस्यदेव भवति, नात्यन्तं विनाशि स्याद्, विनाशस्य पर्यायान्तरगमनमात्ररूपत्वाद्, दीपादिविनाशस्यापि तमित्वादिरूपतया परिणामात् । तथा 'नास्तित्वम्' अत्यन्ताभावरूपं यत् खरविषाणादि तत् 'नास्तित्वे' अत्यन्ताभाव एव वर्तते, नात्यन्तमसतः सत्त्वमस्ति, खरविषाणस्यैवेति, उक्तञ्च—

नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः ।

अथवाऽस्तित्वमिति धर्मभेदात् सद् 'अस्तित्वे' सत्त्वे वर्तते, यथा पटः पटत्व एव, नास्तित्वं वासत् 'नास्तित्वे' असत्त्वे वर्तते, यथा अपटोऽपटत्व एवेति ।

३. भ. वृ. १। १३४—'पओगस'ति सकारस्यागमिकत्वात् ।

४. वही, १। १३४—'वीसस'ति यद्यपि लोके विश्रसाशब्दो जरापर्यायतया रूढस्तथाऽपीह स्वभावावार्थो दृश्यः, इह प्राकृतत्वाद् 'वीससाए' ति वाच्ये 'वीससा' इत्युक्तमिति ।

५. वही, १। १३५—'ते' इति तव मतेन अथवा सामान्येनास्तित्वनास्तित्वपरिणामः प्रयोगविश्रसाजन्य उक्तः, सामान्यश्च विधिः क्वचिदतिशयवति वस्तुन्यन्यथाऽपि स्याद् अतिशयवांश्च भगवानिति तमाश्रित्य परिणामान्यथा त्वमाशङ्कमान आह—'जहा ते' इत्यादि, 'ते' इति तव सम्बन्धि अस्तित्वम् ।

१३६. से नूनं भन्ते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ? नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ? हंता गोयमा ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं । नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ॥

अथ नूनं भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयम् ? नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयम् ? हन्त गौतम ! अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं । नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयं ।

१३६. भन्ते ! क्या अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय^१ (ज्ञेय) है ? क्या नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है ? हां, गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है । नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है ।

भाष्य

१. गमनीय

वृत्तिकार ने गमनीय का अर्थ 'प्रज्ञापनीय' किया है।^१ किन्तु 'प्रयोग' और 'विस्मसा' इन दोनों हेतुओं के सन्दर्भ में इसका अर्थ 'गम्य' या 'ज्ञेय' अधिक संगत लगता है ।

१३७. जं णं भन्ते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तं किं पयोगसा? वीससा ? गोयमा ! पयोगसा वि तं (अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं) । वीससा वि तं (अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं) ॥

यद् भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं, नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयं तत् किं प्रयोगेण? विस्मसा ? गौतम ! प्रयोगेण अपि तद् (अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं, नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयं) । विस्मसा अपि तद् (अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं, नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयम्) ।

१३७. भन्ते ! जो अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है और नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है, वह किसी प्रयोग से गमनीय है अथवा स्वभाव से ? गौतम ! वह प्रयोग से भी (अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है और नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है) वह स्वभाव से भी (अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है और नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है) ।

१३८. जहा ते भन्ते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तथा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तथा ते अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ? हंता गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तथा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं । जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तथा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ॥

यथा तव भदन्त ! अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं, तथा तव नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयम् ? यथा तव नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयं, तथा तव अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयम् ? हन्त गौतम ! यथा मम अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयं, तथा मम नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयम् । यथा मम नास्तित्वं नास्तित्वे गमनीयम्, तथा मम अस्तित्वम् अस्तित्वे गमनीयम् ।

१३८. भन्ते ! जैसे तुम्हारा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है, वैसे ही क्या तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है ? जैसे तुम्हारा नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है, वैसे ही क्या तुम्हारा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है ? हां, गौतम ! जैसे मेरा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है, वैसे ही मेरा नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है । जैसे मेरा नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है, वैसे ही मेरा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है ।

भगवओ समता-पदं

१३९. जहा ते भन्ते ! एत्थं गमणिज्जं, तथा ते इहं गमणिज्जं ? जहा ते इहं गमणिज्जं, तथा ते एत्थं गमणिज्जं ? हंता गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणिज्जं, तथा मे इहं गमणिज्जं । जहा मे इहं गमणिज्जं, तथा मे एत्थं गमणिज्जं ॥

भगवतः समता-पदम्

यथा तव भदन्त ! एतस्मिन् गमनीयं, तथा तव अस्मिन् गमनीयं ? यथा तव अस्मिन् गमनीयं, तथा तव एतस्मिन् गमनीयम् ? हन्त गौतम ! यथा मम एतस्मिन् गमनीयं, तथा मम अस्मिन् गमनीयम् । यथा मम अस्मिन् गमनीयं, तथा मम एतस्मिन् गमनीयम् ।

भगवान् की समता का पद

१३९. भन्ते ! जैसे तुम्हारे लिए 'अत्र' (समीपतरवर्ती पर्याय) गमनीय है, वैसे ही क्या तुम्हारे लिए 'इह' (समीपवर्ती पर्याय) गमनीय है ? जैसे तुम्हारे लिए 'इह' गमनीय है, वैसे ही क्या तुम्हारे लिए 'अत्र' गमनीय है ? हां, गौतम ! जैसे मेरे लिए 'अत्र' गमनीय है, वैसे मेरे लिए 'इह' गमनीय है । जैसे मेरे लिए 'इह' गमनीय है, वैसे मेरे लिए 'अत्र' गमनीय है ।

१. भ.वृ. १।१३६—अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्दस्तु सत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्यर्थः ।

भाष्य

१. सूत्र १३६

एत्वं और इहं दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है। साधारणतया दोनों एकार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में ये एकार्थक नहीं हैं। एत्वं एतत् शब्द का प्रतिरूपक अव्यय है। इसका अर्थ है—समीपतरवर्ती। इहं इदं शब्द का प्रतिरूपक अव्यय है। इसका अर्थ है समीपवर्ती। प्रस्तुत प्रकरण (सू. १३३-१३६) में परिणमइ इस क्रिया-पद का तथा गमणिञ्जं इस अर्धक्रियापद का प्रयोग मिलता है। 'परिणाम' का अर्थ स्वजातिगत परिवर्तन है। यह अपरि-

स्पन्दालक होता है। इसमें एक धर्म की निवृत्ति होती है और दूसरे धर्म की उत्पत्ति, किन्तु अर्थान्तर में गमन नहीं होता। 'गमनीय' यह स्थूल परिवर्तन का सूचक है, इसमें जात्यन्तर या अर्थान्तर में गमन होता है। जल में तरंग होना यह परिणमन है। जल का बर्फ हो जाना यह अर्थान्तर-गमन है। इस प्रकार 'गमनीय' शब्द के प्रज्ञापनीय, ज्ञेय, परिवर्तनीय आदि अनेक अर्थ किए जा सकते हैं।

कंखामोहणिञ्जस्स बंधादि-पदं

कांक्षामोहनीयस्य बन्धादि-पदम्

कांक्षामोहनीय का बंध आदि-पद

१४०. जीवा णं भन्ते ! कंखामोहणिञ्जं कम्मं
बंधंति ?
हंता बंधंति ॥

जीवाः भदन्त ! कांक्षामोहनीयं कर्म बध्न-
न्ति ?
हंत बध्नन्ति ।

१४०. भन्ते ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का
बंध करते हैं ?
हां, करते हैं ।

१४१. कहण्णं भन्ते ! जीवा कंखामोहणिञ्जं
कम्मं बंधंति ?
गोयमा ! पमादप्रवहया, जोगनिमित्तं च ॥

कथं भदन्त ! जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म
बध्नन्ति ?
गौतम ! प्रमादप्रत्ययाद् योगनिमित्तं च ।

१४१. भन्ते ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध
किस हेतु से करते हैं ?
गौतम ! उसका प्रत्यय-हेतु^२(परिणामी कारण)
प्रमाद और निमित्त-हेतु^३ योग (मन, वचन और
काया की प्रवृत्ति) है ।

१४२. से णं भन्ते ! पमादे किंपवहे ?
गोयमा ! जोगप्पवहे ॥

अथ भदन्त ! प्रमादः किंप्रवहः ?
गौतम ! योगप्रवहः ।

१४२. भन्ते ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?
गौतम ! प्रमाद योग से उत्पन्न होता है ।

१४३. से णं भन्ते ! जोए किंपवहे ?
गोयमा ! वीरियप्पवहे ॥

अथ भदन्त ! योगः किंप्रवहः ?
गौतम ! वीर्यप्रवहः ।

१४३. भन्ते ! योग किससे उत्पन्न होता है ?
गौतम ! योग वीर्य से उत्पन्न होता है ।

१४४. से णं भन्ते ! वीरिए किंपवहे ?
गोयमा ! सरीरप्पवहे ॥

अथ भदन्त ! वीर्यं किंप्रवहम् ?
गौतम ! शरीरप्रवहम् ।

१४४. भन्ते ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?
गौतम ! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है ।

१४५. से णं भन्ते ! सरीरे किंपवहे ?
गोयमा ! जीवप्पवहे ॥

अथ भदन्त ! शरीरं किंप्रवहम् ?
गौतम ! जीवप्रवहम् ।

१४५. भन्ते ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?
गौतम ! शरीर जीव से उत्पन्न होता है ।

१४६. एवं सति अत्थि उट्ठणोइ वा, कम्मोइ
वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसकार-
परक्कमेइ वा ॥

एवं सति अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति
वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुष-
कार-पराक्रम इति वा ।

१४६. ऐसा होने पर उत्थान^४, कर्म^५, बल^६, वीर्य^७
और पुरुषकार^८-पराक्रम^९ का अस्तित्व सिद्ध
होता है ।

भाष्य

१. सूत्र १४०-१४६

प्रस्तुत आलापक में जीव की स्वतन्त्रता और उसके कर्तृत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जीव अपने पराक्रम से कर्म का

१. आटे.—'अदस्' शब्द—'इदमस्तु संनिकृष्टं, समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदमस्तु विप्रकृष्टं, तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥'

बन्ध करता है। कर्म-बन्ध नियति से जुड़ा हुआ नहीं है। नियतिवादी अवधारणा का अस्वीकार ही उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का स्वीकार है। नियतिवाद के अनुसार जीव के कर्म-बन्ध उत्थान आदि से नहीं होता। भगवान् महावीर पुरुषार्थवाद के प्रतिपादक हैं। वृत्तिकार ने नियतिवाद की चर्चा गोशालक के नामोल्लेखपूर्वक की है।^१

कर्मवाद जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। उसके अन्तर्गत कर्म के बन्ध, उदय, क्षय, क्षयोपशम आदि विषयों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत आलापक में कांशामोहनीय^२ के बन्ध के हेतुओं का निर्देश है। बन्ध के दो हेतु बतलाए गए हैं—प्रमाद और योग। पण्णवणा में कर्म-बन्ध के संक्षेप में राग और द्वेष ये दो कारण बतलाए गए हैं। राग के दो प्रकार हैं—माया और लोभ तथा द्वेष के दो प्रकार हैं—क्रोध और मान। विस्तार में कर्म-बन्ध के ये चार कारण बन जाते हैं।^३ ठाणं में भी इन चार हेतुओं का उल्लेख मिलता है।^४ वहां पांच आसवों का भी उल्लेख मिलता है।^५ उत्तरवर्ती साहित्य में भी कर्म-बन्ध के पांच कारण बतलाए गए हैं। सबसे पहले कर्म-बन्ध के पांच हेतुओं का प्रयोग उमास्याति ने किया है—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।^६ उत्तरवर्ती ग्रन्थकार उसका अनुगमन करते रहे हैं। किन्तु कर्म-शास्त्र में कर्म-बंध के चार कारण बतलाए गए हैं, जिनमें प्रमाद का उल्लेख नहीं है।^७

कालक्रम की दृष्टि से विमर्श करने पर कर्म-बन्ध के हेतुओं का प्रस्तुत आलापकवर्ती वर्गीकरण प्राचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत आगम के आठवें शतक में भी प्रमाद और योग का बन्धहेतु के रूप में उल्लेख मिलता है।^८ क्रिया के हेतु के रूप में भी इन दोनों का उल्लेख मिलता है।^९

वृत्तिकार ने प्रमाद का एक अर्थ मद्य आदि किया है।^{१०} प्रमाद का यह वर्गीकरण ठाणं में उपलब्ध है। वहां प्रमाद के छह प्रकार

निर्दिष्ट हैं—मद्य, निद्रा, विषय, कषाय, घृत और प्रतिलेखन।^{११} उन्होंने वैकल्पिक रूप में प्रमाद के अन्तर्गत मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का निर्देश किया है और दो गाथाएं उद्धृत कर उसकी पुष्टि की है। उन गाथाओं में प्रमाद के आठ प्रकार बतलाए गए हैं—
१. अज्ञान २. संशय ३. मिथ्याज्ञान ४. राग ५. द्वेष ६. मतिभ्रंश ७. धर्म में अनादर ८. योग (मन, वचन और काया) का दुष्प्रणिधान।^{१२} ठाणं में प्रमाद को दुःख या कर्म-बन्ध का हेतु कहा गया है।^{१३} तत्त्वार्थराजवार्तिक में प्रमाद के पन्द्रह प्रकार मिलते हैं—विकथा-चतुष्क—१. स्त्रीकथा २. भक्तकथा ३. देशकथा ४. राजकथा। कषायचतुष्क—५. क्रोध ६. मान ७. माया ८. लोभ ९-१३. पांच इन्द्रियों की राग-द्वेषात्मक परिणति। १४. निद्रा १५. प्रणय (विषय)।^{१४}

प्रमाद के उक्त वर्गीकरणों से उसकी कोई निश्चित परिभाषा फलित नहीं होती। जितनी सावध प्रवृत्तियां हैं, उन्हें यदि प्रमाद माना जाए, तो योग का कोई उससे भिन्न अर्थ नहीं होगा। उस अवस्थ में अशुभ योग और प्रमाद एकार्थक बन जाएंगे। दो हेतुओं का उल्लेख है; इसलिए दोनों की सीमा स्वतन्त्र होनी चाहिए। इस सीमा की दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में मुख्यतः दो कर्म हेतुभूत बनते हैं—मोहकर्म और नामकर्म।^{१५} प्रमाद मोह कर्म की सूचना देने वाला पद है और योग नाम कर्म का सूचक पद है।

जयाचार्य ने धर्मसी मुनि का मत उद्धृत किया है। धर्मसी मुनि ने 'योग' का अर्थ अशुभ योग किया है।^{१६} किन्तु प्रमाद और योग के सम्बन्ध पर विचार करने पर यह अर्थ विमर्शनीय लगता है। यदि योग को अशुभ मान लिया जाए, तो फिर प्रमाद का अर्थ क्या होगा? यहां प्रमाद स्वयं सावध योगरूप है, फिर प्रमाद और योग में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती; इसलिए प्रमाद का

१. भ.वृ. १।१४६—'एवम् उक्तन्यायेन जीवस्य काङ्क्षामोहनीयकर्मबन्धकत्वस्य सति 'अस्ति' विद्यते न तु नास्ति। यथा गोशालकमते नास्ति जीवानामुत्थानादि, पुरुषार्थासाधकत्वात्, नियतित एव पुरुषार्थसिद्धेः, यदाह—

“प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः।
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने।
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥” इति।

एवं हि अप्राप्तव्यिकाया नियतेरभ्युपगमः कृतो भवति, अर्थात्कसिद्धपुरुषकारा-पलापश्च स्यादिति।

२. देखें, १।११८ का भाष्यांक २।

३. पण्ण. २३।६।

४. ठाणं, ४।६२-६५।

५. वही, ५।१०६।

६. त.सू. ८।१।

७. पं.सं.(दि.) चतुर्थ अधिकार 'शतक', गा. ७७, पृ. १०५—

मिच्छसंजम हुति हु कसाय जोगा य बंधहेऊ ते।
पंचदुवालसमेया कमेण पणुवीस पण्णरसं।

८. भ. ८।३६६।

९. वही, ३।१४१, १४२।

१०. भ.वृ. १।१४१—प्रमादश्च मद्यादिः।

११. ठाणं, ६।४४।

१२. भ.वृ. १।१४१—अथवा प्रमादग्रहणेन मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणं बन्धहेतु-त्रयं गृहीतम्। इष्यते च प्रमादेऽन्तर्भावोऽस्य, यदाह—

“पमाओ य मुणिदेहिं, भणिओ अट्टमेयओ।

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य॥

रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणात्थरो।

जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्टहा वज्जियव्वओ ॥” ति।

१३. ठाणं, ३।३३६।

१४. त.रा.वा. ७।१३, पृ. ५४०—पञ्चदशप्रमादपरिणतो वा। अथवा चतसृभिः विकथाभिः कषायचतुष्टयेन पञ्चभिरिन्द्रियैः निद्राप्रणयाम्यां च परिणतो यः स प्रमत्त इति कथ्यते।

१५. भ. ८।४२०-४३३।

१६. भ.जो. १।१२।२४—

हां रे सुगुणा ! अर्थ कियो धर्मसीह, मिथ्यात्वी ए परमादी।

हां रे सुगुणा ! अशुभ जोगी पिण तेह, समदृष्टि कंख न बांधी ॥

अर्थ मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली मूर्च्छा अथवा अशुभ व्यापार और योग का अर्थ नामकर्म के उदय से होने वाली शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति है। प्राणी की सारी प्रवृत्तियां जीव और शरीर दोनों के संयोग से होती हैं। शरीर का निर्माण जीव के द्वारा होता है।^१ वीर्य दो प्रकार का होता है क्रियात्मक (सकरण) और अक्रियात्मक (अकरण)। जीव का अपरिस्पन्दात्मक वीर्य केवल जीव से संबद्ध होता है। जीव का परिस्पन्दात्मक वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियां संचालित होती हैं।^२

उमास्वाति ने योग का अर्थ काय, वाक् और मन का कर्म किया है।^३ सिद्धसेनगणी ने योग की प्रक्रिया में चार तत्त्वों का उल्लेख किया है—आत्मा, शरीर, करण और योग।^४ उनकी तुलना जीवप्रवह शरीर, शरीरप्रवह वीर्य और वीर्यप्रवह योग से की जा सकती है। विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य म. ६।५-१४ का भाष्य।

शरीर और मन की समस्या दार्शनिक जगत् में एक गुथी बनी हुई है। इस प्रकरण से इसका सहज समाधान हो जाता है। मन का संचालन शरीर-जनित वीर्य से होता है। इससे शरीर और मन के सम्बन्ध को सहज ही समझा जा सकता है। योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) मोहकर्म के उदय से जुड़कर प्रमाद बन जाता है, इसलिए प्रमाद का उत्पत्तिस्त्रोत योग माना गया है।

२. प्रत्यय

मूल कारण, उपादान अथवा परिणामी कारण।

१४७. से नूनं भन्ते ! अप्पणा चेव उदीरयति ?
अप्पणा चेव गरहति ? अप्पणा चेव संवरेति ?
हंता गोयमा ! अप्पणा चेव उदीरयति ।
अप्पणा चेव गरहति । अप्पणा चेव संवरेति ॥

अथ भदन्त ! आत्मना चैव उदीरयति ?
आत्मना चैव गरहति ? आत्मना चैव संवृणोति ?

हंतं गीतम ! आत्मना चैव उदीरयति । आत्मना
चैव गरहति । आत्मना चैव संवृणोति ।

१४८. जं णं भन्ते ! अप्पणा चेव उदीरयति,
अप्पणा चेव गरहति, अप्पणा चेव संवरेति,
तं किं—१. उदिण्णं उदीरयति ? २. अनुदिण्णं
उदीरयति ? ३. अनुदिण्णं उदीरणा-
भविं कम्मं उदीरयति ? ४. उदयानंतर-
पच्छाकडं कम्मं उदीरयति ?

यद् भदन्त ! आत्मना चैव उदीरयति, आत्मना
चैव गरहति, आत्मना चैव संवृणोति, तत् किं
—१. उदीर्णम् उदीरयति ? २. अनुदीर्णम्
उदीरयति ? ३. अनुदीर्णम् उदीरणाभधिकं
कर्म उदीरयति ? ४. उदयानन्तरपश्चात्-
कृतं कर्म उदीरयति ?

१. म. बृ. १।१४५—इह यद्यपि शरीरस्य कर्माणि कारणं न केवलं एव जीव-
स्तथाऽपि कर्मणो जीवकृतत्वेन जीवप्राधान्यात् जीवप्रवहं शरीरमित्युक्तम् ।
२. वही, १।१४३, १४४—वीर्यं नाम वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमसमुत्थो जीव-
परिणामविशेषः ।

'शरीरस्पवहे'ति वीर्यं द्विधा—सकरणमकरणं च, तत्रालेश्यस्य केवलिनः
कृत्वयोर्ज्ञेयदृश्ययोः केवलं ज्ञानं दर्शनं चोपयुज्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिषो
जीवपरिणामविशेषस्तदकरणं तद्विह नाधिक्रियते । यस्तु मनोवाक्कायकरणसाधनः
सलेश्यजीवकर्तृको—जीवप्रदेशपरिस्पन्दात्मको व्यापारोऽसौ सकरणं वीर्यं तन्न

३. निमित्त

सहकारी कारण।

४. उत्थान

कार्य की निष्पत्ति के लिए प्रस्तुत होना।

५. कर्म

प्रवृत्त होना।

६. बल

शारीरिक सामर्थ्य।

७. वीर्य

मन, वाणी आदि का सञ्चालन करने वाली शारीरिक ऊर्जा या प्राणशक्ति।

८. पुरुषकार

पौरुषाभिमान, "मैं ऐसा कर सकता हूँ" इस प्रकार की अवधारणा।

९. पराक्रम

कार्य-निष्पत्ति में सक्षम प्रयत्न।

वृत्तिकार ने वीर्य का अर्थ 'जीव का उत्साह' किया है।^५ किन्तु मूल पाठ में वीर्य को शरीर से उत्पन्न बतलाया गया है। वृत्ति में 'पुरुषकार' का वैकल्पिक अर्थ पुरुष-क्रिया किया गया है।^६ इस विषय में ढाणं, १।४४ सूत्र और उसका टिप्पण द्रष्टव्य है।

१४७. 'भन्ते ! क्या जीव अपने आप ही उदीरणा करता है ? अपने आप ही गर्हा करता है ? अपने आप ही संवरण करता है ? हां, गीतम ! जीव अपने आप ही उदीरणा करता है, अपने आप ही गर्हा करता है और अपने आप ही संवरण करता है।

१४८. भन्ते ! जीव अपने आप ही जो उदीरणा करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, अपने आप ही जो संवरण करता है, वह क्या—१. उदीर्ण (उदय-प्राप्त) की उदीरणा करता है ? २. अनुदीर्ण की उदीरणा करता है ? ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की उदीरणा करता है ? ४. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म की उदीरणा करता है ?

शरीरप्रवहम् । शरीरं विना तदभावादिति ।

३. त. सू. ६।१।

४. त. सू. भा. बृ. ६।१।

५. म. बृ. १।१४५—वीर्यम्—जीवोत्साहः ।

६. वही, १।१४६—पुरुषकारश्च पौरुषाभिमानः पराक्रमश्च स एव साधिताभिमत-
प्रयोजनः पुरुषकारपराक्रमः अथवा पुरुषकारः—पुरुषक्रिया सा च प्रायः स्त्री-
क्रियातः प्रकर्षवती भवतीति तत्त्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणम्, पराक्रम-
स्तु शत्रुनिराकरणमिति ।

गोयमा ! १. नो उदिष्णं उदीरिति । २. नो अणुदिष्णं उदीरिति । ३. अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति । ४. नो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरिति ॥

१४६. जं णं भंते ! अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति, तं किं उद्वाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति ? उदाहु तं अणुद्वाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति ? गोयमा ! तं उद्वाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति । णो तं अणुद्वाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उदीरिति ॥

१५०. एवं सति अत्थि उद्वाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ॥

१५१. से नूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ ? अप्पणा चेव गरहइ ? अप्पणा चेव संवरेइ ?

हंता गोयमा ! अप्पणा चेव उवसामेइ । अप्पणा चेव गरहइ । अप्पणा चेव संवरेइ ॥

१५२. जं णं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहति, अप्पणा चेव संवरेति, तं किं—१. उदिष्णं उवसामेइ ? २. अणुदिष्णं उवसामेइ ? ३. अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उवसामेइ ? ४. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उवसामेइ ?

गोयमा ! १. नो उदिष्णं उवसामेइ । २. अणुदिष्णं उवसामेइ । ३. नो अणुदिष्णं उदीरणाभिव्यं कम्मं उवसामेइ । ४. नो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उवसामेइ ॥

गीतम ! १. नो उदीर्णम् उदीरयति । २. नो अनुदीर्णम् उदीरयति । ३. अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति । ४. नो उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म उदीरयति ।

यद् भदन्त ! अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति, तत् किम् उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति ? अथवा तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति ?

गीतम ! तद् उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति । नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उदीरयति ।

एवं सति अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

अथ नूनं भदन्त ! आत्मना चैव उपशमयति ? आत्मना चैव गर्हति ? आत्मना चैव संवृणोति ?

हन्त गीतम ! आत्मना चैव उपशमयति । आत्मना चैव गर्हति । आत्मना चैव संवृणोति ।

यद् भदन्त ! आत्मना चैव उपशमयति, आत्मना चैव गर्हति, आत्मना चैव संवृणोति, तत् किं—१. उदीर्णम् उपशमयति ? २. अनुदीर्णम् उपशमयति ? ३. अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उपशमयति ? ४. उदीरणानन्तरपश्चात्कृतं कर्म उपशमयति ?

गीतम ! १. नो उदीर्णम् उपशमयति । २. अनुदीर्णम् उपशमयति । ३. नो अनुदीर्णम् उदीरणाभिविकं कर्म उपशमयति । ४. नो उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म उपशमयति ।

गीतम ! जीव १. उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता । २. अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता । ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की उदीरणा करता है । ४. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता ।

१४६. भन्ते ! जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की जो उदीरणा करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम से करता है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकारपराक्रम से करता है ?

गीतम ! जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की जो उदीरणा करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से नहीं करता ।

१५०. ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

१५१. भन्ते ! क्या जीव अपने आप ही उपशमन करता है ? अपने आप ही गर्हा करता है ? अपने आप ही संवरण करता है ?

हां, गीतम ! जीव अपने आप ही उपशमन करता है, अपने आप ही गर्हा करता है, अपने आप ही संवरण करता है ।

१५२. भन्ते ! जीव अपने आप ही जो उपशमन करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, अपने आप ही जो संवरण करता है, वह क्या—१. उदीर्ण का उपशमन करता है ? २. अनुदीर्ण का उपशमन करता है ? ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का उपशमन करता है ? ४. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म का उपशमन करता है ।

गीतम ! जीव १. उदीर्ण का उपशमन नहीं करता । २. अनुदीर्ण का उपशमन करता है । ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का उपशमन नहीं करता । ४. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म का उपशमन नहीं करता ।

१५३. जं णं भंते ! अणुदिण्णं उवसामेइ, तं किं उट्ठाणेणं, कम्मणेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं अणुदिण्णं उवसामेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मणेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उवसामेइ ?

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि, कम्मणेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि अणुदिण्णं उवसामेइ । णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मणेणं, अबलेणं, अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उवसामेइ ॥

१५४. एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ॥

१५५. से नूनं भंते ! अप्पणा चेव वेदेति ? अप्पणा चेव गरहति ?
हंता गोयमा ! अप्पणा चेव वेदेति । अप्पणा चेव गरहति ॥

१५६. जं णं भंते ! अप्पणा चेव वेदेति, अप्पणा चेव गरहति, तं किं—१. उदिण्णं वेदेति ? २. अणुदिण्णं वेदेति ? ३. अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं वेदेति ? ४. उदयान्तरपञ्चाकडं कम्मं वेदेति ?

गोयमा ! १. उदिण्णं वेदेति । २. नो अणुदिण्णं वेदेति । ३. नो अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं वेदेति । ४. नो उदयान्तरपञ्चाकडं कम्मं वेदेति ॥

१५७. जं णं भंते ! उदिण्णं वेदेति तं किं उट्ठाणेणं, कम्मणेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं उदिण्णं वेदेति ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मणेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदिण्णं वेदेति ? गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मणेण वि, बलेण वि वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि उदिण्णं वेदेति । नो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मणेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदिण्णं वेदेति ॥

यद् भदन्त ! अनुदीर्णम् उपशमयति, तत् किम् उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण अनुदीर्णम् उपशमयति ? अथवा तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण अनुदीर्णम् उपशमयति ?

गौतम ! तद् उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अनुदीर्णम् उपशमयति । नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण अनुदीर्णम् उपशमयति ।

एवं सति अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

अथ नूनं भदन्त ! आत्मना चैव वेदयति ? आत्मना चैव गरहति ?
हन्त गौतम ! आत्मना चैव वेदयति । आत्मना चैव गरहति ।

यद् भदन्त ! आत्मना चैव वेदयति, आत्मना चैव गरहति, तत् किम्—१. उदीर्णं वेदयति ? २. अनुदीर्णं वेदयति ? ३. अनुदीर्णम् उदीरणाभयिकं कर्म वेदयति ? ४. उदयान्तरपञ्चाकृतं कर्म वेदयति ?

गौतम ! १. उदीर्णं वेदयति । २. नो अनुदीर्णं वेदयति । ३. नो अनुदीर्णम् उदीरणाभयिकं कर्म वेदयति । ४. नो उदयान्तरपञ्चाकृतं कर्म वेदयति ।

यद् भदन्त ! उदीर्णं वेदयति तत् किम् उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण उदीर्णं वेदयति ? अथवा तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण उदीर्णं वेदयति ?

गौतम ! तद् उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि उदीर्णं वेदयति । नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण उदीर्णं वेदयति ।

१५३. भन्ते ! जीव अनुदीर्ण कर्म का जो उपशमन करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है ? अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार-पराक्रम से करता है ?

गौतम ! जीव अनुदीर्ण कर्म का उपशमन उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकार-पराक्रम से नहीं करता ।

१५४. ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

१५५. भन्ते ! क्या जीव अपने आप ही वेदन करता है ? अपने आप ही गर्हा करता है ?
हां, गौतम ! जीव अपने आप ही वेदन करता है और अपने आप ही गर्हा करता है ।

१५६. भन्ते ! जीव अपने आप ही जो वेदन करता है और अपने आप ही जो गर्हा करता है, वह क्या—१. उदीर्ण का वेदन करता है ? २. अनुदीर्ण का वेदन करता है ? ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का वेदन करता है ? ४. अथवा उदय के अनन्तर पञ्चाकृत (भुक्त) कर्म का वेदन करता है ?

गौतम ! जीव १. उदीर्ण का वेदन करता है । २. अनुदीर्ण का वेदन नहीं करता । ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म का वेदन नहीं करता । ४. उदय के अनन्तर पञ्चाकृत कर्म का वेदन नहीं करता ।

१५७. भन्ते ! जीव उदीर्ण कर्म का जो वेदन करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से करता है ? अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से करता है ?

गौतम ! जीव उदीर्ण कर्म का जो वेदन करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से नहीं करता ।

१५८. एवं सति अत्थि उद्वाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ॥

१५९. से नूनं भंते ! अप्पणा चेव निज्जेरेति ? अप्पणा चेव गरहति ? हंता गोयमा ! अप्पणा चेव निज्जेरेति ! अप्पणा चेव गरहति ॥

१६०. जं णं भंते ! अप्पणा चेव निज्जेरेति, अप्पणा चेव गरहति, तं किं—१. उदिण्णं निज्जेरेति ? २. अणुदिण्णं निज्जेरेति ? ३. अणुदिण्णं उदीरणाभविद्यं कम्मं निज्जेरेति ? ४. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति ?

गोयमा ! १. नो उदिण्णं निज्जेरेति । २. नो अणुदिण्णं निज्जेरेति । ३. नो अणुदिण्णं उदीरणाभविद्यं कम्मं निज्जेरेति । ४. उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति ॥

१६१. जं णं भंते ! उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति, तं किं उद्वाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति ? उदाहु तं अणुद्वाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति ?

गोयमा ! तं उद्वाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेण वि उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति । गो तं अणुद्वाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जेरेति ॥

१६२. एवं सति अत्थि उद्वाणेइ वा कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ॥

एवं सति अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

अथ नूनं भदन्त ! आत्मना चैव निर्जरयति ? आत्मना चैव गरहते ? हन्त गौतम ! आत्मना चैव निर्जरयति ! आत्मना चैव गरहते ।

यद् भदन्त ! आत्मना चैव निर्जरयति, आत्मना चैव गरहते, तत् किं—१. उदीर्णं निर्जरयति ? २. अनुदीर्णं निर्जरयति ? ३. अनुदीर्णम् उदीरणाभविकं कर्म निर्जरयति ? ४. उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति ?

गौतम ! १. नो उदीर्णं निर्जरयति । २. नो अनुदीर्णं निर्जरयति । ३. नो अनुदीर्णम् उदीरणाभविकं कर्म निर्जरयति ? ४. उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति ।

यद् भदन्त ! उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति, तत् किं उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति ? अथवा तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति ?

गौतम ! तद् उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति । नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकारपराक्रमेण उदयानन्तरपश्चात्कृतं कर्म निर्जरयति ।

एवं सति अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

१५९. भन्ते ! क्या जीव अपने आप ही निर्जरा करता है ? अपने आप ही गर्हा करता है ? हां, गौतम ! जीव अपने आप ही निर्जरा करता है, अपने आप ही गर्हा करता है ।

१६०. भन्ते ! जीव अपने आप ही जो निर्जरा करता है, अपने आप ही जो गर्हा करता है, वह क्या १. उदीर्ण की निर्जरा करता है ? २. अनुदीर्ण की निर्जरा करता है ? ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की निर्जरा करता है ? ४. अथवा उदय के अनन्तर पश्चात्कृत (भुक्त) कर्म की निर्जरा करता है ?

गौतम ! १. जीव उदीर्ण की निर्जरा नहीं करता । २. अनुदीर्ण की निर्जरा नहीं करता । ३. अनुदीर्ण किन्तु उदीरणायोग्य कर्म की निर्जरा नहीं करता । ४. उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा करता है ।

१६१. भन्ते ! जीव उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की जो निर्जरा करता है, वह क्या उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, और पुरुषकार-पराक्रम से करता है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से करता है ?

गौतम ! जीव उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की जो निर्जरा करता है, वह उत्थान से भी, कर्म से भी, बल से भी, वीर्य से भी और पुरुषकार-पराक्रम से भी करता है, किन्तु अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषकारपराक्रम से नहीं करता ।

१६२. ऐसा होने पर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

भाष्य

१. सूत्र १४७-१६२

इन सभी सूत्रों में आत्मकर्तृत्व या पुरुषार्थवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । उदीरणा, गर्हा, संवर, उपशामना, वेदना और निर्जरा—ये सब जीव के द्वारा अपने उत्थान आदि से कृत होते हैं ।

उदीरणा

उदीरणा कर्म के आठ करणों में पांचवां करण है।^१ इसका अर्थ है अपकर्म को समय से पूर्व पकाना। कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—१. उदय २. उदीरणा-उदय। काल-परिपाक होने पर कर्म का जो सहज उदय होता है वह उदय है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का जो अकाल-प्राप्त उदय होता है वह उदीरणा-उदय है। पञ्चसंग्रह में सहज उदय को 'संप्राप्ति उदय' और उदीरणा-उदय को 'असंप्राप्ति उदय' कहा गया है।^२ तत्त्वार्थशास्त्रवार्तिक में अयथाकाल-विपाक को उदीरणा-उदय बताया गया है।^३

उदीर्ण

फल देने में परिणत कर्म-पुद्गल का स्कन्ध उदीर्ण कहलाता है।^४ उदीर्ण की उदीरणा नहीं होती, यह स्पष्ट है। वृत्तिकार ने तर्क की भाषा में लिखा है—यदि उदीर्ण की उदीरणा की जाए, तो उदीरणा का कहीं अंत ही नहीं होगा।^५

अनुदीर्ण

कर्म-पुद्गल का जो स्कन्ध अभी फल देने में परिणत नहीं है, वह अनुदीर्ण कहलाता है।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—१. चिर भविष्य में जिसकी उदीरणा होने वाली है। २. भविष्य में जिसकी उदीरणा नहीं होने वाली है।

चिर भविष्य में की जाने वाली उदीरणा वर्तमान काल में नहीं हो सकती। जो कर्म उदीरणा के योग्य नहीं होता, उसकी उदीरणा भविष्य में भी नहीं हो सकती। उदीरणा के अयोग्य तीन अवस्थाएं होती हैं—उपशम, निधत्ति और निकाचना।^६

अनुदीर्ण उदीरणाभव्य कर्म

प्रस्तुत प्रकरण में 'उदीरणा-भव्य' (उदीरणायोग्य) कर्म का प्रसंग है। प्रत्येक कर्म की उदीरणा नहीं होती, किन्तु उसी कर्म की उदीरणा होती है, जो उदीरणा-योग्य बन जाता है। योग्यता की

कसीटी उसके भेद द्वारा निर्धारित है। उसके चार भेद होते हैं—

१. प्रकृति-उदीरणा, २. स्थिति-उदीरणा, ३. अनुभाग-उदीरणा, ४. प्रदेश-उदीरणा।^७

प्रकृति-उदीरणा की योग्यता

पण्यवण्ड के अनुसार कर्म की १४८ प्रकृतियां हैं।^८ कर्म-ग्रन्थ में १५८ कर्म प्रकृतियों का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर साहित्य में भी १४८ प्रकृतियां विवक्षित हैं। पञ्चसंग्रह के अनुसार ११० प्रकृतियां उदीरणा के योग्य होती हैं।^९ दिगम्बर परम्परा के अनुसार १२२ प्रकृतियां उदीरणा के योग्य होती हैं।^{१०}

स्थिति-उदीरणा की योग्यता

स्थिति-उदीरणा के दो भेद निर्दिष्ट हैं—उदीरणा-प्रायोग्य और उदीरणा-अप्रायोग्य। बन्धावलिका, संक्रमावलिका और उदयावलिका—ये तीनों स्थितियां उदीरणा के अप्रायोग्य होती हैं। शेष सारी प्रायोग्य होती हैं।

अनुभाग और प्रदेश-उदीरणा के जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेदों की जानकारी के लिए पञ्चसंग्रह द्रष्टव्य है।

उदयानन्तर-पश्चात्कृत (भुक्त)कर्म

उदय के अनन्तर समय में कर्म का वेदन होता है। वेदन के पश्चात् वह अकर्म बन जाता है। इसलिए उसे उदय के अनन्तर पश्चात्कृत—अतीत अवस्था को प्राप्त कर्म कहा गया है।^{११}

उक्त चार विकल्पों में उदीरणा के लिए तीसरा विकल्प सम्मत है। उपशमन में दूसरा विकल्प सम्मत है। उपशमन-अवस्था में उदीर्ण कर्म का क्षय और अनुदीर्ण कर्म के विपाकोदय और प्रदेशोदय का सर्वथा स्थगन हो जाता है। इसलिए उपशमन अनुदीर्ण कर्म का ही होता है।^{१२} वेदना में प्रथम विकल्प सम्मत है। निर्जरा में चतुर्थ विकल्प सम्मत है। गौतम ने पूछा—भंते ! जो वेदना है वह निर्जरा है ? जो निर्जरा है वह वेदना है ? भगवान् ने कहा—गौतम ! यह

१. कर्म प्रकृति, गा. २—

बंधणसंकमणुव्वड्डणा य अबवड्डणा उदीरणया ।
उवसामणा निरुत्ती निकायणा चत्ति करणाइ ॥

२. पं. सं. (श्वे.) गा. २५३—

संपत्ति ए उदये पओगओ दिस्स ए उदीरणा सा ।
सेचिक्र टिड्ढिं जाही दुविहा मूलोत्तराए य ॥

३. त. रा. वा. ६। ३६, पृ. ६३१—अयथाकाल-विपाक उदीरणोदयः ।

४. ष. खं. धवला, पु. १३, खं. ४, भा. २, सू. २, पृ. ३०३—फलदातृत्वेन परिणतः कर्म-पुद्गलस्कन्धः उदीर्णः ।

५. म. वृ. १। १४८—उदीर्णस्याप्युदीरणे उदीरणाऽविरामप्रसंगात् ।

६. कर्म प्रकृति, गा. २ की टीका, पृ. ४८, ४९।

७. (क) पं. सं. (श्वे.) गा. २२५—

जं करणे णो कट्टिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ।
पगइड्ढिइअणुभागमएसमूलुत्तरविभागा ॥

(ख) ष. खं. धवला, पु. १५, पृ. ४३—उदीरणा चउव्विहा पयडीड्ढिडीअणुभाग-पदेसउदीरणा चेदि ।

८. पण्य. २३। २४-५६।

९. पं. सं. (श्वे.) गा. २२६—

मूलप्यगईसु पंचण्हं, तिहा दोण्हं चउव्विहा होइ ।
आउस्ससाइ अधुवा, दसुत्तरसय उत्तरासिपि ॥

उत्तरासामपि—उत्तरप्रकृतीनामपि । दशोत्तरशतसंख्यानां पञ्चविधज्ञानावरण-दर्शनावरण-चतुष्टय-मिथ्यात्व-तैजस-सप्तक-वर्णादिविंशति-स्थिरास्थिर-शुभा-शुभ-गुरुलघु-निर्माणान्तरायपञ्चकलपाष्टचत्वारिंशद्-वर्जानां सर्वशेषप्रकृती-नामित्यर्थः ।

१०. पं. सं. (दि.) ३। ४४-४८।

११. म. वृ. १। १४८—उदयेनान्तरसमये पश्चात्कृतम्—अतीततां नीतं यत्तत्तया तदपि नोदीरयति, तस्यातीतत्वाद् अतीतस्य चासत्त्वाद् असत्त्वानुदीरणी-यत्वादिति ।

१२. वही, १। १५१—उपशमश्चोदीर्णस्य क्षयः अनुदीर्णस्य च विपाकतः प्रदेशत-श्चानुभवन्, सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः । अयं घानादिमिथ्यादृष्टेरौप-शमिकसम्यक्त्वलाभे उपशमश्रेणितस्य चेति ।

अर्थ संगत नहीं है। वेदना कर्म की होती है, निर्जरा नोकर्म की होती है।^१ इसका तात्पर्य है कि जब तक कर्म कर्म रहता है, तब तक वह आत्म-प्रदेशों से पृथक् नहीं होता। वह नोकर्म बनकर ही उनसे पृथक् होता है।

'उदीरणा' और 'उपशमन' के साथ 'गर्हा' और 'संवर' इन

दो पदों का प्रयोग किया गया है। गर्हा अतीत-कालीन कर्म की होती है। संवर वर्तमानकालीन कर्म का होता है। जयाचार्य के अनुसार उदीरणा और उपशमन के साथ इनकी अनिवार्यता नहीं है। ये बहुलतया होते हैं, इसलिए इनका निर्देश किया गया है।^१ वेदन और निर्जरा के साथ केवल गर्हा का प्रयोग किया गया है। वहां संवर संभव नहीं है।

१६३. नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिजं कम्मं वेदेति ?

जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव धणियकुमारा ॥

नैरयिका: भदन्त ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

यथा औधिका: जीवा: तथा नैरयिका: यावत् स्तनितकुमारा: ।

१६३. भन्ते ! क्या नैरयिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

जैसे समुच्चय में जीव की वक्तव्यता है, वैसे ही नैरयिक जीवों से स्तनितकुमार तक वक्तव्य हैं।

१६४. पुढविकाइया णं भंते ! कंखामोहणिजं कम्मं वेदेति ?

हंता वेदेति ॥

पृथ्वीकायिका: भदन्त काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

हन्त वेदयन्ति ।

१६४.^१भन्ते ! क्या पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

हां, वेदन करते हैं।

१६५. कहण्णं भंते ! पुढविकाइया कंखामोहणिजं कम्मं वेदेति ?

गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो एवं तक्का इ वा, सण्णा इ वा, पण्णा इ वा, मणे इ वा, वई ति वा—अन्हे णं कंखामोहणिजं कम्मं वेदेमो, वेदेति पुण ते ॥

कथं भदन्त ! पृथ्वीकायिका: काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

गौतम ! तेषां जीवानां नो एवं तर्क इति वा, संज्ञा इति वा, प्रज्ञा इति वा, मन इति वा, वाग् इति वा—चयं काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयामः, वेदयन्ति पुनः ते ।

१६५. भन्ते ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते हैं ?

गौतम ! उन जीवों के तर्क,^२ संज्ञा,^३ प्रज्ञा,^४ मन और वचन नहीं होते। हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं—ऐसा उन्हें बोध नहीं होता, फिर भी वे वेदन करते हैं।

१६६. से नूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ?

हंता गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।

सेसं तं चैव जाव अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ॥

अथ नूनं भदन्त ! तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज् जिनेः प्रवेदितम् ?

हन्त गौतम ! तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज् जिनेः प्रवेदितम् ।

शेषं तद्यैव यावद् अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

१६६. भन्ते ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिनों (अर्हतों) द्वारा प्रवेदित है ?

हां, गौतम ! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनों द्वारा प्रवेदित है।

शेष आलापक—इससे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है—वहां तक वक्तव्य है।

१६७. एवं जाव चउरिन्दिया ॥

एवं यावच्च चतुरिन्द्रियाः ।

१६७. अप्काय आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का आलापक पृथ्वीकायिक जीवों की भांति वक्तव्य है।

१६८. पंचिन्दियतिरिक्खजोणिया जाव वैमाणिा जहा ओहिया जीवा ॥

पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिका: यावद् वैमानिका: यथा औधिका: जीवा: ।

१६८. तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय जीवों से वैमानिक देवों तक का आलापक समुच्चय जीव की भांति वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १६४-१६८

पृथ्वी के जीवों की चेतना अविकसित होती है। उनमें बौद्धिक, मानसिक और वाचिक विकास नहीं होता। इस अवस्था में उनमें

१. भ.७।७५।

२. भ.जो.१।१२।४४।

कांक्षामोहनीय का वेदन कैसे संभव हो सकता है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। सूत्रकार ने स्वयं इस प्रश्न को उपस्थित किया है। इसके समाधान में उन्होंने लिखा है—पृथ्वीकाय के जीवों में बौद्धिक, मानसिक और वाचिक विकास नहीं होता। वे नहीं जानते कि हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कर रहे हैं, फिर भी उसका वेदन करते हैं। इस समाधान से यह फलित होता है कि वेदन के दो प्रकार हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अविकसित जीवों में कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन अव्यक्त होता है। वह इन्द्रिय-नाम्य नहीं है। इसलिए इस सन्दर्भ में तमेव सब्बं णीसकं यह साक्ष्य उद्धृत किया गया है।

२. तर्क

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'विमर्श' किया है। स्थानांग वृत्ति में अभयदेवसूरी ने विस्तार से इसका अर्थ किया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रम में चार मुख्य तत्त्व हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इस क्रम में ईहा के पश्चात् और अवाय के पूर्व एक प्रकार का विशेष विमर्श होता है, जैसे—'जो दिखाई दे रहा है वह सिर खुजला रहा है। इसलिए वह खम्भा नहीं है, वह पुरुष की चेष्टा है।' इस प्रकार का विमर्श तर्क कहलाता है।

३. संज्ञा

इसके अनेक अर्थ होते हैं—ज्ञान, प्रत्यभिज्ञा, विवेक, संवेदन आदि आदि। यहां 'संज्ञा' का अर्थ प्रत्यभिज्ञा किया जा सकता है। नन्दी में अभिनिबोधिक ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें एक प्रकार संज्ञा है।^१ मलयगिरि ने संज्ञा का अर्थ व्यञ्जनावग्रह के उत्तर काल में होने वाला एक प्रकार का मतिज्ञान किया है।^२ अभयदेवसूरी ने इसका यही अर्थ किया है।^३ उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध—इनको एकार्थक माना है।^४ प्रमाणनयतत्त्वालोकात्मकार में परोक्ष के पांच प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें स्मृति के बाद प्रत्यभिज्ञा का उल्लेख है।^५ सिद्धसेन गणी ने संज्ञा का अर्थ प्रत्यभिज्ञा (यह वही है, जिसे मैंने पूर्वाह्न में देखा था) किया है।^६ इस आधार पर संज्ञा की प्रत्यभिज्ञा से तुलना की जा सकती है।

४. प्रज्ञा

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'संपूर्ण विषयों का ज्ञान' किया है।^१ यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इसे प्रातिभ ज्ञान अथवा औत्पत्तिकी बुद्धि भी कहा जा सकता है।^२

१६६. अत्थि णं भंते ! समणा वि निगंया
कांक्षामोहणिज्जं कम्मं वेरंति ?
हंता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त ! श्रमणाः अपि निर्ग्रन्थाः
काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?
हन्त अस्ति ।

१६६. भन्ते ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय
कर्म का वेदन करते हैं ?
हां, करते हैं ।

१७०. कहण्णं भंते ! समणा निगंया
कांक्षामोहणिज्जं कम्मं वेरंति ?

कथं भदन्त ! श्रमणाः निर्ग्रन्थाः काङ्क्षा-
मोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

१७०. भन्ते ! श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का
वेदन कैसे करते हैं ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं, इंसणंतरेहिं,
चरित्तंतरेहिं, लिंगंतरेहिं, पवयणंतरेहिं,
पावयणंतरेहिं, कथंतरेहिं, मगंतरेहिं, मत्त-
तरेहिं, भंगंतरेहिं, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं,
पमाणंतरेहिं संकिता कंखिता विति-
किच्छिता भेदसमावन्ना कलुससमावन्ना—
एवं खलु समणा निगंया कांक्षामोहणिज्जं
कम्मं वेरंति ॥

गीतम ! तैः तैः ज्ञानान्तरैः, दर्शनान्तरैः, चरि-
त्रान्तरैः, लिङ्गान्तरैः, प्रवचनान्तरैः, प्रवच-
न्यन्तरैः, कल्पान्तरैः, मार्गान्तरैः, मतान्तरैः,
भङ्गान्तरैः, नयान्तरैः, नियमान्तरैः, प्रमाणा-
न्तरैः शङ्किताः काङ्क्षिताः विचिकित्सिताः
भेदसमापन्नाः कलुषसमापन्नाः—एवं खलु
श्रमणाः निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेद-
यन्ति ।

गीतम ! उन-उन ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रा-
न्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रवचनी-अन्तर,
कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नया-
न्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर से वे शङ्कित,
काङ्क्षित, विचिकित्सित, भेद-समापन्न और कलुष-
समापन्न हो जाते हैं। इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ
कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

१७१. से नूणं भंते ! तमेव सब्बं नीसकं, जं
जिणेहिं पवेदितं ?
हंता गोयमा ! तमेव सब्बं नीसकं, जं
जिणेहिं पवेदितं ॥

अथ नूनं भदन्त ! तदेव सत्यं निशङ्कं, यज्
जिनैः प्रवेदितम् ?
हन्त गीतम ! तदेव सत्यं निशङ्कं, यज् जिनैः
प्रवेदितम् ।

१७१. भन्ते ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो
जिनों द्वारा प्रवेदित है ?
हां, गीतम ! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनों
द्वारा प्रवेदित है ।

१. (क) स्या.वृ.प.१६—तर्कणं तर्को—विमर्शः अवायात् पूर्वा ईहाया उत्तरा
प्रायः शिरः कण्ठ्यनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्त इति सम्प्रत्ययरूपा ।

(ख) म.वृ.१।१६५—तर्को विमर्शः ।

२. नंदी, सू. ५४, गा. ६ ।

३. नंदी, वृ. प. १८७ ।

४. म.वृ.१।१६५—संज्ञा—अर्थावग्रहरूपं ज्ञानम् ।

५. त.सू.१।१३—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।

६. प्र.न.त.३।२—स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदात् तत्तु पञ्चप्रकारम् ।

७. त.सू.भा.वृ.१।१३—संज्ञा ज्ञानं नाम यत्तैरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुन-
र्विलोक्य स एवाऽयं यमहमद्राक्षम् पूर्वाह्नं इति संज्ञा ज्ञानमेतत् ।

८. म.वृ.१।१६५—प्रज्ञा—अशेषविशेषविषयं ज्ञानमेवम् ।

९. नंदी, सू. ३८, गा. २—

पुष्पमिदं सुयमवेद्य-तत्कखण विसुद्धगहियत्या ।

अव्याहय-फलजोगा, बुद्धि उप्पत्तिया नाम ॥

१७२. एवं जाव अत्थि उद्वाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार-परक्कमेइ वा ।।

एवं यावद् अस्ति उत्थानम् इति वा, कर्म इति वा, बलम् इति वा, वीर्यम् इति वा, पुरुषकार-पराक्रम इति वा ।

१७२. इस प्रकार यावत् उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

भाष्य

१. सूत्र १६६-१७२

प्रस्तुत आलापक में निर्ग्रन्थ शब्द व्यवच्छेदक है। 'श्रमण' शब्द जैन, आजीवक और बौद्ध आदि सभी श्रमणों का वाचक है। श्रमण के साथ निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग जैन श्रमणों का वाचक हो जाता है। श्रमण-निर्ग्रन्थ अर्थात् महावीर के मुनि।

जैन मुनि भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। वेदन के पांच कारण बतलाए गए हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेद और क्लुष। एक ही विषय में अनेक निरूपण, वितर्क और विकल्प सामने आते हैं, तब कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन शुरू हो जाता है।

जयाचार्य ने कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का अर्थ मिथ्यात्व-मोहनीय का वेदन किया है। उनका तर्क है—जिस समय कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है, तब मिथ्यात्व आ जाता है।^१ यह अर्थ वृत्तिकार द्वारा सम्मत मिथ्यात्व-मोहनीय के आधार पर किया गया है। जयाचार्य ने १४ वें शतक की जोड़ में मिथ्यात्व का अर्थ दस बोलों (संज्ञा) में से किसी एक बोल में विपरीत श्रद्धा करना किया है।^१

प्रस्तुत तरह 'अंतरों' में तत्त्व-श्रद्धा का प्रश्न नहीं है। यह विभिन्न विचारों के प्रति होने वाली आकांक्षा है। आचार्य भिक्षु के अनुसार तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में विपरीत श्रद्धा करने से मिथ्यात्व आ जाता है, किंतु अन्य विषयों में विपरीत श्रद्धा करने से असत्य का दोष लगता है, पर सम्यक्त्व का नाश नहीं होता—

“साची सरया भावी जगनाध, ते ऊंचो सरय्यां आवै मिथ्यात ।
और उंचो सरयणी आवे, तो झूठ लागे पिण सरया न जावे ॥”^१

आचार्य भिक्षु ने 'ज्ञान-मोह' शब्द की मीमांसा में लिखा है—ज्ञानमोह से ज्ञान में व्यामोह उत्पन्न होता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, वह निश्चित ही मोहनीय कर्म का उदय नहीं है—

“नाण मोह चान्यो सुतर मद्दे, ते ज्ञान में उपडे व्यामोह ।
ते ज्ञानावरणी रा उदा षकी, ते मोह निश्चै नहीं होव ॥”^१

इस आधार पर कांक्षामोहनीय का सम्बन्ध भी ज्ञानमोह की भांति ज्ञानावरण से माना जा सकता है। कसायपाहुड में बतलाया गया है कि गणधर के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होने पर उनके संशय को दूर करना दिव्यध्वनि का स्वभाव है।^१ आनन्द श्रमणोपासक के अवधिज्ञान के विषय में गौतम गणधर को शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न हुई थी। आनन्द ने कहा—“भंते ! यथार्थ भाव के लिए जिनप्रवचन में आलोचना नहीं की जाती, वह अयथार्थ भाव के लिए की जाती है। मैं जो यह कह रहा हूँ, वह यथार्थ है। आपने जो कहा, वह यथार्थ नहीं है; इसलिए आप ही आलोचना करें।” आनन्द द्वारा ऐसा कहने पर गौतम गणधर शंका, कांक्षा और विचिकित्सा से समापन्न हो गए।^१

तायस्त्रिंश देवों के विषय में भी गौतम शंकित, कांक्षित और विचिकित्सित हुए।^१ इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट फलित होता है कि शंका, कांक्षा और विचिकित्सा का सम्बन्ध ज्ञानावरण के उदय से भी है। उत्तरज्जयणाणि में ब्रह्मचर्य-गुप्ति के प्रसंग में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और भेद—इन चारों का उल्लेख मिलता है।^१

सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं। उनमें प्रथम तीन हैं—शंका, कांक्षा और विचिकित्सा।^१ इनका सम्बन्ध दर्शनमोह से है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जहां शंका, कांक्षा और विचिकित्सा मूल तत्त्व से सम्बद्ध होते हैं, वहां दर्शनमोह का वेदन होता है और जहां वे अन्य विषयों से सम्बद्ध होते हैं, वहां ज्ञानमोह का वेदन होता है। तरह अंतरों के प्रसंग में कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का सम्बन्ध ज्ञानमोह से प्रतीत होता है।

प्रस्तुत आलापक में ज्ञानमोह-विषयक तरह अन्तरों का उल्लेख किया गया है। यह एक ऐतिहासिक प्रकरण है। इससे जैन शासन में प्रचलित अनेक मतों, विचारभेदों की जानकारी मिलती है।

जैन धर्म ग्रन्थ-प्रधान नहीं, पुरुष-प्रधान रहा है। इसमें अनेक

१. भ.जो.१।१३।१२० का वार्तिक।

२. ठाणं,१०।७४।

३. भ.जो.ढाल २६२, गाथा ३—

मोहनीं उन्नाद ना, बे भेद इक मिथ्यात्व ही ।

तसुं उदय यी सरथै ज ऊंचो, दस बोलों में एक ही ॥

४. इन्द्रियवादी चौपाई, डा.७,गा.६।

५. वही,डा.१०,गा.३३।

६. क.पा.प्रथम अधिकार,गा.१,पृ.१२६—संसयविचिञ्जासाणज्जवसायमावगय-

गणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा ।

७. उवा.१।७६, ८०।

८. म.१०।४६।

९. उत्तर.१६।३—बंभयारिस्स बंभवेरे संका वा, कंखा वा, वित्तिगिच्छा वा समु-
पजिञ्जा भेयं वा लभेज्जा ।

१०. उवा.१।३१—सम्मत्तस्स पंच अतिथारा पेयात्ता जाणियव्वा, न समायरिवा,
तं जहा—१. संका २. कंखा ३. वित्तिगिच्छा..... ।

पुरुषों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। प्रामाण्य की पांच श्रेणियां बतलाई गई हैं—केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दश-पूर्वधर और दशपूर्वधर।^१ इन श्रेणियों से भिन्न विशिष्ट आचार्य भी सापेक्ष दृष्टि से अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं। ये सापेक्ष प्रतिपादन एक सामान्य मुनि के लिए कांक्षामोहनीय-वेदन के हेतु बन जाते हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक जैन शासन में जो मत-मतान्तर स्थापित हुए, उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत आलापक में विद्यमान है। एक हजार वर्ष तक की पूरी परम्परा का विशद अध्ययन करने पर पूरा एक ग्रन्थ बन जाता है। यहां हम इस विषय पर संक्षेप में विचार करेंगे:

ज्ञानान्तर

ज्ञान के विषय में अनेक भूमिकाएं उपलब्ध थीं। प्रथम भूमिका पांच ज्ञान की है। रायपसेणइयं में वह उपलब्ध है।^२ प्रस्तुत आगम में ज्ञान के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. आभिनिबोधिकज्ञान २. श्रुत-ज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान ५. केवलज्ञान।

विवरण के लिए रायपसेणइयं देखने का निर्देश है।^३ ज्ञान की दूसरी भूमिका दो ज्ञान की है। वह ढाणं में उपलब्ध है। उसमें ज्ञान के दो भेद किए गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद के रूप में प्रतिपादन है। आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान परोक्ष के अवान्तर भेद बतलाए गए हैं। भगवती में आभिनिबोधिकज्ञान के चार भेद प्रज्ञप्त हैं। ढाणं में आभिनिबोधिकज्ञान के दो भेद प्रज्ञप्त हैं—श्रुतनिश्चित और अश्रुत-निश्चित। इनके दो अवान्तर भेद प्रतिपादित हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह।^४ यहां ईहा, अवाय और धारणा का उल्लेख नहीं है। तीसरी भूमिका नंदी में उपलब्ध है। उसमें ज्ञान के पांच प्रकारों का निर्देश कर फिर उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागों में समाहार किया गया है। प्रत्यक्ष के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं:^५

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष
श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	अवधि
चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष	मनःपर्यव
घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	केवल
रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	
स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष	

भगवती में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग नहीं है। ढाणं में प्रत्यक्ष के अन्तर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विभाग नहीं है। वह केवल नंदी में ही प्राप्त है। इस प्रकार आगम-साहित्य में ज्ञान के तीन वर्गीकरण उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर ज्ञान के तीन प्रकारों को ही मान्य करते हैं। उनके अनुसार श्रुतज्ञान मतिज्ञान से भिन्न नहीं है^६ और मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान से भिन्न नहीं है।^७ इस प्रकार देवधिगणों के समय तक ज्ञान की पृथक्-पृथक् भूमिकाएं बन गई थीं। इसी-लिए ज्ञानान्तर को कांक्षामोहनीय के वेदन का एक हेतु माना गया।

वृत्तिकार ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के उदाहरण के द्वारा इस विषय की चर्चा की है।^८

दर्शनान्तर

दर्शन के चार प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इस विषय में एक मत यह रहा है कि दर्शन के तीन प्रकार ही पर्याप्त हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनों में भेदरेखा खींचने का कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता। यह चिन्तन-भेद कांक्षामोहनीय के वेदन का हेतु बना है। वृत्तिकार ने चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन की चर्चा के साथ क्षायोपशमिक और औपशमिक दर्शन की चर्चा भी की है।^९

१. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, १६:१२। इस विषय में कुछ आचार्यों का मतभेद है।

इसकी विस्तृत चर्चा के लिए देखें, दशवैकालिक: एक समीक्षालक अध्ययन, पृ. ४, ५।

२. राय.सू. ७४०-७४५।

३. भ. त. ६७, ६८।

४. ढाणं, २। १०१-१०३।

५. नंदी, सू. २-६।

६. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, १६। १२—

वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां, न मत्स्यधिकं श्रुतम्।

७. ज्ञान. प्र. ५५।

८. भ. वृ. १। १७०—यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपिद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि सन्ति तत्किमपरेण मनःपर्यायज्ञानेन ? तद्विषय-भूतानां मनोद्रव्याणामवधिनैव दृष्टत्वात्, उच्यते चागमे मनःपर्यायज्ञानमिति।

९. वही, १। १७०—दर्शनम्—सामान्यबोधः, तत्र यदि नाभेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तः सामान्यार्थविषयो बोधो दर्शनं तदा किमेकश्चक्षुर्दर्शनमन्यस्त्वचक्षुर्दर्शनम् ? अर्थेन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् भेदस्तदा चक्षुष इव श्रोत्रादीनामपि दर्शनभावात्।

षडिन्द्रियनोइन्द्रियजानि दर्शनानि स्युर्न द्वे एवेति। अत्र समाधिः—सामान्य-विशेषात्मकत्वाद्वास्तुनः क्वचिद्विशेषतस्तत्रिदेशः क्वचिच्च सामान्यतः। तत्र चक्षु-दर्शनमिति विशेषतः अचक्षुर्दर्शनमिति च सामान्यतः। यद्य प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं चेत्युक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्व-प्राप्तकारित्वविभागात्। मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनु-सरणीयस्य बहुत्वात्तद्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति।

अथवा दर्शनम्—सम्यक्त्वं, तत्र च शंका—

“मिच्छन्तं जगुदित्रं तं खीणं अणुदियं च उवसंतं।”

इत्येवं लक्षणं क्षायोपशमिकम्। औपशमिकमप्येवं लक्षणमेव यदाह—

“खीणमि उदित्रमपी अणुदिजंते य सेसमिच्छते।

अंतोमुहुत्तमेतं उवससमं लहइ जीवो ॥”

ततोऽनयोर्न विशेषः उक्तश्चासाविति, समाधिश्च—क्षयोपशमो हि उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवपेक्षयोपशमः, प्रदेशानुभवस्तूदयोऽस्त्येव, उप-शमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति, उक्तं च—

“वेएइ संतकम् खओवसपिएसु नाणुभावं सो।

उवसंतकसाओ पुण वेदेइ ण संतकम् ति ॥”

चारित्रान्तर

भगवान् पार्श्व के शासन-काल में चारित्र के तीन प्रकार थे—सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। भगवान् महावीर के शासन-काल में चारित्र के पांच प्रकारों की निरूपणा की गई—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। यह अन्तर भी कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बना है। वृत्तिकार ने सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र के अन्तर की चर्चा की है।^१

लिङ्गान्तर

भगवान् पार्श्व के शिष्यों का लिंग—वेश वस्त्र-प्रधान था। भगवान् महावीर के शिष्यों का लिंग अवस्त्र अथवा साधारण वस्त्र वाला था। चातुर्याम और पञ्चयाम तथा लिंगभेद के आधार पर केशी और गौतम के शिष्यों में एक विंता उत्पन्न हुई थी। इस विप्रत्यय के बारे में केशी और गौतम में एक संवाद भी हुआ।^२ वृत्तिकार ने भी यही चर्चा की है।^३

प्रवचनान्तर और प्रवचनी-अंतर

प्रवचन का अर्थ है आगम अथवा द्वादशांगी और प्रवचनी का अर्थ है प्रवचनकार।^४ ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के भेद-काल में प्रवचन और प्रवचनियों के विषय में भिन्न-भिन्न अवधारणाएं रही हैं। वे अवधारणाएं ही कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बनी हैं। वृत्तिकार ने प्रवचनान्तर के विषय में चातुर्याम और पञ्चयाम के प्रतिपादक आगमों की चर्चा की है। किन्तु यह विषय चारित्रान्तर की व्याख्या में आ सकता है; इसलिए यह विमर्शनीय है। वृत्तिकार ने पावयणी शब्द के दो संस्कृत रूप दिए हैं—प्रावचन और प्रावचनिक। उनके अनुसार दीर्घकाल में प्रावचनिकों की पृथक्-पृथक् सामाचारी रही। इससे शंका और कांक्षा का जन्म हुआ।^५ जयाचार्य ने प्रवचनी द्वारा किए गए निरूपण-भेद

का उल्लेख किया है, वह भी मननीय है।^६

कल्पान्तर

कल्पस्थिति या कल्प की व्यवस्था छह प्रकार की बतलाई गई है—सामायिक कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति, निर्विश्वमान कल्पस्थिति, निर्विघ्न कल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति, स्थविरकल्पस्थिति।^७ इसका सम्बन्ध मुख्यतः पार्श्वनाथ और महावीर के भेद से रहा है। भगवान् पार्श्व के शासनकाल में आचार की व्यवस्था सामायिक के आधार पर निर्धारित थी और भगवान् महावीर के शासनकाल में छेदोपस्थापनीय आदि कल्पों का विकास हुआ था। यह शासनभेद कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का हेतु बना था। जयाचार्य ने इस प्रसंग में कांक्षा-विषयक एक दूसरा दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया—जिनकल्प की अवस्था में भी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। फिर इतना कष्ट क्यों सहा जाए ? क्या इससे स्थविरकल्प अच्छा नहीं है?^८

मार्गान्तर

आगम-साहित्य में 'मार्ग' शब्द का अनेक सन्दर्भों में प्रयोग हुआ है। उदाहरणस्वरूप—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टयी का नाम मार्ग है।^९ उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्षमार्ग बतलाया है।^{१०} सूयगदो का ग्यारहवां अध्ययन 'मार्ग' का प्रतिपादन करता है। उसमें ज्ञान का फलित अर्थ है अहिंसा। ठाणं में 'मार्ग में उन्मार्ग की संज्ञा और उन्मार्ग में मार्ग की संज्ञा करने को' मिथ्यात्व कहा गया है।^{११} प्रस्तुत प्रकरण में सूत्रकार मार्ग शब्द के द्वारा क्या बोध कराना चाहते हैं, यह ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही खोजा जा सकता है।

वृत्तिकार ने 'मार्ग' का अर्थ 'परम्परागत सामाचारी' किया है।^{१२} यह अर्थ प्रासंगिक हो सकता है, किन्तु इतिहास इससे भी आगे जाने को बाध्य करता है। भगवान् पार्श्व के शासनकाल में प्रतिक्रमण

१. भ.२५।४५८ संग्रहणी गाथा १-५।

२. भ.वृ.१।१७०—चारित्रम्—चरणं तत्र च यदि सामायिकं सर्वसावधविरतिलक्षणं छेदोपस्थापनीयमपि तल्लक्षणमेव, महाप्रतानामवद्यविरतिलक्षणात्, तत् कोऽनयोर्भेदः ? उक्तशचासाविति, अत्र समाधिः—ऋजुजडवक्रजडानां प्रथम-चरमजिनसाधूनामाश्वसनाय छेदोपस्थापनीयमुक्तं। व्रतारोपणे हि मनाक् सामायिकाशुद्धावपि व्रताखण्डनाद्यारित्रिणो वयं चारित्रस्य व्रतरूपत्वादिति बुद्धिः स्यात्, सामायिकमात्रे तु तदशुद्धी भग्नं नश्चारित्रं, चारित्रस्य सामायिक-मात्रत्वादित्येवमनाश्वसस्तेषां स्यादिति, आह च—

“रिडवक्रजडा पुरिभेयराण सामाङ् वयाकहणं।

मगयमसुद्धेयि जओ सामाङ् हुंति हु वयाई ॥” इति।

३. उत्तर.२३।१०-३३।

४. भ.वृ.१।१७०—लिंगम्—साधुवेशः। तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्र-रूपं लिंगं साधूनामुपदिष्टं, तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्याम् सप्रमाणधवल-वसनरूपं तदेवोक्तं ? सर्वज्ञानाविरोधिवचनत्वादिति। अत्रापि ऋजुजड-वक्रजड-ऋजुप्रज्ञशिष्यानाश्रित्य भगवतां तस्योपदेशः, तथैव तेषामुपकार-सम्भवादिति समाधिः।

५. भ.२०।७५।

६. भ.वृ.१।१७०—तथा प्रवचनमधीते वेत्ति वा प्रावचनः—कालापेक्षया बहव-गमः पुरुषः। तत्रैकः प्रावचनिक एव कुरुते अन्यस्त्वेवमिति किमत्र तत्त्वमिति ? समाधिश्चेह—चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषेण उत्सर्गापवादादि भावितत्वेन च प्रावचनिकानां विचित्रा प्रवृत्तिरिति नासौ सर्वथाऽपि प्रमाणम्, आगमा-विरुद्धप्रवृत्तेरेव प्रमाणत्वादिति।

७. भ.जो.१।१३।४८-५०।

८. ठाणं,६।१०३।

९. भ.जो.१।१३।५६-५८।

१०. उत्तर.२८।२।

११. त.सू.१।१—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गाः।

१२. ठाणं,१०।७४।

१३. भ.वृ.१।१७०—मार्गः—पूर्वपुरुषक्रमागता सामाचारी। तत्र केषांचिद् द्वि-शतैववदानेकविधकायोत्सर्गकरणादिकाऽऽवश्यकसामाचारी तदन्येषां तु न तथेति किमत्र तत्त्वमिति ? समाधिश्च—गीतार्थाशठपर्यन्तितऽसौ सर्वाऽपि न विरुद्धा, आचरितलक्षणोपेतत्वात्। आचरितलक्षणं चेदम्—

एक अनिवार्य आवश्यक कर्म नहीं था। भगवान् महावीर के शासनकाल में प्रतिक्रमण एक अनिवार्य आवश्यक कर्म था। मार्ग का एक अर्थ 'सामायिक आदि षट् आवश्यक कर्म' भी होता है।^१ जयाचार्य ने साधु-साध्वी-विषयक सामाचारी भेद की चर्चा की है।^२ यह मार्गान्तर मुनियों में कांक्षा और शंका का हेतु बनता है। जयाचार्य ने कल्पान्तर के प्रकरण में आवश्यक की चर्चा की है। उनके अनुसार स्थितकल्पी मुनि के लिए आवश्यक नियत होता है और अस्थितकल्पी मुनि के लिए वह अनियत होता है।^३

मतान्तर

यहां मत का अर्थ दृष्टिभेद है। केवली और श्रुतकेवली की परम्परा का विच्छेद होने के पश्चात् मतान्तर का सूत्रपात होता है। आगम-साहित्य में अनेक मतान्तर उपलब्ध हैं। उपाध्याय समयसुन्दर ने आगम-साहित्य में सौ दृष्टि-भेदों का संकलन किया है।^४ दिगम्बर साहित्य में भी दृष्टिभेदों की एक लंबी तालिका है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में ऐसे ८६ दृष्टिभेदों की तालिका दी गई है।^५

जिनेन्द्र वर्णी ने दृष्टिभेद की पृष्ठभूमि समझाते हुए लिखा है—'यद्यपि अनुभवगम्य आध्यात्मिक विषय में आगम में कहीं भी पूर्वापर-विरोध या दृष्टिभेद होना संभव नहीं है, परन्तु सूक्ष्म, दूरस्थ और अंतरित पदार्थों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं आचार्यों का मतभेद पाया जाता है। प्रत्यक्षज्ञानियों के अभाव में उनका निर्णय दुरन्त होने के कारण ध्वलाकार श्री वीरसेन स्वामी का सर्वत्र यही आदेश है कि दोनों दृष्टियों का यथायोग्य रूप में ग्रहण कर लेना योग्य है।'^६

वृत्तिकार ने इस प्रसंग में सिद्धसेन और जिनभद्रगणी के मतों

का उल्लेख किया है। उन्होंने सिद्धसेन को ज्ञान-दर्शन के युगपद्वाद का समर्थक और जिनभद्रगणी को ज्ञान-दर्शन के क्रमोपयोगवाद का समर्थक बतलाया है।^७

आचार्य कुन्दकुन्द युगपद् उपयोगवाद के प्रवक्ता थे।^८ श्वेताम्बर परम्पराओं में मल्लवादी युगपद् उपयोगवाद के प्रवक्ता, सिद्धसेन अभेदोपयोग या एकोपयोगवाद के प्रवक्ता तथा जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण क्रमोपयोगवाद के प्रवक्ता थे। उपाध्याय यशोविजय जी ने इन तीनों का नयदृष्टि से समन्वय भी किया है।^९ जयाचार्य ने प्रवचनान्तर की व्याख्या में कुछ मतभेदों का उल्लेख किया है।^{१०} प्रस्तुत प्रकरण में उन्होंने आगम के वाचना-भेद और पाठ-भेद की चर्चा की है।^{११}

भङ्गान्तर

भंग का अर्थ है—एक वस्तु में प्रकृति-भेद अथवा संख्या-भेद से होने वाला विकल्प। वृत्तिकार ने हिंसा की चतुर्भंगी का उल्लेख कर भङ्गान्तर को समझाने का प्रयत्न किया है।^{१२}

नयान्तर

नय का अर्थ है अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक विषय में होने वाला ज्ञाता का सापेक्ष दृष्टिकोण अथवा अभिप्राय। नय के अनेक वर्गीकरण हैं। मूल नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। ठाणं में मूलनय सात बतलाए गए हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत।^{१३} तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के अनुसार उमास्वाति ने पांच नय स्वीकार किए हैं।^{१४} तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार नय सात हैं।^{१५} सिद्धसेन दिवाकर ने नैगम नय का

असत्तेण समाइत्तं जं कत्थइ केणइ असावज्जं ।

न निवारियमत्तेहिं बहुमणुमयमेयमारियरिं ॥

१. अणु.२८—

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, धुवनिग्गहो विसोही य ।

अज्झयणछक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो ॥

२. भ.जो.१।१३।६०-६५।

३. वही,१।१३।५२-५५।

४. विसंवादशतक ।

५. जै.सि.को.भा.२,पृ.४३६,दृष्टिभेद ।

६. वही,पृ.४३६,दृष्टिभेद ।

७. भ.वृ.१।१७०—मतम्—समान एवागमे आचार्याणामभिप्रायः तत्र च सिद्ध-सेनदिवाकरो मन्यते—केवलिनो युगपद् ज्ञानं दर्शनं च, अन्यथा तदावरण-क्षयस्य निरर्थकता स्यात् । जिनभद्रगणिकामाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने, जीवस्वरूपत्वात् । तथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतो-पयोगौ, न चैकतरोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावः । तत्क्षयोपशमस्योत्कृष्टतः षट्-षट्सामगरोपमप्रमाणत्वात्ततः किं तत्त्वमिति ? इह च समाधिः—यदेव मतमाग-मानुपाति तदेव सत्यमिति मन्तव्यमितरत्पुनरुपेक्षणीयम् । अथ चाबहुश्रुतेन नैतदवसातुं शक्यते तदैवं भावनीयम्—आचार्याणां संप्रदायादिदोषादयं मत-भेदः । जिनानां तु मतभेकमेवाविरुद्धं च, रागादिविरहितत्वात् । आह च—

अणुवकयपरराणुगहपरायणा जं जिणा जुगप्पवरा ।

जियरागदोसमोहा य णण्णहावाइणो तेण ॥ति ।

८. प्र.सार-१।५१—

तिक्रालिण्णं विसमं सयलं सव्वत्थं संभवं चित्तं ।

जुगवं जाणदि जोगहं अहो हि णाणस्स माहपं ॥

९. ज्ञान.प्र.१०२-१७३ तथा उपसंहार के श्लोक १-७—उपाध्याय यशोविजयजी ने यह स्पष्ट किया है कि नन्दी वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन को जो युगपद् उपयोगवादी बतलाया गया है, वह 'अभ्युपगमवाद' के अभिप्राय से है, स्वतन्त्र सिद्धान्त के अभिप्राय से नहीं।

१०. भ.जो.१।१३।३६-४६।

११. वही,१।१३।६७-७२।

१२. भ.वृ.१।१७०—मङ्गाः द्रव्यादिसंयोगभङ्गकाः । तत्र च द्रव्यतो नाम एका हिंसा, न भावत इत्यादि चतुर्भंगयुक्ता । न च तत्र प्रथमोऽपि भङ्गो युज्यते, यतः किल द्रव्यतो हिंसा—ईयांसमित्या गच्छतः पिपीलिकादिव्यापादनं, न चेषं हिंसा, तल्लक्षणयोगात्, तथाहि—

“जो उ पमत्तो पुरिसो तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता ।

वावज्जंती नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥” ति ।

उक्ता चेत्यमतः शंका, न चेषं युक्ता, एतद् गाथोक्तहिंसालक्षणस्य द्रव्य-भावहिंसाश्रयत्वात्, द्रव्यहिंसायास्तु मरणमात्रतया रूढत्वादिति ।

१३. ठाणं.७।३८।

१४. त.सू.(स्वोपज्ञभाष्य सहित),१।३४—नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः ।

१५. त.रा.वा.१।३३—नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दसमभिरूढैः ।

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है।^१ इस प्रकार नयों के अनेक वर्गीकरण कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन में निमित्त बने हैं।

नियमान्तर

वृत्तिकार ने नियम का अर्थ 'अभिग्रह' किया है। इससे पौरुषी आदि तप-विधियों का बोध होता है। सामायिक के द्वारा सर्व पापकारी प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान होता है। फिर नियम क्यों? इस प्रश्न के द्वारा वृत्तिकार ने नियमान्तर की व्याख्या की है।^२ प्रकरण से प्रतीत होता है कि पार्श्व और महावीर की परम्परा में महाव्रतों की भांति नियमों का भी भेद था और वह कांक्षा-उत्पत्ति का हेतु बनता था।

प्रमाणान्तर

प्रमाण का अर्थ है निर्णायक ज्ञान। ठाणं में व्यवसाय के तीन प्रकार प्रतिपादित हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक (इन्द्रिय और मन से होने वाला अथवा आप्तवचन से होने वाला) और आनुगामिक (अनुमान)^३।

वहां ज्ञान के दो प्रकार बतलाए गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष^४ तथा हेतु के चार प्रकार प्रतिपादित हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम।^५ अणुओगदाराई में ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम—ये चार भेद उपलब्ध हैं।^६ नंदी में ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो प्रकार मिलते हैं।^७ इस प्रकार विभिन्न नामों के माध्यम से प्रमाण के अनेक वर्गीकरण बन गए। जैन परम्परा में प्रमाण का आधुनिक वर्गीकरण अकलंक और हरिभद्र के समय से हुआ है। सिद्धतेन दिवाकर ने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों की स्वीकृति दी थी।^८ आगम-संकलन-काल से पूर्ववर्ती प्रमाण के ये अनेक वर्गीकरण शंका और कांक्षा के हेतु बने थे।

शक्ति आदि पांचों पदों की व्याख्या के लिए भगवती १।१२६,१३० का भाष्य द्रष्टव्य है।

१७३. सेवं भंते ! सेवं भंते !

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त !

१७३. भन्ते ! वह ऐसा ही है। भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. सम्पत्ति. १।४,६—

दव्यद्वियनयपयडी सुद्धा संगहपरुवणविसओ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥
मूलगिमेणं पज्जवणयस्स उच्चुसुयवयणविच्छेदो।
तस्स उ सद्दाईआ साहपसाहा सुहुमभेया ॥

२. भ.वृ.१।१७०—नियमः—अभिग्रहः। तत्र यदि नाम सर्वविरतिः सामायिकं तदा किमन्वेन पौरुष्यादिनियमेन ? सामायिकेनैव सर्वगुणावाप्तेः, उक्तश्चासौ इति शङ्का, इयं चायुक्ता। यतः सत्यपि सामायिके युक्तः पौरुष्यादिनियमः, अप्रमादवृद्धिहेतुत्वादिति आह च—

“सामाहए वि हु सावज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं।
अपमायवुद्धिजणगतणेण आणाओ विप्रेयं ॥” ति।

३. ठाणं,३।३६५—तिविधे ववसाये पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, आणु-
गामिए।

४. वही,२।२६—दुविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव।
५. वही,४।५०४—हेऊ वउच्चिहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे,
आगमे।

६. अणु.सू.५१५—नाणगुणपमाणे चउच्चिहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणु-
माणे, ओवम्मे, आगमे।

७. नंदी,सू.३—तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—पच्चक्खं च परोक्खं च।

८. न्यायावतार, कारिका ४,५,८।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
कम्म-पदं	कर्म-पदम्	कर्म-पद
१७४. कति णं भंते ! कम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अइ कम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ, कम्मप्पगडीए पढमो उद्देशो नेयव्वो जाव—अणुभागो समत्तो ।	कति भदन्त ! कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! अष्ट कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः, कर्म-प्रकृत्याः प्रथमः उद्देशः नेतव्यः यावत्—अनु-भागः समाप्तः ।	१७४. भन्ते ! कर्मप्रकृतियां कितनी प्रज्ञाप्त हैं ? गौतम ! कर्मप्रकृतियां आठ प्रज्ञाप्त हैं। कर्मप्रकृति (पण्णवणा पद २३) के प्रथम उद्देशक का अनु-भाग समाप्त हुआ है—इस अंश तक यह ज्ञातव्य है ।
संग्रहणी गाथा	संग्रहणी गाथा	संग्रहणी गाथा
कति पगडी ? कहं बंधति ? कतिहिं व ठाणेहिं बंधती पगडी ? कति वेदेति व पगडी ? अणुभागो कतिविहो कस्स ? ॥ १ ॥	कति प्रकृतयः ? कथं बध्नाति ? कतिभिः वा स्थानैः बध्नाति प्रकृतीः ? कति वेदयति वा प्रकृतीः ? अनुभागः कतिविधः कस्य ॥	कर्मप्रकृतियां कितनी हैं ? उनका बन्ध कैसे करता है ? उनका बन्ध कितने स्थानों (कारणों) से होता है ? कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन होता है ? किस कर्म का कितने प्रकार का अनुभाग (रस-विपाक) होता है ?

भाष्य

१. सूत्र १७४

कर्म की प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय ।

उपस्थापन-अपक्रमण-पदं	उपस्थापन-अपक्रमण-पदम्	उपस्थापन-अपक्रमण-पद
१७५. जीवे णं भंते ! मोहणिल्लेणं कडेणं कम्मणं उदिण्णेणं उवडाएज्जा ? हंता उवडाएज्जा ॥	जीवः भदन्त ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णेन उपतिष्ठेत ? हन्त उपतिष्ठेत ।	१७५. भन्ते ! क्या पूर्वकृत मोहनीय कर्म के उदय-काल में जीव उपस्थान (आध्यात्मिक विकास) करता है ? हां, उपस्थान करता है ।
१७६. से भंते ! किं वीरियत्ताए उवडाएज्जा ? अवीरियत्ताए उवडाएज्जा ? गोयमा ! वीरियत्ताए उवडाएज्जा । णो अवीरियत्ताए उवडाएज्जा ॥	स भदन्त ! किं वीर्यतया उपतिष्ठेत ? अवीर्यतया उपतिष्ठेत ? गौतम ! वीर्यतया उपतिष्ठेत । नो अवीर्यतया उपतिष्ठेत ।	१७६. भन्ते ! क्या वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? अवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? गौतम ! वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है, अवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता ।
१७७. जइ वीरियत्ताए उवडाएज्जा, किं— बालवीरियत्ताए उवडाएज्जा ? पंडियवीरिय- त्ताए उवडाएज्जा ? बालपंडियवीरियत्ताए उवडाएज्जा ?	यदि वीर्यतया उपतिष्ठेत, किं— बालवीर्यतया उपतिष्ठेत ? पण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ? बालपण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ?	१७७. यदि वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है, तो क्या—बालवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? पण्डितवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? बाल- पण्डितवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा । नो पंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा । नो बाल-पंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ॥

गीतम ! बालवीर्यतया उपतिष्ठेत । नो पण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत । नो बालपण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ।

गौतम ! वह बालवीर्य-भाव में उपस्थान करता है, पंडितवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता, बाल-पंडितवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता ।

१७८. जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

जीवः भदन्त ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णेन अपक्रामेत् ?

१७८. भन्ते ! क्या पूर्वकृत मोहनीय कर्म के उदय-काल में जीव अपक्रमण (आध्यात्मिक हास) करता है ?

हंता अवक्कमेज्जा ॥

हन्त अपक्रामेत् ।

हां, अपक्रमण करता है ।

१७९. से भंते ! किं वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? अवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?

स भदन्त ! किं वीर्यतया अपक्रामेत् ? अवीर्यतया अपक्रामेत् ?

१७९. भन्ते ! क्या वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? अवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ?

गोयमा ! वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । नो अवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ॥

गीतम ! वीर्यतया अपक्रामेत् । नो अवीर्यतया अपक्रामेत् ॥

गौतम ! वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है, अवीर्य-भाव में अपक्रमण नहीं करता ।

१८० जइ वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, किं— बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?

यदि वीर्यतया अपक्रामेत्, किं—बाल-वीर्यतया अपक्रामेत् ? पण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ? बालपण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ?

१८०. यदि वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है, तो क्या—बालवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? बाल-पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । सिय बाल-पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ॥

गीतम ! बालवीर्यतया अपक्रामेत् । नो पण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् । स्यात् बाल-पण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ।

गौतम ! वह बालवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है, पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण नहीं करता, कदाचित् बालपंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ।

१८१. जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उवसंतेणं उवद्दाएज्जा ? हंता उवद्दाएज्जा ॥

जीवः भदन्त ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उपशान्तेन उपतिष्ठेत ? हंत उपतिष्ठेत ।

१८१. भन्ते ! क्या पूर्वकृत मोहनीय कर्म के उप-शमन-काल में जीव उपस्थान करता है ? हां, उपस्थान करता है ।

१८२. से भंते ! किं वीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ? अवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ?

स भदन्त ! किं वीर्यतया उपतिष्ठेत ? अवीर्यतया उपतिष्ठेत ?

१८२. भन्ते ! क्या वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? अवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ?

गोयमा ! वीरियत्ताए उवद्दाएज्जा । नो अवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ॥

गीतम ! वीर्यतया उपतिष्ठेत । नो अवीर्यतया उपतिष्ठेत ।

गौतम ! वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है, अवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता ।

१८३. जइ वीरियत्ताए उवद्दाएज्जा, किं— बालवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ? पंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ? बालपंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ?

यदि वीर्यतया उपतिष्ठेत, किं—बालवीर्यतया उपतिष्ठेत ? पण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ? बालपण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ?

१८३. यदि वह वीर्य-भाव में उपस्थान करता है, तो क्या—बालवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? पंडितवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ? बाल-पण्डितवीर्य-भाव में उपस्थान करता है ?

गोयमा ! नो बालवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा । पंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा । नो बाल-पंडियवीरियत्ताए उवद्दाएज्जा ॥

गीतम ! नो बालवीर्यतया उपतिष्ठेत । पण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत । नो बाल-पण्डितवीर्यतया उपतिष्ठेत ।

गौतम ! वह बालवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता, पंडितवीर्य-भाव में उपस्थान करता है, बालपंडितवीर्य-भाव में उपस्थान नहीं करता ।

१८४. जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उवसंतेणं अवक्कमेज्जा ? हंता अवक्कमेज्जा ॥

जीवः भदन्त ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उपशान्तेन अपक्रामेत् ? हन्त अपक्रामेत् ।

१८४. भन्ते ! क्या वह पूर्वकृत मोहनीय कर्म के उपशमन-काल में अपक्रमण करता है ? हां, अपक्रमण करता है ।

१८५. से भंते ! किं वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? अवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?

स भदन्त ! किं वीर्यतया अपक्रामेत् ? अवीर्यतया अपक्रामेत् ?

१८५. भन्ते ! क्या वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? अवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ?

- गोयमा ! वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । नो अवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ॥
- गौतम ! वीर्यतया अपक्रामेत् । नो अवीर्यतया अपक्रामेत् ।
- गीतम ! वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है, अवीर्य-भाव में अपक्रमण नहीं करता ।
१८६. जइ वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, किं— बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ? बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?
- यदि वीर्यतया अपक्रामेत्, किं—बालवीर्यतया अपक्रामेत् ? पण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ? बालपण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ?
१८६. यदि वह वीर्य-भाव में अपक्रमण करता है, तो क्या बालवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ? बाल-पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ?
- गोयमा ! नो बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ॥
- गौतम ! नो बालवीर्यतया अपक्रामेत् । नो पण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् । बालपण्डितवीर्यतया अपक्रामेत् ।
- गौतम ! वह बालवीर्य-भाव में अपक्रमण नहीं करता, पंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण नहीं करता, बालपंडितवीर्य-भाव में अपक्रमण करता है ।
१८७. से भंते ! किं आयाए अवक्कमइ ? अणायाए अवक्कमइ ?
- स भदन्त ! किं आत्मना अपक्रामति ? अनात्मना अपक्रामति ?
१८७. भन्ते ! क्या वह अपक्रमण आत्मना (अपने आप) करता है ? अनात्मना (परनिमित्त से) करता है ?
- गोयमा ! आयाए अवक्कमइ, नो अणायाए अवक्कमइ—मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे ॥
- गौतम ! आत्मना अपक्रामति, नो अनात्मना अपक्रामति—मोहनीयं कर्म वेदयन् ।
- गौतम ! वह आत्मना अपक्रमण करता है, अनात्मना अपक्रमण नहीं करता । मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ अपक्रमण करता है ।
१८८. से कहमेयं भंते ! एवं ?
- अथ कथमेतत् भदन्त ! एवं ?
१८८. भन्ते ! वह मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ अपक्रमण कैसे करता है ?
- गोयमा ! पुब्बिं से एयं एवं रोयइ । इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ—एवं खलु एयं एवं ॥
- गौतम ! पूर्वं तस्मै एतद् एवं रोचते । इदानीं तस्मै एतद् एवं नो रोचते—एवं खलु एतद् एवम् ।
- गौतम ! अपक्रमण से पूर्व वह जो तत्त्व जैसा है, उस पर वैसी ही रुचि करता है । अब (मोहनीय कर्म के उदय-काल में) वह जो तत्त्व जैसा है, उस पर वैसी रुचि नहीं करता—इस प्रकार वह मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ अपक्रमण करता है ।

भाष्य

१. सूत्र १७५-१८८

प्रस्तुत आगम में वीर्यलब्धि के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—बालवीर्यलब्धि, पण्डितवीर्यलब्धि, बालपण्डितवीर्यलब्धि।^१ सुयगजे में पूर्ण अविरति वाले व्यक्ति को बाल, विरति वाले व्यक्ति को पण्डित तथा विरति और अविरति दोनों से युक्त व्यक्ति को बालपण्डित कहा गया है।^२ इस आलापक में मोह के उदय और उपशम के आधार पर उपस्थान और अपक्रमण की व्याख्या की गई है। सम्यग्दर्शन, देशव्रत और सर्वव्रत—ये अध्यात्म-विकास की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। मिथ्यादृष्टि जीव में भी यत्किञ्चित् मात्रा में अध्यात्म का विकास होता है। उपस्थान का अर्थ है—आध्यात्मिक विकास। अपक्रमण का अर्थ है—आध्यात्मिक विकास से हास की ओर जाना। मिथ्यादर्शन विकास का न्यूनतम बिन्दु है। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि का मिथ्यादृष्टि होना अपक्रमण है। सर्वव्रती का देशव्रती होना अपक्रमण है। मोह के उदयकाल में

उपस्थान बालवीर्य की भूमिका से आगे नहीं होता। मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का उदय रहता है; इसलिए वह सम्यग्दर्शन को उपलब्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह का उदय रहता है; इसलिए उसे व्रत उपलब्ध नहीं होता। दर्शनमोह के उदयकाल में सम्यग्दर्शन का हास होने पर सम्यक्त्व, देशव्रत और सर्वव्रत—इन तीनों की हानि हो जाती है। चारित्रमोह के उदयकाल में व्रत का हास होता है; इसलिए व्रती सम्यग्दृष्टि बन जाता है अथवा देशव्रती।

जब मोहकर्म उपशान्त होता है, उस काल में केवल पण्डितवीर्य का ही उपस्थान होता है। उपशम की अवस्था में अपक्रमण करने वाला जीव देशव्रती बनता है। वह उपशम की अवस्था में मिथ्यादृष्टि नहीं बनता।^३ जयाचार्य ने वृत्तिकार की व्याख्या के साथ-साथ धर्मसी-कृत

१. भ. ८।१४५।

२. सू. २।२।७५।

३. भ. वृ. १।१७५-१८३—'उवहाएज्ज'ति 'उपतिष्ठेत्' उपस्थानं परलोकाक्रियास्व-भ्युपगमं कुर्यादित्यर्थः, 'वीरियत्ताए'ति वीर्ययोगाद्वीर्यः—प्राणी तद्भावो वीर्यता ।

व्याख्या भी प्रस्तुत की है।^१ अपक्रमण मोहकर्म (दर्शनमोह और चारित्रमोह) के वेदन काल में होता है। वह आत्मना (स्वतः) होता है, अनात्मना (परतः) नहीं होता। अपक्रमणकारी जीव पहले सम्यग्रुचि

वाला होता है; पश्चात् वह मिथ्यारुचि हो जाता है। पहले वह तत्त्व के प्रति सम्यग्रुचि करता है, दर्शनमोहनीय का उदय होने पर उसकी तत्त्वरुचि मिथ्या हो जाती है।^१

कम्ममोक्ख-पदं

१८६. से नूणं भंते ! नेरइयस्स वा, तिरिक्ख-जोणियस्स वा, मणुस्सस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ?

हंता गोयमा ! नेरइयस्स वा, तिरिक्ख-जोणियस्स वा, मणुस्सस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ॥

१६०. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइय-स्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणुस्स-स्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ? एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पदेसकम्मे य, अणुभागकम्मे य ।

कर्ममोक्ष-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! नैरयिकस्य वा, तिर्यग्योनिकस्य वा, मनुष्यस्य वा, देवस्य वा यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्य अवेदयित्वा मोक्षः ?

हन्त गौतम ! नैरयिकस्य वा, तिर्यग्योनिकस्य वा, मनुष्यस्य वा, देवस्य वा यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्य अवेदयित्वा मोक्षः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकस्य वा, तिर्यग्योनिकस्य वा, मनुष्यस्य वा, देवस्य वा यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्य अवेदयित्वा मोक्षः ?

एवं खलु मया गौतम ! द्विविधं कर्म प्रज्ञातम्, तद् यथा—प्रदेशकर्म च, अनुभागकर्म च ।

कर्ममोक्ष-पद

१८६. 'भन्ते ! नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य अथवा देव के जो किया हुआ पाप कर्म है, क्या उसका वेदन किए बिना मोक्ष (छुटकारा) नहीं होता ?

हां, गौतम ! नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य अथवा देव के जो किया हुआ पाप कर्म है, उसका वेदन किए बिना मोक्ष नहीं होता ।

१६०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य अथवा देव के जो किया हुआ पाप कर्म है, उसका वेदन किए बिना मोक्ष नहीं होता ?

गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं, जैसे—प्रदेश-कर्म और अनुभाग-कर्म ।

अथवा वीर्यमेव स्वार्थिकप्रत्ययाद्वीर्यता वीर्याणां वा भावो वीर्यता, तथा । 'अवीरियत्ताए'ति अविद्यमानवीर्यतया वीर्याभावे नेत्यर्थः, 'नो अवीरियत्ताए' ति वीर्यहेतुकत्वादुपस्थानस्येति । 'बालवीरियत्ताए'ति बालः—सम्यग्दर्शनव-बोधत् सद्बोधकार्यविरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टिस्तस्य या वीर्यता—परिणति-विशेषः सा तथा तथा । 'पंडियवीरियत्ताए'ति पण्डितः—सकलावद्यवर्जक-स्तदन्यस्य परमार्थतो निर्ज्ञानत्वेनापण्डितत्वाद्, यदाह—

“तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभ्रति रागगणः ।

तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणप्रतः स्थातुम् ? ॥” इति ।

सर्वविरत इत्यर्थः । 'बालपंडियवीरियत्ताए'ति बालो देशे विरत्यभावात् पण्डितो देश एव विरतिसद्भावादिति बालपण्डितो—देशविरतः ।

इह च मिथ्यात्वे उदिते मिथ्यादृष्टिवाञ्छीवस्य बालवीर्येणोपस्थानं स्यान्नतरा-भ्याम् । एतदेवाह—'गोयमे'त्यादि । उपस्थानविपक्षोऽपक्रमणमतस्तदाश्रि-त्याह—

'जीवे णमि'त्यादि 'अवक्कमेज्ज'ति 'अपक्रामेत्' अपसर्पेत्, उत्तमगुणस्थान-काद् हीनतरं गच्छेदित्यर्थः ।

'बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज'ति मिथ्यात्वमोहोदये सम्यक्त्वात् संयमादेश-संयमाद्वा 'अपक्रामेत्' मिथ्यादृष्टिर्भवेदिति । 'णो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज' ति, नहि पण्डितत्वात्प्रधानतरं गुणस्थानकमस्ति यतः पण्डितवीर्येणाप-सर्पेत् । 'सिय बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज'ति स्यात्—कदाचिद्यारित्रमोहनीयोदयेन संयमादपगत्य बालपण्डितवीर्येण देशविरतो भवेदिति ।

वाचनान्तरे त्वेवम्—'बालवीरियत्ताए नो पंडियवीरियत्ताए नो बालपंडिय-वीरियत्ताए'ति तत्र च मिथ्यात्वमोहोदये बालवीर्यस्यैव भावादितरवीर्यद्वयनिषेध इति ।

उदीर्णविपक्षत्वादुपशान्तस्येत्युपशान्तसूत्रद्वयं तथैव, नवरम् 'उवट्ठाएज्ज पंडियवीरियत्ताए'ति उदीर्णात्पापकापेक्षयोपशान्तात्पापकयोरयं विशेषः—प्रथमा-त्पापके सर्वथा मोहनीयेनोपशान्तेन सतोपतिष्ठेत् क्रियासु पण्डितवीर्येण, उपशान्त-मोहावस्थायां पण्डितवीर्यस्यैव भावादितरयोश्चाभावात् ।

वृद्धैस्तु काञ्चिद्वाचनामाश्रित्येदं व्याख्यातं—मोहनीयेनोपशान्तेन मत्ता न मिथ्यादृष्टिर्जायते, साधुः श्रावको वा भवतीति । द्वितीयालापकं तु 'अवक्कमेज्ज बालपंडियवीरियत्ताए'ति मोहनीयेन हि उपशान्तेन संयतत्वाद् बालपण्डितवीर्ये-णापक्रामन् देशसंयतो भवति । देशस्तस्य मोहोपशमसद्भावात्, न तु मिथ्यादृष्टिः, मोहोदय एव तस्य भावात्, मोहोपशमस्य चेहाधिकृतत्वादिति ।

१. भ.जो.१।१४।२२-३४।

२. भ.वृ.१।१९।१९८८—'से भंते ! कि' मित्याह—'से'ति असी जीवः, अथार्थे वा से शब्दः, 'आयाए'ति आत्मना 'अणायए'ति अनात्मना, परत इत्यर्थः । 'अपक्रामति' अपसर्पति । पूर्वं पण्डितत्वरुचिर्भूत्वा पश्चान्मिश्ररुचिर्भूत्वा-रुचिर्वा भवतीति, कोऽसी ? इत्याह—मोहनीयं कर्म मिथ्यात्वमोहनीयं चारित्र-मोहनीयं वा वेदयन्, उदीर्णमोह इत्यर्थः ।

'से कहमेयं भंते !'ति अथ 'कथं' केन प्रकारेण 'एतद्' अपक्रमणम् 'एवं' ति मोहनीयं वेदमानस्येति इहोत्तरं—'गोयमे'त्यादि, 'पूर्वम्' अपक्रमणात् प्राग् 'असौ' अपक्रमणकारी जीवः 'एतद्'जीवादि अहिंसादि वा वस्तु 'एवं' यथा जिनैरुक्तं 'रोचते' श्रद्धते करोति वा । 'इदानीं' मोहनीयोदयकाले 'सः' जीवः 'एतद्'जीवादि अहिंसादि वा 'एवं' यथा जिनैरुक्तं 'नो रोचते' न श्रद्धते न करोति वा । 'एवं खलु' उक्तप्रकारेण 'एतद्' अपक्रमणम्, 'एवं' मोहनीयवेदेन इत्यर्थः ।

तस्य णं जं णं पदेसकम्मं तं नियमा वेदेइ ।
तस्य णं जं णं अणुभागकम्मं तं अत्येगइयं
वेदेइ, अत्येगइयं णो वेदेइ ।

णायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विष्णा-
यमेयं अरहया—इमं कम्मं अयं जीवे
अब्भोवगमियाए वेदणाए वेदेस्सइ, इमं
कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए
वेदेस्सइ ।

अहाकम्मं, अहानिकरणं जहा जहा तं
भगवता दिदुं तथा तथा तं विपरिणमि-
स्सतीति । से तेणइणं गोयमा ! एवं वुचइ
—नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा,
मणुस्सस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे,
नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ॥

तत्र यत् प्रदेशकर्म तत् नियमाद् वेदयति ।
तत्र यद् अनुभागकर्म तद् अस्त्येककं वेदयति,
अस्त्येककं नो वेदयति ।

ज्ञातमेतद् अर्हता, श्रुतमेतद् अर्हता, विज्ञात-
मेतद् अर्हता—इदं कर्म अयं जीवः आभ्यु-
पगमिक्या वेदनया वेदयिष्यति, इदं कर्म अयं
जीवः औपक्रमिक्या वेदनया वेदयिष्यति ।

यथाकर्म, यथानिकरणं यथा यथा तद्
भगवता दृष्टं तथा तथा विपरिणस्यति । तत्
तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकस्य वा,
तिर्यग्योनिकस्य वा, मनुष्यस्य वा, देवस्य वा
यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्य अवेदयित्वा
मोक्षः ।

जो प्रदेश-कर्म है, उसका नियमतः वेदन होता
है । जो अनुभाग-कर्म है, उसमें से किसी का वेदन
होता है, किसी का वेदन नहीं होता ।

यह अर्हत् के द्वारा ज्ञात है, श्रुत है और विज्ञात
है—यह जीव इस कर्म का आभ्युपगमिकी
(स्वीकृत) वेदना द्वारा वेदन करेगा और यह जीव
इस कर्म का औपक्रमिकी (प्रयत्नकृत) वेदना द्वारा
वेदन करेगा ।

यथाकर्म (बद्ध कर्मों के अनुसार) और यथा-
निकरण (विपरिणमन के नियत हेतु के अनुसार)
जैसे-जैसे वह कर्म भगवान् ने देखा, वैसे-वैसे
उसका विपरिणमन होगा । गौतम ! इस अपेक्षा
से यह कहा जा रहा है—नैरयिक, तिर्यग-
योनिक, मनुष्य अथवा देव के जो किया हुआ
पाप-कर्म है, उसका वेदन किए बिना मोक्ष नहीं
होता ।

भाष्य

१. सूत्र १८६, १९०

प्रस्तुत आलापक में कर्मवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विमर्श
उपलब्ध है । कर्मवाद का सामान्य नियम है—अपने किए हुए कर्मों को
भोगे बिना छुटकारा नहीं होता । यदि यह नियम सार्वभौम अथवा
निरपेक्ष हो, तो धार्मिक पुरुषार्थ की सार्थकता कम हो जाती है । उसकी
सार्थकता तभी फलित होती है कि मनुष्य अतीत के बन्धन को बदल
डाले, पूर्वकृत कर्म को निर्वीर्य बना दे ।

भगवान् महावीर पुरुषार्थवाद के प्रवक्ता थे । उनका सिद्धान्त
था कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्म का बन्ध करता है और
पुरुषार्थ के द्वारा उसमें परिवर्तन भी कर सकता है । इस अवधारणा के
सन्दर्भ में कर्मवाद का वह नियम सार्वभौम और निरपेक्ष नहीं है । सापेक्षता
की व्याख्या के दो सूत्र हैं—प्रदेश-कर्म और अनुभाग-कर्म । प्रदेश-कर्म
का अर्थ है—जीव के प्रदेशों में ओतःप्रोत कर्म-पुद्गल ! अनुभाग-कर्म
का अर्थ है—कर्म-पुद्गलों का रस जो जीव के द्वारा संवेद्यमान होता
है ।

प्रदेश-कर्म का वेदन अवश्यंभावी है । जीव अपने आत्म-प्रदेशों

से उन कर्म-प्रदेशों का क्षण या वियोजन नियमतः करता है । सामान्य
स्थिति में अनुभाग-कर्म का वेदन होता है, किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा तीव्र
अनुभाव को मन्द अनुभाव में बदल देने अथवा अनुभाव या रस को
निष्क्रिय बना देने पर उसका वेदन नहीं भी होता । इस निरूपण के
आधार पर दो सिद्धान्त फलित होते हैं—कृत कर्म भुगतना ही होता
है—यह सिद्धान्त प्रदेश-कर्म की अपेक्षा से संगत है । कृत कर्म को भोगे
बिना निर्जीर्ण किया जा सकता है—यह सिद्धान्त अनुभाग-कर्म की
अपेक्षा से है । तपस्या के द्वारा कर्म की निर्जरा करो—इसका आधार
अनुभाग-कर्म के वेदन का विकल्प ही है । वेदना दो प्रकार की होती
है—आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी । आभ्युपगमिकी वेदना का
सम्बन्ध धार्मिक साधना या तपस्या से है । यह संकल्पपूर्वक स्वीकृत
होती है । उपवास आदि के द्वारा जो वेदना होती है, वह आभ्युपगमिकी
है । औपक्रमिकी वेदना कर्म के स्वयं उदय अथवा उदीरणकरण के
द्वारा होने वाले कर्म के उदय से होती है । औपक्रमिकी वेदना सभी
प्राणियों के होती है । आभ्युपगमिकी वेदना पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक और
मनुष्य इन दो के ही होती है ।

१. उत्तर. ४।३—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥

२. भ. वृ. १।१९०—प्रदेशाः कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोत्प्रोतास्तद्रूपं कम्मं प्रदेश-
कर्म । 'अणुभागकम्मे थ'ति अनुभागः—तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानता-
विषयो रसस्तद्रूपं कर्म अनुभागकर्म । तत्र यत्प्रदेशकर्म तत्रियमाद्देदयति,
विपाकस्थाननुभवनेऽपि कर्मप्रदेशानामवश्यं क्षपणात्, प्रदेशेभ्यः प्रदेशान्त्रियमा-
च्छातयतीत्यर्थः । अनुभागकर्म च तथाभावं वेदयति वा न वा, यथा मिथ्यात्वं
तत्क्षयोपशमकालेऽनुभागकर्मतया न वेदयति प्रदेशकर्मतया तु वेदयत्येवेति ।

३. (क) दसवे. पढमा चूलिया, सू. १८—पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुब्बिं

दुष्णिग्गाणं दुष्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा
झोसइत्ता । अट्टारसमं पयं भवइ ।

(ख) आयारो, २।१६३—धुणे कम्मसरीरमं ।

(ग) दसवे. ६।६७—

खवेति अप्पाणमगोहदंतिणो, तवे रया संजम अजवे गुणे ।

धुणंति पावाइं पुरे कडाइं, नवाइ पावाइं न ते करेति ॥

४. पण्ण. ३५।१२—गोयमा ! दुविहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भोवगमिया
य ओवक्कमिया य ।

५. बही, ३५।१३-१५ ।

सूत्रकार ने इस विषय में एक नया तथ्य उद्घाटित किया है—अमुक कर्म आभ्युपगमिकी वेदना द्वारा भोगा जाएगा और अमुक कर्म औपक्रमिकी वेदना द्वारा भोगा जाएगा, यह अर्हत् को ज्ञात होता है। कर्म-विपाक की पृष्ठभूमि में दो नियम कार्य करते हैं—१. किस अध्यवसाय-काल में कर्म का बन्ध हुआ है ? २. उसके साथ देश, काल आदि निश्चित कारणों से कर्म के विपाक का सम्बंध होता है। कर्म-विपाक की यह पृष्ठभूमि अर्हत् के द्वारा जैसे ज्ञात होती है, वैसे ही उसका विपाक होता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के आधार पर दो धारणाएं बनती हैं—

१. तपस्या आदि के द्वारा कर्म के विपाक में परिवर्तन किया जा सकता है।

यह धारणा पुरुषार्थवाद के अनुकूल है।

२. अर्हत् ने जैसा देखा, वैसे कर्म का विपाक होगा।

यह धारणा पुरुषार्थवाद के अनुकूल नहीं है।

इन दो धारणाओं के आधार पर एक प्रश्न उपस्थित होता है—भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे या नियतिवादी ? इसका उत्तर स्पष्ट है—महावीर अनेकान्तवादी थे। पुरुषार्थवाद एकान्तवाद है। नियतिवाद भी एकान्तवाद है। महावीर को कोई भी एकान्तवाद मान्य नहीं था। उन्हें पुरुषार्थवाद और नियतिवाद का समन्वय मान्य था। प्रस्तुत प्रकरण में वही समन्वय का स्वर मुखरित है। कर्म के वेदन का विकल्प पुरुषार्थवाद का स्वयम्भू प्रमाण है। अनुभाग में परिवर्तन होना

पुरुषार्थवाद के बिना सम्भव नहीं है। प्रत्येक पर्याय अपने नियत समय में प्रगट होता है। जो पर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टयी के साथ नियत होता है, वह नियति है। अमुक द्रव्य में अमुक क्षेत्र और अमुक काल में अमुक निमित्त के द्वारा अमुक प्रकार से अमुक पर्याय प्रकट होगा—यह नियति है। जो कर्म अर्हत् ने जैसे-जैसे देखा है, वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा, यह नियतिवाद का सूत्र है।

'यथानिकरण' के द्वारा इस नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। वृत्तिकार ने बतलाया है कि कर्म अपने देश, काल आदि नियत कारणों का अतिक्रमण नहीं करता; इसलिए अर्हत् द्वारा जिस रूप में दृष्ट है, उसी रूप में उसका विपरिणमन होता है। जिस रूप में कर्म का बन्ध हुआ, उसी रूप में कर्म का विपाक होगा—यह नियत नहीं है, किन्तु अमुक कर्म अमुक पुरुषार्थ के द्वारा अमुक रूप में बदला जाएगा—यह नियत होता है। अर्हत् के ज्ञान में होने वाला परिवर्तन नियत होता है। परिवर्तन होना नियति है, किन्तु परिवर्तन करना नियति का काम नहीं है। वह पुरुषार्थ का काम है। इस प्रकार नियति और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय इस प्रकरण से फलित होता है।

योग-दर्शन के भाष्य में 'एकभक्तिकर्माशय' के दो विकल्प दिए हैं—नियत विपाक और अनियत विपाक। भाष्यकार ने बतलाया है कि विपाक के देश, काल और गति का अवधारण न होने के कारण कर्म-गति विचित्र और दुर्विज्ञेय होती है। इस सन्दर्भ में 'एवंभूत वेदना, अनेवंभूत वेदना' का प्रकरण द्रष्टव्य है।^१

पोग्ल-जीवाणं तेकालियत्त-पदं

पुद्गल-जीवानां त्रैकालिकत्व-पदम्

पुद्गल और जीव की त्रैकालिकता का पद

१६१. एस णं भन्ते ! पोग्ले तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ?
हंता गोयमा ! एस णं पोग्ले तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! पुद्गलः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात् ?
हन्त गौतम ! एष पुद्गलः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात्।

१६१. 'भन्ते ! यह परमाणु अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?
हां, गौतम ! यह परमाणु अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है।

१६२. एस णं भन्ते ! पोग्ले पडुप्पणं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ?
हंता गोयमा ! एस णं पोग्ले पडुप्पणं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! पुद्गलः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात् ?
हन्त गौतम ! एष पुद्गलः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात्।

१६२. भन्ते ! यह परमाणु वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?
हां, गौतम ! यह परमाणु वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, ऐसा कहा जा सकता है।

१. भ.वृ.१।१६०—यथाकर्म—वद्धकर्मनतिक्रमेण 'अहानिगरणं'ति निकरणानां—नियतानां देशकालादीनां करणानां—विपरिणामहेतूनामनतिक्रमेण यथा—यथा तत्कर्म भगवता दृष्टं तथा-तथा विपरिणंस्यतीति।

२. पा.यो.द.२।११३ भाष्य—यत्त्वसावेकभक्तिकः कर्माशयः स नियतविपाकश्च-नियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो, न त्व-दृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य; कस्मात्, यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियत-विपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपकस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्या-ऽविपकस्य नाशो यथा शुक्लकर्णोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य, यत्रेमुक्तम्—“द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्य कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते।”

प्रधानकर्मण्यावापगमनम् यत्रेदमुक्तम्—“स्यात्त्वल्पसांकरः सर्परिहारस-प्रत्यवर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्; कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्राय-मावापद्गतस्सर्वोऽप्यपकर्षमत्वं करिष्यति” इति।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा विरामवस्थानम्; कथमिति ? अदृष्ट-जन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तत्रश्रयेदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्ता नव-धारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना घेति। न चोत्संगस्यापवादान् निवृत्तिरिति एकभक्तिकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति।

३. भ.१।११६-१२६।

१६३. एस णं भंते ! पोग्गले अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! पुद्गलः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष पुद्गलः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ।

१६३. भन्ते ! यह परमाणु अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह परमाणु अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६४. एस णं भंते ! खंघे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं खंघे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! स्कन्धः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष स्कन्धः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात् ।

१६४. भन्ते ! यह स्कन्ध अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह स्कन्ध अनन्त अतीत काल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६५. एस णं भंते ! खंघे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं खंघे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! स्कन्धः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष स्कन्धः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात् ।

१६५. भन्ते ! यह स्कन्ध वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह स्कन्ध वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६६. एस णं भंते ! खंघे अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं खंघे अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! स्कन्धः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष स्कन्धः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ।

१६६. भन्ते ! यह स्कन्ध अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह स्कन्ध अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६७. एस णं भंते ! जीवे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं जीवे तीतं अणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! जीवः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष जीवः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् अभूद् इति वक्तव्यं स्यात् ।

१६७. भन्ते ! यह जीव अनन्त अतीतकाल में शाश्वत था, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह जीव अनन्त अतीत काल में शाश्वत था, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६८. एस णं भंते ! जीवे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं जीवे पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! जीवः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष जीवः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं भवतीति वक्तव्यं स्यात् ।

१६८. भन्ते ! यह जीव वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह जीव वर्तमान काल में शाश्वत रहता है, ऐसा कहा जा सकता है ।

१६९. एस णं भंते ! जीवे अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! एस णं जीवे अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ॥

एष भदन्त ! जीवः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ? हन्त गीतम ! एष जीवः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं भविष्यतीति वक्तव्यं स्यात् ।

१६९. भन्ते ! यह जीव अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, क्या ऐसा कहा जा सकता है ? हां, गीतम ! यह जीव अनन्त अनागत काल में शाश्वत रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ।

भाष्य

१. सूत्र १६१-१६६

प्रस्तुत आलापक में पुद्गल और जीव की त्रैकालिकता का प्रतिपादन किया गया है। यह त्रैकालिकता अनन्त अतीत और अनन्त भविष्य से जुड़ी हुई त्रैकालिकता है। 'वह प्रातःकाल था, मध्याह्न में है और शाम को होगा'—यह भी त्रैकालिकता है। यहां यह विवक्षित नहीं है; इसलिए यहां अतीत और अनागत के साथ 'अनन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। द्रव्य त्रैकालिक होता है। पर्याय अल्पकालिक और

दीर्घकालिक हो सकता है, किन्तु अनन्तकालिक नहीं होता; इसीलिए द्रव्य निरपेक्ष सत्य और पर्याय सापेक्ष सत्य हैं।

सत्य के दो अर्थ हैं—१. अस्तित्व २. वार्तमानिक अभिव्यक्ति। यहां अस्तित्व-सत्य प्रतिपादित है। सत्य वह है, जो अनन्त अतीत में था, वर्तमान में है और अनन्त अनागत में रहेगा।

उमास्वाति के अनुसार जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, वह

सत् या सत्य है।^१ इस सूत्र में 'उत्पाद और व्यय' यह वाक्यांश सापेक्ष सत्य का प्रतिपादक है और 'ध्रौव्य' यह वाक्यांश निरपेक्ष सत्य का।

अस्तिकाय के प्रकरण में पांच अस्तिकायों की त्रैकालिकता का प्रतिपादन किया गया है।^२ प्रस्तुत आलापक में केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की त्रैकालिकता का प्रतिपादन है। धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों द्रव्यों का अस्तित्व है, पर स्थूल सृष्टि से इनका संबन्ध नहीं है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का सृष्टिगत परिवर्तन के साथ सीधा सम्बन्ध है। ये दोनों सृष्टि के मूल घटक माने जा सकते हैं; इसलिए इन दो का ही उल्लेख किया गया है। अनुसन्धान की दृष्टि से प्रश्न

उपस्थित किया जा सकता है—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों को मानने की कोई प्राचीन परम्परा रही हो, उसके पश्चात् भगवान् महावीर ने पञ्चास्तिकाय तथा छह द्रव्यों का प्रतिपादन किया हो। प्रस्तुत आगम में उन दोनों परम्पराओं का समावेश कर लिया गया हो।

शब्द-विमर्श

पुद्गल—परमाणु^३

स्कन्ध—परमाणु-समूह

शाश्वत—सदा विद्यमान

समय—काल

मोक्ष-पद

२००. छडमत्थे णं भंते ! मणुसे तीतं अणंतं सासयं समयं—केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झंसु ? बुज्झंसु ? मुच्चंसु ? परिनिब्बाइंसु ? सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु ?
गोयमा ! णो इण्डे समट्ठे ॥

२०१. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—छडमत्थे णं मणुसे तीतं अणंतं सासयं समयं—केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमायाहिं नो सिज्झंसु ? नो बुज्झंसु ? नो मुच्चंसु ? नो परिनिब्बाइंसु ? नो सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु ?
गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अन्तिम-सरीरिया वा—सब्बदुक्खाणं अंतं करेसु वा, करेति वा, करिस्संति वा—सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिब्बायंति, सब्बदुक्खाणं अंतं करेसु वा, करेति वा, करिस्संति वा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—छडमत्थे णं मणुसे तीतं अणंतं सासयं समयं—केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमायाहिं नो सिज्झंसु, नो बुज्झंसु, नो मुच्चंसु, नो परिनिब्बाइंसु, नो सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु ॥

मोक्ष-पदम्

छडमत्थः भदन्त ! मनुष्यः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं—केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिः असिधत् ? 'बुज्झंसु' ? अमुचत् ? परिनिर्वासीत् ? सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षीत् ?
गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—छडमत्थः मनुष्यः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं—केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिः नो असिधत् ? नो 'बुज्झंसु' ? नो अमुचत् ? नो परिनिर्वासीत् ? नो सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षीत् ?
गौतम ! ये केचिद् अन्तकराः वा अन्तिम-शरीरिकाः वा—सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षुः वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा—सर्वे ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः अर्हाः जिनाः केवलिनः भूत्वा, ततः पश्चात् सिध्यन्ति, 'बुज्झंति', मुच्चन्ति, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षुः वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा ।
तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—छडमत्थः मनुष्यः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं—केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिः नो असिधत्, नो 'बुज्झंसु', नो अमुचत्, नो परिनिर्वासीत्, नो सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षीत् ।

मोक्ष-पद

२००. भन्ते ! क्या छडमत्थ मनुष्य इस अनन्त अतीत शाश्वत काल में—केवल संयम, केवल संवर, केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचनमाता के द्वारा सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत हुआ था, उसने सब दुःखों का अन्त किया था ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

२०१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—छडमत्थ मनुष्य अनन्त अतीत शाश्वत काल में केवल संयम, केवल संवर, केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचन-माता के द्वारा सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत नहीं हुआ था, उसने सब दुःखों का अन्त नहीं किया था ?

गौतम ! जो भी अन्तकर अथवा अन्तिमशरीरी हैं, जिन्होंने सब दुःखों का अन्त किया था, करते हैं और करेंगे—वे सब उत्पन्नज्ञानदर्शनधर अर्हत्, जिन और केवली होकर उसके पश्चात् सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत हुए, उन्होंने सब दुःखों का अन्त किया, करते हैं और करेंगे । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—छडमत्थ मनुष्य अनन्त अतीत शाश्वत काल में—केवल संयम, केवल संवर, केवल ब्रह्मचर्यवास, केवल प्रवचन-माता के द्वारा सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत नहीं हुए थे, उन्होंने सब दुःखों का अन्त नहीं किया था ।

१. त.सू.५।३०—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत् ।

२. भ.२।१२४१२६।

३. भ.वृ.१।१६१—परमाणुरुत्तरस्कन्धग्रहणात् ।

२०२. पदुष्यण्णे वि एवं चेव, नवरं—सिज्झंति भाणियव्वं ॥

प्रत्युत्पन्नेऽपि एवं चैव, नवरं—सिध्यति भणितव्यम् ।

२०२. वर्तमान काल में भी इसी प्रकार ज्ञातव्य है । केवल—सिद्ध होता है—यह वर्तमानकालीन क्रिया-पद वक्तव्य है ।

२०३. अणागए वि एवं चेव, नवरं—सिज्झिस्संति भाणियव्वं ॥

अनागतपि एवं चैव, नवरं—सेत्स्यति भणितव्यम् ।

२०३. भविष्यकाल में भी इसी प्रकार ज्ञातव्य है । केवल—सिद्ध होगा—यह भविष्यकालीन क्रिया-पद वक्तव्य है ।

२०४. जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि। तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ॥

यथा छद्मस्थः तथा आधोऽवधिकः अपि, तथा परमाधोवधिकोऽपि । त्रयस्त्रयः आलापकाः भणितव्याः ।

२०४. छद्मस्थ मनुष्य की भांति आधोवधिक (देशावधि-युक्त) और परमाधोवधिक (सर्व-अवधि-युक्त) के भी तीन-तीन आलापक वक्तव्य हैं ।

२०५. केवली णं भंते ! मणूसे तीतं अणंतं सासयं समयं सिज्झंसु ? बुज्झंसु ? मुच्चंसु ? परिनिव्वाइंसु ? सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु ?

केवली भदन्त ! मनुष्यः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् असिधत् ? 'बुज्झंसु' ? अमुचत् ? परिनिर्वासीत् ? सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षीत् ?

२०५. भन्ते ! क्या केवली मनुष्य इस अनन्त अतीत शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत हुआ था, उसने सब दुःखों का अन्त किया था ?

हंता गोयमा ! केवली णं मणूसे तीतं अणंतं सासयं समयं सिज्झंसु, बुज्झंसु, मुच्चंसु, परिनिव्वाइंसु, सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु ॥

हन्त गौतम ! केवली मनुष्यः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयम् असिधत्, 'बुज्झंसु' अमुचत्, परिनिर्वासीत्, सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षीत् ।

हां, गौतम ! केवली मनुष्य अनन्त अतीत शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत हुआ था, उसने सब दुःखों का अन्त किया था ।

२०६. 'केवली णं भंते ! मणूसे पदुष्यण्णं सासयं समयं सिज्झंति ? बुज्झंति ? मुच्चंति ? परिनिव्वायंति ? सब्बदुक्खाणं अंतं करोति ?

केवली भदन्त ! मनुष्यः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं सिध्यति ? 'बुज्झंति' ? मुच्यति ? परिनिर्वाति ? सर्व दुःखानाम् अन्तं करोति ?

२०६. भन्ते ! क्या केवली मनुष्य वर्तमान शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

हंता गोयमा ! केवली णं मणूसे पदुष्यण्णं सासयं समयं सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सब्बदुक्खाणं अंतं करोति ॥

हन्त गौतम ! केवली मनुष्यः प्रत्युत्पन्नं शाश्वतं समयं सिध्यति, 'बुज्झंति', मुच्यति, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानाम् अन्तं करोति ।

हां, गौतम ! केवली मनुष्य वर्तमान शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ।

२०७. केवली णं भंते ! मणूसे अणागयं अणंतं सासयं समयं सिज्झिस्संति ? बुज्झिस्संति ? मुच्चिस्संति ? परिनिव्वाइस्संति ? सब्बदुक्खाणं अंतं करिस्संति ?

केवली भदन्त ! मनुष्यः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं सेत्स्यति ? 'बुज्झिस्संति' ? मोक्ष्यति ? परिनिर्वास्यति ? सर्वदुःखानाम् अन्तं करिष्यति ?

२०७. भन्ते ! क्या केवली मनुष्य अनन्त अनागत शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा ?

हंता गोयमा ! केवली णं मणूसे अणागयं अणंतं सासयं समयं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सब्बदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥

हन्त गौतम ! केवली मनुष्यः अनागतम् अनन्तं शाश्वतं समयं सेत्स्यति, 'बुज्झिस्संति', मोक्ष्यति, परिनिर्वास्यति, सर्वदुःखानाम् अन्तं करिष्यति ।

हां, गौतम ! केवली मनुष्य अनन्त अनागत शाश्वत काल में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा ।

२०८. से नूणं भंते ! तीतं अणंतं सासयं समयं, पदुष्यण्णं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमशरीरिया वा सब्बदुक्खाणं अंतं करेसु वा, करोति वा, करिस्संति वा, सब्बे ते उप्पण्णणाणदंसणघरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति ?

अथ नूनं भदन्त ! अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं, प्रत्युत्पन्नं वा शाश्वतं समयं, अनागतम् अनन्तं वा शाश्वतं समयं ये केचिद् अन्तकराः वा अन्तिमशरीरिकाः वा सर्वदुःखानाम् अन्तम् अकार्षुः वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा, सर्वे ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः अर्हाः जिनाः केवलिनः भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यन्ति ? 'बुज्झंति' ?

२०८. भन्ते ! इस अनन्त अतीत शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में और अनन्त अनागत शाश्वत काल में जो भी अन्तकर अथवा अन्तिम-शरीरी हैं, जिन्होंने सब दुःखों का अन्त किया था, करते हैं अथवा करेंगे, क्या वे सब उत्पन्नज्ञानदर्शन के धारक अर्हत्, जिन और केवली होकर उसके पश्चात् सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त,

बुज्झति ? मुच्चति ? परिनिव्वायति ? सब्ब-
दुक्खाणं अंतं करेसु वा, करेति वा, करि-
स्सति वा ?

हंता गोयमा ! तीतं अणंतं सासयं समयं,
पडुप्पणं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं
वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा
अंतिमसरीरिया वा सब्बदुक्खाणं अंतं करेसु
वा, करेति वा, करिस्सति वा, सब्बे ते
उप्पण्णणाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली
भविस्सा तओ पच्छ सिज्झति, बुज्झति,
मुच्चति, परिनिव्वायति, सब्बदुक्खाणं अंतं
करेसु वा, करेति वा, करिस्सति वा ॥

२०६. से नूणं भंते ! उप्पण्णणाणदंसणधरे
अरहा जिणे केवली, अलमत्थु ति वत्तव्वं
सिया ?

हंता गोयमा ! उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा
जिणे केवली, अलमत्थु ति वत्तव्वं सिया ॥

मुज्जन्ति ? परिनिव्वान्ति ? सर्वदुःखानाम्
अन्तम् अकार्षुः वा ? कुर्वन्ति वा ? करि-
ष्यन्ति वा ?

हन्त गौतम ! अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं,
प्रत्युत्पन्नं वा शाश्वतं समयं, अनागतम् अनन्तं
वा शाश्वतं समयं ये केचिद् अन्तकराः वा
अन्तिमशरीरिकाः वा सर्वदुःखानाम् अन्तम्
अकार्षुः वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा, सर्वे
ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः अर्हाः जिनाः केव-
लिनः भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यन्ति, 'बुज्झति',
मुज्जन्ति, परिनिव्वान्ति, सर्वदुःखानाम् अन्तम्
अकार्षुः वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा ।

अथ नूनं ! भदन्त ! उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः
अर्हाः जिनाः केवलिनः, अलमस्तु इति वक्तव्यं
स्यात् ?

हन्त गौतम ! उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः अर्हाः
जिनाः केवलिनः, अलमस्तु इति वक्तव्यं
स्यात् ।

परिनिवृत्त होते हैं ? उन्होंने सब दुःखों का अन्त
किया था, करते हैं अथवा करेंगे ?

हां, गौतम ! इस अनन्त अतीत शाश्वत काल में,
वर्तमान शाश्वत काल में और अनन्त अनागत
शाश्वत काल में जो भी अन्तकर अथवा अन्तिम-
शरीरी हैं, जिन्होंने सब दुःखों का अन्त किया
था, करते हैं अथवा करेंगे, वे सब उत्पन्नज्ञान-
दर्शन के धारक अर्हत्, जिन और केवली होकर
उसके पश्चात् सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिवृत्त होते
हैं, उन्होंने सब दुःखों का अन्त किया था, करते
हैं अथवा करेंगे ।

२०६. भन्ते ! उत्पन्नज्ञानदर्शन के धारक अर्हत्,
जिन और केवली को 'अलमस्तु' ऐसा कहा जा
सकता है ?

हां, गौतम ! उत्पन्नज्ञानदर्शन के धारक अर्हत्,
जिन और केवली को 'अलमस्तु' ऐसा कहा जा
सकता है ।

भाष्य

१. सूत्र २००-२०६

प्रस्तुत आलापक में मुक्त होने की अर्हता पर विचार किया गया है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—छद्मस्थ और केवली। जिसके ज्ञान का आवरण विद्यमान रहता है, वह छद्मस्थ है और जिसके ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है, वह केवली है। छद्मस्थ मुक्त नहीं हो सकता, केवली ही मुक्त हो सकता है—यह भगवान् महावीर का सिद्धान्त है।

सांख्य दर्शन^१ और बौद्ध दर्शन^२ में मुक्त होने के लिए ज्ञान की अर्हता का नियम नहीं है। जिसके क्लेश या आस्रव क्षीण हो जाते हैं, वह केवली हुए बिना भी मुक्त हो सकता है। इस दार्शनिक अवधारणा के सन्दर्भ में गौतम ने प्रश्न पूछा और महावीर ने उसका उत्तर दिया। भगवान् महावीर के अनुसार आस्रव या क्लेश के क्षीण हो जाने पर

व्यक्ति वीतराग हो सकता है, मुक्त नहीं हो सकता। संयम, संवर, 'ब्रह्मचर्यवास और प्रवचन-भाता की आराधना—ये मुक्त होने के परम्पर कारण हैं, किन्तु कोई भी जीव केवली हुए बिना मुक्त नहीं हो सकता। सामान्य ज्ञानी की बात ही क्या, परम अविधिज्ञान वाला व्यक्ति भी मुक्त नहीं हो सकता।

शब्द-विमर्श

केवल—वृत्तिकार ने यहां 'केवल' शब्द के चार अर्थों की सम्भावना की है—असहाय, शुद्ध, परिपूर्ण, असाधारण।^३ विशेषावश्यक भाष्य में इसका पांचवां अर्थ मिलता है—अनन्त।^४

१. (क) पा.यो.द.४।३२—विज्ञानभिक्षुविरचित योगवार्तिकम्—इदमत्रावधे-
यम्—यदेताभ्यां सूत्राभ्यां ज्ञानस्यानन्त्यात् सार्वज्ञ्याख्यान् मोक्ष उच्यते इदं
मुख्यकल्पाभिप्रायेणोक्तम्, वैराग्यादेव सुखेन मोक्षसिद्धेः, न तु सार्वज्ञ्यादिकं
विना मोक्षो न भवतीत्याशयेन, यतः सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति
सूत्रे भाष्यकृता—ईश्वरस्यानीश्वरस्य प्राप्तविवेकज्ञानस्यैतरस्य वेत्यनेनासर्वज्ञ-
स्याप्यभिमाननिवृत्तिमात्रादेव मोक्ष उक्त इति। संसारबीजं ह्यनात्मन्यन्त-
रूपाऽविद्या, रागद्वेषधर्माधर्मतद्विपाकादिहेतुत्वात्, सा वेद्विवेकख्यात्या नाशिता
तर्हि तत एव संसारोच्छेदे सार्वज्ञ्याद्यपेक्षा नास्तीति।

(ख) सूत्र.चू.प.२६—तच्चण्णियाणं उवासागा वि सिज्झति, आरोप्पणा वि
अणागमणधम्मिणो य देवा ततो चेव गिच्चंति। सांख्यानामपि गृहस्थाः अप-
वर्गमाप्नुवन्ति।

२. अभिधर्मकोश, प्रथम कोशस्थान १ का वसुवन्धुकृत स्वोपज्ञभाष्य, पृ.१—
अज्ञानं हि भूतार्थदर्शनप्रतिबन्धादन्धकारम्। तच्च भगवतो बुद्धस्य प्रतिपक्ष-
लाभेनात्यन्तं सर्वथा सर्वत्र ज्ञेये पुनरनुत्पत्तिधर्मत्वाद्धतम्। अतोऽसौ सर्वथा
सर्वहत्तान्धकारः। प्रत्येकबुद्धश्रावका अपि कामं सर्वत्र हत्तान्धकाराः। क्लिष्ट-
सम्प्रोहात्यन्तविगमात्। न तु सर्वथा। तथा हेषां बुद्धधर्मेष्वतिविप्रकृष्ट-
देशकालेषु अर्थेषु चानन्तप्रभेदेषु च भवत्येवक्लिष्टमज्ञानम्।

३. म.वृ.१।२००—'केवलेणं' ति असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वाऽसाधारणेन
वा।

४. वि.भा.ज्ञानपंचकम्, गा.८४(भा.१, पृ.२२)—केवलमेवं सुद्धं सगलमसाधारणं
अणंतं च।

संयम—इन्द्रियमनोनिग्रह अथवा सतरह प्रकार का संयम।^१

संवर—इन्द्रिय और कषाय का निरोध।^२

ब्रह्मचर्यवास—इसका एक अर्थ है गुरुकुलवास अथवा प्रव्रजित जीवन में रहना।^३ ठाणं में मुनि-प्रव्रज्या के पश्चात् ब्रह्मचर्यवास का उल्लेख मिलता है। इससे इसका अर्थ मुनि-जीवन की साधना फलित होता है।^४ दस प्रकार के यतिधर्म में भी ब्रह्मचर्यवास का उल्लेख है। इसका अर्थ 'कामभोगविरति, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा दृश्यों का वर्जन और गुरु की आज्ञा का पालन' किया गया है।^५

प्रवचनमाता—पांच समितियां और तीन गुप्तियां, इन्हें प्रवचनमाता कहा जाता है।^६

अन्तकर—जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने वाला।^७

अंतिमशरीरी—जिस शरीर से जीव मुक्त होता है अथवा जिसके पश्चात् अन्य शरीर का निर्माण नहीं होता, उस शरीर को 'अंतिम शरीर' और उस शरीरधारी को 'अन्तिमशरीरी' कहा जाता है।^८

उत्पन्नज्ञानदर्शनधर—'उत्पन्न' का अर्थ 'आत्मसमुत्पन्न' है।^९ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सम्बन्ध सीधा आत्मा से नहीं होता, वे इन्द्रिय और

मन के माध्यम से होते हैं; इसलिए उन्हें परोक्ष ज्ञान, सहायसापेक्ष ज्ञान, अविशदज्ञान और व्यवहित ज्ञान कहा जाता है। अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। ये सहायनिरपेक्ष होते हैं; इसलिए इन्हें विशद, अव्यवहित और आत्मसमुत्पन्न कहा जाता है। ठाणं में अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी इन तीनों को जिन, केवली और अर्हत् बतलाया गया है।^{१०} ये तीनों ही उत्पन्नज्ञानदर्शनधर होते हैं, किन्तु यहां 'केवली' 'छद्मस्थ' का प्रतिपक्ष है तथा अवधिज्ञानी का छद्मस्थ की भांति वर्णन भी किया गया है; इसलिए केवलज्ञानी ही विवक्षित है।

आधोवधिक—दैशिक अवधिज्ञानी, परिमित क्षेत्र-विषयक अवधिज्ञान-सम्पन्न।^{११}

परमाधोवधिक—उत्कृष्ट अवधिज्ञानी, सर्व रूपी द्रव्यों को जानने वाला अवधिज्ञानी।^{१२}

अलमस्तु—जो ज्ञान की परमकोटि तक पहुंच चुका है, जिसके लिए कोई ज्ञान पाना शेष न हो, उसे अलमस्तु कहा जाता है। प्रस्तुत आलापक भ.५।११५ तथा ७।१५६,१५७ में भी उपलब्ध है।

२१०. सेवं भंते ! सेवं भंते !

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त !

२१०. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. सम.१७।२।

२. ठाणं, ५।१३७; ६।१५; ८।११; १०।११०।

३. (क) सूय.१।१४।१—

गंधं विहाय इह सिक्खमाणो उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा।

(ख) सूय.२।१।५४—

एतेसिं चैव णिस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो।

४. ठाणं, २।४३, ४४।

५. द्रष्टव्य, ठाणं, १०।११६ का टिप्पण; त.रा.वा.६।६, पृ.६००।

६. उत्तर.अ.२४।

७. भ.वृ.१।२०१—'अन्तकरे'ति भवान्तकारिणः।

८. वही, १।२०१—'अंतिमशरीरिया व'त्ति अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिम-शरीरिकाः चरमदेहा इत्यर्थः।

९. आव.चू.पृ.२२१—पद्यक्खनाणाणि आवसमुत्थाणि पसत्येहिं अज्जवसाणेहिं लेस्साहिं विसुज्जमाणाहिं उप्पज्जन्ति।

१०. ठाणं, ३।५१२-५१४।

११. भ.वृ.१।२०४—तत्राधः—परमाधोवधस्ताद् योऽवधिः सोऽधोऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसौ आधोऽवधिकः परिमितक्षेत्रविषयावधिकः।

१२. वही, १।२०४—परम आधोऽवधिकाद् यः स परमाधोऽवधिकः, प्राकृत-त्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः। 'परमोहिओ'ति क्वचित्पाठो व्यक्तश्च। स च समस्त-रूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रा लोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः।

पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

पुढवि-पदं

पृथिवी-पदम्

पृथ्वी-पद

२११. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ?

२११. भन्ते ! पृथिव्यां^१ कितनी प्रज्ञप्त हैं ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा, सक्करप्पभा, बालुयप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा, तमतमा ॥

गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्क-प्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमाः ।

गौतम ! पृथिव्यां सात प्रज्ञप्त हैं, जैसे—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमाः ।

भाष्य

१. पृथिव्यां

क्षेत्र की दृष्टि से लोक तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक । अधोलोक में सात पृथिव्यां बतलाई गई हैं ।

२१२. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ।

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां कति निरयावासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! त्रिंशन् निरयावासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

२१२. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के कितने लाख नरकावास प्रज्ञप्त हैं ? गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावास प्रज्ञप्त हैं ।

संग्रहणी गाहा

संग्रहणी गाथा

संग्रहणी गाथा

तीसा य पन्नवीसा,
पन्नरस दसेव या सयसहस्सा ।
त्तिन्नेगं पंचूणं,
पंचेव अणुत्तरा निरया ॥१॥

त्रिंशच् च पञ्चविंशतिः,
पञ्चदश दश एव च शतसहस्राणि ।
त्रीण्येकं पञ्चोणं,
पञ्चैव अनुत्तराः निरयाः ॥

सातों पृथिवियों के नरकावास क्रमशः इस प्रकार हैं—१. तीस लाख २. पच्चीस लाख ३. पंद्रह लाख ४. दस लाख ५. तीन लाख ६. निनानवें हजार नौ सौ पचानवे ७. पांच अनुत्तर नरका-वास ।

आवास-पदं

आवास-पदम्

आवास-पद

२१३. केवइया णं भंते ! असुरकुमारा-वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! चोयट्ठी असुरकुमारावाससय-सहस्सा पण्णत्ता ।

कियन्ति भदन्त ! असुरकुमारावास शत-सहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! चतुःषष्टिः असुरकुमारावास शत-सहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

२१३. भन्ते ! असुरकुमारों के कितने लाख आवास प्रज्ञप्त हैं ? गौतम ! असुरकुमारों के चौसठ लाख आवास प्रज्ञप्त हैं ।

संग्रहणी गाहा

संग्रहणी गाथा

संग्रहणी गाथा

एवं—
चोयट्ठी असुराणं,
चउरासीई य होइ नागाणं ।
बावत्तरिं सुवण्णाणं,
वाउकुमाराणं छत्रउई ॥१॥

एवं—
चतुःषष्टिः असुराणां,
चतुरशीतिः च भवति नागानाम् ।
द्विसप्ततिः सुवर्णाणां,
वायुकुमाराणां धण्णवतिः ॥

इस प्रकार—
असुरकुमारों के चौसठ लाख, नागकुमारों के चौरासी लाख, सुवर्णकुमारों के बहत्तर लाख, वायुकुमारों के छियानवें लाख ।

दीव-दिशा-उदहीण
विद्युत्कुमारिंद-थणियमग्गीणं ।
छण्हं पि जुयलयाणं,
छावत्तरिमो सयसहस्सा ॥ २ ॥

२१४. केवइया णं भंते ! पुढविकाइया-
वाससयसहस्सा पण्णत्ता ?
गोयमा ! असंखेजा पुढविकाइयावाससय-
सहस्सा पण्णत्ता जाव असंखिजा जोइसिय-
विमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥

२१५. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे कति विमा-
णावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?
गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा
पण्णत्ता ॥

संगहणी गाहा

एव—
बत्तीसट्ठावीसा,
वारस-अट्ट-चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना-चत्तालीसा,
छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥

आणय-पाणयकप्पे,
चत्तारि सयारणच्चुए तिण्णि ।
सत्त विमाणसयाइं,
चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥ २ ॥

एकारसुत्तरं हेट्ठिमए,
सत्तुत्तरं सयं च मज्झमए ।
सयमेगं उवरिमए,
पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥ ३ ॥

नेरइयाणं नाणादसासु कोहोवउत्तादि-
-भंग-पदं

पुढवी ट्ठित्ति-ओगाहण-
सरीर-संघयणमेव संठाणे ।
लेस्सा दिद्वी णाणे,
जोगुवओगे य दस ठाणा ॥ ४ ॥

द्वीप-दिशा-उदधीनाम्,
विद्युत्कुमारिन्द्र-स्तनिताग्गीनाम् ।
षण्णामपि युगलकानाम्,
षट्सप्ततिः शतसहस्राणि ॥

कियन्ति भदन्त ! पृथिवीकायिकावासशत-
सहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?
गौतम ! असंख्येयानि पृथिवीकायिकावास-
शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि यावद् असंख्येयानि
ज्यौतिषिकविमानावासशतसहस्राणि प्रज्ञ-
प्तानि ।

सौधर्मे भदन्त ! कल्पे कति विमाना-
वासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?
गौतम ! द्वात्रिंशद् विमानावासशतसहस्राणि
प्रज्ञप्तानि ।

संग्रहणी गाथा

एवम्—
द्वात्रिंशदष्टविंशतिः,
द्वादश-अष्ट-चतुः शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत् चत्वारिंशत्,
षट् च सहस्राणि सहस्रारे ॥

आनत-प्राणत कल्पे,
चत्वारि शतानि आरणाच्च्युते त्रीणि ।
सप्त विमानशतानि,
चतुर्ध्वपि एतेषु कल्पेषु ॥

एकादशोत्तरं अधस्तने
सप्तोत्तरं शतं च मध्यमेके ।
शतमेकं उपरितने,
पञ्चैव अनुत्तरविमानानि ॥

नैरयिकाणां नानादशासु क्रोधोपयुक्तादि-
-भंग-पदम्

पृथिवीषु स्थिति-अवगाहना-
शरीर-संहननमेव संस्थानम् ।
लेश्या दृष्टिः ज्ञानम्,
योगोपयोगी च दश स्थानानि ॥

द्वीपकुमार, दिशाकुमार, उदधिकुमार, विद्युत्-
कुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार—इन छहों
युगलों के छिहत्तर लाख आवास हैं ।

२१४. भन्ते ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने लाख
आवास प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्येय लाख
आवास प्रज्ञप्त हैं यावत् ज्योतिष्क देवों के
असंख्येय लाख विमानावास प्रज्ञप्त हैं ।

२१५. भन्ते ! सौधर्म कल्प में कितने लाख विमाना-
वास प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! उसमें बत्तीस लाख विमानावास प्रज्ञप्त
हैं ।

संग्रहणी गाथा

इस प्रकार—
सौधर्म में बत्तीस लाख, ईशान में अट्ठाईस लाख,
सनत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख,
ब्रह्म में चार लाख, लान्तक में पचास हजार, शुक्र
में चालीस हजार, सहस्रार में छह हजार विमान
हैं ।

आनत और प्राणत कल्प में चार सौ तथा आरण
और अच्युत कल्प में तीन सौ विमान हैं । इन
चार कल्पों में सात सौ विमान हैं ।

अधस्तन त्रैवेयक-त्रिक में एक सौ ग्यारह विमान
हैं, मध्यम त्रैवेयक-त्रिक में एक सौ सात विमान
हैं और ऊपर के त्रैवेयक-त्रिक में सौ विमान हैं ।
अनुत्तर विमान पांच ही हैं ।

नैरयिकों का नानादशाओं में क्रोधोपयुक्त-
-आदि-भंग-पद

रत्नप्रभा आदि पृथिवियों में स्थिति-स्थान, अव-
गाहन, शरीर, संहनन, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान,
योग और उपयोग—ये दश स्थान इस उद्देशक
में वर्णित हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २१२-२१५

प्रस्तुत आलापक में आवासों की संख्या का निरूपण है। आवास एक प्रकार की वसति या नगर है। इन आवासों के पीछे कुछ विशेषण भी लगते हैं। व्यन्तर देवों के आवास 'नगरावास' भवनपति देवों के आवास 'भवनावास', ज्योतिष्क और धैमानिक देवों के आवास 'विमानावास' कहलाते हैं। तिलोयपण्णती में नरक के आवासों को 'बिल' कहा गया है।^१ वृत्तिकार ने रहने योग्य स्थान

को आवास बतलाया है।^२

२. युगलों

भवनपति देवों के आवास उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में विभक्त हैं। 'युगल' शब्द उन दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।^३ सभी भवनपति देवों के आवासों की संयुक्त और पृथक्-पृथक् संख्या इस प्रकार है—

भवनपतिदेव	संयुक्त	दक्षिण	उत्तर
१. असुरकुमार	६४ लाख	३४ लाख	३० लाख
२. नागकुमार	८४ लाख	४४ लाख	४० लाख
३. सुपर्णकुमार	७२ लाख	३८ लाख	३४ लाख
४. वायुकुमार	६६ लाख	५० लाख	४६ लाख
५. द्वीपकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख
६. दिशाकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख
७. उदधिकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख
८. विद्युकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख
९. स्तनितकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख
१०. अग्रिकुमार	७६ लाख	४० लाख	३६ लाख

३. पृथ्वियों में

यहां 'पुढवी' शब्द विभक्ति-रहित है। यह सप्तमी विभक्ति के बहुवचन के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका तात्पर्यार्थ है—पृथ्वी आदि जीवावासों में।^४

२१६. इमीसे णं भंते ! रयण्यभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगभेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठितिद्वाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिद्वाणा पण्णत्ता, तं जहा—जहण्णिया ठिती, समयाहिया जहण्णिया ठिती, दुसमयाहिया जहण्णिया ठिती जाव असंखेज्जसमयाहिया जहण्णिया ठिती । तप्पाज्जगुक्कोसिया ठिती ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत्सु निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! असंख्येयानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—जघन्यिका स्थितिः, समयाधिका जघन्यिका स्थितिः, द्विसमयाधिका जघन्यिका स्थितिः यावत् असंख्येयसमयाधिका जघन्यिका स्थितिः । तत्प्रयोग्योत्कर्षिका स्थितिः ।

२१६. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में रहने वाले नैरयिकों के कितने स्थिति-स्थान^१ (आयु-विभाग) प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! उनके स्थिति-स्थान असंख्येय प्रज्ञप्त हैं, जैसे—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति यावत् असंख्येय समय अधिक जघन्य स्थिति । विवक्षित नरकावास के प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति ।

भाष्य

१. स्थिति-स्थान

स्थिति-स्थान का अर्थ है—आयुष्य का विभाग। प्रत्येक नरकावास में असंख्येय स्थिति-स्थान बतलाए गए हैं। प्रथम पृथ्वी

की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है। 'दस हजार वर्ष की स्थिति'—यह प्रथम स्थिति-स्थान है।

१. ति.प.२।२८,३६।

२. भ.वृ.१।२१२—आवसन्ति येषु ते आवासाः—नरकाश्च ते आवासाश्चेति नरकावासाः ।

३. बही, २१।२१३—दक्षिणोत्तर-दिग्भेदेनासुरादिनिकायो द्विभेदो भवतीति

युगलान्युक्तानि ।

४. वही, १।२१५—तत्र पुढवीति लुप्तविभक्तिकत्वान् निर्देशस्य पृथिवीषु, उपलक्षणत्वाद्वास्य पृथिव्यादिषु जीवावासेष्विति द्रष्टव्यमिति ।

‘एक सागरोपम की स्थिति’—यह अन्तिम स्थिति-स्थान है। एक-एक समय की वृद्धि करने पर मध्यवर्ती स्थिति-स्थान असंख्येय बन जाते

हैं। प्रथम पृथ्वी के नरकावासों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अनेक प्रकार की है।

२१७. इमीसे णं भंते ! रयणप्यभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहण्णियाए ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं—कोहोवउत्ता ? माणोवउत्ता ? मायोवउत्ता ? लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! सब्बे वि ताव होजा १.कोहो-वउत्ता। २.अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य। ३.अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य। ४.अहवा कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ते य। ५.अहवा कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ता य। ६.अहवा कोहोवउत्ता य, लोभोवउत्ते य। ७.अहवा कोहोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य। ८.अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य। ९.कोहो-वउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ता य। १०.कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायो-वउत्ते य। ११.कोहोवउत्ता य, माणोव-उत्ता य, मायोवउत्ता य। १२.कोहो-वउत्ता य, माणोवउत्ते य, लोभोवउत्ते य। १३.कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, लोभो-वउत्ता य। १४.कोहोवउत्ता य, माणो-वउत्ता य, लोभोवउत्ते य। १५.कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य। १६.कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ते य, लोभो-वउत्ते य। १७.कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ते य, लोभोवउत्ता य। १८.कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ते य। १९.को-होवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य। २०.कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य, लोभोवउत्ते य। २१.कोहो-वउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायावउत्ते य, लोभोवउत्ता य। २२.कोहोवउत्ता य,

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिशत्यु निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे जघन्यिकायां स्थिती वर्तमानाः नैरयिकाः किं—क्रोधोपयुक्ताः ? मानोपयुक्ताः ? मायो-पयुक्ताः ? लोभोपयुक्ताः ?

गौतम ! सर्वेपि तावत् भवेयुः—१.क्रोधो-पयुक्ताः। २.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मानो-पयुक्ताश्च ३.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मानो-पयुक्ताश्च। ४.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च। ५.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च। ६.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च लोभोपयुक्ताश्च। ७.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च लोभोपयुक्ताश्च। ८.अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। ९.क्रोधो-पयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। १०.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायो-पयुक्ताश्च। ११.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयु-क्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। १२.क्रोधोपयुक्ता-श्च, मानोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। १३.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, लोभो-पयुक्ताश्च। १४.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयु-क्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। १५.क्रोधोपयु-क्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। १६.क्रोधोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभो-पयुक्ताश्च। १७.क्रोधोपयुक्ताश्च, मायोप-युक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। १८.क्रोधोप-युक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च १९.क्रोधोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च, लोभो-पयुक्ताश्च। २०.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोप-युक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। २१.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोप-युक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। २२.क्रोधोपयु-

२१७. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में प्रत्येक नरकावास में जघन्य स्थिति में वर्तमान नैरयिक जीव क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? मानोपयुक्त होते हैं ? मायोपयुक्त होते हैं ? लोभोपयुक्त होते हैं ?

गौतम ! वे सब नैरयिक होते हैं १.क्रोधोपयुक्त। २.अथवा क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त। ३.अथवा क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त। ४.अथवा क्रोधोपयुक्त, एक मायोपयुक्त। ५.अथवा क्रोधो-पयुक्त, मायोपयुक्त। ६.अथवा क्रोधोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। ७.अथवा क्रोधोपयुक्त, लोभो-पयुक्त। ८.अथवा क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, एक मायोपयुक्त। ९.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, मायोपयुक्त। १०.क्रोधोपयुक्त, मानो-पयुक्त, एक मायोपयुक्त। ११.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त। १२.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। १३.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, लोभोपयुक्त। १४.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। १५.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, लोभोपयुक्त। १६.क्रोधोपयुक्त, एक मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। १७.क्रोधोपयुक्त, एक मायोपयुक्त, लोभोपयुक्त। १८.क्रोधोपयुक्त, मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। १९.क्रोधोपयुक्त, मायोपयुक्त, लोभोपयुक्त। २०.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, एक मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। २१.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, एक मायो-पयुक्त, लोभोपयुक्त। २२.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। २३.क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, मायोपयुक्त, लोभोपयुक्त। २४.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, एक मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। २५.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, एक मायोपयुक्त, लोभोपयुक्त।

१. भ.वृ. १। २१६—‘ठितिद्वाण’ति आयुषो विभागाः ‘असंख्ये’ति संख्य-तीतानि, कथं ? प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा तु सागरोपमम्, एतस्यां चैकैकसमयवृद्ध्याऽसंख्येयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, असंख्येयत्वात्सागरोपमसमयानामिति। एवं नरकावासापेक्षयाऽप्यसंख्येयान्येव तानि केवलं तेषु जघन्योत्कृष्टविभापो ग्रन्थान्तरादवसेयो, यथा प्रथमप्रस्तट-नरकेषु जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा तु नवतिरिति, एतदेव

दर्शयन्नाह—‘जहण्णिया ठिती’ त्वादि, जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्रादिका इत्ये-कं स्थितिस्थानं, तच्च प्रतिनरकं भिन्नरूपं, सैव समयधिकेति द्वितीयम्, इदमपि विचित्रम्, एवं यावदसङ्ख्येयसमयादिका सा, सर्वान्तिमस्थितिस्थानदर्शना-याह—‘तप्पाउग्गुक्कोसिय’ ति, उत्कृष्टा असावनेकविधेति विशेष्यते तस्य विवक्षितनरकावासस्य प्रायोग्या—उचिता उत्कर्षिका तत्प्रायोग्योत्कर्षिका इत्यपरं स्थितिस्थानम्, इदमपि चित्रं, विचित्रत्वादुत्कर्षस्थितिरिति।

माणोवउत्ते य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ते य। २३.क्रोधोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य। २४.क्रोधोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ते य, लोभोवउत्ते य। २५.क्रोधोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ते य, लोभोवउत्ता य। २६.क्रोधोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ते य। २७.क्रोधोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य ॥

क्ताश्च, मानोपयुक्तश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्तश्च। २३.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्तश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। २४.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्तश्च, लोभोपयुक्तश्च। २५.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्तश्च, लोभोपयुक्ताश्च। २६.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्तश्च। २७.क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च।

२६.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त, एक लोभोपयुक्त। २७.क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त, लोभोपयुक्त।

भाष्य

१. सूत्र २१७

नैरयिक जीवों में क्रोध-संज्ञा की प्रबलता होती है, इसलिए उनमें क्रोधोपयुक्त अधिक संख्या में मिलते हैं। उनकी आयुस्थिति और क्रोध, मान, माया, लोभ की संज्ञा के आधार पर उनके अनेक वर्गीकरण बन जाते हैं। प्रस्तुत आलापक में उनका दिग्दर्शन कराया गया है।

जघन्य स्थिति वाले नैरयिक सदा उपलब्ध होते हैं। उनकी संख्या अधिक होती है। उनमें क्रोधोपयुक्त जीवों की बहुलता होती है। इसलिए उनके सत्ताईस विकल्प बनते हैं। एक, दो, तीन, यावत् संख्येय समय अधिक जघन्य स्थिति वाले नैरयिक कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते। इसलिए उनके विकल्प अधिक बन जाते हैं—अस्ती बन जाते हैं। असंख्येय समय अधिक जघन्य स्थिति वाले तथा विवक्षित नरकावास के प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति वाले के सत्ताईस भंग होते हैं।

वृत्तिकार ने एक गाथा उद्धृत कर भंग-विषयक दो नियमों का निर्देश किया है—जहां एक समय से लेकर संख्यात समय पर्यन्त

विरह की संभावना हो, वहां अस्ती भंग और जहां विरह न हो, वहां सत्ताईस भंग होंगे अथवा अभंग होगा। यह विरह और अविरह का निरूपण सत्ता की अपेक्षा से किया गया है, उत्पत्ति की अपेक्षा से नहीं। रत्नप्रभा के नैरयिकों में उत्पत्ति का विरह-काल चौबीस मुहूर्त है। यदि इसे आधार माना जाए तो जहां सत्ताईस भंगों का निर्देश है, वहां विरह होने के कारण अस्ती भंग बन जाएंगे। अतः भंग-व्यवस्था का निरूपण सत्ता की अपेक्षा से किया गया है।

क्रोध, मान, माया और लोभ—इनके सत्ताईस और अस्ती भंग बनते हैं। इनके अंतर का मुख्य कारण है—क्रोध का बहुवचन और एकवचन। विकल्पों में मान, माया और लोभ—ये एकवचन और बहुवचन दोनों में ही ग्रहण किए जाते हैं। जहां इन तीनों के साथ 'क्रोधोपयुक्त' बहुवचन में होता है, वहां सत्ताईस भंग बनते हैं। जहां क्रोध का एकवचन और बहुवचन दोनों ग्रहण किए जाते हैं, वहां अस्ती भंग बनते हैं। एकवचन को '१' की संख्या से और बहुवचन को '३' की संख्या से दिखाया गया है—देखें भंग-सूचक यन्त्र—

२७ भंग

इक जोगिया १					
		क्रोध	मान	माया	लोभ
१	१	सर्व क्रोध	०	०	०

द्विक संजोगिया ६					
		क्रोध	मान	माया	लोभ
२	१	३	१	०	०

१. भ.वृ.१।२१७—

संभवइ जहिं विरहो असीई भंगा तहिं करेजाहि।

जहिंयं न होइ विरहो, अभंग्यं सत्तवीसा वा ॥ १ ॥

अयं च तत्सत्तापेक्षो विरहो द्रष्टव्यो न तुत्पादापेक्षया, यतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता उत्पादविरहकाल उक्तः, ततश्च यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गका उच्यन्ते तत्रापि विरहभावादशीतिः प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एवेति।

		क्रोध	मान	माया	लोभ
३	२	३	३	०	०
४	३	३	०	१	०
५	४	३	०	३	०
६	५	३	०	०	१
७	६	३	०	०	३
त्रिक संजोगिया १२					
८	१	३	१	१	०
९	२	३	१	३	०
१०	३	३	३	१	०
११	४	३	३	३	०
१२	५	३	१	०	१
१३	६	३	१	०	३
१४	७	३	३	०	१
१५	८	३	३	०	३

		क्रोध	मान	माया	लोभ
१६	९	३	०	१	१
१७	१०	३	०	१	३
१८	११	३	०	३	१
१९	१२	३	०	३	३
चतुर्क संजोगिया ८					
२०	१	३	१	१	१
२१	२	३	१	१	३
२२	३	३	१	३	१
२३	४	३	१	३	३
२४	५	३	३	१	१
२५	६	३	३	१	३
२६	७	३	३	३	१
२७	८	३	३	३	३

८० भंग

इक संजोगिया ८					
१	१	१	०	०	०
२	२	०	१	०	०
३	३	०	०	१	०
४	४	०	०	०	१
५	५	३	०	०	०
६	६	०	३	०	०
७	७	०	०	३	०
८	८	०	०	०	३
द्विक संजोगिया २४					
९	१	१	१	०	०
१०	२	१	३	०	०
११	३	३	१	०	०
१२	४	३	३	०	०
१३	५	१	०	१	०
१४	६	१	०	३	०
१५	७	३	०	१	०
१६	८	३	०	३	०
१७	९	१	०	०	१
१८	१०	१	०	०	३
१९	११	३	०	०	१
२०	१२	३	०	०	३

२१	१३	०	१	१	०
२२	१४	०	१	३	०
२३	१५	०	३	१	०
२४	१६	०	३	३	०
२५	१७	०	१	०	१
२६	१८	०	१	०	३
२७	१९	०	३	०	१
२८	२०	०	३	०	३
२९	२१	०	०	१	१
३०	२२	०	०	१	३
३१	२३	०	०	३	१
३२	२४	०	०	३	३
त्रिक संजोगिया ३२					
३३	१	१	१	१	०
३४	२	१	१	३	०
३५	३	१	३	१	०
३६	४	१	३	३	०
३७	५	३	१	१	०
३८	६	३	१	३	०
३९	७	३	३	१	०
४०	८	३	३	३	०
४१	९	१	१	०	१
४२	१०	१	१	०	३

	क्रोध	मान	माया	लोभ
४३	११	१	३	०
४४	१२	१	३	०
४५	१३	३	१	०
४६	१४	३	१	०
४७	१५	३	३	०
४८	१६	३	३	०
४९	१७	१	०	१
५०	१८	१	०	१
५१	१९	१	०	३
५२	२०	१	०	३
५३	२१	३	०	१
५४	२२	३	०	१
५५	२३	३	०	३
५६	२४	३	०	३
५७	२५	०	१	१
५८	२६	०	१	३
५९	२७	०	१	३
६०	२८	०	१	३
६१	२९	०	३	१
६२	३०	०	३	३

	क्रोध	मान	माया	लोभ
६३	३१	०	३	३
६४	३२	०	३	३
चउक संजोगिया १६				
६५	१	१	१	१
६६	२	१	१	३
६७	३	१	३	१
६८	४	१	३	३
६९	५	१	३	१
७०	६	१	३	३
७१	७	१	३	१
७२	८	१	३	३
७३	९	३	१	१
७४	१०	३	१	३
७५	११	३	१	१
७६	१२	३	१	३
७७	१३	३	१	१
७८	१४	३	३	३
७९	१५	३	३	१
८०	१६	३	३	३

२१८. इमीसे णं भंते ! रयण्णभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेणंसि निरयावासंसि समयाहियाए जहण्णद्धितीए चट्टमाणा नेरइया कि—कोहोवउत्ता ? माणोवउत्ता ? मायोवउत्ता ? लोभोवउत्ता ?

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत् निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे समयाधिकायां जघन्यस्थित्यां वर्तमानाः नैरयिकाः किं—क्रोधोपयुक्ताः ? मानोपयुक्ताः मायोपयुक्ताः ? लोभोपयुक्ताः ?

२१८. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में 'एक समय अधिक जघन्य स्थिति' में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? मानोपयुक्त होते हैं ? मायोपयुक्त होते हैं ? लोभोपयुक्त होते हैं ?

गोयमा ! कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य, लोभोवउत्ते य। कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ता य। एवं असीतिभंगा नेयव्वा। एवं जाव संखेजसमयाहियाए ठितीए। असंखेजसमयाहियाए ठितीए तप्पाउग्गु-कोसियाए ठितीए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा ॥

गौतम ! क्रोधोपयुक्तश्च, मानोपयुक्तश्च, मायोपयुक्तश्च, लोभोपयुक्तश्च। क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्तश्च, मानोपयुक्तश्च। अथवा क्रोधोपयुक्तश्च, मानोपयुक्ताश्च। एवम् अशीतिभङ्गाः नेतव्याः। एवं यावत् संख्येयसमयाधिकायां स्थित्यां असंख्येयसमयाधिकायां स्थित्यां तत्-प्रायोग्योत्कर्षिकायां स्थित्यां सप्तविंशतिः भङ्गाः भणितव्याः।

गौतम ! एक क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त, एक मायोपयुक्त अथवा एक लोभोपयुक्त होता है। क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त अथवा लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा एक क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त। अथवा एक क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त होते हैं। इस प्रकार असी भंग ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार यावत् 'संख्येय समय अधिक जघन्य स्थिति' वाले नैरयिकों के असी भंग होते हैं। 'असंख्येय समय अधिक जघन्य स्थिति' वाले तथा 'विवक्षित नरकावास के प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति' वाले नैरयिकों के सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं।

२१९. इमीसे णं भंते ! रयण्णभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेणंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणाठणा पण्णत्ता ?

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत् निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति अवगाहनास्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

२१९. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में रहने वाले नैरयिक जीवों के कितने अवगाहना-स्थान प्रज्ञप्त हैं ?

गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणाठणा पण्णत्ता, तं जहा—जहणिया ओगाहणा, पदेसाहिया जहणिया ओगाहणा, दुपदेसाहिया जहणिया ओगाहणा जाव असंखेज्जपएसाहिया जहणिया ओगाहणा । तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ॥

गौतम ! असंख्येयानि अवगाहनास्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—जघन्यिका अवगाहना, प्रदेशाधिका जघन्यिका अवगाहना, द्विप्रदेशाधिका जघन्यिका अवगाहना यावद् असंख्येयप्रदेशाधिका जघन्यिका अवगाहना । तत्प्रायोग्योत्कर्षिका अवगाहना ।

गौतम ! उनके असंख्येय अवगाहना-स्थान प्रज्ञप्त हैं, जैसे—जघन्य अवगाहना, एक प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना यावत् असंख्येय प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना । विवक्षित नरकावास के प्रायोग्य उत्कृष्ट अवगाहना ।

२२०. इमीसे णं भंते ! रयण्यभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहणियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? असीइभंगा भाणियन्वा जाव संखेज्जपदेसाहिया जहणिया ओगाहणा ।

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत् निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे जघन्यिकायाम् अवगाहनायां वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? अशीतिभङ्गाः भणितव्याः यावत् संख्येय-प्रदेशाधिका जघन्यिका अवगाहना ।

२२०. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास की जघन्य अवगाहना में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? इनके अस्सी भंग वक्तव्य हैं यावत् संख्येय प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना में वर्तमान नैरयिकों के भी अस्सी भंग वक्तव्य हैं ।

असंखेज्जपदेसाहियाए जहणियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं, तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं सत्तावीसं भंगा ॥

असंख्येयप्रदेशाधिकायां जघन्यिकायाम् अवगाहनायां वर्तमानानां तत्प्रायोग्योत्कर्षिकायाम् अवगाहनायां वर्तमानानां सप्तविंशतिः भङ्गाः ।

असंख्येय प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना में वर्तमान और विवक्षित नरकावास के प्रायोग्य उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तमान नैरयिकों के सत्ताईस भंग होते हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २१६, २२०

प्रस्तुत आलापक में जघन्य अवगाहना वाले नैरयिकों के अस्सी भंग निर्दिष्ट हैं। इस प्रसंग में वृत्तिकार ने एक विरोधाभास की चर्चा और उसका समाधान प्रस्तुत किया है। जघन्य स्थिति और जघन्य अवगाहना वाले नैरयिकों के जघन्य स्थिति के कारण सत्ताईस और जघन्य अवगाहना के कारण अस्सी भंग प्राप्त होते हैं। यह अन्तर्विरोध है। इसके समाधान में वृत्तिकार ने लिखा है कि जघन्य अवगाहना-काल में जघन्य स्थिति वालों के भी अस्सी भंग प्राप्त होते हैं। जघन्य अवगाहना केवल उत्पत्ति-काल में ही होती है; इसलिए

जघन्य अवगाहना वाले नैरयिक कम होते हैं। जो नैरयिक जघन्य अवगाहना का अतिक्रमण कर जाते हैं, उन्हीं जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों के सत्ताईस भंग होते हैं।^१

शब्द-विमर्श

अवगाहना—शरीर अथवा उसका आधारभूत क्षेत्र ।

स्थान—प्रदेश-वृद्धि से होने वाले विभाग।^१

२२१. इमीसे णं भंते ! रयण्यभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं कइ सरीरया पण्णत्ता ?

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत् निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कति शरीरकाणि प्रज्ञप्तानि ?

२२१. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में रहने वाले नैरयिकों के कितने शरीर प्रज्ञप्त हैं ?

गोयमा ! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता, तं जहा—वेउब्बिए, तेयए, कम्मए ॥

गौतम ! त्रीणि शरीरकाणि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—वैक्रियं, तैजसं, कर्मकम् ।

गौतम ! उनके तीन शरीर प्रज्ञप्त हैं, जैसे—वैक्रिय, तैजस और कर्मण ।

१. भ.वृ. १।२२०—ननु ये जघन्यस्थितयो, जघन्यावगाहनाशय भवन्ति तेषां जघन्यस्थितिकत्वेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः प्राप्नुवन्ति जघन्यावगाहनत्वेन चाशी-तिरिति विरोधः ? अत्रोच्यते, जघन्यस्थितिकानामपि जघन्यावगाहनाकाले-ऽशीतिरेव, उत्पत्तिकालभावित्वेन जघन्यावगाहनानामल्पत्वादिति, या च जघन्यस्थितिकानां सप्तविंशतिः सा जघन्यावगाहनत्वमतिक्रान्तानामिति भाव-

नीयम् ।

द्रष्टव्यं भ.जो.१।१६।६८ का वार्तिक ।

२. भ.वृ.१।२१६—अवगाहन्ते—आसते यस्यां साऽवगाहना—तनुस्तदाधार-भूतं वा क्षेत्रम् । तस्याः स्थानानि—प्रदेशवृद्ध्या विभागाः अवगाहना-स्थानानि ।

२२२. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव वेउच्चियसरीरे वट्टमाणा नेरइया किं कोहो-बउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् वैक्रियशरीरे वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? सप्त-विंशतिः भङ्गाः ।

२२२. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् वैक्रिय शरीर में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२२३. एएणं गमेणं तिण्णि सरीरया भाणि-यव्वा ॥

अनेन गमेन त्रीणि शरीरकाणि भणितव्यानि ।

२२३. इसी गमक (सदृश पाठ-पद्धति) के अनुसार तीनों (वैक्रिय, तैजस और कार्मण) शरीर वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २२२, २२३

वृत्तिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है—विग्रह गति में केवल तैजस और कार्मण शरीर होते हैं और वे दोनों अल्पकालिक हैं, इसलिए अस्ती भंग होने चाहिए ! फिर उन दोनों के लिए सत्ताईस

भंगों का निर्देश क्यों ? इसके समाधान में वृत्तिकार ने लिखा है— “यहां केवल तैजस और कार्मण के भंग विवक्षित नहीं हैं। यहां वैक्रिय के सहवर्ती तैजस और कार्मण के सत्ताईस भंग निर्दिष्ट हैं।”

२२४. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइयाणं सरीरया किंसंघयणा पण्णत्ता ?

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाणां शरीरकाणि किंसंहननानि प्रज्ञप्तानि ?

२२४. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् नैरयिकों के शरीर किस संहनन (अस्थि-संरचना) वाले प्रज्ञप्त हैं ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी नेवड्डी, नेव छिरा, नेव ण्णारुणि । जे पोग्गला अण्डिआ अकंता अपिया असुहा अमणुण्णा अमणामा एतेसिं सरीर-संघायत्ताए परिणमंति ॥

गौतम ! षण्णां संहननानाम् असंहननाः नैवास्थीनि, नैव शिराः, नैव स्रायवः । ये पुद्गलाः अनिष्टाः अकान्ताः अप्रियाः अशुभाः अमनोज्ञाः ‘अमणामा’ एतेषां शरीरसंघाततया परिणमन्ति ।

गौतम ! छह संहननों में से उनके कोई संहनन नहीं होता। उनके शरीर में न अस्थियां हैं, न शिराएं हैं और न स्रायु हैं। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोरम होते हैं, वे इनके शरीर-संघात रूप में परिणत होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र २२४

संहनन का अर्थ है—अस्थि-संरचना। यह अर्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सम्मत है^१, किन्तु यह विमर्शनीय है। एकेन्द्रिय जीवों के अस्थि-रचना नहीं होती, फिर भी श्वेताम्बर परम्परा में उनके ‘शेवार्त’^२ तथा दिगम्बर परम्परा में ‘असंप्राप्त सृपाटिका संहनन’ माना गया है।^३ इस आधार पर संहनन की व्याख्या अस्थि-रचना से हटकर करने की अपेक्षा है। एकेन्द्रिय के सन्दर्भ को ध्यान में रखकर इसकी व्याख्या यह की जा सकती है—औदारिक शरीर-वर्णना के पुद्गलों से होने वाली शरीर-संरचना का नाम है संहनन। ठाणं में औदारिक शरीर-रचना के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।

जीव	शरीर
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय	औदारिक अस्थि, मांस, शोणितवद्ध औदा- रिक शरीर।
पंचेन्द्रिय	अस्थि, मांस, शोणित, स्रायु और शिरावद्ध औदारिक शरीर। ^४

संहनन के छह प्रकार हैं—१. वज्ररूपभनाराच २. ऋषभनाराच ३. नाराच ४. अर्धनाराच ५. कीलिका ६. शेवार्त।^५ वैक्रिय शरीर में अस्थि, शिरा और स्रायु नहीं होते, इसलिए उसे संहनन-शून्य कहा गया है। समवाओ में भी इसका संवादी पाठ प्राप्त होता है।^६

१. अ.वृ.१।२२३—ननु विग्रहगती केवलं ये तैजसकार्मणशरीरे स्यातां तयो-रल्पत्वेनाशीतिरपि भङ्गकानां संभवतीति कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति ! अत्रोच्यते—सत्यमेतत्, केवलं वैक्रियशरीरानुगतयोस्तयोरिहाश्रयणं केवलयो-श्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेवेति ।

२. (क) अ.वृ.१।२२४—अस्थिसञ्चयरूपं च संहननमुच्यते ।

(ख) ष.ख.धवला.पु.६.खं.१.भा.६-१,सू.३६,पृ.७३—संहननमस्थि-

संचयः ।

३. सम.प.सू.१६०।

४. द्रष्टव्य,जै.सि.को.भा.४,पृ.१५६।

५. टाणं, २।१५५-१६०।

६. वही, ६।३०।

७. सम.प.सू. १८७-१८६।

२२५. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव छण्हं संघयणारणं असंघयणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् षण्णां संहननानाम् असंहनने वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।

२२५. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् छह संहननों में से असंहनन-अवस्था में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२२६. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइयाणं शरीरया किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा— भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउब्बिया थ। तत्थ णं जेते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ णं जेते उत्तरवेउब्बिया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाणां शरीरकाणि किंसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा— भवधारणीयानि च, उत्तरवैक्रियाणि च । तत्र यानि एतानि भवधारणीयानि तानि हुण्ड-संस्थितानि प्रज्ञप्तानि । तत्र यानि एतानि उत्तरवैक्रियाणि तानि अपि हुण्डसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि ।

२२६. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् नैरयिकों के शरीर किस संस्थान वाले प्रज्ञप्त हैं ? गौतम ! उनके शरीर दो प्रकार वाले प्रज्ञप्त हैं, जैसे—१. भवधारणीय^१ २. उत्तर-वैक्रिय^२ । जो भवधारणीय शरीर हैं, वे हुंड संस्थान^३ वाले प्रज्ञप्त हैं । जो उत्तरवैक्रिय शरीर हैं, वे भी हुंड संस्थान वाले प्रज्ञप्त हैं ।

भाष्य

१. भवधारणीय

जीवन पर्यन्त रहने वाला शरीर ।

२. उत्तरवैक्रिय

पूर्व वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उत्तरकाल में निर्मित वैक्रिय शरीर ।

३. हुण्ड संस्थान

कुत्सित संस्थान ।

२२७. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव हुंड-संठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् हुण्डसंस्थाने वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।

२२७. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् हुण्ड संस्थान में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२२८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइयाणं कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एगा काउलेस्सा पण्णत्ता ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाणां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! एका कापोतलेश्या प्रज्ञप्ता ।

२२८. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् नैरयिकों के कितनी लेश्याएं प्रज्ञप्त हैं ? गौतम ! एक कापोत लेश्या प्रज्ञप्त है ।

२२९. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा नेरइया किं कोहो-वउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् कापोत-लेश्यायां वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोप-युक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।

२२९. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् कापोत लेश्या में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२३०. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइया किं सम्मादिदी ? मिच्छदिदी ? सम्माभिच्छदिदी ? तिण्णि वि ।

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाः किं सम्यग्दृष्टयः ? मिथ्यादृष्टयः ? सम्यग्-मिथ्यादृष्टयः ? त्रयोऽपि ।

२३०. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् नैरयिक क्या सम्यग्दृष्टि होते हैं ? मिथ्यादृष्टि होते हैं ? सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं ? वे तीनों ही होते हैं ।

२३१. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव सम्मदंसणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहो-वउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् सम्यग्दर्शने वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? सप्त-विंशतिः भङ्गाः ।

२३१. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् सम्यग्दर्शन में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२३२. एवं मिच्छदंसणे वि ॥

एवं मिथ्यादर्शनेऽपि ।

२३२. इसी प्रकार मिथ्यादर्शन में वर्तमान नैरयिकों के भी सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

२३३. सम्माभिच्छदंसणे असीति भंगा ॥

सम्यग्मिथ्यादर्शने अशीतिः भङ्गाः ।

२३३.^१ सम्यग्मिथ्यादर्शन में वर्तमान नैरयिकों के अस्सी भंग वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २३३

सम्यग्मिथ्यादृष्टि वाले नैरयिक अल्प होते हैं और उनका कालमान भी अल्प होता है; इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अस्सी भंग बनते हैं।^१

२३४. इमीसे णं भन्ते ! रयणप्पभाए जाव
नेरइया किं नाणी, अण्णाणी ?
गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि । तिण्णि
नाणाइं नियमा । तिण्णि अण्णाणाइं
भयणाए ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाः
किं ज्ञानिनः, अज्ञानिनः ?
गौतम ! ज्ञानिनोऽपि, अज्ञानिनोऽपि । त्रीणि
ज्ञानानि नियमात् । त्रीणि अज्ञानानि भज-
नया ।

२३४. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् नैरयिक
क्या ज्ञानी होते हैं अथवा अज्ञानी ?
गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी
होते हैं। सम्यग् दृष्टि में तीन ज्ञान का नियम है,
मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान की भजना (विकल्-
प) है।^१

भाष्य

१. सम्यग्दृष्टि में तीन ज्ञान का नियम है, मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान की भजना (विकल्प) है।

नरक में उत्पन्न होने के समय जो जीव सम्यक्त्वो होते हैं, उनमें तीन ज्ञान प्रारम्भ से ही होते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ तीन ज्ञान का नियम है, व्याप्ति है, अनिवार्यता है।

नरक में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि जीव कुछ समनस्क होते हैं और कुछ अमनस्क होते हैं। समनस्क मिथ्यादृष्टि में विभंगज्ञान जन्म के पहले समय से ही होता है, इसलिए इसमें तीन अज्ञान का नियम

है। अमनस्क मिथ्यादृष्टि नरक में उत्पन्न होता है। उसके जन्मकाल के प्रथम अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए उसमें तीन अज्ञान का नियम नहीं होता। प्रथम अन्तर्मुहूर्त में उसमें मति और श्रुत ये दो अज्ञान होते हैं। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् तीन अज्ञान हो जाते हैं, इसलिए तीन अज्ञान भाज्य हैं—विकल्प के साथ कभी होते हैं, कभी नहीं भी होते—इस रूप में वक्तव्य है।^१

२३५. इमीसे णं भन्ते ! रयणप्पभाए जाव
आभिनिबोहियनाणे वट्टमाणा नेरइया किं
कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावद् आभि-
निबोधिकज्ञाने वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधो-
पयुक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।

२३५. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् आभि-
निबोधिक ज्ञान में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधो-
पयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं।

२३६. एवं तिण्णि नाणाइं, तिण्णि
अण्णाणाइं भाणियव्वाइं ॥

२३६. एवं त्रीणि ज्ञानानि, त्रीणि अज्ञानानि
भणितव्वानि ।

२३६. ^१इसी प्रकार तीन ज्ञान और तीन अज्ञान में
वर्तमान नैरयिकों के भी सत्ताईस-सत्ताईस भंग
वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र २३६

प्रस्तुत सूत्र में तीन अज्ञानों के लिए सत्ताईस भंग विवक्षित हैं। वृत्तिकार ने एक रहस्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है। विभंग अज्ञान से पूर्ववर्ती मति और श्रुत अज्ञान की विवक्षा हो, तो

उससे अस्सी भंग प्राप्त होते हैं। यह अवस्था अन्तर्मुहूर्तकालिक होती है। इस अवस्था में अवगाहना भी जघन्य होती है। जघन्य अवगाहना के कारण ही उनके अस्सी भंग बनते हैं।^१

१. भ.वृ.१।२३३—मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात्तदुभावस्यापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि लभ्यते इत्यशीतिर्भङ्गाः ।

२. भ.वृ.१।२३४—ये ससम्यक्त्वा नरकेषूपपद्यन्ते तेषां प्रथमसमयादारभ्य भव-
प्रत्ययस्यावधिज्ञानस्य भावात् त्रिज्ञानिन एव ते । ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते सञ्चि-
भ्योऽसञ्चिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये सञ्चिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभङ्गस्य भावात्
त्र्यज्ञानिनः, ये त्वसञ्चिभ्यस्तेषामाद्यादन्तर्मुहूर्तात्परतो विभङ्गस्योत्पत्तिरिति तेषां
पूर्वमज्ञानद्वयं पश्चाद्विभङ्गोत्पत्तावज्ञानत्रयमित्यत उच्यते—'तिण्णि अण्णाणाइं
भयणाए'ति 'भजनया' विकल्पनया कदाचिद् द्वे कदाचित्त्रीणीत्यर्थः । अत्रार्थे

गाये स्याताम्—

सत्री नेरइएसुं उरल परिस्त्रायणंतरे समए ।

विब्भंगं ओहिं वा अविग्गहे विग्गहे लहइ ॥

अस्सत्री नरएसुं पञ्जतो जेण लहइ विब्भंगं ।

नाणा तिण्णिव तओ अण्णाणा दोण्णि तिण्णिव ॥

३. भ.वृ.१।२३६—यदि मत्तज्ञानश्रुताज्ञाने विभङ्गापूर्वकालभाविनी विवक्ष्यते
तदाऽशीतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, अल्पत्वात्तेषां, किन्तु जघन्यावगाहनास्ते ततो
जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिर्भङ्गास्तेषामवसेया इति ।

२३७. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइया किं मणजोगी ? वइजोगी ? काय-जोगी ? तिण्णि वि ॥	अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाः किं मनयोगिनः ? वाग्योगिनः ? काय-योगिनः ? त्रयोऽपि ।	२३७. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् नैरयिक क्या मनयोगी होते हैं ? वचनयोगी होते हैं ? काययोगी होते हैं ? वे तीनों ही होते हैं ।
२३८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव मणजोए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥	अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् मनयोगे वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।	२३८. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् मनयोग में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।
२३९. एवं वइजोए ॥	एवं वाग्योगे ।	२३९. इसी प्रकार वचनयोग में वर्तमान नैरयिकों के भी सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।
२४०. एवं कायजोए ॥	एवं काययोगे ।	२४०. इसी प्रकार काययोग में वर्तमान नैरयिकों के भी सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २३८-२४०

सामान्य काययोग में सत्ताईस भंगों का निर्देश है, किन्तु काययोग विवक्षित है; इसलिए उनका निर्देश नहीं है।^१ केवल कर्मण काययोग में अस्सी भंग प्राप्त होते हैं। यहां सामान्य

२४१. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता ? अणागारो-वउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारो-वउत्ता वि ॥	अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् नैरयिकाः किं साकारोपयुक्ताः ? अनाकारोपयुक्ताः ? गीतम ! साकारोपयुक्ताः अपि, अनाकारो-पयुक्ताः अपि ।	२४१. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् नैरयिक साकारोपयुक्त होते हैं ? अथवा अनाकारोपयुक्त होते हैं ? गीतम ! वे साकारोपयुक्त भी होते हैं, अनाकारो-पयुक्त भी होते हैं ।
२४२. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव सागारोवओगे वट्टमाणा नेरइया किं कोहो-वउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ॥	अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां यावत् साकारोपयोगे वर्तमानाः नैरयिकाः किं क्रोधो-पयुक्ताः ? सप्तविंशतिः भङ्गाः ।	२४२. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् साकारोपयोग में वर्तमान नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त होते हैं ? सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।
२४३. एवं अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा ॥	एवं अनाकारोपयुक्तेऽपि सप्तविंशतिः भङ्गाः ।	२४३. इसी प्रकार अनाकारोपयोग में वर्तमान नैरयिकों के भी सत्ताईस भंग वक्तव्य हैं ।
२४४. एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ, नाणत्तं लेसासु ॥	एवं सप्त अपि पृथिव्यः ज्ञातव्याः, नानात्वं लेश्यसु ।	२४४. इस प्रकार सातों ही पृथिव्यां ज्ञातव्य हैं, केवल लेश्या में नानात्व है ।

संग्रहणी गाहा

काऊ य दोसु,
तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा,
कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

कापोती च द्वयोः,
तृतीयायां मिश्रिता, नीलिका चतुर्थ्याम् ।
पञ्चम्यां मिश्रा,
कृष्णा ततः परमकृष्णा ॥

संग्रहणी गाथा

प्रथम और द्वितीय पृथ्वी में कापोत लेश्या, तीसरी पृथ्वी में मिश्र^१—कापोत और नीललेश्या, चौथी पृथ्वी में नीललेश्या, पांचवीं पृथ्वी में मिश्र—नील और कृष्णलेश्या, छठी पृथ्वी में कृष्णलेश्या और सातवीं पृथ्वी में परमकृष्ण लेश्या होती है ।

१. भ. वृ. १।२३८—इह यद्यपि केवलकर्मणकाययोगेऽशीतिर्भङ्गाः संभवन्ति— तथाऽपि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाययोगाश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्तेति ।

भाष्य

१. मिश्र

तीसरी और पांचवी पृथ्वी में मिश्र लेश्या का निर्देश है। लेश्या और कुछ भागों में नील लेश्या होती है। पांचवी पृथ्वी के उसका स्पष्ट अर्थ यह है—तीसरी पृथ्वी के कुछ भागों में कापोत कुछ भागों में नील और कुछ भागों में कृष्ण लेश्या होती है।

असुरकुमारादीनां नाणादशासु
कोहोवउत्तादि भंग-पदं

२४५. चउसट्टीए णं भंते ! असुरकुमारा
वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारा-
वासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठित्तिट्टाणा
पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठित्तिट्टाणा पण्णत्ता ।
जहण्णिया ठिई जहा नेरइया तहा, नवरं
—पडिलोमा भंगं भाणियव्वा ।

सबे वि ताव होज लोभोवउत्ता ।
अहवा लोभोवउत्ता य, मायोवउत्ते य ।
अहवा लोभोवउत्ता य, मायोवउत्ता य ।
एएणं गमेणं नेयव्वं जाव थणियकुमारा,
नवरं—नाणत्तं जाणियव्वं ॥

असुरकुमारादीनां नानादशासु
क्रोधोपयुक्तादि भङ्ग-पदम्

चतुष्पष्टिषु भदन्त ! असुरकुमारावाससशत-
सहस्रेषु एकैकस्मिन् असुरकुमारावासे असुर-
कुमाराणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! असंख्येयानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञ-
प्तानि । जघन्धिका स्थितिः यथा नैरयिकाः
तथा, नवरं—प्रतिलोमाः भङ्गाः भणितव्याः ।

सर्वेऽपि तावद् भवेयुः लोभोपयुक्ताः ।
अथवा लोभोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च ।
अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च ।
एतेन गमेन नेतव्यं यावत् स्तनितकुमाराः,
नवरं—नानात्वं ज्ञातव्यम् ॥

असुरकुमार आदि का नाना दशाओं में
क्रोधोपयुक्त आदि भङ्ग-पद

२४५. भन्ते ! चौसठ लाख असुरकुमार-आवासों में
से प्रत्येक असुरकुमारावास में रहने वाले असुर-
कुमारों के कितने स्थिति-स्थान (आयु- विभाग)
प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! उनके असंख्येय स्थिति-स्थान प्रज्ञप्त हैं ।
उनकी जघन्य स्थिति नैरथिकों के समान हैं ।
विशेष ज्ञातव्य यह है कि प्रतिलोम भंग (लोभो-
पयुक्त आदि) वक्तव्य हैं ।^१

वे सब असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं ।
अथवा लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त । अथवा
लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त । इस गमक (सदृश
पाठ-पद्धति) के अनुसार यावत् स्तनितकुमार देवों
की वक्तव्यता, केवल इनका नानात्व ज्ञातव्य है ।^२

भाष्य

१. प्रतिलोम भंग वक्तव्य हैं

नैरथिक के प्रकरण में क्रोध, मान, माया और लोभ—इस
क्रम से भंगों का निर्देश किया गया है। असुरकुमार लोभ प्रधान
होते हैं, इसलिए उनके भंग लोभ, माया, मान और क्रोध—इस क्रम

से बनते हैं। भंग-रचना की प्रक्रिया पूर्ववत् ज्ञातव्य है ।^१

२. केवल इनका नानात्व ज्ञातव्य है

नैरथिक और असुरकुमार में संहनन, संस्थान और लेश्या का
नानात्व होता है ।^२ देखें यंत्र—

नारक		भवनपति
संहनन संस्थान	संहनन-रहित अनिष्ट आदि पुद्गलों का परिणमन हुण्डक	संहनन-रहित इष्ट आदि पुद्गलों का परिणमन भवधारणीय में समचतुरस्र
लेश्या	कृष्ण, नील, कापोत	उत्तर वैक्रिय में अन्यतर कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्

१. भ.वृ.१।२४५—नारकप्रकरणे क्रोधमानादिना क्रमेण भङ्गक निर्देशः कृतः,
असुरकुमारादिप्रकरणेषु लोभमायादिनाऽसौ कार्य इत्यर्थः अत एवाह—
'सबेवि ताव होज लोहोवउत्त'ति देवा हि प्रायो लोभवन्तो भवन्ति, तेन
सर्वेऽयसुरकुमारा लोभोपयुक्ताः स्युः! द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहु-
वचनमेव मायोपयोगे त्वेकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गकौ। एवं सप्तविंशतिर्भङ्गाः
कार्याः ।

२. भ.वृ.१।२४५—नारकाणामसुरकुमारादीनां च परस्परं नानात्वं ज्ञात्वा प्रश्न-

सूत्राणि उत्तरसूत्राणि चाध्येयानीति हृदयं, तद्य नारकाणामसुरकुमारादीनां च
संहननसंस्थानलेश्यासूत्रेषु भवति, तच्चैवम्—'चउसट्टीए णं भंते ! असुर-
कुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरगा
किंसंघयणी ? गोयमा ! असंघयणी, जे पोण्णला इड्ढा कंता ते तेसि संघायत्ताए
परिणमंति, एवं संठाणेवि, नवरं भवधारणिज्जा समचउरंसंसंठिया उत्तरवेउच्चिया
अन्नयरसंठिया एवं लेसासु वि, नवरं कइ लेसाओ पन्नताओ ? गोयमा ! चत्तारि,
तंजहा—किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा, 'चउसट्टीए णं जाव, कण्हेलेसाए वड्-

२४६. असंख्येसु णं भंते ! पुढविकाइया-
वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइया-
वासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठितिइयाणा
पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिइयाणा पण्णत्ता, तं
जहा—जहणिया टिई जाव तप्पाउग्गु-
क्कोसिया टिई ॥

२४७. असंखेज्जेसु णं भन्ते ! पुढविकाइया-
वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइया-
वासंसि जहणियाए ठितीए वट्टमाणा
पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता ? माणो-
वउत्ता ? मायोवउत्ता ? लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि,
मायोवउत्ता वि, लोभोवउत्ता वि ।

एवं पुढविकाइयाणं सब्बेसु वि ठाणेसु
अभंगयं, नवरं—तेउलेस्साए असीति-
भंगा ॥

असंख्येषु भदन्त ! पृथिवीकायिका-
वासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथ्वीकायिका-
वासे पृथ्वीकायिकानां कियन्ति स्थिति-
स्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! असंख्येयानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञ-
प्तानि, तद् यथा—जघन्यिका स्थितिः यावत्
तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः ।

असंख्येषु भदन्त ! पृथिवीकायिकावासशत-
सहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवीकायिकावासे जघ-
न्यिकायां स्थित्वां वर्तमानाः पृथिवीकायिकाः
किं क्रोधोपयुक्ताः ? मानोपयुक्ताः ? मायो-
पयुक्ताः ? लोभोपयुक्ताः ?

गौतम ! क्रोधोपयुक्ताः अपि, मानोपयुक्ताः
अपि, मायोपयुक्ताः अपि, लोभोपयुक्ताः
अपि ।

एवं पृथ्वीकायिकानां सर्वेषु अपि स्थानेषु
अभङ्गकं, नवरं—तेजोलेश्यायाः अशीति-
भङ्गाः ।

२४६. भन्ते ! असंख्येय लाख पृथ्वीकायिक आवासों
में से प्रत्येक पृथ्वीकायिक आवास में रहने वाले
पृथ्वीकायिक जीवों के कितने स्थितिस्थान प्रज्ञप्त
हैं ?

गौतम ! उनके असंख्येय स्थितिस्थान प्रज्ञप्त हैं,
जैसे—जघन्य स्थिति से लेकर यावत् विवक्षित
पृथ्वीकायिक आवास के प्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति ।

२४७. भन्ते ! असंख्येय लाख पृथ्वीकायिक
आवासों में से प्रत्येक पृथ्वीकायिक आवास में
जघन्य स्थिति में वर्तमान पृथ्वीकायिक जीव क्या
क्रोधोपयुक्त होते हैं ? मानोपयुक्त होते हैं ?
मायोपयुक्त होते हैं ? लोभोपयुक्त होते हैं ?

गौतम ! क्रोधोपयुक्त भी होते हैं, मानोपयुक्त भी
होते हैं, मायोपयुक्त भी होते हैं, लोभोपयुक्त भी
होते हैं ।

इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के सभी स्थान
भंग-शून्य होते हैं, केवल तेजोलेश्या में वर्तमान
पृथ्वीकायिक जीवों के अस्सी भंग वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २४७

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन सभी कषायों में उपयुक्त
पृथ्वीकायिक जीव बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं। इसलिए इनका
कोई भंग नहीं बनता। लेश्याद्वार में तेजोलेश्या वाले जीवों के अस्सी
भंग बनते हैं। देवलोक से च्युत देव पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न

होते हैं। उनकी संख्या एक, दो, तीन आदि होती है, इसलिए उनके
अस्सी भंग बन जाते हैं। सूत्र २४५ में नामान्त्र आया है। उसी
की अनुवृत्ति मानकर वृत्तिकार ने नैरयिक और पृथ्वीकायिक जीवों
का अंतर बतलाया है। देखें यंत्र—

नैरयिक		पृथ्वीकायिक
शरीर	वैक्रिय, तैजस, कर्मण	औदारिक, तैजस, कर्मण
संहनन	X	शेवार्त
संस्थान	हुण्डक (भवधारणीय, उत्तरवैक्रिय)	हुण्डक—मसूरय
लेश्या	कृष्ण, नील, कापोत	कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्
दृष्टि	तीन	निध्यादृष्टि
ज्ञान	तीन नियमा ^१	X
अज्ञान	तीन (भजना)	दो—मति, श्रुत
योग	मन, वचन, काय	काय

माणं किं कोहोवउत्ता ? गोयमा ! सब्बेवि ताव होअ लोहोवउत्ता इत्यादि !
एवं 'नीलकाऊतेऊवि' नागकुमारादिप्रकरणेषु तु 'घुलसीए नागकुमारा-
वाससयसहस्सेसु' इत्येवं "घउसइी अनुराणं नागकुमाराण होइ घुलसीइ"
इत्यादेर्वचनात् प्रश्नसूत्रेषु भवनसंख्यानात्त्वमवगम्य सूत्रामिलाषः कार्य इति ।

१. म.वृ. १।२४७—पृथ्वीकायिकेषु लेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या, सा च तदा
देवलोकान्मुतो देव एकोऽनेको वा पृथ्वीकायिकेषूप्यद्यते तदा भवति, ततश्च
तदैकत्वादिभवनादसीतिर्भङ्गाका भवन्तीति ।

२. देखें १।२३४ का भाष्य ।

पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय में कर्मग्रन्थ के अनुसार सास्वादन सम्यक्त्व माना जाता है; इसलिए ज्ञानद्वार में उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अस्तित्व होता है। इस ज्ञानद्वय के अधिकारी जीव अल्प संख्या में होते हैं; इसलिए इनके अस्सी भंग प्राप्त होते हैं। वृत्तिकार ने इस विषय में लिखा है कि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों में सास्वादन सम्यक्त्व अत्यन्त अल्प होता है; इसलिए उनके अस्सी भंग यहां विवक्षित नहीं हैं।^१ सास्वादन सम्यक्त्व के विषय में दो परम्पराएं उपलब्ध हैं—आगमिक परम्परा और कर्मग्रन्थ परम्परा। आगमिक परम्परा के अनुसार विकलेन्द्रिय में

सास्वादन सम्यक्त्व की संभावना स्वीकृत है। प्रस्तुत प्रकरण के सूत्र २५१ में यह स्पष्ट है। कर्मग्रन्थ की परम्परा में उक्त तीन स्थावर-कार्यों में भी सास्वादन सम्यक्त्व की संभावना मान्य है।

वृत्तिकार ने पृथ्वी आदि में सास्वादन सम्यक्त्व की अत्यन्त विरलता का स्वीकार किया है, किन्तु पणवणा में उनके सम्यग् दृष्टि का सर्वथा अस्वीकार है। विकलेन्द्रिय में उसका स्वीकार है।^२ भगवई में भी पृथ्वीकायिक जीवों में सम्यक्त्व का स्वीकार नहीं है।^३ अतः वृत्तिकार का मत कर्मग्रन्थानुसारी हो सकता है।

२४८. एवं आउक्काइया वि ॥

एवं अप्कायिकाः अपि ।

२४८. इसी प्रकार अप्कायिक जीव ज्ञातव्य हैं ।

२४९. तेउक्काइय-वाउक्काइयाणं सब्बेसु वि ठाणेसु अभंगयं ॥

तेजसकायिक-वायुकायिकानां सर्वेषु अपि स्थानेषु अभङ्गकम् ।

२४९. तैजसकायिक और वायुकायिक जीवों के सभी स्थान भंग-शून्य होते हैं ।

२५०. वणप्फइक्काइया जहा पुउक्काइया ॥

वनस्पतिकायिकाः यथा पृथिवीकायिकाः ।

२५०. वनस्पतिकायिक जीवों की वक्तव्यता पृथ्वीकायिक जीवों के समान है ।

२५१. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं असीइ चैव, नवरं—अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे य एएहिं असीइभंगा । जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्ता-वीसं भंगा तेसु ठाणेसु सब्बेसु अभंगयं ॥

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां येषु स्थानेषु नैरयिकाणाम् अशीतिर्भङ्गाः तेषु स्थानेषु अशीतिश्चैव, नवरं—अभ्यधिकाः सम्यक्त्वे, आभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने च एतेषु अशीतिर्भङ्गाः । यैः स्थानैः नैरयिकाणां सप्त-विंशतिर्भङ्गाः तेषु स्थानेषु सर्वेषु अभङ्गकम् ।

२५१. जिन स्थानों में^१ नैरयिकों के अस्सी भंग हैं, उन स्थानों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते हैं। विशेष ज्ञातव्य है कि सम्यक्त्व, आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुत-ज्ञान इनमें अधिक भंग^२—अस्सी भंग होते हैं। जिन स्थानों में नैरयिकों के सत्ताईस भंग होते हैं, विकलेन्द्रिय जीवों के वे सब स्थान भंग-शून्य^३ होते हैं।

भाष्य

१. जिन स्थानों में

नैरयिकों में अस्सी भंग के तीन स्थान प्रतिपादित हैं—१. एक समयादि-अधिक जघन्य स्थिति। २. जघन्य अवगाहना। ३. मिश्र दृष्टि। विकलेन्द्रिय में अस्सी भंग के प्रथम दो स्थान प्राप्त हैं। उनमें मिश्र दृष्टि नहीं होती, इसलिए तीसरे स्थान की वर्जना की गई है।

वृत्तिकार ने वृद्धों के मत का उल्लेख किया है। वृद्धमत के अनुसार विकलेन्द्रिय के अस्सी भंगों के स्थान पर भी अभंग सम्मत है।^४ चूर्ण में अस्सी भंगों का स्वीकार है।^५ वृत्तिकार ने यहां 'वृद्ध' शब्द के द्वारा किन्हीं अन्य प्राचीन व्याख्याकारों की ओर इंगित किया है।

१. कर्मग्रन्थ—चतुर्थकर्मग्रन्थ (षडशीति), गा. १८-१९—

धीनरपण्दि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।
ते सुहुम अपज्ज विणा सालणि इत्तो गुणे दुच्छं ॥
पणतिरिचउसुरनरएनर सन्निपण्दि भव्व तसि सब्बे ।
इग विगल भू दग वणे दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥

२. भ. वृ. १।२५०—ननु पृथिव्यपवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वप्युपगम्यते। तत एव च ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च अल्पाश्चैते इत्येवमशीतिर्भङ्गाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु ? नैवं, पृथिव्या-दिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविबक्षितत्वात्, तत एवोच्यते—

“उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होइ उववण्णो ।” ति
‘उभय’ प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपमिति ।

३. पण्ण. १६।२०३।

४. म. २४।१६७।

५. भ. वृ. १।२५१—वृद्धैस्त्विह सूत्रे कुतोऽपि वाचनाविशेषाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभङ्गकमिति व्याख्यातमिति ।

६. भ. चू. पृ. २—वितिचउरिंदियाणं सत्तावीस ठाणे अभंगं बहुत्ताओ । असीति ठाणे असीति चैव—सासातणसम्मदिद्धी विरहं संभवो य यातं बहुत्त आभि-णिबोहि सुत्तणाण समत्वेसु असीति ।

२. अधिक भंग

नैरयिकों के दृष्टि-द्वार और ज्ञान-द्वार में सत्ताईस भंग होते हैं। विकलेन्द्रियों के सास्वादन सम्यक्त्व, अभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान में अस्सी भंग होते हैं। इस निर्देश के लिए 'अभ्यधिक' शब्द का प्रयोग किया गया है।

३. भंग-शून्य

विकलेन्द्रिय में एक साथ क्रोध-आदि-उपयुक्त जीव बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं, इसलिये इनका कोई भंग नहीं बनता।

२५२. पंचिन्द्रियतिरिक्खजोगिया जहा नेरइया तहा भाणियब्बा, नवरं—जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायवं ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः यथा नैरयिकाः तथा भणितव्याः, नवरं—यैः सप्तविंशतिर्भङ्गाः तैः अभङ्गकं कर्तव्यम्।

२५२. पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिक जीव नैरयिकों की भांति वक्तव्य हैं, विशेष ज्ञातव्य है कि जहां नैरयिकों के सत्ताईस भंग होते हैं, वहां वे भंग-शून्य होते हैं।

भाष्य

१. भंग-शून्य

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में एक साथ क्रोध-आदि-उपयुक्त जीव बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं, इसलिये इनका कोई भंग नहीं बनता।

२५३. मणुस्सा वि। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीतिभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साण वि असीतिभंगा भाणियब्बा। जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं, नवरं—मणुस्साणं अब्भहियं जहणियाए ठिईए, आहारए य असीति-भंगा ॥

मनुष्याः अपि। यैः स्यानैः नैरयिकाणाम् अशीतिर्भङ्गाः तैः स्थानैः मनुष्याणाम् अपि अशीतिर्भङ्गाः भणितव्याः। येषु सप्तविंशति-स्तेषु अभङ्गकं, नवरं—मनुष्याणाम् अभ्य-धिकं जघन्यिकायां स्थितौ आहारके च अशी-तिर्भङ्गाः।

२५३. मनुष्य भी दस द्वार से वक्तव्य हैं, जिन स्थानों में नैरयिकों के अस्सी भंग होते हैं, उन स्थानों में मनुष्यों के भी अस्सी भंग वक्तव्य हैं। जिन स्थानों में नैरयिकों के सत्ताईस भंग होते हैं, उनमें मनुष्य भंग-शून्य होते हैं, विशेष ज्ञातव्य है कि मनुष्यों के जघन्य स्थिति और आहारक शरीर में अधिक भंग—अस्सी भंग होते हैं।

भाष्य

१. भंग-शून्य

नैरयिकों में क्रोधोदय की बहुलता होती है। इसलिये उनके सत्ताईस भंग बनते हैं। मनुष्य में क्रोध, मान, माया और लोभ—इन सभी कषाय वालों की संख्या बहुत होती है, इसलिये इनका कोई भंग नहीं बनता।

२. अधिक भंग

नैरयिक के जघन्य स्थिति में सत्ताईस भंग होते हैं। वहां मनुष्य के अस्सी भंग बनते हैं। मनुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस स्थिति वाले संख्या में अल्प मिलते हैं, इसलिये उनके अस्सी भंग बनते हैं। आहारक शरीर मनुष्य में ही होता है। आहारक शरीर वाले भी अल्प संख्या में होते हैं, इसलिये आहारक शरीर वालों में भी अस्सी भंग होते हैं। देखें यन्त्र—

	नारक	मनुष्य
शरीर	वैक्रिय, तैजस, कार्मण	५
संहनन	संहनन-रहित	६
संस्थान	हुण्डक	६
लेश्या	कृष्ण, नील, कापोत	६
ज्ञान	मति, श्रुत, अर्वाधि	५

(केवलज्ञान में क्रोधादिउपयुक्त नहीं होते।)

१. म.वृ. १।२५१—विकलेन्द्रियाणां तु 'अब्भहियं' ति अभ्यधिकान्यशीतिर्भङ्गकानां भवति, क ? इत्याह—सम्यक्त्वे, अल्पीयसां हि विकलेन्द्रियाणां सास्वा-दनभावेन सम्यक्त्वं भवति। अल्पत्वाच्चैतेषामेकत्वस्यापि सम्भवेना-शीतिर्भङ्गकानां भवति। एवमाभिनिबोधिके श्रुते चेति।

२. वही, १।२५१—भङ्गकाभावश्च क्रोधाद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति।

३. वही, १।२५२—यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधोदय एव भवति, तेन तेषां सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तस्थानेषु युज्यन्ते। मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाद्युपयोगवतां बहूनां भावाच्च कषायोदये विशेषोऽस्ति। तेन तेषां तेषु स्थानेषु भङ्गकाभाव इति।

२५४. वाणमंतर-ज्योतिस-वैमानिया जहा भव-
णवासी, नवरं—नाणत्तं जाणियब्बं जं जस्स
जाव अणुत्तरा ॥

वानमन्तर-ज्यौतिष-वैमानिका: यथा भवन-
वासिनः नवरं—नानात्वं ज्ञातव्यम् । यद् यस्य
यावद् अनुत्तराः ।

२५४. वानभंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव
भवनवासी देवों की भांति वक्तव्य हैं, केवल
जिसका जो नानात्व है वह ज्ञातव्य है, यावत्
अनुत्तर विमान तक ।

भाष्य

१. जिसका जो नानात्व है वह ज्ञातव्य है ।

ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में भवनपति देवों से कुछ विशेषताएं हैं । देखें यन्त्र—

	भवनपति	ज्योतिष्क	वैमानिक
लेश्या अज्ञान	४ ३ भजना (असंज्ञी की अपेक्षा-विभंग बाद में)	तेजस् ३ नियमा (असंज्ञी उत्पन्न नहीं होते)	तेजस्, पद्म, शुक्ल ३ नियमा (मति, श्रुत, विभंग)

२५५. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विह-
रइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावद्
विहरति ।

२५५. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही
है । इस प्रकार भगवान् गौतम यावत् संयम और
तप से अपने आप को भावित करते हुए विहरण
कर रहे हैं ।



छट्टो उद्देसो : छठा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

सूरिय-पदं

सूर्य-पदम्

सूर्य-पद

२५६. जावइयाओ णं भन्ते ! ओवासंतराओ उदयन्ते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, अत्यमन्ते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव ओवासंतराओ चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति? हंता गोयमा ! जावइयाओ णं ओवासंतराओ उदयन्ते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, अत्यमन्ते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव ओवासंतराओ चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति ॥

यावतः भदन्त ! अवकाशान्तराद् उदयन् सूर्यः चक्षुःस्पर्श 'हव्वं' आगच्छति, अस्तमयन्नपि च सूर्यः तावतः चैव अवकाशान्तराच् चक्षुःस्पर्श 'हव्वं' आगच्छति ?

हन्त गौतम ! यावतः अवकाशान्तराद् उदयन् सूर्यः चक्षुःस्पर्श 'हव्वं' आगच्छति, अस्तमयन्नपि च सूर्यः तावतः चैव अवकाशान्तराच् चक्षुःस्पर्श 'हव्वं' आगच्छति ।

२५६. 'भन्ते ! उगता हुआ सूर्य जितने अवकाशान्तर से दृष्टिगोचर होता है, क्या अस्त होता हुआ सूर्य भी उतने ही अवकाशान्तर से दृष्टिगोचर होता है ?

हां, गौतम ! उगता हुआ सूर्य जितने अवकाशान्तर से दृष्टिगोचर होता है, अस्त होता हुआ सूर्य भी उतने ही अवकाशान्तर से दृष्टिगोचर होता है ।

२५७. जावइय णं भन्ते ! खेत्तं उदयन्ते सूरिए आयवेणं सब्बओ समन्ता ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ, अत्यमन्ते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खेत्तं आयवेणं सब्बओ समन्ता ओभासेइ ? उज्जोएइ ? तवेइ ? पभासेइ ?

यावद् भदन्त ! क्षेत्रम् उदयन् सूर्यः आतपेन सर्वतः समन्ताद् अवभासयति उद्घोतयति तापयति प्रभासयति, अस्तमयन्नपि च सूर्यः तावच्चैव क्षेत्रम् आतपेन सर्वतः समन्ताद् अवभासयति ? उद्घोतयति ? तापयति ? प्रभासयति ?

हन्त गौतम ! यावत् क्षेत्रम् उदयन् सूर्यः आतपेन सर्वतः समन्ताद् अवभासयति उद्घोतयति तापयति प्रभासयति, अस्तमयन्नपि च सूर्यः तावच्चैव क्षेत्रम् आतपेन सर्वतः समन्ताद् अवभासयति उद्घोतयति तापयति प्रभासयति ।

२५७. भन्ते ! उगता हुआ सूर्य अपने आतप से सब दिशाओं और विदिशाओं में जितने क्षेत्र को अवभासित, उद्घोतित, तप्त और प्रभासित करता है^१, क्या अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने आतप से सब दिशाओं और विदिशाओं में उतने ही क्षेत्र को अवभासित, उद्घोतित, तप्त और प्रभासित करता है ?

हां, गौतम ! उगता हुआ सूर्य अपने आतप से सब दिशाओं और विदिशाओं में जितने क्षेत्र को अवभासित, उद्घोतित, तप्त और प्रभासित करता है, अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने आतप से सब दिशाओं और विदिशाओं में उतने ही क्षेत्र को अवभासित, उद्घोतित, तप्त और प्रभासित करता है ।

भाष्य

१. सूत्र २५६, २५७

प्रस्तुत आलापक में सूर्य के उदय और अस्त के समय दृष्टिगोचर होने का उल्लेख है। किन्तु कितने अन्तराल से दृष्टिगोचर होता है, इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। इसी प्रकार अवभासित होने वाले क्षेत्र के परिमाण का भी स्पष्ट निर्देश नहीं है। वृत्तिकार ने

लिखा है कि सर्वाभ्यन्तरमण्डल में वर्तमान सूर्य उदय और अस्त के समय ४७२६३ साधिक योजन की दूरी से दृष्टिगोचर होता है। यह अन्तर मण्डल-परिवर्तन के साथ बदलता रहता है।^१ इसकी पूरी जानकारी के लिए सूर्यपण्णसी (२।३) द्रष्टव्य है। २५७ वां सूत्र वृत्ति

१. भ.वृ.१।२५६—स च किल सर्वाभ्यन्तरमण्डले सप्तयत्वारिंशति योजनानां सहस्रेषु द्वयोः शतयोस्त्रिषष्टौ (४७२६३) च साधिकायां वर्तमान उदये दृश्यते ।

अस्तसमयेऽप्येवम् । एवं प्रतिमण्डलं दर्शने विशेषोऽस्ति, स च स्थानान्तरादवसेयः ।

में व्याख्यात नहीं है। सूरपण्णती के अनुसार एक सूर्य जम्बूद्वीप के डेढ़ पञ्चचक्र भाग को अवभासित, उद्द्योतित, तप्त और प्रभासित करता है।^१

शब्द-विमर्श

अवकाशान्तर—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—
१. आकाशविशेष २. अवकाशरूप अन्तराल।^२ अवकाशान्तर आकाश का एक पर्यायवाची नाम है।^३ इसलिए इसका अर्थ केवल आकाश किया जा सकता है।

ह्रस्व—इसके अनेक अर्थ होते हैं—अर्वाक्, शीघ्र, सहसा।^४ वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'शीघ्र' किया है।^५ इस शब्द का प्रयोग वाक्यालंकार के लिए भी होता है।

दृष्टिगोचर—जैन तर्कशास्त्र के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी है, इसलिए वृत्तिकार ने यहां 'स्पर्श' शब्द की मीमांसा की है। उनके अनुसार 'स्पर्श इव' (छूने जैसे) के अर्थ में 'स्पर्श' पद का प्रयोग किया गया है।^६

भगवद्गीता एवं आटे-कोश में स्पर्श का अर्थ 'इन्द्रिय-विषय' मिलता है।^७

सब दिशाओं और विदिशाओं में—वृत्तिकार ने सबओ का अर्थ 'सब दिशाओं में' तथा समन्तात् का अर्थ 'सब विदिशाओं में' किया है और इनको एकार्थक भी माना है।^८

२. अवभासित.....प्रभासित करता है

वृत्तिकार ने ओभासेइ आदि चार क्रिया-पदों की व्याख्या 'प्रकाश की चार अवस्थाओं' के रूप में की है—

अवभासयति—यह प्रथम अवस्था है। इसमें प्रकाश मन्द होता है। इससे स्थूलतर वस्तुएं प्रकाशित होती हैं।

उद्द्योतयति—यह दूसरी अवस्था है। इसमें पहली की अपेक्षा प्रकाश तेज होता है। इससे स्थूल वस्तुएं दिखाई देती हैं।

तापयति—इससे शीत का अपनयन होता है तथा सूक्ष्म पिपीलिका आदि जीव प्रकाशित होते हैं।

प्रभासयति—इसमें अतिताप के योग से शीत का अधिक अपनयन होता है तथा सूक्ष्मतर वस्तुएं दिखाई देती हैं।^९

२५८. तं भन्ते ! किं पुट्टं ओभासेइ ? अपुट्टं ओभासेइ ?

तद् भदन्त ! किं स्पृष्टम् अवभासयति ? अस्पृष्टम् अवभासयति ?

२५८. भन्ते ! क्या सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र को अवभासित करता है ? अथवा अस्पृष्ट क्षेत्र को अवभासित करता है ?

गोयमा ! पुट्टं ओभासेइ, नो अपुट्टं ॥

गौतम ! स्पृष्टम् अवभासयति, नो अस्पृष्टम् ।

गौतम ! वह स्पृष्ट क्षेत्र को अवभासित करता है, अस्पृष्ट क्षेत्र को अवभासित नहीं करता ।

२५९. तं भन्ते ! किं ओगाढं ओभासेइ ? अणोगाढं ओभासेइ ?

तद् भदन्त ! किं अवगाढम् अवभासयति ? अनवगाढम् अवभासयति ?

२५९. भन्ते ! क्या सूर्य अवगाढ^१ क्षेत्र को अवभासित करता है ? अथवा अनवगाढ क्षेत्र को अवभासित करता है ?

गोयमा ! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं ॥

गौतम ! अवगाढम् अवभासयति, नो अनवगाढम् ।

गौतम ! वह अवगाढ क्षेत्र को अवभासित करता है, अनवगाढ क्षेत्र को अवभासित नहीं करता ।

भाष्य

१. अवगाढ

अवगाढ का अर्थ है वस्तु का व्याप्ति-क्षेत्र; जितने क्षेत्र में वस्तु व्याप्त होती है, उतना क्षेत्र अवगाढ कहलाता है।

१. सू. ३।२।

२. भ. वृ. १।२५६—'अवकाशान्तरात्' आकाशविशेषादवकाशरूपान्तरालाद्वा ।

३. भ. २०।१६—अंतलिक्खे इ वा, सामे इ वा, ओवासंतरे इ वा, ।

४. देशीशब्दकोश ।

५. भ. वृ. १।२५६—'ह्रस्व' ति शीघ्रम् ।

६. बही, १।२५६—चक्षुषो—दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो न तु स्पर्श एव चक्षुषोऽप्राप्त-कारित्वादिति चक्षुःस्पर्शस्तम् ।

७. (क) गीता, २।१४—मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्ण सुखदुःखदाः ।

(ख) आटे.—स्पर्शः—Contact (in all senses).

८. भ. वृ. १।२५७—'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्तात्' विदिक्षु एकार्थो वैती ।

९. बही, १।२५७—'अवभासयति' ईषत्प्रकाशयति यथा स्थूलतरमेव वस्तु दृश्यते। 'उद्द्योतयति' भृशं प्रकाशयति यथा स्थूलमेव दृश्यते। 'तापयति' अपनीतशीतं करोति यथा वा सूक्ष्मं पिपीलिकादि दृश्यते। 'प्रभासयति' तित्तपयोगाद्विशेषतोऽपनीतशीतं विधत्ते यथा वा सूक्ष्मतरं वस्तु दृश्यते।

२६०. तं भंते ! किं अणंतरोगाढं ओभासेइ ? परंपरोगाढं ओभासेइ ?

गोयमा ! अणंतरोगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं ॥

२६१. तं भंते ! किं अणुं ओभासेइ ? बायरं ओभासेइ ?

गोयमा ! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ ॥

२६२. तं भंते ! किं उद्धं ओभासेइ ? तिरियं ओभासेइ ? अहे ओभासेइ ?

गोयमा ! उद्धं पि ओभासेइ, तिरियं पि ओभासेइ, अहे पि ओभासेइ ॥

२६३. तं भंते ! किं आइं ओभासेइ ? मज्जे ओभासेइ ? अंते ओभासेइ ?

गोयमा ! आइं पि ओभासेइ, मज्जे पि ओभासेइ, अंते पि ओभासेइ ॥

२६४. तं भंते ! किं सविसए ओभासेइ ? अविसए ओभासेइ ?

गोयमा ! सविसए ओभासेइ, नो अविसए ॥

२६५. तं भंते ! किं आणुपुब्बिं ओभासेइ ? अणुपुब्बिं ओभासेइ ?

गोयमा ! आणुपुब्बिं ओभासेइ, नो अणुपुब्बिं ॥

२६६. तं भंते ! कइदिंसि ओभासेइ ?

गोयमा ! नियमा छदिंसि ओभासेइ ॥

२६७. एवं—उज्जोवेइ तवेइ पभासेइ ॥

तद् भदन्त ! किम् अनन्तरावगाढम् अवभासयति ? परम्परावगाढम् अवभासयति ?

गौतम ! अनन्तरावगाढम् अवभासयति, नो परम्परावगाढम् अवभासयति ।

तद् भदन्त ! किम् अणुम् अवभासयति ? बादरम् अवभासयति ?

गौतम ! अणुमपि अवभासयति, बादरमपि अवभासयति ।

तद् भदन्त ! किं ऊर्ध्वम् अवभासयति ? तिर्यग् अवभासयति ? अधः अवभासयति ?

गौतम ! ऊर्ध्वमपि अवभासयति, तिर्यगपि अवभासयति, अधोऽपि अवभासयति ।

तद् भदन्त ! किम् आदिम् अवभासयति ? मध्यम् अवभासयति ? अन्तम् अवभासयति ?

गौतम ! आदिमपि अवभासयति, मध्यमपि अवभासयति, अन्तमपि अवभासयति ।

तद् भदन्त ! किं स्वविषयम् अवभासयति ? अविषयम् अवभासयति ?

गौतम ! स्वविषयम् अवभासयति, नो अविषयम् ।

तद् भदन्त ! किं आनुपूर्वीम् अवभासयति ? अनानुपूर्वीम् अवभासयति ?

गौतम ! आनुपूर्वीम् अवभासयति, नो अनानुपूर्वीम् अवभासयति ।

तद् भदन्त ! कति दिशः अवभासयति ?

गौतम ! नियमात् षड्दिशः अवभासयति ।

एवम्—उद्द्योतयति, तापयति, प्रभासयति ।

२६०. भन्ते ! क्या सूर्य अनन्तरावगाढ क्षेत्र को अवभासित करता है ? अथवा परम्परावगाढ क्षेत्र को अवभासित करता है ?

गौतम ! वह अनन्तरावगाढ क्षेत्र को अवभासित करता है, परम्परावगाढ क्षेत्र को अवभासित नहीं करता ।

२६१. भन्ते ! क्या सूर्य अणु (सूक्ष्म) क्षेत्र को अवभासित करता है ? अथवा बादर (स्थूल) क्षेत्र को अवभासित करता है ?

गौतम ! सूर्य अणु क्षेत्र को भी अवभासित करता है और बादर क्षेत्र को भी अवभासित करता है ।

२६२. भन्ते ! क्या सूर्य ऊर्ध्व क्षेत्र को अवभासित करता है ? तिरछे क्षेत्र को अवभासित करता है ? अथवा अधः क्षेत्र को अवभासित करता है ?

गौतम ! वह ऊर्ध्व क्षेत्र को भी अवभासित करता है, तिरछे क्षेत्र को भी अवभासित करता है और अधः क्षेत्र को भी अवभासित करता है ।

२६३. भन्ते ! क्या सूर्य क्षेत्र के आदि भाग को अवभासित करता है ? मध्य भाग को अवभासित करता है ? अथवा अन्त भाग को अवभासित करता है ?

गौतम ! वह क्षेत्र के आदि भाग को भी अवभासित करता है, मध्य भाग को भी अवभासित करता है और अन्त भाग को भी अवभासित करता है ।

२६४. भन्ते ! क्या सूर्य अपने विषय को अवभासित करता है अथवा अविषय को अवभासित करता है ?

गौतम ! वह अपने विषय को अवभासित करता है, अविषय को अवभासित नहीं करता ।

२६५. भन्ते ! क्या सूर्य अपने विषय को क्रम से अवभासित करता है ? अथवा अक्रम से अवभासित करता है ?

गौतम ! वह अपने विषय को क्रम से अवभासित करता है, अक्रम से अवभासित नहीं करता ।

२६६. भन्ते ! सूर्य कितनी दिशाओं को अवभासित करता है ?

गौतम ! वह नियमतः छहों दिशाओं को अवभासित करता है ।

२६७. उद्द्योतित, तप्त और प्रभासित—इन

क्रियापदों के साथ अबभासित की भांति पूर्ण आलापक वक्तव्य है।

फुसणा-पदं

२६८. से नूणं भन्ते ! सव्वन्ति सव्वावन्ति फुसमाणकालसमयसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्टे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता गोयमा ! सव्वन्ति सव्वावन्ति फुसमाणकालसमयसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्टे त्ति वत्तव्वं सिया ॥

२६९. तं भन्ते ! किं पुट्टं फुसइ ? अपुट्टं फुसइ ?

गोयमा ! पुट्टं फुसइ, नो अपुट्टं फुसइ जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ ॥

२७०. लोयन्ते भन्ते ! अलोयन्तं फुसइ ? अलोयन्ते वि लोयन्तं फुसइ ?

हंता गोयमा ! लोयन्ते अलोयन्तं फुसइ, अलोयन्ते वि लोयन्तं फुसइ ॥

२७१. तं भन्ते ! किं पुट्टं फुसइ ? अपुट्टं फुसइ ?

गोयमा ! पुट्टं फुसइ, नो अपुट्टं जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ ॥

२७२. दीवन्ते भन्ते ! सागरन्तं फुसइ ? सागरन्ते वि दीवन्तं फुसइ ?

हंता गोयमा ! दीवन्ते सागरन्तं फुसइ, सागरन्ते वि दीवन्तं फुसइ जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ ॥

२७३. उदयन्ते भन्ते ! पोयन्तं फुसइ ? पोयन्ते वि उदयन्तं फुसइ ?

हंता गोयमा ! उदयन्ते पोयन्तं फुसइ, पोयन्ते वि उदयन्तं फुसइ जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ ॥

स्पर्शना-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! 'सव्वन्ति सव्वावन्ति' स्पृश्यमानकालसमये यावत् क्षेत्रं स्पृशति तावत् स्पृश्यमानं स्पृष्टम् इति वक्तव्यं स्यात् ।

हन्त गौतम ! 'सव्वन्ति सव्वावन्ति' स्पृश्यमानकालसमये यावत् क्षेत्रं स्पृशति तावत् स्पृश्यमानं स्पृष्टम् इति वक्तव्यं स्यात् ।

तद् भदन्त ! किं स्पृष्टं स्पृशति ? अस्पृष्टं स्पृशति ?

गौतम ! स्पृष्टं स्पृशति, नो अस्पृष्टं यावन् नियमात् षड्दिशः स्पृशति ।

लोकान्तः भदन्त ! अलोकान्तं स्पृशति ? अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति ?

हन्त गौतम ! लोकान्तः अलोकान्तं स्पृशति, अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति ।

तद् भदन्त ! किं स्पृष्टं स्पृशति ? अस्पृष्टं स्पृशति ?

गौतम ! स्पृष्टं स्पृशति, नो अस्पृष्टं यावन् नियमात् षड्दिशः स्पृशति ।

द्वीपान्तः भदन्त ! सागरान्तं स्पृशति ? सागरान्तोऽपि द्वीपान्तं स्पृशति ?

हन्त गौतम ! द्वीपान्तः सागरान्तं स्पृशति, सागरान्तोऽपि द्वीपान्तं स्पृशति यावन् नियमात् षड्दिशः स्पृशति ।

उदकान्तः भदन्त ! पोतान्तं स्पृशति ? पोतान्तोऽपि उदकान्तं स्पृशति ?

हन्त गौतम ! उदकान्तः पोतान्तं स्पृशति । पोतान्तोऽपि उदकान्तं स्पृशति यावन् नियमात् षड्दिशः स्पृशति ।

स्पर्शना-पद

२६८. 'भन्ते ! स्पृश्यमान काल के समय में कोई स्कन्ध सब दिशाओं में सर्वात्मना जितने क्षेत्र का स्पर्श करता है, क्या उतने स्पृश्यमान क्षेत्र को स्पृष्ट कहा जा सकता है ?

हां, गौतम ! स्पृश्यमान काल के समय में वह सब दिशाओं में सर्वात्मना जितने क्षेत्र का स्पर्श करता है, उतने स्पृश्यमान क्षेत्र को स्पृष्ट कहा जा सकता है ।

२६९. भन्ते ! क्या कोई स्कन्ध स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ? अथवा अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

गौतम ! वह स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श नहीं करता यावत् नियमतः छहों दिशाओं का स्पर्श करता है ।

२७०. भन्ते ! क्या लोकान्त अलोकान्त का स्पर्श करता है ? अलोकान्त भी लोकान्त का स्पर्श करता है ?

हां, गौतम ! लोकान्त अलोकान्त का स्पर्श करता है और अलोकान्त भी लोकान्त का स्पर्श करता है ।

२७१. भन्ते ! क्या वह स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ? अथवा अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

गौतम ! वह स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श नहीं करता यावत् नियमतः छहों दिशाओं का स्पर्श करता है ।

२७२. भन्ते ! क्या द्वीप का अन्त सागर के अन्त का स्पर्श करता है ? सागर का अन्त भी द्वीप के अन्त का स्पर्श करता है ?

हां, गौतम ! द्वीप का अन्त सागर के अन्त का स्पर्श करता है और सागर का अन्त भी द्वीप के अन्त का स्पर्श करता है यावत् नियमतः छहों दिशाओं का स्पर्श करता है ।

२७३. भन्ते ! क्या पानी का अन्त जलयान के अन्त का स्पर्श करता है ? जलयान का अन्त भी पानी के अन्त का स्पर्श करता है ?

हां, गौतम ! पानी का अन्त जलयान के अन्त का स्पर्श करता है और जलयान का अन्त भी पानी के अन्त का स्पर्श करता है यावत् नियमतः छहों दिशाओं का स्पर्श करता है ।

२७४. छिदंते भंते ! दूसंतं फुसइ ? दूसंतं
वि छिदंतं फुसइ ?

हंता गोयमा ! छिदंते दूसंतं फुसइ, दूसंतं
वि छिदंतं फुसइ जाव नियमा छिदिसिं
फुसइ ॥

२७५. छायंतं भंते ! आयवंतं फुसइ ? आय-
वंते वि छायंतं फुसइ ?

हंता गोयमा ! छायंतं आयवंतं फुसइ,
आयवंते वि छायंतं फुसइ जाव नियमा
छिदिसिं फुसइ ॥

छिद्रान्तः भदन्त ! दूष्यान्तं स्पृशति ? दूष्या-
न्तोऽपि छिद्रान्तं स्पृशति ?

हन्त गीतम ! छिद्रान्तः दूष्यान्तं स्पृशति,
दूष्यान्तोऽपि छिद्रान्तं स्पृशति यावन् नियमात्
षड्दशः स्पृशति ।

छायान्तः भदन्त ! आतपान्तं स्पृशति ? आत-
पान्तोऽपि छायान्तं स्पृशति ?

हन्त गीतम ! छायान्तः आतपान्तं स्पृशति,
आतपान्तोऽपि छायान्तं स्पृशति यावन्
नियमात् षड्दशः स्पृशति ।

२७४. भन्ते ! क्या छिद्र का अन्त वस्त्र के अन्त
का स्पर्श करता है? वस्त्र का अन्त भी छिद्र के
अन्त का स्पर्श करता है ?

हां, गीतम ! छिद्र का अन्त वस्त्र के अन्त का
स्पर्श करता है और वस्त्र का अन्त भी छिद्र के
अन्त का स्पर्श करता है यावत् नियमतः छहों
दिशाओं का स्पर्श करता है ।

२७५. भन्ते ! क्या छाया का अन्त आतप के अन्त
का स्पर्श करता है ? आतप का अन्त भी छाया
के अन्त का स्पर्श करता है ?

हां, गीतम ! छाया का अन्त आतप के अन्त का
स्पर्श करता है और आतप का अन्त भी छाया
के अन्त का स्पर्श करता है यावत् नियमतः छहों
दिशाओं का स्पर्श करता है ।

भाष्य

१. सूत्र २६८-२७५

वस्तु को जानने के अनेक कोण होते हैं। जैन तत्त्व-विद्या में वस्तु-विज्ञान के चौदह कोण—मार्गणाएं प्रतिपादित हैं—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व।

प्रस्तुत आलापक में स्पर्शना का सिद्धान्त प्रतिपादित है। स्पर्शना अवगाहना से भिन्न है। जितने क्षेत्र में वस्तु की व्याप्ति होती है, अवगाहना उतनी ही होती है; स्पर्शना का क्षेत्र उससे अधिक होता है—उसमें अव्यवहित आकाश-प्रदेश का स्पर्श होता है। सूत्रकार ने कुछ उदाहरणों के द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया है। लोकान्त अलोकान्त में अवगाह नहीं है, फिर भी वह अलोकान्त का स्पर्श करता है। इसी प्रकार द्वीप-सागर, जल-जलपोत, वस्त्र-छिद्र, छाया-आतप—ये सभी निदर्शन उसी विषय को स्पष्ट करते हैं।

स्पर्शना के सिद्धान्त के साथ-साथ स्पृश्यमान और स्पृष्ट का एकत्व भी बतलाया गया है। इसकी 'क्रियमाण-कृत' के सिद्धान्त से तुलना की जा सकती है।^१ जंबुद्वीपवर्णनी में एक प्रश्न है—क्या सूर्य अतीत क्षेत्र में जाता है ? क्या प्रत्युत्पन्न क्षेत्र में जाता है ? क्या अनागत क्षेत्र में जाता है ?

उत्तर दिया गया—वह अतीत क्षेत्र में नहीं जाता, अनागत क्षेत्र में भी नहीं जाता, किन्तु वर्तमान क्षेत्र में जाता है।

दूसरा प्रश्न पूछा गया—भन्ते ! क्या स्पृष्ट क्षेत्र में जाता है या अस्पृष्ट क्षेत्र में जाता है ?

उत्तर दिया गया—स्पृष्ट क्षेत्र में जाता है, अस्पृष्ट क्षेत्र में नहीं जाता।^१

प्रस्तुत प्रकरण में भी स्पृष्ट के स्पर्श की बात बतलाई गई है। इसका तात्पर्य है कि वर्तमान क्षण में जो क्षेत्र स्पृश्यमान है, वही स्पृष्ट है। इस अपेक्षा से कहा गया है कि अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श नहीं किया जाता, स्पृष्ट क्षेत्र का ही स्पर्श किया जाता है।

शब्द-विमर्श

सर्व्वन्ति सव्वावन्ति—वृत्तिकार ने प्राकृत भाषा के अनुसार सर्व्वन्ति का अर्थ 'सर्व्वतः' और सव्वावन्ति का 'सर्वात्मना' किया है। इसके अतिरिक्त कुछ वैकल्पिक अर्थ भी किए हैं। वे केवल बौद्धिक हैं।^२

आचारांग वृत्ति में सव्वावन्ति को मागध देशी भाषा का प्रयोग बतलाया है।^३

छहों दिशाओं का स्पर्श करता है—१. लोकान्त के पार्श्व में सर्व्वतः अलोक है। ऊर्ध्वलोक के ऊपर भी अलोक है और अधोलोक के नीचे भी अलोक है। चारों दिशाएं पूरे लोक में फैली हुई हैं। इस आधार पर छहों दिशाओं के स्पर्श की बात घटित होती है।^४

१. त.सू. १।७८—निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः।

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्लपबहुत्वैश्च ।

२. म. १।३७१।

३. जंबु. ७।३६, ४०।

४. म. वृ. १।२६८।

५. आ. वृ. प. २५—'एआवन्ती सव्वावन्ती'ति एती द्वी शब्दी मागधदेशीभाषा-प्रसिद्ध्या या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत् पर्यायी ।

६. म. वृ. १।२७७—तं च षट्सु दिक्षु स्पृशति, लोकान्तस्य पार्श्वतः सर्वतोऽलोकान्तस्य भावात् । इह च विदिक्षु स्पर्शना नास्ति, दिशां लोकविष्कम्भप्रमाणत्वाद् विदिशां च तत्परिहारेण भावविति ।

२. कुछ द्वीप और समुद्र हजार योजन अवगाढ होते हैं। उन ऊर्ध्ववर्ती और अधोवर्ती द्वीप-समुद्रों की अपेक्षा से ऊंची और नीची दिशा की स्पर्शना घटित होती है।^१

३. जल और जलपोत में पोत की ऊंचाई की अपेक्षा से ऊर्ध्व दिशा की स्पर्शना और जलनिमज्जन की अपेक्षा से नीची दिशा की स्पर्शना घटित होती है।^२

४. वस्त्र और छिद्र में वस्त्र की ऊंचाई की अपेक्षा से अथवा वस्त्र की पोटली में कोई जीव उत्पन्न हुआ और उसके द्वारा उस पोटली में कोई छेद बन गया, उस अपेक्षा से ऊंची और नीची दिशा की स्पर्शना घटित होती है।^३

५. कोई पक्षी आकाश में उड़ रहा है। उसकी छाया का

अन्त आतप के अन्त का चार दिशाओं में स्पर्श कर रहा है। पक्षी की ऊंचाई की अपेक्षा से छायात्त और आतपान्त में ऊंची, नीची दिशा की स्पर्शना घटित होती है।

इसे दूसरे उदाहरण से भी समझाया गया है—प्रासाद की वरण्डिका आदि की छाया का दीवार पर अवतरण और आरोहण होता है, उससे भी ऊंची, नीची दिशा की स्पर्शना समझी जा सकती है।

इसे समझने का तीसरा विकल्प बहुत सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण है। छाया और आतप के पुद्गल असंख्येय प्रदेशावगाही होते हैं; इसलिए उनमें ऊंचाई का होना स्वाभाविक है। ऊंचाई होने के कारण ऊंची, नीची दिशा की स्पर्शना सहज प्राप्त है।^४

किरिया-पदं

क्रिया-पदम्

क्रिया-पद

२७६. अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?
हंता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त ! जीवानां प्राणातिपातः क्रिया क्रियते ?
हंत अस्ति ।

२७६. भन्ते ! क्या जीवों के प्राणातिपातक्रिया होती है ?
हां, होती है ।

२७७. सा भंते ! किं पुडा कज्जइ ? अपुडा कज्जइ ?
गोयमा ! पुडा कज्जइ, नो अपुडा कज्जइ जाव निव्याघाएणं छदिसिं, बाघायं गडुच्च सिया तिदिसिं, सिया चउदिसिं, सिया पंचदिसिं ॥

सा भदन्त ! किं स्पृष्टा क्रियते ? अस्पृष्टा क्रियते ?
गीतम ! स्पृष्टा क्रियते, नो अस्पृष्टा क्रियते यावन् निव्याघातेन षड्दिशः, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशः, स्याच् चतुर्दिशः, स्यात् पञ्च-दिशः ।

२७७. भन्ते ! क्या वह स्पृष्ट होती है ? अथवा अस्पृष्ट होती है ?
गीतम ! वह स्पृष्ट होती है, अस्पृष्ट नहीं होती यावत् व्याघात न होने पर प्राणातिपातक्रिया छहों दिशाओं में होती है, व्याघात होने पर तीन, चार, अथवा पांच दिशाओं में होती है ।

२७८. सा भंते ! किं कडा कज्जइ ? अकडा कज्जइ ?
गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ ॥

सा भदन्त ! किं कृता क्रियते ? अकृता क्रियते ?
गीतम ! कृता क्रियते, नो अकृता क्रियते ।

२७८. भन्ते ! क्या वह कृत होती है ? अथवा अकृत होती है ?
गीतम ! वह कृत होती है, अकृत नहीं होती ।

२७९. सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ ? पर-कडा कज्जइ ? तदुभयकडा कज्जइ ?
गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, नो परकडा कज्जइ, नो तदुभयकडा कज्जइ ॥

सा भदन्त ! किम् आत्मकृता क्रियते ? पर-कृता क्रियते ? तदुभयकृता क्रियते ?
गीतम ! आत्मकृता क्रियते, नो परकृता क्रियते, नो तदुभयकृता क्रियते ।

२७९. भन्ते ! क्या वह आत्मकृत होती है ? परकृत होती है ? अथवा उभयकृत होती है ?
गीतम ! वह आत्मकृत होती है, परकृत नहीं होती, उभयकृत भी नहीं होती ।

१. वही, १।२७२—'छदिसिं' इत्यस्यैवं भावना—योजनसहस्रावगाढा द्वीपाश्च समुद्राश्च भवन्ति, ततश्चोपरितनानधस्तानांश्च द्वीपसमुद्रप्रदेशानाश्रित्य ऊर्ध्वा-ऽधोदिग्द्वयस्य स्पर्शना वाच्या पूर्वादिदिशां तु प्रतीतैव, समन्ततस्तेषामवस्थानात् ।

२. वही, १।२७३—'उदयंते पोयंतं' ति नद्याद्युदकान्तः 'पोतान्तं' नौपर्यवसानम्, इहायुच्छ्रयापेक्षया ऊर्ध्वदिक्स्पर्शना वाच्या जलनिमज्जनेन वेति ।

३. वही, १।२७४—'छिदंते दूस्तं' न्ति छिद्रान्तः 'दूष्यान्तं' वस्त्रान्तं स्पृशति । इहापि षड्दिक्स्पर्शनाभावना वस्त्रोच्छ्रयापेक्षया । अथवा कन्बलरूपवस्त्र-पोटलिकायां तन्मध्योत्पन्नजीवभक्षणेन तन्मध्यरन्ध्रापेक्षया लोकान्तसूत्रवत्

षड्दिक्स्पर्शना भावयितव्या ।

४. वही, १।२७५—'छायंते आयवंतं'ति इह छायाभेदेन षड्दिग्भाववैवम्—आतपे व्योमवर्तिपक्षिप्रभृतिद्रव्यस्य या छाया तदन्त आतपान्तं चतसृषु दिक्षु स्पृशति तथा तस्या एव छायाया भूमेः सकाशात्तद्द्रव्यं यावदुच्छ्रयोऽस्ति, ततश्च छायात्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशति । अथवा प्रासादवरण्डिकादेर्या छाया तस्या भित्तेरवतरन्त्या आरोहन्त्या वाऽन्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति भावनीयम् । अथवा तयोरेव छायाऽऽतपयोः पुद्गलानामसंख्येयप्रदेशावगाहिवातुच्छ्रयसद्भावाः, तत्सद्भावोर्ध्वोऽधोविभागः । ततश्च छायात्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति ।

२८०. सा भंते ! किं आणुपुर्वि कडा कज्जइ ?
अणाणुपुर्वि कडा कज्जइ ?
गोयमा ! आणुपुर्वि कडा कज्जइ, नो अणा-
णुपुर्वि कडा कज्जइ । जा य कडा, जा य
कज्जइ, जा य कज्जिस्सइ, सव्वा सा आणु-
पुर्वि कडा, नो अणाणुपुर्वि कडा ति वत्तव्वं
सिया ॥

२८१. अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाय-
किरिया कज्जइ ?
हंता अत्थि ॥

२८२. सा भंते ! किं पुडा कज्जइ ? अपुडा
कज्जइ ?
गोयमा ! पुडा कज्जइ, नो अपुडा कज्जइ
जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ ॥

२८३. सा भंते ! किं कडा कज्जइ ? अकडा
कज्जइ ?
गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ ॥

२८४. तं चैव जाव नो अणाणुपुर्वि कडा ति
वत्तव्वं सिया ॥

२८५. जहा नेरइया तथा एगिंदियवज्जा भाणि-
यव्वा जाव वेमाणिया । एगिंदिया जहा
जीवा तथा भाणियव्वा ॥

२८६. जहा पाणाइवाए तथा सुसावाए तथा
अदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्रहे, कोहे,
माणे, माया, लोभे, पेजे, दोसे, कलहे,
अब्भक्खाणे, पेसुण्णे, परपरिवाए, अरति-
रति, मायामोसे, मिच्छादंसणसत्ते—एवं
एए अट्टारस । चउवीसं दंडगा भाणियव्वा ॥

सा भदन्त ! किम् आनुपूर्वीकृता क्रियते ?
अनानुपूर्वीकृता क्रियते ?
गीतम ! अनुपूर्वीकृता क्रियते, नो अनानु-
पूर्वीकृता क्रियते । या च कृता, या च क्रियते,
या च करिष्यते, सर्वा सा आनुपूर्वीकृता, नो
अनानुपूर्वीकृता इति वक्तव्यं स्यात् ।

अस्ति भदन्त ! नैरयिकाणां प्राणातिपातक्रिया
क्रियते ?
हन्त अस्ति ।

सा भदन्त ! किं स्पृष्टा क्रियते ? अस्पृष्टा
क्रियते ?
गीतम ! स्पृष्टा क्रियते, नो अस्पृष्टा क्रियते
यावन् नियमात् षड्दशः क्रियते ।

सा भदन्त ! किं कृता क्रियते ? अकृता
क्रियते ?
गीतम ! कृता क्रियते, नो अकृता क्रियते ।

सा चैव यावन् नो अनानुपूर्वीकृता इति वक्तव्यं
स्यात् ।

यथा नैरयिकाः तथा एकेन्द्रियवर्जाः भणि-
तव्याः यावद् वैमानिकाः । एकेन्द्रियाः यथा
जीवाः तथा भणितव्याः ।

यथा प्राणातिपातः तथा मृषावादः तथा
अदत्तादानं, मैथुनं, परिग्रहः, क्रोधः, मानः,
माया, लोभः, प्रेयः, दोषः, कलहः, अभ्या-
ख्यानं, वैशुन्यं, परपरिवादः, अरतिरतिः,
मायानृषा, मिथ्यादर्शनशाल्यम्—एवं एते
अष्टादश । चतुर्विंशतिः दण्डकाः भणि-
तव्याः ।

२८०. भन्ते ! क्या वह आनुपूर्वी (क्रम)-कृत होती
है ? अथवा अनानुपूर्वीकृत होती है ?
गीतम ! वह आनुपूर्वीकृत होती है, अनानुपूर्वी-
कृत नहीं होती । जो क्रिया की गई है, जो की
जा रही है और जो की जायेगी, यह सारी आनु-
पूर्वीकृत है, अनानुपूर्वीकृत नहीं—ऐसा कहा
जा सकता है ।

२८१. भन्ते ! क्या नैरयिक जीवों के प्राणाति-
पातक्रिया होती है ?
हां, होती है ।

२८२. भन्ते ! क्या वह स्पृष्ट होती है ? अथवा
अस्पृष्ट होती है ?
गीतम ! वह स्पृष्ट होती है, अस्पृष्ट नहीं होती
यावत् नियमतः छहों दिशाओं में होती है ।

२८३. भन्ते ! क्या वह कृत होती है ? अथवा
अकृत होती है ?
गीतम ! वह कृत होती है, अकृत नहीं होती ।

२८४. यहां पूर्व-आलापक वक्तव्य है यावत् वह
अनानुपूर्वीकृत नहीं होती—ऐसा कहा जा सकता
है ।

२८५. एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिक तक
के सभी जीव नैरयिक की भांति वक्तव्य हैं ।
एकेन्द्रिय सामान्य जीव की भांति वक्तव्य हैं ।

२८६. प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन,
परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष,
कलह, अभ्याख्यान, वैशुन्य, परपरिवाद, अरति-
रति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशाल्य—ये अठार-
ह क्रियाएं हैं । जैसे प्राणातिपात का आलापक
चौबीस दण्डक में कहा गया, वैसे नृषावाद आदि
सभी आलापक वक्तव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र २७६-२८६

क्रिया का सामान्य अर्थ है परिस्पन्द, हलन-चलन । प्रस्तुत
प्रकरण में क्रिया का अर्थ है 'कर्म' अथवा 'प्रवृत्ति' । सूत्रकृतांग
चूर्ण में क्रिया, कर्म, परिस्पन्द और कर्मबन्ध—ये एकार्थक माने गये

हैं ।^१ प्रज्ञापना वृत्ति में 'कर्मबन्ध की हेतुभूत चेष्टा' को क्रिया कहा
गया है ।^२ प्राणातिपात आदि अठारह क्रियाएं यहां निर्दिष्ट हैं । प्राण
का वियोजन करना प्राणातिपात-क्रिया है । इसी प्रकार मृषा वचन

१. भ.वृ. १।२७६—क्रियत इति क्रिया—कर्म ।

२. सूत्र.चू.पृ. ३१६—क्रिया कर्म परिस्पन्द इत्यनर्थान्तरम् ।

३. प्रज्ञा.वृ.प. ४३५—करणम्—क्रिया—कर्मबन्धनिबन्धनं चेष्टा ।

बोलना मृषावाद-क्रिया है। अदत्त वस्तु लेना अदत्तादान-क्रिया है।

क्रिया के साथ तीन परिणमन जुड़े हुए हैं। प्राणातिपात का अतीतकालीन संस्कार प्राणातिपात पापस्थान कहलाता है। वर्तमान में होने वाली प्राणातिपात की प्रवृत्ति प्राणातिपात-क्रिया कहलाती है। प्राणातिपात से होने वाला कर्म-बन्धन प्राणातिपात की परिणति कहलाती है। यहां प्राणातिपात-क्रिया के विषय में विशेष जानकारी के लिए कुछ पद प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें पहला 'स्पर्श' पद है। 'प्राणातिपात-क्रिया स्पृष्ट होती है', इसका तात्पर्य है कि वह प्राणातिपात करने वाले से एकाल होकर होती है। 'यावत्' पद के द्वारा अवगाढ-अनवगाढ, अनन्तरावगाढ-परम्परावगाढ, अणु-बादर, ऊर्ध्व-अधः-तिर्यग्, आदि-मध्य-अन्त, स्वविषय-अविषय, अनुपूर्वी-अनानुपूर्वी और दिशा—इतने पदों का निर्देश है। 'दिशा' पद के विषय में एक विशेष नियम का निर्देश है—लोकान्त के निष्कृतों में केवल एकेन्द्रिय जीव प्राप्त हैं। उनकी अपेक्षा से तीन, चार, पांच और छह दिशाओं का निर्देश किया गया है।

क्रिया कृत होती है, अकृत नहीं होती। वह आत्मकृत होती है, परकृत और तदुभयकृत नहीं होती। यह आत्मकर्तृत्ववादी दर्शन का ध्रुव सिद्धान्त है। आनुपूर्वी का अर्थ है क्रम और अनानुपूर्वी का अर्थ है अक्रम—एक साथ होना, जिसमें पूर्व और पश्चात् का विभाग न हो, एक साथ एक ही क्रिया होती है, दो, तीन, चार क्रियाएं नहीं होतीं। प्रत्येक क्रिया का अपना-अपना काल होता है। जहां काल का क्रम है वहां आनुपूर्वी-कृत होना अवश्यंभावी है।

शब्द-विमर्श

कञ्जइ (क्रियते)—यहां इस धातु का प्रयोग 'होना' इस अर्थ में किया गया है।^१

२८७. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति जाव विहरति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवंतं महावीरं वन्दते यावत् विहरति ।

२८७. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भंते ! वह ऐसा ही है—इस प्रकार भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करते हैं यावत् संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

रोहस्स पण्ह-पदं

२८८. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे णामं अणगारे पगइभइए पगइउवसंते पगइ-

रोहस्य प्रश्न-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अन्तेवासी रोहः नाम अणगारः प्रकृतिभद्रकः प्रकृत्युपशांतः प्रकृतिप्रतनुक्रोध-

रोह के प्रश्न-पद

२८८. ^१उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर का एक अन्तेवासी शिष्य था। उसका नाम था अणगार रोह। वह प्रकृति से भद्र और

१. भ.वृ. १।२७६—क्रियते—भवति ।

२. आ.पू.पृ. २५८ ।

३. वही, पृ. २६८—पावं कम्मं हिंसादि ।

४. प्र.सरो.वृ.प. ३६८—अधुना 'अट्टारस पावठाणगाइ'न्ति सप्तत्रिंशदधिक-द्विशततमं द्वारमाह ।

५. भ.वृ. १।२८६—'पेजे' अनभिद्यत्तमायालोभवभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम । 'दोसे' अनभिद्यत्तक्रोधमानस्वरूपमप्रीतिमात्रं द्वेषः । 'अब्भक्खाणे' असदोषाविष्क-

रणं । 'पेसुजे' प्रच्छन्नमसदोषाविष्करणं । 'परपरिवाए' विप्रकीर्णं परेषां गुण-दोषवचनम् । 'अरतिरती' अरतिः—मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगस्तस्फला, रतिः—विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिरतिरतिः । 'मायामोसे' तृतीयकषाय-द्वितीयाश्रवयोः संयोगः । अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वेदान्तर-भाषान्तरकरणेन यत्परवच्यं तन्मायामूषेति । मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविध-व्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति ।

पयणुकोहमाणमायालोभे मिउमद्वसंपत्रे
अल्लीणे विणीए समणस्स भगवओ महा-
वीरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे
झाणकोडोवगए संजभेणं तवसा अप्पाणं
भावेमाणे विहरइ ॥

२८८. तते णं से रोहे अणगारे जायसट्टे जाव
पञ्जुवासमाणे एवं वदासी—

२९०. पुब्बिं भंते ! लोए, पच्छा अलोए ?
पुब्बिं अलोए, पच्छा लोए ?
रोहा ! लोए य अलोए य पुब्बिं पेते, पच्छा
पेते—दो वेते सासया भावा, अणाणुपुब्बी
एसा रोहा !

२९१. पुब्बिं भंते ! जीवा, पच्छा अजीवा ?
पुब्बिं अजीवा, पच्छा जीवा ?
रोहा ! जीवा य अजीवा य पुब्बिं पेते, पच्छा
पेते—दो वेते सासया भावा, अणाणुपुब्बी
एसा रोहा !

२९२. पुब्बिं भंते ! भवसिद्धिया, पच्छा अ-
भवसिद्धिया ? पुब्बिं अभवसिद्धिया, पच्छा
भवसिद्धिया ?
रोहा ! भवसिद्धिया य अभवसिद्धिया य
पुब्बिं पेते, पच्छा पेते—दो वेते सासया
भावा, अणाणुपुब्बी एसा रोहा !

२९३. पुब्बिं भंते ! सिद्धि, पच्छा असिद्धि ?
पुब्बिं असिद्धि, पच्छा सिद्धि ?

रोहा ! सिद्धि य असिद्धि य पुब्बिं पेते,
पच्छा पेते—दो वेते सासया भावा, अणा-
णुपुब्बी एसा रोहा !

२९४. पुब्बिं भंते ! सिद्धा, पच्छा असिद्धा ?
पुब्बिं असिद्धा, पच्छा सिद्धा ?
रोहा ! सिद्धा य असिद्धा य पुब्बिं पेते,

मानमायालोभः मृदुमार्दवसम्पन्नः आलीनः
विनीतः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अदूर-
सामन्ते ऊर्ध्वजानुः अधःशिराः ध्यानकोष्ठो-
पगतः संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्
विहरति ।

ततः स रोहः अनगारः जातश्रद्धः यावत्
पर्युपासीनः एवमवादीत्—

पूर्व भदन्त ! लोकः, पश्चाद् अलोकः ? पूर्वम्
अलोकः, पश्चाद् लोकः ?
रोह ! लोकः च अलोकः च पूर्वम् अपि एतौ,
पश्चाद् अपि एतौ—द्वौ वा एतौ शाश्वतौ
भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्व भदन्त ! जीवाः, पश्चाद् अजीवाः ?
पूर्वम् अजीवाः, पश्चाद् जीवाः ?
रोह ! जीवाः च अजीवाः च पूर्वम् अपि एतौ,
पश्चादपि एतौ—द्वौ वा एतौ शाश्वतौ भावौ,
अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्व भदन्त ! भवसिद्धिकाः, पश्चाद् अ-
भवसिद्धिकाः ? पूर्वम् अभवसिद्धिकाः, पश्चाद्
भवसिद्धिकाः ?
रोह ! भवसिद्धिकाः च अभवसिद्धिकाः च
पूर्वम् अपि एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वौ वा
एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्व भदन्त ! सिद्धिः, पश्चाद् असिद्धिः ?
पूर्वम् असिद्धिः, पश्चाद् सिद्धिः ?

रोह ! सिद्धिः च असिद्धिः च पूर्वम् अपि एते,
पश्चादपि एते—द्वे वा एते शाश्वतौ भावौ,
अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्व भदन्त ! सिद्धाः, पश्चाद् असिद्धाः ?
पूर्वम् असिद्धाः, पश्चाद् सिद्धाः ?
रोह ! सिद्धाः च असिद्धाः च पूर्वम् अपि एतौ,

उपशान्तथा । उसके क्रोध, मान, माया और लोभ
प्रतनु (पतले) थे । वह मृदुमार्दवसम्पन्न, आलीन
(संयतन्द्रिय) और विनीत था । वह श्रमण भगवान्
महावीर के न अति दूर और न अति निकट
ऊर्ध्वजानु अधःशिर—इस मुद्रा में और ध्यानकोष्ठ
में लीन होकर संयम और तप से अपने आपको
भावित करता हुआ रह रहा है ।

२८८. उस समय अनगार रोह के मन में एक श्रद्धा
उत्पन्न हुई यावत् भगवान् महावीर की पर्युपासना
करता हुआ वह इस प्रकार बोला—

२९०. भन्ते ! क्या पहले लोक और फिर अलोक
बना ? क्या पहले अलोक और फिर लोक बना ?
रोह ! लोक और अलोक पहले भी थे और आगे भी
होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव हैं । रोह ! यह
अनानुपूर्वी है—लोक और अलोक में पूर्व-पश्चात्
का क्रम नहीं है ।

२९१. भन्ते ! क्या पहले जीव और फिर अजीव
बने ? क्या पहले अजीव और फिर जीव बने ?
रोह ! जीव और अजीव पहले भी थे और आगे
भी होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव हैं । रोह ! यह
अनानुपूर्वी है—जीव और अजीव में पूर्व-पश्चात्
का क्रम नहीं है ।

२९२. भन्ते ! क्या पहले भवसिद्धिक और फिर
अभवसिद्धिक बने ? क्या पहले अभवसिद्धिक
और फिर भवसिद्धिक बने ?
रोह ! भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक पहले भी
थे और आगे भी होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव
हैं । रोह ! यह अनानुपूर्वी है—भवसिद्धिक और
अभवसिद्धिक में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है ।

२९३. भन्ते ! क्या पहले सिद्धि और फिर असिद्धि
बनी ? क्या पहले असिद्धि और फिर सिद्धि
बनी ?
रोह ! सिद्धि और असिद्धि पहले भी थीं और
आगे भी होंगी । ये दोनों शाश्वत भाव हैं । रोह !
यह अनानुपूर्वी है—सिद्धि और असिद्धि में पूर्व-
पश्चात् का क्रम नहीं है ।

२९४. भन्ते ! क्या पहले सिद्ध और फिर असिद्ध
बने ? क्या पहले असिद्ध और फिर सिद्ध बने ?
रोह ! सिद्ध और असिद्ध पहले भी थे और आगे

पच्छा पेते—दो बेते सासया भावा, अणा-
णुपुव्वी एसा रोहा !

पश्चादपि एतौ—द्वी वा एतौ शाश्वतौ भावौ,
अनानुपूर्वी एषा रोह !

भी होंगे। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। रोह ! यह
अनानुपूर्वी है—सिद्ध और असिद्ध में पूर्व-पश्चात्
का क्रम नहीं है।

२६५. पुब्बिं भन्ते ! अंडए, पच्छा कुक्कुडी ?
पुब्बिं कुक्कुडी, पच्छा अंडए ?

पूर्व भदन्त ! अण्डकः, पश्चात् कुक्कुटी ?
पूर्व कुक्कुटी पश्चाद् अण्डकः ?

२६५. भन्ते ! क्या पहले अण्डा और फिर मुर्गी
पैदा हुई ? क्या पहले मुर्गी और फिर अण्डा पैदा
हुआ ?

रोहा ! से णं अंडए कओ ?

भयवं ! कुक्कुडीओ।

सा णं कुक्कुडी कओ ?

भन्ते ! अंडयाओ।

एवमेव रोहा ! से य अंडए, सा य कुक्कुडी
पुब्बिं पेते, पच्छा पेते—दो बेते सासया
भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

रोह ! स अण्डकः कुतः ?

भगवन् ! कुक्कुट्याः।

सा कुक्कुटी कुतः ?

भदन्त ! अण्डकात्।

एवमेव रोह ! स च अण्डकः, सा च कुक्कुटी,
पूर्वम् अपि एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वी वा
एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

रोह ! वह अण्डा कहां से पैदा हुआ ?

भगवन् ! मुर्गी से।

वह मुर्गी कहां से पैदा हुई ? !

भन्ते ! अण्डे से।

रोह ! इसी प्रकार वही अण्डा है, वही मुर्गी है।
ये पहले भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों
शाश्वत भाव हैं। रोह ! यह अनानुपूर्वी है—
अण्डे और मुर्गी में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है।

२६६. पुब्बिं भन्ते ! लोयन्ते, पच्छा अलोयन्ते ?
पुब्बिं अलोयन्ते, पच्छा लोयन्ते ?

पूर्व भदन्त ! लोकान्तः, पश्चाद् अलोकान्तः-
न्तः? पूर्वम् अलोकान्तः पश्चाद् लोकान्तः?

२६६. भन्ते ! क्या पहले लोकान्त और फिर
अलोकान्त बना ? क्या पहले अलोकान्त और
फिर लोकान्त बना ?

रोहा ! लोयन्ते य अलोयन्ते य पुब्बिं पेते,
पच्छा पेते—दो बेते सासया भावा, अणा-
णुपुव्वी एसा रोहा !

रोह ! लोकान्तः च अलोकान्तः च पूर्वम् अपि
एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वी वा एतौ शाश्वतौ
भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

रोह ! लोकान्त और अलोकान्त पहले भी थे और
आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। रोह !
यह अनानुपूर्वी है—लोकान्त और अलोकान्त में
पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है।

२६७. पुब्बिं भन्ते ! लोयन्ते, पच्छा सत्तमे
ओवासन्तरे ? पुब्बिं सत्तमे ओवासन्तरे, पच्छा
लोयन्ते ?

पूर्व भदन्त ! लोकान्तः, पश्चात् सत्तमम्
अवकाशान्तरम् ? पूर्वम् सत्तमम् अवका-
शान्तरं, पश्चाद् लोकान्तः ?

२६७. भन्ते ! क्या पहले लोकान्त और फिर सातवां
अवकाशान्तर बना ? क्या पहले सातवां अवका-
शान्तर और फिर लोकान्त बना ?

रोहा ! लोयन्ते य सत्तमे ओवासन्तरे य पुब्बिं
पेते, पच्छा पेते—दो बेते सासया भावा,
अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

रोह ! लोकान्तः च सत्तमम् अवकाशान्तरं च
पूर्वम् अपि एते, पश्चादपि एते—द्वे वा एते
शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

रोह ! लोकान्त और सातवां अवकाशान्तर पहले
भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वत
भाव हैं। रोह ! यह अनानुपूर्वी है—लोकान्त
और सातवें अवकाशान्तर में पूर्व-पश्चात् का क्रम
नहीं है।

२६८. एवं लोयन्ते य सत्तमे य तणुवाए । एवं
घणुवाए, घनोदधि, सत्तमा पुढवी । एवं
लोयन्ते एकेकेणं संजोएतव्वे इमेहिं ठाणेहिं,
तं जहा—

एवं लोकान्तः च सत्तमः च तणुवातः । एवं
घनवातः घनोदधिः सत्तमी पृथिवी । एवं
लोकान्तः एकैकेन संयोजयितव्यः एभिः
स्थानैः, तद् यथा—

२६८. इस प्रकार लोकान्त के साथ सातवें तणुवात,
घनवात, घनोदधि और सातवीं पृथ्वी वक्तव्य हैं।
इस प्रकार लोकान्त के साथ आगे यतए जाने
वाले प्रत्येक विषय की संयोजना करणीय है,
जैसे—

संग्रहणी गाहा

ओवास-वात-घणुदहि-
पुदधि-दीवा य सागरा बासा ।
नेरइयादि अत्थिय,
समया कम्माइ लेस्साओ ॥१॥

संग्रहणी गाथा

अवकाश-वात-घनोदधि-
पृथिवी-द्वीपाश्च सागराः वर्षाणि ।
नैरयिकादि अस्तिकायः,
समयाः कर्माणि लेश्याः ॥

संग्रहणी गाथा

अवकाशान्तर, वात, (तणुवात और घनवात),
घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समद्र, वर्ष (क्षेत्र), नैरयिक
आदि (चौबीस दण्डक) अस्तिकाय, समय (काल-
विभाग), कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा,

दिष्टी दंसण-नाणे,
सण्ण-सरीरा य जोग-उवओगे ।
दव्व-पएसा-पज्जव,
अद्दा किं पुब्बिं लोयंते ॥२॥

दृष्टिः दर्शन-ज्ञाने,
संज्ञा शरीराणि च योग-उपयोगी ।
द्रव्य-प्रदेश-पर्यवा,
अद्ध्वा किं पूर्वं लोकान्तः ॥

शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्यव और
काल । 'क्या पहले लोकान्त बना'—इस वाक्य
में सूत्र-रचना का निर्देश है ।

२६६. पुब्बिं भंते ! लोयंते, पच्छा अतीतद्दा ?
पुब्बिं अतीतद्दा, पच्छा लोयंते ?

रोहा ! लोयंते य अतीतद्दा य पुब्बिं पेते,
पच्छा पेते—दो वेते सासया भावा, अणाणु-
पुब्बी एसा रोहा !

पूर्व भदन्त ! लोकान्तः, पश्चाद्
अतीताद्ध्वा? पूर्वम् अतीताद्ध्वा, पश्चाद्
लोकान्तः ?

रोह ! लोकान्तश्च अतीताद्ध्वा च पूर्वम् अपि
एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वौ वा एतौ शाश्वतौ
भावी, अनानुपूर्वी एषा रोह !

२६६. भन्ते ! क्या पहले लोकान्त और फिर अतीत-
काल बना ? क्या पहले अतीतकाल और फिर
लोकान्त बना ?

रोह ! लोकान्त और अतीतकाल पहले भी थे
और आगे भी होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव हैं ।
रोह ! यह अनानुपूर्वी है—लोकान्त और अतीत-
काल में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है ।

३००. पुब्बिं भंते ! लोयंते, पच्छा अणागत-
द्दा ? पुब्बिं अणागतद्दा, पच्छा लोयंते ?

रोहा ! लोयंते य अणागतद्दा य पुब्बिं पेते,
पच्छा पेते—दो वेते सासया भावा, अणा-
णुपुब्बी एसा रोहा !

पूर्व भदन्त ! लोकान्तः पश्चात्, अणागता-
द्ध्वा? पूर्वम् अणागताद्ध्वा, पश्चाद् लोका-
न्तः ?

रोह ! लोकान्तश्च अणागताद्ध्वा च पूर्वम्
अपि एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वौ वा एतौ
शाश्वतौ भावी, अनानुपूर्वी एषा रोह !

३००. भन्ते ! क्या पहले लोकान्त और फिर अना-
गतकाल बना ? क्या पहले अणागतकाल और
फिर लोकान्त बना ?

रोह ! लोकान्त और अणागतकाल पहले भी थे
और आगे भी होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव हैं ।
रोह ! यह अनानुपूर्वी है—लोकान्त और अना-
गतकाल में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है ।

३०१. पुब्बिं भंते ! लोयंते, पच्छा सब्बद्दा ?
पुब्बिं सब्बद्दा, पच्छा लोयंते ?

रोहा ! लोयंते य सब्बद्दा य पुब्बिं पेते,
पच्छा पेते—दो वेते सासया भावा, अणा-
णुपुब्बी एसा रोहा !

पूर्व भदन्त ! लोकान्तः, पश्चात् सर्वाद्ध्वा ?
पूर्वम् सर्वाद्ध्वा, पश्चाद् लोकान्तः ?

रोह ! लोकान्तश्च सर्वाद्ध्वा च पूर्वम् अपि
एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वौ वा एतौ शाश्वतौ
भावी, अनानुपूर्वी एषा रोह !

३०१. भन्ते ! क्या पहले लोकान्त और फिर सर्व-
काल बना ? क्या पहले सर्वकाल और फिर
लोकान्त बना ?

रोह ! लोकान्त और सर्वकाल पहले भी थे और
आगे भी होंगे । ये दोनों शाश्वत भाव हैं । रोह!
यह अनानुपूर्वी है—लोकान्त और सर्वकाल में
पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है ।

३०२. जहा लोयंतेणं संजोइया सब्बे ठाणा
एते, एवं अलोयंतेणं वि संजोएतव्वा सब्बे ॥

३०३. पुब्बिं भंते ! सत्तमे ओवासंतरे, पच्छा
सत्तमे तणुवाए ? पुब्बिं सत्तमे तणुवाए,
पच्छा सत्तमे ओवासंतरे ?

रोहा ! सत्तमे ओवासंतरे य सत्तमे तणुवाए
य पुब्बिं पेते, पच्छा पेते—दो वेते सासया
भावा, अणाणुपुब्बी एसा रोहा !

यथा लोकान्तेन संयोजितानि सर्वाणि स्थानानि
एतानि, एवम् अलोकान्तेन अपि संयोजयि-
तव्यानि सर्वाणि ।

पूर्व भदन्त ! सत्तमम् अवकाशान्तरम्, पश्चात्
सत्तमः तणुवातः ? पूर्वम् सत्तमः तणुवातः,
पश्चात् सत्तमम् अवकाशान्तरम् ?

रोह ! सत्तमम् अवकाशान्तरञ्च सत्तमः तनु-
वातश्च पूर्वम् अपि एतौ, पश्चादपि एतौ
—द्वौ वा एतौ शाश्वतौ भावी, अनानुपूर्वी
एषा रोह !

३०२. जिस प्रकार लोकान्त के साथ इन सब पदों
की संयोजना की गई, उसी प्रकार अलोकान्त के
साथ भी इन सबकी संयोजना करणीय है ।

३०३. भन्ते ! क्या पहले सातवां अवकाशान्तर और
फिर सातवां तणुवात बना ? क्या पहले सातवां
तणुवात और फिर सातवां अवकाशान्तर बना ?
रोह ! सातवां अवकाशान्तर और सातवां तणुवात
पहले भी थे और आगे भी होंगे । ये दोनों शाश्वत
भाव हैं । रोह ! यह अनानुपूर्वी है—सातवें अव-
काशान्तर और सातवें तणुवात में पूर्व-पश्चात् का
क्रम नहीं है ।

३०४. एवं सत्तमं ओवासंतरं सब्बेहिं समं
संजोएतव्वं जाव सब्बद्दाए ॥

एवं सत्तमम् अवकाशान्तरं सर्वैः समं संयो-
जयितव्यं यावत् सर्वादध्वनः ।

३०४. इस प्रकार सातवें अवकाशान्तर की तणुवात
से लेकर सर्वकाल तक के सब पदों के साथ संयो-
जना करणीय है ।

३०५. पुर्विं भंते ! सत्तमे तणुवाए, पच्छा सत्तमे घणवाए ? पुर्विं सत्तमे घणवाए, पच्छा सत्तमे तणुवाए ?
रोहा ! सत्तमे तणुवाए य सत्तमे घणवाए य पुर्विं पेते, पच्छा पेते—दो बेते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

पूर्व भदन्त ! सप्तमः तनुवातः पश्चात् सप्तमः घनवातः ? पूर्व सप्तमः घनवातः पश्चात् सप्तमः तनुवातः ?
रोह ! सप्तमः तनुवातः च सप्तमः घनवातः च पूर्वमपि एतौ, पश्चादपि एतौ—द्वी वा एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

३०५. भन्ते ! क्या पहले सातवां तनुवात और फिर सातवां घनवात बना ? क्या पहले सातवां घनवात और फिर सातवां तनुवात बना ?
रोह ! सातवां तनुवात और सातवां घनवात पहले भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। रोह ! यह अनानुपूर्वी है—सातवें तनुवात और सातवें घनवात में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है।

३०६. एवं तद्देव नेयव्वं जाव सच्चद्धा ॥

एवं तथैव नेतव्यं यावत् सर्वादध्वा ।

३०६. इस प्रकार तनुवात के साथ सर्वकाल तक के सब पदों की संयोजना ज्ञातव्य है।

३०७. एवं उवरिल्लं एक्केक्कं संजोयंतेणं, जो जो हिट्ठिल्लो तं तं छट्ठतेणं नेयव्वं जाव अतीत-अणागतद्धा, पच्छा सच्चद्धा जाव अणाणुपुव्वि एसा रोहा !

एवम् उपरितनम् एकैकं संयोजयता, यद्-यद् अधस्तनम् तत्-तत् छर्दयता नेतव्यं यावद् अतीत-अणागतद्ध्वा, पश्चाद् सर्वादध्वा, यावद् अनानुपूर्वी एषा रोह !

३०७. इस प्रकार अगले प्रत्येक पद की संयोजना करते जाएं और जो-जो पहला पद है उसे छोड़ते चले जाएं यावत् अतीत और अनागत काल पश्चात् सर्वकाल यावत् रोह ! अनागत काल और सर्वकाल पहले भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। रोह ! यह अनानुपूर्वी है।

भाष्य

१. सूत्र २८८-३०७

मनुष्य ने जब चिन्तन करना प्रारंभ किया तब से ही उसके मन में मूल तत्त्व के प्रति जिज्ञासा बनी हुई है। इस सृष्टि का मूल तत्त्व क्या है ? यह खोज चिर काल से चली आ रही है। उपनिषद् के ऋषि और गूना के दार्शनिक इस खोज में संलग्न रहे हैं और उन्होंने नाना प्रकार के मत प्रतिपादित किए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार केवल वही तत्त्व इस वस्तु-जगत् का चरम सत्य है, जिससे समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है, जो समस्त वस्तुओं की सत्ता का आधार है और जिसमें अन्ततः समस्त वस्तुओं का लय होता है।^१ तैत्तिरीय का ऋषि कहता है—पहले असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुआ है।^२ बृहदारण्यक में भी असत् से सत् की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।^३ छान्दोग्य उपनिषद् में असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित है।^४ छान्दोग्य का दूसरा ऋषि कहता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? पहले एक

मात्र सत् था और इससे ही सृष्टि का निर्माण हुआ है।^५ सत्कारणवादी ऋषि भी एकमत नहीं है। बृहदारण्यक के अनुसार जगत् का मूल स्रोत जल है।^६

ग्रीक दार्शनिक थैलिस (Thales) भी जल को जगत् का मूल स्रोत मानता है।^७ उनके अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में केवल जल का ही अस्तित्व था। उपनिषद् का ऋषि नामक ऋषि वायु में समस्त पदार्थों का निलय मानता है।^८ ग्रीक दार्शनिक एनेक्सीमेनस (Anaximenes) के अनुसार वायु समस्त वस्तुओं का आदि और अन्त है।^९ ग्रीक दार्शनिक एनेक्सीमेण्डर (Anaximander) के अनुसार थिओस (Theos) नामक उपादान रूप भौतिक पदार्थ जो पूरे आकाश में व्याप्त था, सृष्टि का आदि और अन्त है। यह पृथ्वी, पानी आदि से भिन्न है।^{१०} उपनिषद् में अग्नि को मूल तत्त्व मानने का सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है।^{११} हेराक्लाइटस (Heraclitus) अग्नि को

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली प्रकरण, ३।१।१—तं होवाच, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति ।

२. वही, २।७—असद् वा इदं अग्र आसीत्, ततो वै सद् अजायत ।

३. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।२।१—नैवेह किंचनाग्र आसीत्, मृत्युर्नैवेदम् आवृत्तम् आसीत् ।

४. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१६।१—असद् एवेदम् अग्र आसीत्, ततः सद् आसीत् ।

५. वही, ६।२—कुतस्तु खलु सौम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

६. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।२।१—सोऽर्चन् अचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त । अर्चते वै मे कम् अभूद् इति; तद् एवार्कस्य अर्कत्वम्.....आपो वा अर्कः.....सा पृथिव्य् अभवत्..... ।

७. Greek Thinkers by Theoder Gomperz, vol. 1, p. 48.

८. छान्दोग्योपनिषद्, ४।३।१-४।

९. Greek Thinkers, vol 1. pp. 51-52.

१०. Ibid. p.56; The Principal Upanishads by Dr. S. Radhakrishnan, p. 404.

११. बृहदारण्यक उपनिषद्; एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. १४२-१४४ ।

मूल पदार्थों का स्रोत मानता है।^१ प्रवाहण जैवलि ने आकाश को मूल तत्त्व बतलाया है। प्रवाहण जैवलि से पूछा गया कि पदार्थों की चरम गति क्या है ? उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा—आकाश। उनके अनुसार समस्त पदार्थों का उद्भव आकाश से ही होता है। और अन्त में आकाश में ही उनका निलय हो जाता है।^२

यदि उपनिषद् के विभिन्न विषयों के नाना अभिमतों को सार-संक्षेप में प्रस्तुत किया जाए तो निष्कर्ष यह होगा—

१. जगत् का मूल तत्त्व है असत् ।
२. जगत् का मूल तत्त्व है सत् ।
३. जगत् का मूल तत्त्व है अचेतन ।
४. जगत् का मूल तत्त्व है चेतन या आत्मा ।

वैदिक ऋषि कहते हैं—उस समय प्रलय-दशा में असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सात भुवन भी नहीं थे। प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है ? कौन उसका वर्णन करता है ? यह सृष्टि किन उपादान कारणों से हुई है ? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुईं ? कहां से सृष्टि हुई वह कौन जानता है ? ये सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है, वे भी यह सब नहीं जानते हों ?^३

सृष्टिविषयक इन विभिन्न मतवादों के सन्दर्भ में रोह के प्रश्नों का मूल्यांकन किया जा सकता है। रोह के प्रश्न और महावीर के उत्तर के अध्ययन से अनादित्व का सिद्धांत फलित होता है।

लोक-अलोकवाद

अलोक का अर्थ है केवल आकाश और लोक का अर्थ है चेतन और अचेतन तत्त्व से संयुक्त आकाश। जैन दर्शन के अनुसार लोक और अलोक का विभाग नैसर्गिक है, अनादिकालीन है। वह किसी ईश्वरीय सत्ता द्वारा कृत नहीं है। लोक की स्वीकृति प्रायः सभी दर्शनों ने की है। जगत् या सृष्टि को सब मानते हैं। किन्तु अजगत् या असृष्टि को कोई दार्शनिक स्वीकार नहीं करता। यह भगवान् महावीर की मौलिक देन है। इससे पक्ष और प्रतिपक्ष तथा विरोधी युगल का सिद्धान्त फलित हुआ है। इसकी व्याख्या का सिद्धान्त है—अनेकान्तवाद। जगत् विरोधी युगलात्मक है। अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद के बिना उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

जीव-अजीववाद

भगवान् महावीर के अनुसार जीव अजीव का प्रतिपक्ष है और अजीव जीव का प्रतिपक्ष है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है; इसलिए न जीव अजीव से उत्पन्न होता है और न अजीव जीव से उत्पन्न होता है। संक्षेप में मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। विस्तार में मूल तत्त्व छह हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। इनमें पांच तत्त्व अजीव और एक जीव हैं।

जीव-अजीव के पौर्वापर्य का अभाव सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में एक नयी अवधारणा प्रस्तुत करता है। सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में दर्शन की धाराओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन या अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीव और अजीव में से किसी एक तत्त्व का वास्तविक अस्तित्व है। इस विषय में अद्वैतवाद की तीन मुख्य शाखाएं हैं—१. जड़द्वैतवाद २. चैतन्याद्वैतवाद ३. जड़चैतन्याद्वैतवाद।

जड़द्वैत के अनुसार जीव की उत्पत्ति अजीव से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रमविकासवादी दार्शनिक इसी मत के समर्थक हैं।

चैतन्याद्वैत के अनुसार सृष्टि का आदि कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहते हैं—अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सद्भाव प्रतिष्ठित है। इसी सत् में सृष्टि के उपादानभूत पृथ्वी आदि निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं।^४ ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने यह सोचा कि मैं किस प्रकार लोगों में पैदू ? तब वह नाम और रूप से लोगों में प्रविष्ट हुआ।^५

जड़चैतन्याद्वैत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति जीव और अजीव—इन दोनों गुणों के मिश्रण से हुई है। जड़द्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनों कारणानुरूप कार्योत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य का प्रादुर्भाव होता है। जैन दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्पगृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी

१. Greek Thinkers, vol: 1, p.63; The Principal Upanishads, p.33, footnote 3.

२. छान्दोग्य उपनिषद्, १।८।८, १।६।१—तं ह प्रवाहणो जैवलिर् उवाच—अस्य लोकस्य का गतिर् इत्य् आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्य् आकाशाद् एव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तम् यान्य् आकाशो ह्य् एवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम् ।

३. ऋग्वेद, मंडल १०, अनुवाक ११, सूक्त १२६, श्लोक १, ६, ७—
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

को अद्वा वेद न इह प्रयोचकृत आज्ञाता कुत इयं विसृष्टिः ।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनिनाथा को वेद यत आवभूव ॥

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो आस्याध्यक्षः परमे व्योमन्तो अद्भवेद यदि वा न वेद ॥

४. अथर्ववेद, १७।१।१९—

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितं ।

भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम् ॥

५. शतपथ ब्राह्मण, १।१।२।३—तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवेद रूपेण चैव नाम्ना च ।

में समाविष्ट नियमों द्वारा होती है। ये नियम जीव और अजीव के विविध जातीय संयोग से स्वतः निष्पन्न हैं।

भवसिद्धिक-सिद्धि-और सिद्धवादा

भवसिद्धिक, सिद्धि और सिद्ध—ये तीनों युगल मूल तत्त्व नहीं हैं, फिर भी इनका अस्तित्व अनादिकालीन है।

भगवान् महावीर के अनुसार जिस प्रकार यह सृष्टि का चक्र पर्याय-मुक्त चल रहा है, उसी प्रकार सिद्धि का क्रम भी इससे भिन्न नहीं है। सिद्धि और असिद्धि ये दोनों शाश्वत भाव हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने भी सिद्धि और असिद्धि दोनों पहलुओं पर विचार किया है, दोनों को स्वीकार किया है, पर उनकी व्याख्या अर्हद्दृष्टि से भिन्न है। उनके अनुसार अनादिकालीन सिद्धि का अधिकारी केवल ईश्वर है, क्योंकि वह मुक्त पुरुष की तरह पूर्वबद्ध और प्रकृतिलीन की तरह उत्तरबद्ध नहीं होता। वह सदैव बंधमुक्त होता है। उसकी यह बंधनमुक्ति ही अनादिसिद्धि है।^१

सू. २६६ से जगत् की संरचना के घटक तत्त्वों का अनादित्व बतलाया गया है। ये घटक तत्त्व छह हैं—अलोक, अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि और पृथ्वी। अलोक पोले गोले के समान है।^२ वह लोक के चारों ओर व्याप्त है। लोक उसमें समाया हुआ है। उपमा की भाषा में इसे (लोक को) आगासधिगल—आकाशरूपी वस्त्र की एक कारी या धिगली कहा जा सकता है।^३ अलोक की सीमा से सटा हुआ है सातवां अवकाशान्तर। उसके ऊपर सातवां तनुवात, फिर क्रमशः सातवां घनवात, सातवां घनोदधि और सातवीं पृथ्वी। अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि और पृथ्वी ये सभी सात-सात हैं।^४

वृत्तिकार के अनुसार इन सूत्रों के द्वारा शून्यवाद, विज्ञानवाद और ईश्वरवाद का निरसन होता है, अनादित्व का सिद्धान्त स्थापित होता है।^५

शब्द-विमर्श

भवसिद्धिक—जिसमें मोक्षगमन की योग्यता हो, वह भवसिद्धिक कहलाता है। भव्य इसका पर्यायवाची नाम है।^६ दिगम्बर-साहित्य में

भवसिद्धिक की व्याख्या दूसरे नयों से की गई है—

१. केवली का सुख सर्वोत्कृष्ट होता है, यह सुनकर जो उसमें श्रद्धा करता है, वह भव्य और जो उसमें श्रद्धा नहीं करता, वह अभव्य है।^७

२. जिसमें अनन्त-चतुष्टयी (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) के विकास की योग्यता होती है, वह भव्य और जिसमें अनन्त-चतुष्टयी के विकास की योग्यता नहीं होती, वह अभव्य है।^८

अवकाशान्तर—आकाश लोक और अलोक दोनों में विद्यमान है। लोक में सात अवकाशान्तर माने गये हैं। तत्त्वार्थसूत्र में अवकाशान्तर के स्थान पर 'आकाश' शब्द का प्रयोग मिलता है।^९ अवकाशान्तर आकाश का एक पर्यायवाची नाम है।^{१०} प्रत्येक पदार्थ में अवकाश होता है। परमाणु भी अवकाशशून्य नहीं है। अवकाशान्तर का यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित है। परमाणु के दो भाग हैं—इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन। इन दोनों के बीच में एक अवकाश विद्यमान रहता है। दुनियां के समस्त पदार्थों में से यदि अवकाश को निकाल लिया जाए, तो उसकी ठोसता आंवेले के आकार से बृहत् नहीं होती।

तनुवात, घनवात, घनोदधि—इनका शाब्दिक अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

तनुवात—तरलीभूत वायु

घनवात—घनीभूत वायु

घनोदधि—जल की घनीभूत तरल अवस्था।

प्रत्येक पृथ्वी इन तीनों वलयों से परिक्षिप्त होती है।^{११} तत्त्वार्थ-वृत्ति में घनोदधि को भी वातवलय बतलाया गया है।^{१२} तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में घनोदधि का अर्थ सघन जल किया गया है।^{१३} अभयदेवसूरि ने घनोदधि की व्याख्या 'हिमशिला की भांति सघन जल-समूह' की है।^{१४} अकलंकदेव के अनुसार घनोदधि, घनवात और तनुवात—ये तीन वलय हैं। रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों घनोदधि-प्रतिष्ठित हैं, घनोदधि घनवात-प्रतिष्ठित है, घनवात तनुवात-प्रतिष्ठित है, तनुवात आकाश-प्रतिष्ठित है और आकाश आत्मप्रतिष्ठित है। इन तीनों वलयों में प्रत्येक वलय की मोटाई बीस हजार योजन बतलाई गई है।^{१५}

१. पा.यो.द.१।२४।

२. भ.११।६६—अलोए णं भंते ! किंसेटिए पण्णते ?

गोयमा ! झुसिरगोलसंठिए पण्णते ॥

३. पण्ण.१५।५३—आगासधिगले णं भंते ! किणा फुडे ? कइहिं वा काएहिं फुडे ?

४. टाणं.७।१४-२२।

५. भ.वृ.१।३०१—एतानि च सूत्राणि शून्यज्ञानादिवादनिरासेन विचित्रबाह्या-ध्यात्मिकवस्तुसत्ताऽभिधानार्थानि ईश्वरादिकृतत्वनिरासेन चानादित्वाभिधानार्थानीति।

६. वही.१।२६२—भविष्यतीति भवा, भवा सिद्धिः— निवृत्तिर्येषां ते भव-सिद्धिकाः, भव्या इत्यर्थः।

७. प्र.सा.गा.६२—

णो सद्दहति सोक्खं, सुहेसु परमंति विगदद्यादीणं।

सुणिदूण ते अभव्या, भव्या वा तं पडिच्छंति ॥

८. नियमसारतात्पर्यवृत्ति, गा.१५६—भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टय्यात्मसहज-ज्ञानादिगुणैः भवनयोग्याः भव्याः, एतेषां विपरीताः ह्यभव्याः।

९. त.सू.३।१—घनाम्बु-वाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।

१०. भ.२०।१६।

११. टाणं.३।५२२।

१२. त.वृ.३।१।

१३. त.रा.वा.३।१,पृ.१६०।

१४. स्था.वृ.प.१.६६—तत्र घनः—स्त्यानो हिमशिलावद् उदधिः— अर्लानचयः, स थ इति घनोदधिः।

१५. त.रा.वा.३।१,पृ.१६०—सर्वा एता भूमयः घनोदधिवलयप्रतिष्ठाः, घनो-दधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठितम्, घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठितम्, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठितम्, आकाशमात्मप्रतिष्ठितं, तस्यैवाधाराधेयत्वात्

तिलोपपण्णत्ती में इनके वर्णों का भी उल्लेख मिलता है: घनोदधि का वर्ण गोमूत्र के समान है। घनवात का वर्ण मूंग के समान और तनुवात अनेक वर्ण वाला है।^१ तत्त्वार्षराजवार्तिक में वर्ण का निर्देश कुछ व्यत्यय के साथ मिलता है। घनोदधि का वर्ण मूंग के समान, घनवात का वर्ण गोमूत्र के समान और तनुवात का अव्यक्त वर्ण है।^२

घनोदधि, घनवायु, तनुवायु : वैज्ञानिक मीमांसा

आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की तीन अवस्थाएँ होती हैं—ठोस या घन (solid), तरल (liquid) और वायु (gas)। जैसे—पानी सामान्य तापमान पर तरल अवस्था में होता है। तापमान १००° सेंटीग्रेड होने पर वाष्प (या वायु अवस्था) में परिणत हो जाता है, तथा तापमान ०(शून्य) डिग्री सेंटीग्रेड होने पर बर्फ (या ठोस अवस्था) में परिणत हो जाता है। यही स्थिति हवा की है। हवा (air) अपने आप में नाइट्रोजन, आक्सीजन, आर्गॉन आदि वायुओं का एक मिश्रण है। सामान्य तापमान एवं दबाव की स्थिति में वह सदा वायु अवस्था में रहती है। सामान्य दबाव की स्थिति में शून्य से १६०° सेंटीग्रेड कम

तापमान पर हवा तरल हो जाती है तथा शून्य से २६०° कम तापमान पर हवा ठोस हो जाती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त घनोदधि और घनवात से यदि यह तात्पर्य लिया जाए कि जब सम्पूर्ण वातवलय तरल रूप धारण कर ले, तब उसे घनोदधि और ठोस रूप धारण कर ले तब उसे घनवात कहा जाय, तो ऐसा माना जा सकता है कि घनोदधि अवस्था में तापमान -१६०° सें. ग्रे. तथा घनवात अवस्था में तापमान -२६०° सें. ग्रे. होता है। तरल अवस्था में हवा (liquid air) का रंग थोड़ा नीला-सा हो जाता है तथा वह बहुतांश में पानी जैसी ही लगती है।

पृथ्वी के चारों ओर हवा का जो वातावरण है, उसमें भी भिन्न-भिन्न स्तर या वलय हैं। पृथ्वीतल से लगभग ५० मील (८० किलोमीटर) ऊपर जाने के पश्चात् जो स्तर है उसे थर्मोस्फीयर कहा जाता है, जहाँ हवा बहुत ही पतली हो जाती है। इसकी तुलना तनुवात से की जा सकती है। यह वलय लगभग ३०० मील (४८० कि. मी.) तक फैला हुआ है। थर्मोस्फीयर के नीचे मेसोस्फीयर है जो बहुत ठंडा होता है, जहाँ का तापमान -६३° सें. ग्रे. तक हो जाता है।^३

३०८. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावद् विहरति।

३०८. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है—इस प्रकार मुनि रोह यावत् संयम और तप से अपने आप को भावित करता हुआ विहरण कर रहा है।

लोयडिति-पदं

लोकस्थिति-पदम्

लोकस्थिति-पद

३०६. भंतेति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं जाव एवं बयासी—

भदन्त ! अयि ! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं यावद् एवमवादीत्—

३०६. भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को 'भन्ते' इस संबोधन से संबोधित कर इस प्रकार बोले—

३१०. कतिविहा णं भंते ! लोयडिती पण्णत्ता ?

कतिविधा भदन्त ! लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता ?

३१०. भन्ते ! लोकस्थिति कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है ?

गोयमा ! अडुविहा लोयडिती पण्णत्ता, तं जहा—१. आगासपइडिए वाए । २. वाय-पइडिए उदही । ३. उदहिपइडिया पुढवी । ४. पुढवीपइडिया तसयावरा पाणा । ५. अजीवा जीवपइडिया । ६. जीवा कम्म-पइडिया । ७. अजीवा जीवसंगहिया । ८. जीवा कम्मसंगहिया ॥

गौतम ! अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद् यथा—१. आकाशप्रतिष्ठितः वातः २. वात-प्रतिष्ठितः उदधिः ३. उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी ४. पृथिवीप्रतिष्ठिताः त्रसथावराः प्राणाः ५. अजीवाः जीवप्रतिष्ठिताः ६. जीवाः कर्म-प्रतिष्ठिताः ७. अजीवाः जीवसंगृहीताः ८. जीवाः कर्मसंगृहीताः ।

गौतम ! लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—१. वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है। २. समुद्र वायु पर प्रतिष्ठित है। ३. पृथ्वी समुद्र पर प्रतिष्ठित है। ४. त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं। ५. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं। ६. जीव कर्म से प्रतिष्ठित हैं। ७. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं। ८. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

त्रीण्यथेतानि वलयान्यन्वर्थसंज्ञानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबाहुल्यानि ।

१. ति.प.१।२६८—

गोमुत्तमुग्गवण्णा घणोदधी तह घणाणिलो याऊ ।
तणुवादी बहुवण्णो रुक्खस्स तथं व वलयतियं ॥

२. त.रा.वा.३।१९,पृ.१६०—तत्र घनोदधयो मुद्गसत्रिभाः, घनवाता गोमूत्र-घर्णाः, अव्यक्तवर्णास्तनुवाताः ।

३. The World Book Encyclopaedia, vol. 1, pp. 154-157; vol. 12, p. 304.

३११. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं चुच्चइ—
अट्टविहा लोयट्टिती जाव जीवा कम्म-
संगहिया ?

गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे वत्थि-
माडोवेइ, वत्थिमाडोवेत्ता उप्पिं सित्तं बंधइ,
बंधित्ता मज्जे गंठिं बंधइ, बंधित्ता उवरिल्लं
गंठिं मुयइ, मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेइ,
वामेत्ता उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ,
पूरेत्ता उप्पिं सित्तं बंधइ, बंधित्ता मज्झिल्लं
गंठिं मुयइ । से नूणं गोयमा ! से आउयाए
तस्स बाउयायस्स उप्पिं उवरिमत्तले चिट्ठइ ?

हंता चिट्ठइ ।

से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं चुच्चइ—अट्टविहा
लोयट्टिती जाव जीवा कम्मसंगहिया ।

से जहा वा केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेइ, वत्थि-
माडोवेत्ता कडीए बंधइ, बंधित्ता अत्याह-
मत्तारमपोरुसियंसि उदागंसि ओगाहेज्जा । से
नूणं गोयमा ! से पुरिसे तस्स आउयायस्स
उवरिमत्तले चिट्ठइ ?

हंता चिट्ठइ ।

एवं वा अट्टविहा लोयट्टिती जाव जीवा
कम्मसंगहिया ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अष्टविधा
लोकस्थितिः यावज् जीवाः कर्मसंगृहीताः ?

गौतम ! स यथानामकः कश्चित् पुरुषः
वस्तिम् आटोपयति, वस्तिम् आटोप्य उपरि
सित्तं बध्नाति, बद्ध्वा मध्ये ग्रन्थिं बध्नाति,
बद्ध्वा उपरितनं ग्रन्थिं मुञ्चति, मुक्त्वा
उपरितनं देशम् वमयति. वमयित्वा उपरितनं
देशम् अप्कायेन पूरयति, पूरयित्वा उपरि
सित्तं बध्नाति, बद्ध्वा मध्यमं ग्रन्थिं मुञ्चति ।
अथ नूनं गौतम ! सः अप्कायः तस्य वायु-
कायस्य उपरि उपरितनतले तिष्ठति ?

हन्त तिष्ठति ।

तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—अष्टविधा
लोकस्थितिः यावज् जीवाः कर्मसंगृहीताः ।

स यथा वा कश्चित् पुरुषः वस्तिम् आटो-
पयति, वस्तिम् आटोप्य कट्यां बध्नाति,
बद्ध्वा अस्ताघाताशायोरुपेये उदके अव-
गाहते । अथ नूनं गौतम ! स पुरुषः तस्य
अप्-कायस्य उपरितनतले तिष्ठति ?

हन्त तिष्ठति ।

एवं वा अष्टविधा लोकस्थितिः यावज् जीवाः
कर्मसंगृहीताः ।

३११. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत्
जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं ?

गौतम ! जैसे कोई पुरुष किसी मशक में हवा
भरता है, उसमें हवा भरकर ऊपर (मुंह के स्थान
पर) गांठ देता है । फिर मशक के मध्य भाग में
गांठ लगाता है, वहां गांठ लगाकर ऊपर की गांठ
को खोलता है । उसे खोलकर ऊपर के भाग की
हवा को वाहर निकाल देता है । उसे निकाल कर
ऊपर के भाग को जल से भरता है । उसे जल
से भरकर ऊपर गांठ देता है, वहां गांठ देकर
फिर मध्य भाग की गांठ खोलता है । गौतम !
क्या वह पानी उस वायु के ऊपर-ऊपर ठहरता
है ?

हां, ठहरता है ।

गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—
लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव
कर्म के द्वारा संगृहीत हैं ।

जैसे कोई पुरुष मशक में हवा भरता है, उसमें
हवा भरकर उसे अपने कटि-प्रदेश में बांधता है,
वहां बांधकर अथाह, अतर तथा अधीरुपेय जल
में अवगाहन करता है । गौतम ! क्या वह पुरुष
जल के ऊपर-ऊपर ठहरता है ?

हां, ठहरता है ।

इसी प्रकार लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है
यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३१०, ३११

आकाश-प्रतिष्ठित—आकाश स्व-प्रतिष्ठित है, इसलिए उसका
किसी पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख नहीं है।^१ उदधि-प्रतिष्ठित पृथ्वी
है। पृथ्वी उदधि पर प्रतिष्ठित है, यह सापेक्ष वचन है। ईषत्प्राग्भारा
पृथ्वी आकाश पर प्रतिष्ठित है।^२ पृथ्वी-प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर प्राणी
हैं। यह भी सापेक्ष वचन है। त्रस-स्थावर प्राणी आकाश, पर्वत और
विमान पर प्रतिष्ठित भी होते हैं।^३

जीव-प्रतिष्ठित अजीव—वृत्तिकार ने अजीव का अर्थ 'शरीर

आदि पुद्गल' किया है।^४ इसका तात्पर्य यह है कि अजीव-वृष्टि का
जो नानात्व है, जितने दृश्य-परिवर्तन और परिणामन हैं, वे जीव के
द्वारा कृत हैं। जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह या तो जीवच्छरीर
है या जीव-मुक्त शरीर है। इस अपेक्षा से अजीव जीव पर प्रतिष्ठित
है।

कर्म-प्रतिष्ठित जीव—जीव का जितना नानात्व है, उसके जितने
परिवर्तन और विविध रूप हैं, वे सब कर्म के द्वारा निष्पन्न हैं। इस

१. भ.वृ. १।३१०—आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितमेवेति न तत्प्रतिष्ठाचिन्ता कृतेति ।

२. वही, १।३१०—वाहुत्यापेक्षया चेदमुक्तम्, अन्यथा ईषत्प्राग्भारा पृथिवी
आकाशप्रतिष्ठितैव ।

३. वही, १।३१०—तथा पृथिवीप्रतिष्ठितास्त्रसस्थावराः प्राणाः, इदमपि प्रायिकमेव,

अन्यथाऽऽकाशपर्वतविमानप्रतिष्ठिता अपि ते सन्तीति ।

४. वही, १।३१०—तथाऽजीवाः—शरीरादिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु
तेषां स्थितत्वात् ।

अपेक्षा से जीव को कर्म-प्रतिष्ठित कहा गया है। इस सन्दर्भ में जीव के विभक्ति-भाव का सूत्र द्रष्टव्य है।

जीव-संगृहीत अजीव—अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं, उनमें कथञ्चित् एकालक सम्बन्ध स्थापित होता है; इसलिए उनमें परिवर्तन घटित होता है।

कर्म-संगृहीत जीव—कर्म का जीव के साथ संबन्ध स्थापित

होता है; इसलिए उनके द्वारा जीव में परिवर्तन घटित होता है। वृत्तिकार ने 'प्रतिष्ठित' की व्याख्या आधाराधेय भाव के साथ तथा 'संगृहीत' की व्याख्या संग्राह्य-संग्राहक भाव के साथ की है।

सित—ग्रन्थि।

अपौरुषेय—पुरुष के शरीर-मान से अधिक प्रमाण वाला।

जीव-पोगल-पदं

३१२. अत्थि णं भंते ! जीवा य पोगला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुद्दा, अण्णमण्णमोगादा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ?
हंता अत्थि ॥

३१३. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोगला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुद्दा, अण्णमण्णमोगादा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ?
गोयमा ! से जहाणामए हरेदे सिया पुण्णे पुण्णम्ममाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिद्धइ ।

अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरदंसि एणं महं नावं सयासवं सयधिद्धं ओगाहेजा। से नूणं गोयमा ! सा नावा तेहिं आसवदारोहिं आपूरमाणी-आपूरमाणी पुण्णा पुण्णम्ममाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिद्धइ ?
हंता चिद्धइ ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थि णं जीवा य पोगला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुद्दा, अण्णमण्णमोगादा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धंति ॥

जीव-पुद्गल-पदम्

अस्ति भदन्त ! जीवाः च पुद्गलाः च अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्टाः, अन्योन्यावगाढाः, अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्यघटतया तिष्ठन्ति ?
हन्त अस्ति ।

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—अस्ति जीवाः च पुद्गलाः च अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्टाः, अन्योन्यावगाढाः, अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्यघटतया तिष्ठन्ति ?

गीतम ! स यथानामकः हृदः स्यात् पूर्णः पूर्णप्रमाणः व्यप्लोटन् विकसन् समभरघटतया तिष्ठति ।

अथ कश्चिद् पुरुषः तस्मिन् हृदे एकां महतीं नावं शताश्रवां शतच्छिद्रां अवगाहयेत् । अथ नूनं गौतम ! सा नौः तैः आश्रवद्वारैः आपूर्यमाणा-आपूर्यमाणा पूर्णा पूर्णप्रमाणा व्यप्लोटती विकसती समभरघटतया तिष्ठति ?

हन्त तिष्ठति ।

तत् तेनार्येण गौतम ! एवमुच्यते—अस्ति जीवाः च पुद्गलाः च अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्टाः, अन्योन्यावगाढाः, अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्यघटतया तिष्ठन्ति ।

जीव-पुद्गल-पद

३१२. भन्ते ! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं ?
हां, बने हुए हैं ।

३१३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं ?

गीतम ! जैसे कोई द्रव (नद) है। वह जल से पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाला, छलकता हुआ, हिलोरें लेता हुआ चारों ओर से जलजलाकार हो रहा है।

कोई व्यक्ति उस द्रव में एक बहुत बड़ी सैकड़ों आश्रवों और सैकड़ों छिद्रों वाली नौका को उतारे। गौतम ! वह नौका उन आश्रव-द्वारों के द्वारा जल से भरती हुई-भरती हुई, पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाली, छलकती हुई, हिलोरें लेती हुई, चारों ओर से जलजलाकार हो जाती है ?
हां, हो जाती है ।

गीतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं ।

१. भ. १२।१२०—कम्मओ णं भंते ! जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?

कम्मओ णं जए नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?

हंता गोयमा ! कम्मओ णं जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ

णं जए नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ।

२. भ. वृ. १।३१०—अथाजीवाः जीवप्रतिष्ठितास्तथाऽजीवा जीवसंगृहीता इत्येतयोः को भेदः ? उच्यते—पूर्वस्मिन् वाक्ये आधाराधेयभाव उक्तः, उत्तरे तु संग्राह्यसंग्राहकभाव इति भेदः। यच्च यस्य संग्राह्यं तत्तस्याधेयमप्यर्थापत्तितः

स्याद् यथाऽपूपस्य तैलमित्याधाराधेयभावोयुत्तरवाक्ये दृश्येति । तथा जीवाः कर्मसंगृहीताः संसारिजीवानामुदयप्राप्तकर्मवशवर्तित्वात्, ये च यद्दशास्ते तत्र प्रतिष्ठिताः । यथा घटे रूपादयः इत्येवमिहाध्याधाराधेयता दृश्येति ।

३. वही, १।३११—सितं 'षिड् बन्धने' इति वचनात् । कप्रत्ययस्य च भावार्थत्वात् कर्माथत्वाद्वा बन्धं—ग्रन्थिमित्यर्थः ।

४. वही, १।३११—पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषेयं तद्वतिषेधाद् अपौरुषेयम् ।

भाष्य

१. सूत्र ३१२, ३१३

जीव और पुद्गल का सम्बन्ध

जीव और पुद्गल दोनों में अत्यन्ताभाव है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता, अचेतन कभी चेतन नहीं बनता। अस्तित्व की त्रैकालिक स्वतन्त्रता होने पर भी क्या इनमें कोई सम्बन्ध हो सकता है ? प्रस्तुत सूत्र में इस विषय पर विमर्श किया गया है। गौतम ने जिज्ञासा की—भंते ! क्या जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाह, स्नेह-प्रतिबद्ध और एक घटक के रूप में रहते हैं ?

भगवान् ने इसका उत्तर 'हां' में दिया। इन दोनों तत्त्वों में प्रगाढ संबंध है। संबंध और विसंबंध के आधार पर जीव दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। जो जीव पुद्गल के साथ घुले-मिले होते हैं, वे संसारी या बद्ध कहलाते हैं। पुद्गल से अस्पृष्ट जीव मुक्त या सिद्ध कहलाते हैं।

संसारी जीव पुद्गल से इतने घुले-मिले हैं कि पुद्गल को छोड़कर उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य सिद्धसेन ने जीव और पुद्गल के संबंध पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने बताया है—जीव और पुद्गल दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत हैं; इसीलिए उनमें 'यह जीव' और 'वह पुद्गल' है—ऐसा विभाग करना उचित नहीं है। यह जीव और पुद्गल का अभेदात्मक प्रतिपादन है। रूप आदि तथा बाल्य, यौवन आदि पर्याय शरीरगत होते हैं, पर वे जीव से अप्रभावित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। जीव में इन्द्रिय-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि के पर्याय होते हैं, उन्हें भी पुद्गल से अप्रभावित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से जीव और पुद्गल में प्रगाढ संबंध स्थापित होता है। उनका तात्त्विक स्वरूप भिन्न है, इसलिए उनमें स्वरूपगत भेद भी है। यह जीव और पुद्गल के भेदाभेद की अनेकान्त दृष्टि है।^१

जीव और पुद्गल का संबंध भौतिक होता है या अभौतिक ? यह एक प्रश्न है। संसारी अवस्था में जीव सर्वथा अभौतिक नहीं होता; इसलिए जीव और पुद्गल के संबंध को भौतिक माना जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह संबंध केवल जीव या पुद्गल की ओर से ही नहीं होता, किन्तु दोनों ओर से होता है। इसकी जानकारी हमें 'स्नेह-प्रतिबद्ध' से मिलती है। जीव में स्नेह है—आश्रव

और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस उभयात्मक स्नेह के द्वारा परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है। नीका में छिद्र है तो पानी अपने आप उसमें भर जाएगा। प्रस्तुत सूत्र में इस संबंध को बन्ध, स्पर्श, अवगाह, स्नेह-प्रतिबद्ध और 'घटा' (एकीभूत अवस्था) इन पांच रूपों में प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव में होने वाले स्निग्ध परिणाम का प्रतिपादन किया है।^१

शरीर और मनस् का सम्बन्ध

जैन दर्शन के अनुसार चित्त चैतन्य स्वरूप और मनस् अचेतन होता है।^१ फिर भी व्यावहारिक परिभाषा के अनुसार हम चित्त के स्थान पर मन का प्रयोग कर रहे हैं। मन चेतन है और शरीर अचेतन है, फिर इन दोनों में सम्बन्ध कैसे हो सकता है और ये एक दूसरे को प्रभावित कैसे कर सकते हैं ? इस विषय में जैन दर्शन का स्पष्ट अभिमत है कि संसारी जीव स्वरूपतः चेतन होते हुए भी पुद्गल या शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इन दोनों में नैसर्गिक सम्बन्ध चला आ रहा है। ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं; इसलिए इनमें अन्तःक्रिया होती है और इसलिए वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मन और शरीर के सम्बन्ध की समस्या बहुत दिनों से चली आ रही है। देकार्त ने मन की धारणा को नए रूप में प्रस्तुत किया। उससे पहले दार्शनिकों ने मन और शरीर को एक ही तत्त्व के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया था। परन्तु देकार्त ने मन को शरीर से भिन्न माना। पहले मन तथा शरीर सापेक्ष माने जाते थे, परन्तु देकार्त ने निरपेक्ष रूप से दोनों की सत्ता स्वीकार की। देकार्त के अनुसार शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है और मन में चेतन तत्त्व वर्तमान है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शरीर का मन पर और मन का शरीर पर कैसे प्रभाव पड़ता है ? जब हम कोई कार्य अपनी इच्छा से करते हैं तो जान पड़ता है कि मन का शरीर पर प्रभाव है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव होता है।

१. सम्प्रति.१।४७, ४८—

अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं व तं व' ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥
रूआइ पज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवण्णिज्जा भवत्थम्मि ॥

२. पञ्चास्तिकाय, या.१२८-१३० पर तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, पृ.१८८—इह हि संसा-

रिणो जीवादनादिबंधनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति ।

३. भ.१३।१२६—आया भंते ! मणे ? अण्णे मणे ?

गोयमा ! नो आया मणे, अण्णे मणे ।

रुवि भंते ! मणे ? अरुवि मणे ?

गोयमा ! रुवि मणे, नो अरुवि मणे ।

सचित्ते भंते ! मणे ? अचित्ते मणे ?

गोयमा ! नो सचित्ते मणे, अचित्ते मणे ।

जीवे भंते ! मणे ? अजीवे मणे ?

गोयमा ! नो जीवे मणे, अजीवे मणे ।

जीवाणं भंते मणे ? अजीवाणं मणे ?

गोयमा ! जीवाणं मणे, नो अजीवाणं मणे ।

स्विनोज्ञा के अनुसार मन और शरीर एक ही द्रव्य के दो पहलु हैं। दोनों का सम्बन्ध ईश्वर से है। वे इसी सत्ता के चिंतन और विस्तार के रूप हैं। एक ही द्रव्य के गुण के आकार होने के कारण दोनों एक दूसरे से मिले रहते हैं, यद्यपि क्रियात्मक रूप से मन और शरीर अलग-अलग जान पड़ते हैं। शरीर पर सदैव बाह्य पदार्थों के प्रभाव पड़ते रहते हैं तथा उसमें निरन्तर नए रूप दिखलाई पड़ते रहते हैं। इन परिवर्तनों का बोध मन को होता रहता है। बाह्य पदार्थ जिस रूप में शरीर को प्रभावित करते रहते हैं, मन उसको भी उसी रूप में ही जान सकता है, वास्तविक रूप में नहीं। इससे सिद्ध होता है—मन को शरीर प्रभावित नहीं करता और न शरीर को मन प्रभावित करता है।

लाइबनिस् ने शरीर और मन के सम्बन्ध को कार्य-कारणवाद के आधार पर समझाया। उसके अनुसार शरीर और मन स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी क्रियाएं करते हैं। मन और शरीर एक दूसरों को प्रभावित नहीं करते।

मनोविज्ञान में भी जिज्ञासा है कि शरीर और मन में क्या सम्बन्ध है ? शरीर मन को प्रभावित करता है या मन शरीर को प्रभावित करता है ? ठीक यही प्रश्न हमारे सामने है कि शरीर चेतना को प्रभावित करता है या चेतना शरीर को प्रभावित करती है ? इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। शरीर और चेतना को सर्वथा स्वतन्त्र स्वीकार कर हम व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु सापेक्ष स्वतन्त्र स्वीकार कर हम उनके सम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव की व्याख्या कर सकते हैं।

परिभोक्ता और परिभोग्य

प्रस्तुत सूत्र में जीव को परिभोक्ता और पुद्गलों को परिभोग्य कहा है। जीव और पुद्गल में परिभोक्ता और परिभोग्य का सम्बन्ध है। जीव चेतन है, इसलिए वह परिभोक्ता है। अजीव अचेतन है, इसलिए वह परिभोग्य है। चेतन में परिभोक्तृत्व नामक पर्याय है और अचेतन में परिभोग्य नामक पर्याय है। इन पर्यायों के कारण चेतन और अचेतन में सम्बन्ध स्थापित होता है। हम खाते हैं, काम करते हैं, इन्द्रिय-संवेदन करते हैं, श्वास लेते हैं, बोलते हैं और सोचते हैं, यह अचेतन का चेतन पर प्रभाव है। मस्तिष्क द्वारा संवेदन और ज्ञान हो रहा है। अचेतन शरीर चेतन बना हुआ है, यह चेतन का अचेतन पर प्रभाव है।

सम्बन्ध-प्रक्रिया को जानने का दार्शनिक मूल्य ही नहीं, इसका आध्यात्मिक मूल्य भी है। सम्बन्धातीत, विचारातीत और प्रभावातीत साधना सम्बन्ध-ज्ञान के बाद ही संभव हो सकती है।

निष्कर्ष

१. अनेकान्त दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं; इसलिए इनमें सम्बन्ध हो सकता है।
२. इस संसार में जीव का अस्तित्व पुद्गल-मुक्त नहीं है; संसारी जीव शुद्ध नहीं, यौगिक है।
३. चेतन और अचेतन को सर्वथा भिन्न तथा संसारी जीव को सर्वथा शुद्ध मानने पर ही सम्बन्ध की समस्या जटिल बनती है।
४. भेद-विज्ञान की साधना चेतन और अचेतन के सापेक्ष सम्बन्ध के आधार पर ही हो सकती है, आध्यात्मिक दृष्टि से इसका बहुत मूल्य है।

सिणेहकाय-पदं

३१४. अत्थि णं भन्ते ! सदा समितं सुहुमे
सिणेहकाए पवडइ ?
हंता अत्थि ॥

३१५. से भन्ते ! किं उड्ढे पवडइ ? अहे
पवडइ ? तिरिए पवडइ ?

गोयमा ! उड्ढे वि पवडइ, अहे वि पवडइ,
तिरिए वि पवडइ ॥

३१६. जहा से बायरे आउयाए अण्ण-
मण्णसमाउत्ते चिरं पि दीहकालं चिड्ढइ तथा
णं से वि ?
णो इण्ढे समड्ढे । से णं खिण्णामेव विध्वंस-
मागच्छइ ॥

झेहकाय-पदम्

अस्ति भदन्त ! सदा समितं सूक्ष्मः ज्ञेहकायः
पतति ?
हन्त अस्ति ।

तद् भदन्त ! किम् ऊर्ध्वं पतति ? अधः
पतति ? तिर्यक् पतति ?

गौतम ! ऊर्ध्वमपि पतति, अधोऽपि पतति,
तिर्यगपि पतति ।

यथा स बादरः अप्कायः अन्योन्यसमायुक्तः
चिरमपि दीर्घकालं तिष्ठति तथा सोऽपि ?
नो अयमर्थः समर्थः । स क्षिप्रमेव विध्वंस-
मागच्छति ।

झेहकाय-पद

३१४. भन्ते ! क्या सूक्ष्म ज्ञेहकाय सदा संगठित
रूप में गिरता है ?
हां, गिरता है ।

३१५. भन्ते ! क्या वह ऊंचे लोक में गिरता है ?
नीचे लोक में गिरता है ? तिरछे लोक में गिरता
है ?

गौतम ! ऊर्ध्वलोक में भी गिरता है, नीचे लोक
में भी गिरता है, तिरछे लोक में भी गिरता है ।

३१६. जैसे वह बादर (स्थूल) जल परस्पर संयुक्त
होकर बहुत लम्बे समय तक रहता है, क्या वैसे ही
सूक्ष्मजल भी बहुत लम्बे समय तक रहता है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह शीघ्र ही
विध्वंस को प्राप्त हो जाता है ।

१. (क) भ. २५।१७—जीवदव्याणं अजीवदव्या परिभोगत्ताए हव्यमागच्छंति ।
नो अजीवदव्याणं जीवदव्या परिभोगत्ताए हव्यमागच्छंति ॥

(ख) भ. वृ. प. ८५६—इह जीवद्रव्याणि परिभोजकानि सचेतनत्वेन प्राहकत्वाद्
इतराणि तु परिभोग्यान्यचेतनतया ग्राह्यत्वात् ।

भाष्य

१. सूत्र ३१४-३१६

स्नेहकाय जल का एक प्रकार है। पणवणा में बादर अप्काय के अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं, जैसे—अवश्याय, हिम, कुहासा, ओला आदि-आदि।^१ अभयदेवसूरि ने स्नेहकाय की व्याख्या नहीं की। मलयगिरि ने बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति में स्नेह का अर्थ अवश्याय, कोहरा, हिम, बर्फ आदि किया है। प्रस्तुत आलापक में 'स्नेह' के साथ 'सूक्ष्म' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि ओस से भी सूक्ष्म जल-द्रव्य के लिए 'सूक्ष्म-स्नेह' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रकरण के अनुसार वह निरन्तर गिरता है। बृहत्कल्पभाष्य में स्निग्ध और रूक्ष काल के अनुसार उसके गिरने के समय का निर्देश किया गया है। शिशिरकाल में प्रथम और अन्तिम प्रहर में वह अधिक मात्रा में गिरता है। ग्रीष्मकाल में प्रथम और अन्तिम प्रहर के आधे-आधे भाग में वह अधिक गिरता है।^२ शेष समय में वह अल्प गिरता है। अभयदेवसूरि का भी यही अभिमत है।^३

सूक्ष्म स्नेहकाय की तुलना आर्द्रता (humidity) से की जा सकती है।

सूक्ष्म स्नेहकाय ऊंचे, नीचे और तिरछे तीनों लोकों में गिरता

है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वह तमस्काय से गिरता है और पूरे वातावरण में व्याप्त होता है।^४ वृत्तिकार ने ऊर्ध्व की व्याख्या में वर्तुलवैताद्वय आदि का उल्लेख किया है। 'अधो' की व्याख्या में अधोलोकवर्ती ग्रामों का उल्लेख किया है।^५

शब्द-विमर्श

सदा समित्त—वृत्तिकार ने 'सदा' का अर्थ सर्वदा और 'समित्त' का अर्थ सपरिमाण किया है। वैकल्पिक रूप में 'सदा' का अर्थ सद्य ऋतुओं में तथा 'समित्त' का अर्थ रात और दिन का प्रथम और अन्तिम प्रहर किया है। किन्तु 'समित्त' शब्द का अर्थ विमर्शनीय है। 'सदा समित्त' यह एक वाक्यांश है। प्रस्तुत आगम में विभिन्न सन्दर्भों में इसका अनेक बार प्रयोग हुआ है। 'समित्त' शब्द समि धातु से निष्पन्न है। उसका अर्थ है इकट्ठा होना, संगठित होना, मिलना आदि।^६ इसलिए समित्त का अर्थ एकत्रित अथवा 'संगठित रूप' किया जा सकता है।

३१७. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

३१७. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है ।

१. पण्ण.१।२२,२३।

२. बृ.क.भा.गा.५२१,भाग १,पृ.१५१—

पढम-चरिमाउ सिसिरे, गिन्हे अद्धं तु तासि वज्जिता ।

पायं ठवे सिणेहादिरक्खणद्धा पवेसे वा ॥

३. भ.वृ.१।३१४—'सदा' सर्वदा 'समित्त' ति सपरिमाणं न बादराप्कायवदपरि-मित्तमपि, अथवा 'सदा' इति सर्वतुषु 'समित्त' मिति रात्री दिवसस्य च पूर्वा-परयोः प्रहरयोः, तत्रापि कालस्य स्निग्धतरभावमपेक्ष्य बहुत्वमल्पत्वं चाव-सेवमिति, यदाह—

पढम-चरिमाउ सिसिरे, गिन्हे अद्धं तु तासि वज्जेत्ता ।

पायं ठवे सिणेहाइरक्खणद्धा पवेसे वा ॥

लपितपात्रं बहिर्न स्थापयेत् स्नेहादिरक्षणाथयेति । 'सूक्ष्मः स्नेहकायः' इति अप्कायविशेष इत्यर्थः ।

४. भ.६।७८—अत्थि णं भंते ! तमुक्काए ओराला बलाहया संसेयंति ? सम्मु-च्छंति ? वासं वासंति ?

हंता अत्थि ॥

५. भ.वृ.१।३१५—'उट्टे' त्ति ऊर्ध्वलोके वर्तुलवैताद्वयादिषु, 'अहे' त्ति अधो-लोकग्रामेषु ।

६. आ.टे.—समि—To come or meet together, be united, or joined with.

सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
देस-सब्ब-पदं	देश सर्व-पदम्	देश सर्व पद
३१८. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उव्वज्जमाणे, किं—१. देसेणं देसं उव्वज्जइ ? २. देसेणं सब्बं उव्वज्जइ ? ३. सब्बेणं देसं उव्वज्जइ ? ४. सब्बेणं सब्बं उव्वज्जइ ?	नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेषु उपपद्यमानः, किं—१. देशेन देशम् उपपद्यते ? २. देशेन सर्वम् उपपद्यते ? ३. सर्वेण देशम् उपपद्यते ? ४. सर्वेण सर्वम् उपपद्यते ?	३१८. भन्ते ! नैरयिकों में उपपद्यमान (उपपन्न होता हुआ) नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश में उपपन्न होता है ? २. देश के द्वारा सर्व में उपपन्न होता है ? ३. सर्व के द्वारा देश में उपपन्न होता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व में उपपन्न होता है ?
गोयमा ! १. नो देसेणं देसं उव्वज्जइ । २. नो देसेणं सब्बं उव्वज्जइ । ३. नो सब्बेणं देसं उव्वज्जइ । ४. सब्बेणं सब्बं उव्वज्जइ ॥	गौतम ! १. नो देशेन देशम् उपपद्यते । २. नो देशेन सर्वम् उपपद्यते । ३. नो सर्वेण देशम् उपपद्यते । ४. सर्वेण सर्वम् उपपद्यते ।	गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश में उपपन्न नहीं होता । २. देश के द्वारा सर्व में उपपन्न नहीं होता । ३. सर्व के द्वारा देश में उपपन्न नहीं होता । ४. सर्व के द्वारा सर्व में उपपन्न होता है ।
३१९. जहा नेरइए, एवं जाव वेमाणिए ॥	यथा नैरयिकः, एवं यावद् वैमानिकः ।	३१९. नैरयिक की भांति ही वैमानिक तक का उपपाद ज्ञातव्य है ।
३२०. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उव्वज्जमाणे, किं—१. देसेणं देसं आहारेइ ? २. देसेणं सब्बं आहारेइ ? ३. सब्बेणं देसं आहारेइ ? ४. सब्बेणं सब्बं आहारेइ ?	नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेषु उपपद्यमानः, किं—१. देशेन देशम् आहरति ? २. देशेन सर्वम् आहरति ? ३. सर्वेण देशम् आहरति ? ४. सर्वेण सर्वम् आहरति ?	३२०. भन्ते ! नैरयिकों में उपपद्यमान नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश का आहरण करता है ? २. देश के द्वारा सर्व का आहरण करता है ? ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है ?
गोयमा ! १. नो देसेणं देसं आहारेइ । २. नो देसेणं सब्बं आहारेइ ३. सब्बेणं वा देसं आहारेइ । ४. सब्बेणं वा सब्बं आहारेइ ॥	गौतम ! १. नो देशेन देशम् आहरति । २. नो देशेन सर्वम् आहरति । ३. सर्वेण वा देशम् आहरति । ४. सर्वेण वा सर्वम् आहरति ।	गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश का आहरण नहीं करता । २. देश के द्वारा सर्व का आहरण नहीं करता । ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है । ४. अथवा सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है ।
३२१. एवं जाव वेमाणिए ॥	एवं यावद् वैमानिकः ।	३२१. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है ।
३२२. नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उव्वट्ट- माणे, किं—१. देसेणं देसं उव्वट्टइ ? २. देसेणं सब्बं उव्वट्टइ ? ३. सब्बेणं देसं उव्वट्टइ ? ४. सब्बेणं सब्बं उव्वट्टइ ?	नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेभ्यः उद्वर्तमानः, किं—१. देशेन देशम् उद्वर्तते ? २. देशेन सर्वम् उद्वर्तते ? ३. सर्वेण देशम् उद्वर्तते ? ४. सर्वेण सर्वम् उद्वर्तते ?	३२२. भन्ते ! नैरयिकों से उद्वर्तन करता हुआ नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश से उद्वर्तन करता है ? २. देश के द्वारा सर्व से उद्वर्तन करता है ? ३. सर्व के द्वारा देश से उद्वर्तन करता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व से उद्वर्तन करता है ?
गोयमा ! १. नो देसेणं देसं उव्वट्टइ ।	गौतम ! १. नो देशेन देशम् उद्वर्तते ।	गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश से उद्वर्तन

२. नो देसेणं सव्वं उव्वट्टइ। ३. नो सव्वेणं देसं उव्वट्टइ। ४. सव्वेणं सव्वं उव्वट्टइ ॥

२. नो देशेण सर्वम् उद्वर्तते। ३. नो सर्वेण देशम् उद्वर्तते। ४. सर्वेण सर्वम् उद्वर्तते।

नहीं करता। २. देश के द्वारा सर्व से उद्वर्तन नहीं करता। ३. सर्व के द्वारा देश से उद्वर्तन नहीं करता। ४. सर्व के द्वारा सर्व से उद्वर्तन करता है।

३२३. एवं जाव वेमाणिए ॥

एवं यावद् वैमानिकः।

३२३. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है।

३२४. नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंते उव्वट्टमाणे, किं—१. देसेणं देसं आहारेइ ? २. देसेणं सव्वं आहारेइ ? ३. सव्वेणं देसं आहारेइ ? ४. सव्वेणं सव्वं आहारेइ ?

नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेभ्यः उद्वर्तमानः, किं—१. देशेण देशम् आहरति ? २. देशेण सर्वम् आहरति ? ३. सर्वेण देशम् आहरति ? ४. सर्वेण सर्वम् आहरति ?

३२४. भन्ते ! नैरयिकों से उद्वर्तन करता हुआ नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश का आहरण करता है ? २. देश के द्वारा सर्व का आहरण करता है ? ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है ?

गोयमा ! १. नो देसेणं देसं आहारेइ। २. नो देसेणं सव्वं आहारेइ। ३. सव्वेणं वा देसं आहारेइ। ४. सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ ॥

गौतम ! १. नो देशेण देशम् आहरति। २. नो देशेण सर्वम् आहरति। ३. सर्वेण वा देशम् आहरति। ४. सर्वेण वा सर्वम् आहरति।

गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश का आहरण नहीं करता। २. देश के द्वारा सर्व का आहरण नहीं करता। ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है। ४. अथवा सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है।

३२५. एवं जाव वेमाणिए ॥

एवं यावद् वैमानिकः।

३२५. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है।

३२६. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उव्वण्णे, किं—१. देसेणं देसं उव्वण्णे ? २. देसेणं सव्वं उव्वण्णे ? ३. सव्वेणं देसं उव्वण्णे ? ४. सव्वेणं सव्वं उव्वण्णे ?

नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेषु उपपन्नः, किं—१. देशेण देशम् उपपन्नः ? २. देशेण सर्वम् उपपन्नः ? ३. सर्वेण देशम् उपपन्नः ? ४. सर्वेण सर्वम् उपपन्नः ?

३२६. भन्ते ! नैरयिकों में उपपन्न नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश में उपपन्न है ? २. देश के द्वारा सर्व में उपपन्न है ? ३. सर्व के द्वारा देश में उपपन्न है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व में उपपन्न है ?

गोयमा ! १. नो देसेणं देसं उव्वण्णे। २. नो देसेणं सव्वं उव्वण्णे। ३. नो सव्वेणं देसं उव्वण्णे। ४. सव्वेणं सव्वं उव्वण्णे ॥

गौतम ! १. नो देशेण देशम् उपपन्नः। २. नो देशेण सर्वम् उपपन्नः। ३. नो सर्वेण देशम् उपपन्नः ? ४. सर्वेण सर्वम् उपपन्नः।

गौतम ! १. वह देश के द्वारा देश में उपपन्न नहीं है। २. देश के द्वारा सर्व में उपपन्न नहीं है। ३. सर्व के द्वारा देश में उपपन्न नहीं है। ४. सर्व के द्वारा सर्व में उपपन्न है।

३२७. एवं जाव वेमाणिए ॥

एवं यावद् वैमानिकः।

३२७. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है।

३२८. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उव्वण्णे, किं—१. देसेणं देसं आहारेइ ? २. देसेणं सव्वं आहारेइ ? ३. सव्वेणं देसं आहारेइ ? ४. सव्वेणं सव्वं आहारेइ ?

नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेषु उपपन्नः किं—१. देशेण देशम् आहरति ? २. देशेण सर्वम् आहरति ? ३. सर्वेण देशम् आहरति ? ४. सर्वेण सर्वम् आहरति ?

३२८. भन्ते ! नैरयिकों में उपपन्न नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश का आहरण करता है ? २. देश के द्वारा सर्व का आहरण करता है ? ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है ? ४. सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है।

गोयमा ! नो देसेणं देसं आहारेइ। २. नो देसेणं सव्वं आहारेइ। ३. सव्वेणं वा देसं आहारेइ। ४. सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ ॥

गौतम ! १. नो देशेण देशम् आहरति। २. नो देशेण सर्वम् आहरति। ३. सर्वेण वा देशम् आहरति। ४. सर्वेण वा सर्वम् आहरति।

गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश का आहरण नहीं करता। २. देश के द्वारा सर्व का आहरण नहीं करता। ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है। ४. अथवा सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है।

३२९. एवं जाव वेमाणिए ॥

एवं यावद् वैमानिकः।

३२९. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है।

३३०. नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उब्बट्टे,
किं—१. देसेणं देसं उब्बट्टे ? २. देसेणं
सब्बं उब्बट्टे ? ३. सब्बेणं देसं उब्बट्टे ?
४. सब्बेणं सब्बं उब्बट्टे ?

गोयमा ! १. नो देसेणं देसं उब्बट्टे । २. नो
देसेणं सब्बं उब्बट्टे । ३. नो सब्बेणं देसं
उब्बट्टे । ४. सब्बेणं सब्बं उब्बट्टे ॥

३३१. एवं जाव वेमाणिए ॥

३३२. नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उब्बट्टे,
किं—१. देसेणं देसं आहारेइ ? २. देसेणं
सब्बं आहारेइ ? ३. सब्बेणं देसं आहारेइ ?
४. सब्बेणं सब्बं आहारेइ ?

गोयमा ! नो देसेणं देसं आहारेइ । २. नो
देसेणं सब्बं आहारेइ । ३. सब्बेणं वा देसं
आहारेइ । ४. सब्बेणं वा सब्बं आहारेइ ॥

३३३. एवं जाव वेमाणिए ॥

नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेभ्यः उद्वृत्तः, किं
—१. देशेन देशम् उद्वृत्तः ? २. देशेन
सर्वम् उद्वृत्तः ? ३. सर्वेण देशम् उद्वृत्तः ?
४. सर्वेण सर्वम् उद्वृत्तः ?

गौतम ! १. नो देशेन देशम् उद्वृत्तः । २. नो
देशेन सर्वम् उद्वृत्तः । ३. नो सर्वेण देशम्
उद्वृत्तः । ४. सर्वेण सर्वम् उद्वृत्तः ।

एवं यावद् वैमानिकः ।

नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेभ्यः उद्वृत्तः किं
—१. देशेन देशम् आहरति ? २. देशेन
सर्वम् आहरति ? ३. सर्वेण देशम् आहरति ?
४. सर्वेण सर्वम् आहरति ?

गौतम ! १. नो देशेन देशम् आहरति । २. नो
देशेन सर्वम् आहरति । ३. सर्वेण वा देशम्
आहरति । ४. सर्वेण वा सर्वम् आहरति ।

एवं यावद् वैमानिकः ।

३३०. भन्ते ! नैरयिकों से उद्वृत्त (निकला) हुआ
नैरयिक क्या—१. देश के द्वारा देश से उद्वृत्त
है ? २. देश के द्वारा सर्व से उद्वृत्त है ? ३. सर्व
के द्वारा देश से उद्वृत्त है ? ४. सर्व के द्वारा
सर्व से उद्वृत्त है ?

गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश से उद्वृत्त नहीं
है । २. देश के द्वारा सर्व से उद्वृत्त नहीं है ।
३. सर्व के द्वारा देश से उद्वृत्त नहीं है । ४. सर्व
के द्वारा सर्व से उद्वृत्त है ।

३३१. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है ।

३३२. भन्ते ! नैरयिकों से उद्वृत्त नैरयिक क्या—
१. देश के द्वारा देश का आहरण करता है ? २.
देश के द्वारा सर्व का आहरण करता है ? ३.
सर्व के द्वारा देश का आहरण करता है ? ४.
सर्व के द्वारा सर्व का आहरण करता है ?

गौतम ! वह १. देश के द्वारा देश का आहरण
नहीं करता । २. देश के द्वारा सर्व का आहरण
नहीं करता । ३. सर्व के द्वारा देश का आहरण
करता है । ४. अथवा सर्व के द्वारा सर्व का
आहरण करता है ।

३३३. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है ।

भाष्य

१ सूत्र ३१८-३३३

उपपद्यमान और उपपन्न—जीव पूर्व जीवन को समाप्त कर नए
जन्म-स्थान में जाता है। वह उत्पत्ति के पहले समय में पर्याप्ति के
योग्य पुद्गलों का ग्रहण कर आहार-पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाता है।
उसके पश्चात् शरीर आदि पर्याप्तियों का निर्माण करता है। शरीर-
और इन्द्रिय-पर्याप्ति के निर्माण से पूर्ववर्ती अवस्था उपपद्यमान अवस्था
है। आहार-, शरीर- और इन्द्रिय-पर्याप्ति से पर्याप्त अवस्था उपपन्न
अवस्था है।^१ अनुपपन्न जीव की मृत्यु नहीं होती। उक्त तीन पर्याप्तियों
से पर्याप्त जीव की मृत्यु हो सकती है।^२ इसलिए उपपद्यमान और
उपपन्न में यह भेदरेखा खींची जा सकती है।

उद्वर्तमान और उद्वृत्त—मृत्यु से पूर्व अन्तर्मुहूर्त की अवस्था
उद्वर्तमान अवस्था है। उपपद्यमान अवस्था और उद्वृत्त अवस्था का
कालमान एक ही है।

प्रस्तुत आलापक में प्रयुक्त देसेणं देसं, सब्बेणं सब्बं—ये शब्द
सम्बन्ध-सापेक्ष हैं—

उपपद्यमान, उपपन्न के सन्दर्भ में—

देसेणं—जीव का एक भाग।

देसं—मनुष्य आदि अवयवी का एक भाग।

१. त.रा.वा.२।३४, भाग१,पृ.१४५—देवादिशरीरनिर्वृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्,
तस्यां चावस्थायामनाहारकत्वान्न देवादिशरीरनिर्वृत्तिरस्ति तत उपपादो जन्म
युक्तम्, तच्च देवनारकाणामिति ।

२. स्या.वृ.प.५०—अपर्याप्तकास्तु उच्छ्वासपर्याप्त्या अपर्याप्त एव प्रियन्ते, न तु
शरीरेन्द्रियपर्याप्तिभ्यां, यस्मादागामिभवायुष्कं बद्ध्वा प्रियन्ते, तच्च शरीरेन्द्रिया-
दिपर्याप्त्यां पर्याप्तिरेव बध्यत इति ।

सर्वेणं—सम्पूर्ण जीव

सर्वं—सम्पूर्ण मनुष्य आदि अवयवी।

उद्भूतमान, उद्भूत के सन्दर्भ में—

देशेणं—जीव का एक भाग।

देशं—शरीर का एक भाग।

सर्वेणं—सम्पूर्ण जीव।

सर्वं—सम्पूर्ण शरीर।

आहार के सन्दर्भ में—

देशेणं—जीव का एक भाग।

देशं—आहार्य द्रव्य का एक अंश

सर्वेणं—सम्पूर्ण जीव।

सर्वं—सम्पूर्ण आहार्य द्रव्य।

अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत आलापक की व्याख्या में चूर्णि और प्राचीन टीका दोनों के अभिमत का उल्लेख किया है। चूर्णिकार ने देशेणं और सर्वेणं को आत्मप्रदेशों से संबद्ध माना है। देशं और सर्वं का संबंध उपपद्यमान अवयवी से जोड़ा है। चूर्णिकार के तर्क हैं—

१. परिणामी कारण के अवयव से कार्य का अवयव निष्पन्न नहीं होता; इसलिए उत्पत्ति के प्रसंग में देशेणं देशं उववञ्जई—यह विकल्प मान्य नहीं हैं।

२. अपूर्ण परिणामी कारण से पूर्ण कार्य निष्पन्न नहीं होता;

इसलिए देशेणं सर्वं उववञ्जई—यह दूसरा विकल्प भी मान्य नहीं है।

३. पूर्ण परिणामी कारण से अपूर्ण कार्य निष्पन्न नहीं होता; इसलिए सर्वेणं देशं उववञ्जई—यह तीसरा विकल्प भी मान्य नहीं है।

४. पूर्ण परिणामी कारण से पूर्ण कार्यावयवी उत्पन्न होता है। यह भंग सम्मत है।

टीकाकार ने देशेणं और सर्वेणं को आत्मप्रदेश से संबद्ध माना है। देशं और सर्वं का संबंध उत्पत्तव्य स्थान के साथ जोड़ा है। टीकाकार ने उत्तरवर्ती दो भंग मान्य किये हैं। इलिका गति में उत्पत्तव्य स्थान के देश में उत्पत्ति हो सकती है, इस अपेक्षा से सर्वेणं देशं यह भंग सम्मत है। कन्दुकगति की अवस्था में सर्वेणं सर्वं उववञ्जई यह भंग सम्मत है।

यह टीकाकार की व्याख्या किसी दूसरी वाचना पर आधारित है।

आहार के सन्दर्भ में सर्वेणं देशं और सर्वेणं सर्वं—ये दो विकल्प सम्मत हैं। उत्पत्ति के पहले समय में जीव सब आत्म-प्रदेशों से सर्व आहार का ग्रहण करता है; इसलिए सर्वेणं सर्वं भंग घटित होता है। प्रथम समय के पश्चात् वह आहार्य द्रव्य के देश का ग्रहण करता है; इसलिए सर्वेणं देशं भंग घटित होता है। उद्भूतमान अवस्था मृत्यु के पूर्व अन्तर्मुहूर्त की अवस्था है। उसमें सर्वेणं देशं भंग घटित होता है। मृत्यु के अंतिम समय में सर्वेणं सर्वं भंग घटित हो सकता है। उद्भूत अवस्था में उपपद्यमान अवस्था की भांति ये दोनों भंग घटित किए जा सकते हैं।

३३४. नैरइए णं भंते ! नैरइएसु उववञ्जभाणे, नैरयिकः भदन्त ! नैरयिकेषु उपपद्यमानः ३३४. भन्ते ! नैरयिकों में उपपद्यमान नैरयिक

१. भ.वृ. १।३१८—तत्र जीवः किं 'देशेण' स्वकीयावयवेन 'देशेण' नारकावयव-विर्नोऽशतयोत्पद्यते अथवा 'देशेण' देशमाश्रित्योत्पादयित्वेति शेषः, एव-मन्यत्रापि । तथा 'देशेणं सर्वं'ति देशेण च सर्वेण च यत् प्रवृत्तं तद्देशेण सर्वं, तत्र देशेण—स्वावयवेन सर्वतः—सर्वात्मना नारकावयवित्तयोत्पद्यते इत्यर्थः । आहोस्वित् सर्वेण—सर्वात्मना देशतो नारकाशतयोत्पद्यते, अथवा 'सर्वेण' सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः ।

अत्रोत्तरम्—न देशेण देशतयोत्पद्यते, यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्वर्त्यते, तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत् । यथा हि पटप्रदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्धः पटप्रदेशो न निर्वर्त्यते तथा पूर्वावयवप्रतिबद्धेन तद्देशे-नोत्तरावयवविदेशो न निर्वर्त्यते इति भावः ।

तथा न देशेण सर्वतयोत्पद्यते, अपरिपूर्णकारणत्वात्, तन्तुना पट इवेति तथा न सर्वेणदेशतयोत्पद्यते, सम्पूर्णपरिणामिकारणत्वात्, समस्तघटकारणैर्घटैक-देशवत् । 'सर्वेणं सर्वं उववञ्जई' सर्वेण तु सर्वं उत्पद्यते । पूर्णकारणसमवायाद्, घटवदिति धूर्णिव्याख्या ।

२. भ.वृ. १।३१८—टीकाकारस्त्वेवमाह—किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय

यत्रोत्पत्तव्यं तत्र देशत उत्पद्यते ? अथवा देशेण सर्वत उत्पद्यते ? अथवा सर्वा-त्मना यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देशे उत्पद्यते ? अथवा सर्वात्मना सर्वत्र ? इति एते-षु पाश्चात्यमङ्गैः प्राक्षी । यतः सर्वेण—सर्वात्मप्रदेशव्यापारेण इलिकागतौ यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देशे उत्पद्यते, तद्देशेनोत्पत्तिस्थानदेशस्यैव व्याप्तत्वात् । कन्दु-कगतौ वा सर्वेण सर्वत्रोत्पद्यते विमुच्यैव पूर्वस्थानमिति । एतच्च टीका-कारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति ।

३. (क) वही. १।३२०—'सर्वेण वा सर्वं'ति सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहार-पुद्गलानादते एव प्रथमतः तैलभृततप्ततापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदित्यु-च्यते—सर्वमाहारयतीति ।

(ख) भ.जो. १।२०।१२,१४-१६ ।

४. (क) भ.वृ. १।३२०—उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चि-दादते कांश्चिद्धिमुञ्चति, तप्ततापिकागततैलग्राहकविमोचकापूपवद्, अत उच्यते—देशमाहारयतीति ।

(ख) भ.जो. १।२०।१३,१७,१८ ।

किं—१. अद्वेणं अद्धं उववज्जइ ?
२. अद्वेणं सव्वं उववज्जइ ? ३. सव्वेणं अद्धं
उववज्जइ ? ४. सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ?

जहा पढमिल्लेणं अद्धं दंडगा तथा अद्वेण
वि अद्धं दंडगा भाणियव्वा, नवरं—जहिं
देसेणं देसं उववज्जइ, तहिं अद्वेणं अद्धं
उववज्जइ इति भाणियव्वं, एयं नाणत्तं । एते
सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा ।

किं—१. अर्थेन अर्धम् उपपद्यते ? २. अर्थेन
सर्वम् उपपद्यते ? ३. सर्वेण अर्धम् उपपद्यते ?
४. सर्वेण सर्वम् उपपद्यते ?

यथा प्रथमे अष्ट दण्डकाः तथा अर्थेनापि अष्ट
दण्डकाः भणितव्याः, नवरं—यत्र देशेन
देशम् उपपद्यते, तत्र अर्थेन अर्धम् उपपद्यते
इति भणितव्यम्, एवं नानात्वम् । एते सर्वेऽपि
षोडश दण्डकाः भणितव्याः ।

क्या—१. अर्ध^१ के द्वारा अर्ध में उपपन्न होता
है ? २. अर्ध के द्वारा सर्व में उपपन्न होता है ?
३. सर्व के द्वारा देश में उपपन्न होता है ? ४. सर्व
के द्वारा सर्व में उपपन्न होता है ?

जैसे पूर्ववर्ती आलापक के आठ दण्डक बतलाए
गए हैं, वैसे ही अर्ध के भी आठ दण्डक वक्तव्य
हैं। विशेष इतना है—जहां देश के द्वारा देश में
उपपन्न होता है, वहां अर्ध के द्वारा अर्ध में उपपन्न
होता है—यह वक्तव्य है, यह नानात्व है। ये
सभी सोलह दण्डक वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. अर्ध

देश अनेक प्रकार का होता है, जैसे—तीसरा भाग, चौथा का आधा भाग।^१
भाग आदि-आदि। अर्ध एक ही प्रकार का होता है, जैसे—वस्तु

विग्रहगइ-पदं

३३५. जीवे णं भंते ! किं विग्रहगइसमा-
वण्णए ? अविग्रहगइसमावण्णए ?

गोयमा ! सिय विग्रहगइसमावण्णए, सिय
अविग्रहगइसमावण्णए ॥

३३६. एवं जाव वेमाणिए ॥

३३७. जीवा णं भंते ! किं विग्रहगइसमा-
वण्णया ? अविग्रहगइसमावण्णया ?
गोयमा ! विग्रहगइसमावण्णया वि,
अविग्रहगइसमावण्णया वि ॥

३३८. नेरइया णं भंते ! किं विग्रहगइसमा-
वण्णया ? अविग्रहगइसमावण्णया ?
गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अविग्रह-
गइसमावण्णया । अहवा अविग्रहगइ-
समावण्णया, विग्रहगइसमावण्णया य ।
अहवा अविग्रहगइसमावण्णया य, विग्रह-
गइसमावण्णया य । एवं जीवएगिदिय-
वज्जो तियभंगो ॥

विग्रहगति-पदम्

जीवः भदन्त ! किं विग्रहगतिसमापन्नकः ?
अविग्रहगतिसमापन्नकः ?

गौतम ! स्यात् विग्रहगतिसमापन्नकः, स्याद्
अविग्रहगतिसमापन्नकः ।

एवं यावद् वैमानिकः ।

जीवाः भदन्त ! किं विग्रहगतिसमापन्नकाः ?
अविग्रहगतिसमापन्नकाः ?
गौतम ! विग्रहगतिसमापन्नकाः अपि, अवि-
ग्रहगतिसमापन्नकाः अपि ।

नैरयिकाः भदन्त ! किं विग्रहगतिसमा-
पन्नकाः ? अविग्रहगतिसमापन्नकाः ?
गौतम ! सर्वेऽपि तावद् भवेयुः अविग्रह-
गतिसमापन्नकाः । अथवा अविग्रहगतिसमा-
पन्नकाः विग्रहगतिसमापन्नकः च । अथवा
अविग्रहगतिसमापन्नकः च विग्रहगतिसमा-
पन्नकः च । एवं जीव-एकेन्द्रियवर्जः त्रिक-
भङ्गः ।

विग्रहगति-पद

३३५. ^१भन्ते ! क्या जीव विग्रहगति (अन्तरालगति)
-समापन्न होता है ? अथवा अविग्रहगति (उत्पत्ति
स्थान को प्राप्त)-समापन्न होता है ?

गौतम ! वह स्यात् विग्रहगति-समापन्न होता है
और स्यात् अविग्रहगति-समापन्न होता है ।

३३६. इसी प्रकार वैमानिक तक ज्ञातव्य है ।

३३७. भन्ते ! क्या जीव विग्रहगति-समापन्न होते
हैं ? अथवा अविग्रहगति-समापन्न होते हैं ?
गौतम ! जीव विग्रहगति-समापन्न भी होते हैं,
अविग्रहगति-समापन्न भी होते हैं ।

३३८. भन्ते ! क्या नैरयिक विग्रहगति-समापन्न होते
हैं ? अथवा अविग्रहगति-समापन्न होते हैं ?
गौतम ! सभी नैरयिक अविग्रहगति-समापन्न होते
हैं । अथवा वे अविग्रहगति-समापन्न होते हैं, कोई
एक विग्रहगति-समापन्न होता है । अथवा कुछ
अविग्रहगति-समापन्न होते हैं, कुछ विग्रहगति-
समापन्न होते हैं । इस प्रकार जीव (निर्विशेषण
जीव) और एकेन्द्रिय को छोड़कर सबके तीन
भंग होते हैं ।

१. भ.वृ. १।३३४—देशस्त्रिभागादिरनेकधा, अर्द्धं त्वेकधैवेति ।

१. सूत्र ३३५-३३८

एक जीव मृत्यु-काल में स्थूल शरीर (औदारिक अथवा वैक्रिय) को छोड़कर दूसरे जन्म-स्थान में जाता है। एक स्थान से दूसरे जन्मस्थान में जाते समय जो गति होती है, उसे विग्रहगति कहा जाता है।^१ गति के साथ 'विग्रह' शब्द का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में हुआ है। जहां एकसामयिक अन्तरालगति के अर्थ में विग्रहगति का प्रयोग है, वहां उसका अर्थ 'विशिष्टस्थान-प्राप्ति की हेतुभूत गति' होता है।^२ तत्त्वार्थसंग्रहवार्तिक में अन्तरालगति के सन्दर्भ में विग्रह के दो अर्थ किए गए हैं—शरीर और व्याघात। फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि विग्रहगति का अर्थ है—शरीर-निर्माण के लिए होने वाली गति अथवा वह गति जिसमें नोकर्म-पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता।^३

प्रस्तुत आगम में विग्रहगति के चार प्रकार बतलाए गए हैं—एकसामयिक विग्रह, द्विसामयिक विग्रह, त्रिसामयिक विग्रह, चतुःसामयिक विग्रह।^४

दो, तीन और चार समय वाली गति के साथ प्रयुक्त 'विग्रह' का अर्थ वक्र होता है।

प्रस्तुत आलापक में वृत्तिकार ने 'विग्रह' का अर्थ वक्र किया है।^५ यह विमर्शनीय है। यहां उसका अर्थ 'विशिष्ट स्थान-प्राप्ति की हेतुभूत गति' होना चाहिए।

ठाण में विग्रहगति-समापन्न जीव के दो शरीर बतलाए गए हैं—तैजस और कार्मण।^६ यहां वृत्तिकार ने विग्रहगति का अर्थ वक्रगति किया है।^७ किन्तु यह भी विमर्शनीय है। तैजस और कार्मण शरीर ऋजु और वक्र दोनों गतियों में समान रूप से होते हैं; इसलिए 'विग्रहगति' का अर्थ केवल अन्तरालगति है। प्रस्तुत प्रकरण में भी यही घटित होता है। चौदहवें शतक (सू.५५) से इसकी पुष्टि होती है—विग्रहगति-समापन्न नैरयिक अग्रिकाय के मध्य चला जाता है, वह दग्ध नहीं होता। यहां 'विग्रह' शब्द के द्वारा ऋजु और वक्र दोनों गतियां विवक्षित हैं।

'अविग्रह' शब्द का प्रयोग भी दो अर्थों में हुआ है—
१. ऋजुगति २. उत्पत्ति-स्थान की प्राप्ति। अभयदेवसूरि ने चौदहवें शतक की वृत्ति में 'अविग्रहगति-समापन्न' का अर्थ 'उत्पत्ति-क्षेत्रोपपन्न' किया है तथा 'ऋजुगति-समापन्न' अर्थ को वहां अप्रासंगिक बतलाया है।^८ प्रस्तुत प्रकरण में भी 'अविग्रहगति-समापन्न' का अर्थ 'उत्पत्तिस्थान को प्राप्त' होना चाहिए। प्राचीन टीकाकार ने 'अविग्रहगति-समापन्न' का अर्थ 'ऋजुगतिक' किया है। अभयदेवसूरि ने उसमें अपनी असहमति प्रकट की है। उनका तर्क है कि यदि 'अविग्रहगति-समापन्न' का अर्थ 'ऋजुगतिक' किया जाए, तो अविग्रहगति वालों का बहुत्व घटित नहीं होगा।^९ जयाचार्य ने भी नैरयिक के प्रथम भंग की व्याख्या में अविग्रहगति-समापन्न का अर्थ 'उत्पत्ति-स्थान में स्थित' किया है।^{१०} अविग्रहगति और विग्रहगति के सन्दर्भ में उनके तीन भंग बनते हैं—

१. सब नैरयिक अविग्रहगति-समापन्न।

२. अविग्रहगति-समापन्न बहुत नैरयिक और विग्रहगति-समापन्न एक नैरयिक।

३. अविग्रहगति-समापन्न बहुत नैरयिक और विग्रहगति-समापन्न बहुत नैरयिक।

प्रथम भंग में उत्पत्ति-स्थान-प्राप्त नैरयिक विवक्षित हैं। जिस समय नरक में उत्पत्ति का विरह-काल होता है, उस समय यह भंग घटित होता है।

दूसरे भंग की विवक्षा है कि बहुत नैरयिक उत्पत्ति-स्थान को प्राप्त होते हैं और एक नैरयिक अन्तरालगति में होता है।

तीसरे भंग की विवक्षा है कि बहुत नैरयिक उत्पत्ति-स्थान को प्राप्त होते हैं और बहुत नैरयिक अन्तरालगति में होते हैं।

समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय में बहुत जीव उत्पन्न हैं और बहुत जीव उत्पन्न हो रहे हैं; इसलिए तीसरा भंग ही बनता है।

१. (क) म.३४।२।

(ख) ठाण, २।१६१।

२. म.वृ.प.६५६—विग्रहे—वक्रगतौ च तस्य संभवात् गतिरेव विग्रहः। विशिष्टो वा ग्रहो विशिष्टस्थानप्राप्तिहेतुभूता गतिर्विग्रहः।

३. त.रा.वा.२।२५—विग्रहो देहस्तदर्थं गतिर्विग्रहगतिः.....विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात इति वा।.....व्याघातः—नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः। विग्रहेण गतिः विग्रहगतिः। आदाननिरोधेन गतिरित्यर्थः।

४. म.३४।२.३.१४.१४।३।

५. म.वृ.१।३३५—विग्रहो वक्रं तद्विधानागतिर्विग्रहगतिः, तत्र यदा वक्रेण गच्छति तदा विग्रहगतिसमापन्न उच्यते।

६. ठाण, २।१६१।

७. (क) स्या.वृ.प.५२—विग्रहगतिः—वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्ति-स्थानं गन्तव्यं भवति तदा या स्यात्तां समापन्ना विग्रहगतिसमापन्नास्तेषां द्वे

शरीरे, इह तैजसकार्मणयोर्भेदेन विवक्षेति।

(ख) प.खं.धवला,पु.४,खं.१,मा.३,सू.२,पृ.२६—विग्रहो वक्रो कुटिलो ति एगदा।

८. म.वृ.प.६४२—अविग्रहगतिसमापन्न उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्नोऽभिधीयते न तु ऋजु-गतिसमापन्नः, तस्येह प्रकरणेऽनधिकृतत्वात्।

९. वही, १।३३५—यदि चाविग्रहगतिसमापन्न ऋजुगतिक एवोच्यते तदा नारका-दिपदेषु सर्वदैवाविग्रहगतिकानां यद्बहुत्वं वक्ष्यति तत्र स्याद्, एकादीनामपि तेषू-त्पादश्रवणात्। टीकाकारेण तु केनाप्यभिप्रायेणाविग्रहगतिसमापन्न ऋजु-गतिक एव व्याख्यात इति।

१०. म.जो.१।२०।३४—

सगताइ जीव हुवै कदा, अविग्रह-गति समापन्न।

उत्पत्ति विरहे विषै हुवै, नरकै रखा बहु वचन्न ॥

आयु-पदं

३३६. देवे णं भंते ! महिद्धिए महज्जुइए महब्बले महायसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचिकालं हिरि-वत्तियं दुगंछावत्तियं परीसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ। अहे णं आहारेइ आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए भवइ। जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—तिरिक्खजोणियाउयं वा, मणुस्साउयं वा ?

हंता गोयमा ! देवे णं महिद्धिए महज्जुइए महब्बले महायसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचिकालं हिरि-वत्तियं दुगंछावत्तियं परीसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ। अहे णं आहारेइ आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए, भवइ। जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—तिरिक्खजोणियाउयं वा, मणुस्साउयं वा ॥

आयुः-पदम्

देवः भदन्त ! महर्द्धिकः महाद्युतिकः महाबलः महायशाः महेशाख्यः महानुभावः अव्यु-क्कान्तिकं च्यवमानं किञ्चित्कालं हीप्रत्ययं जुगुप्साप्रत्ययं परीषहप्रत्ययम् आहारं नो आहरति। अथ आहरति आहियमाणः आहृतः, परिणम्यमानः परिणामितः, प्रहीणं च आयुः भवति। यत्र उपपद्यते तद् आयुष्कं प्रतिसंवेदयति, तद् यथा—तिर्यग्योनिकायुः वा, मनुष्यायुः वा ?

हन्त गीतम ! देवः महर्द्धिकः महाद्युतिकः महाबलः महायशाः महेशाख्यः महानुभावः अव्युक्कान्तिकः च्यवमानः किञ्चित्कालं ही-प्रत्ययं जुगुप्साप्रत्ययं परीषहप्रत्ययम् आहारं नो आहरति। अथ आहरति आहियमाणः आहृतः, परिणम्यमानः परिणामितः, प्रहीणं च आयुः भवति। यत्र उपपद्यते तद् आयुष्कं प्रतिसंवेदयति, तद् यथा—तिर्यग्योनिकायुः वा, मनुष्यायुः वा।

आयु-पद

३३६. 'भन्ते ! महान् ऋद्धि और महान् द्युति से सम्पन्न, महाबली, महान् यशस्वी, महान् ऐश्वर्य-शाली के रूप में प्रख्यात्, महान् सामर्थ्यवाला देव अच्युत किन्तु च्यवमान अवस्था में कुछ समय आहार नहीं लेता। उसके तीन हेतु हैं—लज्जा, जुगुप्सा और परीषह। कुछ समय पश्चात् वह आहार लेता है, तब आहियमाण आहृत और परिणम्यमान परिणत होता है। (अंत में) उस देव का आयुष्य क्षीण हो जाता है। उसे जहां उत्पन्न होना है, उस आयुष्य का प्रतिसंवेदन प्रारम्भ हो जाता है, जैसे—तिर्यग्योनिक का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य ?

हां, गीतम ! महान् ऋद्धि और महान् द्युति से सम्पन्न, महाबली, महान् यशस्वी, महान् ऐश्वर्य-शाली, महान् सामर्थ्यवाला देव अच्युत किन्तु च्यवमान अवस्था में कुछ समय आहार नहीं लेता। उसके तीन हेतु हैं—लज्जा, जुगुप्सा और परीषह। कुछ समय पश्चात् वह आहार लेता है, तब आहियमाण आहृत और परिणम्यमान परिणत होता है। (अन्त में) उस देव का आयुष्य क्षीण हो जाता है। उसे जहां उत्पन्न होना है, उस आयुष्य का प्रतिसंवेदन प्रारम्भ हो जाता है, जैसे—तिर्यग्योनिक का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य।

भाष्य

१. सूत्र ३३६

प्रस्तुत सूत्र में देव के सात विशेषण निरूपित हैं—

१. महर्द्धिक—विमान और परिवार आदि की सम्पन्नता से सहित।
२. महाद्युतिक—महान् दीप्तिमान्।
३. महाबल—शारीरिक बल से सम्पन्न।
४. महायश—अतिशय प्रख्याति वाला अथवा जिसकी ख्याति तीनों लोकों में फैली हुई है।
५. महेशाख्य—जो महान् ईश्वर या स्वामी के रूप में जाना जाता है। वृत्तिकार ने 'आख्या' का अर्थ अभिधान किया है। उनके अनुसार 'महेशाख्य' का अर्थ 'महेश्वर नाम वाला' होगा।
६. महानुभाव—'अनुभाव' का अर्थ है सामर्थ्य। जिसमें शाप और अनुग्रह की सामर्थ्य होती है अथवा जिसमें नानारूपों के निर्माण की अचिन्त्य सामर्थ्य होती है, उसे 'महानुभाव' कहा जाता है।^१

७. अव्युक्कान्तिक च्यवमान—'व्युक्कान्ति' का अर्थ है च्युति या मरण। जो देव अच्युत-च्यवमान अवस्था में है, अभी च्युत नहीं हुआ है, किन्तु च्यवमान अवस्था के लक्षण प्रकट हो चुके हैं, उसके लिए 'अव्युक्कान्तिक च्यवमान' विशेषण का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार ने 'व्युक्कान्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' और वैकल्पिक रूप में 'च्यवक्रान्ति' का अर्थ 'मरण' किया है।^२ यह विमर्शनीय है।

इसका तात्पर्य यह है कि च्यवमान अवस्था में महर्द्धिक देवों का मन अपनी भावी स्थिति को देखकर ग्लानि से भर जाता है—मुझे इस दिव्य शरीर को छोड़कर मनुष्य या तिर्यञ्च के शरीर में उत्पन्न होना होगा। उस आत्म-ग्लानि से पीड़ित होकर वह कुछ समय के लिए आहार छोड़ देता है। सूत्रकार ने उस मनोदशा के तीन कारण बतलाए हैं—

१. वि.भा.गा. १०६४—तिहुयणविक्खवाय जसो महाजसो ।
२. भ.वृ. १।३३६—महेशो—महेश्वर इत्याख्या—अभिधानं यस्यासौ महेशा-ख्यः।
३. वही, १।३३६—'महानुभावः' विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः।

४. वही, १।३३६—व्युक्कान्तिः—उत्पत्तिलक्षणविधादव्युत्क्रान्तिकम् । अथवा व्यवक्रान्तिः—मरणं तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकम् तद्यथा भवत्येवं च्यवमानो जीवमानो, जीवन्नेव मरणकाल इत्यर्थः।

१. लज्जा की अनुभूति।
२. जुगुप्सा की अनुभूति।
३. कष्ट की अनुभूति।

वृत्तिकार ने 'परीषह' शब्द को अरति परीषह का सूचक बतलाया है। वह किञ्चित् काल के लिए आहार को छोड़ता है। इसका तात्पर्य है कि वह लम्बे समय तक भूख को सहन नहीं कर सकता, इसलिए किञ्चित् काल के लिए ही आहार को छोड़ता है। फिर वह आहार लेना प्रारम्भ कर देता है। प्रसंगवश सूत्रकार ने 'आह्वियमाण, आहृत' और 'परिणम्यमान, परिणत' की चर्चा की है। वह च्यवमान अवस्था में होता है, इसलिए कुछ समय पश्चात् उसकी

आयु क्षीण हो जाती है और तिर्यञ्च या मनुष्य जिस गति में उत्पन्न होता है, उसी की आयु को भोगना प्रारम्भ कर देता है।

ठाणं में देव में उद्वेग के तीन कारण बतलाए गए हैं—

१. अहो ! मुझे इस प्रकार की उपार्जित, प्राप्त तथा अभिसमन्वागत दिव्य देवर्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव को छोड़ना पड़ेगा।
२. अहो ! मुझे सर्वप्रथम माता के ओज तथा पिता के शुक्र के घोल का आहार लेना होगा।
३. अहो ! मुझे असुरभि—पंकवाले, अपवित्र, उद्वेजनीय और भयानक गर्भाशय में रहना होगा।^१

गर्भ-पदं

गर्भ-पदम्

गर्भ-पद

३४०. जीवे णं भंते ! गर्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ ? अण्णिए वक्कमइ ?

जीवः भन्दत ! गर्भम् अवक्रामन् किं सेन्द्रियः अवक्रामति ? अनिन्द्रियः अवक्रामति ?

३४०. ^१भन्ते ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव क्या स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है ? अथवा अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है ?

गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ । सिय अण्णिए वक्कमइ ॥

गौतम ! स्यात् सेन्द्रियः अवक्रामति । स्याद् अनिन्द्रियः अवक्रामति ।

गौतम ! वह स्यात् स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है । स्यात् अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है ।

३४१. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सिय सइंदिए वक्कमइ ? सिय अण्णिए वक्कमइ ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते—स्यात् सेन्द्रियः अवक्रामति ? स्याद् अनिन्द्रियः अवक्रामति ?

३४१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है —वह स्यात् स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है ? स्यात् अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है ?

गोयमा ! दब्बिंदियाइं पडुच्च अण्णिए वक्कमइ । भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय सइंदिए वक्कमइ । सिय अण्णिए वक्कमइ ॥

गौतम ! द्रव्येन्द्रियाणि प्रतीत्य अनिन्द्रियः अवक्रामति । भावेन्द्रियाणि प्रतीत्य सेन्द्रियः अवक्रामति । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् सेन्द्रियः अवक्रामति । स्याद् अनिन्द्रियः अवक्रामति ।

गौतम ! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से वह अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है । भावेन्द्रिय की अपेक्षा से स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है, गौतम इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव स्यात् स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है, स्यात् अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है ।

३४२. जीवे णं भंते ! गर्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ ? असरीरी वक्कमइ ?

जीवः भदन्त ! गर्भम् अवक्रामन् किं सशरीरी अवक्रामति ? अशरीरी अवक्रामति ?

३४२. भन्ते ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव क्या सशरीर उत्पन्न होता है ? अथवा अशरीर उत्पन्न होता है ?

गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ । सिय असरीरी वक्कमइ ॥

गौतम ! स्यात् सशरीरी अवक्रामति । स्याद् अशरीरी अवक्रामति ।

गौतम ! वह स्यात् सशरीर उत्पन्न होता है । स्यात् अशरीर उत्पन्न होता है ।

३४३. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी वक्कमइ ? सिय असरीरी वक्कमइ ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी अवक्रामति ? स्याद् अशरीरी अवक्रामति ।

३४३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है —वह स्यात् सशरीर उत्पन्न होता है ? स्यात् अशरीर उत्पन्न होता है ?

गोयमा ! ओरालिय-वेउच्चिय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ । तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी वक्कमइ । सिय असरीरी वक्कमइ ॥

गौतम ! औदारिक-वैक्रिय-आहारकाणि प्रतीत्य अशरीरी अवक्रामति । तैजस-कर्मणी प्रतीत्य सशरीरी अवक्रामति । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी अवक्रामति । स्याद् अशरीरी अवक्रामति ।

गौतम ! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की अपेक्षा वह अशरीर उत्पन्न होता है । तैजस और कर्मण शरीर की अपेक्षा से वह सशरीर उत्पन्न होता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव स्यात् सशरीर उत्पन्न होता है, स्यात् अशरीर उत्पन्न होता है ।

१. भ.वृ. १।३३६—इह प्रक्रमात् परिषहशब्देनारतिपरीषहो ग्राह्यः ।

वेदनीयस्य चिरं सोढुमशक्यत्वादिति ।

२. वही, वृ. १।३३६—'अहे णं' ति अथ लज्जादिक्षणानन्तरमाहारयति बुभुक्षा-

३. ठाणं, ३।३६६ ।

३४४. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पट-
मयाए किमाहारमाहारेइ ?

गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं—तं तदुभय-
संसिद्धं तप्पटमयाए आहारमाहारेइ ॥

३४५. जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किं
आहारमाहारेइ ?

गोयमा ! जं से माया नाणाविहाओ रसविग-
तीओ आहारमाहारेइ, तदेकदेसेणं ओय-
माहारेइ ॥

३४६. जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस्स समाण-
स्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले
इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा ?

णो इण्ठे समद्धे ॥

इं४७. से केण्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जमाहारेइ
तं चिणाइ, तं जहा—सोइदियत्ताए,
चक्खिंदियत्ताए, घाणिदियत्ताए, रसिंदिय-
त्ताए, फासिंदियत्ताए, अट्ठि-अट्ठिमिंज-
केस-मंसु-रोम-नहत्ताए। से तेण्ठेणं
गोयमा ! एवं बुच्चइ—जीवस्स णं गब्भ-
गयस्स समाणस्स णत्थि उच्चारे इ वा
पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते
इ वा पित्ते इ वा ॥

३४८. जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किं पभू
मुहेणं कावलियं आहारमाहारित्तए ?
गोयमा ! णो इण्ठे समद्धे ॥

३४९. से केण्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे सब्बओ
आहारेइ, सब्बओ परिणामेइ, सब्बओ
उत्ससइ, सब्बओ निस्ससइ; अभिक्खणं
आहारेइ, अभिक्खणं परिणामेइ, अभि-
क्खणं उत्ससइ, अभिक्खणं निस्ससइ;
आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ,
आहच्च उत्ससइ, आहच्च निस्ससइ ।

माउजीवरसहरणी, पुत्तजीवरसहरणी, माउ-
जीवपडिबद्धा पुत्तजीवफुडा—तम्हा आहा-

जीवः भदन्त ! गर्भम् अवक्रामन् तत्प्रथमतया
कम् आहारम् आहरति ?

गौतम ! मातुरोजः पितुः शुक्रम्—तत् तदु-
भयसंसृष्टं तत्प्रथमतया आहारम् आहरति ।

जीवः भदन्त ! गर्भगतः सन् कम् आहारम्
आहरति ?

गौतम ! यत् तस्य माता नानाविधाः रस-
विकृतीः आहारम् आहरति, तदेकदेशेन
ओजः आहरति ।

जीवस्य भदन्त ! गर्भगतस्य सतः अस्ति
उच्चारः इति वा, प्रस्रवणम् इति वा, श्वेलः
इति वा, सिंघाणः इति वा, वान्तम् इति वा,
पित्तम् इति वा ?

नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन ?

गौतम ! जीवः गर्भगतः सन् यद् आहरति
तच्च चिन्तति, तद् यथा—श्रोत्रेन्द्रियतया
चक्षुरिन्द्रियतया घ्राणेन्द्रियतया रसेन्द्रियतया
स्पर्शेन्द्रियतया अस्थि-अस्थिमज्जा-केश-श्मश्रु-
रोम-नखत्वेन। तत् तेनार्थेन गौतम ! एव-
मुच्यते—जीवस्य गर्भगतस्य सतः नास्ति
उच्चारः इति वा, प्रस्रवणम् इति वा, श्वेलः
इति वा, सिंघाणः इति वा, वान्तम् इति वा,
पित्तम् इति वा ।

जीवः भदन्त ! गर्भगतः सन् प्रभुः मुखेन
कावलिकम् आहारम् आहर्तुम् ?
गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन ?

गौतम ! जीवः गर्भगतः सन् सर्वतः आहरति,
सर्वतः परिणमति, सर्वतः उच्छ्वसिति, सर्वतः
निःश्वसिति; अभीक्ष्णम् आहरति, अभीक्ष्णं
परिणमति, अभीक्ष्णम् उच्छ्वसिति, अभीक्ष्णं
निःश्वसिति; आहत्य आहरति, आहत्य
परिणमयति, आहत्य उच्छ्वसिति, आहत्य
निःश्वसिति ।

मातृजीवरसहरणी, पुत्रजीवरसहरणी, मातृ-
जीवप्रतिबद्धा, पुत्रजीवस्पृष्टा—तस्माद् आह-

३४४. भन्ते ! जीव गर्भ में उत्पन्न होता हुआ सबसे
पहले क्या आहार लेता है ?

गौतम ! जीव सबसे पहले माता का ओज और
पिता का शुक्र—इन दोनों से मिश्रित आहार लेता
है ।

३४५. भन्ते ! गर्भगत जीव क्या आहार लेता है ?

गौतम ! गर्भगत जीव की माता जो नाना प्रकार
की रस-विकृतियों का आहार लेती है, उसके एक
देश के साथ ओज का आहार लेता है ।

३४६. भन्ते ! क्या गर्भगत जीव के मल, मूत्र,
श्लेष्म, सिंघाण (नाक का मल) वमन और पित्त
होता है ?

यह अर्थ संगत नहीं है ।

३४७. यह किस अपेक्षा से ?

गौतम ! गर्भगत जीव जो आहार लेता है, उसका
यह श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय,
स्पर्शेन्द्रिय, अस्थि, अस्थिमज्जा, केश, श्मश्रु, रोम
और नख के रूप में चय करता है । गौतम ! इस
अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—गर्भगत जीव
के मल, मूत्र, श्लेष्म, सिंघाण, वमन और पित्त
नहीं होता ।

३४८. भन्ते ! क्या गर्भगत जीव मुख से कवल-
-आहार करने में सक्षम है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

३४९. यह किस अपेक्षा से ?

गौतम ! गर्भगत जीव समग्र शरीर से आहार लेता
है, समग्र शरीर से परिणत करता है, समग्र शरीर
से उच्छ्वास लेता है और समग्र शरीर से निःश्वास
करता है; वह बार-बार आहार लेता है, बार-बार
परिणत करता है, बार-बार उच्छ्वास लेता है
और बार-बार निःश्वास करता है; कदाचित्
आहार लेता है, कदाचित् परिणत करता है,
कदाचित् उच्छ्वास लेता है और कदाचित्
निःश्वास करता है ।

मातृजीवरसहरणी और पुत्रजीवरसहरणी—ये दो
नाड़ियां होती हैं । वे मातृजीव से प्रतिबद्ध

रेड, तम्हा परिणामेड ।

रति, तस्मात् परिणमयति ।

और पुत्रजीव से स्पृष्ट होती है। (गर्भ की नाभि में नाड़ी लगी रहती है, नाड़ी में 'अपरा' लगी रहती है।) उससे गर्भगत जीव आहार करता है और उसे परिणत करता है।

अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा माउ-
जीवफुड—तम्हा चिणाइ, तम्हा उव-
चिणाइ । से तेणइणं गोयमा ! एवं चुच्चइ
—जीवे णं गव्भगए समाणे नो पभू मुहेणं
कावलियं आहारमाहारितए ॥

अपरापि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा मातृजीवस्पृष्टा,
तस्मात् चिनोति, तस्माद् उपचिनोति । तत्
तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—जीवः गर्भगतः
सन् नो प्रभुः मुखेन कावलिकम् आहारम्
आहर्तुम् ।

'अपरा' पुत्रजीव से प्रतिबद्ध और मातृजीव से स्पृष्ट होती है, उससे गर्भगत जीव चय और उपचय करता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—गर्भगत जीव मुख से कवल-आहार करने में सक्षम नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र ३४०-३४६

शरीर का निर्माण कर्म के निमित्त से होता है अथवा भूतमात्र के संयोग से ? यह प्रश्न प्राचीन काल से चर्चित रहा। दर्शन के क्षेत्र में दोनों मतवाद प्रचलित थे। वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के भाष्य में इन दोनों मतों की चर्चा कर कर्मनिमित्तक शरीर-सृष्टि का समर्थन किया है। उनके अनुसार पूर्वकृत कर्म के फल से नए शरीर का निर्माण होता है।^१ विषय के निगमन में भाष्यकार ने लिखा है—अकर्मनिमित्तक शरीर-सृष्टि और अकर्मनिमित्तक सुख-दुःख का योग—यह मिथ्या दृष्टिकोण है।^२ चरक में भी इन दोनों प्रतिपत्तियों का उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन में कर्मनिमित्तक शरीरनिर्माण की प्रतिपत्ति मान्य है। गर्भ का पूरा प्रकरण इसी संदर्भ में पठनीय है। इसके समर्थन में महावीर और गौतम का एक संवाद जानना उपयोगी होगा—

गौतम ने पूछा—भन्ते ! जो प्राणी अगले जन्म में उत्पन्न होने वाला है—क्या वह सायुष्क संक्रमण करता है या निरायुष्क ?

भगवान्—गौतम ! वह सायुष्क संक्रमण करता है, निरायुष्क संक्रमण नहीं करता।

गौतम—भन्ते ! वह आयुष्क का बंध कहां करता है ?

भगवान्—वह आयुष्क का बंध पूर्वभव में कर लेता है।^३

गर्भ के विषय में गणधर गौतम ने छह प्रश्न पूछे। भगवान् ने उनके उत्तर दिए।

अष्टांगहृदय के अनुसार शुद्ध शुक्र और शुद्ध रज से तथा स्वकृत कर्मों के कारण जीव की गर्भ-रूप में उत्पत्ति होती है। जैसे

अरणि को घिसने से अग्नि।^४

कोई जीव पूर्व जीवन को समाप्त कर नए जन्म में प्रवेश करता है, तब वह पूर्व जीवन से किन-किन वस्तुओं को साथ लेकर जाता है, इसकी चर्चा उपनिषद् और आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। चरक के अनुसार जीव चार तन्मात्राओं (स्पर्श तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा और गंध तन्मात्रा) को साथ लेकर नए जन्म में प्रवेश करता है।^५ इस संदर्भ में गौतम द्वारा प्रस्तुत प्रथम जिज्ञासा बहुत महत्वपूर्ण बन जाती है। भगवान् महावीर ने उस जिज्ञासा का सापेक्ष दृष्टि से समाधान किया है। एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रवेश करते समय जीव द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से अनिन्द्रिय होता है और भावेन्द्रिय की अपेक्षा से स-इन्द्रिय होता है। द्रव्येन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रिय की रचना और इन्द्रिय-ज्ञान की उपकारक शक्ति। ये दोनों स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती हैं; इसलिए नए जन्म में प्रवेश करते समय ये दोनों जीव के साथ नहीं रहतीं। भावेन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति। वह उस अवस्था में भी होती है। प्रत्येक जीव नए जन्म में होने वाले इन्द्रिय-विकास की योग्यता के अनुरूप ही शरीर का निर्माण करता है।

गौतम की दूसरी जिज्ञासा है—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव सशरीर होता है या अशरीर ? इसका समाधान भी सापेक्ष दृष्टि से किया गया है। मृत्यु का अर्थ है—स्थूल शरीर का परित्याग। गर्भ में प्रवेश का अर्थ है—नए शरीर का निर्माण। स्थूल शरीर तीन हैं—१. औदारिक—यह मनुष्य और तिर्यज्य के होता है।

२. वैक्रिय—यह देव और नारक के होता है।

१. न्याय दर्शन, वात्स्यायन भाष्य, ३।२।५६, ६०—तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः

—किमयं पुरुषकर्मनिमित्तः शरीरसर्गः ? आहोस्विद् भूतमात्रादकर्मनिमित्त इति ? श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति। तत्रेदं तत्त्वम्—पूर्वकृतफला-
नुबन्धात् तदुत्पत्तिः। पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तम् तस्य फलं तन्नितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्या-
वस्थानम्, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति ।

२. वही, ३।२।७९—सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिः अकर्म-
निमित्तः सुखदुःखयोग इति ।

३. भ. ५।५६, ६०।

४. अष्टांगहृदय, शरीरस्थान, १।१—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वं स्वकर्मक्लेशचोदितः।

गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादप्रिस्वारणौ ॥

५. चरकसंहिता, शरीरस्थान, २।३१—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।

कर्मात्मकत्वात् तु तस्य दृश्यं, दिव्यं विना दर्शनमस्तिरूपम् ॥

३. आहारक—इसका निर्माण योगज शक्ति से किया जाता है। यह योग-सम्पन्न मुनि के ही होता है।

तैजस शरीर सूक्ष्म है और कार्मण शरीर सूक्ष्मतर।

गर्भ में प्रवेश करते समय जीव के साथ केवल दो शरीर होते हैं—तैजस और कार्मण। इस आधार पर कहा गया है कि गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल शरीर की अपेक्षा से अशरीर और तैजस तथा कार्मण शरीर की अपेक्षा से सशरीर होता है।

सुश्रुत के 'गर्भावक्रान्ति प्रकरण' में सूक्ष्म इन्द्रियों या लिंग शरीर के साथ जीव का गर्भ में प्रवेश माना गया है।^१

चरकसंहिता में भी यही मत उपलब्ध होता है।^२

तीसरी जिज्ञासा प्रथम आहार से सम्बन्धित है—जीव गर्भ में प्रवेश करते समय सर्वप्रथम क्या आहार लेता है ?

इस जिज्ञासा की पृष्ठभूमि में दो मत अवस्थित हैं। आयुर्वेद के आचार्य भरद्वाज का मत था कि गर्भ में ही चेतना अभिव्यक्त होती है। वह कहीं बाहर से आकर उसका निर्माण नहीं करती।^३ महर्षि आत्रेय इस मत को अस्वीकार करते हैं।^४ उनके अनुसार जीव दूसरे जीवन से आकर नए गर्भ में प्रवेश करता है।^५

गौतम की जिज्ञासा इन दोनों मतों से जुड़ी हुई है। भगवान्

ने समाधान की भाषा में कहा—जीव पूर्व शरीर को छोड़कर गर्भ में प्रवेश करता है। वह सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के शुक्र के मिश्रण का आहार लेता है। वही उसके वर्तमान जीवन की आधार-शिला बनता है।

आहार तीन प्रकार के बतलाए गए हैं—ओज आहार, लोम आहार और प्रक्षेप अथवा कवल आहार।^६ उत्पत्ति के प्रथम समय में शरीर आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, वह ओज आहार है। यह प्रवचनसारोद्धार के वृत्तिकार सिद्धसेन सूरि का मत है। उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ किया है—स्वजन्म स्थानोचित शुक्र, शोणित आदि पुद्गलसंघात का आहार। ओजस् का अर्थ है तैजस। यह आहार कार्मण शरीर युक्त तैजस शरीर से लिया जाता है, इसलिए इसका नाम ओज आहार है।^७ अष्टांगसंग्रह के अनुसार गर्भ में प्रवेश करने वाला प्राणी पहले ओज ग्रहण करता है। उसके पश्चात् शुक्र-शोणित में प्रवेश करता है।^८ उक्त दोनों अभिमतों के संदर्भ में प्रस्तुत आगम का मत समीक्षणीय है। यहां प्रथम आहार माता का ओज और पिता का शुक्र बतलाया गया है।

गर्भ में विद्यमान जीव क्या आहार लेता है ?—यह चौथी जिज्ञासा है। इसके उत्तर में बताया गया है कि गर्भगत जीव माता के आहार पर निर्भर रहता है। माता जो आहार लेती है, उसका

१. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, ३।४—तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीरद्वय-रुदीरयति। ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन। ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेद-यिता ऋधा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकेनाभिभिर्भिधीयते देवसंगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्वो भूतात्मना सहान्वयं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवायुरैरपरैश्च भावैर्वायुना-ऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।

२. चरकसंहिता, शारीरस्थान, २।३५—

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि, यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।

स बीजधर्मा ह्यपरापरणि, देहान्तराण्य्यात्मनि याति याति ॥

३. वही, शारीरस्थान, ३।३(६),४—न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति, यदि होनमवक्रामेत्, नास्य किञ्चित् पीर्वदेहिकं स्यादवदितमश्रुतमदृष्टं वा, स च तच्च न किञ्चिदपि स्मरति ।

तस्मादेतत् ब्रूमहे—अमातृजश्चायं गर्भोऽपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चा-रसजश्च, न चास्ति सत्त्वमीपपादुकमिति (होवाच भरद्वाजः)।

४. वही, शारीरस्थान, ३।५—नेति भगवान्नात्रेयः सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदि-तेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते।

५. वही, शारीरस्थान, ३।३—पुरुषस्यानुपहृतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणि-तगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्र-शोणितसंसर्गमन्तर्गमशियगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभि-निर्वर्तते, स सात्त्वरसोपयोगादरोगोऽभिवर्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्यमाणः, ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णशरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसंपदुपेतः सुखेन जायते समुदयादेशां भावानां मातृजश्चायं, पितृजश्चात्मजश्च सात्त्व्यजश्च रसजश्च अस्ति च खलु सत्त्वमीपपादुकमिति होवाच भगवान्नात्रेयः।

६. म.वृ.१।३४४—'माउओयं'ति मातुरोजः जनन्या आर्तवं शोणितमित्यर्थः, 'पिउसुक्कं'ति 'पितुः शुक्रं' इह यदिति शेषः 'तं'ति आहामिति योगः, 'तदुभय-संसिद्धं'ति तयोर्भयं तदुभयं द्वयं, तच्च तत् संश्लिष्टं च संसृष्टं वा संसर्गवत् तदु-भयसंश्लिष्टं तदुभयसंसृष्टं वा ।

७. सूत्र.नि.गा.१७०—

भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे ।

८. प्र.सारो.वृ.प.३४२—तैजसेन तत्सहचारिणा कार्मणेन च शरीरेण पूर्वशरीर-त्यागे विग्रहेणाविग्रहेण चोत्पत्तिदेशं प्राप्तः सन् जन्तुर्यत् प्रथममौदारिका-दिशरीरयोग्यान् पुद्गलानाहारयति यच्च द्वितीयादि समयेष्वप्यौदारिकादि-मिश्रेणाहारयति यावच्छरीरनिष्पत्तिः एष सर्वोऽयोज आहारः ओजसा तैजस शरीरेणाहार ओज आहारः ।

९. अष्टांगसंग्रह, इन्दुव्याख्या सहित, सूत्रस्थान, १६।२६-३२—

तेजो यत्सर्वधातूनामोजस्तत् परमुच्यते ।

मृदु सोमात्मकं शुद्धं, रक्तमीषत् सपीतकम् ॥

यत् सारमादौ गर्भस्य यच्च गर्भरसाद्रसः ।

संवर्तमानं हृदयं, समाश्रयति यत्पुरा ॥

यच्छरीररसः स्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ।

यस्यानाशात्रनाशोऽस्ति प्रीणिता येन देहिनः ॥

हृदयस्थमपि व्यापि तत् परं जीवितस्यदम् ।

ओजः क्षीयते कोपहृद्ध्यनशोकश्चमादिभिः ॥

सर्वधातूनां यत्तेजस्तत् प्रधानं परमोजः शब्देनोच्यते अष्टविन्दुकमित्यर्थः। तच्च मृदुतीक्ष्णगुणम्। सोमात्मकं सौम्यस्वरूपम्। शुद्धमनुपहतमीषद्रक्तं स्तोत्रलोहितं सपीतकं च। यद् गर्भस्यादौ सारं सारमिव सारं न हि तेन विना शुक्रशोणिते जीवानुप्रवेशः। यच्च गर्भरसाद्रसः गर्भस्य योऽसौ रसः प्रथमो धातुः तस्मादपि

एक देश और ओज वह ग्रहण कर लेता है। सू. ३४४ में 'ओज' शब्द का अर्थ रक्त है। सू. ३४५ में 'ओज' का अर्थ ओज धातु होना चाहिए। तदेकदेश का अर्थ चरकसंहिता से स्पष्ट होता है—सभी रसों से युक्त वह आहार-रस गर्भिणी स्त्री के शरीर में तीन भागों में विभक्त होता है:

१. गर्भिणी के अपने शरीर की पुष्टि के लिए।
२. दूध बनाने के लिए
३. गर्भ-शरीर की पुष्टि और वृद्धि के लिए।

वह गर्भ इस आहार-रस से उपलब्ध होकर (संपोषण प्राप्त कर) गर्भाशय के अन्दर अपना जीवन व्यतीत करता है। यहां 'तदेकदेश' पद के द्वारा गर्भ के लिए जो भाग होता है, वह विवक्षित है।^२ इसकी प्रक्रिया भी निर्दिष्ट है—दो नाड़ियां होती हैं—मातृजीव-रसहरणी और पुत्रजीव-रसहरणी। उनके द्वारा गर्भस्थ शिशु आहार लेता है। अष्टांगहृदय और सुश्रुतसंहिता में इनके सम्बन्ध में जानकारी मिलती है—गर्भ की नाभि में तथा माता के हृदय में रसवाहिनी नाड़ी (नलिका या सिरा) का सम्बन्ध रहता है, जिसके द्वारा गर्भ का पोषण होता रहता है, जैसे खेत की फसल का पोषण कुल्या (जल-प्रणाली) द्वारा होता है।^३

चरकसंहिता के अनुसार गर्भस्थ शिशु को रसवाहिनियों से पोषण प्राप्त होता है। गर्भ की नाभि में नाड़ी लगी रहती है, नाड़ी में 'अपरा' (placenta) लगी रहती है और अपरा का सम्बन्ध माता के हृदय के साथ लगा रहता है। माता का हृदय उस अपरा को स्यन्दमान (जिसमें रस, रक्त आदि का वहन होता है) शिराओं द्वारा रस-रक्त

से आप्लावित किए रहता है।^४

'अपरा' नाम होने का कारण भी उपलब्ध होता है। गर्भ की स्थिति से रजोवाही श्रोतों के मार्गों के अवरुद्ध हो जाने पर अपरा अपर आर्तव उपचित हो जाता है, उसे अपरा कहते हैं। कुछ आचार्य उसे जरायु भी कहते हैं।^५

सू. ३४६ में प्रयुक्त 'अपरा' शब्द पारिभाषिक है—चरकसंहिता के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है। प. बेचरदासजी ने 'अपरा' का अर्थ 'दूसरी' किया है,^६ किन्तु यह समीचीन नहीं लगता।

पांचवीं जिज्ञासा है कि गर्भगत शिशु के उच्चार-प्रसवण आदि होते हैं या नहीं? इसका उत्तर 'नहीं' में दिया गया है। सुश्रुतसंहिता में उच्चार आदि के निषेध की सहेतुक व्याख्या मिलती है। मल के अत्यन्त अल्प होने से वायु और पक्काशय का परस्पर संयोग न होने के कारण गर्भ वायु, मूत्र और मल का त्याग नहीं करता।^७

छठी जिज्ञासा है कि क्या गर्भगत जीव कवल-आहार करता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि कवल-आहार नहीं करता, समग्र शरीर से आहार करता है। शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त अथवा सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के पश्चात् वह लोम आहार करता है। इसलिए समग्र शरीर से आहार करने की विधि निर्दिष्ट है। षण्णं में आहार के दो प्रकार बतलाए गए हैं—देशतः आहार और सर्वतः आहार।^८ मुख से लिया जाने वाला आहार देशतः आहार है। ओज और लोम आहार समग्र शरीर से होता है; इसलिए वह सर्वतः आहार है। इसी प्रकार उच्छ्वास और निःश्वास की क्रिया का निर्देश है। सुश्रुतसंहिता में गर्भ के उच्छ्वास-निःश्वास माता के उच्छ्वास-निःश्वास

सारः प्रसादभूतम् । संवर्तमानं यच्च पुरा धातोर्देहे प्रवर्तमानं प्रथमहृदयमाश्रयति । पश्चात् क्रमाद्देहव्याप्तिं च करोति । यच्च शरीररसस्तस्य स स्नेहो यत्र प्राणो व्यापकोऽपि प्रतिष्ठितः बद्धः यस्य त्वष्टविन्दाख्यस्यानाशाद्देहस्य नाशो नास्ति । येन च हृदयस्थेन देहिने विविधाः प्राणिनः प्रीणितास्तर्पिताः । यच्च हृदयस्थमपि व्यापि तदोजोऽन्येष्वो जीवितास्पदेभ्यः शिरःप्रभृतिभ्यः परं प्रधानं जीवितास्पदम् ।

१. चरकसंहिता, शारीरस्थान, ४ । २४—अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुर्हुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात् । तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च म्लाना ।
२. चरकसंहिता, शारीरस्थान, ६ । २३—स्त्रिया ह्यापन्नगर्भयास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये, स्तन्याय, गर्भवृद्धये च । स तेनहारेणोपलब्धः (परतंत्र-वृत्तिर्मातरमाश्रित्य) वर्तयत्यन्तर्गतः ।
३. (क) अष्टांगहृदय, शारीरस्थान, १ । ६६—
गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निवध्यते ।
यया स पुष्टिमाप्नोति, केदार इव कुल्याया ॥
(ख) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, ३ । ३१—मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति । तेनोपस्नेहे-नास्याभिवृद्धिर्भवति ! असंजाताद्भ्रूयद्भ्रूयविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरा-वयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यगतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ।
४. चरकसंहिता, शारीरस्थान, ६ । २३—नाभ्यां हृदय नाडी प्रसक्ता नाड्यां चापरा,

अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंस्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः ।

५. (क) अष्टांगसंग्रह, शारीरस्थान, २ । ५—तस्याश्च रजोवाहिनं स्रोतसां वर्त्मन्यु-परुध्यन्ते गर्भेण । तस्मात्ततः परमार्तवं न दृश्यते । ततस्तदधः प्रतिहतमपरमपरं चोपचीयमानमपरेत्याहुः । जरायुरित्यन्ये ।

(टीका)—तस्याश्च व्यक्तगर्भया रजोवहानि स्रोतसि यैः स्रोतोभिर्मलभूतं रक्तमृतुकाले बहिर्भवति, तेषां वर्त्मनि मार्गाणि मुखानि गर्भेण नैकाहादाच्छाद्यन्ते; तस्मात् कारणात् ततः गर्भस्य व्यक्तीभावात् परमार्तवं न प्रवर्तते । यत्तु कदाचिद् दृश्यते तद्वैकृतम् । तदेव चार्तवमधोगमने गर्भेण प्रतिहतमाहारपरिणामाच्च प्रतिदिनमुपचीयमानं गर्भस्याशय एवापरागर्भशय्याख्या सम्पद्यत इति केचि-दाहुः । अन्ये पुनराचार्यास्तदार्तवं जरायुभावेन परिणमतीत्याहुः ।

(ख) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, ४ । २४—गृहीतगर्भणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मन्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भणामार्तवं न दृश्यते ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते ।

६. भगवती सूत्र, खण्ड १, पृ. १८२ ।

७. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, २ । ६३—

मलाल्पत्वादयोगाच्च, वायोः पक्काशयस्य च ।

चातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥

८. ऋणं, २ । २०६ ।

पर निर्भर बतलाए गए हैं।^१ आयुर्विज्ञान के अनुसार माता द्वारा गृहीत आवसीजन, पोषक तत्व 'ग्लेसेटा' (अपरा) के माध्यम से गर्भ तक पहुंचते हैं और कार्बन-डाइआक्साइड, यूरिया आदि उत्सर्जनीय पदार्थ

गर्भ से पुनः माता तक पहुंचाए जाते हैं। इस प्रकार गर्भ द्वारा आहार और श्वासोच्छ्वास का कार्य स्वतंत्र रूप से नहीं होता।^४

माइय-पेइय-अंग-पदं

मात्रिक-पैत्रिक-अंग-पदम्

मात्रिक-पैत्रिक-अंग-पद

३५०. कइ णं भंते ! माइयंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ माइयंगा पण्णत्ता, तं जहा
—भंसे, सोणिए, मत्तुलुंगे ॥

कति भदन्त ! मात्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! त्रीणि मात्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा
—मांसं, शोणितं, मत्तुलुङ्गम् ।

३५०. भन्ते ! संतान में कितने मातृ-अंग प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! तीन मातृ-अंग प्रज्ञप्त हैं, जैसे—मांस, शोणित और मत्तुलुंग (मस्तिष्कीय मज्जा) ।

३५१. कइ णं भंते ! पेत्तियंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पेत्तियंगा पण्णत्ता, तं जहा
—अट्ठि, अट्ठिमिजा, केस-मंसु-रोम-नहे ॥

कति भदन्त ! पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! त्रीणि पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा
—अस्थि, अस्थिमज्जा, केश-श्मश्रु-रोम-
-नखाः ।

३५१. भन्ते ! संतान में कितने पितृ-अंग प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! तीन पितृ-अंग प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अस्थि, अस्थि-मज्जा, केश, श्मश्रु, रोम और नख ।

३५२. अम्मापेइए णं भंते ! सरिरेए केवइयं कालं संचिड्डइ ?

गोयमा ! जावइयं से कालं भवधारणिजे सरिरेए अव्वावन्ने भवइ एवतियं कालं संचिड्डइ, अहे णं समए-समए वोयसिज्ज-माणे-वोयसिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे भवइ ॥

अम्वापैतृकः भदन्तः ! शरीरकः कियन्तं कालं सन्तिष्ठते ?

गौतम ! यावन्तं तस्य कालं भवधारणीयः शरीरकः अव्यापन्नः भवति एतावन्तं कालं सन्तिष्ठते, अथ समये-समये व्यवकृष्यमाणः-व्यवकृष्यमाणः चरमकालसमये व्यवच्छिन्नः भवति ।

३५२. भन्ते ! मातृ-पैत्रिक शरीर (मातृ-अंग और पितृ-अंग) सन्तान के शरीर में कितने काल तक अवस्थित रहता है ?

गौतम ! जितने काल तक उसका भवधारणीय शरीर अव्यापन्न (अविनष्ट) बना रहता है, उतने काल तक मातृ-पैत्रिक शरीर सन्तान के शरीर में अवस्थित रहता है। उपचय के अन्तिम समय के अनन्तर मातृ-पैत्रिक शरीर प्रतिक्षण हीयमान होता हुआ अन्तिम क्षण में व्यवच्छिन्न हो जाता है।

भाष्य

१. सूत्र ३५०-३५२

आयुर्वेद के ग्रन्थों में मातृज और पितृज अंगों की विस्तृत जानकारी मिलती है। अष्टांगहृदय में रक्त, मांस, मज्जा और गुद को मातृज तथा शुक्र, धमनी, अस्थि एवं केश को पितृज अंग माना गया

है।^१ चरकसंहिता में इसकी विस्तृत तालिका मिलती है।^४ आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार गर्भ को माता और पिता से २३-२३ गुणसूत्र (chromosomes) मिलते हैं।^५

१. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, २।५५—

निःश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति ।

मातुर्निश्वासितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान् ॥

२. Encyclopaedia Britannica, Embryology, Human—Vol.

VIII, p. 326—At the same time it readily passes oxygen, nutritive chemical substances (carbohydrates, nitrogenous foods and mineral salts) from maternal to fetal blood and waste products (carbon dioxide, urea etc.) from fetal to maternal blood to be carried away and disposed of through the mother's lungs and kidneys, the placenta is essentially an apposition of the fetal and maternal circulatory systems for purposes of chemical exchange. It serves the developing fetus as an organ of respiration,

nutrition and excretion and serves the mother as an endocrine organ.

३. अष्टांगहृदय, शारीरस्थान, ३।४, ५—

मृद्धत्र मातृजं रक्त-मांस-मज्जा-गुदादिकम् ॥

पैतृकं तु स्थिरं शुक्र-धमन्यस्थि-कचादिकम् ।

४. चरकसंहिता, शारीरस्थान, ३।६, ७—त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोमं च यकृच्च प्लीहा च तुकौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च बदा च वपावहनं वेति (मातृजानि) ।

केश-श्मश्रु-नख-क्लोम-दन्तास्थि-सिरा-घ्रायु-धमन्यः शुक्रं वेति (पितृजानि) ।

५. Encyclopaedia Britannica 'Heredity', vol. XI, p. 422 A—As stated above, man has 46 chromosomes in his body cells and in the cells (oogonia and spermatogonia) from

शब्द-विमर्श

भवधारणीय—भवधारण करने का प्रयोजन यानि मनुष्य आदि भवधारण करने में जो उपग्राहक है।

अव्यापन्न—अविनष्ट, जो नष्ट नहीं हुआ है।

अव—उपचय के अन्तिम समय के अनन्तर केवल यह अम्बापैतृक शरीर होता है।^१

गढभस्स नरगगमण-पदं

३५३. जीवे णं भन्ते ! गढभगए समाणे नेरइएसु उववज्जेजा ?
गोयमा ! अत्येगइए उववज्जेजा, अत्येगइए नो उववज्जेजा ॥

३५४. से केणइएणं भन्ते एवं चुच्चइ—
अत्येगइए उववज्जेजा, अत्येगइए नो उव-
वज्जेजा ?

गोयमा ! से णं सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जतीहिं पज्जतए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, समोहणित्ता चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ, विउव्वित्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगमं संगमएइ ।

से णं जीवे अत्यकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्यकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, अत्यपिवासिए रज्जपिवासिए भोगपिवासिए कामपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्जवसिए तत्तिव्वन्नवसाणे तदडोवउत्ते तदप्पियकरणे तदभावणाभाविए, एयंसि णं अंदुरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ । से तेणइएणं गोयमा ! एवं चुच्चइ—अत्येगइए उववज्जेजा, अत्येगइए नो उववज्जेजा ॥

गर्भस्य नरकगमन-पदम्

जीवः भदन्त ! गर्भगतः सन् नैरयिकेषु उपपद्येत ?
गौतम ! अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः नो उपपद्येत ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः नो उपपद्येत ?

गौतम ! स संज्ञी पंचेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः परानीकम् आगतं श्रुत्वा निशम्य प्रदेशं निक्षिपति, निक्षिप्य वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्ति, समवहत्य चतुरङ्गिणीं सेनां विकुरुते, विकृत्य चतुरङ्गिण्या सेनया परानीकेन सार्द्धं सङ्ग्रामं सङ्ग्रामयति ।

स जीवः अर्थकामकः राज्यकामकः भोगकामकः कामकामकः, अर्थकाङ्क्षितः राज्याकाङ्क्षितः भोगकाङ्क्षितः कामकाङ्क्षितः, अर्थपिपासितः राज्यपिपासितः भोगपिपासितः कामपिपासितः, तच्चित्तः तन्मनाः तल्लेश्यः तदध्यवसितः तत्तीव्राध्यवसानः तदर्थोपयुक्तः तदर्पितकरणः तदभावनाभावितः; एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात् नैरयिकेषु उपपद्येत । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः नो उपपद्येत ।

गर्भ का नरकगमन-पद

३५३. भन्ते ! क्या गर्भगत जीव नैरयिकों में उपपन्न होता है ?
गौतम ! कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता ।

३५४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता ?

गौतम ! सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, वीर्यलब्धि और वैक्रियलब्धि से सम्पन्न, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भगत शिशु शत्रु-सेना का आगमन सुनकर, अवधारण कर अपने आत्म-प्रदेशों का गर्भ से बाहर प्रक्षेपण करता है, उनका प्रक्षेपण कर वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है, समवहत होकर चतुरङ्गिणी सेना का निर्माण करता है। निर्माण कर उस चतुरङ्गिणी सेना के द्वारा शत्रु-सेना के साथ युद्ध करता है।

वह जीव (गर्भगतशिशु) अर्थकामी, राज्यकामी, भोगकामी और कामकामी, अर्थकांक्षी राज्यकांक्षी, भोगकांक्षी और कामकांक्षी तथा अर्थपिपासु, राज्यपिपासु, भोगपिपासु और कामपिपासु होकर उस अर्थ आदि में ही अपने चित्त, मन, लेश्या, अध्यवसाय और तीव्र अध्यवसान का नियोजन करता है। वह उसी विषय में उपयुक्त हो जाता है। उसके लिए अपने सारे करणों (इन्द्रियों) का समर्पण कर देता है। वह उसकी भावना से भावित हो जाता है। उस अंतर (युद्धकाल) में यदि वह मरणकाल को प्राप्त होता है, तो नैरयिकों में उपपन्न होता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता ।

गढभस्स देवलोगगमण-पदं

३५५. जीवे णं भन्ते ! गढभगए समाणे देव-

गर्भस्य देवलोगगमन-पदं

जीवः भदन्त ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु

गर्भ का देवलोकगमन-पद

३५५. भन्ते ! क्या गर्भगत जीव देवलोकों में उपपन्न

which the sex cells arise. At meiosis, these 46 chromosomes form 23 pairs, one of the chromosomes of each pair being of maternal and the other of paternal origin.

१. भ.वृ.१।३५४—‘भवधारणीयं’ भवधारणप्रयोजनं मनुष्यादिभवोपग्राहकमित्यर्थः। ‘अव्यापन्ने’ति अविनष्टम्, ‘अहे णं’ति उपचयान्तिमसमयादनन्तरमेतद् अम्बापैतृकं शरीरम् ।

लोगेसु उववजेजा ?

गोयमा ! अत्येगइए उववजेजा, अत्येगइए नो उववजेजा ॥

उपपद्येत ?

गौतम ! अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः नो उपपद्येत ।

होता है ।

गौतम ! कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता ।

३५६. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—
अत्येगइए उववजेजा, अत्येगइए नो उव-
वजेजा ?

गोयमा ! से णं सण्णी पंचिदिए सब्बाहिं
पज्जतीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा
माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं
धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ भवइ
संवेगजायसहे तिब्बधम्माणुरागरत्ते ।

से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्ग-
कामए मोक्खकामए, धम्मकांखिए पुण्ण-
कांखिए सग्गकांखिए मोक्खकांखिए,
धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए
मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे
तदञ्जवसिए तत्तिब्बञ्जवसाणे तदद्दोवउत्ते
तदप्पियकरणे तद्भावणाभाविए, एयंसि णं
अंतरंसि कालं करेज देवलोगेसु उववज्जइ ।
से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—अत्ये-
गइए उववजेजा, अत्येगइए नो उवव-
जेजा ॥

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—
अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः नो
उपपद्येत ।

गौतम ! स संज्ञी पंचेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्ति-
भिः पर्याप्तकः तथारूपस्य श्रमणस्य वा
माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं
सुवचनं श्रुत्वा निशम्य ततो भवति संवेगजात-
श्रद्धस्तीव्रधर्मानुरागरक्तः ।

स जीवः धर्मकामकः पुण्यकामकः स्वर्ग-
कामकः मोक्षकामकः, धर्मकाङ्क्षितः, पुण्य-
काङ्क्षितः स्वर्गाकाङ्क्षितः मोक्षकाङ्क्षितः,
धर्मपिपासितः पुण्यपिपासितः स्वर्गपिपा-
सितः मोक्षपिपासितः, तद्धित्तः तन्मनाः
तल्लेश्यः तदध्यवसितः तत्तीव्रव्यवसानः
तदर्थोपयुक्तः तदर्पितकरणः तद्भावना-
भावितः, एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्याद् देव-
लोकेषु उपपद्येत । तत् तेनार्येण गौतम ! एव-
मुच्यते—अस्त्येककः उपपद्येत, अस्त्येककः
नो उपपद्येत ।

३५६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है
—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता?
गौतम ! सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय
गर्भगत शिशु तथारूप श्रमण-माहन के पास एक
भी आर्य धार्मिक सुवचन सुनता है, अवधारण
करता है । उससे उसके मन में संवेग-जनित श्रद्धा
उत्पन्न होती है । वह तीव्र धर्म-अनुराग से अनुरक्त
हो जाता है ।

वह जीव (गर्भगत शिशु) धर्मकामी, पुण्यकामी,
स्वर्गकामी और मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी,
स्वर्गकांक्षी और मोक्षकांक्षी तथा धर्मपिपासु,
पुण्यपिपासु स्वर्गपिपासु और मोक्षपिपासु होकर
उस धर्म, पुण्य आदि में ही अपने चित्त, मन,
लेश्या, अध्यवसाय तीव्र अध्यवसान का नियोजन
करता है । वह उसी विषय में उपयुक्त हो जाता
है । उसके लिए अपने सारे करणों (इन्द्रियों) का
समर्पण कर देता है । वह उसकी भावना से भावित
हो जाता है । उस अंतर (धर्माराधन-काल) में
यदि वह भरणकाल को प्राप्त होता है, तो देवलोकों
में उपपन्न होता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह
कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई
उपपन्न नहीं होता ।

भाष्य

१. सूत्र ३५३-३५६

प्रस्तुत आलापक गर्भविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है ।
गर्भस्थ शिशु के विकास, क्षमता और व्यवहार पर आधुनिक विज्ञान
के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हो रहे हैं । अनेक आश्चर्यजनक रहस्य
भी उद्घाटित हुए हैं । नोर्थ केरोलिना यूनिवर्सिटी के श्री एंथानी
डिकेस्पर तथा उनके सहयोगी श्री विलियम फिफर ने अनेक प्रयोग
किए हैं । अपने अध्ययन में उन्होंने पाया कि गर्भस्थ शिशु जिन
गीतों को सुनता है, जिन आवाजों को सुनता है, जन्म के पश्चात्
वह उनको पहचान जाता है । जर्मन वैज्ञानिक प्रो. अनेर्ट पोपेल के
अनुसार गर्भस्थ शिशु सपने भी देख सकता है । २८ सप्ताह का
अजन्मा शिशु संगीत की धाप पर नाचता है । चरकसंहिता में भी
गर्भस्थ शिशु के विकास और व्यवहार की चर्चा मिलती है ।^१ प्रस्तुत
प्रकरण में जिस वैक्रिय लब्धि का उल्लेख है, वह आश्चर्यकारी रहस्य
है । एक गर्भस्थ शिशु के द्वारा वैक्रिय लब्धि के द्वारा सेना का

निर्माण कर युद्ध करना सभी ज्ञात घटनाओं से विलक्षण घटना है ।

इसी प्रकार धार्मिक प्रवचन सुनकर धर्मानुराग से अनुरक्त
होना भी विलक्षण घटना है ।

शब्द-विमर्श

पर्याप्ति और पर्याप्त—पर्याप्तियां छह हैं—१. आहारपर्याप्ति
२. शरीरपर्याप्ति ३. इन्द्रियपर्याप्ति ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ५. भाषा-
पर्याप्ति ६. मनःपर्याप्ति । नए जन्म में प्रवेश करने वाला प्राणी जन्म
के प्रारम्भ में प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त की अवधि में इन छहों
पौद्गलिक शक्तियों का निर्माण करता है । इनका निर्माण पूर्ण होने
पर वह पर्याप्त कहलाता है ।

वीर्यलब्धिक—शक्तिसम्पन्न । सूत्रकृतांग निर्युक्ति में इसका विस्तृत
वर्णन उपलब्ध है ।^२

१. चरकसंहिता, शारीरस्थान, ४।१५—तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि संतिष्ठन्ते,
तत्कालमेव चेतसि वेदना निर्बन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते,

प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित् तद् द्वैहदयभाष्यक्षते वृद्धाः ।
२. द्रष्टव्य, सूयगडो, प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन का आमुख ।

वैक्रियत्त्वबिक्—नाना प्रकार के रूपनिर्माण^१ में समर्थ योगजनित शक्ति से सम्पन्न।

वैक्रियसमुद्घात—नाना प्रकार के रूपनिर्माण के लिए होने वाला आत्मप्रदेशों का प्रक्षेपण।

तच्चित्त—चित्त का अर्थ है—स्थूल शरीर के साथ व्यापृत चेतना अथवा बुद्धि। 'तच्चित्त' अर्थात् प्रकृत विषय में संलग्न चित्त वाला।

तन्मना—मन का अर्थ है—सब विषयों का ग्रहण करने वाला तथा स्मृति, कल्पना और चिंतन में सक्षम और चित्त द्वारा संचालित एक योग। 'तन्मना' अर्थात् प्रकृत विषय में संलग्न मन वाला।

तल्लेश्य—लेश्या का अर्थ है—भावधारा। 'तल्लेश्य' अर्थात् प्रकृत विषय में संलग्न लेश्या वाला।

तदध्यवसित—अध्यवसाय का अर्थ है—कर्मशरीर के साथ व्यापृत चेतना। अथवा चेतना का सूक्ष्म परिणाम। 'तदध्यवसित' अर्थात् प्रकृत विषय में संलग्न अध्यवसाय से युक्त।

तत्तीव्राध्यवसान—अध्यवसान का अर्थ है—चेतना का सूक्ष्म

परिणाम। 'तत्तीव्राध्यवसान' अर्थात् प्रकृत विषय में तीव्र अध्यवसाय वाला।

तदर्थापयुक्त—प्रकृत विषय के लिए व्यापृत चेतना वाला।

तदर्यतकरण—प्रकृत विषय के लिए समर्पित इन्द्रिय वाला।

तद्भावनाभावित—प्रकृत विषय की भावना से भावित।

संवेग—भववैराग्य अथवा जन्मरण-जनित भय।

तथास्व—विशिष्ट संज्ञा के अनुरूप आचरण वाला।

श्रमण-माहण—श्रमण और माहण की प्रामाणिक परिभाषा सूयगडो में उपलब्ध है।^३ वहां माहण को सब पाप कर्म से विरत बतलाया गया है, इसलिए इसका अर्थ श्रावक या व्रती गृहस्थ नहीं किया जा सकता। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'श्रावक' अथवा 'ब्राह्मण' किया है।^४ वह उक्त संदर्भ में समीचीन प्रतीत नहीं होता। जयाचार्य ने इस विषय पर विशेष विमर्श प्रस्तुत किया है।^५ सूयगडो में १४ पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं, उनमें भी 'समण' और 'माहण' संगृहीत हैं।^६

३५७. जीवे णं भंते ! गम्भगए समाणे उत्ताणए वा पासल्लए वा अंबुखुजए वा अच्चेज वा ? चिट्ठेज वा ? निसीएज वा ? तुयट्ठेज वा ? माउए सुयमाणीए सुवइ ? जागरमाणीए जागरइ ? सुहियाए सुहिए भवइ ? दुहियाए दुहिए भवइ ?

हंता गौयमा ! जीवे णं गम्भगए समाणे उत्ताणए वा पासल्लए वा अंबुखुजए वा अच्चेज वा, चिट्ठेज वा, निसीएज वा, तुयट्ठेज वा। माउए सुयमाणीए सुवइ, जागरमाणीए जागरइ, सुहियाए सुहिए भवइ, दुहियाए दुहिए भवइ।

अहे णं पसवणकालसमयसि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छति सममागच्छति, तिरियमागच्छति विणिहायमावज्जति। वण्णवज्जाणि य कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं निहत्ताइं कडाइं पट्ठवियाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं—नो उवसंताइं

जीवः भदन्त ! गर्भगतः सन् उत्तानकः वा, पार्श्वकः वा, आप्रकुब्जकः वा आसीत वा? तिष्ठेद् वा ? निषीदेद् वा ? त्वग्वर्तेत वा ? मातरि स्वपन्त्यां स्वपिति ? जाग्रत्यां जागर्ति? सुखितायां सुखितो भवति? दुःखितायां दुःखितो भवति ?

हन्त गौतम ! जीवः गर्भगतः सन् उत्तानकः वा, पार्श्वकः वा आप्रकुब्जकः वा आसीत वा, तिष्ठेद् वा, निषीदेद् वा, त्वग्वर्तेत वा, मातरि स्वपन्त्यां स्वपिति, जाग्रत्यां जागर्ति, सुखितायां सुखितो भवति, दुःखितायां दुःखितो भवति।

अथ प्रसवणकालसमये शीर्षेण वा पादेन वा आगच्छति सममागच्छति तिर्यग् आगच्छति, विनिघातमापद्यते। वर्णबाह्यानि च तस्य कर्माणि बद्धानि स्पृष्टानि निधत्तानि कृतानि प्रस्थापितानि अभिनिविष्टानि अभिसमन्वागतानि उदीर्णानि—नो उपशान्तानि भवन्ति,

३५७. ^३ भन्ते ! क्या गर्भगत जीव उत्तानशयन, पार्श्वशयन अथवा आप्रकुब्जक (आप्र की भांति कुब्ज) आसन की मुद्रा में रहता है ? खड़ा होता है ? बैठता है ? सोता है ? माता के सोने पर सोता है ? उसके जागने पर वह जागता है ? उसके सुखी होने पर वह सुखी होता है ? उसके दुःखी होने पर वह दुःखी होता है ?

हां, गौतम ! गर्भगत जीव उत्तानशयन, पार्श्वशयन अथवा आप्रकुब्जक आसन की मुद्रा में रहता है, खड़ा होता है, बैठता है, सोता है, माता के सोने पर सोता है, उसके जागने पर वह जागता है, उसके सुखी होने पर वह सुखी होता है, उसके दुःखी होने पर वह दुःखी होता है।

वह जीव प्रसवकाल के समय (यदि) सिर या पैरों के द्वारा बाहर आता है, सीधा आता है; (यदि) वह टेढ़ा होकर आता है, तो मृत्यु को प्राप्त होता है। उस नवजात शिशु के (यदि) वर्णबाह्य (अग्रशस्त कोटिवाले) कर्म बद्ध, स्पृष्ट निधत्त, कृत, प्रस्थापित, अभिनिविष्ट (तीव्र अनुभाव के

१. ब्रह्मव्य, भ.३।१५४-१६१।

२. सूय.१।१६।३,४—इति विरतसव्यपावकमे पेज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुण्ण-परपरिवाद-अरति-रति-मायामोस-मिच्छदंसणसल्लविरते समिए सहिए सया जए, णो कुज्जे णो माणी 'माहणे'ति वच्चे।

एत्य वि समणे अणिसिए अणिदाणे आदाणं च अतिचायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेजं च दोसं च—इच्चेव जतो-जतो आदाणाओ अप्पणो पदोस-हेऊ ततो-ततो आदाणाओ पुच्चं पडिविरतो सिया

दंते दविए वोसडुकाए 'समणे'ति वच्चे।

३. भ.वृ.१।३५६—'माहणस्स'ति मा हन् इत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणस्ति-पातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावाद् ब्राह्मणो देशविरतः।

४. भ.जो.१।२२।२६-११७।

५. सूय.२।१।७२।

भवति, तओ भवइ दुरूवे दुवण्णे दुगंधे दुरसे दुफासे अण्डि अकंते अणिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अण्डिस्सरे अकंतस्सरे अणियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणा-एज्जवयणे पच्चायाए या वि भवइ । वण्ण-वज्जाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं नो पुट्टाइं नो निहत्ताइं नो कडाइं नो पट्टुवियाइं नो अभिनिविट्टाइं नो अभिसमण्णागयाइं नो उदिण्णाइं—उवसंताइं भवति, तओ भवइ सुरूवे सुवण्णे सुगंधे सुरसे सुफासे इडे कंते पिए सुभे मणुण्णे मणामे अहीणस्सरे अदीणस्सरे इट्टस्सरे कंतस्सरे पियस्सरे सुभस्सरे मणुण्णस्सरे मणाभस्सरे आदे-ज्जवयणे पच्चायाए या वि भवइ ॥

ततः भवति दूरूपः दुर्वर्णः दुर्गन्धः दूरसः दुःस्पर्शः अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः 'अमणामे' हीनस्वरः दीनस्वरः अशुभस्वरः अमनोज्ञस्वरः 'अमणाम'स्वरः अनादेयवचनः प्रत्याजातश्चापि भवति । वर्णवाह्यानि च तस्य कर्माणि नो बद्धानि नो स्पृष्टानि नो निधत्तानि नो कृतानि नो प्रस्थापितानि नो अभिनिविष्टानि नो अभिसमन्वागतानि नो उदीर्णानि—उपशान्तानि भवन्ति, तस्मात् भवति सुरूपः सुवर्णः सुगन्धः सुरसः सुस्पर्शः इष्टः कान्तः प्रियः शुभः मनोज्ञः 'मणामे' अहीनस्वरः अदीनस्वरः इष्टस्वरः कान्तस्वरः प्रियस्वरः मनोज्ञस्वरः 'मणाम'-स्वरः आदेयवचनः प्रत्याजातश्चापि भवति ।

रूप में स्थापित) अभिसमन्वागत (उदय के अभिमुख) और उदीर्ण हैं—वे उपशांत नहीं होते, तो वह कुत्सित रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला होता है। वह हीन, दीन, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, और अमनोहर स्वर-वाला तथा अनादेय वचन वाला होता है। उस नवजात शिशु के (यदि) वर्णवाह्य (अप्रशस्त कोटिवाले) कर्म बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त, कृत, प्रस्थापित, अभिनिविष्ट अभिसमन्वागत और उदीर्ण नहीं होते—उपशांत होते हैं, तो वह श्रेष्ठ रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला होता है, इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ, मनोज्ञ और मनोहर होता है; अहीन, अदीन, इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ, मनोज्ञ और मनोहर स्वरवाला तथा आदेय वचन वाला होता है।

भाष्य

१. सूत्र-३५७

शब्द-विमर्श

वर्णवज्ज—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—वर्णवध्य और वर्णवाह्य। नामकर्म की प्रकृतियों में वर्ण नामकर्म का उल्लेख नहीं है। यहां वर्ण का अर्थ शुक्ल आदि वर्ण से संबद्ध नहीं है, किन्तु इसका अर्थ प्रशस्त होना चाहिए। इस आधार पर वर्णवाह्य का अर्थ 'अप्रशस्त कोटिवाला' किया जा सकता है।

बद्ध—कर्म-योग्य पुद्गल जो कर्म रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

स्पृष्ट—जिन कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ संश्लेष हो चुका है। यह प्रज्ञापना के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि का अभिमत है। धवला के अनुसार कर्मों का कर्मों के साथ जो स्पर्श होता है वह कर्म-स्पर्श है। यहां 'स्पृष्ट' शब्द के द्वारा कर्म स्पर्श विवक्षित है।

निघत्त—उद्वर्तना और अपवर्तना इन दो करणों को छोड़कर शेष करण न हो सके, उस रूप में परिणत कर देना।

कृत—जीव के द्वारा कृत। वर्णवण्णा में जीवेणं कडस्स' पाठ उपलब्ध है। प्रस्तुत आगम में कर्म को 'चेतकृत' वतलाया गया है।

प्रस्थापित—एक साथ उदय होगा, इस रूप में व्यवस्था, जैसे—मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसकाय आदि।

अभिनिविष्ट—तीव्र अनुभाव के रूप में निविष्ट।

अभिसमन्वागत—उदयाभिमुख।

उदीर्ण—उदय प्राप्त।

'बद्ध' और 'स्पृष्ट'—इन दो पदों की व्याख्या मलयगिरि की वृत्ति के आधार पर की गई है। शेष पदों की व्याख्या प्रस्तुत आगम की वृत्ति के आधार पर की गई है। वृत्तिकार ने 'कृत' का अर्थ 'निकाचित' किया है। यह विमर्शनीय है। इसी प्रकार 'उदीर्ण' के अर्थ में उदीर्णा करण को भी जोड़ा है। किन्तु वर्णवण्णा के

३५८. सेव भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

३५८. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है ।

१. भ. वृ. १। ३५७—'वर्णवज्जाणि'ति वर्णः श्लाघा वध्यो—हन्तव्यो येषां तानि वर्णवध्यानि अथवा वर्णाद्वाह्यानि वर्णवाह्यानि अशुभानीत्यर्थः ।

२. आटे.—वर्णः—A good quality.

३. प्रज्ञा. वृ. प. ४५६।

४. ष. खं. धवला, पु. १३, खं. ५, भा. ३, सू. ३०, पृ. ३४—कम्माणं कम्महिं जो फासो सो कम्मफासो ।

५. पण्ण. २३। १३।

६. भ. १६। ४१, ४२।

७. प्रज्ञा. वृ. प. ४५६—जीवेनं वद्धस्य—रागद्वेषपरिणामवशतः कर्मरूपतया परिणमितस्य स्पृष्टस्य, आत्मप्रदेशैः सह संश्लेषमुपगतस्य ।

८. भ. वृ. १। ३५७—'निहत्ताइं'ति उद्वर्तनापवर्तनकरणवर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः, अथवा वद्धानि कथं ? यतः पूर्वं स्पृष्टानीति, 'कडाइं'ति निकाचितानि सर्वकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । 'पट्टुवियाइं'ति मनुष्यगतिपंचेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मसहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । 'अभिनिविट्टाइं'ति तीव्रानुभावतया निविष्टानि । 'अभिसमण्णागयाइं'ति उदयाभिमुखीभूतानीति, ततश्च 'उदिण्णाइं'ति 'उदीर्णानि' स्वतः उदीर्णाकरणेन वेदितानि ।

अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

बालस्स आउय-पदं

बालस्य आयुष्क-पदम्

बाल का आयुष्य-पद

३५६. एगंतबाले णं भंते ! मणुस्से किं नेर-
इयाउयं पकरोति ? तिरिक्खाउयं पकरोति ?
मणुस्साउयं पकरोति ? देवाउयं पकरोति ?
नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति ?
तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जति ?
मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति ?
देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ?

एकान्तबालः भदन्त ! मनुष्यः किं नैरयिकायुः
प्रकरोति ? तिर्यगायुः प्रकरोति ? मनुष्यायुः
प्रकरोति ? देवायुः प्रकरोति ? नैरयिकायुः
कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते ? तिर्यगायुः
कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते ? मनुष्यायुः कृत्वा
मनुष्येषु उपपद्यते ? देवायुः कृत्वा देवलोकेषु
उपपद्यते ?

३५६. भन्ते ! एकान्त बाल मनुष्य क्या नरक का
आयुष्य बांधता है ? तिर्यज्य का आयुष्य बांधता
है ? मनुष्य का आयुष्य बांधता है ? देव का
आयुष्य बांधता है ? नरक का आयुष्य बांधकर
नैरयिकों में उपपन्न होता है ? तिर्यज्य का आयुष्य
बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता है ? मनुष्य का
आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न होता है ?
देव का आयुष्य बांधकर देवलोकों में उपपन्न होता
है ?

गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयं
पि पकरोति, तिरियाउयं वि पकरोति, मणु-
स्साउयं पि पकरोति, देवाउयं पि पकरोति,
नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति,
तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जति,
मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति,
देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ॥

गौतम ! एकान्तबालः मनुष्यः नैरयिकायुः
अपि प्रकरोति, तिर्यगायुः अपि प्रकरोति,
मनुष्यायुः अपि प्रकरोति, देवायुः अपि
प्रकरोति, नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषु उप-
पद्यते, तिर्यगायुः कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते,
मनुष्यायुः कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुः
कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते ।

गौतम ! एकान्त बाल मनुष्य नरक का आयुष्य
भी बांधता है, तिर्यज्य का आयुष्य भी बांधता है,
मनुष्य का आयुष्य भी बांधता है, देव का आयुष्य
भी बांधता है । वह नरक का आयुष्य बांधकर
नैरयिकों में उपपन्न होता है, तिर्यज्य का आयुष्य
बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता है, मनुष्य का
आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न होता है और
देव का आयुष्य बांधकर देवलोकों में उपपन्न होता
है ।

पंडियस्स आउय-पदं

पण्डितस्य आयुष्क-पदम्

पण्डित का आयुष्य-पद

३६०. एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं नेरइ-
याउयं पकरोति ? तिरिक्खाउयं पकरोति ?
मणुस्साउयं पकरोति ? देवाउयं पकरोति ?
नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति ?
तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जति ?
मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति ?
देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ?

एकान्तपण्डितः भदन्त ! मनुष्यः किं नैरयि-
कायुः प्रकरोति ? तिर्यगायुः प्रकरोति ?
मनुष्यायुः प्रकरोति ? देवायुः प्रकरोति ?
नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते ?
तिर्यगायुः कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते ? मनुष्यायुः
कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते ? देवायुः कृत्वा देव-
लोकेषु उपपद्यते ?

३६०. भन्ते ! एकान्तपण्डित मनुष्य क्या नरक का
आयुष्य बांधता है ? तिर्यज्य का आयुष्य बांधता
है ? मनुष्य का आयुष्य बांधता है ? देव का
आयुष्य बांधता है ? वह नरक का आयुष्य
बांधकर नैरयिकों में उपपन्न होता है ? तिर्यज्य
का आयुष्य बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता
है ? मनुष्य का आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न
होता है ? देव का आयुष्य बांधकर देवलोकों में
उपपन्न होता है ?

गोयमा ! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउयं
सिय पकरोति, सिय णो पकरोति । जइ
पकरोति णो नेरइयाउयं पकरोति, णो
तिरियाउयं पकरोति, णो मणुस्साउयं
पकरोति, देवाउयं पकरोति, णो नेरइयाउयं

गौतम ! एकान्तपण्डितः मनुष्यः आयुः स्यात्
प्रकरोति, स्यात् नो प्रकरोति । यदि प्रकरोति
नो नैरयिकायुः प्रकरोति, नो तिर्यगायुः
प्रकरोति, नो मनुष्यायुः प्रकरोति, देवायुः
प्रकरोति, नो नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषु

गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य कदाचित् आयुष्य
बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता । यदि वह
आयुष्य बांधता है, तो न नरक का आयुष्य
बांधता है, न तिर्यज्य का आयुष्य बांधता है, न
मनुष्य का आयुष्य बांधता है, वह केवल देव का

किञ्चा नेरइएसु उववज्जति, णो तिरियाउयं किञ्चा तिरिएसु उववज्जति, णो मणुस्साउयं किञ्चा मणुस्सेसु उववज्जति, देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ॥

उपपद्यते, नो तिर्यगायुः कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, नो मनुष्यायुः कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ।

आयुष्य बांधता है। वह न नरक का आयुष्य बांधकर नैरयिकों में उपपन्न होता है, न तिर्यज्य का आयुष्य बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता है, न मनुष्य का आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न होता है, वह केवल देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है।

३६१. से केणट्टेणं जाव देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ?

तत् केनार्थेन यावद् देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

३६१. यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— एकान्त पण्डित मनुष्य यावत् देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है ?

गोयमा ! एगंतपंडियस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ षण्णायंति, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पोयवत्तिया चेव । से तेणट्टेणं गोयमा ! जाव देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ॥

गौतम ! एकान्तपण्डितस्य मनुष्यस्य केवलमेव द्वे गती प्रज्ञायते, तद् यथा—अन्तक्रिया चैव, कल्पोपपत्तिका चैव । तत् तेनार्थेन गौतम ! यावद् देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ।

गौतम ! एकान्त पण्डित मनुष्य की केवल दो ही गतियां प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका (वैमानिक देवों में उपपत्ति) ! गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—यावत् देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है।

बालपंडियस्स आउय-पदं

बालपण्डितस्य आयुष्क-पदम्

बालपण्डित का आयुष्य-पद

३६२. बालपंडिए णं भन्ते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरोति ? तिरिक्खाउयं पकरोति ? मणुस्साउयं पकरोति ? देवाउयं पकरोति ? नेरइयाउयं किञ्चा नेरइएसु उववज्जति ? तिरियाउयं किञ्चा तिरिएसु उववज्जति ? मणुस्साउयं किञ्चा मणुस्सेसु उववज्जति ? देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ?

बालपण्डितः भदन्त ! मनुष्यः किं नैरयिकायुः प्रकरोति ? तिर्यगायुः प्रकरोति ? मनुष्यायुः प्रकरोति ? देवायुः प्रकरोति ? नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते ? तिर्यगायुः कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते ? मनुष्यायुः कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते ? देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

३६२. भन्ते ! बालपण्डित मनुष्य क्या नरक का आयुष्य बांधता है ? तिर्यज्य का आयुष्य बांधता है ? मनुष्य का आयुष्य बांधता है ? देव का आयुष्य बांधता है ? वह नरक का आयुष्य बांधकर नैरयिकों में उपपन्न होता है ? तिर्यज्य का आयुष्य बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता है ? मनुष्य का आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न होता है ? देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है ?

गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से णो नेरइयाउयं पकरोति, णो तिरिक्खाउयं पकरोति, णो मणुस्साउयं पकरोति, देवाउयं पकरोति, णो नेरइयाउयं किञ्चा नेरइएसु उववज्जति, णो तिरियाउयं किञ्चा तिरिएसु उववज्जति, णो मणुस्साउयं किञ्चा मणुस्सेसु उववज्जति, देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ॥

गौतम ! बालपण्डितः मनुष्यः नो नैरयिकायुः प्रकरोति, नो तिर्यगायुः प्रकरोति, नो मनुष्यायुः प्रकरोति, देवायुः प्रकरोति, नो नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते, नो तिर्यगायुः कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, नो मनुष्यायुः कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ।

गौतम ! बालपण्डित मनुष्य न नरक का आयुष्य बांधता है, न तिर्यज्य का आयुष्य बांधता है, न मनुष्य का आयुष्य बांधता है, वह केवल देव का आयुष्य बांधता है। वह न नरक का आयुष्य बांधकर नैरयिकों में उपपन्न होता है, न तिर्यज्य का आयुष्य बांधकर तिर्यज्यों में उपपन्न होता है, न मनुष्य का आयुष्य बांधकर मनुष्यों में उपपन्न होता है, वह केवल देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है।

३६३. से केणट्टेणं जाव देवाउयं किञ्चा देवेसु उववज्जति ?

तत् केनार्थेन यावद् देवायुः कृत्वा देवेषु उपपद्यते ?

३६३. यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— बालपण्डित मनुष्य यावत् देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है ?

गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुववणं सोच्चा निसम्म देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ, देसं पच्चक्खाइ, देसं णो पच्चक्खाइ ।

गौतम ! बालपण्डितः मनुष्यः तथारूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निशम्य देशम् उपरमति, देशं नो उपरमति, देशं प्रत्याख्याति, देशं नो प्रत्याख्याति ।

गौतम ! बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण अथवा माहन के पास एक भी आर्य धार्मिक सुवचन सुन कर, अवधारण कर आंशिक रूप से उपरत होता है और आंशिक रूप से उपरत नहीं होता। आंशिक रूप से प्रत्याख्यान करता है और आंशिक

से तेणं देसोवरम-देसपच्चक्खाणेणं णो नेरइ-
याउयं पकरोति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु
उववज्जति । से तेणइणं जाव देवाउयं किच्चा
देवेसु उववज्जति ॥

स तेन देशोपरम-देशप्रत्याख्यानेन नो नैरयि-
कायुः प्रकरोति यावद् देवायुः कृत्वा देवेषु
उपपद्यते । तत् तेनार्थेन यावद् देवायुः कृत्वा
देवेषु उपपद्यते ।

रूप से प्रत्याख्यान नहीं करता ।

वह उस आंशिक उपरम और आंशिक प्रत्याख्यान से नरक का आयुष्य नहीं बांधता यावत् देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है । इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—बालपण्डित मनुष्य यावत् देव का आयुष्य बांधकर देवों में उपपन्न होता है ।

भाष्य

१. सूत्र ३५६-३६३

प्रस्तुत प्रकरण में 'बाल' और 'पण्डित' पारिभाषिक शब्द हैं । सूत्रगोत्र में अविरत को बाल, विरत को पण्डित और विरताविरत को बालपण्डित गहा गया है ।

वृत्तिकार ने एकांत बाल के दो अर्थ किए हैं—मिथ्यादृष्टि और अविरत । अविरत सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का बालत्व समान होता है, फिर भी अविरत सम्यग्दृष्टि केवल देव के आयुष्य का ही बंध करता है ।^१ क्रियावादी मनुष्य के आयुष्य-बंध-सूत्र से भी इसका समर्थन होता है ।^२ एकान्त बाल के लिए चतुर्विध आयुष्य-बंध के निर्देश का हेतु कारण की विविधता है । वृत्तिकार ने चार कारणों का उल्लेख किया है—

१. महाआरंभ—नरकगति के आयुष्य-बंध का कारण ।
२. उन्नार्ग देशना—तिर्यञ्च गति के आयुष्य-बंध का कारण ।
३. कषाय की अल्पता—मनुष्य गति के आयुष्य-बंध का कारण ।
४. अकाम निर्जास—देवगति के आयुष्य-बंध का कारण ।

वृत्तिकार ने 'आदि' शब्द के द्वारा शेष कारणों की ओर इंगित किया है ।^३ प्रस्तुत आगम और षणं में प्रत्येक गति के चार-चार कारण निर्दिष्ट हैं ।^४

शब्द-विमर्श

एकान्त—बाल और पण्डित के साथ 'एकान्त' पद का प्रयोग

किया गया है । यह निश्चय के अर्थ में अथवा मिश्रण का व्यवच्छेद करने के लिए है । तीसरे विकल्प में बाल और पण्डित दोनों का मिश्रण है, किन्तु प्रथम और द्वितीय विकल्प में ये दोनों अमिश्रित हैं ।

एकान्तबाल—असंयती ।

एकान्तपण्डित—मुनि ।

अन्तक्रिया—मुक्त होने के पूर्व होने वाली क्रिया । वृत्तिकार ने इसका अर्थ निर्वाण किया है ।^५ देखें, १।११२ का भाष्य ।

कल्पोपपत्तिका—वैमानिक देवों में होने वाली उपपत्ति । यहां 'कल्प' शब्द वैमानिक देवों का सूचक है ।^६

बालपण्डित—श्रावक, व्रतधारी गृहस्थ ।

देसं उवरमइ, देसं पच्चक्खाइ—देश का अर्थ अंश है । उवरमइ का अर्थ है—विरत होना और पच्चक्खाइ का अर्थ है—परित्याग करना । कोई व्यक्ति पहले विरत होता है और उसके पश्चात् प्रत्याख्यान करता है ।^७ देसं उवरमइ की विशेष जानकारी के लिए सूत्रगोत्र, २।२।७१ द्रष्टव्य है ।

किरिया-पदं

क्रिया-पदम्

क्रिया-पद

३६४. पुरिसे षं भन्ते ! कच्छंसि वा दहंसि वा
उदणंसि वा दवियंसि वा बलयंसि वा नूमंसि

पुरुषः भदन्त ! कच्छे वा द्रहे वा उदके वा
'दवियंसि' वा धलये वा 'नूमंसि' वा गहने वा

३६४. भन्ते ! कोई मृगाजीवी, मृग-वध के संकल्प
वाला, मृग-वध में एकाग्रचित्त पुरुष मृग-वध के

१. सू.२।२।७५—अविरइ पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइ पडुच्च पंडिए आहिज्जइ,
विरयाविरइ पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ ।

२. भ.वृ.१।३५६—एकान्तबालः मिथ्यादृष्टिःविरतो वा, एकान्तग्रहणेन मिश्रतां
व्यवच्छिनति !.....बालत्वे समानेऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रक-
रोति, न शेषाणि ।

३. भ.३०।२६।

४. भ.वृ.१।३५६—यच्चैकान्तबालत्वे समानेऽपि नानाविधायुर्वन्धनं तन्नाहारम्भा-
द्युन्नागदिशनादि तनुकषायत्वादि अकामनिर्जासि तद्धेतु विशेषवशादिति ।

५. भ.८।४२५-४२८; ठाणं, ४।६२८-६३१।

६. भ.वृ.१।३६१—'अंतकिरिय'ति निर्वाणम् ।

७. वही, १।३६१—'कप्पोववत्तिय'ति कल्पेणु—अनुत्तरविमानान्तदेवलोकेषु-
पपत्तिः सैव कल्पोपपत्तिका । इह च कल्पशब्दः सामान्येनैव वैमानिकदेवाऽऽ-
द्यासाभिधायक इति ।

८. वही, १।३६३—'देसं उवरमइ'ति विभक्तिपरिणामाद्देशात् 'उपरमते' विरतो
भवति; ततो देसं स्थूलं प्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याति वर्जनीयतया प्रति-
जानीते ।

वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा पन्वयंसि वा पन्वयविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा भियवितीए भियसंकम्पे भियपणिहाणे भियवहाए गंता एते भिय त्ति काउं अण्णयरस्स भियस्स वहाए कूडपासं उदात्ति, ततो णं भंते ! से पुरिसे कत्तिकिरिए ?

गोयमा ! सिय त्तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ॥

३६५. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—सिय त्तिकिरिए ? सिय चउकिरिए ? सिय पंचकिरिए ?

गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए—णो बंधणयाए, णो मारणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए—तिहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए उद्दवणताए वि, बंधणताए वि—णो मारणताए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए—चउहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए उद्दवणताए वि, बंधणताए वि, मारणताए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए, पाणातिवायकिरियाए—पंचाहिं किरियाहिं पुट्टे । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—सिय त्तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ॥

३६६. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय-ऊसविय अण्णिकायं निसिरइ—तावं च णं भंते ! से पुरिसे कत्तिकिरिए ? गोयमा ! सिय त्तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ॥

३६७. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—सिय त्तिकिरिए ? सिय चउकिरिए ? सिय पंचकिरिए ? गोयमा ! जे भविए उस्सवणयाए—णो

गहनविदुग्गे वा पर्वते वा पर्वतविदुग्गे वा वने वा वनविदुग्गे वा मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानः मृगवधाय गत्वा एते मृगाः इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय कूटपाशम् उद्घटति, ततो भदन्त ! स पुरुषः कतिक्रियः ?

गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः ? स्याच् चतुःक्रियः ? स्यात् पञ्चक्रियः ?

गौतम ! यः भव्यः उद्दानाय—नो बन्धनाय, नो मारणाय—तावच् च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या—तिसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः उद्दानाय अपि, बन्धनाय अपि—नो मारणाय—तावच् च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या—चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः उद्दानाय अपि, बन्धनाय अपि, मारणाय अपि, तावच् च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या, प्राणातिपातक्रियया—पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

पुरुषः भदन्त ! कच्छे वा यावद् वनविदुग्गे वा तृणानि उच्छ्रित्य-उच्छ्रित्य अग्निकायं निसृजति—तावच् च भदन्त ! स पुरुषः कतिक्रियः ? गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः ? स्याच् चतुःक्रियः ? स्यात् पञ्चक्रियः ?

गौतम ! यः भव्यः उच्छ्रयणाय—नो निस-

लिए कच्छ (नदी-तटीय प्रदेश), द्रव, उदग (जलाशय), 'दविय' (घास के जंगल अथवा गोचर भूमि), बलय (वृत्ताकार नदी-प्रदेश), 'नून' (प्रच्छन्न प्रदेश), अरण्य, दुर्गम अरण्य, पर्वत, दुर्गम पर्वत, वन, दुर्गम वन में जाकर 'ये मृग हैं'—यह सोच किसी एक मृग के वधके लिए कूटपाश बांधता है। भन्ते ! उससे वह पुरुष कितनी क्रियाओं से युक्त होता है ?

गौतम ! वह स्यात् (कदाचित्) तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ।

३६५. भन्ते ! वह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह पुरुष स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ?

गौतम ! जो भव्य (व्यक्ति) कूट-पाश की रचना करता है, पर न मृगको बांधता है और न उसे मारता है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्रादोषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य कूटपाश की व्यवस्था कर जो (बंधन आदि करेगा) कूटपाश को बांधता है और मृग को भी बांधता है, पर उसे मारता नहीं, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी और पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य कूटपाश को बांधता भी है, मृग को बांधता है और उसे मारता भी है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—वह स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ।

३६६. भन्ते ! कोई व्यक्ति कच्छ यावत् दुर्गम वन में घास का ढेर लगा उसमें अग्नि का प्रक्षेप करता है। उस समय वह पुरुष कितनी क्रियाओं से युक्त होता है ? गौतम ! स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ।

३६७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह पुरुष स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ? गौतम ! जो भव्य घास का ढेर लगाता है, पर

निसिरणयाए, णो दहणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए—तिहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए उस्सवणयाए वि, निसिरणयाए वि—णो दहणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए—चउहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए उस्सवणयाए वि, निसिरणयाए वि, दहणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए, पाणातिवायकिरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुट्टे । से तेणट्टेणं गोयमा! एवं चुच्चइ—सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ॥

३६८. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वण-विदुग्गंसि वा मियवितीए मियसंकम्ये मिय-पणिहाणे मियवहाए गंता एते मिय त्ति काउं अण्णतरस्स मियस्स वहाए उणुं निसिरति, ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ॥

३६९. से केणट्टेणं भंते ! एवं चुच्चइ—सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ?

गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए—णो विद्धंसणयाए, णो मारणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए—तिहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए निसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि—णो मारणयाए—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए—चउहिं किरियाहिं पुट्टे ।

जे भविए निसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, मारणयाए वि—तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारितावणियाए, पाणातिवायकिरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुट्टे । से तेणट्टेणं गोयमा!

जर्नाय नो दहनाय—तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या—तिसुभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः उच्छ्रयणाय अपि, निसर्जनाय अपि—नो दहनाय—तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या—चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः उच्छ्रयणाय अपि, निसर्जनाय अपि, दहनाय अपि, तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या, प्राणातिपातक्रियया—पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

पुरुषः भदन्त ! कच्छे वा यावद् वनविदुर्गे वा मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानः मृग-वधाय गत्वा एते मृगाः इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषुं निसृजति, ततो भदन्त ! स पुरुषः कतिक्रियः ?

गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः ?

गौतम ! यः भव्यः निसर्जनाय—नो विध्वंसनाय, नो मारणाय—तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या—तिसुभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः निसर्जनाय अपि, विध्वंसनाय अपि—नो मारणाय—तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या—चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः ।

यः भव्यः निसर्जनाय अपि, विध्वंसनाय अपि, मारणाय अपि—तावच् च सः पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या, प्राणातिपातक्रियया—पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एव-

न तो उसमें अग्नि का प्रक्षेप करता है और न उसे जलाता है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्रादोषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य घास का ढेर भी लगाता है, उसमें अग्नि का प्रक्षेप भी करता है, पर उसे जलाता नहीं है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी प्रादोषिकी और पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य घास का ढेर भी लगाता है, उसमें अग्नि का प्रक्षेप भी करता है और उसे जलाता भी है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—वह स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ।

३६८. भन्ते ! कोई मृगाजीवी, मृग-वध के संकल्प वाला, मृग-वध में एकाग्रचित्त पुरुष मृग-वध के लिए कच्छ यावत् दुर्गम वन में जाकर 'ये मृग हैं'—यह सोच किसी एक मृग के वध के लिए बाण फेंकता है । भन्ते ! उससे वह पुरुष कितनी क्रियाओं से युक्त होता है ?

गौतम ! वह स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ।

३६९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह पुरुष स्यात् तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से युक्त होता है ?

गौतम ! जो भव्य बाण फेंकता है, पर न तो मृग को आहत करता है और न उसका प्राण-हरण करता है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्रादोषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य बाण भी फेंकता है, मृग को आहत भी करता है, पर उसका प्राण-हरण नहीं करता, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी और पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

जो भव्य बाण भी फेंकता है, मृग को आहत भी करता है और उसका प्राण-हरण भी करता है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । गौतम !

एवं बुद्धइ—सिय तिकिरिए, सिय चउ-
किरिए, सिय पंचकिरिए ॥

मुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्याच् चतुःक्रियः,
स्यात् पञ्चक्रियः ।

इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—वह स्यात्
तीन, स्यात् चार और स्यात् पांच क्रियाओं से
युक्त होता है ।

३७०. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वण-
विदुम्मांसि वा मियवित्तीए मियसंकम्पे मिय-
पणिहाणे मियवहाए गंता एते मिय ति काउं
अण्णतरस्स मियस्स वहाए आयत्तकण्णा-
यत्तं उसुं आयामेत्ता चिडेज्जा, अण्णयरे
पुरिसे भग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा
सीसं छिंदेज्जा, से य उसू ताए चैव पुब्बा-
यामणयाए तं मियं विंथेज्जा, से णं भंते!
पुरिसे किं मियवैरेणं पुट्टे ? पुरिसवैरेणं पुट्टे ?

पुरुषः भदन्त ! कच्छे वा यावत् वनविदुर्गे
वा मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानः
मृगवधाय गत्वा एते मृगाः इति कृत्वा
अन्यतरस्य मृगस्य वधाय आयत्त-कर्णायत्तं
इषुं आयस्य तिष्ठेद्, अन्यतरः पुरुषः 'भग्गतो'
आगम्य स्वकपाणिना अतिना शीर्षं छिन्धात्,
स च इषुं तेन चैव पूर्वयामनेन तं मृगं व्यधेत्,
स भदन्त ! पुरुषः किं मृगवैरेण स्पृष्टः ? पुरु-
षवैरेण स्पृष्टः ?

३७०. भन्ते ! कोई मृगाजीवी, मृग-वध के संकल्प
वाला, मृग-वध में एकाग्र चित्त पुरुष मृग-वध के
लिए कच्छ यावत् दुर्गम वन में जाकर 'ये मृग
हैं'—यह सोच किसी एक मृग के वध के लिए
बाण को आयत्त कर्णायत्त—कान तक खींचकर
खड़ा हो, उसी समय कोई अन्य व्यक्ति पीछे से
आकर अपने हाथ से तलवार द्वारा उसका सिर
काट ले और वह बाण पहले से ही खिंचा हुआ
होने के कारण उस मृग को वेध डाले, तो भन्ते!
वह व्यक्ति क्या मृग-वैर से स्पृष्ट होता है अथवा
पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है ?

गोयमा ! जे मियं मारेइ, से मियवैरेणं पुट्टे ।
जे पुरिसं मारेइ, से पुरिसवैरेणं पुट्टे ॥

गौतम ! यः मृगं मारयति, स मृगवैरेण स्पृष्टः ।
यः पुरुषं मारयति, स पुरुषवैरेण स्पृष्टः ।

गौतम ! जो मृग को मारता है, वह मृग-वैर से
स्पृष्ट होता है और जो पुरुष को मारता है, वह
पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है ।

३७१. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुद्धइ—जे मियं
मारेइ, से मियवैरेणं पुट्टे ? जे पुरिसं मारेइ,
से पुरिसवैरेणं पुट्टे ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—यः मृगं
मारयति, स मृगवैरेण स्पृष्टः ? यः पुरुषं मार-
यति, स पुरुषवैरेण स्पृष्टः ?

३७१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—जो मृग को मारता है, वह मृग-वैर से स्पृष्ट
होता है ? जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष-वैर
से स्पृष्ट होता है ?

से नूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे, संधिज्ज-
माणे संधिते, निव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिते,
निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?
हंता भगवं ! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे
संधिते, निव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिते, निसि-
रिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ।

अथ नूनं गौतम ! क्रियमाणं कृतम्, सन्धीय-
मानं सन्धितम्, निर्वृत्त्यमानं निर्वृत्तितम्, निसृ-
ज्यमानं निसृष्टम् इति वक्तव्यं स्यात् ?

हन्त भगवन् ! क्रियमाणं कृतम्, सन्धीयमानं
सन्धितम्, निर्वृत्त्यमानं निर्वृत्तितम्, निसृ-
ज्यमानं निसृष्टम् इति वक्तव्यं स्यात् ।

गौतम ! क्रियमाण को कृत, संधीयमान (धनुष
की प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाया जा रहा है) को
संधित, निर्वृत्त्यमान (प्रत्यञ्चा खींचने से धनुष
को चतुर्ल किया जा रहा है) को निर्वृत्तित और
निसृज्यमान को निसृष्ट कहा जा सकता है ?
हां, भगवन् ! क्रियमाण को कृत, संधीयमान को
संधित, निर्वृत्त्यमान को निर्वृत्तित और निसृज्यमान
को निसृष्ट कहा जा सकता है ।

से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुद्धइ—जे मियं
मारेइ, से मियवैरेणं पुट्टे । जे पुरिसं मारेइ,
से पुरिसवैरेणं पुट्टे ।

तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—यः मृगं
मारयति, स मृगवैरेण स्पृष्टः । यः पुरुषं मार-
यति, स पुरुषवैरेण स्पृष्टः ।

गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जो
मृग को मारता है, वह मृग-वैर से स्पृष्ट होता है
और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष वैर से
स्पृष्ट होता है ।

अंतो छण्हं मासाणं मरइ—काइयाए,
अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारिताव-
णियाए, पाणातिवायकिरियाए—पंचहिं
किरियाहिं पुट्टे । बाहिं छण्हं मासाणं मरइ
—काइयाए, अहिगरणियाए, पाओसि-
याए, पारितावणियाए—चउहिं किरियाहिं
पुट्टे ॥

अन्तः षण्णां मासानां त्रियते—कायिक्या,
आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनि-
क्या, प्राणातिपातक्रियया—पञ्चभिः क्रिया-
भिः स्पृष्टः । बाहिः षण्णां मासानां त्रियते—
कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या,
पारितापनिक्या—चतसृभिः क्रियाभिः
स्पृष्टः ।

वह मृग छह मास के भीतर मरता है, तो कायिकी,
आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और
प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट
होता है । यदि वह छह मास के बाद मरता है,
तो कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी और
पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता
है ।

३७२. पुरिसे णं भंते पुरिसं सत्तीए समभि-
धंसेज्जा, सयपाणिणा वा से असिणा सीसं

पुरुषः भदन्त ! पुरुषं शकृत्या समधिध्वंसेत्,
स्वकपाणिना वा तस्य अतिना शीर्षं छिन्धात्,

३७२. भन्ते ! कोई पुरुष किसी पुरुष को शक्ति
नामक प्रहरण से मारे या अपने हाथ से तलवार

छिंदेजा, ततो णं भंते ! से पुरिसे कति-
किरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं
सत्तीए समभिधंसेति सयपाणिणा वा से
असिणा सीसं छिदति—तावं च णं से
पुरिसे काइयाए, अहियरणिणाए, पाओ-
सियाए, पारितावणिणाए, पाणातिवात-
किरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुडे ।
आसन्नवधएण य अणवकंखणवत्तीए णं
पुरिसवेरेणं पुडे ।।

ततः भदन्त ! स पुरुषः कतिक्रियः ?

गौतम ! यावच् च स पुरुषः तं पुरुषं शकृत्या
समभिध्वंसति स्वकपाणिना वा तस्य असिना
शीर्षं छिनत्ति—तावच् च स पुरुषः कायि-
क्या, आधिकरणिक्क्या, प्रादोषिक्या, पारि-
तापनिक्या, प्राणातिपातक्रियया—एञ्चभिः
क्रियाभिः स्पृष्टः ।
आसन्नवधकेन च अनवकाङ्क्षणवृत्त्या पुरुष-
वैरेण स्पृष्टः ।

द्वारा उसका सिर काटे, तो उससे वह पुरुष कितनी
क्रियाओं से युक्त होता है ?

गौतम ! जब वह पुरुष उस पुरुष को शक्ति—
बरछा से मारता है या अपने हाथ से तलवार द्वारा
उसका सिर काट देता है, उस समय वह पुरुष
कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारिताप-
निकी और प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रिया-
ओं से स्पृष्ट होता है ।

वह पुरुष आसन्नवधक होने तथा पर-प्राणों के
प्रति निरपेक्ष वृत्तिके कारण पुरुष-वैर से स्पृष्ट
होता है ।

भाष्य

१. सूत्र ३६४-३७२

प्रस्तुत आलापक में हिंसात्मक प्रवृत्ति पर विभज्यवाद की दृष्टि
से विचार किया गया है। केवल प्राणवध करना ही हिंसा नहीं है।
किसी का प्राणवध करने के लिए कायिक चेष्टा करना भी हिंसा है।
आगम की भाषा में वह 'कायिकी क्रिया' है। शस्त्र का प्रयोग करना
भी हिंसा है। आगम की भाषा में वह 'आधिकरणिकी क्रिया' है।
मन का द्वेषपूर्ण होना भी हिंसा है, आगम की भाषा में वह 'प्रादोषिकी
क्रिया' है। परिताप देना भी हिंसा है। आगम की भाषा में वह
'पारितापनिकी क्रिया' है। प्राणवियोजनात्मक हिंसा प्राणातिपात है।

यहां हिंसा की कुछ समस्याएं प्रस्तुत कर उनका समाधान दिया
गया है। एक व्याध मृग को मारने के लिए कूटपाश की रचना
करता है। वह हिंसक है या नहीं ? इस समस्या का समाधान
विभज्यवाद के आधार पर किया जा सकता है। वह मारने के लिए
चेष्टा कर रहा है; इसलिए उसे अहिंसक नहीं कहा जा सकता और
वह न मृग को परिताप दे रहा है, न उसका प्राणवध कर रहा है।
इस दृष्टि से उसे मारने वाला भी नहीं कहा जा सकता। हिंसा एक
परम्पराबद्ध प्रवृत्ति है। मानसिक द्वेष, कायिक चेष्टा और शस्त्र का
प्रयोग—ये सब हिंसा की शृंखला की कड़ियां हैं। परिताप और
प्राणवध हो या न हो, हिंसा के लिए शारीरिक प्रयत्न करने वाला
हिंसक होगा। इस आधार पर सूत्रकार ने इस मर्म का उद्घाटन
किया है कि किसी को परितप्त करना या किसी का प्राण-वियोजन
करना ही हिंसा नहीं है। किसी को मारने के लिए संकल्प करना,
प्रणिधान करना, कायिक परिष्पन्द करना और वध की सामग्री जुटाना
भी हिंसा है ।

हिंसा की एक दूसरी समस्या प्रस्तुत की गई है—एक पुरुष
मृग को मारने के लिए बाण चलाने की मुद्रा में है। इस स्थिति में
कोई दूसरा मनुष्य आकर उसे मार डालता है। उस प्रियमाण पुरुष
के हाथ से बाण छूटता है और मृग मर जाता है। इस अवस्था में
मृग का वधक किसे माना जाए ? क्या उस धनुर्धर को माना जाए
अथवा उसे मारने वाले को माना जाए ? सूत्रकार ने इस समस्या
का समाधान यह दिया है कि धनुर्धर को मारने वाले का मृग को
मारने का संकल्प नहीं है; इसलिए वह मृग का वधक नहीं होता।
वह धनुर्धर का ही वधक है और धनुर्धर का संकल्प उस बाण के
साथ जुड़ा हुआ है; इसलिए मृग का वधक वही होगा। 'क्रियमाण
कृत' इस सिद्धान्त के अनुसार उसने प्रत्यञ्चा पर बाण को चढ़ा
दिया और प्रत्यञ्चा खींचकर धनुष्य को वर्तुलाकार बना दिया। वह
बाण को फेंकने की तैयारी में था। इस प्रकार 'निसृज्यमाण निसृष्ट'
होता है। इस दृष्टि से वह धनुर्धर पुरुष ही मृग का वधक होगा।

इस समस्या में मुख्यतः वैर के विषय पर विचार किया गया
है। गौण रूप में क्रिया पर विचार किया गया है। वैर-बंध के दो
कारण हैं—आसन्नवध और अनवकाङ्क्षण-वृत्ति। वधक वध्य को
मारता है, तब वैर का बंध होता है। उस बंध के फलस्वरूप वध्य
निकट भविष्य में वधक को मार डालता है। आसन्नकाल में कर्मविपाक
का सिद्धान्त योग सूत्र में भी मिलता है। महर्षि पतञ्जलि ने कर्माशय
को दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय बतलाया है। भाष्यकार के
अनुसार तीव्र संवेग से किया हुआ पुण्य और तीव्र क्लेश से किया
हुआ पाप सद्योविपाकी होता है।^१ वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने आसन्नवध

१. पा.यो.द. २।१२—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टदृष्टजन्मवेदनीयः ।

भाष्य—तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः । स दृष्टजन्म-
वेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च । तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिर्निर्वर्तित
ईश्वरदेवतापरिष्पन्महानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते
पुण्यकर्माशय इति । तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधित—कृपणेषु विश्वासो-

पगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पाप-
कर्माशयः सद्यः एव परिपच्यते । यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा
देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यकत्वेन
परिणत इति ।

की व्याख्या में एक गाथा उद्धृत कर वध से होने वाले बंध को जघन्योदयी—शीघ्र उदय में आने वाला बतलाया है।^१

प्रस्तुत आगम के नीवें शतक में वैर-स्पर्श की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है।^२ जो व्यक्ति पर-प्राण से निरपेक्ष होकर वैर-बंध में प्रवृत्त होता है, वह अनवकांक्षणवृत्तिक है। यह अनवकांक्षण-वृत्ति भी वैरानुबंधी वैर का हेतु बन जाती है। प्रस्तुत आलापक में हिंसा की समस्या पर व्यवहार नय से विचार किया गया है। किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति पर शत्रु का प्रहार किया। उस प्रहार से यदि वह छह मास की अवधि के भीतर मर जाता है, तो प्रहार करने वाला पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। यदि वह छह महीने के पश्चात् मरता है तो प्रहार करने वाला चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है, प्राणातिपातक्रिया या प्राणवध की क्रिया से स्पृष्ट नहीं होता। तात्पर्य की भाषा में छह मास की अवधि में होने वाला मरण प्रहारहेतुक और उसके पश्चात् होने वाला मरण अन्य परिणामकृत माना जाता है।^३ वृत्तिकार के अनुसार यह नियम व्यवहार नय की अपेक्षा से प्रतिपादित है, निश्चयनय की अपेक्षा से प्रहारहेतुक मरण किसी अवधि में हो, उससे

प्राणातिपातक्रिया संभव हो जाएगी।^४ डॉ. सिक्दर ने भारतीय दण्ड-विधान की धारा २९९, ३०० और ३०२ के साथ इस छः माह की अवधि वाले नियम का सामञ्जस्य बतलाया है।^५

शब्द-विमर्श

उदात्ति—इसका अर्थ है—बांधना।^६

मृग—वृत्तिकार ने मृग का अर्थ हिरण किया है।^७ इसका दूसरा अर्थ जंगली पशु भी होता है।^८ यहां ये दोनों अर्थ घटित हो सकते हैं।

भव्य—यह पारिभाषिक शब्द है। जो पुरुष कूटयन्त्र आदि का प्रयोग करने वाला है, वह भव्य कहलाता है। विषकूट-यंत्र, पिंजरा, कन्दक और पशु को बांधने का जाल तथा इनके करने वाले और इन्हें इच्छित स्थानों में रखने वाले भव्य कहलाते हैं। जो स्पर्शन के योग्य है, किन्तु अभी उनका स्पर्श नहीं किया जाता है, वे सब भव्यस्पर्श हैं। यह धवला का अभिमत है।^९

जय-पराजय-पदं

जय-पराजय-पदम्

जय-पराजय-पद

३७३. दो भन्ते ! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिब्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अण्णम-ण्णेणं सद्धिं संगामं संगामेति तत्थ णं एगे पुरिसे पराइणति, एगे पुरिसे परायिज्जति । से कहमेयं भन्ते ! एवं ? गोयमा ! सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ॥

द्वौ भदन्त ! पुरुषौ सदृशकौ सदृक्त्वयौ सदृशव्यसौ सदृशभाण्डामत्रोपकरणौ अन्यो-न्यं साद्धं संग्रामं सङ्ग्रामयन्ति, तत्र एकः पुरुषः पराजयते, एकः पुरुषः पराजीयते । तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ? गौतम ! सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः परा-जीयते ।

३७३. भन्ते ! समान त्वचा वाले, समान वय वाले, समान युद्धोपयोगी साधन-सामग्री वाले दो समान व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के साथ युद्ध करते हैं। वहां एक व्यक्ति जीतता है और एक पराजित होता है। भन्ते ! यह ऐसा क्यों होता है ? गौतम ! सवीर्य जीतता है, अवीर्य पराजित होता है ।

३७४. से केणड्ढेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ—सवी-रिए परायिणति ? अवीरिए परायिज्जति ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्च्यते—सवीर्यः पराजयते ? अवीर्यः पराजीयते ?

३७४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है —सवीर्य जीतता है और अवीर्य पराजित होता है ?

गोयमा ! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं नो बद्धाइं नो पुट्ठाइं नो निहत्ताइं नो कडाइं नो पड्ढिवियाइं नो अभिनिविट्ठाइं नो अभि-समण्णागयाइं नो उदिण्णाइं—उवसंताइं भवंति से णं परायिणति ।

गौतम ! यस्य वीर्यवाह्यानि कर्माणि नो बद्धानि नो स्पृष्टानि नो निधत्तानि नो कृतानि नो प्रस्था-पितानि नो अभिनिविट्ठानि नो अभिसमन्वा-गतानि नो उदीणानि—उपशान्तानि भवन्ति स पराजयते ।

गौतम ! जिसके वीर्यवाह्य कर्म बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त, कृत, प्रस्थापित, अभिनिविष्ट, अभिसमन्वागत और उदीर्ण नहीं होते—उपशान्त होते हैं, वह जीतता है ।

१. भ.वृ. १।३७२—आसन्नो वधो यस्माद्द्वैरात्तत्तथा तेनासन्नवधकेन, भवति च वैराहधो वधकस्य तमेव वध्यमाश्रित्यान्वतो वा तत्रैव जन्मनि जन्मान्तरे वा, यदाह—

वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधणविलोवणाईणं ।

सव्यजहन्नो उदओ, दसगुणिओ एक्कसिकयाणं ॥

२. भ. ६।२५१, २५२।

३. भ.वृ. १।३७१—अण्णमासान् यावत् प्रहारहेतुकं मरणं परतस्तु परिणामा-न्तरापादितमिति कृत्वा अण्णमासादूर्ध्वं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम् ।

४. वही, १।३७१—एतच्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपातक्रिया व्यपदेशमात्रोप-देशनार्थमुक्तम्, अन्यथा यदा कदाप्यधिकृतं प्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव

प्राणातिपातक्रिया इति ।

५. Studies in Bhagavati Sutra, p. 595.—These ethical principles of fine actions tally with the sections of the India Penal Code No. 299, 300 and 302, dealing with culpable homicide and its charge and punishment.

६. अभिधानचिंतामणि, स्वोपज्ञवृत्ति ३।१०३—स्यादुद्दानं तु वन्धनम् । दीच्यं छेदने देङ् पालने वा, उद्दीयते—उद्दानम् ।

७. भ.वृ. १।३६४—मृगै ईरिणैः ।

८. सूत्र.च.प. ३३—मृगा आरण्याः पशवः ।

९. ष.खं.धवला, पु. १३, खं. ५, भा. ३, सू. ३०, पृ. ३४ ।

जस्स णं वीरियवज्जाइं कम्माइं बद्धाइं पुट्टाइं निहत्ताइं कडाइं पडुवियाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं—णो उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे परायिज्जति, से तेण्णुणं गोयमा ! एवं बुच्चति—सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ॥

यस्य वीर्यबाह्यानि कर्माणि बद्धानि स्पृष्टानि निधत्तानि कृतानि प्रस्थापितानि अभिनिविष्टानि अभिसमन्वागतानि उदीर्णानि—नो उपशान्तानि भवन्ति स पुरुषः पराजीयते, तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः पराजीयते ।

जिसके वीर्यबाह्य कर्म बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त, कृत, प्रस्थापित, अभिनिविष्ट, अभिसमन्वागत और उदीर्ण होते हैं—उपशान्त नहीं होते, वह पुरुष पराजित होता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—सवीर्य जीतता है और अवीर्य पराजित होता है ।

भाष्य

१. सूत्र ३७३, ३७४

भण्डमतोवकरण—इसमें तीन पद हैं—भाण्ड, अमत्र और उपकरण। 'भाण्ड' के अनेक अर्थ होते हैं—पात्र, उपकरण, सामग्री आदि-आदि।^१ इसी प्रकार 'अमत्र' के भी अनेक अर्थ हैं—पात्र, शक्ति, शत्रुओं को परास्त करने वाला आदि।^२ उपकरण—साधन, सहायक सामग्री, राजचिह्न, राजा के अनुचर आदि-आदि।^३

प्रस्तुत प्रकरण में 'भाण्ड' शब्द युद्ध-सामग्री, 'अमत्र' शब्द शक्ति और 'उपकरण' शब्द 'शत्रु' के अर्थ में विवक्षित है। 'भाण्डा-मत्रोपकरण' यह एक शब्द-समूह (phrase) के रूप में भी प्रयुक्त

होता है। इसका अर्थ है—प्रासंगिक साधन-सामग्री। इसका समर्थन प्रस्तुत आगम के सूत्र ८।२२६ से होता है। वह यहां अग्नि जलाने-बुझाने की साधन-सामग्री के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रसंग में प्रस्तुत आगम के ८।३६१, १२।१२५ तथा १२।१३६ सूत्र द्रष्टव्य हैं। वृत्तिकार ने भण्डमत का अर्थ युद्ध-सामग्री-निरपेक्ष सामान्य किया है।^४ वह यहां प्रासंगिक नहीं है।

वीरियवज्जाइं—इस पूरे प्रकरण के लिए वण्णवज्जाइं पर १।३५७ का भाष्य द्रष्टव्य है।

वीरिय-पदं

वीर्य-पदम्

वीर्य-पद

३७५. जीवा णं भन्ते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ?

गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि ॥

जीवाः भदन्त ! किं सवीर्याः ? अवीर्याः ?

गौतम ! सवीर्याः अपि, अवीर्याः अपि ।

३७५. भन्ते ! क्या जीव सवीर्य हैं ? अवीर्य हैं ?

गौतम ! जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं ।

३७६. से केण्णुणं भन्ते ! एवं बुच्चइ—जीवा सवीरिया वि ? अवीरिया वि ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—संसारसमावण्णगा य, असंसारसमावण्णगा य ।

तत्थ णं जेते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा । सिद्धा णं अवीरिया । तत्थ णं जेते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सेलेसिपडिवण्णगा य, असेलेसिपडिवण्णगा य । तत्थ णं जेते सेलेसिपडिवण्णगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया । तत्थ णं जेते असेलेसिपडिवण्णगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि । से तेण्णुणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सवीरिया वि, अवीरिया वि ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जीवाः सवीर्याः अपि ? अवीर्याः अपि ?

गौतम ! जीवाः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—संसारसमापन्नकाः च, असंसारसमापन्नकाः च ।

तत्र ये एते असंसारसमापन्नकाः ते सिद्धाः । सिद्धाः अवीर्याः । तत्र ये एते संसारसमापन्नकाः ते द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—शैलेशीप्रतिपन्नकाः च अशैलेशीप्रतिपन्नकाः च । तत्र ये एते शैलेशीप्रतिपन्नकाः ते लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण अवीर्याः । तत्र ये एते अशैलेशीप्रतिपन्नकाः ते लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण सवीर्याः अपि, अवीर्याः अपि । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—जीवाः द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा—सवीर्याः अपि, अवीर्याः अपि ।

३७६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं ?

गौतम ! जीव दो प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—संसारसमापन्न और असंसारसमापन्न ।

इनमें जो असंसारसमापन्न हैं, वे सिद्ध हैं। सिद्ध अवीर्य होते हैं। इनमें जो संसारसमापन्न हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। इनमें जो शैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य से सवीर्य और करणवीर्य से अवीर्य होते हैं। इनमें जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य से सवीर्य और करणवीर्य से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव दो प्रकारके प्रज्ञात हैं, जैसे—सवीर्य भी और अवीर्य भी ।

१, २, ३. आटे.—देखें, वह-वह शब्द ।

४. भ. वृ. १।३७३—भाण्डं—भाजनं गुण्ययादि मात्रो—मात्रया युक्त उपधिः स च कांस्यभाजनादिभोजनभाण्डिका, भाण्डमात्रा वा—गणिमादिद्रव्यरूपः परि-

च्छदः, उपकरणानि—अनेकधाऽऽवरणप्रहरणादीनि ततः सदृशानि भाण्ड-मात्रोपकरणानि ययोस्तौ तथा ! अनेन च समानविभूतिकत्वं तयोर्भिहितम् ।

३७७. नेरइया णं भंते ! किं सवीरिया ?
अवीरिया ?

गोयमा ! नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया,
करणवीरिएणं सवीरिया य, अवीरिया य ॥

३७८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—
नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया ? करण-
वीरिएणं सवीरिया य अवीरिया य ?

गोयमा ! जेसि णं नेरइयाणं अत्थि उट्ठाणे
कम्मे बले वीरिए पुरिसकार-परकमे, ते णं
नेरइया लद्धिवीरिएणं वि सवीरिया, करण-
वीरिएणं वि सवीरिया ।

जेसि णं नेरइयाणं णत्थि उट्ठाणे कम्मे बले
वीरिए पुरिसकार-परकमे, ते णं नेरइया
लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं
अवीरिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं
बुच्चइ—नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया ।
करणवीरिएणं सवीरिया य, अवीरिया य ॥

३७९. जहा नेरइया एवं जाव पंचिंदियतिरि-
स्खजोणिया ॥

३८०. मणुस्सा णं भंते ! किं सवीरिया ?
अवीरिया ?

गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि ॥

३८१. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—
मणुस्सा सवीरिया वि ? अवीरिया वि ?

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा
—सेलेसिपडिवण्णगा य, असेलेसिपडि-
वण्णगा य ।

तत्थ णं जेते सेलेसिपडिवण्णगा ते णं
लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं
अवीरिया । तत्थ णं जेते असेलेसिपडि-
वण्णगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया,
करणवीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि ।
से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—मणुस्सा
सवीरिया वि, अवीरिया वि ॥

३८२. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा
नेरइया ॥

नैरयिका: भदन्त ! किं सवीर्या: ? अवीर्या: ?

गौतम ! नैरयिका: लद्धिवीर्येण सवीर्या:,
करणवीर्येण सवीर्या: च, अवीर्या: च ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिका:
लद्धिवीर्येण सवीर्या: ? करणवीर्येण सवी-
र्या: च अवीर्या: च ?

गौतम ! येषां नैरयिकाणाम् अस्ति उत्थानं
कर्म बलं वीर्यं पुरुषकार-पराक्रमः, ते नैर-
यिका: लद्धिवीर्येण अपि सवीर्या:, करण-
वीर्येण अपि सवीर्या: ।

येषां नैरयिकाणां नास्ति उत्थानं कर्म बलं वीर्यं
पुरुषकार-पराक्रमः, ते नैरयिका: लद्धिवीर्येण
सवीर्या:, करणवीर्येण अवीर्या: । तत् तेनार्थेन
गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिका: लद्धिवीर्येण
सवीर्या: । करणवीर्येण सवीर्या: च, अवीर्या:
च ।

यथा नैरयिका: एवं यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-
योनिका: ।

मनुष्या: भदन्त ! किं सवीर्या: ? अवीर्या: ?

गौतम ! सवीर्या: अपि, अवीर्या: अपि ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—मनुष्या:
सवीर्या: अपि ? अवीर्या: अपि ?

गौतम ! मनुष्या: द्विविधा: प्रज्ञाता: , तद्
यथा—शैलेशीप्रतिपत्रका: च अशैलेशीप्रति-
पत्रका: च ।

तत्र ये एते शैलेशीप्रतिपत्रका: ते लद्धिवीर्येण
सवीर्या:, करणवीर्येण अवीर्या: । तत्र ये एते
अशैलेशीप्रतिपत्रका: ते लद्धिवीर्येण स-
वीर्या:, करणवीर्येण सवीर्या: अपि, अवीर्या:
अपि । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते
—मनुष्या: सवीर्या: अपि, अवीर्या: अपि ।

वानमन्तर-ज्योतिष-वैमानिका: यथा नैर-
यिका: ।

३७७. भन्ते ! क्या नैरयिक सवीर्य हैं ? अथवा
अवीर्य हैं ?

गौतम ! नैरयिक लद्धिवीर्य से सवीर्य हैं तथा
करणवीर्य से सवीर्य और अवीर्य दोनों हैं ।

३७८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—नैरयिक लद्धिवीर्य से सवीर्य तथा करणवीर्य
से सवीर्य और अवीर्य दोनों हैं ?

गौतम ! जो नैरयिक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य
और पुरुषकार-पराक्रम से युक्त हैं, वे लद्धिवीर्य
से भी सवीर्य हैं और करणवीर्य से भी सवीर्य हैं ।

जो नैरयिक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-
कार-पराक्रम से हीन हैं, वे लद्धिवीर्य से सवीर्य
और करणवीर्य से अवीर्य हैं । गौतम ! इस अपेक्षा
से यह कहा जा रहा है—नैरयिक लद्धिवीर्य से
सवीर्य हैं तथा करणवीर्य से सवीर्य और अवीर्य
दोनों हैं ।

३७९. पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक तक नैरयिक की
भांति ज्ञातव्य हैं ।

३८०. भन्ते ! क्या मनुष्य सवीर्य हैं ? अथवा अ-
वीर्य हैं ?

गौतम ! मनुष्य सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं ।

३८१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है
—मनुष्य सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं ?

गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं—
शैलेशीप्रतिपत्र और अशैलेशीप्रतिपत्र ।

इनमें जो शैलेशीप्रतिपत्र हैं, वे लद्धिवीर्य से सवीर्य
और करणवीर्य से अवीर्य हैं । इनमें जो अशैलेशी-
प्रतिपत्र हैं, वे लद्धिवीर्य से सवीर्य और करणवीर्य
से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं । गौतम !
इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—मनुष्य सवीर्य
भी हैं और अवीर्य भी हैं ।

३८२. वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव
नैरयिक जीवों की भांति ज्ञातव्य हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३७५-३८२

भ. ११९४४ में वीर्य को शरीर से उत्पन्न बतलाया गया है । कर्मशास्त्रीय दृष्टि से अन्तराय कर्म का क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव और

शरीर नाम कर्म का उदय—इनके योग से वीर्य उत्पन्न होता है। सिद्धों में अंतराय कर्म का क्षायिक भाव है, किंतु उनके शरीर नहीं हैं; इसलिए उन्हें अवीर्य कहा गया है। संसारी जीव के शरीर और अन्तराय कर्म का क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव—ये दोनों होते हैं; इसलिए उन्हें सवीर्य और अवीर्य दोनों बतलाया गया है। जिस अवस्था में मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति सर्वथा निरुद्ध हो जाती है, शैलेश—नेरुपर्वत की भांति सर्वथा अप्रकम्प अवस्था प्राप्त हो जाती है, उस शैलेशी अवस्था में लब्धि-वीर्य होता है, किंतु करण-वीर्य नहीं होता। लब्धि-वीर्य एक क्षमता है, करण-वीर्य क्रियात्मकता या प्रवृत्ति है। मनुष्य लब्धि-वीर्य से सवीर्य होता है और करण-वीर्य से वह सवीर्य और अवीर्य दोनों होता है। जिसमें उत्थान, कर्म, बल,

वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम होता है, वह करण-वीर्य की दृष्टि से सवीर्य होता है। जिसमें उत्थान आदि नहीं होते, वह करण-वीर्य की दृष्टि से अवीर्य होता है। इससे फलित होता है कि किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए एक त्रिपदी का योग आवश्यक है—१. लब्धि-वीर्य २. क्रियात्मक वीर्य ३. उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम। इसी आधार पर पुरुषार्थवाद का प्रासाद खड़ा है। इस संदर्भ में भ.१।१४६-१६२ सूत्र द्रष्टव्य हैं।

वृत्तिकार ने करण-वीर्य से अवीर्य होने की संगति अपर्याप्त अवस्था में बतलाई है। उनके मतानुसार उत्थान आदि की क्रिया से विकल अपर्याप्त अवस्था में ही होता है।^१

३८३. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावद् विहरति ।

३८३. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है—इस प्रकार भगवान् गीतम यावत् संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

१. भ.वृ.१।३७६—अवीर्यास्तूत्थानादिक्रियाविकलाः ते चापर्याप्त्यादि कालेऽवगन्तव्या इति ।



नवमो उद्देशो : नौवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

गुरु-लघु-पदं

गुरु-लघु-पदम्

गुरु-लघु-पद

३८४. कहण्यं भन्ते ! जीवा गरुयत्तं
हव्यमागच्छन्ति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदि-
ण्णादाणेणं मेहुणेणं परिग्गहेणं कोह-माण-
-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अभक्खाण-
-पेसुज्ज-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-
-मिच्छादंसणसल्लेणं—एवं खलु गोयमा !
जीवा गरुयत्तं हव्यमागच्छन्ति ॥

कथं भदन्त ! जीवाः गुरुकत्वं 'हव्यं' आ-
गच्छन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातेन मृषावादेन अदत्ता-
दानेन मैथुनेन परिग्रहेण क्रोध-मान-माया-
-लोभ-प्रेयो-दोष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-
-परपरिवाद-अरतिरति-मायामृषा-मिथ्या-
दर्शन-शल्येन—एवं खलु गौतम ! जीवाः
गुरुकत्वं 'हव्यं' आगच्छन्ति ।

३८४. 'भन्ते ! जीव गुरुता को कैसे प्राप्त होते हैं?

गौतम ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान,
मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय,
दोष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद,
अरतिरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य के
द्वारा जीव गुरुता को प्राप्त होते हैं ।

३८५. कहण्यं भन्ते ! जीवा लहुयत्तं
हव्यमागच्छन्ति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं मुसावाय-
वेरमणेणं अदिण्णादाणवेरमणेणं मेहुण-
वेरमणेणं परिग्गहवेरमणेणं कोह-माण-
-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अभक्खाण-
-पेसुज्ज-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-
-मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं—एवं खलु
गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्यमागच्छन्ति ॥

कथं भदन्त ! जीवाः लघुकत्वं 'हव्यं'
आगच्छन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातविरमणेन मृषावाद-विर-
मणेन अदत्तादानविरमणेन मैथुन-विरमणेन
परिग्रहविरमणेन क्रोध-मान-माया-लोभ-प्रेयो-
-दोष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-
-अरतिरति-मायामृषा-मिथ्यादर्शनशल्यविर-
मणेन—एवं खलु गौतम ! जीवाः लघुकत्वं
'हव्यं' आगच्छन्ति ।

३८५. भन्ते ! जीव लघुता को कैसे प्राप्त होते हैं?

गौतम ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान,
मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय,
दोष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद,
अरतिरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य—
इनके विरमण से जीव लघुता को प्राप्त होते हैं ।

३८६. कहण्यं भन्ते ! जीवा संसारं आउली-
करेति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण-
सल्लेणं—एवं खलु गोयमा ! जीवा संसारं
आउलीकरेति ॥

कथं भदन्त ! जीवाः संसारम् आकुली-
कुर्वन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातेन यावन् मिथ्यादर्शन-
शल्येन—एवं खलु गौतम ! जीवाः संसारम्
आकुलीकुर्वन्ति ।

३८६. भन्ते ! जीव संसार को अपरिमित कैसे करते
हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
द्वारा जीव संसार को अपरिमित करते हैं ।

३८७. कहण्यं भन्ते ! जीवा संसारं परित्ती-
करेति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छा-
दंसणसल्लवेरमणेणं—एवं खलु गोयमा !
जीवा संसारं परित्तीकरेति ।

कथं भदन्त ! जीवाः संसारं परीतीकुर्वन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातविरमणेन यावन् मिथ्या-
दर्शनशल्यविरमणेन—एवं खलु गौतम !
जीवाः संसारं परीतीकुर्वन्ति ।

३८७. भन्ते ! जीव संसार को परिमित कैसे करते
हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
विरमण से जीव संसार को परिमित करते हैं ।

३८८. कहण्यं भन्ते ! जीवा संसारं दीही-
करेति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण-
सल्लेणं—एवं खलु गोयमा ! जीवा संसारं
दीहीकरेति ।

कथं भदन्त ! जीवाः संसारं दीर्घीकुर्वन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातेन यावन् मिथ्यादर्शन-
शल्येन—एवं खलु गौतम ! जीवाः संसारं
दीर्घीकुर्वन्ति ।

३८८. भन्ते ! जीव संसार को दीर्घकालिक कैसे
करते हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
द्वारा जीव संसार को दीर्घकालिक करते हैं ।

३८६. कहणं भंते ! जीवा संसारं हस्सी-
करंति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छा-
दंसणसल्लेणं—एवं खलु गोयमा ! जीवा
संसारं हस्सीकरंति ॥

३६०. कहणं भंते ! जीवा संसारं अणु-
परियट्ठंति ?

गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण-
सल्लेणं—एवं खलु गोयमा ! जीवा संसारं
अणुपरियट्ठंति ॥

३६१. कहणं भंते ! जीवा संसारं वीति-
वयंति ?

गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छा-
दंसणसल्लेणं—एवं खलु गोयमा !
जीवा संसारं वीतिवयंति ।
पसत्था चत्तारि अपसत्था चत्तारि ॥

कथं भदन्त ! जीवाः संसारं हस्वीकुर्वन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातविरमणेन यावन् मिथ्या-
दर्शनशल्यविरमणेन—एवं खलु गौतम !
जीवाः संसारं हस्वीकुर्वन्ति ॥

कथं भदन्त ! जीवाः संसारम् अनुपरिवर्तन्ते?

गौतम ! प्राणातिपातेन यावन् मिथ्यादर्शन-
शल्येन—एवं खलु गौतम ! जीवाः संसारम्
अनुपरिवर्तन्ते ॥

कथं भदन्त ! जीवाः संसारं व्यतिव्रजन्ति ?

गौतम ! प्राणातिपातविरमणेन यावन् मिथ्या-
दर्शनशल्यविरमणेन—एवं खलु गौतम !
जीवाः संसारं व्यतिव्रजन्ति ।
प्रशस्तानि चत्वारि अप्रशस्तानि चत्वारि ॥

३८६. भन्ते ! जीव संसार को अल्पकालिक कैसे करते
हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
विरमण से जीव संसार को अल्पकालिक करते हैं ।

३६०. भन्ते ! जीव संसार में अनुपरिवर्तन कैसे
करते हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
द्वारा जीव संसार में अनुपरिवर्तन करते हैं ।

३६१. भन्ते ! जीव संसार का व्यतिक्रमण कैसे करते
हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के
विरमण से जीव संसार का व्यतिक्रमण करते हैं ।

इनमें चार प्रशस्त और चार अप्रशस्त हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३८४-३६१

प्रस्तुत आलापक में चार युग्म हैं—

१. गुरुत्व और लघुत्व
२. आकुलीकरण और परीतीकरण
३. दीर्घीकरण और हस्वीकरण
४. अनुपरिवर्तन और व्यतिव्रजन ।

इन चार युग्मों में सभी प्रथम पक्ष और सभी द्वितीय प्रतिपक्ष हैं । इसी प्रकार सभी प्रथम धर्म से विमुख और सभी द्वितीय धर्म से सम्मुख हैं । प्रथम युग्म अधोगमन और ऊर्ध्वगमन की अपेक्षा से है । भारी वस्तु नीचे जाती है और हल्की वस्तु ऊपर जाती है । प्राणातिपात आदि के आचरण से जीव भारी बनकर अधोगति में जाता है । प्राणातिपात आदि के विरमण से वह हल्का होकर ऊर्ध्व गति में जाता है ।

दूसरा युग्म संसारावस्थान की अपेक्षा से है । संसार का अर्थ है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चार गतियों में गमन या पर्यटन करना । संसार के आकुलीकरण का अर्थ है—चतुर्गति-गमन की परम्परा का पर्यवसान न होना अथवा उसका अनन्त-अनन्त होना । संसार के परीतीकरण का अर्थ है—संसार का परिमित होना । यहां परिमित का अर्थ है—कुछ कम अपार्ध-पुद्गल-परिवर्त । इस प्रसंग में जीवाजीवाभिगमे का एक प्रकरण बहुत उपयोगी होगा ।—

जीव तीन प्रकार के बतलाए गये हैं—

१. परीत २. अपरीत ३. नो-परीत-नो-अपरीत ।
- प्र. परीत कितने काल तक परीत रहता है ?
- उ. परीत दो प्रकार का होता है—कायपरीत और संसारपरीत ।
- प्र. कायपरीत कायपरीत के रूप में कितने काल तक रहता है ?
- उ. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यकाल तक ।
- प्र. संसारपरीत संसारपरीत के रूप में कितने काल तक रहता है ?
- उ. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल—कुछ कम अपार्ध-पुद्गल-परिवर्त ।

जो जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आ जाता है, जो जीव एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लेता है, जो जीव संसार को परीत कर लेता है—इन तीनों का उत्कृष्ट संसारावस्थान-काल एक समान होता है ।

आकुलीकरण का प्रयोग 'अपरीत' के अर्थ में प्रतीत होता है । अपरीत के भी दो प्रकार हैं—कायअपरीत और संसारअपरीत ।

- प्र. कायअपरीत कायअपरीत के रूप में कितने काल तक रहता है ?
- उ. जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः वनस्पति-काल ।
- प्र. संसारअपरीत संसारअपरीत के रूप में कितने काल तक रहता है ?

१. भ.वृ.१।३६१—'पसत्था चत्तारि'ति लघुत्वपरीतत्वहस्वत्वव्यतिव्रजनदण्डका प्रशस्ताः मोक्षाङ्गत्वात्, 'अपसत्था चत्तारि'ति गुरुत्वाकुलत्वदीर्घत्वानुपरिवर्तन-

दण्डका अप्रशस्ताः अमोक्षाङ्गत्वादिति ।

उ. इसके दो भंग हैं—प्रथम भंग वाले का संसारावस्थान-काल अनादि अनंत होता है। दूसरे भंग वाले का संसारावस्थान-काल अनादि सपर्यवसित होता है।^१

तीसरा युग्म क्षेत्र की अपेक्षा से है। दीर्घीकरण का अर्थ है—अनुपरिवर्तन-मार्ग का लम्बा होना। ह्रस्वीकरण का अर्थ है—अनुपरिवर्तन-मार्ग का छोटा होना। 'दीहमदं'—यह संसार-कान्तर का

विशेषण है। इसमें उक्त अर्थ की संगति खोजी जा सकती है।^१

चौथा युग्म अनुपरिवर्तन और व्यतिव्रजन का है। इनका संबंध क्रमशः भ्रमण-क्रिया और उसके अन्त से है।

प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानकों के लिए देखें, भगवती, १।२७६-२८६ का भाष्य।

३६२. सत्तमे णं भंते ! ओवासंतरे किं गरुए ? लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?

गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गरुयलहुए, अगरुयलहुए ॥

३६३. सत्तमे णं भंते ! तणुवाए किं गरुए ? लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?

गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए, णो अगरुयलहुए ॥

३६४. एवं सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढवी ॥

३६५. ओवासंतराईं सव्वाइं जहा सत्तमे ओवासंतरे ॥

३६६. जहा तणुवाए एवं—ओवास-वाय-घणउदही, पुढवी दीवा य सागरा वासा ॥

३६७. नेरइया णं भंते ! किं गरुया ? लहुया ? गरुयलहुया ? अगरुयलहुया ?

गोयमा ! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि ॥

३६८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—नेरइया णो गरुया ? णो लहुया ? गरुयलहुया वि ? अगरुयलहुया वि ?

गोयमा ! विउच्चिय-तेयाइं पडुच्च णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया, णो अगरुयलहुया। जीवं च कम्मणं च पडुच्च णो गरुया, णो लहुया, णो गरुयलहुया, अगरुयलहुया। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि ॥

सत्तमं भदन्त ! अवकाशान्तरं किं गुरुकम् ? लघुकम् ? गुरुकलघुकम् ? अगुरुकलघुकम् ?

गौतम ! नो गुरुकं, नो लघुकं, नो गुरुकलघुकम्, अगुरुकलघुकम् ।

सत्तमः भदन्त ! तणुवातः किं गुरुकः ? लघुकः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?

गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुकलघुकः, नो अगुरुकलघुकः ।

एवं सत्तमः घनवातः, सत्तमः घनोदधिः, सत्तमा पृथिवी ।

अवकाशान्तराणि सर्वाणि यथा सत्तमम् अवकाशान्तरम् ।

यथा तणुवातः एवम्—अवकाश-वात-घनोदधिः, पृथिवी द्वीपाः च सागरा वर्षाणि ।

नैरयिकाः भदन्त ! किं गुरुकाः ? लघुकाः ? गुरुकलघुकाः ? अगुरुकलघुकाः ?

गौतम ! नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुकलघुकाः अपि, अगुरुकलघुकाः अपि ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो गुरुकाः ? नो लघुकाः ? गुरुकलघुकाः अपि ? अगुरुकलघुकाः अपि ?

गौतम ! वैक्रिय-तैजसी प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुकलघुकाः, नो अगुरुकलघुकाः। जीवं च कर्मणं च प्रतीत्य नो गुरुकाः, नो लघुकाः, नो गुरुकलघुकाः, अगुरुकलघुकाः। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिकाः नो गुरुकाः, नो लघुकाः, गुरुकलघुकाः अपि, अगुरुकलघुकाः अपि ।

३६२. 'भन्ते ! सातवां अवकाशान्तरं क्या गुरु है ? लघु है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?

गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है, अगुरुलघु है ।

३६३. भन्ते ! सातवां तणुवात क्या गुरु है ? लघु है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?

गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न अगुरुलघु है, गुरुलघु है ।

३६४. इसी प्रकार सातवां घनवात, सातवां घनोदधि और सातवीं पृथ्वी ज्ञातव्य हैं ।

३६५. सभी अवकाशान्तर सातवें अवकाशान्तर की भांति ज्ञातव्य हैं ।

३६६. जैसे तणुवात का निरूपण हुआ है, उसी प्रकार—अवकाश, घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर और वर्ष निरूपणीय हैं ।

३६७. भन्ते ! नैरयिक क्या गुरु हैं ? लघु हैं ? गुरुलघु हैं ? अगुरुलघु हैं ?

गौतम ! वे न गुरु हैं, न लघु हैं, गुरुलघु भी हैं और अगुरुलघु भी हैं ।

३६८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक न गुरु हैं ? न लघु हैं ? गुरुलघु भी हैं ? अगुरुलघु भी हैं ?

गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा से वे न गुरु हैं, न लघु हैं, न अगुरुलघु हैं, गुरुलघु हैं। जीव और कर्मण शरीर की अपेक्षा से वे न गुरु हैं, न लघु हैं, न गुरुलघु हैं, अगुरुलघु हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—नैरयिक न गुरु हैं, न लघु हैं, गुरुलघु भी हैं, अगुरुलघु भी हैं ।

३६६. एवं जाव वेमाणिया, नवरं—नाणत्तं
जाणियच्चं सरिरेहिं ॥

एवं यावद् वैमानिकाः, नवरं—नानात्वं
ज्ञातव्यं शरीरैः ।

३६६. इसी प्रकार वैमानिक देवों तक की वक्तव्यता,
केवल शरीर-विषयक नानात्व ज्ञातव्य है ।

४००. धम्मत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए ?
लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गरुय-
लहुए, अगरुयलहुए ॥

धर्मास्तिकायः भदन्त ! किं गुरुकः ? लघु-
कः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?
गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुक-
लघुकः, अगुरुकलघुकः ।

४००. भन्ते ! धर्मास्तिकाय क्या गुरु है ? लघु है ?
गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?
गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है,
अगुरुलघु है ।

४०१. अहम्मत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए ?
लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गरुय-
लहुए, अगरुयलहुए ॥

अधर्मास्तिकायः भदन्त ! किं गुरुकः ? लघु-
कः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?
गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुक-
लघुकः, अगुरुकलघुकः ।

४०१. भन्ते ! अधर्मास्तिकाय क्या गुरु है ? लघु
है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?
गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है,
अगुरुलघु है ।

४०२. आगासत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए ?
लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गरुय-
लहुए, अगरुयलहुए ॥

आकाशास्तिकायः भदन्त ! किं गुरुकः ?
लघुकः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?
गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुक-
लघुकः, अगुरुकलघुकः ।

४०२. भन्ते ! आकाशास्तिकाय क्या गुरु है ? लघु
है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?
गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है,
अगुरुलघु है ।

४०३. जीवत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए ?
लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, णो गरुय-
लहुए, अगरुयलहुए ॥

जीवास्तिकायः भदन्त ! किं गुरुकः ? लघु-
कः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?
गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुक-
लघुकः, अगुरुकलघुकः ।

४०३. भन्ते ! जीवास्तिकाय क्या गुरु है ? लघु
है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?
गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, न गुरुलघु है,
अगुरुलघु है ।

४०४. पोमालत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए ?
लहुए ? गरुयलहुए ? अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, णो लहुए, गरुयलहुए
वि, अगरुयलहुए वि ॥

पुद्गलास्तिकायः भदन्त ! किं गुरुकः ? लघु-
कः ? गुरुकलघुकः ? अगुरुकलघुकः ?
गौतम ! नो गुरुकः, नो लघुकः, गुरुकलघुकः
अपि, अगुरुकलघुकः अपि ।

४०४. भन्ते ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है ? लघु
है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ?
गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, गुरुलघु भी
है, अगुरुलघु भी है ।

४०५. से केणत्थेणं भंते ! एवं बुच्चइ—णो
गरुए ? णो लहुए ? गरुयलहुए वि ?
अगरुयलहुए वि ?
गोयमा ! गरुयलहुयदब्बाईं पडुच्च णो गरुए,
णो लहुए, गरुयलहुए, णो अगरुयलहुए ।
अगरुयलहुयदब्बाईं पडुच्च णो गरुए, णो
लहुए, णो गरुयलहुए, अगरुयलहुए ॥

तत् केणार्थेण भदन्त ! एवमुच्यते—नो गुरु-
कः ? नो लघुकः ? गुरुकलघुकः अपि ?
अगुरुकलघुकः अपि ?
गौतम ! गुरुकलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो गुरु-
कः, नो लघुकः, गुरुकलघुकः, नो अगुरुक-
लघुकः । अगुरुकलघुकद्रव्याणि प्रतीत्य नो
गुरुकः, नो लघुकः, नो गुरुकलघुकः, अगुरु-
कलघुकः ।

४०५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—पुद्गलास्तिकाय न गुरु है, न लघु है, गुरुलघु
भी है, अगुरुलघु भी है ?
गौतम ! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा वह न गुरु है,
न लघु है, न अगुरुलघु है, गुरुलघु है । अगुरुलघु
द्रव्यों की अपेक्षा से वह न गुरु है, न लघु है, न
गुरुलघु है, अगुरुलघु है ।

४०६. समयया णं भंते ! किं गरुया ? लहुया ?
गरुयलहुया ? अगरुयलहुया ?
गोयमा ! णो गरुया, णो लहुया, णो गरुय-
लहुया, अगरुयलहुया ॥

समयाः भदन्त ! किं गुरुकाः ? लघुकाः ?
गुरुकलघुकाः ? अगुरुकलघुकाः ?
गौतम ! नो गुरुकाः, नो लघुकाः, नो गुरुक-
लघुकाः, अगुरुकलघुकाः ।

४०६. भन्ते ! समय क्या गुरु हैं ? लघु हैं ? गुरुलघु
हैं ? अगुरुलघु हैं ?
गौतम ! वे न गुरु हैं, न लघु हैं, न गुरुलघु हैं,
अगुरुलघु हैं ।

४०७. कम्माणि णं भंते ! किं गरुयाईं ?
लहुयाईं ? गरुयलहुयाईं ? अगरुयलहु-
याईं ?
गोयमा ! णो गरुयाईं, णो लहुयाईं, णो

कर्माणि भदन्त ! किं गुरुकाणि ? लघुकाणि ?
गुरुकलघुकाणि ? अगुरुकलघुकाणि ?
गौतम ! नो गुरुकाणि, नो लघुकाणि, नो गुरु-

४०७. भन्ते ! कर्म क्या गुरु हैं ? लघु हैं ? गुरुलघु
हैं ? अगुरुलघु हैं ?
गौतम ! वे न गुरु हैं, न लघु हैं, न गुरुलघु हैं,

गरुयलहुयाइं, अगरुयलहुयाइं ॥	कलघुकानि, अगुरुकलघुकानि ।	अगुरुलघु हैं ।
४०८. कण्हेलेसा णं भंते ! किं गरुया ? लहुया ? गरुयलहुया ? अगरुयलहुया ? गोयमा ! णो गरुया, णो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि ॥	कृष्णलेश्या भदन्त ! किं गुरुका ? लघुका ? गुरुकलघुका ? अगुरुकलघुका ? गौतम ! नो गुरुका, नो लघुका, गुरुकलघुका अपि, अगुरुकलघुका अपि ।	४०८. भन्ते ! कृष्णलेश्या क्या गुरु है ? लघु है ? गुरुलघु है ? अगुरुलघु है ? गौतम ! वह न गुरु है, न लघु है, गुरुलघु भी है, अगुरुलघु भी है ।
४०९. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—कण्हेलेसा णो गरुया ? णो लहुया ? गरुयलहुया वि ? अगरुयलहुया वि ? गोयमा ! दब्बलेस्सं पडुच्च ततियपदेणं, भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपदेणं ।	तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—कृष्णलेश्या नो गुरुका ? नो लघुका ? गुरुकलघुका अपि ? अगुरुकलघुका अपि ? गौतम ! द्रव्यलेश्यां प्रतीत्य तृतीयपदेन, भावलेश्यां प्रतीत्य चतुर्थपदेन ।	४०९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कृष्णलेश्या न गुरु है ? न लघु है ? गुरुलघु भी है ? अगुरुलघु भी है ? गौतम ! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से वह गुरुलघु है, भावलेश्या की अपेक्षा से अगुरुलघु है ।
४१०. एवं जाव सुक्कलेस्सा ॥	एवं यावत् शुक्ललेश्या ।	४१०. शुक्ल लेश्या तक इसी प्रकार ज्ञातव्य है ।
४११. दिट्ठी-दंसण-णाण-अण्णाण-सण्णाओ चउत्थएणं पदेणं नेतव्वाओ ॥	दृष्टि-दर्शन-ज्ञान-अज्ञान-संज्ञा: चतुर्थकेन पदेन नेतव्याः ।	४११. दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा अगुरुलघु हैं ।
४१२. हेड्डिल्ला चत्तारि सरीरा नेयव्वा ततियेणं पदेणं । कम्मयं चउत्थएणं पदेणं ॥	अधस्तनानि चत्वारि शरीराणि नेतव्यानि तृतीयपदेन । कर्मकं चतुर्थकेन पदेन ।	४१२. प्रथम चार शरीर गुरुलघु और कर्मण शरीर अगुरुलघु हैं ।
४१३. मणजोगो, वड्जोगो चउत्थएणं पदेणं, कायजोगो ततियेणं पदेणं ॥	मनोयोगः, वाग्योगः चतुर्थकेन पदेन, काययोगः तृतीयेन पदेन ।	४१३. मनयोग और वचनयोग अगुरुलघु हैं, काययोग गुरुलघु है ।
४१४. साकारोदओगो, अणाकारोदओगो चउत्थएणं पदेणं ॥	साकारोपयोगः, अनाकारोपयोगः चतुर्थकेन पदेन ।	४१४. साकार उपयोग और अनाकार उपयोग अगुरुलघु हैं ।
४१५. सब्बदव्वा, सब्बपएसा, सब्बपज्जवा जहा पोगलत्थिकाओ ॥	सर्वद्रव्याणि, सर्वप्रदेशाः, सर्वपर्यवाः यथा पुद्गलास्तिकायः ।	४१५. सब द्रव्य, सब प्रदेश और सब पर्याय पुद्गलास्तिकाय की भांति वस्तु हैं ।
४१६. तीतद्धा, अणागतद्धा, सब्बद्धा चउत्थएणं पदेणं ॥	अतीताध्वा, अनागताध्वा, सर्वाध्वा चतुर्थकेन पदेन ।	४१६. अतीतकाल, अनागतकाल और सर्वकाल अगुरुलघु हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३६२-४१६

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—भारयुक्त और भारहीन। प्रस्तुत आलापक में यह जिज्ञासा की गई है—कौन-सा पदार्थ भारयुक्त होता है और कौन-सा पदार्थ भारहीन है ? भार का संबंध स्पर्श से है। वह पुद्गल द्रव्य का एक गुण है। शेष सब द्रव्य भारहीन अगुरुलघु होते हैं। पुद्गल द्रव्य भारयुक्त और भारहीन दोनों प्रकार का होता है। जिनभद्रगणी के अनुसार गुरु, लघु, गुरुलघु और अगुरुलघु—ये चार विकल्प व्यवहार नय के अनुसार होते हैं। निश्चय नय के

अनुसार सर्वथा गुरु और सर्वथा लघु कुछ भी नहीं होता। इसमें केवल दो ही विकल्प मान्य हैं—गुरुलघु और अगुरुलघु ।

प्रस्तुत आगम से यह निश्चय का मत ही फलित होता है। प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में गुरु और लघु का विकल्प मान्य नहीं है। अभयदेवसूरी ने दो माथाएं उद्धृत कर जिनभद्रगणी के मत का ही अनुसरण किया है।

१. भ.वृ.१।३६३—इह चेयं गुरुलघुव्यवस्था—
निच्छयओ सब्बगुरुं सब्बलहुं वा न विज्जए दव्वं ।
ववहारओ उ जुञ्जइ बायरखंधेसु नऽण्णेसु ॥

अगुरुलहू चउफासो अरुविदव्वा य होंति नायव्वा ।
सेसा उ अट्टफासा गुरुलहुया निच्छयणयस्स ॥
'चउफास'ति सूक्ष्मपरिणामानि, 'अट्टफास'ति वादराणि । गुरुलघुद्रव्यं रूपि,

सब पदार्थों के गुरु और लघु होने का अस्वीकार क्या गति-नियम में बाधक नहीं बनेगा ? सामान्य धारणा है—गुरु वस्तु नीचे जाती है और लघु वस्तु ऊपर जाती है। पत्थर नीचे जाता है और धुआं ऊपर जाता है। जिनभद्रगणी ने इस प्रश्न की तर्कपूर्ण

समीक्षा की है। उनके मतानुसार गुरुता और लघुता गति के नियामक तत्त्व नहीं हैं। उनके नियामक तत्त्व हैं—गतिपरिणाम और वीर्यपरिणाम। इसलिए सर्वथा गुरु और सर्वथा लघु होने का अस्वीकार गति-नियम में बाधक नहीं बनता।

यहां तालिका में प्रस्तुत सूत्रों में उल्लिखित सभी द्रव्यों की गुरुत्व-लघुत्व सारणी दी जा रही है:

	गुरु	लघु	गुरुलघु	अगुरुलघु
१. अवकाशान्तर	×	×	×	✓
२. तनुवात	×	×	✓	×
३. घनवात	×	×	✓	×
४. घनोदधि	×	×	✓	×
५. पृथ्वी	×	×	✓	×
६. द्वीप	×	×	✓	×
७. सागर	×	×	✓	×
८. वर्ष	×	×	✓	×
९. १०. नैऋतिक यावत् वैमानिक	×	×	✓	✓
११. धर्मास्तिकाय	×	×	×	✓
१२. अधर्मास्तिकाय	×	×	×	✓
१३. आकाशास्तिकाय	×	×	×	✓
१४. जीवास्तिकाय	×	×	×	✓
१५. पुद्गलास्तिकाय	×	×	✓	✓
१६. समय	×	×	×	✓
१७. कर्म	×	×	×	✓
१८. कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या	×	×	✓	×
१९. कृष्ण आदि भाव लेश्या	×	×	×	✓
२०. दृष्टि	×	×	×	✓

	गुरु	लघु	गुरुलघु	अगुरुलघु
२१. दर्शन	×	×	×	✓
२२. ज्ञान	×	×	×	✓
२३. अज्ञान	×	×	×	✓
२४. संज्ञा	×	×	×	✓
२५. औदारिकशरीर	×	×	✓	×
२६. वैक्रियशरीर	×	×	✓	×
२७. आहारकशरीर	×	×	✓	×
२८. तैजसशरीर	×	×	✓	×
२९. कर्मणशरीर	×	×	×	✓
३०. मनोयोग	×	×	×	✓
३१. वचनयोग	×	×	×	✓
३२. काययोग	×	×	✓	×
३३. साकार उपयोग	×	×	×	✓
३४. अनाकार उपयोग	×	×	×	✓
३५. सर्वद्रव्य	×	×	✓	✓
३६. सर्वप्रदेश	×	×	✓	✓
३७. सर्वपर्यव	×	×	✓	✓
३८. अतीतकाल	×	×	×	✓
३९. अनागतकाल	×	×	×	✓
४०. सर्वकाल	×	×	×	✓

अगुरुलघुद्रव्यं त्वरूपि रूपि चेति । व्यवहारतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति, तत्र च निदर्शनानि—गुरुलघोऽधोगमनात्, लघुधूमः ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुर्वायु-

स्तिर्यग्गमनात्, अगुरुलघ्वाकाशं तत्त्वभावत्वादिति ।
१. वि. मा. पा. ६५५-६६३—

सब द्रव्य, सब प्रदेश और सब पर्याय पुद्गलास्तिकाय की भांति अगुरुलघु बतलाए गए हैं। यह सापेक्ष वचन है। अगुरुलघु के प्रदेश और पर्याय अगुरुलघु तथा गुरुलघु के प्रदेश और पर्याय गुरुलघु विवक्षित हैं।^१

शब्द-विमर्श

तृतीय पद—तीसरा विकल्प—गुरुलघु
चतुर्थक पद—चौथा विकल्प—अगुरुलघु

पसत्थ-पदं

४१७. से नूनं भन्ते ! लाघवियं अपिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिबद्धया समणाणं निर्गंथाणं पसत्थं ?
हंता गोयमा ! लाघवियं अपिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिबद्धया समणाणं निर्गंथाणं पसत्थं ॥

प्रशस्त-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! लाघविकम् अल्पेच्छा अमूर्च्छा अगृद्धिः अप्रतिबद्धता श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ?
हन्त गौतम ! लाघविकम् अल्पेच्छा अमूर्च्छा अगृद्धिः अप्रतिबद्धता श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ।

प्रशस्त-पद

४१७. भन्ते ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए लाघव, अल्पेच्छा, अमूर्च्छा, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता प्रशस्त हैं ?
हां, गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए लाघव, अल्पेच्छा, अमूर्च्छा, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता प्रशस्त हैं ।

४१८. से नूनं भन्ते ! अक्रोधत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निर्गंथाणं पसत्थं ?
हंता गोयमा ! अक्रोधत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निर्गंथाणं पसत्थं ॥

अथ नूनं भदन्त ! अक्रोधत्वम् अमानत्वम् अमायात्वम् अलोभत्वं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ?
हन्त गौतम ! अक्रोधत्वम् अमानत्वम् अमायात्वम् अलोभत्वं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्रशस्तम् ।

४१८. भन्ते ! क्या श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अक्रोध, अमान, अमाया और अलोभ का भाव प्रशस्त है ?
हां, गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अक्रोध, अमान, अमाया और अलोभ का भाव प्रशस्त है ।

भाष्य

१. सूत्र ४१७, ४१८

प्रस्तुत प्रकरण में 'लाघव' शब्द का संबंध अचेल या अल्पचेल से है।^१ अचेल मुनि के लाघव गुण का विकास होता है। ढाणं में अचेलत्व के प्रशस्त होने के पांच कारण बतलाए गए हैं। उनमें एक लाघव है।^३ उत्तरज्जयणाणि में प्रतिरूपता का फल लाघव बतलाया गया है।^४ इस प्रकार 'लाघव' शब्द अचेलत्व का सूचक शब्द बन गया। भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न का समर्थन करते हुए उसे

प्रशस्त बतलाया। उसके प्रशस्त होने के चार हेतु हैं—१. इच्छा का अभाव २. मूर्च्छा का अभाव ३. गृद्धि का अभाव ४. प्रतिबद्धता का अभाव।

वृत्तिकार ने 'लाघविक' का अर्थ अल्पोपधिक तथा 'अल्पेच्छा' आदि पदों का अर्थ स्वतन्त्र रूप से किया है। वैकल्पिक रूप में 'अल्पेच्छा' आदि पदों को लाघविक का विशेषण भी माना है।^५

गुरुअं लहुअं उभयं, णोभयमिति वावहारियणयस्स ।
दव्वं लेट्टुं दीवो, वायू वोमं जधासंखं ॥
णिचछयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा ण विज्जते दव्वं ।
वातरमिह गुरुलहुअं, अगुरुलहुं सेसयं सव्वं ॥
जइ गुरुअं लहुअं वा, ण सव्वधा दव्वमत्थि तो कीस ।
उद्धमधो वि य गमणं जीवाणं पोग्गलाणं च ? ॥
उद्धं लहुकम्माणं, भणितं गुरुकम्माणमधो गमणं ।
जीवा य पोग्गलावि य, उद्धाधोगामिणो पायं ॥
अण्ण छिय गुरुलहुता, अण्णो दव्वाण विरियपरिणामो ।
अण्णो गतिपरिणामो, णावस्सं गुरुलहुनिमित्तो ॥
परमलहूणमणूणं, जं गमणमधोऽपि तत्थ को हेतू ?
उद्धं धूमातीणं, धूलतराणं पि किं कज्जं ? ॥
किं व विमाणातीणं, णाधोगमणं महागुरूणं पि ।
तणुतरदेहो देवो, हक्खुवति व किं महासेलं ? ॥
अथ तस्स विरियं तं तो, णाधोगमणकारणं गुरुता ।
उद्धगतिकारणं वा, लहुता एगंततो जुत्ता ॥

विरियं गुरुलहुयाणं, जधाधियं गतिविवज्जयं कुणति ।

तथ गतिठितिपरिणामो, गुरुलहुताओ विलधेति ॥

१. भ.वृ.१।४१५—'सर्वद्रव्याणि' धर्मास्तिकायादीनि 'सर्वप्रदेशाः' तेषामेव निर्विभागा अंशाः सर्वपर्यायः वर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः । एते पुद्गलास्तिकायवद् व्यपदेश्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन चेत्यर्थः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्त्तानि च द्रव्याण्यगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि, प्रदेशपर्ययास्तु तत्तद्द्रव्यसम्यन्धित्वेन तत्तत्स्यभावा इति ।

२. आयारो, ८।६४, ११३।

३. ढाणं, ५।२०१—पंचहिं ढाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा— अथा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रुवे वेसासिए, तवे अणुण्णाते, विउले इंदियणिग्गहे ।

४. उत्तर. २६।४३—पडिरूवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ । लहुमूए णं जीवे अण्णमते पागडिलिगे पसत्थलिगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिडसमत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीस- सणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइदिए विउलतवसमिडसमत्राए यावि भवइ ।

५. भ.वृ.१।४१७—'लाघवियं'ति लाघवमेव लाघविकम् —अल्पोपधिकं 'अपिच्छ'ति अल्पोऽभिलाष आहारादिषु, 'अमुच्छ'ति उपधावसंरक्षणानुबन्धः,

क्रोध, मान, माया और लोभ का अभाव प्रशस्त है। यह बात जैन दर्शन में आबालगोपाल प्रसिद्ध है। फिर गीतम ने यह प्रश्न क्यों पूछा ? यह जिज्ञासा बहुत स्वाभाविक है। किन्तु गीतम ने जिस सन्दर्भ में पूछा और भगवान् महावीर ने जिस सन्दर्भ में उत्तर दिया, वह प्रसिद्ध नहीं है।

गीतम के प्रश्न का सन्दर्भ यह है—एक ओर अचेलत्व है, दूसरी ओर कषाय की प्रबलता है। क्या इस स्थिति में अचेलत्व को प्रशस्त कहा जा सकता है ? भगवान् महावीर ने इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा—मैं केवल द्रव्यसाधना को महत्त्व नहीं देता। अचेलत्व द्रव्यसाधना या बाह्य साधना है। अक्रोध आदि होना भावसाधना या आंतरिक साधना है। अक्रोध आदि की साधना हुए बिना अल्पेच्छा,

कंखापदोस-पदं

४१६. से नूणं भंते ! कंखापदोसे खीणे समणे निगंगे अंतकरे भवति, अंतिमसरीरिए वा ?

बहुमोहे वि य णं पुविं विहरिता अह पच्छा संयुडे कालं करेइ, ततो पच्छा सिज्जति बुज्जति मुच्चति परिनिव्वाति सब्बदुक्खाणं अंतं करोति ?

हंता गीतमा ! कंखापदोसे खीणे समणे निगंगे अंतकरे भवति, अंतिमसरीरिए वा !

बहुमोहे वि य णं पुविं विहरिता अह पच्छा संयुडे कालं करेइ ततो पच्छा सिज्जति बुज्जति मुच्चति परिनिव्वाति सब्बदुक्खाणं अंतं करोति ॥

कांक्षाप्रदोष-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! कांक्षाप्रदोषे क्षीणे श्रमणः निर्ग्रन्थः अन्तकरो भवति, अन्तिमशरीरिको वा ?

बहुमोहः अपि च पूर्व विहृत्य अथ पश्चात् संवृतः कालं करोति, ततः पश्चात् सिध्यति 'बुज्जति' मुच्चति परिनिर्वाति सर्वदुःखानाम् अन्तं करोति ?

हन्त गीतम ! कांक्षाप्रदोषे क्षीणे श्रमणः निर्ग्रन्थः अन्तकरो भवति, अन्तिमशरीरिको वा ।

बहुमोहः अपि च पूर्व विहृत्य अथ पश्चात् संवृतः कालं करोति ततः पश्चात् सिध्यति 'बुज्जति' मुच्चति परिनिर्वाति सर्वदुःखानाम् अन्तं करोति ।

कांक्षाप्रदोष-पद

४१६. 'भन्ते ! क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर या अन्तिमशरीरी होता है ?

कोई श्रमण पहले मोहबहुल रहकर भी उसके पश्चात् संवृत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो क्या वह मृत्यु के अनन्तर सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

हां, गीतम ! कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्तकर या अन्तिमशरीरी होता है ।

पहले मोहबहुल रहकर भी वह उसके पश्चात् संवृत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो मृत्यु के अनन्तर सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है, सब दुःखों का अन्त करता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४१६

प्रस्तुत सूत्र में 'कांक्षाप्रदोष,' 'संवृत' और 'बहु'—ये तीन शब्द विशेष चर्चनीय हैं। कांक्षा का अर्थ है—अयथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाने की इच्छा। कोई व्यक्ति दर्शनमोह की प्रचुरता के कारण मिथ्या दृष्टिवाला होता है, किन्तु उसी जन्म में वह संवृत अवस्था को प्राप्त हो सकता है और प्राप्त होकर मुक्त भी हो सकता है। मोह और कांक्षा इन शब्दों की तुलना के लिए अभिधर्म कोश द्रष्टव्य है।^१

कांक्षा की विशेष जानकारी के लिए देखें, भ. १।११२, १४०, १६६, १७० का भाष्य।

संवृत की विशेष जानकारी के लिए देखें, भ. १।४४-४७ का भाष्य।

अंतकर और अंतिमशरीरी की विशेष जानकारी के लिए देखें, भ. १।२०१, २०८ का भाष्य।

'अगेहि'ति भोजनादिषु परिभोगकालेऽनासक्तिः, अप्रतिबद्धता—स्वजनादिषु स्नेहाभाव इत्येतत्पञ्चकमिति गम्यम्। श्रमणानां निर्ग्रन्थानां 'प्रशस्तं' सुन्दरम् अथवा लाघविकं प्रशस्तं, कथम्भूतमित्याह—'अपिच्छ' अल्पेच्छारूपमित्यर्थः एवमितराण्यपि पदानि।

१. भ. २६।५६६, ५६८—से किं तं दव्योमोदरिया ? दव्योमोदरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—उवगरणदव्योमोदरिया य भत्तपाणदव्योमोदरिया य ॥

से किं तं भावोमोदरिया ? भावोमोदरिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—अप्यकोहे, अप्यमाणे, अप्यमाणे, अप्यलोभे, अप्यसद्वे, अप्यझंझे, अप्यतुमंतुमे।

२. अभिधर्म कोश भाष्य, ५।३२—मोहाकांक्षा—मूढस्य पक्षद्वयं श्रुत्वा विचिकित्सोत्पद्यते। दुखं न्दिदं नत्विदं दुःखमित्येवमादि।

ततो मिथ्यादृष्टिः—विचिकित्साया मिथ्यादृष्टिः प्रवर्तते। संशयितस्य मिथ्याश्रमणचित्तानां मिथ्यानिश्चयोत्पत्तेः। नास्ति दुःखमित्येवमादि।

इह-पर-भविद्याउय-पदं

४२०. अण्णउत्थिया णं भन्ते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेत्ति, एवं परूवेत्ति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेत्ति, तं जहा—इहभविद्याउयं च, परभविद्याउयं च ।
जं समयं इहभविद्याउयं पकरेत्ति, तं समयं परभविद्याउयं पकरेत्ति ।

जं समयं परभविद्याउयं पकरेत्ति, तं समयं इहभविद्याउयं पकरेत्ति ।

इहभविद्याउयस्स पकरणयाए परभविद्याउयं पकरेत्ति ।

परभविद्याउयस्स पकरणयाए इहभविद्याउयं पकरेत्ति ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेत्ति, तं जहा—इहभविद्याउयं च, परभविद्याउयं च ॥

४२१. से कहमेयं भन्ते ! एवं ?

गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेत्ति, तं जहा—इहभविद्याउयं च, परभविद्याउयं च ।

जेते एवमाहंसु भिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खाभि, एवं भासेभि, एवं पण्णवेभि, एवं परूवेभि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एणं आउयं पकरेत्ति, तं जहा—इहभविद्याउयं वा, परभविद्याउयं वा ।

जं समयं इहभविद्याउयं पकरेत्ति, णो तं समयं परभविद्याउयं पकरेत्ति ।

जं समयं परभविद्याउयं पकरेत्ति, णो तं समयं इहभविद्याउयं पकरेत्ति ।

इहभविद्याउयस्स पकरणताए णो परभविद्याउयं पकरेत्ति ।

परभविद्याउयस्स पकरणताए णो इहभविद्याउयं पकरेत्ति ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एणं आउयं पकरेत्ति, तं जहा—इहभविद्याउयं वा, परभविद्याउयं वा ॥

इह-पर-भविकायुः-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोति, तद् यथा—इहभविकायुः च, परभविकायुः च ।
यस्मिन् समये इहभविकायुः प्रकरोति, तस्मिन् समये परभविकायुः प्रकरोति ।

यस्मिन् समये परभविकायुः प्रकरोति, तस्मिन् समये इहभविकायुः प्रकरोति ।

इहभविकायुषः प्रकरणेन परभविकायुः प्रकरोति ।

परभविकायुषः प्रकरणेन इहभविकायुः प्रकरोति ।

एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोति, तद् यथा—इहभविकायुः च परभविकायुः च ।

तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ?

गीतम ! यत् ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति यावद् एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोति, तद् यथा—इहभविकायुः च, परभविकायुः च ।

ये एते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः ! अहं पुनः गीतम ! एवमाख्याभि, एवं भाषे, एवं प्रज्ञापयाभि, एवं प्ररूपयाभि—एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये एकम् आयुः प्रकरोति, तद् यथा—इहभविकायुः वा, परभविकायुः वा ।

यस्मिन् समये इहभविकायुः प्रकरोति, नो तस्मिन् समये परभविकायुः प्रकरोति ।

यस्मिन् समये परभविकायुः प्रकरोति, नो तस्मिन् समये इहभविकायुः प्रकरोति ।

इहभविकायुषः प्रकरणेन नो परभविकायुः प्रकरोति ।

परभविकायुषः प्रकरणेन नो इहभविकायुः प्रकरोति ।

एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये एकम् आयुः प्रकरोति, तद् यथा—इहभविकायुः वा, परभविकायुः वा ।

इह-पर-भविक-आयु-पद

४२०. भन्ते ! अन्ययूथिक एसा आख्यान्, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—एक जीव एक समय में दो आयुष्य का बन्धन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का और परभव के आयुष्य का ।

जिस समय वह इस भव के आयुष्य का बन्धन करता है, उसी समय परभव के आयुष्य का बन्धन करता है ।

जिस समय परभव के आयुष्य का बन्धन करता है, उसी समय इस भव के आयुष्य का बन्धन करता है ।

इस भव के आयुष्य का बन्धन करने से परभव के आयुष्य का बन्धन करता है ।

पर भव के आयुष्य का बन्धन करने से इस भव के आयुष्य का बन्धन करता है ।

इस प्रकार एक जीव एक समय में दो आयुष्य का बन्धन करता है—इस भव के आयुष्य का और परभव के आयुष्य का ।

४२१. भन्ते ! वह यह इस प्रकार कैसे होता है ?

गीतम ! वे अन्ययूथिक जो ऐसा आख्यान् करते हैं यावत् एक जीव एक समय में दो आयुष्य का बन्धन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का, परभव के आयुष्य का ।

ऐसा जिन्होंने कहा है, उन्होंने मिथ्या कहा है । गीतम ! मैं इस प्रकार आख्यान्, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता हूँ—एक जीव एक समय में एक ही आयु का बन्धन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का अथवा परभव के आयुष्य का ।

जिस समय वह इस भव के आयुष्य का बन्धन करता है, उसी समय परभव के आयुष्य का बन्धन नहीं करता ।

जिस समय परभव के आयुष्य का बन्धन करता है, उसी समय इस भव के आयुष्य का बन्धन नहीं करता ।

इस भव के आयुष्य का बन्धन करने से परभव के आयुष्य का बन्धन नहीं करता ।

परभव के आयुष्य का बन्धन करने से इस भव के आयुष्य का बन्धन नहीं करता ।

इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही आयुष्य का बन्धन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का अथवा परभव के आयुष्य का ।

भाष्य

१. सूत्र ४२०, ४२१

एक साथ दो आयुष्य के बंध की चर्चा बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। एक जन्म में दो आयुष्य के प्रतिबंधन की चर्चा भी इसी से जुड़ी हुई है। 'आजीवक दर्शन' और पातञ्जल योग शास्त्र में इसके बीज खोजे जा सकते हैं। योगभाष्यकार ने कर्माशय को एकभविक बतलाया है।

'इहभविक आयु' का अर्थ है—वर्तमान भव की आयु और 'परभविक आयु' का अर्थ है—उससे अगले भव की आयु। पूर्व पक्ष का सिद्धान्त है कि आयु का बंध अनेकभविक है। इहभव के आयुबंध के साथ परभव के आयु का भी बंध हो जाता है।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया। उनके अनुसार आयुष्य एकभविक होता है। पूर्व जन्म में आयु का बंध

होता है और वह केवल उत्तरवर्ती एक ही जन्म के आयुष्य का बंध होता है।

वृत्तिकार ने एक साथ दो आयुष्य के बन्ध के विरोध में एक तर्क प्रस्तुत किया है—एक अध्वसाय से दो विरोधी आयुष्यों का बंध नहीं हो सकता; इसलिए एक समय में एक आयुष्य का बंध ही संगत है। 'जीवाजीवाभिगमे' में अन्ययूथिकों द्वारा सम्मत द्वैक्रियवाद का उल्लेख मिलता है।^१ उसके अनुसार एक व्यक्ति एक समय में सम्यक् और मिथ्या दोनों क्रियाएं करता है। उस सिद्धान्त के आधार पर एक साथ दो आयुष्य के बंध होने में विरोध नहीं आता। यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है कि एक साथ दो आयु-बंध की प्रतिपत्ति की पृष्ठभूमि में द्वैक्रियवाद का सिद्धान्त रहा हो।

४२२. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान् गीतमः यावद् विहरति ।

४२२. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भंते ! वह ऐसा ही है। इस प्रकार भगवान् गीतम यावत् संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

कालासवेसियपुत्त-पदं

कालासवैश्यपुत्र-पदम्

कालासवैश्यपुत्र-पद

४२३. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिजे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता थेरे भगवंते एवं बयासी—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये पार्श्वपत्नीयः कालासवैश्यपुत्रः नाम अनगारः यत्रैव स्थ- विराः भगवन्तः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य स्थविरान् भगवतः एवमवादीत्—

४२३. 'उस काल और उस समय भगवान् पार्श्व- पत्नीय का परम्परित शिष्य वैश्यपुत्र कालास नामक अनगार जहां भगवान् स्थविर रहते थे, वहां आया। वहां आकर भगवान् स्थविरों से उसने इस प्रकार कहा—

१. म.५।५७, ५८।

२. बही, १५।१०१।

३. पा.यो.द.२।१३—तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मनिकं जन्माक्षिपतीति ! द्वितीया विचाराणा—किमेकं कर्मनिकं जन्म निर्वर्तयति, अथानेकं कर्मकं जन्म निर्वर्तयतीति । न तावदेकं कर्मकस्य जन्मनः कारणं, कस्मात् , अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाशवासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति । न चैकं कर्म- नेकस्य जन्मनः कारणं, कस्मात्, अनेकेषु कर्मस्वैकमेव कर्मनिकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति । न धानेकं कर्मनिकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात्, तदनेकं जन्म युगपत्र सम्भवतीति क्रमेण वाच्यम् ।

४. भ.नृ.१।४२१—मिथ्यात्वं चास्यैवं—एकेनाध्यवसायेन विरुद्धयोरायुषोर्बन्धा- योगात् ।

५. जीवा.३।२१०, २११—अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेत्ति एवं परूवेत्ति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—समत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च ।

जं समयं समत्तकिरियं पकरेति, तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति ।

जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति, तं समयं समत्तकिरियं पकरेति ।

समत्तकिरियापकरणताए मिच्छत्तकिरियं पकरेति ।

मिच्छत्तकिरियापकरणताए समत्तकिरियं पकरेति ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा— समत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च ।

से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेत्ति एवं परूवेत्ति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तदेव जाव समत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च ।

जेते एवमाहंसु, तं णं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एणं किरियं पकरेति, तं जहा— समत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा ।

जं समयं समत्तकिरियं पकरेति, णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति ।

जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति, नो तं समयं समत्तकिरियं पकरेति ।

समत्तकिरियापकरणाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेति । मिच्छत्तकिरिया- पकरणाए नो समत्तकिरियं पकरेति । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एणं किरियं पकरेति, तं जहा—समत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा ।

थेरा सामाइयं न याणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं न याणंति ।

थेरा पच्चक्खाणं न याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं न याणंति ।

थेरा संजमं न याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं न याणंति ।

थेरा संवरं न याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति ।

थेरा विवेगं न याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं न याणंति ।

थेरा विउस्सगं न याणंति, थेरा विउस्सगस्स अट्ठं न याणंति ॥

स्थविराः सामायिकं न जानन्ति, स्थविराः सामायिकस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविराः प्रत्याख्यानं न जानन्ति, स्थविराः प्रत्याख्यानस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविराः संयमं न जानन्ति, स्थविराः संयमस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविराः संवरं न जानन्ति, स्थविराः संवरस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविराः विवेकं न जानन्ति, स्थविराः विवेकस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविराः व्युत्सर्गं न जानन्ति, स्थविराः व्युत्सर्गस्य अर्थं न जानन्ति ।

स्थविर सामायिक को नहीं जानते, स्थविर सामायिक का अर्थ नहीं जानते ।

स्थविर प्रत्याख्यान को नहीं जानते, स्थविर प्रत्याख्यान का अर्थ नहीं जानते ।

स्थविर संयम को नहीं जानते, स्थविर संयम का अर्थ नहीं जानते ।

स्थविर संवर को नहीं जानते, स्थविर संवर का अर्थ नहीं जानते ।

स्थविर विवेक को नहीं जानते, स्थविर विवेक का अर्थ नहीं जानते ।

स्थविर व्युत्सर्ग को नहीं जानते, स्थविर व्युत्सर्ग का अर्थ नहीं जानते ।

४२४. तए णं थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वदासी—

जाणामो णं अज्जो ! सामाइयं, जाणामो णं अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! पच्चक्खाणं, जाणामो णं अज्जो ! पच्चक्खाणस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! संजमं, जाणामो णं अज्जो ! संजमस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! संवरं, जाणामो णं अज्जो ! संवरस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! विवेगं, जाणामो णं अज्जो ! विवेगस्स अट्ठं ।

जाणामो णं अज्जो ! विउस्सगं, जाणामो णं अज्जो ! विउस्सगस्स अट्ठं ॥

ततः स्थविराः भगवन्तः कालासवैश्यपुत्रम् अनगारं एवमवादिषुः—

जानीमः आर्य ! सामायिकं, जानीमः आर्य ! सामायिकस्य अर्थम् ।

जानीमः आर्य ! प्रत्याख्यानं, जानीमः आर्य ! प्रत्याख्यानस्य अर्थम् ।

जानीमः आर्य ! संयमं, जानीमः आर्य ! संयमस्य अर्थम् ।

जानीमः आर्य ! संवरं, जानीमः आर्य ! संवरस्य अर्थम् ।

जानीमः आर्य ! विवेकं, जानीमः आर्य ! विवेकस्य अर्थम् ।

जानीमः आर्य ! व्युत्सर्गं, जानीमः आर्य ! व्युत्सर्गस्य अर्थम् ।

४२४. उस समय भगवान् स्थविरो ने वैश्यपुत्र कालास अनगार से इस प्रकार कहा—

आर्य ! हम सामायिक को जानते हैं, आर्य ! हम सामायिक का अर्थ जानते हैं ।

आर्य ! हम प्रत्याख्यान को जानते हैं, आर्य ! हम प्रत्याख्यान का अर्थ जानते हैं ।

आर्य ! हम संयम को जानते हैं, आर्य ! हम संयम का अर्थ जानते हैं ।

आर्य ! हम संवर को जानते हैं, आर्य ! हम संवर का अर्थ जानते हैं ।

आर्य ! हम विवेक को जानते हैं, आर्य ! हम विवेक का अर्थ जानते हैं ।

आर्य ! हम व्युत्सर्ग को जानते हैं, आर्य ! हम व्युत्सर्ग का अर्थ जानते हैं ।

४२५. तते णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवंते एवं वयासी—जइ णं अज्जो !

तुब्भे जाणह सामाइयं, तुब्भे जाणह सामाइयस्स अट्ठं जाव जइ णं अज्जो ! तुब्भे जाणह विउस्सगं, तुब्भे जाणह विउस्सगस्स अट्ठं । के भे अज्जो ! सामाइए ? के भे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ? जाव के भे अज्जो ! विउस्सगं ? के भे अज्जो ! विउस्सगस्स अट्ठे ?

ततः स कालासवैश्यपुत्रः अनगारः तान् स्थविरान् भगवतः एवमवादीत्—यदि आर्य !

यूयं जानीथ सामायिकं, यूयं जानीथ सामायिकस्य अर्थं यावद् यदि आर्य ! यूयं जानीथ व्युत्सर्गं, यूयं जानीथ व्युत्सर्गस्य अर्थं, किं युष्माकम् आर्य ! सामायिकम् ? कः युष्माकम् आर्य ! सामायिकस्य अर्थः ? यावत् कः युष्माकम् आर्य ! व्युत्सर्गः ? कः युष्माकम् आर्य ! व्युत्सर्गस्य अर्थः ?

४२५. तब वैश्यपुत्र कालास अनगार ने उन भगवन् स्थविरो से इस प्रकार कहा—आर्य ! यदि आप सामायिक को जानते हैं, सामायिक का अर्थ जानते हैं यावत् आर्य ! यदि आप व्युत्सर्ग को जानते हैं, व्युत्सर्ग का अर्थ जानते हैं, तो आर्य ! आपका सामायिक क्या है ? आर्य ! आपके सामायिक का अर्थ क्या है ? यावत् आर्य ! आपका व्युत्सर्ग क्या है ? आर्य ! आपके व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है ?

४२६. तए णं थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—

आया णे अज्जो ! सामाइए, आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।

आया णे अज्जो ! पच्चक्खाणे, आया णे अज्जो ! पच्चक्खाणस्स अट्ठे ।

आया णे अज्जो ! संजमे, आया णे अज्जो

ततः स्थविराः भगवन्तः कालासवैश्यपुत्रम् अनगारम् एवमवादिषुः—

आत्मा नः आर्य ! सामायिकम्, आत्मा नः आर्य ! सामायिकस्य अर्थः ।

आत्मा नः आर्य ! प्रत्याख्यानम्, आत्मा नः आर्य ! प्रत्याख्यानस्य अर्थः ।

आत्मा नः आर्य ! संयमः, आत्मा नः आर्य !

४२६. तब भगवान् स्थविरो ने वैश्यपुत्र कालास अनगार से इस प्रकार कहा—

आर्य ! आत्मा हमारा सामायिक है, आर्य ! आत्मा हमारे सामायिक का अर्थ है ।

आर्य ! आत्मा हमारा प्रत्याख्यान है, आर्य ! आत्मा हमारे प्रत्याख्यान का अर्थ है ।

आर्य ! आत्मा हमारा संयम है, आत्मा हमारे संयम

संजमस्स अट्टे ।

आया णे अज्जो ! संवरे, आया णे अज्जो !
संवरस्स अट्टे ।

आया णे अज्जो ! विवेगे, आया णे अज्जो !
विवेगस्स अट्टे ।

आया णे अज्जो ! विउस्सग्गो, आया णे
अज्जो ! विउस्सग्गस्स अट्टे ॥

४२७. तए णं कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे
भगवंते एवं वदासी—जइ मे अज्जो ! आया
सामाइए, आया सामाइयस्स अट्टे जाव
आया विउस्सग्गस्स अट्टे—अवहट्टु कोह-
-माण-माया-लोभे किमट्ठं अज्जो ! गरहह ?

कालासा ! संजमट्टयाए ॥

४२८. ते भंते ! किं गरहा संजमे ? अगरहा
संजमे ?

कालासा ! गरहा संजमे, णो अगरहा
संजमे । गरहा वि य णं सब्बं दोसं पविणेति,
सब्बं बालियं परिण्णाए । एवं खु णे आया
संजमे उवहिते भवति । एवं खु णे आया
संजमे उवचिए भवति । एवं खु णे आया
संजमे उवट्ठिते भवति ॥

४२९. एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे
संबुद्धे थेरे भगवंते वंदति नमंसति, वंदित्ता
नमंसित्ता एवं वयासी—एएसि णं भंते !
पयाणं पुब्बिं अण्णाणयाए असवणयाए
अवोहीए अणभिमगेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं
अमुयाणं अविण्णायाणं अब्बोकाडाणं अब्बो-
च्छिण्णाणं अण्णुवाणं अणुवधारियाणं
एयमट्ठं नो सहहिए नो पत्तिइए नो रोइए ।

इदाणिं भंते ! एतेसिं पयाणं जाणयाए
सवणयाए बोहीए अभिमगेणं दिट्ठाणं
मुयाणं मुयाणं विण्णायाणं वोगडाणं
वोच्छिण्णाणं णिज्जूदाणं उवधारियाणं
एयमट्ठं सहहामि पत्तियामि रोएमि ।
एयमेयं से जहेयं तुब्भे वदह ॥

४३०. तए णं ते थेरा भगवंतो काला-
सवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सह-
हाहि अज्जो ! पत्तियाहि अज्जो ! रोएहि

संयमस्य अर्थः ।

आत्मा नः आर्य ! संवरः, आत्मा नः आर्य !
संवरस्य अर्थः ।

आत्मा नः आर्य ! विवेकः, आत्मा नः आर्य !
विवेकस्य अर्थः ।

आत्मा नः आर्य ! व्युत्सर्गः, आत्मा नः आर्य !
व्युत्सर्गस्य अर्थः ।

ततः स कालासवैश्यपुत्रः अनगारः स्थविरान्
भगवतः एवमवादीत्—यदि युष्माकम्,
आर्य ! आत्मा सामायिकम्, आत्मा सामा-
यिकस्य अर्थः यावद् आत्मा व्युत्सर्गस्य
अर्थः—अपहृत्य क्रोध-मान-माया-लोभान्
किमर्थम् आर्य ! गृह्ये ?

कालास ! संयमार्थम् ।

अथ भदन्त ! किं गर्हा संयमः ? अगर्हा
संयमः ?

कालास ! गर्हा संयमः, नो अगर्हा संयमः ।
गर्हा अपि च सर्वं दोषं प्रविणयति, सर्वं बाल्यं
परिज्ञाय । एवं खलु नः आत्मा संयमे उपहितो
भवति । एवं खलु नः आत्मा संयमे उपचितो
भवति । एवं खलु नः आत्मा संयमे उपस्थितो
भवति ।

अत्र स कालासवैश्यपुत्रः अनगारः संबुद्धः
स्थविरान् भगवतः वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा
नमस्यित्वा एवमवादीत्—एतेषां भदन्त !
पदानां पूर्वम् अज्ञानतया अश्रवणतया
अबोध्या अनभिगमेन अदृष्टानाम् अश्रुतानाम्
अस्मृतानाम् अविज्ञातानाम् अव्याकृतानाम्
अव्यवच्छिन्नानाम् अनिर्यूढानाम् अनुपधारि-
तानाम् अयमर्थः नो श्रद्धितः नो प्रत्ययितः नो
रोचितः ।

इदानीं भदन्त ! एतेषां पदानां ज्ञानतया
श्रवणतया बोध्या अभिगमेन दृष्टानां श्रुतानां
स्मृतानां विज्ञातानां व्याकृतानां व्यवच्छिन्नानां
निर्यूढानाम् उपधारितानाम् अयमर्थः श्रद्धामि
प्रत्येभि रोचयामि । एवमेतत् तत् यथैतद् यूयं
वदथ ।

ततः ते स्थविराः भगवन्तः कालासवैश्यपुत्रम्
अनगारम् एवमवादिषुः—श्रद्धेहि आर्य !
प्रतीहि आर्य ! रोचय आर्य ! तद् यथैतद्

का अर्थ है ।

आर्य ! आत्मा हमारा संवर है, आर्य ! आत्मा
हमारे संवर का अर्थ है ।

आर्य ! आत्मा हमारा विवेक है, आर्य ! आत्मा
हमारे विवेक का अर्थ है ।

आर्य ! आत्मा हमारा व्युत्सर्ग है, आर्य ! आत्मा
हमारे व्युत्सर्ग का अर्थ है ।

४२७. तव वैश्यपुत्र कालास अनगार ने भगवान्
स्थविरों से इस प्रकार कहा—आर्य ! यदि आत्मा
सामायिक है, आत्मा आपके सामायिक का अर्थ
है यावत् आर्य ! आत्मा आपका व्युत्सर्ग है, आत्मा
आपके व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो क्रोध, मान, माया
और लोभ का परित्याग कर आर्य ! आप
किसलिए गर्हा करते हैं ?

कालास ! हम संयम के लिए गर्हा करते हैं ।

४२८. भन्ते ! क्या गर्हा संयम है ? अगर्हा संयम
है ?

कालास ! गर्हा संयम है, अगर्हा संयम नहीं है ।
गर्हा सर्व बाल-भाव का परिज्ञा के द्वारा प्रत्याख्यान
कर सब दोषों का अपनयन करती है । इस प्रकार
हमारा आत्मा संयम में उपहित होता है, इस प्रकार
हमारा आत्मा संयम में उपचित होता है, इस प्रकार
हमारा आत्मा संयम में उपस्थित होता है ।

४२९. इन विन्दु पर वह वैश्यपुत्र कालास अनगार
संबुद्ध होकर भगवान् स्थविरों को वंदन-नमस्कार
करता है, वन्दन-नमस्कार कर उसने इस प्रकार
कहा—भन्ते ! पहले मैंने अज्ञान, अश्रवण,
अबोधि और अनभिगम के कारण अदृष्ट, अश्रुत,
अस्मृत, अविज्ञात, अव्याकृत, अव्यवच्छिन्न,
अनिर्यूढ और अनुपधारित इन पदों के इस अर्थ
पर श्रद्धा नहीं की, प्रतीति नहीं की, रुचि नहीं
की ।

भन्ते ! अब ज्ञान, श्रवण, बोधि और अभिगम
के द्वारा दृष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञात, व्याकृत, व्यव-
च्छिन्न, निर्यूढ और उपधारित—इन पदों के इस
अर्थ पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ,
रुचि करता हूँ । यह वैसा ही है जैसा आप कह
रहे हैं ।

४३०. भगवान् स्थविरों ने वैश्यपुत्र कालास अनगार
से इस प्रकार कहा—हम जिस प्रकार यह कह
रहे हैं उस पर आर्य ! श्रद्धा करो, आर्य ! प्रतीति

- अज्ञो ! से जहेयं अम्हे वदामो ॥ वयं वदामः । करो, आर्य ! रुचि करो ।
४३१. तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे धेरे भगवन्ते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—इच्छामि णं भन्ते ! तुब्धं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिकमणं धम्मं उवसंपजित्ता णं विहरित्तए । ततः सः कालासवैश्यपुत्र अनगारः स्थविरान् भगवतो वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—इच्छामि भदन्त ! युष्माकम् अन्तिके चतुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्मम् उपसंपद्य विहर्तुम् । ४३१. अब वह वैश्यपुत्र कालास अनगार भगवान् स्थविरों को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर उसने इस प्रकार कहा—भन्ते ! मैं आपके पास चतुर्याम धर्म से (मुक्त होकर) सप्रतिक्रमण पञ्चमहाव्रतात्मक धर्म को स्वीकार कर विहार करना चाहता हूँ । देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो ! प्रतिबंध मत करो ।
४३२. तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे धेरे भगवन्ते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिकमणं धम्मं उवसंपजित्ता णं विहरति ॥ ततः स कालासवैश्यपुत्रः अनगारः स्थविरान् भगवतः वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा चतुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्मम् उपसंपद्य विहरति । ४३२. वैश्यपुत्र कालास अनगार भगवान् स्थविरों को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर चतुर्याम धर्म से (मुक्त होकर) सप्रतिक्रमण पञ्चमहाव्रतात्मक धर्म को स्वीकार कर विहार करता है ।
४३३. तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्यपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सइए कीरइ नगभावे मुंडभावे अण्हाणयं अदंतवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलसेज्जा कडुसेज्जा केसलोओ वंभचरवासो परधरप्पवेसो लद्धा-यलद्धी उच्चावया गामकंटगा बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमइं आराहेइ, आराहेत्ता चरमेहिं उस्सास-नीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिचुडे सब्बदुक्ख-प्पहीणे ॥ ततः स कालासवैश्यपुत्रः अनगारः बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं प्राप्नोति, प्राप्य यस्यार्थाय क्रियते नग्राभावः मुण्डभावः अस्रानकम् 'अदंतवणयं' अच्छत्रकम् अनुपानकं भूमि-शय्या फलशय्या काष्ठशय्या केशलोचः ब्रह्मचर्यवासः परधरप्रवेशः लब्धापलब्धी उच्चावचाः ग्रामकण्टकाः द्वाविंशतिः परिषहोपसर्गाः अध्यास्यते, तमर्थम् आराधयति, आराध्य चरमेषु उच्छवास-निःश्वासेषुः सिद्धः 'बुद्धे' मुक्तः परिनिवृत्तः सर्वदुःखप्रहीणः । ४३३. वह वैश्यपुत्र कालास अनगार बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय का पालन करता है, पालन कर जिस प्रयोजन से नग्राभाव, मुण्डभाव, स्रान न करना, दतीन न करना, छत्र धारण न करना, पादुका न पहनना, भूमि-शय्या, फलक-शय्या, काष्ठ-शय्या, केश-लोच, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर प्रवेश करना, लाभ-अलाभ, उच्चावच, ग्राम-कण्टक, बाईस परीषहों और उपसर्गों को सहन किया जाता है, उस प्रयोजन की आराधना करता है, उसकी आराधना कर चरम उच्छवास-निःश्वास में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिवृत्त और सब दुःखों को क्षीण करने वाला हो जाता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४२३-४३३

प्रस्तुत प्रकरण में छह पद विशेष विमर्श-योग्य हैं—१. सामायिक २. प्रत्याख्यान ३. संयम ४. संवर ५. विवेक ६. व्युत्सर्ग । प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्व की परम्परा में ये पद प्रचलित थे । पार्श्वपत्नीय कालास अनगार ने सोचा—स्थविर इन पदों का अर्थ नहीं जानते; इसलिए उसने आवेशपूर्ण भाषा में कह दिया—स्थविरों! आप इन पदों का अर्थ नहीं जानते । स्थविरों ने सहज शांत भाव से कहा—हम इनका अर्थ जानते हैं । तब अनगार कालास ने जिज्ञासा के स्वर में उनका अर्थ पूछा और स्थविरों ने उनका उत्तर दिया ।

इन सभी पदों का एक ही उत्तर है—आत्मा सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है—यह उत्तर निश्चय नय का उत्तर है । भगवान् महावीर ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार—इन दो नयों से सत्य की प्रज्ञप्ति की थी ।

द्रव्यार्थिक अथवा निश्चय नय अभेद-प्रधान होता है । पर्यायार्थिक अथवा व्यवहार नय भेद-प्रधान होता है । द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सामायिक आत्मा है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सामायिक आत्मा का गुण है । 'जिनभद्र क्षमाश्रमण का यह अभिमत है ।

१. वि.भा.गा.२६४३—

जीवो गुणो पडिवन्नो, नयस्स दव्वट्टियस्स सामाइयं ।

सो चेव पज्जवट्टियनयस्स जीवस्स एस गुणो ॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि तत्त्वों का व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से निरूपण किया है। व्यवहार नय के अनुसार आचार्य आदि द्वादशांग श्रुतज्ञान हैं, जीव आदि नव तत्त्वों की श्रद्धा दर्शन है, षड्जीवनिकाय की हिंसा का परिहार चारित्र है। निश्चय नय के अनुसार आत्मा ज्ञान है, आत्मा दर्शन है, आत्मा चारित्र है, आत्मा प्रत्याख्यान है और आत्मा ही संवर-योग है।

स्थविरों के द्वारा द्रव्यार्थिक नय का निरूपण सुनकर कालास अनगार ने जिज्ञासा की—“यदि आत्मा ही सामायिक यावत् व्युत्सर्ग है तो आपने क्रोध आदि कषाय का व्युत्सर्ग कर दिया, फिर गर्हा क्यों करते हैं ?” स्थविरों ने कहा—“हम संयम के लिए गर्हा का प्रयोग करते हैं।” इस उत्तर से यह फलित होता है कि जहां गुण-प्रतिपन्न आत्मा की विवक्षा है वहां आत्मा ही सामायिक है। किन्तु जहां गुण की विवक्षा है, वहां सामायिक का अर्थ है—सावध योग की विरति। प्रत्याख्यान का अर्थ है—अनागत सावध योग का परि-त्याग। संयम का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का निग्रह। संवर का अर्थ है—अन्नत आदि का निरोध। विवेक का अर्थ है—क्रोध आदि कषाय का पृथक्करण। व्युत्सर्ग का अर्थ है—क्रोध आदि कषाय से विमुक्ति। गर्हा के द्वारा संयम की पुष्टि होती है। जब सामायिक आदि आत्मगत या परिपक्व हो जाते हैं, उस अवस्था में आत्मा ही सामायिक है, ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु जिस अवस्था में सामायिक आदि का अभ्यास अपरिपक्व अवस्था में है, उस स्थिति में गर्हा के द्वारा उनके अभ्यास को परिपक्व किया जाना आवश्यक है। शरीर के द्वारा पापकर्म का आचरण न करना गर्हा का एक प्रकार है। प्रत्याख्यान का भी यही प्रकार है। ठाणं के इस सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि गर्हा संयम की साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।^१ इसलिए गर्हा के द्वारा संयम उपहित, उपचित और उपस्थित होता है।

शब्द-विमर्श

स्थविर—स्थविर का अर्थ है—वृद्ध। ठाणं में दस प्रकार के स्थविर निर्दिष्ट हैं—ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर, प्रशास्ता-स्थ-विर—ग्रशासक-ज्येष्ठ, कुलस्थविर, गणस्थविर, संघस्थविर, जाति-

स्थविर, श्रुतस्थविर, पर्यायस्थविर।^१

अभयदेवसूरि ने यहां स्थविर का अर्थ ‘श्रुतवृद्ध’ किया है।^१ ववहारो तथा ठाणं में ठाणं और समवाओ—इन दो आगमों को धारण करने वाले को ‘श्रुतस्थविर’ कहा गया है।^१ ओवाइयं के अनुसार स्थविर द्वादशांगधर होता है। वहां स्थविर का विशेष विवरण उपलब्ध है।^१

बाल्य—मिथ्यात्व और अविरति।^१

उपहित—सन्निहित, प्राप्त।

उपस्थित—चिरस्थायी।

अज्ञान—प्रस्तुत विषय के स्वरूप की जानकारी का अभाव।

अबोध—सम्यक् ज्ञान की अनुपलब्धि अथवा सहज ज्ञान का अभाव।

अनभिगम—विस्तृत बोध का अभाव।

अदृष्ट—अप्रत्यक्षीकृत।

अव्याकृत—अव्याख्यात, गुरु के द्वारा व्याख्यात्मक रूप में अप्राप्त।

अव्यवच्छिन्न—जिसका लक्षण या विश्लेषण ज्ञात न हो।

अनिर्वृद्ध—जिसका सार-संक्षेप उद्धृत न किया गया हो।

अनुपधारित—जो धारण न किया गया हो, जिसका चिन्तन न किया गया हो।

प्रतिक्रमण—आवश्यक का एक अंग, चौथा आवश्यक, अतीत का प्रतिक्रमण।

फलकशय्या—लम्बा और सपाट किए हुए फलक की शय्या।

काष्ठशय्या—असंस्कृत काष्ठ की शय्या।

ब्रह्मचर्यवास—देखें भ. १। २००-२१० का भाष्य।

लब्धापलब्धी—लाभ और अलाभ अथवा अपूर्ण लाभ।

उच्चावच—असंतुलित।

ग्रामकण्ठक—कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषय। विशेष जान-कारी के लिए देखें दसवे. १०। ११ का टिप्पण।

परीषह—साधनाकाल में आने वाले कष्ट।

उपसर्ग—मनुष्य, पशु आदि द्वारा किया जाने वाला उपद्रव।^६

१. समयसार, गा. २७६, २७७—

आयारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं।

छञ्जीवणिकं च तह, भणदि चरित्तं तु ववहारो॥

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।

आदा पच्चक्खाणं, आदा मे संवरो जोगो॥

२. ठाणं, २। २४४ और उसका टिप्पण।

३. (क) वही, ३। २६, २७—तिविहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा—मणसा वेगे गरहति, वयसा वेगे गरहति, कायसा वेगे गरहति—पावाणं कम्माणं अकरणयाए। अहवा गरहा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—दीहं पेगे अद्धं गरहति, रहस्सं पेगे अद्धं गरहति, कायं पेगे पडिसाहरति—पावाणं कम्माणं अकरणयाए। तिविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसा वेगे पच्चक्खाति, वयसा वेगे पच्चक्खाति, कायसा वेगे पच्चक्खाति—पावाणं कम्माणं अकरणयाए। अहवा पच्चक्खाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—दीहं पेगे अद्धं पच्चक्खाति, रहस्सं पेगे अद्धं

पच्चक्खाति, कायं पेगे पडिसाहरति—पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

(ख) वही, ४। २६४—चउव्विहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा—उवसंपज्जामित्तेगा गरहा, वितिगिच्छामित्तेगा गरहा, जं किंचिमिच्छामित्तेगा गरहा, एवं पि पण्ण-सेगा गरहा।

४. ठाणं, १०। १३६।

५. भ. वृ. १। ४३३—‘थेरे’ति श्रीमन्महावीरजिनशिष्याः श्रुतवृद्धाः।

६. (क) ववहारो, १०। १६—तओ थेरभूसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जातिथेरे सुयथेरे परियायथेरे। सट्ठिवास जाए समणे निग्गंथे जातिथेरे, ठाणसमवायथेरे समणे निग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए समणे निग्गंथे परियायथेरे।

(ख) ठाणं, ३। १८७।

७. ओवा. सू. २५, २६।

८. भ. वृ. १। ४२८—बाल्यं—बालतां मिथ्यात्वमविरतिं च।

९. ठाणं, ४। ६६७-६०१।

अपद्यवखाणकिरिया-पदं

४३४. भंते ! ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—से नूणं भंते ! सेट्टियस्स य तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपद्यवखाणकिरिया कज्जइ ? हंता गोयमा ! सेट्टियस्स य तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपद्यवखाणकिरिया कज्जइ ॥

४३५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—सेट्टियस्स य तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपद्यवखाणकिरिया कज्जइ ? गोयमा ! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—सेट्टियस्स य तणुयस्स य किवणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपद्यवखाणकिरिया कज्जइ ॥

आहाकम्म-पदं

४३६. आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंये किं बंधइ ? किं पकरेइ ? किं चिणाइ ? किं उवचिणाइ ? गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयुवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ सिट्ठिलबंधण-बद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्स-कालटिडियाओ दीहकालटिडियाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिवाणुभावाओ पकरेइ, अप्पएसग्गाओ बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ, आयुं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकन्तारं अणुपरियट्ठइ ॥

४३७. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयुवज्जाओ सत्तकम्म-प्पगडीओ सिट्ठिलबंधणबद्धाओ धणिय-बंधणबद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसार-कन्तारं अणुपरियट्ठइ ?

अप्रत्याख्यानक्रिया-पदम्

भदन्त ! अयि ! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—अथ नूनं भदन्त ! श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च कृपणस्य च क्षत्रियस्य च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ? हन्त गौतम ! श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च कृपणस्य च क्षत्रियस्य च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च कृपणस्य च क्षत्रियस्य च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ? गौतम ! अविरतिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च कृपणस्य च क्षत्रियस्य च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ।

आधाकर्म-पदम्

आधाकर्म भुज्जानः श्रमणः निर्गन्धः किं बध्नाति ? किं प्रकरोति ? किं चिन्ते ? किन् उपचिन्ते ? गौतम ! आधाकर्म भुज्जानः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धाः 'धणिय'-बन्धनबद्धाः प्रकरोति, हस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, मंदानुभावाः तीव्रानुभावाः प्रकरोति, अल्पप्रदेशाग्राः बहु-प्रदेशाग्राः प्रकरोति, आयुः च कर्म स्याद् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति, असातवेदनीयं कर्म भूयो-भूयः उपचिन्ते, अनादिकम् 'अणवदग्गं' दीर्घाध्वानं चतुरन्तं संसारकान्तारम् अनुपरिवर्तते ।

४३७. तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—आधाकर्म भुज्जानः आयुर्वर्जाः सप्त कर्म-प्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धाः 'धणिय'-बन्धन-बद्धाः प्रकरोति यावत् चतुरन्तं संसारकान्तारं अनुपरिवर्तते ?

अप्रत्याख्यानक्रिया-पद

४३४. भन्ते ! इस सम्बोधन के साथ भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर उन्होंने इस प्रकार कहा—भन्ते ! श्रेष्ठी, निर्धन, रंक और राजा के क्या अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है ? हां, गौतम ! श्रेष्ठी, निर्धन, रंक और राजा के अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है ।

४३५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—श्रेष्ठी, निर्धन, रंक और राजा के अप्रत्याख्यान-क्रिया समान होती है ? गौतम ! अविरति की अपेक्षा से। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—श्रेष्ठी, निर्धन, रंक और राजा के अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है ।

आधाकर्म-पद

४३६. ^१आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? क्या करता है ? क्या चय करता है ? क्या उपचय करता है ? गौतम ! आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनबद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बंधनबद्ध करता है, अल्पकालिक स्थिति वाली प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है, मन्द अनुभाव वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाव वाली करता है, अल्प प्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को बहुप्रदेश-परिमाण वाली करता है; आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् करता है और कदाचित् नहीं करता, वह असातवेदनीय कर्म का बहुत-बहुत उपचय करता है और आदि-अन्तहीन दीर्घ पथ वाले चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार में अनुपरिवर्तन करता है ।

४३७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनबद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बंधनबद्ध करता है यावत् चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार में अनुपरिवर्तन करता है ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइकमइ, आयाए धम्मं अइकममाणे पुढविकायं णावकंखइ, आउकायं णावकंखइ, तेउकायं णावकंखइ, वाउकायं णावकंखइ, वणस्सइकायं णावकंखइ, तसकायं णावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे णावकंखइ । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउय-वजाओ सत्त कम्मपगडीओ सिट्ठिल-बंधणवद्धाओ धणियबंधणवद्धाओ पकरेइ जाव चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ ॥

गौतम ! आधाकर्म भुञ्जानः आत्मना धर्मम् अतिक्रामति, आत्मना धर्मम् अतिक्रामन् पृथ्वीकायं नावकांक्षति, अष्कायं नावकांक्षति, तेजस्कायं नावकांक्षति, वायुकायं नावकांक्षति, वनस्पतिकायं नावकांक्षति, त्रसकायं नावकांक्षति, येषामपि च जीवानां शरीराणि आहारम् आहरति, तानपि जीवान् नावकांक्षति । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—आधाकर्म भुञ्जानः आयुर्वर्जाः सप्त कर्म-प्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धाः 'धणिय'बन्धनबद्धाः प्रकरोति यावच्च चतुरन्तं संसार-कान्तारम् अनुपरिवर्तते ।

गौतम ! आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आत्मा से धर्म का अतिक्रमण करता है । आत्मा से धर्म का अतिक्रमण करता हुआ वह पृथ्वीकायिक, अष्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है । वह जिन जीवों के शरीरों का भोजन करता है, उन जीवों के प्रति भी निरपेक्ष हो जाता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनबद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बन्धनबद्ध करता है यावत् चतुर्गत्यात्मक संसार कान्तार में अनुपरिवर्तन करता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४३६, ४३७

प्रस्तुत प्रकरण में आधाकर्म आहार से होने वाले दोषों का निरूपण किया गया है । आधाकर्म का अर्थ साधु को मन में रखकर उसके निमित्त किया जाने वाला आहार है । यह अर्थ आगम के अनेक व्याख्याकारों ने किया है ।^१ अभयदेवसूरि ने भी यही अर्थ किया है ।^२

औद्देशिक का अर्थ है—श्रमण, माहण, अतिथि, कृपण आदि सभी भिक्षाचरों के लिए किया गया भोजन ।^३ प्रवचनसारोद्धार में औद्देशिक के ओघ और विभाग—ये दो प्रकार निर्दिष्ट हैं । जो समुच्चय-रूप में देने के लिए बनाया जाता है, वह ओघ-औद्देशिक कहलाता है । जो श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि आदि का विभाग करके भोजन पकाया जाता है, वह विभाग-औद्देशिक है । उसके तीन विभाग हैं—उद्दिष्ट, कृत और कर्म । इसके चार अवान्तरप्रकार होते हैं—१. उद्देश २. समुद्देश ३. आदेश ४. समादेश । विस्तृत जानकारी के लिए प्रवचनसारोद्धार गा. ५६५, वृ. प. १३७, १३८ द्रष्टव्य हैं । 'मूलाचार' तथा 'भगवती आराधना' में भी इस विषय की विशद चर्चा उपलब्ध है ।^४ सूयगडो २।५।८ में केवल 'आहाकम्माणि' शब्द मिलता है । आपारचूला १।२६ तथा उद्गम के सोलह दोषों में 'आहाकम्मियं' और 'उद्देसियं' का एक साथ प्रयोग मिलता है । मूलाचार में भी इन दोनों का प्रयोग एक साथ उपलब्ध है ।^५

जर्मन विद्वान् डा. लायमान (Leumann) ने आहाकम्म का अर्थ याथाकाम्य किया है ।^६ यह अर्थ उपेक्षणीय नहीं है । याथाकाम्य का अर्थ है—व्यक्ति की अपनी इच्छाके अनुसार करना अथवा करना । प्रस्तुत प्रकरण के अनुसार याथाकाम्य आहार खाने वाला पृथ्वीकाय आदि सभी जीव निकायों के प्रति निरनुकम्प होता है । इससे यह फलित होता है कि याथाकाम्य आहार का अर्थ है—गृहस्थ अपनी इच्छा के अनुसार मुनि के लिए कोई वस्तु बनाना चाहता है और मुनि उसके लिए अपनी स्वीकृति दे देता है अथवा मुनि अपने इच्छानुकूल भोजन के लिए गृहस्थ को प्रेरित करता है ।

औद्देशिक का पाठ इस पाठ से भिन्न है । वहां गृहस्थ प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का वध करता है । 'मुनि षड्जीवनिकाय के प्रति निरनुकम्प होता है'—यह औद्देशिक के प्रकरण में नहीं है ।

शब्द-विमर्श

णावकंखइ—निरपेक्ष हो जाता है । वृत्तिकार ने णावकंखइ पद का अर्थ 'अपेक्षा न रखना, अनुकम्पा न करना' किया है ।^७

शिथिलबन्धनबद्ध आदि के लिए देखें, भ. १।४४-४७ का भाष्य ।

१. प्र.सारे.प. १३७—आधानमाधा—साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानं यथा अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति आधया कर्मपाकादिक्रिया आधाकर्म तद्योगाद्भक्ताद्यप्याधाकर्म, इह दोषाभिधानप्रक्रमेऽपि यदोषवतो भक्तादेरभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षया द्रष्टव्यं, एवमन्यत्राऽपि, यद्वा आधाय—साधुं चेतसि प्रणिधाय यत् क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म, पृषोदरादित्वाद्यलोपः, साधुनिमित्तं सचित्तस्याचित्तीकरणमपचित्तस्य वा पाक इति भावः ।
२. भ.वृ. १।४३६—आधया—साधुप्रणिधानेन यत् सचेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकं, व्यूयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म ।
३. आ.चूला. १।१६, १७।

४. (क) मूलाचार, ४२२ ।

(ख) भगवती आराधना, ४२१ ।

५. प्र.सारे.गा. ५६५—आहाकमुद्देसियं पूईकम्मे ।

६. मूलाचार, ४२२—आधाकमुद्देसियं ।

७. (क) Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, Leipzig, Wiesbaden, 37/495;

(ख) Doctrine of the Jainas, p. 272.

८. आ.चूला १।१६, १७।

९. भ.वृ. १।४३६—'नावकंखइ'ति नापेक्षते, नानुकम्पत इत्यर्थः ।

फासु-एसणिज्ज-पदं

४३८. फासु-एसणिज्जं णं भंते ! भुंजमाणे समणे निग्गंये किं बंधइ ? किं पकरोइ ? किं चिणाइ ? किं उवचिणाइ ?
 गोयमा ! फासु-एसणिज्जं णं भुंजमाणे आउ-यवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणिय-बंधणवद्धाओ सिटिलबंधणवद्धाओ पकरोइ, दीहकालद्धिइयाओ हसकालद्धिइयाओ पकरोइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरोइ, बहुप्पएसग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरोइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो मुज्जो-भुजो उवचिणाइ, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसार-कंतारं वीईवयइ ॥

४३९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—फासु-एसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणियबंधणवद्धाओ सिटिल-बंधणवद्धाओ पकरोइ जाव चाउरंतं संसार-कंतारं वीईवयइ ?

गोयमा ! फासु-एसणिज्जं णं भुंजमाणे समणे निग्गंये आयाए धम्मं नाइकमइ, आयाए धम्मं अणइकममाणे पुढविकायं अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं (आहारं ?) आहारेइ ते वि जीवे अवकंखइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—फासु-एसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणिय-बंधणवद्धाओ सिटिलबंधणवद्धाओ पकरोइ जाव चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयइ ॥

प्रासु-एषणीय-पदम्

प्रासु-एषणीयं भदन्त ! भुज्जानः श्रमणः निर्ग्रन्थः किं बध्नति ? किं प्रकरोति ? किं चिनोति ? किम् उपचिनोति ?
 गौतम ! प्रासु-एषणीयं भुज्जानः आयुर्वजाः सप्तकर्मप्रकृतीः 'धणिय'बन्धनवद्धाः शिथिल-बन्धनवद्धाः प्रकरोति, दीर्घकालस्थितिकाः ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति, तीव्रानुभावाः मन्दानुभावाः प्रकरोति, बहुप्रदेशाग्राः अल्प-प्रदेशाग्राः प्रकरोति, आयुश्च कर्म स्याद् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति असातवेदनीयञ्च कर्म नो भूयो-भूयः उपचिनोति, अनादिकम् 'अणवदग्गं' दीर्घाध्वानं चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति ।

तत् केनार्येण भदन्त ! एवमुच्यते—प्रासु-एषणीयं भुज्जानः आयुर्वजाः सप्तकर्म-प्रकृतीः 'धणिय'बन्धनवद्धाः शिथिलबन्धन-वद्धाः प्रकरोति यावत् चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति ?

गौतम ! प्रासु-एषणीयं भुज्जानः श्रमणाः निर्ग्रन्थः आत्माना धर्मं नातिक्रामति, आत्मना धर्मम् अनतिक्रामन् पृथ्वीकायम् अवकांक्षति यावत् त्रसकायम् अवकांक्षति, येषामपि च जीवानां शरीराणि (आहारं) आहरति, तानपि जीवान् अवकांक्षति । तत् तेनार्येण गौतम ! एवमुच्यते—प्रासु-एषणीयं भुज्जानः आयु-र्वजाः सप्त कर्मप्रकृतीः 'धणिय'बन्धनवद्धाः शिथिल-बन्धनवद्धाः प्रकरोति यावत् चतुरन्तं संसारकान्तारम् व्यतिव्रजति ॥

प्रासु-एषणीय-पद

४३८. भन्ते ! प्रासुक और एषणीय भोजन करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? क्या करता है ? क्या चय करता है ? क्या उपचय करता है ?
 गौतम ! प्रासुक और एषणीय भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़ बन्धनवद्ध प्रकृतियों को शिथिल बन्धनवद्ध करता है, दीर्घकालिक स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्पकालिक स्थिति वाली करता है, तीव्र अनुभाव वाली प्रकृतियों को मन्द अनुभाव वाली करता है, बहुप्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश-परिमाण वाली करता है; आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् करता है और कदाचित् नहीं करता, यह असातवेदनीय कर्म का बहुत-बहुत उपचय नहीं करता और आदि-अन्तहीन दीर्घ पथ वाले चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार का व्यतिक्रमण करता है ।

४३९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—प्रासुक और एषणीय भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़ बन्धनवद्ध प्रकृतियों को शिथिल बन्धनवद्ध करता है यावत् चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार का व्यतिक्रमण करता है ?

गौतम ! प्रासुक और एषणीय भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आत्मा से धर्म का अतिक्रमण नहीं करता, आत्मा से धर्म का अतिक्रमण नहीं करता हुआ वह पृथ्वीकायिक यावत् त्रसकायिक जीवों के प्रति अपेक्षावान् होता है (निरपेक्ष नहीं होता) । वह जिन जीवों के शरीरों का भोजन करता है, उन जीवों के प्रति भी अपेक्षावान् होता है । गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—प्रासुक और एषणीय भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़ बन्धनवद्ध प्रकृतियों को शिथिल-बन्धनवद्ध करता है यावत् चतुर्गत्यात्मक संसार-कान्तार का व्यतिक्रमण करता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४३८, ४३९

प्रासुक, एषणीय—प्रासुक का अर्थ 'जीव-रहित' किया गया है।^१ एषणीय का अर्थ है एषणा के दोष से रहित । डा. लायमान (Leumann) ने प्रासुक का संस्कृत-रूप 'स्पर्शुक' किया है।^२

१. मूलाचार, ४८५—पगदा असओ जम्हा तम्हादो दव्वदात्ति तं दव्वं पासुगमिदि ।

२. Doctrine of the Jainas, p. 271, footnote 3.

सासय-असासय-पदं

४४०. से नूनं भंते ! अधिरे पलोद्दइ, नो थिरे पलोद्दइ ? अधिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ? सासए बालए, बालियत्तं असासयं ? सासए पंडिए, पंडियत्तं असासयं ?

हंता मोयमा ! अधिरे पलोद्दइ, नो थिरे पलोद्दइ । अधिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ । सासए बालए, बालियत्तं असासयं । सासए पंडिए, पंडियत्तं असासयं ॥

शाश्वत-अशाश्वत-पदम्

अथ नूनं भदन्त ! अस्थिरः प्रत्यागच्छति, नो स्थिरः प्रत्यागच्छति ? अस्थिरः भज्यते, नो स्थिरः भज्यते ? शाश्वतः बालकः, बालकत्वम् अशाश्वतम् ? शाश्वतः पण्डितः, पण्डितत्वम् अशाश्वतम् ?

हन्त गौतम ! अस्थिरः प्रत्यागच्छति, नो स्थिरः प्रत्यागच्छति । अस्थिरः भज्यते, नो स्थिरः भज्यते ? शाश्वतः बालकः, बालकत्वम् अशाश्वतम् । शाश्वतः पण्डितः, पण्डितत्वम् अशाश्वतम् ।

शाश्वत-अशाश्वत-पद

४४०. भन्ते ! क्या अस्थिर द्रव्य परिवर्तित होता है, स्थिर द्रव्य परिवर्तित नहीं होता ? क्या अस्थिर द्रव्य भग्न होता है, स्थिर द्रव्य भग्न नहीं होता ? क्या बालक शाश्वत है, बालकत्व अशाश्वत है ? क्या पण्डित शाश्वत है, पण्डितत्व अशाश्वत है ?

हां, गौतम ! अस्थिर द्रव्य परिवर्तित होता है, स्थिर द्रव्य परिवर्तित नहीं होता । अस्थिर द्रव्य भग्न होता है, स्थिर द्रव्य भग्न नहीं होता । बालक शाश्वत है, बालकत्व अशाश्वत है । पण्डित शाश्वत है, पण्डितत्व अशाश्वत है ।

भाष्य

१. सूत्र ४४०

वाचक मुख्य उमास्वाति के अनुसार सत् त्रयात्मक होता है। वे तीन हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। ध्रौव्य स्थिर होता है, उत्पाद और व्यय अस्थिर होते हैं। द्रव्य स्थिर और अस्थिर दोनों का समवाय होता है। प्रस्तुत सूत्र में नित्यानित्यवाद की व्याख्या की गई है। द्रव्य का स्थिर अंश नहीं बदलता, इसीलिए वह नित्य है। उसका अस्थिर अंश बदलता है, इसीलिए वह अनित्य है। स्थिर अंश अभग्न होता है। अस्थिर अंश भग्न होता है। भगवान् महावीर ने एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य दोनों पक्षों को अमान्य किया था। सूत्रकार ने स्थिर और अस्थिर का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। बालत्व और पण्डितत्व ये दोनों पर्याय हैं। इन दोनों अवस्थाओं का आधारभूत द्रव्य जीव है। वह बाल-पर्याय में भी रहता है और पंडित-पर्याय में भी रहता है। बाल-पर्याय का उदय हुआ, पंडित-पर्याय का व्यय हो गया। पंडित-पर्याय का उदय हुआ, बाल-पर्याय

का व्यय हो गया। जीव इन दोनों पर्यायों में स्थिर रहा।

प्रस्तुत सूत्र से सत् या द्रव्य की परिभाषा फलित होती है—स्थिरास्थिरात्मकं सत् अथवा स्थिरास्थिरात्मकं द्रव्यम्। वृत्तिकार ने स्थिर और अस्थिर की व्याख्या द्रव्य और अध्यात्म दो नयों से की है। उनके अनुसार शिला स्थिर होती है और देला अस्थिर होता है। जीव स्थिर होता है और अजीव अस्थिर होता है।^१

शब्द-विमर्श

बाल—व्यवहार नय की दृष्टि से शिशु। आध्यात्मिक दृष्टि से असंयत जीव।

पण्डित—व्यवहार नय की दृष्टि से शास्त्रज्ञ। आध्यात्मिक दृष्टि से संयत जीव।

४४१. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावत् विहरति ।

४४१. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है। इस प्रकार भगवान् गौतम यावत् संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

१. त.सू.५।३०—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत् ।

२. भ.वृ.१।४४०—‘अधिरे’ति अस्यासु द्रव्यं लोथादि ‘प्रलोटयति’ परिवर्तते । अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयचलनेनास्थिरत्वात्

‘प्रलोटयति’ बंधोदयनिर्जरादिपरिणामैः परिवर्तते । ‘स्थिरं’ शिलादि न प्रलोटयति, अध्यात्मचिन्तायां तु स्थिरो जीवः, कर्मक्षयेऽपि तस्यावस्थित्यात्, नासौ ‘प्रलोटयति’ उपयोगलक्षणस्वभावात् परिवर्तते ।

दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

परसमयवक्तव्यता-पदं

परसमयवक्तव्यता-पदम्

परसमयवक्तव्यता-पद

४४२. अण्णउत्थिया णं भन्ते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेत्ति, एवं परुवेत्ति—

एवं खलु चलमाणे अचलिए । उदीरिज्जमाणे अणुदीरिए । वेदिज्जमाणे अवेदिए । पहिज्जमाणे अपहीणे । छिज्जमाणे अच्छिण्णे । भिज्जमाणे अभिण्णे । दज्जमाणे अदइडे । मिज्जमाणे अमए । निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे ।

दो परमाणुपोगला एगयओ न साहण्णंति, कम्हा दो परमाणुपोगला एगयओ न साहण्णंति ?

दोण्हं परमाणुपोगलाणं नत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोगला एगयओ न साहण्णंति ।

तिण्णि परमाणुपोगला एगयओ साहण्णंति,

कम्हा तिण्णि परमाणुपोगला एगयओ साहण्णंति ?

तिण्हं परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोगला एगयओ साहण्णंति ।

ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिहा वि कज्जंति ।

दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवइडे परमाणुपोगले भवइ—एगयओ वि दिवइडे परमाणुपोगले भवइ ।

तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोगला भवंति । एवं चत्तारि ।

पंच परमाणुपोगला एगयओ साहण्णंति, एगयओ साहण्णत्ता दुक्खत्ताए कज्जंति । दुक्खे वि य णं से सासए सया समित्तं उवचिज्जइ य, अवचिज्जइ य ।

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—

एवं खलु चलद् अचलितम्, उदीर्यमाणम् अनुदीरितम्, वेद्यमानम् अवेदितम्, प्रहीयमाणम् अप्रहीणम्, छिद्यमानम् अछिद्यम्, भिद्यमानम् अभिद्यम्, दह्यमानम् अदग्धम्, प्रियमाणम् अमृतम्, निर्जीर्यमाणम् अनिर्जीर्यम् ।

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः न संहन्येते, कस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः न संहन्येते ?

द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः नास्ति स्नेहकायः, तस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः न संहन्येते ।

त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते,

कस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते ?

त्रयणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेहकायः, तस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते ।

ते भिद्यमानाः द्विधा अपि, त्रिधा अपि क्रियन्ते ।

द्विधा क्रियमाणाः एकतः द्व्यर्थः परमाणुपुद्गलः भवति—एकतः अपि द्व्यर्थः परमाणुपुद्गलः भवति ।

त्रिधा क्रियमाणाः त्रयः परमाणुपुद्गलाः भवन्ति । एवं चत्वारः ।

पञ्च परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते, एकतः संहत्य दुःखतया क्रियन्ते । दुःखमपि च तत् शाश्वतं सदा समित्तम् उपचीयते च, अपचीयते च ।

४४२. ^१भन्ते ! अन्ययूथिक ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—

चलमान अचलित, उदीर्यमाण अनुदीरित, वेद्यमान अवेदित, प्रहीयमाण अप्रहीण, छिद्यमान अछिद्य, भिद्यमान अभिद्य, दह्यमान अदग्ध, प्रियमाण अमृत, निर्जीर्यमाण अनिर्जीर्य है ।

दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति नहीं होती, दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण से नहीं होती ?

दो परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय नहीं होता, इसलिए दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति नहीं होती ।

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है,

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण से होती है ?

तीन परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय होता है; इसलिए तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है ।

वे टूटने पर दो या तीन भागों में विभक्त होते हैं ।

दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर डेढ़ परमाणुपुद्गल होता है, दूसरी ओर भी डेढ़ परमाणुपुद्गल होता है ।

तीन भागों में विभक्त होने पर वे तीन परमाणुपुद्गल हो जाते हैं । चार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं ।

पांच परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है—वे एकरूप में संहत होकर दुःख रूप में परिणत होते हैं । वह दुःख भी शाश्वत है और सदा संगठित रूप में उपचित तथा अपचित होता है ।

पुबिं भासा भासा । भासिजमाणी भासा
अभासा । भासासमयवितिक्रंतं च णं
भासिया भासा ।

जा सा पुबिं भासा भासा । भासिजमाणी
भासा अभासा । भासासमयवितिक्रंतं च णं
भासिया भासा । सा किं भासओ भासा ?
अभासओ भासा ?

अभासओ णं सा भासा । नो खलु सा
भासओ भासा ।

पुबिं किरिया दुक्खा । कज्जमाणी किरिया
अदुक्खा । किरियासमयवितिक्रंतं च णं
कडा किरिया दुक्खा ।

जा सा पुबिं किरिया दुक्खा । कज्जमाणी
किरिया अदुक्खा । किरियासमयवितिक्रंतं
च णं कडा किरिया दुक्खा । सा किं
करणओ दुक्खा ? अकरणओ दुक्खा ?

अकरणओ णं सा दुक्खा । नो खलु सा
करणओ दुक्खा—सेवं वत्तवं सिया ।
अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाण-
कडं दुक्खं, अकट्टु-अकट्टु पाण-भूय-
जीव-सत्ता वेदणं वेदेति—इति वत्तवं
सिया ॥

ससमयवत्तव्या-पदं

४४३. से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एव-
माइक्खंति जाव वेदणं वेदेति—इति वत्तवं
सिया ।

जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं
पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, एवं भासेमि,
एवं पण्णवेमि, एवं परूवेमि—एवं खलु
चलमाणे चलिए । उदीरिजमाणे उदीरिए ।
वेदिजमाणे वेदिए । पहिजमाणे पहीणे ।
छिजमाणे छिण्णे । मिजमाणे भिण्णे ।
दज्जमाणे दड्ढे । मिजमाणे मए । निज-
रिजमाणे निजिण्णे ।

दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति,
कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साह-
ण्णंति ?

दोहं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए,
तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साह-
ण्णंति ।

पूर्व भाषा भाषा । भाष्यमाणा भाषा
अभाषा । भाषासमयव्यतिक्रान्ते च भाषिता
भाषा ।

या असौ पूर्व भाषा भाषा । भाष्यमाणा भाषा
अभाषा । भाषासमयव्यतिक्रान्ते च भाषिता
भाषा । सा किं भाषमाणस्य भाषा ? अभा-
षमाणस्य भाषा ?

अभाषमाणस्य सा भाषा । नो खलु सा भाष-
माणस्य भाषा ।

पूर्व क्रिया दुःखा । क्रियमाणा क्रिया अ-
दुःखा । क्रियासमयव्यतिक्रान्ते च कृता क्रिया
दुःखा ।

या असौ पूर्व क्रिया दुःखा । क्रियमाणा क्रिया
अदुःखा । क्रियासमयव्यतिक्रान्ते च कृता
क्रिया दुःखा । सा किं करणतः दुःखा ? अक-
रणतः दुःखा ?

अकरणतः सा दुःखा । नो खलु सा करणतः
दुःखा—अथैवं वक्तव्यं स्यात् । अकृत्यं
दुःखम्, अस्पृश्यं दुःखम्, अक्रियमाणं कृतं
दुःखम्, अकृत्वा-अकृत्वा प्राण-भूत-जीव-
सत्त्वाः वेदनां वेदयन्ति—इति वक्तव्यं
स्यात् ।

स्वसमयवक्तव्यता-पदम्

तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ?

गौतम ! यत् ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति
यावद् वेदनां वेदयन्ति—इति वक्तव्यं स्यात् ।

ये एते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः । अहं
पुनः गौतम ! एवमाख्यामि, एवं भाषे, एवं
प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि—एवं खलु
चलच् चलितम् । उदीर्यमाणम् उदीरितम् ।
वेद्यमानं वेदितम् । प्रहीयमाणं प्रहीणम् ।
छिद्यमानं छिन्नम् । भिद्यमानं भिन्नम् । दह्यमानं
दग्धम् । म्रियमाणं मृतम् । निर्जीर्यमाणं निर्जी-
र्यम् ।

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्त्येते,
कस्मात् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्त्येते ?

द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः अस्ति स्नेहकायः,
तस्मात् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्त्येते ।

बोलने से पहले भाषा भाषा होती है, बोलते समय
भाषा अभाषा होती है और बोलने का समय
व्यतिक्रान्त होने पर बोली गई भाषा भाषा है ।
बोलने से पहले जो भाषा भाषा है, बोलते समय
भाषा अभाषा है और बोलने का समय व्यतिक्रान्त
हो जाने पर बोली गई भाषा भाषा है । क्या वह
जो बोल रहा है, उसके भाषा है ? जो नहीं बोल
रहा है, उसके भाषा है ?

वह जो नहीं बोल रहा है, उसके भाषा है । जो
बोल रहा है, उसके भाषा नहीं है ।

क्रिया करने से पहले क्रिया दुःखकर होती है,
क्रियमाण क्रिया दुःखकर नहीं होती, क्रिया का
समय व्यतिक्रान्त होने पर कृत क्रिया दुःखकर
होती है ।

जो यह क्रिया करने से पहले दुःखकर होती है,
क्रियमाण क्रिया दुःखकर नहीं होती, क्रिया का
समय व्यतिक्रान्त होने पर कृत क्रिया दुःखकर
होती है । क्या वह करने से दुःखकर होती है ?
न करने से दुःखकर होती है ?

न करने से यह दुःखकर होती है । करने से वह
दुःखकर नहीं होती—ऐसा कहा जा सकता है ।
दुःख कृत्य नहीं हैं, दुःख स्पृश्य नहीं है, दुःख
अक्रियमाण कृत है, प्राण, भूत, जीव और सत्व
बिना किए - बिना किए भी वेदना का अनुभव
करते हैं—ऐसा कहा जा सकता है ।

स्वसमयवक्तव्यता-पद

४४३. भन्ते ! यह इस प्रकार कैसे होता है ?

गौतम ! वे अन्ययूथिक जो ऐसा आख्यान करते
हैं यावत् वेदना का अनुभव करते हैं—ऐसा कहा
जा सकता है ।

जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं । गौतम !
मैं इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और
प्ररूपण करता हूँ—चलमान चलित, उदीर्यमाण
उदीरित, वेद्यमान वेदित, प्रहीयमाण प्रहीण, छिद्य-
मान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण
मृत, निर्जीर्यमाण निर्जीण होता है ।

दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है,
दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण
से होती है ?

दो परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय होता है; इसलिए
उन दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है ।

ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति । दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले—एगयओ परमाणुपोग्गले भवति ।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णांति,

कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णांति?

तिण्हं परमाणुपोग्गलानं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णांति ।

ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिहा वि कज्जंति । दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति । तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवति ।

एवं चत्तारि ।

पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णांति । एगयओ साहण्णित्ता खंधत्ताए कज्जंति । खंधे वि य णं से असासए सया समितं उवचिज्जइ य, अवचिज्जइ य ।

पुविं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवित्तिक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा ।

जा सा पुविं भासा अभासा । भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवित्तिक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा । सा किं भासओ भासा ? अभासओ भासा ?

भासओ णं भासा, नो खलु सा अभासओ भासा ।

पुविं किरिया अदुक्खा । कज्जमाणी किरिया दुक्खा । किरियासमयवित्तिक्कंतं च णं कडा किरिया अदुक्खा ।

जा सा पुविं किरिया अदुक्खा । कज्जमाणी किरिया दुक्खा । किरियासमयवित्तिक्कंतं च णं कडा किरिया अदुक्खा । सा किं करणओ दुक्खा ? अकरणओ दुक्खा ?

करणओ णं सा दुक्खा । नो खलु सा अकरणओ दुक्खा—सेवं वत्तव्वं सिया । किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं, कट्टु-कट्टु पाण-भूय-जीव-सत्ता वेदणं वेदेति—इति वत्तव्वं सिया ॥

ते भिद्यमानाः द्विधा क्रियन्ते । द्विधा क्रियमाणाः एकतः परमाणुपुद्गलः—एकतः परमाणुपुद्गलः भवति ।

त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते,

कस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते ?

त्रयाणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेहकायः, तस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते ।

ते भिद्यमानाः द्विधा अपि त्रिधा अपि क्रियन्ते । द्विधा क्रियमाणा एकतः परमाणुपुद्गलः एकतः द्विप्रदेशिकः स्कन्धः भवति । त्रिधा क्रियमाणाः त्रयः परमाणुपुद्गलाः भवन्ति ।

एवं चत्वारः ।

पञ्च परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते । एकतः संहत्य स्कन्धतया क्रियन्ते । स्कन्धोऽपि च स अशाश्वतः सदा समितम् उपचीयते च, अपचीयते च ।

पूर्व भाषा अभाषा, भाष्यमाणा भाषा भाषा, भाषासमयव्यतिक्रान्ते च भाषिता भाषा अभाषा ।

या असी पूर्व भाषा अभाषा । भाष्यमाणा भाषा भाषा, भाषासमयव्यतिक्रान्ते च भाषिता भाषा अभाषा । सा किं भाषनाणस्य भाषा ? अभाषमाणस्य भाषा ?

भाषमाणस्य भाषा, नो खलु सा अभाषमाणस्य भाषा ।

पूर्व क्रिया अदुःखा । क्रियमाणा क्रिया दुःखा । क्रियासमयव्यतिक्रान्ते च कृता क्रिया अदुःखा ।

या असी पूर्व क्रिया अदुःखा । क्रियमाणा क्रिया दुःखा । क्रियासमयव्यतिक्रान्ते च कृता क्रिया अदुःखा । सा किं करणतः दुःखा ? अकरणतः दुःखा ?

करणतः सा दुःखा । नो खलु सा अकरणतः दुःखा—अथैवं वक्तव्यं स्यात् । कृत्यं दुःखं, स्पृश्यं दुःखं, क्रियमाणकृतं दुःखं, कृत्वा-कृत्वा प्राण-भूत-जीव-सत्त्वाः वेदनां वेदयन्ति—इति वक्तव्यं स्यात् ।

वे टूटने पर दो भागों में विभक्त होते हैं । दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर एक परमाणुपुद्गल होता है, दूसरी ओर भी एक परमाणुपुद्गल होता है ।

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है,

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण से होती है ?

तीन परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय होता है, इसलिए उन तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है ।

वे टूटने पर दो या तीन भागों में विभक्त होते हैं । दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर परमाणुपुद्गल होता है, दूसरी ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है । तीन भागों में विभक्त होने पर तीन परमाणुपुद्गल हो जाते हैं ।

चार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं ।

पांच परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है । वे एकरूप में संहत होकर स्कन्ध के रूप में परिणत होते हैं । वह स्कन्ध भी अशाश्वत है और सदा संगठित रूप में उपचित तथा अपचित होता है ।

बोलने से पहले भाषा अभाषा है । बोलते समय भाषा भाषा है । बोलने का समय व्यतिक्रान्त होने पर बोली गई भाषा अभाषा है ।

बोलने से पहले जो भाषा अभाषा है, बोलते समय भाषा भाषा है, बोलने का समय व्यतिक्रान्त होने पर बोली गई भाषा अभाषा है । क्या वह जो बोल रहा है, उसके भाषा है ? जो नहीं बोल रहा है, उसके भाषा है ?

वह जो बोल रहा है, उसके भाषा है; जो नहीं बोल रहा है, उसके भाषा नहीं है ।

क्रिया करने से पहले क्रिया दुःखकर नहीं होती; क्रियमाण क्रिया दुःखकर होती है; क्रिया का समय व्यतिक्रान्त होने पर कृत क्रिया दुःखकर नहीं होती ।

जो यह क्रिया करने से पहले दुःखकर नहीं होती; क्रियमाण क्रिया दुःखकर होती है; क्रिया का समय व्यतिक्रान्त होने पर कृत क्रिया दुःखकर नहीं होती; क्या वह करने से दुःखकर होती है ? न करने से दुःखकर होती है ?

क्रिया करने से दुःखकर होती है । न करने से वह दुःखकर नहीं होती—ऐसा कहा जा सकता है । दुःख कृत्य है, दुःख स्पृश्य है, दुःख क्रियमाण कृत है, प्राण, भूत, जीव और सत्त्व क्रिया कर-करके वेदना का अनुभव करते हैं—ऐसा कहा जा सकता है ।

१. सूत्र ४४२,४४३

प्रस्तुत आलापक में चार वाद पूर्वपक्ष के रूप में उल्लिखित हैं—१. उत्पत्ति-निष्पत्तिवाद २. त्र्यणुकवाद ३. स्फोटवाद ४. अक्रियावाद:

१. उत्पत्ति-निष्पत्तिवाद—क्षणिकवाद में द्रव्य की त्रैकालिकता मान्य नहीं है, इसलिए उसके अनुसार चलमान और चलित—ये दो अवस्थाएं एक साथ नहीं हो सकती। चलमान से अतिरिक्त कोई चलित अवस्था संभव नहीं है। बौद्ध दर्शन सम्मत क्षणिकवाद अथवा तत्सदृश किसी क्षणभंगुरवाद का सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया है।

२. त्र्यणुकवाद—त्र्यणुकवाद वैशेषिक दर्शन के द्रव्योत्पाद की प्रक्रिया का सिद्धान्त है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य का उत्पाद संयोग या संघात से होता है। दो परमाणुओं के संयोग से आरब्ध द्रव्य द्रव्यणुक कहलाता है। चार या पांच द्रव्यणुक द्रव्यों के संयोग से आरब्ध द्रव्य त्र्यणुक कहलाता है। त्र्यणुक को त्रसरेणु और त्रुटि भी कहा जाता है। द्रव्यणुओं से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। परमाणु और द्रव्यणुक दोनों ही अणुत्व-परिमाण वाले होते हैं। सूत्रकार ने पूर्व पक्ष को उद्धृत करते हुए बतलाया है—दो परमाणु-पुद्गलों में स्नेहकाय नहीं होता, इसलिए दो परमाणु-पुद्गलों की एक संहति नहीं होती। संभवतः यह अभिमत प्राचीन वैशेषिक मत का रहा हो। अथवा इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि दो परमाणु-पुद्गलों में अणुत्व-परिमाण की निवृत्ति नहीं होती, सूक्ष्म परिणति बनी रहती है। त्र्यणुक में स्थूल परिणति हो जाती है; इसलिए उससे द्रव्य उत्पन्न हो सकता है।

वैशेषिक दर्शन में सृष्टि-रचना के सिद्धान्त का नाम 'आरम्भवाद' है। उसके अनुसार—दो परमाणुओं के संयोग से एक नया द्रव्यणुक द्रव्य उत्पन्न होता है, जो कारणभूत दो परमाणुओं से भिन्न होने पर भी उनमें व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार तीन द्रव्यणुओं में से एक त्र्यणुक और चार त्र्यणुओं में से एक चतुरणुक—उत्पन्न होता है। इस क्रम से वैशेषिक दर्शन ने पर्वत, नदी, सूर्य आदि स्थूल सृष्टि की रचना की व्यवस्था की।^१

३. स्फोटवाद—बोलने से पूर्व भाषा भाषा है। बोलने के पश्चात् भी भाषा है। बोलते समय भाषा अभाषा है। इस प्रवाद को 'स्फोटवाद' कहा जा सकता है। स्फोटवाद के अनुसार ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि अभिव्यक्त नहीं होती, वैकृत ध्वनि अभिव्यक्त होती है। शब्द के ग्रहण का हेतु प्राकृत ध्वनि है, यही स्फोट है। शब्द के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इस स्थिति-भेद का हेतु वैकृत ध्वनि है।^२

'स्फोट' शब्द एक पद में वर्तमान सभी वर्णों में होता है।

फिर भी वह अन्तिम वर्ण में स्पष्ट होता है। एक पद के प्रत्येक वर्ण

अर्थ-बोधक नहीं हो सकते। वक्ता द्वारा उच्चारण किये गये वर्ण शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनका मिलन सम्भव नहीं होता। अतः उन वर्णों से उत्पन्न स्फोट नामक शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है। प्राकृत शब्द नित्य है। इस अपेक्षा से वह बोलने के पहले भी होता है और बोलने के पश्चात् भी होता है। वैकृत शब्द केवल बोलने के समय ही होता है। अर्थ का बोध प्राकृत शब्द से होता है, वैकृत शब्द से नहीं होता—इस दृष्टिकोण से प्राकृत शब्द को 'भाषा' और वैकृत शब्द को 'अभाषा' माना जा सकता है।

४. अक्रियावाद—अक्रियावाद एकुध कात्यायन का सिद्धान्त है। बौद्ध पिटकों में छह तीर्थकरों का उल्लेख मिलता है। उनमें एक है—एकुध कात्यायन। उनके अनुसार सुख और दुःख अकृत, अनिर्मित, अकूटस्थ और स्तम्भवत् अचल हैं।^३

विस्तृत विवरण के लिए सूत्रग्रंथ १।१।१३-१६ तथा ढाणं ३।३३७ के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

अकिञ्चं दुस्खं अफुसं दुस्खं आदि पद ढाणं (३।३३७) में भी उपलब्ध हैं।

उक्त सिद्धान्त जैन-दर्शन-सम्मत नहीं है। इनके विषय में जैन दर्शन का जो दृष्टिकोण है वह सूत्र में उल्लिखित है। उसके अनुसार उत्पत्ति और निष्पत्ति के क्षण को विभक्त नहीं किया जा सकता। इस विषय की विस्तृत मीमांसा के लिए १।१११,१२ का भाष्य द्रष्टव्य है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य की उत्पत्ति दो परमाणुओं के संयोग से आरब्ध हो जाती है। उसे 'द्विप्रदेशी स्कन्ध' कहा जाता है। तीन परमाणुओं के संयोग से भी द्रव्य (त्रिप्रदेशी स्कन्ध) की उत्पत्ति होती है। इसके भेद से भी द्रव्य की उत्पत्ति होती है। त्रिप्रदेशी स्कन्ध का भेद होने पर एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है। पाँच प्रदेशी स्कन्ध दुःख अथवा कर्म-रूप में परिणत नहीं होता और वह शाश्वत भी नहीं होता।

भाषा वर्णना के पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त रहते हैं। बोलने वाला उन पुद्गल-वर्णनाओं को पहले ग्रहण करता है, फिर भाषा रूप में परिणत करता है। उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है। यह विसर्जन-काल ही वर्तमान काल है और विसर्जन-काल में ही भाषा का निर्देश किया जाता है। उसी से अर्थ का प्रत्यय या बोध होता है।

दुःख अकृत नहीं होता। वह शाश्वत नहीं है; इसलिए अकृत भी नहीं है।

अभयदेवसूरि ने भी इस विषय की पूरी चर्चा की है।^४

१. पं. सुखलाल संघवी, भारतीय तत्त्वविद्या, पृ. ५६।

२. वाक्यपदीय, पृ. १४२—इह द्विविधो ध्वनिः प्राकृतो वैकृतश्च। तत्र प्राकृतो नाम येन यिना स्फोटरूपमभिव्यक्तं न परिच्छिद्यते। वैकृतस्तु येनाभिव्यक्तं स्फोटरूपं पुनः पुनरविच्छेदेन प्रचिततरं कालमुपलभ्यते। एवं हि संग्रहकारः पठति—

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।

स्थितिभेदे निमित्तात्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥

३. दीर्घनिकाय, १।२, पृ. २१।

४. भ. वृ. १।४४२, ४४३।

इरियावहिया-संपराइया-पदं

४४४. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेत्ति, एवं परूवेत्ति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समेणं दो किरियाओ पकरोति, तं जहा—इरियावहियं च, संपराइयं च ।
जं समयं इरियावहियं पकरोइ, तं समयं संपराइयं पकरोइ ।
जं समयं संपराइयं पकरोइ, तं समयं इरियावहियं पकरोइ ।
इरियावहियाए पकरणयाए संपराइयं पकरोइ ।
संपराइयाए पकरणयाए इरियावहियं पकरोइ ।
एवं खलु एगे जीवे एगेणं समेणं दो किरियाओ पकरोति, तं जहा— इरियावहियं च, संपराइयं च ॥

४४५. से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेत्ति, एवं परूवेत्ति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समेणं दो किरियाओ पकरोति जाव इरियावहियं च, संपराइयं च ।
जे ते एवमाहंसु ! मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, एवं भासेमि, एवं पण्णवेमि, एवं परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समेणं एकं किरियं पकरोइ, तं जहा—इरियावहियं वा, संपराइयं वा ।
जं समयं इरियावहियं पकरोइ, नो तं समयं संपराइयं पकरोइ ।
जं समयं संपराइयं पकरोइ, नो तं समयं इरियावहियं पकरोइ ।
इरियावहियाए पकरणयाए णो संपराइयं पकरोइ ।
संपराइयाए पकरणयाए नो इरियावहियं पकरोइ ।
एवं खलु एगे जीवे एगेणं समेणं एणं किरियं पकरोइ, तं जहा—इरियावहियं वा, संपराइयं वा ॥

ऐर्यापथिकी-साम्परायिकी-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे क्रिये प्रकरोति, तद् यथा—ऐर्यापथिकीं च साम्परायिकीं च ।
यस्मिन् समये ऐर्यापथिकीं प्रकरोति, तस्मिन् समये साम्परायिकीं प्रकरोति ।
यस्मिन् समये साम्परायिकीं प्रकरोति, तस्मिन् समये ऐर्यापथिकीं प्रकरोति ।
ऐर्यापथिक्याः प्रकरणेन साम्परायिकीं प्रकरोति ।
साम्परायिक्याः प्रकरणेन ऐर्यापथिकीं प्रकरोति ।
एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे क्रिये प्रकरोति, तद् यथा—ऐर्यापथिकीं च, साम्परायिकीं च ।

तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ?

गौतम ! यत् ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये द्वे क्रिये प्रकरोति यावद् ऐर्यापथिकीं च, साम्परायिकीं च ।
ये एते एवमाहुः । मिथ्या ते एवमाहुः । अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि, एवं भाषे, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि—एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये एकां क्रियां प्रकरोति, तद् यथा—ऐर्यापथिकीं वा, साम्परायिकीं वा ।
यस्मिन् समये ऐर्यापथिकीं प्रकरोति, नो तस्मिन् समये साम्परायिकीं प्रकरोति ।
यस्मिन् समये साम्परायिकीं प्रकरोति, नो तस्मिन् समये ऐर्यापथिकीं प्रकरोति ।
ऐर्यापथिक्याः प्रकरणेन नो साम्परायिकीं प्रकरोति ।
साम्परायिक्याः प्रकरणेन नो ऐर्यापथिकीं प्रकरोति ।
एवं खलु एकः जीवः एकस्मिन् समये एकां क्रियां प्रकरोति, तद् यथा—ऐर्यापथिकीं वा, साम्परायिकीं वा ।

ऐर्यापथिकी-साम्परायिकी-पद

४४४. भन्ते ! अन्ययूथिक एसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है, जैसे—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी ।
जिस समय ऐर्यापथिकी करता है, उसी समय साम्परायिकी करता है ।
जिस समय साम्परायिकी करता है, उसी समय ऐर्यापथिकी करता है ।
ऐर्यापथिकी करने से साम्परायिकी करता है ।

साम्परायिकी करने से ऐर्यापथिकी करता है ।

इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है, जैसे—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी ।

४४५. भन्ते ! यह इस प्रकार कैसे होता है ?

गौतम ! वे अन्ययूथिक जो इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है यावत् ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी ।

जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं । गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता हूँ—एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है, जैसे—ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी ।

जिस समय ऐर्यापथिकी करता है, उस समय साम्परायिकी नहीं करता ।

जिस समय साम्परायिकी करता है, उस समय ऐर्यापथिकी नहीं करता ।

ऐर्यापथिकी करने से साम्परायिकी नहीं करता ।

साम्परायिकी करने से ऐर्यापथिकी नहीं करता ।

इस प्रकार एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है, जैसे—ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी ।

भाष्य

१. सूत्र ४४४, ४४५

प्रस्तुत आलापक में कर्मबंध के हेतु की मीमांसा है। केवल काययोग के प्रत्यय (परिणामी कारण) से होने वाले कर्मबंध का नाम है—ऐर्यापथिकी क्रिया और कषाय के प्रत्यय से होने वाले कर्मबन्ध का नाम है—साम्प्रायिकी क्रिया।^१ अवीतराग प्राणी के साम्प्रायिकी क्रिया होती है और वीतराग के ऐर्यापथिकी क्रिया। एक अकषायोदय से प्रभव है और दूसरी कषायोदय से प्रभव है; इसलिए इन दोनों

का एक साथ होना संभव नहीं है। यह भगवान् महावीर का दर्शन है। कुछ दार्शनिक दोनों क्रियाओं का एक साथ होना मानते थे। सूत्र में उनका नाम-निर्देश नहीं है। किंतु प्रकरण की दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि यह किसी श्रमण-सम्प्रदाय का अभिमत है। बौद्ध साहित्य में ईर्यापथ शब्द का प्रयोग मिलता है। आजीवक-सम्प्रदाय में इस अभिमत की सम्भावना की जा सकती है।

उपपात-पदं

उपपात-पदम्

उपपात-पद

४४६. निरयगई णं भंते ! केवत्तियं कालं
विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ?
गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं
बारस मुहुत्ता ॥

निरयगतिः भदन्त ! कियन्तं कालं विरहिता
उपपातेन प्रज्ञप्ता ?
गीतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण
द्वादश मुहूर्तान् ।

४४६. भन्ते ! नरक गति कितने समय तक उपपात
से विरहित प्रज्ञप्त है ?
गीतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः बारह
मुहूर्त ।

४४७. एवं वक्कंतीपयं भाणियब्बं निरवसेसं ॥

एवम् अवक्रान्तिपदं भणितव्यं निरवशेषम् ।

४४७. इस प्रकार अवक्रान्ति-पद (पण्णवणा, ६)
अविकल रूप से वक्तव्य है ।

४४८. सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावद्
विहरति ।

४४८. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही
है । इस प्रकार भगवान् गीतम यावत् संयम और
तप से अपने आप को भावित करते हुए विहरण
कर रहे हैं ।

१. भ.वृ. १।४४४—'इरियावहिय'ति ईर्या—गमनं तद्विषयः पन्थाः—मार्ग ईर्या-
पथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । 'संप-

राइयं च'ति संपरैति—परिभ्रमति प्राणी भवे एभिरिति संपरायाः—कषाया-
स्तत् प्रत्यया या सा साम्प्रायिकी, कषायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः ।

बीअं सतं

द्वितीय शतक

आमुख

प्रस्तुत शतक तत्त्वविद्या की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। जैन दर्शन को दो काल-खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—आगमयुग का दर्शन और आगमोत्तरयुग का दर्शन। आगमोत्तर युग के दर्शन में 'द्रव्य' शब्द बहुत प्रचलित हुआ है। आगम-युग में द्रव्य के लिए 'अस्तिकाय' का प्रयोग मिलता है। 'द्रव्य' शब्द मुख्यतः वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत रहा है। 'अस्तिकाय' अस्तित्व का वाचक एक महत्वपूर्ण शब्द है इसका प्रयोग किसी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं है। प्रस्तुत शतक में अस्तिकाय का निरूपण हुआ है। महावीर के निरूपण की चार मुख्य दृष्टियाँ रही हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन दृष्टियों के आधार पर कहा जा सकता है कि सापेक्षता के बिना किसी भी अस्तित्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अस्तिकाय अचेतन और चेतन इन दो भागों में विभक्त है। जीव चेतन है, शेष चार—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—अचेतन हैं। इनमें पुद्गलास्तिकाय—मूर्त है, शेष चार अमूर्त हैं। यह मूर्त-अमूर्त का विभाग भी जैन दर्शन में बहुत प्राचीन काल से मान्य है।¹

आकाश का लोकाकाश और अलोकाकाश—इन दो भागों में विभाजन जैन दर्शन की मौलिक स्थापना है।² इस स्थापना का अध्ययन महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन की आकाशविषयक अवधारणा से किया जा सकता है।³

आकाश की भाँति काल के भी दो प्रकार मिलते हैं—नैश्चयिक काल और व्यावहारिक काल। नैश्चयिक काल का संबंध प्रत्येक अस्तित्व के साथ है। व्यावहारिक काल का संबंध सूर्य की गति के साथ है। सूर्य केवल मनुष्य-लोक में ही गतिशील है। जहाँ सूर्य की गति होती है, वह क्षेत्र समय-क्षेत्र कहलाता है।⁴

जीव अमूर्त है, उसे इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता। फिर भी वह अपने जीवत्व को उपदर्शित करता है। इस उपदर्शन के दो पथ हैं—१. शक्ति का प्रयोग २. ज्ञान का प्रयोग।⁵ शक्ति का प्रयोग पुद्गल में भी होता है, किन्तु उसमें ज्ञान नहीं होता। जीव और अजीव के बीच भेदरेखा खींचने का सूत्र शक्ति और गति नहीं है, केवल ज्ञान ही है।

जीवविज्ञान आगम-युग के दर्शन का मुख्य विषय रहा है। इसकी पुष्टि के अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं। आगम-साहित्य में आहार और श्वास से लेकर चेतना के चरम विकास तक का गहन अध्ययन मिलता है। श्वास-विषयक महावीर और गौतम का संवाद बहुत रोचक है:

गौतम ने पूछा—भंते ! दो, तीन, चार इन्द्रियवाले जीव श्वास लेते हैं, हम जानते-देखते हैं। क्या एक इन्द्रिय वाले जीव—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय—भी श्वास लेते हैं ?

महावीर—हां, वे भी उच्छ्वास-निःश्वास, आन और अपान करते हैं।⁶ पेड़-पौधे श्वास लेते हैं—यह सूक्ष्म यन्त्र वाले वैज्ञानिक युग में कहना आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु ढाई हजार वर्ष पहले ऐसा कहना सचमुच आश्चर्य है। यांत्रिक उपकरणों द्वारा जो नहीं जाना जा सकता, वह निरावरण चेतना से जाना जा सकता है, इस स्थापना में कोई कठिनाई नहीं है। कुछ प्राचीन ग्रन्थों में पेड़-पौधों की सजीव बतलाया गया है, किन्तु वे श्वास लेते हैं, किस द्रव्य का श्वास लेते हैं, कितनी दिशाओं से श्वास लेते हैं आदि-आदि विषय कहीं उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत शतक में इन विषयों की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

प्रस्तुत शतक में जीव के छह निरुक्त मिलते हैं।⁷

आगम-युग में सांप्रदायिक अभिनिवेश प्रबल नहीं था। उस समय विभिन्न मतवादों और तीर्थों के परिव्राजक और संन्यासी दूसरे सम्प्रदाय के आचार्यों के पास मुक्त भाव से जाते, तत्त्वचर्चा करते और प्रश्न का समाधान पाते। इस सन्दर्भ में परिव्राजक स्कन्दक भगवान महावीर के पास आए, लोक के विषय में अनेक प्रश्न पूछे। भगवान महावीर ने उनका समाधान दिया। मताग्रह प्रबल नहीं था, दृष्टिकोण

१. सूत्र १२४-१३५।

२. सूत्र १३८-१४०।

३. The Universe and Dr. Einstein by Lincoln Barnett, pp. 72, 96.

४. सूत्र १२२, १२३।

५. सूत्र १३६, १३७।

६. सूत्र २-८।

७. सूत्र १३-१५।

बदला और वे महावीर के शिष्य बन गए।^१

भगवान महावीर के समय भगवान पार्श्व की परम्परा भी विद्यमान थी। इस विषय में पार्श्वपत्तीय स्थविर और तुंगिया नगरी के श्रावकों के बीच का संवाद उल्लेखनीय है। श्रावकों ने प्रश्न पूछे और स्थविरों ने उनका समाधान दिया। उसकी चर्चा अनेक नगरों में फैल गई। गौतम स्वामी ने राजगृह में उस चर्चा को सुना और भगवान से पूछा—पार्श्वपत्तीय स्थविरों ने जो उत्तर दिए, क्या वे सही हैं? क्या वे स्थविर उत्तर देने में समर्थ हैं? स्थविरों द्वारा दिए गए उत्तरों का भगवान ने समर्थन किया।^२ सत्य की संवादिता का यह एक महत्वपूर्ण आलेख है।

प्रस्तुत शतक में दार्शनिक, आचारशास्त्रीय, लोकविद्या, ऐतिहासिक आदि अनेक विषय उल्लिखित हैं। इनके गम्भीर अध्ययन से विद्या की अनेक महनीय शाखाओं का उद्घाटन हो सकता है।

१. सूत्र २०-७३।

२. सूत्र ६२-१११।



बीअं सयं : दूसरा शतक

पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
संग्रहणी गाथा	संग्रहणी गाथा	संग्रहणी गाथा
१.ऊसास खंदए वि य, २.समुग्घाय ३,४.पुढविंदिय ५.अण्णउत्थि ६.भासा य। ७.देवा य ८.चमरचंवा, ९,१०.समयक्खित्तिकाय बीपसए ॥ १॥	उच्छ्वासः स्कन्दकोऽपि च, समुद्घातः पृथिवीन्द्रियी अन्ययूथिकः भाषा च । देवाश्च चमरचञ्चा, समयक्षेत्रास्तिकायौ द्वितीयशते ॥	दूसरे शतक में दस उद्देशक हैं—१.उच्छ्वास- निःश्वास और स्कन्दक २.समुद्घात ३.पृथ्वी ४.इन्द्रियां ५.अन्ययूथिक ६.भाषा ७.देव ८.चमरचञ्चा ९.समयक्षेत्र १०.अस्तिकाय ।
उत्क्षेप-पदं	उत्क्षेप-पदम्	उत्क्षेप-पद
१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था—वण्णओ। सामी समोसदे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। पडिगया परिसा ॥	तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहः नाम नगरमासीत्—वर्णकः। स्वामी समवसुतः। परिषद् निर्गता। धर्मः कथितः। प्रतिगता परिषद्।	१. उस काल और उस समय राजगृह नामक नगर था—नगर-वर्णन। वहां भगवान् महावीर आए। परिषद् ने नगर से निगमन किया। भगवान् ने धर्म कहा। परिषद् चापिस नगर में चली गई।
सासुस्सास-पदं	श्वासोच्छ्वास-पदम्	श्वासोच्छ्वास-पद
२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी जाव पञ्जुवासमाणे एवं वदासी—	तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य ज्येष्ठः अन्तेवासी यावत् पर्यु- पासीनः एवमवादीत्—	२. ^१ उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति अनगार यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—
जे इमे भंते ! वेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया जीवा, एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो।	ये इमे भदन्त ! द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतु- रिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः जीवाः, एतेषाम् आनं (आनायामं) वा अपानम् (अपानायामं) वा उच्छ्वासं वा निःश्वासं वा जानीमः पश्यामः।	भन्ते ! ये जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, इनके आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास को हम जानते हैं, देखते हैं।
जे इमे पुढविकाइया जाव वण्णफइ- काइया—एगिंदिया जीवा, एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा न याणामो न पासामो।	ये इमे पृथिवीकायिकाः यावद् वनस्पति- कायिकाः एकेन्द्रियाः जीवाः एतेषाम् आनं (आनायामं) वा अपानम् (अपानायामं) वा उच्छ्वासं वा निःश्वासं वा न जानीमः न पश्यामः।	ये जो पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं, इनके आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास को हम न जानते हैं और न देखते हैं।
एए णं भंते ! जीवा आणमंति वा ? पाण- मंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ? हंता गोयमा ! एए वि णं जीवा आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा ॥	एते भदन्त ! जीवाः आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ? हंत गौतम ! एतेऽपि जीवाः आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा।	भन्ते ! क्या ये जीव आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ? हां, गौतम ! ये जीव भी आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं।

३. किष्णं भंते ! एते जीवा आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?

गोयमा ! दव्यओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेतओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अण्णयरठितियाइं, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा ॥

४. जाइं भावओ वण्णमंताइं आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा ताइं किं एगवण्णाइं जाव किं पंचवण्णाइं आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?

गोयमा ! ठाणमगणं पडुच्च एगवण्णाइं पि जाव पंचवण्णाइं पि आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा । विहाण-मगणं पडुच्च कालवण्णाइं पि जाव सुक्खिला-इं पि आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊस-संति वा, नीससंति वा । आहारगमो नेयव्यो जाव—

५. एए णं भंते ! जीवा कइदिसं आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?

गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिंसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं ॥

६. किष्णं भंते ! नेरइया आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?

तं चेव जाव नियमा छद्दिसिं आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा ॥

७. जीव-एगिंदिया वाघाय-निव्वाघाया च भाणियव्वा । सेसा नियमा छद्दिसिं ॥

किं भदन्त ! एते जीवाः आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ?

गीतम ! द्रव्यतः अनन्तप्रदेशिकानि द्रव्याणि, क्षेत्रतः असंख्येयप्रदेशावगाढानि, कालतः अन्यतरस्थितिकानि, भावतः वर्णवन्ति गन्ध-वन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा ।

यानि भावतः वर्णवन्ति आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा तानि किम् एकवर्णानि यावत् किं पञ्चवर्णानि आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ?

गीतम ! स्थानमार्गणां प्रतीत्य एकवर्णान्यपि यावत् पञ्चवर्णान्यपि आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा । विधानमार्गणां प्रतीत्य कालवर्णानि यावत् शुक्लान्यपि आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा । आहारगमो नेतव्यो यावत्—

एते भदन्त ! जीवाः कति दिशः आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ?

गीतम ! निव्वाघातेन षड्दिशः, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशः स्यात् चतुर्दिशः स्यात् पञ्चदिशः ।

किं भदन्त ! नैरयिकाः आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ?

तच्चैव यावन् नियमात् षड्दिशः आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा ।

जीव-एकेन्द्रियाः व्याघात-निव्वाघाताः च भणितव्याः । शेषाः नियमात् षड्दिशः ।

३. भन्ते ! ये जीव किसका आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ?

गीतम ! ये जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तप्रदेशी, क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्येयप्रदेशावगाढ, काल की अपेक्षा से किसी भी स्थिति वाले और भाव की अपेक्षा से वर्ण-गन्ध-रस-तथा स्पर्श-युक्त पुद्गल-द्रव्यों का आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ।

४. वे भाव की अपेक्षा से जिन वर्णयुक्त पुद्गल-द्रव्यों का आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं, क्या उन एक वर्ण यावत् पांच वर्णयुक्त पुद्गल-द्रव्यों का आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ?

गीतम ! स्थानमार्गणा की अपेक्षा से वे एक वर्ण यावत् पांच वर्णयुक्त पुद्गल-द्रव्यों का आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं । विधानमार्गणा की अपेक्षा से वे कृष्ण वर्ण यावत् शुक्ल वर्ण-युक्त पुद्गल द्रव्यों का आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं । यहां आहार का गमक (पण्णवणा, २८ । ७-९८) वक्तव्य है यावत्—

५. भन्ते ! ये जीव कितनी दिशाओं में आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ?

गीतम ! व्याघात न हो तो छहों दिशाओं में और व्याघात की अपेक्षा से कदाचित् तीन दिशाओं, कदाचित् चार दिशाओं और कदाचित् पांच दिशाओं में आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ।

६. भन्ते ! नैरयिक जीव किसका आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ?

यह एकेन्द्रिय जीवों की भांति (सू. ३, ४) वक्तव्य है, यावत् नैरयिक नियमतः छहों दिशाओं में आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ।

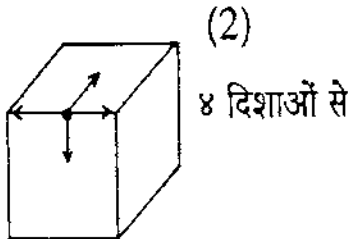
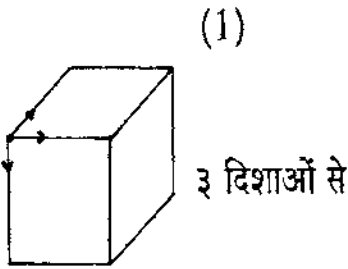
७. सामान्य जीव और एकेन्द्रिय जीवों के व्याघात और निव्वाघात का विकल्प वक्तव्य है । शेष सब जीव नियमतः छहों दिशाओं में आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ।

१. सूत्र २-७

जैन दर्शन में इन्द्रिय के आधार पर जीवों का वर्गीकरण किया गया है। उनमें एकेन्द्रिय जीव अव्यक्त हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव उनकी अपेक्षा व्यक्त हैं; एकेन्द्रिय जीव के पांच प्रकार हैं—पृथ्वीकायिक अपृकायिक, तेजस्कायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।

जीवन का मुख्य लक्षण है श्वास। जो श्वास लेता है, उसमें जीवन है और जो श्वास नहीं लेता है, उसमें जीवन नहीं है—यह एक पहचान बनी हुई है। तब यह प्रश्न उठा—यदि एकेन्द्रिय जीव हैं तो उनमें श्वास होना चाहिए। एकेन्द्रिय जीव श्वास लेते हैं—वह विषय ज्ञात नहीं है। क्या वे सद्यमुच श्वास लेते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—एकेन्द्रिय जीव भी श्वास लेते हैं। वनस्पति का जीवत्व प्राचीन साहित्य में भी यत्र-तत्र चर्चित है, किन्तु पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु का जीवत्व कहीं भी सम्मत नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से भी वनस्पति का जीवत्व प्रमाणित है। पृथ्वी आदि के जीवत्व के विषय में वह मौन है। वनस्पति के जीव श्वास लेते हैं—इसकी स्वीकृति वैज्ञानिक जगत् में भी है। शेष पृथ्वी आदि का जीवत्व भी सम्मत नहीं है, फिर श्वास लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवान् महावीर ने एकेन्द्रिय जीवों द्वारा श्वास लेने के सिद्धान्त की स्थापना ही नहीं की है, किन्तु उसका पूरा विवरण दिया है। श्वास के पुद्गलों की एक स्वतन्त्र वर्गणा है। उसके पुद्गल ही श्वास के काम में आते हैं। उनका स्वरूप सूत्रकार ने निरूपित किया है।



१. घन के एक कोण पर होने से नीची, पूर्व और उत्तर दिशाओं में।

२. घनकी ऊपर की भुजा के बीच में होने पर नीची, पूर्व पश्चिम और उत्तर दिशाओं में।

शब्द-विमर्श

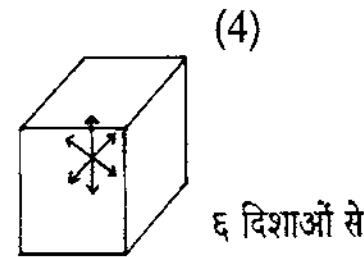
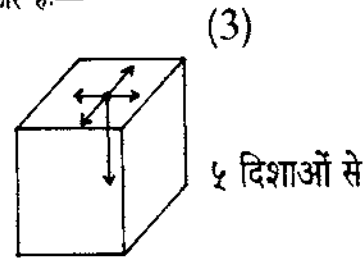
आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास—द्रष्टव्य भ. १।१४ का भाष्य।

द्रव्यतः क्षेत्रतः, कालतः भावतः—वस्तु को जानने के लिए अनेक अपेक्षाएं हो सकती हैं। अपेक्षा-चतुष्टयी (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) उनका न्यूनतम वर्गीकरण है। इनको जाने बिना वस्तु-स्वरूप का सम्यग् बोध नहीं होता। क्षेत्र (space) और काल (time)—इन दो आयामों के बिना वस्तु की व्याख्या नहीं हो सकती—यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। भगवान् महावीर के अनुसार क्षेत्र और काल की भांति द्रव्य (substance) और भाव (mode) भी वस्तु की व्याख्या के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। प्रस्तुत आगम में इस अपेक्षा-चतुष्टयी का बार-बार उपयोग किया गया है।

स्थान-मार्गणा—स्थान का अर्थ है—जाति और मार्गणा का अर्थ है—गवेषणा या जिज्ञासा।

विधान-मार्गणा—विधान का अर्थ है प्रकार।^१

व्याघात और निर्व्याघात—त्रस जीव त्रसनाड़ी के अन्तर्गत होते हैं; इसलिए वे छहों दिशाओं में श्वासोच्छ्वास लेते हैं।^२ एकेन्द्रिय जीव लोकान्त के कोणों में भी होते हैं; इसलिए वे तीन, चार अथवा पांच दिशाओं में भी श्वास लेते हैं। यह शेष दिशाओं का व्याघात कोण के कारण होता है।^३ व्याघात और निर्व्याघात-दिशा की स्थापना इस प्रकार है:—



३. घन के ऊपर के तल के मध्य में होने पर नीची, पूर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में।

४. घन के बीच में कहीं भी होने पर छहों दिशाओं में।

१. त.रा.वा.१।७—विधानं प्रकारः।

३. भ.वृ.२।७।

२. भ.वृ.२।७—शेषा नारकादित्रसाः षड्दिशमानमन्ति, तेषां हि त्रसनाड्यन्त-भूतत्वात् षड्दिशमुच्छ्वासादिपुद्गलग्रहोऽस्त्येवेति।

८. वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति वा ?
हंता गोयमा ! वाउयाए णं वाउयाए चेव आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा ॥

वायुकायः भवन्त ! वायुकायान् चैव आनन्ति वा ? अपानन्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा ? निःश्वसन्ति वा ?
हन्त गीतम ! वायुकायः वायुकायांश्चैव आनन्ति वा, अपानन्ति वा, उच्छ्वसन्ति वा, निःश्वसन्ति वा ।

८. 'भंते ! वायुकायिक जीव क्या वायुकाय का ही आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ?
हां, गीतम ! वायुकायिक जीव वायुकाय का ही आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ८

सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है—वे जो श्वास लेते हैं, वह वायुकाय है। क्या वायुकाय भी वायुकाय का श्वास लेता है ? यदि वह वायुकाय का श्वास लेता है तो अनवस्था नामक तर्क-दोष आ जाएगा। एक वायुकाय का जीव दूसरे वायुकाय का श्वास लेगा, दूसरा तीसरे का, इस शृंखला में अन्तिम वायुकाय का जीव किस का श्वास लेगा ? इस प्रकार श्वास लेने की व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी।

भगवान् ने गीतम के प्रश्न के उत्तर में बतलाया—वायुकाय वायुकाय का श्वास लेता है।

सूत्र की भाषा से जो प्रश्न उपजा है वह भाषा के स्पष्टीकरण से अपने आप समाहित हो जाता है।

'वायुकाय' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—

वाउकायस्स कायट्ठिइ-पदं

६. वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुजो-भुजो पच्चायाति ?
हंता गोयमा ! वाउयाए णं वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुजो-भुजो पच्चायाति ॥

वायुकायस्स कायस्थिति-पदम्

वायुकायः भवन्त ! वायुकाये चैव अनेक-शतसहस्रकृत्वः अवद्राय-अवद्राय तत्रैव भूयो-भूयः प्रत्यायाति ?
हन्त गीतम ! वायुकायः वायुकाये चैव अनेकशतसहस्रकृत्वः अवद्राय-अवद्राय तत्रैव भूयो-भूयः प्रत्यायाति ।

वायुकाय की कायस्थिति-पद

६. 'भंते ! क्या वायुकायिक जीव वायुकाय में ही अनेक लाख बार मर-मर कर वहीं पुनः-पुनः उत्पन्न होता है ?
हां, गीतम ! वायुकायिक जीव वायुकाय में ही अनेक लाख बार मर-मर कर वहीं पुनः-पुनः उत्पन्न होता है ।

भाष्य

१. सूत्र ६

प्रस्तुत प्रकरण में वायुकाय की कायस्थिति निरूपित है। वायुकाय की भवस्थिति (एक जन्म की कालावधि) जघन्यतः अन्त-मुहूर्त्त और उत्कर्षतः तीन हजार वर्ष की है।^१ उसकी कायस्थिति

(उसी काय में निरन्तर जन्म लेने की कालावधि) जघन्यतः अन्तमुहूर्त्त और उत्कर्षतः असंख्येय काल—असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-परिमाण है।^१

१. भ.वृ.२।७,८—अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावादुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायिकानामप्युच्छ्वासादिना वायुनैव भवितव्यमुतान्येन केनापि पृथिव्यादीनामिव तद्विलक्षणैः ? इत्याशङ्क्यां प्रश्नयन्नाह—'वाउयाए' णमित्यादि, अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वासवायुना भाव्यं तस्याप्यन्येनैवमनवस्था । नैवमचेतनत्वात्तस्य, किं च योऽयमुच्छ्वासवायुः स वायुत्वेपि न वायु-

संभाव्यैदारिकवैक्रियशरीररूपः तदीयपुद्गलानामानप्राणसञ्ज्ञितानामौदारिक-वैक्रियशरीरपुद्गलेभ्योऽनन्तगुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतदैतच्छरीरव्यपदेश्यत्वात्, तथा च प्रत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नानवस्था ।

२. पण्ण.४।७६।

३. बही,१८।२६।

१०. से भंते ! किं पुट्टे उद्दाति ? अपुट्टे उद्दाति?
गोयमा ! पुट्टे उद्दाति, नो अपुट्टे उद्दाति ॥

स भदन्त ! किं स्पृष्टः अवद्राति ? अस्पृष्टः अवद्राति ?
गौतम ! स्पृष्टः अवद्राति, नो अस्पृष्टः अवद्राति ।

१०. भन्ते ! क्या वायुकायिक जीव स्पृष्ट होकर मरता है ? अथवा अस्पृष्ट रहकर मरता है ?
गौतम ! वह स्पृष्ट होकर मरता है, अस्पृष्ट रहकर नहीं मरता ।

भाष्य

१. सूत्र १०

आयुष्य दो प्रकार का होता है—सोपक्रम आयु और निरुपक्रम आयु।^१ तत्त्वार्थराजवार्तिक में सोपक्रम और निरुपक्रम के स्थान पर अपवर्त्य और अनपवर्त्य का निर्देश मिलता है। अपवर्त्य का अर्थ है—हास।^२

वृत्तिकार के अनुसार यह सूत्र सोपक्रम आयु की अपेक्षा से

है।^३ निरुपक्रम आयु वाले वायुकायिक जीव शस्त्र से अस्पृष्ट होकर मरते हैं। किन्तु सोपक्रम आयु वाले जीव शस्त्र से स्पृष्ट होकर मरते हैं।

वृत्ति में स्वकाय-शस्त्र और परकाय-शस्त्र दोनों का उल्लेख किया गया है।^४

११. से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ ? असरीरी निक्खमइ ?
गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ॥

स भदन्त ! किं सशरीरी निष्क्रामति ? अशरीरी निष्क्रामति ?
गौतम ! स्यात् सशरीरी निष्क्रामति, स्याद् अशरीरी निष्क्रामति ।

११. भन्ते ! क्या वायुकायिक जीव सशरीर निष्क्रमण करता है ? अथवा अशरीर निष्क्रमण करता है ?
गौतम ! वह स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है ।

१२. से केण्ड्रेणं भंते ! एवं बुच्चइ—सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ?
गोयमा ! वाउयायस्स णं चत्तारि सरीरया पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए, वेउब्बिए, तेयए, कम्मए। ओरालिय-वेउब्बियाइं विप्पजहाय तेयय-कम्मएहिं निक्खमइ। से तेण्ड्रेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी निष्क्रामति, स्याद् अशरीरी निष्क्रामति ?
गौतम ! वायुकायस्य चत्वारि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—औदारिकं, वैक्रियं, तैजसं, कर्मकम्। औदारिक-वैक्रिये विप्रहाय तैजस-कर्मकाभ्यां निष्क्रामति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी निष्क्रामति, स्याद् अशरीरी निष्क्रामति ।

१२. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वायुकायिक जीव स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है ?
गौतम ! वायुकायिक जीव के चार शरीर प्रज्ञप्त हैं, जैसे—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कर्मण। वह औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोड़कर तैजस और कर्मण शरीर के साथ निष्क्रमण करता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—वह स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है ।

भाष्य

१. सूत्र ११, १२

प्रस्तुत आलापक में शरीर-युक्त और शरीर-मुक्त अवस्थाओं की चर्चा है। संसारी दशा में जीव शरीरमुक्त कभी नहीं होता। औदारिक और वैक्रिय—ये दोनों जीवन-पर्यन्त विद्यमान रहने वाले शरीर हैं। मृत्यु के क्षण में ये छूट जाते हैं। जीव नये जन्म-स्थान के लिए

प्रस्थान करता है, उस समय अन्तराल-गति में दो शरीर जीव के साथ रहते हैं—तैजस और कर्मण। औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से वायुकाय का अशरीर निष्क्रमण होता है। तैजस और कर्मण शरीर की अपेक्षा से उसका सशरीर निष्क्रमण होता है।

१. (क) भ. २०।८६।

(ख) पण्ण. ६।११४-११७।

२. त.रा.वा.२।१३—बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्यसोऽपवर्तः। बाह्यस्योपघात-निमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति सन्निधाने हासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्य-

मायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

३. भ.वृ.२।१०—सोपक्रमापेक्षनिदम्।

४. वही, २।१०—स्पृष्टः स्वकायशस्त्रेण परकायशस्त्रेण वा।

मडाइ-नियंठ-पदं

१३. मडाई णं भंते ! नियंठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवंचे, नो प्रहीणसंसारे, नो प्रहीणसंसारवेयणिजे, नो वोच्छिण्णसंसारे, नो वोच्छिण्णसंसारवेयणिजे, नो निद्रियदे, नो निद्रियद्वकरणिजे पुणरवि इत्थत्थं हव्यमागच्छइ ?

हंता गोयमा ! मडाई णं नियंठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवंचे, नो प्रहीणसंसारे, नो प्रहीणसंसारवेयणिजे, नो वोच्छिण्णसंसारे, नो वोच्छिण्णसंसारवेयणिजे, नो निद्रियदे, नो निद्रियद्वकरणिजे पुणरवि इत्थत्थं हव्यमागच्छइ ॥

१४. से णं भंते ! किं ति वत्तब्बं सिया ?

गोयमा ! पाणे त्ति वत्तब्बं सिया । भूए त्ति वत्तब्बं सिया । जीवे त्ति वत्तब्बं सिया । सत्ते त्ति वत्तब्बं सिया । विष्णु त्ति वत्तब्बं सिया । वेदे त्ति वत्तब्बं सिया । पाणे भूए जीवे सत्ते विष्णु वेदे त्ति वत्तब्बं सिया ॥

१५. से केणद्वेणं पाणे त्ति वत्तब्बं सिया जाव वेदे त्ति वत्तब्बं सिया ?

गोयमा ! जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा उस्ससइ वा, नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तब्बं सिया ।
जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए त्ति वत्तब्बं सिया ।

मृतादि-निर्ग्रन्थ-पदम्

मृतादी भदन्त ! निर्ग्रन्थः नो निरुद्धभवः, नो निरुद्धभवप्रपञ्चः, नो प्रहीणसंसारः, नो प्रहीणसंसारवेदनीयः, नो व्यवच्छिन्नसंसारः, नो व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः, नो निष्ठितार्थः, नो निष्ठितार्थकरणीयः पुनरपि इत्थंस्थं 'हव्यं' आगच्छति ?

हन्त गौतम ! मृतादी निर्ग्रन्थः नो निरुद्धभवः, नो निरुद्धभवप्रपञ्चः, नो प्रहीणसंसारः, नो प्रहीणसंसारवेदनीयः, नो व्यवच्छिन्नसंसारः, नो व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः, नो निष्ठितार्थः, नो निष्ठितार्थकरणीयः पुनरपि इत्थंस्थं 'हव्यं' आगच्छति ।

स भदन्त ! किमिति वक्तव्यः स्यात् ?

गौतम ! प्राणः इति वक्तव्यः स्यात् । भूतः इति वक्तव्यः स्यात् । जीवः इति वक्तव्यः स्यात् । सत्त्व इति वक्तव्यः स्यात् । विज्ञः इति वक्तव्यः स्यात् । वेदः इति वक्तव्यः स्यात् । प्राणः भूतः जीवः सत्त्वः विज्ञः वेदः इति वक्तव्यः स्यात् ।

तत् केनार्थेन प्राणः इति वक्तव्यः स्याद् यावद् वेदः इति वक्तव्यः स्यात् ?

गौतम ! यस्माद् अनिति वा, अपानिति वा, उच्छ्वसिति वा, निःश्वसिति वा, तस्मात् प्राणः इति वक्तव्यः स्यात् ।
यस्माद् भूतः भवति भविष्यति च तस्माद् भूतः इति वक्तव्यः स्यात् ।

मृतादी-निर्ग्रन्थ-पद

१३. भन्ते ! याचितभोजी निर्ग्रन्थ, जिसने भव का निरोध नहीं किया है और भव के विस्तार का निरोध नहीं किया है, जिसने संसार को प्रहीण नहीं किया है और संसार-वेदनीय कर्म को भी प्रहीण नहीं किया है, जिसने संसार को व्यवच्छिन्न नहीं किया है और संसार वेदनीय कर्म को भी व्यवच्छिन्न नहीं किया है, जिसने अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है और प्रयोजन-पूर्ति के लिए करणीय कार्यों को भी सिद्ध नहीं किया है, क्या फिर इत्थंस्थ (तिर्यञ्च आदि के रूपों) को प्राप्त होता है ?

हां, गौतम ! याचितभोजी निर्ग्रन्थ, जिसने भव का निरोध नहीं किया है और भव के विस्तार का निरोध नहीं किया है, जिसने संसार को प्रहीण नहीं किया है और संसारवेदनीय कर्म को भी प्रहीण नहीं किया है, जिसने संसार को व्यवच्छिन्न नहीं किया है और संसार-वेदनीय कर्म को भी व्यवच्छिन्न नहीं किया है, जिसने अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है और प्रयोजन-पूर्ति के लिए करणीय कार्यों को भी सिद्ध नहीं किया है, फिर से इत्थंस्थ (तिर्यञ्च आदि के रूपों) को प्राप्त होता है ।

१४. भन्ते ! वह किस शब्द के द्वारा वाच्य होता है ?

गौतम ! वह प्राण शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह भूत शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह जीव शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह सत्त्व शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह विज्ञ शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह वेद शब्द के द्वारा वाच्य होता है । वह प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, विज्ञ और वेद—इस रूप में वाच्य होता है ।

१५. भन्ते ! वह किस अपेक्षा से 'प्राण' शब्द के द्वारा वाच्य होता है यावत् 'वेद' शब्द के द्वारा वाच्य होता है ?

गौतम ! क्योंकि वह आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करता है, इसलिए वह 'प्राण' शब्द के द्वारा वाच्य होता है ।
क्योंकि वह था, है और होगा, इसलिए वह 'भूत' शब्द के द्वारा वाच्य होता है ।

जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवति तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया।

जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मोहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।

जम्हा तित्तकटुकसायंबिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विष्णु त्ति वत्तव्वं सिया।

जम्हा वेदेति य सुह-दुक्खं तम्हा वेदे त्ति वत्तव्वं सिया। से तेणदुणं पाणे त्ति वत्तव्वं सिया जाव वेदे त्ति वत्तव्वं सिया॥

१६. मडाई णं भंते ! नियंटे निरुद्धभवे, निरुद्धभवपवंचे, प्रहीणसंसारे, प्रहीणसंसारवेयणिजे, वोच्छिण्णसंसारे, वोच्छिण्णसंसारवेयणिजे, निडियडे, निडियडुकरणिजे नो पुणरवि इत्थं हव्यमागच्छइ ?

हंता गोयमा ! मडाई णं नियंटे निरुद्धभवे, निरुद्धभवपवंचे, प्रहीणसंसारे, प्रहीणसंसारवेयणिजे, वोच्छिण्णसंसारे, वोच्छिण्णसंसारवेयणिजे, निडियडे, निडियडुकरणिजे नो पुणरवि इत्थं हव्यमागच्छइ ॥

१७. से णं भंते ! किं त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! सिद्धे त्ति वत्तव्वं सिया। बुद्धे त्ति वत्तव्वं सिया। मुत्ते त्ति वत्तव्वं सिया। पारगए त्ति वत्तव्वं सिया। परंपरगए त्ति वत्तव्वं सिया। सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंतकडे सब्बदुक्खप्रहीणे त्ति वत्तव्वं सिया ॥

यस्माद् जीवः जीवति, जीवत्वं आयुश्च कर्म उपजीवति तस्माज् जीवः इति वक्तव्यः स्यात्।

यस्मात् सत्त्वः शुभाशुभैः कर्मभिः तस्मात् सत्त्वः इति वक्तव्यः स्यात्।

यस्मात् तित्तकटुकसायाम्लमधुरान् रसान् जानाति तस्माद् विज्ञः इति वक्तव्यः स्यात्।

यस्माद् वेदयति च सुख-दुखं तस्माद् वेदः इति वक्तव्यः स्यात्। तत् तेनार्थेन प्राणः इति वक्तव्यः स्याद् यावद् वेदः इति वक्तव्यः स्यात्।

मृतादी भदन्त ! निर्ग्रन्थः निरुद्धभवः, निरुद्धभवप्रपञ्चः, प्रहीणसंसारः, प्रहीणसंसारवेदनीयः, व्यवच्छिन्नसंसारः, व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः, निष्ठितार्थः, निष्ठितार्थकरणीयः नो पुनरपि इत्थं 'हव्यं' आगच्छति ?

हन्त गौतम ! मृतादी निर्ग्रन्थः निरुद्धभवः, निरुद्धभवप्रपञ्चः, प्रहीणसंसारः, प्रहीणसंसारवेदनीयः, व्यवच्छिन्नसंसारः, व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः, निष्ठितार्थः, निष्ठितार्थकरणीयः नो पुनरपि इत्थं 'हव्यं' आगच्छति।

स भदन्त ! किमिति वक्तव्यः स्यात् ?

गौतम ! सिद्धः इति वक्तव्यः स्यात्। बुद्धः इति वक्तव्यः स्यात्। मुक्तः इति वक्तव्यः स्यात्। पारगतः इति वक्तव्यः स्यात्। परंपरगतः इति वक्तव्यः स्यात्। सिद्धः बुद्धः मुक्तः परिनिर्वृतः अन्तकृतः सर्वदुखप्रहीणः इति वक्तव्यः स्यात्।

क्योंकि जीव जीता है—प्राण धारण करता है, जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इसलिए वह 'जीव' शब्द के द्वारा वाच्य होता है।

क्योंकि वह शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा विषादयुक्त बनता है, इसलिए वह 'सत्त्व' शब्द के द्वारा वाच्य होता है।

क्योंकि वह तित्त, कटु, कसैले, अम्ल और मधुर रसों को जानता है, इसलिए वह 'विज्ञ' शब्द के द्वारा वाच्य होता है।

क्योंकि वह सुख-दुःख का वेदन करता है, इसलिए वह 'वेद' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। इस अपेक्षा से वह 'प्राण' शब्द के द्वारा वाच्य होता है यावत् 'वेद' शब्द के द्वारा वाच्य होता है।

१६. भंते ! याचित्तभोजी निर्ग्रन्थ, जिसने भव का निरोध किया है और भव के विस्तार का निरोध किया है, जिसने संसार को प्रहीण किया है और संसारवेदनीय कर्म को भी प्रहीण किया है, जिसने संसार को व्युच्छिन्न किया है और संसारवेदनीय कर्म को भी व्युच्छिन्न किया है, जिसने अपना प्रयोजन सिद्ध किया है और प्रयोजन-पूर्ति के लिए करणीय कार्यों को भी सिद्ध किया है, क्या फिर से इत्थं (तिर्यज्य आदि के रूपों) को प्राप्त नहीं होता ?

हां, गौतम ! याचित्तभोजी निर्ग्रन्थ, जिसने भव का निरोध किया है और भव के विस्तार का निरोध किया है, जिसने संसार को प्रहीण किया है और संसारवेदनीय कर्म को भी प्रहीण किया है, जिसने संसार को व्युच्छिन्न किया है और संसारवेदनीय कर्म को भी व्युच्छिन्न किया है, जिसने अपना प्रयोजन सिद्ध किया है और प्रयोजन-पूर्ति के लिए करणीय कार्यों को भी सिद्ध किया है, फिर से इत्थं (तिर्यज्य आदि के रूपों) को प्राप्त नहीं होता।

१७. भंते ! वह किस शब्द के द्वारा वाच्य होता है ?

गौतम ! वह 'सिद्ध' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। वह 'बुद्ध' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। वह 'मुक्त' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। वह 'पारगत' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। वह 'परंपरगत' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत, अन्तकृत, सर्वदुख-प्रहीण—इस रूप में वाच्य होता है।

१. सूत्र १३-१७

मडाई—चूर्णिकार ने 'मडाई' के दो अर्थ किए हैं—मृतयाची और मृताशी। मृत का अर्थ है अचित्त। अचित्त की याचना करने वाला मृतयाची तथा अचित्त का अशन करने वाला मृताशी होता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ मृतादी—प्रासुकभोजी किया है।^१

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अर्थ असंगत नहीं हैं। संस्कृत शब्द कोष के अनुसार मृत का अर्थ 'याचित' है।^२ मनुस्मृति में भी इसका प्रयोग मिलता है।^३ इसके आधार पर मृतादी का अर्थ है—याचितभोजी।

उक्त तीनों अर्थ प्रकरण-संगत हैं।

प्रस्तुत आलापक का प्रतिपाद्य यह है—मुनि-जीवन के लिए केवल अचित्तभोजी या याचितभोजी होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए निरोध, प्रहाण और व्यवच्छेद भी आवश्यक है।

निरोध—१. भव-निरोध २. भव-प्रपञ्च-निरोध

प्रहाण—१. संसार-प्रहाण २. संसारवेदनीय-प्रहाण।

व्यवच्छेद—१. संसार-व्यवच्छेद २. संसारवेदनीय-व्यवच्छेद।

भव का अर्थ है—जन्म। संसार का अर्थ है—चार गतियों में गमन या पर्यटन। भव-निरोध का अर्थ है—चरमदेह, उसके पश्चात् दूसरे जन्म का न होना।

भव-प्रपञ्च-निरोध का अर्थ है—देव, मनुष्य आदि जन्मों के विस्तार का निरोध।

संसार-प्रहाण का अर्थ है—चतुर्गतिगमन का क्षीण होना।

संसार-वेदनीय-प्रहाण का अर्थ है—संसार-वेदनीय कर्म का क्षीण होना।

संसार-व्यवच्छेद का अर्थ है—चतुर्गति-गमन के अनुबन्ध का व्यवच्छेद (विनाश या टूटना) होना।

संसार-वेदनीय-व्यवच्छेद का अर्थ है—चतुर्गति-गमन में हेतुभूत संसारवेदनीय कर्म का व्यवच्छेद होना।

प्रस्तुत विषय की मीमांसा के लिए प्रथम शतक के ३८४ से ३६१ तक के सूत्र द्रष्टव्य हैं।

तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि जिस प्रयोजन के लिए मुनि बनता है, उस प्रयोजन के सिद्ध न होने पर वह इत्थंस्थ अवस्था में चला जाता है और प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर मुनि इत्थंस्थ अवस्था को पार कर जाता है। संस्थान दो प्रकार का होता है—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। संसारी जीव का संस्थान इत्थंस्थ—नियत आकार वाला, अमुक-अमुक प्रकार का होता है।^४ बर्गीकृत रूप में उसके छह प्रकार हैं।^५ सिद्ध जीव के अनित्थंस्थ संस्थान होता है।^६ इत्थंस्थ की विशेष जानकारी के लिए देखें, दसवेआतियं, ६।४।७ का टिप्पण।

संसार-चक्र में पर्यटन करने वाला जीव अवस्था-भेद के अनुसार छह नामों से संबोधित होता है। वे नाम सूत्र में निर्दिष्ट हैं। इनमें चौथा नाम 'सत्त' है।

वृत्तिकार ने इसके 'सत्त्व' 'सक्त' और 'शक्त' तीन संस्कृत रूप दिए हैं।^७ किन्तु इनमें जीव के अर्थ में 'सत्त्व' शब्द अधिक प्रयुक्त और प्रसिद्ध है। 'सत्त्व' का कर्म के साथ संबंध भी विवक्षित है। जीव शुभ-अशुभ कर्म के द्वारा विषाद को प्राप्त होता है, इसलिए वह सत्त्व कहलाता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि में सत्त्व की व्याख्या कर्म के सन्दर्भ में मिलती है।^८

प्रस्तुत आगम के २०।१७ में जीव के २३ पर्यायवाची नाम निर्दिष्ट हैं। बबला में भी जीव के २० पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं।^९ प्रस्तुत आलापक (सू. १७) में मुक्त जीव के आठ एकार्थक नामों का निर्देश है।

१. भ.चू.२।१३—मृतयाची मडाई मृताशी वा।

२. भ.वृ.२।१३—मृतादी—प्रासुकभोजी, उपलक्षणत्वादेवणीयादी चेति दृश्यम्।

३. अभि. ३।५३०—मृतं तु याचितम्।

४. मनु. ४।४,५—मृतं स्वाद्याचितं भैक्षममृतं स्यादयचितम्।

५. भ.वृ.२।१३—'नो निरुद्धभवे' ति अनिरुद्धाप्रेतजन्मा, चरमभवाप्राप्त इत्यर्थः। अयं च भवद्रव्यप्राप्तव्यमोक्षोऽपि स्यादित्याह—'निरुद्धभवपंचे' ति प्राप्तव्यभवविस्तार इत्यर्थः। अयं च देवमनुष्यभवप्रपञ्चापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—'णो पहीणसंसारे' ति प्रहीणचतुर्गतिगमन इत्यर्थः। यत् एवमत एव 'नो पहीणसंसारवेयगिजे' ति अप्रक्षीणसंसारवेद्यकर्मा। अयं च सकृच्चतुर्गति-गमनतोऽपि स्यादित्यत आह—'नो वोच्छिन्नसंसारे' ति अत्रुदितचतु-र्गतिगमनानुबन्ध इत्यर्थः। अत एव 'नो वोच्छिन्नसंसारवेयगिजे' ति 'नो' नैव व्यवच्छिन्नम्—अनुबन्धव्यवच्छेदेन चतुर्गतिगमनवेद्यं कर्म यस्य स तथा। अत एव 'नो निद्रियड्रे' ति अनिष्ठितप्रयोजनः। अत एवं 'नो निद्रियड्रेकरगिजे' ति 'नो' नैव निष्ठितार्थानामिव करणीयानि—कृत्यानि यस्य स तथा। यत् एवं-विधोऽसावतः पुनरपीति, अनादौ संसारे पूर्वं प्राप्तमिदानीं पुनर्विशुद्धचरणा-वासेः सकाशादसम्भवनीयम् 'इत्थंस्थं' ति 'इत्यर्थम्' एतमर्थम्—अनेकश-स्तिर्यङ्गनाकिनारकगतिगमनलक्षणम् 'इत्थत्'मिति पाठान्तरं तत्रानेन प्रकारे-

णोत्थं तद्भाव इत्थत्वं मनुष्यादित्यमिति भावः, अनुस्वारलोपश्च प्राकृतत्वात्।

६. टाणं, ६।३१।

७. ओवा.सू.१६५, गा.८—

संठाणमणित्थं जराभरणविषयमुक्कणं।

८. भ.वृ.२।१४—यदा तूच्छ्वासादिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयितेत्येतत्तं प्रति वाच्यं स्यात्।.....सक्तः—आसक्तः शक्तो वा—समर्थः सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु अथवा सक्तः—संबद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति।

९. (क) त.रा.वा.७।११—अनादिकर्मबन्धयशात् सीदन्तीति सत्त्वाः। अनादिना अर्धविधकर्मबन्धसन्तानेन तीन्द्रुःखयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः। (ख) सर्वार्थसिद्धि, ७।११,पृ.३४६—दुष्कर्मविपाकवशात्प्राणानायानिषु सीदन्तीति सत्त्वाः जीयाः।

१०. ष.खं.धवला, पु.१, खं.१, भा.१, सू.२, गा.८१, ८२—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोगलो।

वेदो विण्हू सयंभूय सरीरी तह माणवो ॥

सत्ता जन्तू य माणी य माई जोगी य संकडो।

असंकडो य खेतण्हु अन्तरप्पा तहव य ॥

शब्द-विमर्श

जीवत्व—वृत्तिकार ने जीवत्व का अर्थ 'उपयोग-लक्षण' किया है। इसका अर्थ प्राणत्व भी किया जा सकता है। जीव प्राण के द्वारा जीता है, इसलिए यह अर्थ संगत भी है। प्रवचनसार में इस आशय का निरुक्त भी उपलब्ध है।^१

१८. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ॥

१८. भंते ! वह ऐसा ही है, भंते ! वह ऐसा ही है—इस प्रकार भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

१९. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसित्ताओ चेइआओ पडि-निक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जण-वयविहारं विहरइ ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः राजगृहात् नगराद् गुणशिलकाच्च चैत्यात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिः जनपदविहारं विहरति ॥

१९. श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य से पुनः निष्क्रमण करते हैं, पुनः निष्क्रमण कर राजगृह के आसपास जनपद में विहरण कर रहे हैं।

खंदयकहा-पदं

स्कन्दककथा-पदम्

स्कन्दककथा-पद

२०. तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंजला नामं नगरी होत्या—वण्णओ ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये कयञ्जला नाम नगरी आसीत्—वर्णकः ।

२०. उस काल और उस समय कयंजला नामक नगरी थी—नगर-वर्णन।

२१. तीसे णं कयंजलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए छत्तपलासए नामं चेइए होत्या—वण्णओ ॥

तस्याः कयञ्जलायाः नगर्याः बहिः उत्तरपूरस्थे दिग्भागे छत्रपलाशकं नाम चैत्यम् आसीत्—वर्णकः ।

२१. उस कयंजला नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिग्भाग (ईशानकोण) में छत्रपलाशक नामक चैत्य था—चैत्य का वर्णन।

२२. तए णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नानणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जेणेव कयंजला नयरी जेणेव छत्तपलासए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरुवं ओग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ जाव समोसरणं। परिसा निग्गच्छइ ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः उत्पन्न-ज्ञानदर्शनधरः अर्हत् जिनः केवली यत्रैव कयञ्जला नगरी यत्रैव छत्रपलाशकं चैत्यं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य यथाप्रतिरूपम् अवग्रहम् अवगृह्णाति, अवगृह्य संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति यावत् सम-वसरणम्। परिषद् निर्गच्छति ॥

२२. उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक, अर्हत्, जिन, केवली, श्रमण भगवान् महावीर जहां कयंजला नगरी और छत्रपलाशक चैत्य है, वहां आते हैं, वहां आकर वे प्रवास-योग्य स्थान की अनुमति लेते हैं, अनुमति लेकर संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए रह रहे हैं यावत् भगवान् का समवसरण। परिषद् का नगर से निष्क्रमण।

२३. तीसे णं कयंजलाए नयरीए अदूरसामन्ते सावत्थी नामं नयरी होत्या—वण्णओ ॥

तस्याः कयञ्जलायाः नगर्याः अदूरसामन्ते श्रावस्ती नाम नगरी आसीत्—वर्णकः ।

२३. उस कयंजला नगरी से कुछ दूरी पर श्रावस्ती नामक नगरी थी—नगर-वर्णन।

२४. तत्थे णं सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अन्तेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्यायगे परिवसइ—रिब्बेद-जजुब्बेद-सामवेद-अहव्यणवेद-इतिहास-पंचमाणं नि-घंटुच्छट्ठाणं—चउण्हं वेदाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए धारए पारए सडंगवी सद्धितंतविसारए, संख्याणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोतिसामयणे, अण्णेसु

तत्र श्रावस्त्यां नगर्यां गर्दभालस्य अन्तेवासी स्कन्दकः नाम कात्यायनसगोत्रः परिव्राजकः परिवसति—ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्व-ण-वेद-इतिहास-पञ्चमानां निघण्टुषट्ठानां—चतुर्णां वेदानां साङ्गोपाङ्गानां सरहस्यानां सारकः धारकः पारगः षडंगविद् षष्ठितन्त्र-विशारदः संख्याने शिक्षाकल्पे व्याकरणे छन्दसि निरुक्ते ज्योतिषायणे अन्येषु च बहुषु

२४. ^१उस श्रावस्ती नगरी में गर्दभाल का अन्तेवासी कात्यायनसगोत्र स्कन्दक नाम का परिव्राजक रहता है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद—ये चार वेद, पांचवाँ इतिहास और छठा निघण्टु—इनका सांगोपांग रहस्य-सहित सारक (प्रवर्तक), धारक और पारगामी था। वह छहों अंगों का वेत्ता, षष्ठितन्त्र का विशारद, संख्यान, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त,

१. भ.वृ.२।१५—जीवत्वं उपयोगलक्षणम्।

२. प्र.सा.भा.१४७—

पाणेहिं घटुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुब्बं।

सो जीवो पाणा पुण षोण्णलदब्बेहिं णिवत्ता ॥

य बहुसु बंभण्णएसु परिव्यायएसु य नयेसु सु-
परिनिट्टिए या वि होत्वा ॥

ब्रह्मण्यकेषु परिव्राजकेषु च नयेषु सु-
परिनिष्ठितश्चापि आसीत् ।

ज्योतिषशास्त्र, अन्य अनेक ब्राह्मण और
परिव्राजक सम्बन्धी नयों में निष्पात था ।

भाष्य

१. सूत्र २४

प्रस्तुत सूत्र में स्कन्दक परिव्राजक का शिक्षा-संबंधी जो वर्णन किया गया है, वह शैलीगत वर्णन है। देवर्षिगणी के समय में आगमों का संकलन और लिपीकरण हुआ तब वर्णन की कुछ शैलियाँ निर्धारित की गईं, जैसे—नगरवर्णन, राजवर्णन, चैत्यवर्णन आदि आदि। इसी प्रकार परिव्राजक के वर्णन की भी शैली का मुख्य सूत्र ओवाइयं है। उसमें परिव्राजक का जो वर्णन है, वही यहाँ उद्धृत है।^१ वहाँ सांख्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय तीनों परम्पराओं के परिव्राजकों का संयुक्त वर्णन है। इसलिए उसमें वैदिक और सांख्य दोनों परम्पराओं के साहित्य का उल्लेख है।^२ छान्दोग्य उपनिषद् और महाभारत में केवल वैदिक साहित्य की चर्चा है। वहाँ षष्टितन्त्र का उल्लेख नहीं है।^३ परिव्राजक शुक के वर्णन में भी दोनों परम्पराओं का मिश्रण मिलता है। वह सांख्य समय का विद्वान् था। उसे वेदों का विद्वान् भी बतलाया गया है।^४

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में 'सांख्य' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौपीतकी जैसे प्राचीन उपनिषदों में भी 'सांख्य' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांख्य और योग का एक साथ प्रयोग मिलता है।^५ उसमें अजा (प्रकृति) और अज (पुरुष) का जो निरूपण है, उससे ज्ञात होता है कि यह उपनिषद् सांख्य दर्शन का ही एक ग्रंथ रहा है। महाभारत और पुराण-साहित्य में 'सांख्य' का उल्लेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

सांख्य दर्शन मूलतः श्रमण-परम्परा का एक दर्शन है। वेद उसके लिए प्रमाण नहीं रहा। यह ऋषिप्रोक्त दर्शन है। कपिल ऋषि इसके आद्य प्रवर्तक हैं। वे सिद्ध पुरुष थे। श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।'^६ कपिल मुनि ने अपने प्रथम शिष्य आसुरी को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया। उनके शिष्य पंचशिख थे।

चीनी बौद्ध सम्प्रदाय के अनुसार वे षष्टितन्त्र के कर्ता माने जाते हैं। किंतु यह चिवादास्पद है। अहिबुध्न्य संहिता और वाचस्पति

मिश्र के अनुसार षष्टितन्त्र के कर्ता वार्षगण्य हैं। उनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी (ई. स. २३०-३००) माना जाता है।^७ स्कन्दक सांख्य परिव्राजक था, यह इकतीसवें सूत्र में निर्दिष्ट उपकरणों से स्पष्ट है। "गुणरत्न सूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में सांख्य मत के साधुओं के आचार का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—'सांख्य मत के अनुयायी साधु त्रिदण्ड अथवा एकदण्डी होते हैं, ये कौपीन धारण करते हैं, गेरुए रंग के वस्त्र पहनते हैं, बहुत से चोटी रखते हैं, बहुत से जटा बढ़ाते हैं और बहुत से छुरे से मुण्डन कराते हैं। ये लोग मृगचर्म का आसन रखते हैं, ब्राह्मणों के घर आहार लेते हैं, पांच ग्रस मात्र भोजन करते हैं और बारह अक्षरों का जाप करते हैं। इन लोगों के भक्त नमस्कार करते समय 'ऊँ नमो नारायणाय' कहते हैं और साधु लोग केवल 'नारायणाय नमः' बोलते हैं। सांख्य परिव्राजक जीवों की रक्षा के लिए स्वयं जल छानने का वस्त्र रखते हैं और अपने भक्तों को पानी छानने के लिये छत्तीस अंगुल लम्बा और बीस अंगुल चौड़ा मजबूत वस्त्र रखने का उपदेश देते हैं। ये लोग मीठे पानी में खारा पानी मिलाने से जीवों की हिंसा मानते हैं और जल की एक बूंद में अनन्त जीवों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन लोगों के आचार्यों के साथ 'चैतन्य' शब्द लगाया जाता है।' सांख्य लोग कर्म-काण्ड को, यज्ञ-याग को और वेद को नहीं मानते। ये लोग अध्यात्मवादी होते हैं, हिंसा का विरोध करते हैं और वेद, पुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदि की अपेक्षा सांख्य तत्त्वज्ञान को श्रेष्ठ समझते हैं। इन लोगों का मत है कि यथेष्ट भोगों का सेवन करने पर तथा किसी भी आश्रम में रहने पर भी यदि कपिल के पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान हो गया है, यदि सांख्य मत में भक्ति हो गई, तो विना क्रिया के भी नुक्ति हो सकती है। सांख्यों के मत में पच्चीस तत्त्व और प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थों में कपिल को नारितक और श्रुत-चिरुद्ध तंत्र का प्रवर्तक कहकर कपिल-प्रणीत सांख्य और पतञ्जलि के योग-शास्त्र को अनुपादेय कहा है।"^८

१. ओवा.सू.६७।

२. वही,सू.६६,६७।

३. (क) छा.उप.७।१।१२।

(ख) महाभारत, शान्ति पर्व,२०१।७,८६।

(ग) उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन,पृ.८१,८२।

४. नाया.१।५।५२—तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए नामं परिव्यायए होत्वा—
रिउव्वेय-ज्जुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय-सट्ठितंतकुसले संखसमए लउट्टे।

५. श्वे.उप.६।१३।

६. गीता,१०।२६—

गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।

७. डा. जगदीशचंद्र जैन, स्याद्व्यादमंजरी-परिशिष्ट,पृ.३३३-३३५।

८. (क) वही,पृ.४२२,४२३;

(ख) षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नसूरि-कृत टीका, तृतीयोऽधिकारः, पृ. ५४०—
अथादी सांख्यमतप्रपञ्चानां परिज्ञानाय लिङ्गादिकं निगद्यते। त्रिदण्डा एकदण्डा
वा कौपीनवसना धातुरक्ताम्बराः शिखावन्तो जटिनः क्षुरमुण्डाः मृगचर्मसना
द्विजगृहाशनाः पञ्चग्रासीपरा वा द्वादशाक्षर-जापिनः परिव्राजकद्वयः। तद्-
भक्ताः बन्दसना ऊँ नमो नारायणाय इति वदन्ति, ते तु नारायणाय नम इति
प्राहुः। तेषां च महाभारते दीर्घेति ख्याता दारवी मुखर्विश्वका मुखनिःश्वास-
निरोधिका भूतानां दयानिमित्तं भवति। यदाहुस्ते—

शब्द-विमर्श

कात्यायन—यह कौशिक गोत्र का एक अवान्तर भेद है।^१

परिवाजक—देखें भ. १। ११३ का भाष्य ।

निघण्टु—नामकोश । इसका दूसरा नाम निघण्ट भी है।^२ यहां विशेषतः वैदिक शब्दों का कोश विवक्षित है।^३

सारक—इसके दो संस्कृत रूप हो सकते हैं—सारक और स्मारक। सारक का अर्थ है—प्रवर्तक और स्मारक का अर्थ है—विस्मृत पाठ की स्मृति कराने वाला

धारक—धारण करने में समर्थ ।

पारम—पारगामी ।

छहों अंगों का वेत्ता—शिक्षादि छह अंग सूत्र में निर्दिष्ट हैं ।

शिक्षा—उच्चारण-शास्त्र।^४ वृत्तिकार ने इसका 'अर्थ अक्षर के स्वरूप का निरूपक शास्त्र' किया है।^५

कल्प—उत्सव और कर्मकाण्ड का विधान करने वाला शास्त्र।^६

व्याकरण—शब्द-शास्त्र ।

छन्द—छन्द-शास्त्र ।

निरुक्त—शब्दव्युत्पत्ति-शास्त्र ।

ज्योतिषायण—ज्योतिष-शास्त्र ।

षट्तिंत्र—वार्षगण्य द्वारा विरचित सांख्यदर्शन का एक शास्त्र ।

संख्यान—वृत्तिकार ने इसका अर्थ गणितस्कन्ध किया है।^७

नायाषमकहाओ में सङ्घितकुसले के पश्चात् संखसमए लद्धे पाठ मिलता है।^८ इसके आधार पर सहज ही यह संभावना की जा सकती है कि यहां संखाण (संख्यान) का अर्थ 'सांख्यशास्त्र' होना चाहिए। अयन का एक अर्थ है—शास्त्र।^९ संख्यायन पद के यकार का लोप करने पर प्राकृत में संखाण शब्द बन जाता है। प्राकृत साहित्य में अणायणे इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।^{१०}

ब्रह्मण्य—ब्रह्मण्य शब्द के संस्कृत रूप दो बनते हैं—ब्राह्मण्यक और ब्रह्मण्यक । ब्राह्मण्यक का अर्थ है—ब्राह्मण

के लिए उपयुक्त।^{११} ब्रह्मण्य का अर्थ है—ब्राह्मण के लिए उपयुक्त अथवा ब्राह्मण-संबन्धित।^{१२}

निर्ग्रन्थ पिंगल ने स्कन्दक से पाँच प्रश्न पूछे । ये प्रश्न दर्शन के क्षेत्र में बहुचर्चित रहे हैं। भगवान् महावीर ने इनका समाधान सापेक्ष दृष्टि से किया । इस प्रसंग में भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के दृष्टिभेद का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा । बुद्ध ने तात्त्विक प्रश्नों को अव्याकृत (इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती) कहकर टाल दिया।^{१३} भगवान् महावीर ने तात्त्विक जानकारी को प्राथमिकता दी । उसे व्याकृत बतलाया और उसका सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन किया । प्रस्तुत पाँच प्रश्नों का समाधान मूलसूत्र में स्पष्ट है। लोकाकाश और एक जीव—दोनों असंख्यप्रदेशात्मक हैं। इस अपेक्षा से वे सान्त हैं। काल अनन्त है और भाव (पर्याय) भी अनन्त हैं। लोक और जीव त्रैकालिक हैं तथा अनन्त पर्याय वाले हैं। इस अपेक्षा से उन्हें अनन्त कहा गया है।

सिद्धि का अर्थ सिद्धालय है । यह ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। ओवाइवं में इसके बारह पर्यायवाची नाम निर्दिष्ट हैं।^{१४} यह भी काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त है।

द्रव्य की अपेक्षा से सिद्ध एक है—यह सिद्धान्त मुक्त आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादक है। अनन्त जीव मुक्त हो चुके हैं। इस अपेक्षा से सिद्ध अनन्त हैं । यहां 'एक' की विवक्षा विशेष अर्थ-सूचक है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मुक्त आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसका किसी परमात्मा, ईश्वर या ब्रह्म में विलय नहीं होता। विलय का सिद्धान्त उन दर्शनों के द्वारा स्वीकृत है, जो आत्मा को परमात्मा या ईश्वर का अंश मानते हैं अथवा ब्रह्म का प्रपंच मानते हैं । जैन-दर्शन में यह अंशवाद या प्रपंचवाद स्वीकृत नहीं है और न ईश्वर या ब्रह्म की स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकृत है। सब आत्माएं समान हैं और सबका स्वतंत्र अस्तित्व है । फिर किसका किसमें विलय हो सकता है ? इस आत्म-स्वातंत्र्य की अपेक्षा से भगवान् महावीर ने स्कन्दक को बतलाया कि सिद्ध द्रव्य की दृष्टि से एक है ।

“घ्राणादितोऽनुयातेन, श्वासेनैकेन जन्तवः ।

हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नपुमात्राक्षरवादिनाम् ॥ १ ॥”

ते च जलजीवदयार्थं स्वयं गलनकं धारयन्ति, भक्तानां चोपदिशन्ति—

“षट्त्रिंशदङ्गुलायाम्, विंशत्यङ्गुलविस्तृतम् ।

दृढं गलनकं कुर्याद्, भूयो जीवान् विशोधयेत् ॥ १ ॥

प्रियन्ते मिष्टतोयेन, पूतराः क्षारसंभवाः ।

क्षारतोयेन तु परे, न कुर्यात् संकरं ततः ॥ २ ॥

लूतास्यतन्तुगलिते, ये विन्दौ सन्ति जन्तवः ।

सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥ ३ ॥”

इति गलनकविचारो मीमांसायाम् ।

....तेषामाचार्यां विष्णुप्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृतिशब्दैरभिधीयन्ते ।

१. ठाणं, ७।३५।

२. भ.वृ.२।२३—निघण्टो नामकोशः ।

३. आटे.—निघण्टः, निघण्टुः—Particularly the glossary of Vedic words explained by Yask in his Nirukta.

४. भ.वृ.२।२३—‘सारए’ति सारकोऽध्यापनद्वारेण प्रवर्तकः स्मारको वाऽन्वेषां

विस्मृतस्य सूत्रादेः स्मारणात्, ‘वारए’ति वारकोऽशुद्धपाठनिषेधात्, ‘धारए’ क्वचित्पाठः तत्र धारकोऽधीतानामेषां धारणात्, ‘पारए’ति पारगामी ।

५. आटे.—शिक्षा—The science which teaches the proper pronunciation of words and laws of euphony वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा (Rigveda Bhasya.)

६. भ.वृ.२।२४—शिक्षा—अक्षरस्वरूपनिरूपकशास्त्रम् ।

७. वही, २।२४—कल्पश्च तथाविधसमाचारनिरूपकं शास्त्रमेव ।

८. वही, २।२४—‘संखाणे’ति गणितस्कन्धे ।

९. नाया.१।५।५२—सङ्घितकुसले संखसमए लद्धे ।

१०. आटे—अयन—sastra, scripture or inspired writing.

११. दसवे.५।१।१०।

१२. आटे.—ब्राह्मण्य—Befitting a Brahmana.

१३. वही, ब्रह्मण्य—Fit for a Brahmana, Relating to Brahmana.

१४. मज्झिमनिकाय—चूलमालुंक्य सुत्त, ६३।

१५. ओवा.सू.१६३-१६५।

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं और वह लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों का अवगाहन कर रहती हैं। सिद्ध की आत्मा अमूर्त होने के कारण स्थान नहीं रोकती; इसलिए जिस स्थान में एक आत्मा के प्रदेश हैं, उस स्थान में अनन्त सिद्ध आत्माओं के प्रदेश भी हैं। इस प्रकार वे अन्योन्य समवगाढ होते हैं।^१ उत्तरज्जयणाणि और ओवाइयं में सिद्ध की अवगाहना पूर्वशरीर की अपेक्षा से निर्दिष्ट है।^२ काल की अपेक्षा से सिद्ध को सादि और अपर्यवसित बतलाया गया है। यह एक आत्मा की दृष्टि से प्रतिपादित है। संसारी जीव कर्मबन्ध को क्षीण कर सिद्ध बनता है; इसलिए प्रत्येक सिद्ध सादि होता है, कोई भी सिद्ध अनादि नहीं होता।

योगसूत्र के व्यास-भाष्य में केवली और ईश्वर में एक भेदरेखा खींची गई है। उसके अनुसार केवली पूर्व अवस्था में बद्ध और फिर मुक्त होता है। ईश्वर सदैव मुक्त होता है।^३

जैन दर्शन में सदैव मुक्त आत्मा मान्य नहीं है। फिर भी अनादि सिद्ध का सिद्धान्त स्वीकृत है। पण्यवणा और जीवाचीवाभिगमे में सादि सिद्ध और अनादि सिद्ध ये दोनों मत मिलते हैं।^४ उत्तरज्जयणाणि में एक आत्मा की अपेक्षा सिद्ध जीव को सादि और अनेक आत्माओं की अपेक्षा सिद्ध जीवों को अनादि बतलाया गया

है।^५ जो जीव काल की दृष्टि से अनन्त के आठवें भंग की अवधि में चले गए हैं, उन्हें काल की अपेक्षा से अनादि सिद्ध कहा जा सकता है। यह सादि और अनादि का विकल्प सापेक्ष है, किंतु कोई भी जीव बद्ध अवस्था में नहीं रहा, सदा मुक्त ही रहा, ऐसा अनादि सिद्ध सम्मत नहीं है। प्रारम्भबिंदु की दृष्टि से सिद्ध जीव के दो विकल्प किए गए हैं—सादि सिद्ध और अनादि सिद्ध। इन दोनों प्रकार के सिद्धों का कोई चरम बिंदु नहीं है; इसलिए वे सब अपर्यवसित—पर्यवसानरहित होते हैं। इस अपर्यवसान के सिद्धान्त के द्वारा भगवान् महावीर ने अवतारवाद का अस्वीकार किया है। स्वर्ग में उत्पन्न आत्मा पुण्य के क्षीण होने पर फिर जन्म लेती है। मोक्ष में गई हुई आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। यह जैन दर्शन का ध्रुव सिद्धान्त है। मुक्त आत्मा के अतिरिक्त किसी भी ईश्वरीय आत्मा का अस्तित्व नहीं है; इसलिए 'संभवामि युगे-युगे' जैसा स्वर जैन दर्शन में उच्चरित नहीं है। गोम्मतसार के अनुसार आजीवक मत में मुक्तजीवों का पुनः अवतार लेना सम्मत है।^६ मल्लिषेणसूरि ने भी इस अभिमत का उल्लेख किया है—“तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—

“ज्ञानिनो यर्मतीर्यस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥”^७

२५. तस्य णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं
नियंठे वेसालियसावए परिवसइ ॥

तत्र श्रावस्त्यां नगर्यां पिंगलकः नाम निर्रन्थः
वैशालिकश्रावकः परिवसति ।

२५. उस श्रावस्ती नगरी में वैशालिकश्रावक पिंगल
नाम का निर्रन्थ रहता था ।

भाष्य

१. वैशालिकश्रावक

पिंगल के लिए दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—निर्रन्थ और वैशालिकश्रावक। आगम-साहित्य में 'निर्रन्थ' शब्द मुनि के लिए और 'श्रावक' शब्द गृहस्थ उपासक के लिए प्रयुक्त होता है। यहां एक व्यक्ति के लिए निर्रन्थ और श्रावक इन दोनों विशेषणों का प्रयोग एक प्रश्न उपस्थित करता है। वृत्तिकार ने 'वैशालिक श्रावक' का अर्थ 'महावीर के वचन को सुनने वाला' किया है।^८ वेसालिय का प्रयोग उत्तरज्जयणाणि में भी मिलता है।^९ अनुश्रुति के अनुसार राजा विशाल ने वैशाली नगरी बसाई थी।^{१०} वैशाली राजधानी का नाम

भी था और उस जनपद को भी वैशाली कहा जाता था। उस जनपद के नागरिक वैशालिक कहलाते थे।^{११} इसलिए यह विशेषण भगवान् पार्श्व और महावीर दोनों का हो सकता है। 'श्रावक' शब्द संज्ञावाची और गुणवाची दोनों है। श्रमण-संघ के चार अंग हैं—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका।^{१२} यहां श्रावक शब्द संज्ञावाची है। इसका अर्थ है श्रमणोपासक—श्रमण की उपासना करने वाला गृहस्थ। प्रस्तुत सूत्र में 'श्रावक' शब्द गुणवाची है। इसका अर्थ है सुनने वाला—शृणोतीति श्रावकः; यह प्रयोग विरल ही है।

१. औव.सू.१६५, गा. ६—

जत्थ य एणो सिद्धो, तस्य अणंता भयक्खयविमुक्खा ।
अण्णोण्णसमोगाढा, पुद्गा सव्वे य लोगंते ॥

२. (क) उत्तर.३६।६४।

(ख) ओवा.सू.१६५, गा.३-८।

३. पा.यो.द.भाष्य, १।२४—कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृति-लीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।

४. (क) पण्य.१८।७; १।१३।

(ख) जीवा.६।१०; १।६।

५. उत्तर.३६।६५।

६. गो.सा.३८.६६—

अद्भविकम्मवियला सीदीभूदा गिरंजणा णिच्छा ।

अद्गुणा किदकिच्छा लोयग्गणिवत्तिणो सिद्धा ॥

सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो गैयाइयो य वेसेसी ।

ईसरमंडलि दंसण विदूसणइं कयं एवं ॥

(टीका)—कर्माञ्जनसंश्लेषात् संसारसमाप्तोऽस्तीति मस्करिदर्शनम् ।

७. स्याद्वादमंजरी, पृ. ४।

८. भ.वृ.२।२५—विसाला—महावीरजननी, तस्या अपत्यमिति वैशालिकः—
भगवांस्तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिकश्रावकः तद्द्वचनमृत-
पाननिरत इत्यर्थः ।

९. ब्रह्मव्य, उत्तर.६।१७७ और उसका टिप्पण ।

१०. श्रीमद् वाल्मिकेय रामायण, आदिकाण्ड, सर्ग ४६, गा.११,१२—

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रपुत्रः परमधार्मिकः ।

अलम्बुसायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ॥

तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरीकृता ।

११. ब्रह्मव्य, तीर्थकर महावीर, पृ. ८३-८५।

१२. भ.२०।७४।

बारहवें शतक (सूत्र ३०) में 'वेसालियसावयणं अरहंतारणं' पाठ मिलता है। वृत्तिकार के अनुसार वह भी मुनि का विशेषण है। प्रस्तुत

प्रकरण में वैशालिकश्रावक निर्ग्रन्थ का विशेषण है और वहां 'वैशालिकश्रावक' आर्हत का विशेषण है।

२६. तए णं से पिंगलए नामं नियंटे वेसालियसावए अण्णया कयाइ जेणेव खंदए कच्चायणसगोते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंदगं कच्चायणसगोतं इणमवखेवं पुच्छे—मागहा !

१. किं सअंते लोए? अणंते लोए? २. स-अंते जीवे? अणंते जीवे? ३. सअंता सिद्धी? अणंता सिद्धी? ४. सअंते सिद्धे? अणंते सिद्धे? ५. केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा, हायति वा?—एता-वताव आइक्खाहि बुच्चमाणे एवं ।।

ततः सः पिंगलकः नाम निर्ग्रन्थः वैशालिक-श्रावकः अन्यदा कदाचिद् यत्रैव स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य स्कन्दकं कात्यायनसगोत्रम् इममाक्षेपं पृच्छति—मागध !

१. किं सान्तः लोकः ? अनन्तः लोकः ?
२. सान्तः जीवः ? अनन्तः जीवः ?
३. सान्ता सिद्धिः ? अनन्ता सिद्धिः ?
४. सान्तः सिद्धः ? अनन्तः सिद्धः ? ५. केन वा मरणेन प्रियमाणः जीवः वर्धते वा, हीयते वा ?—एतावत् तावद् आख्याहि उच्यमानः एवम् ।

२६. वह वैशालिकश्रावक पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ किसी दिन जहां कात्यायनसगोत्र स्कन्दक है, वहां आता है, आकर कात्यायनसगोत्र स्कन्दक से यह प्रश्न पूछता है—मागध !

१. क्या लोक सान्त है अथवा अनन्त है ? २. जीव सान्त है अथवा अनन्त है ? ३. सिद्धि सान्त है अथवा अनन्त है ? ४. सिद्ध सान्त है अथवा अनन्त है ? ५. किस मरण से मरता हुआ जीव वर्द्धता है अथवा घटता है ?—इस प्रकार मेरे द्वारा पूछे गए इनने प्रश्नों का तुम उत्तर दो।

२७. तए णं से खंदए कच्चायणसगोते पिंगलएणं नियंटेणं वेसालियसावएणं इणमवखेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमापत्रे कलुषसमापत्रे णो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयणस्स किंचि वि पमोक्ख-मक्खाइउं, तुसिणीए संविइइ ।।

ततः स स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः पिंगलकेन निर्ग्रन्थेन वैशालिकश्रावकेण इममाक्षेपं पृष्टः सन् शङ्कितः काङ्क्षितः विचिकित्सितः भेदसमापत्रः कलुषसमापत्रः नो संशक्नोति पिंगलस्य निर्ग्रन्थस्य वैशालिकश्रावकस्य किंचिदपि प्रमोक्षमाख्यातुम् तूष्णीकः सन्ति-ष्ठते ।

२७. वैशालिकश्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ के द्वारा ये प्रश्न पूछे जाने पर कात्यायनसगोत्र स्कन्दक शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापत्र और कलुषसमापत्र हो जाता है। वह वैशालिकश्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ को कुछ भी उत्तर देने में अपने आपको समर्थ नहीं पाता है, मौन हो जाता है।

भाष्य

१. सूत्र २६, २७

आक्षेप—वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'प्रश्न' किया है। संस्कृत शब्दकोश में इसका एक अर्थ 'संदेह' भी मिलता है। आक्षेप शब्द क्षिपञ्—प्रेरणे धातु से निष्पन्न हुआ है। प्रश्न करने वाला समाधान देने वाले व्यक्ति को प्रेरित करता है। इससे प्रस्तुत अर्थ के साथ इस शब्द की संगति हो जाती है।

प्रमोक्ष—वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'उत्तर' किया है। प्रश्नकर्ता स्वतंत्र होता है। उत्तरदाता उसके प्रश्न से बंधा होता है। वह उत्तर देकर उस बंधन से मुक्त होता है; इसलिए इसका नाम प्रमोक्ष है। उत्तरज्ज्ञापणणि में प्रश्न और उत्तर के अर्थ में आक्षेप और प्रमोक्ष का प्रयोग मिलता है। संस्कृत शब्दकोश में प्रमुच् धातु का अर्थ बोलना है।

शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापत्र, कलुषसमापत्र—इन पांचों पदों का प्रयोग प्रथम शतक में दो बार हुआ है। सूत्र १३० में इस पर भाष्य भी लिखा गया है। संदर्भ के साथ शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त इन शब्दों का संदर्भ के

अनुसार अर्थ-परिवर्तन हुआ है। स्कन्दक पिंगल के प्रश्नों का उत्तर देने में अपने आपको असमर्थ पाता है। उस समय उसकी जो मनोदशा बनी, उसका चित्रण इन पांच पदों के द्वारा किया गया है।

शंकित—इसका उत्तर 'यह होगा अथवा यह होगा ?'—इस प्रकार वह संदिग्ध हो गया।

कांक्षित—'यह उत्तर ठीक होगा अथवा नहीं। इसका उत्तर मुझे कैसे मिलेगा ?'—इस प्रकार वह उत्तर की आकांक्षा से कांक्षित हो गया।

विचिकित्सित—'मैं जो उत्तर दूंगा उसे पिंगल निर्ग्रन्थ मान्य करेगा या नहीं ?'—वह इस विचिकित्सा से समापत्र हो गया।

भेदसमापत्र—मतिभंग—किकर्तव्यविमूढता से व्याकुल हो गया।

कलुषसमापत्र—'मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता'—इस प्रकार की निराशा से भर गया।

१. भ.वृ.१।३०—वैशालिको भगवान् महावीरस्तस्य वचनं शृण्वन्ति श्रावयन्ति वा तद्रसिकत्वादिति वैशालिकश्रावकास्तेषां आर्हतानां अर्हदिवतानां साधु-नामिति गम्यम् ।

२. भ.वृ.२।२६—'आक्षेपं' प्रश्नं 'पुच्छे' ति पृष्टवान् ।

३. आटे.—आक्षेप—An objection or doubt.

४. भ.वृ.२।२७—प्रमुच्यते पर्यनुयोगबंधनादनेनेति प्रमोक्षम्—उत्तरम् ।

५. उत्तर.२६।१३।

६. आटे.—प्रमुच्—To utter.

७. भ.१।१३०, १७० ।

८. भ.वृ.२।२७—'संकिए' इत्यादि किमिदमिहोत्तरमिदं वा ? इति संजातशङ्कः । इदमिहोत्तरं साधु इदं च न साधु अतः कथमत्रोत्तरं लप्स्ये ? इत्युत्तरलाभा-काङ्क्षावान् काङ्क्षितः । अस्मिन्नुतरे दत्ते किमस्य प्रतीतिरुत्पत्स्यते न वा ? इत्येवं विचिकित्सितः । 'भेदसमापत्रे' मतेर्भंग—किकर्तव्यताव्याकुलता-लक्षणमापत्रः । 'कलुषसमापत्रः' नाहमिह किञ्चिज्ज्ञानामीत्येवं स्वविषयं कालुष्यं समापत्र इति ।

२८. तए णं से षिंगलए नियंठे वेसालियसावए खंदयं कच्चायणसगोतं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे—मागहा !

१. किं सअंते लोए ? अणंते लोए ?
२. सअंते जीवे ? अणंते जीवे ? ३. सअंता सिद्धी ? अणंता सिद्धी ? ४. सअंते सिद्धे ? अणंते सिद्धे ? ५. केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा, हायति वा ?—एतावताव आइक्खाहि बुच्चमाणे एवं ॥

२९. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते षिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने णो संचाएइ षिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि वि पभोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिइइ ॥

३०. तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया जणसंमहे इ वा जणबूहे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणुकलिया इ वा जणसंणिवाए इ वा बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—

एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आइगरे जाव सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपाविउकामे पुब्बाणुप्पिं चरमाणे गामाणुगामं दूइअमाणे इहमागए इहसंपत्ते इहसमोसठे इहेव कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए अहापडिरुवं ओगहं ओगिण्हिता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! त्हा-रूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोय-स्सवि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पञ्जुवासणयाए ? एगस्सवि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणास्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अइस्स गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो स-क्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चे-इयं पञ्जुवासामो । एवं णे पेच्चभवे इहभवे य

ततः स षिंगलकः निर्ग्रन्थः वैशालिकश्रावकः स्कन्दकं कात्यायनसगोत्रं द्वितीयमपि तृतीयमपि इममाक्षेपं पृच्छति—मागध !

१. किं सान्तः लोकः ? अनन्तः लोकः ?
२. सान्तः जीवः ? अनन्तः जीवः ? ३. सान्ता सिद्धिः ? अनन्ता सिद्धिः ? ४. सान्तः सिद्धः ? अनन्तः सिद्धः ? ५. केन वा मरणेण प्रिय-माणः जीवः वर्धते वा, हीयते वा ?—एता-वत् तावद् आख्याहि उच्यमानः एवम् ।

ततः स स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः षिंगलकेन निर्ग्रन्थेन वैशालिकश्रावकेण द्वितीयमपि, तृतीयमपि इममाक्षेपं पृष्टः सन् शङ्कितः काङ्क्षितः विचिकित्सितः भेदसमापन्नः कलु-षसमापन्नः नो संशक्नोति षिंगलकस्य निर्ग्रन्थस्य वैशालिकश्रावकस्य किंचिदपि प्रमोक्षमाख्यातुम्, तूष्णीकः सन्तिष्ठते ।

ततः श्रावस्त्याः नगर्याः शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चर्तुमुख-महापथ-पथेषु महान् जनसम्मर्दः इति वा जनव्यूहः इति वा जनवोलः इति वा जनकलकलः इति वा जनोर्मिः इति वा जनोत्कलिका इति वा जनसन्निपातः इति वा बहुजनः अन्योऽन्यम् एवमाख्याति, एवं भाषते, एवं प्रज्ञापयति, एवं प्ररूपयति—

एवं खलु देवानुप्रियाः ! श्रमणः भगवान् महावीरः आदिकरः यावत् सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामः पूर्वानुपूर्वी चरन् ग्रामानुग्रामं दवन् इह आगतः इह संप्राप्तः इह समवसृतः इहैव कयञ्जलायाः नगर्याः बहिः छत्र-पलाशके चैत्ये यथाप्रतिरूपम् अवग्रहम् अव-गृह्य संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ।

तत् महत्फलं खलु भोः देवानुप्रियाः ! तथा-रूपाणाम् अर्हतां भगवतां नामगोत्रस्यापि श्रवणं, किमङ्ग पुनः अभिगमन-वन्दन-नमस्यन-प्रतिप्रच्छनपर्युपासनम् ? एकस्यापि आर्यस्य धार्मिकस्य सुवचनस्य श्रवणं, किमङ्ग पुनः विपुलस्य अर्थस्य ग्रहणम् ? तत् गच्छामः देवानुप्रियाः ! श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दामहे नमस्थामः सत्कारयामः सम्मानयामः कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपास्महे । एतन् नः प्रेत्य-भवे इहभवे च हिताय शुभाय क्षमाय निःश्रेय-

२८. वैशालिक श्रावक षिंगल निर्ग्रन्थ कात्यायन-सगोत्र स्कन्दक से दूसरी बार और तीसरी बार भी यह प्रश्न पूछता है—मागध !

१. क्या लोक सान्त है अथवा अनन्त है ? २. जीव सान्त है अथवा अनन्त है ? ३. सिद्धि सान्त है अथवा अनन्त है ? ४. सिद्ध सान्त है अथवा अनन्त है ? ५. किस मरण से मरता हुआ जीव बढ़ता है अथवा घटता है ?—इस प्रकार मेरे द्वारा पूछे गए इतने प्रश्नों का तुम उत्तर दो ।

२९. वैशालिकश्रावक षिंगल निर्ग्रन्थ के द्वारा दूसरी बार और तीसरी बार भी ये प्रश्न पूछे जाने पर कात्यायनसगोत्र स्कन्दक शंकित, काङ्क्षित, विचि-कित्सित, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न हो जाता है । वह वैशालिकश्रावक षिंगल निर्ग्रन्थ को कुछ भी उत्तर देने में अपने आपको समर्थ नहीं पाता है, मौन हो जाता है ।

३०. श्रावस्ती नगरी के शृंगाटकों, तिराहों, चौराहों, चौहटों, चार द्वार वाले स्थानों, राजनागों और मार्गों पर महान् जनसम्मर्द, जनव्यूह, जनवोल, जनकलकल, जन-ऊर्मि, जन-उत्कलिका, जन-सन्निपात बहुजन परस्पर इस प्रकार आख्यान-भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—

देवानुप्रियो ! धर्मतीर्थ के आदिकर्ता यावत् सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण भगवान् महावीर क्रमानुसार विचरण, ग्रामा-नुग्राम में परिब्रजन करते हुए यहां आए हैं, यहां संप्राप्त हुए हैं, यहां समवसृत हुए हैं, इसी कयंजला नगरी के बाहर छत्रपलाशक चैत्य में प्रवास-योग्य स्थान की अनुमति लेकर संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए रह रहे हैं ।

देवानुप्रियो ! ऐसे अर्हत् भगवानों के नामगोत्र का श्रवण भी महान् फलदायक है, फिर अभिगमन, वन्दन, नमस्कार, प्रतिपृच्छा और पर्युपासना का कहना ही क्या ? एक भी आर्य धार्मिक सुवचन का श्रवण महान् फलदायक है, फिर विपुल अर्थ-ग्रहण का कहना ही क्या ? इसलिए देवानुप्रियो ! हम चलें, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें, सत्कार-सम्मान करें, भगवान् कल्याणकारी, मंगल, देव और प्रशस्त चित्त वाले हैं, हम उनकी पर्युपासना करें ! "यह हमारे पर

हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणु-
गामियसाए भविस्सइ ति कट्टु बहवे उग्गा
उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता एवं दुप्पडो-
यारेणं—राइण्णा खत्तिया माहणा भडा जोहा
पसत्थारो मल्लई लेच्छई लेच्छईपुत्ता अण्णे य
बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इम्भ-
सडि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभित्तो जाव महया
उक्कि(कू?)इसीहनाय-बोल-कलकल-रवेणं
पक्खुभियमहासमुदरवभूयं पिव करेमाणा
सावत्थीए नयरीए मज्झमज्जेणं निग्गच्छंति ॥

साय आनुगामिकत्वाय भविष्यति इति कृत्वा
बहवः उग्राः उग्रपुत्राः भोजाः भोजपुत्राः एवं
द्विप्रत्यवतारेण—राजन्याः क्षत्रियाः माहनाः
भटाः योधाः प्रशास्तारः मल्लवयः, लिच्छ-
वयः, लिच्छविपुत्राः अन्ये च बहवः राजेश्वर-
-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-इभ्य-श्रेष्ठि-
सेनापति-सार्थवाहप्रभृतयः यावन् महता
उत्कृष्टसिंहनाद-बोल-कलकलरवेण प्रक्षुभित-
महासमुद्रवभूतम् इव कुर्वाणाः श्रावस्त्याः
नगर्याः मध्यमध्येन निर्गच्छन्ति ।

भव और इस भव के लिए हित, शुभ, क्षम, निः-
श्रेयस और आनुगामिकता के लिए होगा', ऐसा
सोचकर अनेक उग्र, उग्रपुत्र, भोज, भोजपुत्र—
इस प्रकार द्विपदावतार के रूप में राजन्य, क्षत्रिय,
माहन, भट, योद्धा, प्रशासक, मल्लवि, लिच्छवि,
लिच्छविपुत्र तथा अन्य अनेक राजे, युवराज,
कोटवाल, मडम्बपति, कुटुम्बपति, इभ्य, सेठ,
सेनापति, सार्थवाह आदि हर्षध्वनि, सिंहनाद,
अस्पष्ट ध्वनि और कोलाहल ध्वनि से गर्जते हुए
महासमुद्र की भांति शब्द करते हुए श्रावस्ती नगरी
के ठीक मध्य से निकलते हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३०

शब्द-विमर्श

शृंगाटक....पथ

शृंगाटक—तीन मार्गों का मध्य भाग। इसका आकार यह
होगा—△ ।

त्रिक—तिराहा—जहां तीन मार्ग मिलते हैं। इसका आकार
यह होगा—┘ ।

चतुष्क—चौराहा—चार मार्गों का मध्यभाग। चतुष्कोण
भूभाग। इसका आकार यह होगा—□ ।

चत्वर—चौहटा—जहां चार मार्ग मिलते हैं। इसका आकार
यह होगा—+ ।

भिन्न-भिन्न व्याख्या-ग्रंथों में 'चत्वर' के अनेक अर्थ मिलते हैं—

१. सीमाचतुष्क
२. त्रिपथभेदी
३. बहुतर रथ्याओं का मिलन-स्थान
४. चार मार्गों का समागम
५. छह मार्गों का समागम।

स्थानांगवृत्तिकार ने इसका अर्थ 'आठ रथ्याओं का मध्य'
किया है।

चतुर्मुख—देवकुल आदि मार्ग। देवकुलों के चारों ओर दरवाजे
होते हैं ।

१. (क) भ.वृ.२।६६—'सिंहाडग' ति शृंगाटकफलाकारं स्थानं, त्रिकं—रथ्या-
त्रयमीलनस्थानं, चतुष्कं—रथ्याचतुष्कमीलनस्थानं, चत्वरं—बहुतररथ्या-
मीलनस्थानं, महापथी—राजमार्गः, पन्थाः—रथ्यामात्रम् ।

(ख) स्था.वृ.प.२८०। ठणं, पृ.६१५,६१६।

(ग) अल्पपरिचित शब्दकोष।

२. (क) भ.वृ.२।३०—जनसम्मर्दः उरोनिष्पेषः।

(ख) भ.जो.१।३१।४१—

महापथ—राजमार्ग।

पथ—सामान्य मार्ग।^१

जनसम्मर्द.....जनसन्निपात

जनसम्मर्द से जनसन्निपात तक ये सात पद हैं ।

जनसम्मर्द—इतनी भीड़ कि जहां जनता खंधे से खंधा मिलाकर
चले।^२

जनव्यूह—चक्राकार जन-समूह ।

जनबोल—जन-समूह ।

जनकलकल—बृहत् जन-समुदाय ।

वृत्तिकार ने 'बोल' का अर्थ अव्यक्त वर्णवाली ध्वनि और
'कलकल' का अर्थ स्पष्ट वचन विभाग वाली ध्वनि किया है।^३
औपपातिक वृत्ति और राजप्रशनीय वृत्ति में भी यही अर्थ मिलता है।^४

यहां पाठ-सम्बन्धी विमर्श आवश्यक है । उसके आधार पर
ही अर्थ का विमर्श किया जा सकता है। ओवाइयं^५, रायपसेणइयं^६
तथा प्रस्तुत आगम के नौवें शतक (सू. १५६-१५६) में जणसम्मर्द के
स्थान पर जणसद् पाठ है । इस पाठ-परम्परा के अनुसार शब्द,
बोल, और कलकल—ये तीनों ध्वनि-वाचक हैं । दूसरा शब्द 'व्यूह'
समूह-वाचक है और अंतिम तीन पद भी समूह-वाचक हैं । प्रस्तुत
सूत्र की पाठ-परम्परा के अनुसार 'सम्मर्द' और 'व्यूह' ये दोनों पद

बहुजन एव वदै माहोमांय, आगल ए संबंध जुझाय ।

तिहां जन-संपर्द उरो-नि-पेष, उरु सूं उरु अडी सुविशेष ॥

३. भ.वृ.२।३०—बोलः अव्यक्तवर्णा ध्वनिः कलकलः स एवोपलभ्यमान-
वचनविभागः ।

४. औप.वृ.पृ.१०८; राज.वृ.पृ.२८४ ।

५. ओवा.सू.५२ ।

६. राय.सू.६८१ ।

समूहवाची, बोल और कलकल—ये दोनों पद ध्वनिवाची तथा अंतिम तीन पद समूहवाची हैं। इस प्रकार ध्वनि और समूह का मिश्रण रचना-शीली का एक व्यवधान बनता है। हमारी दृष्टि में सातों पद समूहवाचक हैं। इसलिए जणसद् की अपेक्षा जणसम्मद् पाठ अधिक संगत है। 'बोल' का अर्थ समूह भी मिलता है। कलकल का अर्थ भी एक प्रकार का समुदाय होना चाहिए। बोल और कलकल शब्द ध्वनि के अर्थ में इसी सूत्र में प्रयुक्त हैं—उक्किइसीहनाय-बोल-कलकलखेणं।

जनोर्भि—भीड़ अथवा जनता की लहर।

जनोत्कलिका—लघुतर जनसमुदाय।

जनसन्निपात—भिन्न-भिन्न स्थानों से आए हुए लोगों का संगम।^१

तथारूप—संगत रूप वाला।

नाम, गोत्र—नाम और गोत्र दोनों एकार्थक हैं। वृत्तिकार ने इनका विशेष अर्थ बतलाया है। उनके अनुसार यादृच्छिक संज्ञा को 'नाम' और गुणनिष्पन्न संज्ञा को 'गोत्र' कहा जाता है।^२

किमंग पुनः—इसका प्रयोग पूर्वोक्त अर्थ की विशिष्टता बतलाने के लिए हुआ है। 'अंग' आमंत्रण के अर्थ में प्रयुक्त होता है।^३

अभिगमन....पर्युपासन—यह एक मुच्छक है। इसके द्वारा शिष्टाचार की पद्धति बतलाई गई है। शिष्टाचार का पहला अंग है अभिगमन—सामने जाना^४ या निकट जाना।

शिष्टाचार का दूसरा अंग है 'वन्दन'—निकट जाकर उनकी विशेषताओं का उल्लेख करना। वदि धातु के दो अर्थ हैं—स्तुति और अभिवादन। विशेषताओं का उल्लेख करना स्तुति है। वृत्तिकार ने वन्दन का अर्थ स्तुति किया है।^५ मनुस्मृति में अभिवादन की तीन क्रमिक क्रियाएं बतलाई गई हैं—

१. प्रत्युत्थान—अपने आसन से उठना।

२. पादोपसंग्रह—दोनों पैरों को इकट्ठा करना।

३. अभिवादन—जिनका अभिवादन किया जाता है उनके नाम और पद का उल्लेख करते हुए फिर अपना नाम बतलाना।

शिष्टाचार का तीसरा अंग है 'नमस्यन'—नमस्कार करना।^६

ऐसा माना जाता है कि 'नमस्' शब्द के उच्चारणपूर्वक जो प्रणाम किया जाता है, वह नमस्कार है।^६

शिष्टाचार का चौथा अंग है—'प्रतिप्रच्छन'। इसका अर्थ है शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का प्रश्न करना।^{१०}

शिष्टाचार का पांचवा अंग है—'पर्युपासना'। इसका अर्थ है—सेवा अथवा पास में बैठना।

अर्थ—तत्त्व या विषय।

चैत्य—वृत्तिकार ने चैत्य का अर्थ 'इष्टदेव की प्रतिमा' किया है।^{११} यहां चैत्य-तुल्य व्यक्तिके लिए चैत्य शब्द का प्रयोग विवक्षित है। जयाचार्य ने राजप्रश्नीय वृत्ति को उद्धृत करते हुए इसका अर्थ 'अत्यन्त प्रशस्त मन का हेतु' किया है।^{१२} चैत्य शब्द के अनेक अर्थों की जानकारी के लिए देखें भ.१।५ का भाष्य।

प्रेत्यभव—जन्मान्तर।

हित—जिसका परिणाम अच्छा हो।

सुख—मूलपाठ सुहाप है। इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—शुभाय और सुखाय। वृत्तिकार ने केवल सुखाय किया है।^{१३}

क्षम—संगतत्व^{१४}, औचित्य, सामर्थ्य।

निःश्रेयस—कल्याण। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'मोक्ष' किया है।^{१५}

आनुगामिकता—भविष्य में उपकारक के रूप में साथ देने वाला। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'परम्परा के रूप में शुभ अनुबन्धन वाला' किया है।^{१६}

उग्र—उग्र आदि प्राचीन भारतीय कुल हैं। ठाणं और पण्णवा में छह कुलों का उल्लेख मिलता है—१. उग्र २. भोज ३. राजन्य ४. ईक्ष्वाकु ५. ज्ञात या नाग ६. कौरव।^{१७}

आयारचूला में भी उग्र आदि कुलों का उल्लेख मिलता है।^{१८} भगवान् महावीर जिस नगर में पधारे और उनकी अगवानी में जो लोग गए उनमें उग्र, भोज आदि का मुख्य उल्लेख है।^{१९}

१. देशी शब्द कोश।

२. भ.वृ.२।३०—ऊर्भि—संवाधः कल्लोलाकारो वा जनसमुदायः, उत्कलिका समुदाय एव लघुतरः, जनसन्निपातः—अपरापरस्थानेभ्यो जनानां मीलनम्।

३. वही, २।३०—नाम्नो यादृच्छिकस्याभिधानस्य, गोत्रस्य च गुणनिष्पन्नस्य।

४. वही, २।३०—'किमंग पुण'ति किंपुनरिति पूर्वोक्तार्थस्य विशेषद्योतनार्थः अङ्गोत्थामन्त्रणे।

५. वही, २।३०—अभिगमनम्—अभिमुखगमनम्।

६. वही, २।३०—वन्दनम्—स्तुतिः।

७. मनुस्मृति, २।१२०-१२६।

८. भ.वृ.२।३०—नमस्यनम्—प्रणमनम्।

९. आटे.—नमस्कार—Bowling, Respectful or Reverential salutation, Respectful obeisance made by uttering the word नमस्।

१०. भ.वृ.२।३०—प्रतिप्रच्छनम्—शरीरादिवार्ताप्रश्नः।

११. भ.वृ.२।३०—चैत्यम्—इष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यम्।

१२. भ.जो.१।३१।६७—

चैत्य—अत्यन्त प्रशस्त मनो हेतु स्वामी, ए चिहुं पद नो तंत, अर्थ कीधो धामी, कीधो धामी प्रभु हितकामी, वृत्ति रायप्रश्रेणी धी पामी। नै तो जासां जासां वंदन वीर प्रभू अंतरजामी॥

१३. भ.वृ.२।३०—'सुखाय' शर्मणे।

१४. वही, २।३०—'क्षमाय' संगतत्वात्।

१५. वही, २।३०—'निःश्रेयसाय' मोक्षाय।

१६. वही, २।३०—'आनुगामिकत्वाय' परम्पराशुभानुबन्धसुखाय।

१७. (क) ठाणं, ६।३५—छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता, तंजहा—उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खागा, पाता, कोरव्वा।

(ख) पण्ण.१।६५।

१८. आ.चूला १।२३।

१९. भ.२।३०, ६।२०४, ११।१६५।

नायाधम्मकहाओ^१ और ओवाइयं^२ में भी यह उल्लेख मिलता है। भगवान् पार्श्व के शिष्य केशी के आगमन पर भी उक्त कुलों के जाने का उल्लेख मिलता है।^३ इन संदर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उग्र, भोज आदि कुलों के लोग प्राचीन काल से श्रमण परम्परा, आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म या जैन धर्म के अनुयायी रहे हैं। प्रस्तुत आगम के एक सूत्र से इस संभावना की पुष्टि होती है। गीतम के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने बताया—ये उग्र, भोज, राजन्य, ईश्वराकु, ज्ञात या नाग और कौरव इस धर्म (निर्ग्रन्थ धर्म) में दीक्षित होते हैं और दीक्षित होकर कुछ मुक्त हो जाते हैं, कुछ स्वर्ग में चले जाते हैं।^४

धावच्चापुत्र और सेलक के प्रसंग से भी यह तथ्य उजागर होता है। धावच्चापुत्र भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य थे। राजा सेलक ने धावच्चापुत्र से कहा—जैसे उग्र, भोज आदि प्रव्रजित होते हैं वैसे मैं प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ।^५ ऐसा ही प्रसंग रायपसेणइयं में मिलता है।^६ इससे यह स्पष्ट है कि उग्र, भोज आदि कुल प्राचीनकाल से ही जैन धर्म के अनुयायी थे। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार भगवान् ऋषभ से इन कुलों का संबंध था।

शब्द-विमर्श

उग्र—भगवान् ऋषभ ने आरक्षक वर्ग के रूप में जिनकी नियुक्त की थी, वे उग्र कहलाए। उनके वंशजों को भी उग्र कहा गया है।

भोज—जो गुरुस्थानीय थे, वे तथा उनके वंशज।^७

राजन्य—जो मित्रस्थानीय थे, वे तथा उनके वंशज।

क्षत्रिय—क्षत से त्राण देने वाला क्षत्रिय कहलाता है। यह 'क्षत्रिय' शब्द का निरुक्त है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार भगवान् ऋषभ ने चतुर्वर्ग की व्यवस्था की थी—

१. उग्र—आरक्षक वंश।

२. भोज—गुरुवंश।

३. राजन्य—भगवान् का वयस्य वंश।

४. क्षत्रिय—उक्त तीन वर्गों के अतिरिक्त शेष सबका नाम 'क्षत्रिय' किया गया।^८

वृत्तिकार ने तीन शब्दों के अर्थ में आवश्यकनिर्युक्ति का अनुसरण किया है। 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ राजकुलीन किया है।^९ इस विषय में दसवेआलियं (६।२ का टिप्पण) तथा उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन (पृ. ७७-८६) द्रष्टव्य हैं।

माहण—'माहण' का प्रयोग समण के साथ भी हुआ है और स्वतंत्र भी हुआ है। 'माहण' मुनि का पर्यायवाची नाम भी है और वह ब्राह्मण का वाचक भी है। यहां राजन्य क्षत्रिय, माहण, भट—इन शब्दों का प्रयोग है। यहां 'माहण' शब्द मुनि का वाचक नहीं है। सुयगडो में अनेक स्थानों पर समण और माहण का प्रयोग जैन मुनि से भिन्न मुनियों के लिए भी हुआ है।^{१०} इसलिए 'माहण' का अर्थ प्रकरण या संदर्भ के अनुसार ही किया जा सकता है।

भट—शूर।^{११}

योष—विशिष्ट पराक्रमी योद्धा।^{१२}

प्रशास्ता—धर्मशास्त्र का पाठक अथवा प्रशासक।^{१३}

मल्ल—ईसापूर्व छठी शताब्दी में लिच्छवी गणतंत्र अस्तित्व में था। वह बहुत शक्तिशाली था। उस गणतंत्र में नौ मल्ल और नौ लिच्छवी राजेश सम्मिलित थे। मल्लों का राज्य काशी में और लिच्छवियों का राज्य कौशल प्रदेश में था।^{१४}

लिच्छवी—लिच्छवी और विदेहों के राष्ट्र का नाम 'वज्जी' था। वज्जी गणतंत्र की राजधानी वैशाली थी। महावस्तु में लिच्छवियों को वैशालिक कहा गया है।^{१५}

राजा—नरेश

ईश्वर—युवराज

तलवर—कोतवाल

माडम्बिक—मडम्ब का अधिपति।^{१६} वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'सत्रिवेश का नायक' किया है।^{१७}

१. नाया.१।१।६६।

२. ओवा.सू.५२।

३. राय.सू.६८८।

४. भ.२०।७६—जे इमे भंते ! उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खाणा, नाया, कोरव्वा—एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहंति, ओगाहिता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहंति, पवाहेत्ता तओ पच्छा सिज्जंति जाय सव्वदुक्खाणं अंतं करंति ?

हंता गोयमा ! जे इमे उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खाणा, नाया, कोरव्वा—एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहंति, ओगाहिता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहंति, पवाहेत्ता तओ पच्छा सिज्जंति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करंति, अत्थेगतिया अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।

५. नाया.१।५।४५।

६. राय.सू.६६५।

७. आव.नि.गा. १६६।

८. देखें, दसवे.२।८ का टिप्पण।

९. आव. नि.गा. २०२—

उग्गा भोगा रायण्णा खत्तिआ संगहो भवे वउहा।

आरक्खिगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ ॥

उग्गा भोगा राजन्याः क्षत्रिया एष चतुर्द्धा भवति संग्रहः, एतेषामेव यथाक्रमं स्वरूपमाह—आरक्षका उग्रदण्डकारित्वाद्गुग्गाः, गुरवो—गुरुस्थानीया भगवत्त आदितीर्थकरस्थ प्रतिपत्तिस्थानीया इति भावः भोगाः, वयस्याः—स्वामिनः समयसो राजन्याः, शेषा उक्तव्यतिरिक्ता ये ते पुनः क्षत्रिया इति ।

१०. भ.वृ.२।३०—'उग्गा' आदिदेवावस्थापिताऽऽरक्षकवंशजाताः, 'भोगाः' तैर्नैवावस्थापितगुरुवंशजाताः, 'राजन्याः' भगवद्द्वयस्यवंशजाः, 'क्षत्रियाः' राजकुलीनाः ।

११. सूय.१।१।६.४१,६७।

१२. भ.वृ.२।३०—भटाः शौर्यवन्तः ।

१३. वही,२।३०—योधाः तेष्यो विशिष्टतराः ।

१४. देखें, सूय.२।१।१४ का टिप्पण ।

१५. उवंगा (निरया.)१।१२७—तए णं से वेडए राया इमीसे कहाए लद्धडे समाणे नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारसवि गणरायाणो सदावेइ, सदावेत्ता एवं वयासी ।

१६. महावस्तु.भा.१.पृ.२५४—वैशालिकानां लिच्छवीनां वचनेन ।

१७. मडम्ब की जानकारी के लिए देखें, भ.१।४६ का भाष्य ।

१८. भ.वृ.२।३०—'माडम्बिकाः' सत्रिवेशविशेषनायकाः ।

कौटुम्बिक—कतिपय कुटुम्बों का स्वामी जो राजसेवक होता था।

इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्यवाह—इनकी व्याख्या स्थानांग वृत्ति के अनुसार इस प्रकार है—

इभ्य—धनवान् जिसके पास इतना धन हो कि उसके धन के ढेर में छिपा हुआ हाथी भी न मिले।

श्रेष्ठी—नगर सेठ। इसके मस्तक पर श्रीदेवी से अंकित सोने का एक पट्ट बंधा रहता था।

सेनापति—हाथी, अश्व, रथ और पैदल—इन चतुर्विध सेनाओं का अधिपति। इसकी नियुक्ति राजा करता था

सार्यवाह—सार्थ (सथवाड़ों) का अधिपति।

उत्कृष्ट—यहां भगवती के आदर्शों में पाठ संक्षिप्त है। उक्किड यह पाठ ओवाइयं से संगृहीत है। उस के आदर्शों और मुद्रित प्रति में उक्किड पाठ उपलब्ध है। वृत्ति में व्याख्या से पूर्व जो पाठ उद्धृत किया है, उसमें उक्किड पाठ मिलता है—उक्किडसीहनाथ-बोल-कलकल-स्वेषति।^१ अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या 'आनन्द महाध्वनि' की है।^२ ध्वनि के अर्थ में संस्कृत शब्दकोष में 'उत्कृष्टि' शब्द उपलब्ध नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति में उक्किडि, उक्किडिकल्पतो, उक्किडिसीहणाय—ये

तीन प्रयोग मिलते हैं।^३ इनका संस्कृत रूप उत्कृष्टि है। उत्कृष्ट का एक अर्थ 'हर्ष-ध्वनि' है।^४

सिंहनाद—सिंहगर्जना।

बोल—अस्पष्ट वचन।

कलकल—स्पष्ट वचन।

मलयगिरि ने 'बोल' का अर्थ 'अव्यक्त ध्वनि' और 'कलकल' का अर्थ 'व्यक्त वचन' किया है।^५ जीवाजीवाभिगम वृत्ति में उन्होंने 'बोल' का अर्थ 'मुंह के आगे हाथ देकर ऊंचे स्वर से आवाज करना' तथा 'कलकल' का अर्थ 'व्याकुल शब्द-समूह' किया है।^६ अभयदेवसूरि ने औपपातिक वृत्ति में 'बोल' का अर्थ 'अव्यक्त ध्वनि' और 'कलकल' का अर्थ 'व्यक्त वचन' किया है।^७

प्रस्तुत सूत्र में 'बोल' और 'कलकल' का प्रयोग दो बार हुआ है। प्रथम में 'बोल' का अर्थ 'अव्यक्त वर्ण वाली ध्वनि' और 'कलकल' का अर्थ 'स्पष्ट वचन-विभाग वाली ध्वनि' किया गया है।^८ द्वितीय प्रयोग में 'बोल' का अर्थ 'अव्यक्त ध्वनि' और 'कलकल' का अर्थ 'व्यक्त वचन' किया है।^९ इस आधार पर 'कलकल' का अर्थ 'भीड़ की ध्वनि, कोलाहल' किया जा सकता है। वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का हो सकता है।

३१. तए णं तस्स खंदयस्स कचायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमइं सोच्चा निसम्म इमेवारूवे अज्जत्तिए चित्तिए पत्तिए मणोगए संकपे समुपपज्जित्था—एवं खलु समणे भगवं महावीरे कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं तवसा अथाणं भावेमाणे विहरइ। तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं बंदामि नमंसांमि। सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासित्ता इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता जेणेव परिब्यायगावसहे तेणेव उवा-

ततः तस्य स्कन्दस्य कात्यायनसगोत्रस्य बहुजनस्य अन्तिके एतदर्थं श्रुत्वा निश्चय्य अयमेतादृकरूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—एवं खलु श्रमणः भगवान् महावीरः कयञ्जलायाः नगर्याः बहिः छत्रपलाशके चैत्ये संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति। तत् गच्छामि श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दे नमस्यामि। श्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वंदित्वा नमस्तित्वा सकृत्स्य सम्मान्य कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपास्य इमान् च एतद्-रूपान् अर्थान् हेतून् प्रश्नान् कारणानि व्याकरणानि प्रष्टुम् इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य यत्र परिव्राजकावसथः ततैव उपाग-

३१. अनेक लोगों के पास इस बात को सुनकर, मन में अवधारण कर उस कात्यायनसगोत्र स्कन्दक के इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—श्रमण भगवान् महावीर कयंजला नगरी के बाहर छत्रपलाशक चैत्य में संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए रह रहे हैं, इसलिए मैं वहां जाऊं और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करूं। श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार कर उनका सत्कार-सम्मान कर कल्याणकारी, मंगल, देव और प्रशस्त चित्तवाले भगवान् की पर्युपासना कर इन इस प्रकार के अर्थों, हेतुओं, प्रश्नों, कारणों और व्याकरणों को पूछना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा, ऐसी संप्रेक्षा करता

१. स्या. वृ. प. ४३६—इभ्यः—अर्थवान् स च किल यदीयपुञ्जीकृतद्रव्यराशयन्त-रितो हस्त्यपि नोपलभ्यत इत्येतावताऽर्थेनेति भावः। श्रेष्ठी—श्रीदेवताध्या-सितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गः पुरज्येशो वणिक्। सेनापतिः—नृपतिनिरूपितो हस्त्यश्वरथपदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुरित्यर्थः। सार्यवाहकः—सार्यनायकः।

श्रेष्ठी की विशेष जानकारी के लिए देखें, दसवे, चूलिका, १।५ का टिप्पण।

२. औप. वृ. पृ. ११२।

३. भ. वृ. २।३०—उत्कृष्टिश्च आनन्दमहाध्वनिः।

४. आव. नि. गा. २३१, १७५, २३१। (प्रथम्य अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्द-कोष)।

५. आष्टे—उत्कृष्ट—Crying out, exclaiming.

६. राज. वृ. पृ. २८६—बोलश्च वर्णव्यक्तिवर्जितो ध्वनिः, कलकलश्च व्यक्त-वचनः।

७. जीवा. वृ. प. ३४६, ४७—बोलो नाम मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन पूकरणं यद्य कलकलो व्याकुलशब्दसमूहः।

८. औप. वृ. पृ. ११२, ११३—बोलश्च वर्णव्यक्तिवर्जितो ध्वनिरेव कलकलश्च व्यक्त-वचनः स एव तल्लक्षणे यो रवः स तथा तेन।

९. भ. वृ. २।३०—बोलः—अव्यक्तवर्णो ध्वनिः, कलकलः—स एवोपलभ्यमान-वचनविभागः।

१०. वही, २।३०—बोलश्च—वर्णव्यक्तिवर्जितो महाध्वनिः, कलकलश्च—अव्यक्तवचनः, स एवैतल्लक्षणो यो रवस्तेन।

गच्छइ, उवागच्छिता त्तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च करोडियं च भिसियं च केसरियं च छण्णालयं च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तियं च छत्तयं च वाहणाओ य पाउयाओ य धाउरत्ताओ य वेण्हइ, वेण्हिता परि-व्यायागावसहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्ख-मिता त्तिदंडं-कुंडियं-कंचणियं-करोडियं-भिसियं-केसरियं-छण्णालयं-अंकुसयं-पवित्तयं-गणेत्तियं-हत्थगए, छत्तोवाहणसजुत्ते, धाउरत्त-वत्थपरिहिए सावत्थीए नयरीए मज्झमज्जेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छिता जेणेव कयंजला नगरी, जेणेव छत्तपलासए चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीर, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥

छत्ति, उपागम्य त्रिदण्डं च कुण्डिकां च 'कंचणियं' च करोटिकां च वृषिकां च केशरिकां च 'छन्नालयं' च अङ्कुशं च पवित्रकं च 'गणेत्तियं' च छत्रकं च उपानहौ च पादुके च धातुरक्ताः च गृह्णाति, गृहीत्वा परिव्राजकावसथात् प्रतिनिष्कामति, प्रतिनिष्कम्य हस्तगतत्रिदण्ड-कुण्डिका-कंचणियं-करोटिका-वृषिका-केशरिका-छन्नालयं-अङ्कुशक-पवित्रक-गणेत्तियं-छत्रोपानसंपुक्तः, परिहितधातुरक्तवस्त्रः श्रावस्त्याः नगर्याः मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गम्य यत्रैव कय-ज्जला नगरी, यत्रैव छत्रपलाशकं चैत्यं, यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः, तत्रैव प्रादीधरत्तु गमनाय ।

है, संप्रेक्षा कर वह जहां परिव्राजकों का मठ है, वहां आता है, आकर त्रिदण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष-माला, मृत्पात्र, आसन, केसरिका (पात्रप्रमार्जन का वस्त्र-खण्ड) टिकठी, अंकुश, छलनी (छत्रा), कलाई पर पहने जाने वाला रुद्राक्ष-आभरण, छत्र, चर्मनिर्मित पादत्राण और गेरुआ वस्त्र ग्रहण करता है। ग्रहण कर वह परिव्राजक के मठ से बाहर निकलता है, बाहर निकलकर उसने त्रिदण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्षमाला, मृत्पात्र, आसन, केसरिका, टिकठी, अंकुश, छलनी, कलाई पर पहने जाने वाला रुद्राक्ष-आभरण को हाथ में लिया, छत्र तथा पादत्राण धारण किए, गेरुआ वस्त्र पहन कर श्रावस्ती नगरी के मध्य से निकलता है, निकल कर जहां कयंजला नगरी है, जहां छत्रपलाशक चैत्य है, जहां श्रमण भगवान् महावीर है, वहां जाने का उसने संकल्प किया।

भाष्य

१. सूत्र ३१

शब्द-विमर्श

अज्जत्थिए—इसका संस्कृत रूप आध्यात्मिक होता है। इस आधार पर अज्जत्थिए पाठ की परिकल्पना की जा सकती है। किन्तु प्राचीन प्राकृत में प्रायः सर्वत्र द्वित्व तकार के स्थान पर 'त्य' का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है 'आन्तरिक, आत्मविषयक'।

चित्तित—स्मृत्यात्मक।

प्रार्थित—अभिलाषात्मक।

मनोगत—मन में विद्यमान, वचन के द्वारा अप्रकाशित।

संकल्प—संकल्पना, विकल्प।^१

आध्यात्मिक से संकल्प तक एक वाक्य-गुच्छक है। इसमें संकल्प की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। स्कन्दक ने जनसमूह से सुना कि महावीर कयंजला नगरी में आए हुए हैं, तब उसके मन में एक आन्तरिक स्पन्दन हुआ, उसने स्मृति का रूप ले लिया। स्मृति ने इच्छा को जागृत कर दिया। इच्छा मन के स्तर पर प्रकट हो गई। अंत में संकल्प अभिव्यक्त हो गया।

अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण—यह भी एक गुच्छक है।

अर्थ—भाव, पदार्थ का वास्तविक स्वरूप।

हेतु—साध्य के बिना जिसका न होना निश्चित हो।

प्रश्न—जिज्ञासा।

कारण—जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके और जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो।

व्याकरण—विवेचना, विश्लेषण, व्याख्या।

प्रस्तुत सूत्र २।३१ में संख्य परिव्राजक के १८ उपकरणों का उल्लेख है, जिनमें निम्नलिखित शब्द विमर्शनीय हैं—

त्रिदण्ड—यह बांस के तीन दंडों को एकत्र बांधकर बनाया जाता है। यह वाणी, मन और शरीर के संयमन का प्रतीक माना जाता है।

कुंडिका—कमण्डलु।

कंचनिका—रुद्राक्षमाला।

करोटिका—मिट्टी का प्याला।

वृषिका—उपवेशनपट्टिका, मृगचर्म का आसन, कुश-घास का बना हुआ आसन।^२

इसका मूल पाठ 'भिसिया' है। इसके संस्कृत रूप अनेक हो सकते हैं—वृशी, वृषी, वृसी, वृषी, वृसी।^३

केसरिका—जैन साधना-पद्धति के अनुसार जिनकल्पी मुनि के

१. भ.वृ.२।३१—'अज्जत्थिए' ति आध्यात्मिक आत्मविषयः, 'चित्तिए' ति स्मरणरूपः, 'पत्थिए' ति प्रार्थितः—अभिलाषात्मकः, 'मनोगए' ति मनस्येव यो गतो न वहिः वचनेनाप्रकाशनात् स तथा, 'सङ्कल्पः' विकल्पः।

२. (क) औप.वृ.पृ.१८०—काञ्चनिका—रुद्राक्षमयमालिका।

(ख) भ.वृ.२।३१—काञ्चनिका—रुद्राक्षकृता।

३. आटे.—वृषी, वृसी—The seat of an ascetic or religious student (made of kusa grass).

४. वही (देखें, सभी उल्लिखित शब्द)।

लिए बारह प्रकार के उपकरणों का उल्लेख मिलता है। उनमें चौथा उपकरण पात्र-केसरिका है। इसका अर्थ पात्र को साफ करने का वस्त्रखण्ड है।^१ भगवती वृत्ति में भी यही अर्थ उपलब्ध है।^२

छण्णालय—त्रिकाष्ठिका, टिकठी।

अंकुश—इसका प्रयोग वृक्ष के पत्तों को तोड़ने के लिए किया जाता था।^३ औपपातिक वृत्ति के अनुसार देवार्चन के लिए भी इसका उपयोग होता था।

पवित्रक—छलनी या छत्रा।

भगवती वृत्ति में इसका अर्थ अंगूठी^४ और औपपातिक वृत्ति में तांबे की अंगूठी है।^५ इसका एक अर्थ 'कुश घास की अंगूठी है,' जो धार्मिक अवसरों पर चतुर्थ अंगुली में पहनी जाती है।^६ किन्तु

यहां 'पवित्र' का अर्थ जल छानने का वस्त्र, छत्रा है।^७ यहां यही अर्थ प्रासंगिक लगता है। गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में सांख्य परिव्राजकों के लिए छलनी रखने का उल्लेख किया है। देखें भ. २।२४ का भाष्य।

गणेतिया—कलाई का आभरण।

औपपातिक वृत्ति में इसका अर्थ 'हाथ का एक आभरण' किया है।^८ शाता वृत्ति में इसका अर्थ 'रुद्राक्ष से बना हुआ कलाई का आभरण' किया है।^९ देशीनाममाला में 'अक्षमाला' के अर्थ में 'गणैती' का प्रयोग मिलता है।^{१०} यह आश्चर्य की बात है कि लेटिन में रुद्राक्ष के नाम में 'गणित्रसु' शब्द मिलता है।^{११}

धाउरत्ताओ—वृत्तिकार ने यहां शाटिका का अध्याहार किया है।^{१२}

३२. गोयमाइ ! समणे भगवं महावीरे भगवं
गोयमं एवं वयासी—

गीतम ! अयि ! श्रमणः भगवान् महावीरः
भगवन्तं गीतमम् एवमवादीत्—

३२. 'हे गीतम !'^१ इस सम्बोधन से सम्बोधित कर
भगवान् महावीर ने भगवान् गीतम से इस प्रकार
कहा—

दच्छसि णं गोयमा ! पुब्बसंगइयं ।

कं भन्ते ! ?

खंदयं नाम ।

से काहे वा ? किह वा ? केविच्चिरेण वा ?

द्रक्षसि गीतम ! पूर्वसंगतिकम् ।

कं भदन्त ! ?

स्कन्दकं नाम ।

अथ कदा वा ? कथं वा ? कियच्चिरेण वा ?

गीतम ! तुम अपने पूर्व मित्र को देखोगे।

भन्ते ! किसको ?

स्कन्दक को।

कब ? कैसे ? और कितने समय के पश्चात् ?

भाष्य

१. गोयमाइ

वृत्तिकार ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—गीतम इति, गीतम अयि।^{१३}

३३. एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं
समएणं सावत्थी नामं नगरी होत्या—
वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए
गइभालस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायण-
सगोत्ते परिव्वायए परिवसइ । तं चेव जाव
जेणेव ममं अंतिए, तेणेव पहारेत्थ
गमणाए । से अदूरागते बहुसंपत्ते अट्ठाण-
पडिवण्णे अंतरां पहे वट्टइ । अजेव णं
दच्छसि गोयमा !

एवं खलु गीतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये
श्रावस्ती नाम नगरी आसीत्—वर्णकः । तत्र
श्रावस्त्यां नगर्यां गर्दभालस्य अन्तेवासी
स्कन्दकः नाम कात्यायनसगोत्रः परिव्राजकः
परिवसति । तत्रैव यावद् यत्रैव मनान्तिके,
तत्रैव प्रादीघरत् गमनाय । सः अदूरागतः
बहुसंप्राप्तः अध्वप्रतिपन्नः अन्तरा पथे वर्तते ।
अथैव द्रक्षसि गीतम !

३३. गीतम ! उस काल और उस समय श्रावस्ती
नामक नगरी थी—नगर-वर्णन। उस श्रावस्ती
नगरी में गर्दभाल का शिष्य कात्यायनसगोत्र
स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता है। भगवान् ने
वह सारी बात बताई यावत् जहां में हूं, उसने
वहां आने का संकल्प किया। (अब) वह निकट
आ गया है, थोड़ी दूरी पर है, वह मार्ग में चल
ही रहा है, निकट मार्ग पर है।^{१४} गीतम ! तुम
आज ही उसको देखोगे।

१. (क) ओघ. ६६८—

पत्तं पत्ताबंधो पायडुवणं च पायकेसरिया ।

(ख) ओघ. वृ. प. २०८—पात्रकेसरिका—पात्रकमुखवस्त्रिका ।

२. भ. वृ. २।३१—केशरिका—प्रमार्जनार्थं वीवरखण्डम् ।

३. वही, २।३१—अंकुशकं तरुपल्लवग्रहणार्थमंकुशाकृतिः ।

४. औप. वृ. पृ. १८०—अंकुशकाः देवार्चनार्थं वृक्षपल्लवाकर्षणार्थं अंकुशकाः ।

५. भ. वृ. २।३१—पवित्रकं अंगुलीयकम् ।

६. औप. वृ. पृ. १८०—पवित्रकाणि ताम्रभयान्यंगुलीयकानि ।

७. आटे.—पवित्रम्—A ring of kusa grass worn on the fourth
finger on certain religious occasions.

८. आटे कृत कोश में 'पवित्रवत्' का अर्थ है—Having a strainer. इससे

पवित्र का अर्थ strainer अर्थात् 'जल छानने का वस्त्र' होता है।

९. भ. वृ. २।३१—गणेतिका—कलाचिकाऽऽभरणविशेषः ।

१०. औप. वृ. पृ. १८०—गणेतिका—हस्ताभरणविशेषः ।

११. शाता. वृ. पृ. २२७—गणेत्रिका—रुद्राक्षकृतं कलाचिकाभरणम् ।

१२. देशीनाममाला, पृ. २१८—...अक्खवले गणैती अ ॥

१३. आटे.—रुद्राक्ष—Eleocarpus Ganitrus.

१४. (क) भ. वृ. २।३१—धाउरत्ताओ ति शाटिका इति विशेषः ।

(ख) औप. वृ. पृ. १८०—धाउरत्ताओ य ति धाउरत्ता—गैरिकोपरजिता
शाटिका इति गम्यम् ।

१५. भ. वृ. २।३२—गीतम इति एवमामन्त्र्येति शेषः, अथवाऽयीत्यामन्त्रार्थ-
मेव ।

१. होत्या

वृत्तिकार ने विभक्ति-परिवर्तन के द्वारा होत्या का प्रयोग अस्ति के स्थान में माना है।^१

२. वह निकट आ गया है.....निकट मार्ग पर है।

३४. भंतंति ! भगवं गोयमे समर्णं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—पहू णं भंते ! खंदए कच्चायण-सगोत्ते देवानुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पच्चइत्तए ?

हंता पभू ॥

३५. जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमइं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हच्चमागए ।

३६. तए णं भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरागतं जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेत्ति, अब्भुट्ठेत्ता खिप्पामेव पच्चुयगच्छइ, जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—हे खंदया ! सागयं खंदया ! सुसागयं खंदया ! अणुरागयं खंदया ! सागयमणुरागयं खंदया ! से नूनं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयसीए पिंगलएणं नियंटेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए—मागहा ! किं सअंते लोगे ? अणंते लोगे ? एवं तं चेव जाव जेणेव इहं, तेणेव हच्चमागए । से नूनं खंदया ! अडे समडे ? हंता अत्ति ॥

३७. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—से केस णं गोयमा ! तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा, जेणं तव एस अडे मम ताव रहस्सकडे हच्चमक्खाए, जओ णं तुमं जाणसि ?

भदन्त ! अयि ! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—प्रभुः भदन्त ! स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः देवानुप्रियाणाम् अन्तिके मुण्डः भूत्वा अगाराद् अनगारात्तां प्रव्रजितुम् ? हन्त प्रभुः ।

यावत् च श्रमणः भगवान् महावीरः भगवतः गौतमस्य एतदर्थं परिकथयति तावत् च स स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः तं देशं 'हव्यं' आगतः ।

ततः भगवान् गौतमः स्कन्दकं कात्यायनसगोत्रम् अदूरागतं ज्ञात्वा क्षिप्रमेव अभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय क्षिप्रमेव प्रत्युपगच्छति, यत्रैव स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य स्कन्दकं कात्यायनसगोत्रम् एवमवादीत्—हे स्कन्दक ! स्वागतं स्कन्दक ! सुस्वागतं स्कन्दक ! अन्वागतं स्कन्दक ! स्वागतमन्वागतं स्कन्दक ! अथ नूनं त्वं स्कन्दक ! श्रावस्त्यां नगर्यां पिंगलकेन निर्ग्रन्थेन वैशालिकश्रावकेण इममाक्षेपं पृष्ठः—मागध ! किं सान्तः लोकः ? अनन्तः लोकः ? एवं तच्चैव यावत् यत्रैव इह, तत्रैव 'हव्यं' आगतः । स नूनं स्कन्दक ! अर्थः समर्थः ? हन्त अस्ति ।

ततः सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः भगवन्तं गौतमम् एवमवादीत्—स क एष गौतम ! तथारूपः ज्ञानी वा तपस्वी वा येन तव एष अर्थः मम तावत् रहस्यकृतः 'हव्यं' आख्यातः, यतः त्वं जानासि ?

३४. 'भन्ते' ! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर वे इस प्रकार बोले—भन्ते ! कात्यायनसगोत्र स्कन्दक देवानुप्रिय के पास मुण्ड होकर अगार धर्म से अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है ? हां, वह समर्थ है ।

३५. जितने में श्रमण भगवान् महावीर भगवान् गौतम से यह बात कह रहे हैं, उतने में वह कात्यायनसगोत्र स्कन्दक शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच गया ।

३६. भगवान् गौतम कात्यायनसगोत्र स्कन्दक को निकट आया हुआ जानकर शीघ्र ही खड़े होते हैं, खड़े होकर शीघ्र ही सामने जाते हैं, जहां कात्यायनसगोत्र स्कन्दक है, वहां पहुंचते हैं, पहुंचकर उन्होंने कात्यायनसगोत्र स्कन्दक से इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! स्वागत है स्कन्दक ! सुस्वागत है स्कन्दक ! अन्वागत है स्कन्दक ! स्वागत-अन्वागत है स्कन्दक ! स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी में वैशालिकश्रावक निर्ग्रन्थ पिंगल ने तुमसे यह प्रश्न पूछा—मागध ! क्या लोक सान्त है अथवा अनन्त है ? इस प्रकार गौतम ने वह सारी बात कही यावत् जहां भगवान् महावीर है, वहां तुम आए हो। स्कन्दक ! क्या यह अर्थ संगत है ? हां, है ।

३७. उस कात्यायनसगोत्र स्कन्दक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—गौतम ! वह ऐसा तथारूप ज्ञानी अथवा तपस्वी कौन है जिसने मेरा यह रहस्यपूर्ण अर्थ तुम्हें बताया, जिससे यह तुम जानते हो ?

१. भ.वृ.२।३३—'होत्यंति' विभक्तिपरिणामादस्तीत्यर्थः अथवा कालस्यावसर्पिणीत्वात्सिद्धगुणा कालान्तर एवाभवव्रेदानीमिति ।

२. वही,२।३३—'अदूरागए'ति अदूरे आगतः, स चावधिस्थानापेक्षयाऽपि स्यात् अथवा दूरतरमागपि क्षया क्रोशादिकमप्यदूरं स्यादत उच्यते 'बहुसंपत्ते' ईष-

दूनसंप्राप्तो बहुसंप्राप्तः, स च विश्रामादिहेतोरारामादिगतोऽपि स्यादत उच्यते—'अद्धानपडिवव्रे'ति मार्गप्रतिपन्नः किमुक्तं भवति?—'अंतरापहे वट्टइ'ति विवक्षितस्थानयोरन्तरालमार्गो वर्तत इति ।

३८. तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायण-सगोत्तं एवं वयासी—एवं खलु खंदया ! ममं धम्मायरियं धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरं उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली तीयपच्चुप्पन्नभागागयवियाणए सब्बणू सब्बदरिसी जेणं मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे ह्वमक्खाए, जओ णं अहं जानामि खंदया !

ततः सः भगवान् गीतमः स्कन्दकं कात्यायन-सगोत्रम् एवमवादीद्—एवं खलु स्कन्दक ! मम धर्माचार्यः धर्मोपदेशकः श्रमणः भगवान् महावीरः उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः अर्हत् जिनः केवली अतीतप्रत्युत्पन्नागतविज्ञायकः सर्वज्ञः सर्वदर्शी येन मम एष अर्थः तव तावत् रहस्यकृतः 'ह्वं' आख्यातः, यतः अहं जानामि स्कन्दक !

३८. भगवान् गीतम ने कात्यायनसगोत्र स्कन्दक से इस प्रकार कहा—स्कन्दक ! मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर हैं ! वे उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक^१, अर्हत्, जिन, केवली, अतीत, वर्तमान और भविष्य के विज्ञाता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। उन्होंने मुझे तुम्हारा यह रहस्य-पूर्ण अर्थ बताया। स्कन्दक ! जिससे यह मैं जानता हूँ।

भाष्य

१. उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक

देखें, भ. १।२००-२१० का भाष्य।

३९. तए ण से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पञ्जु-वासामो । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ॥

ततः सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः भगवन्तं गीतमम् एवमवादीत्—गच्छावः गीतम ! तव धर्माचार्यं धर्मोपदेशकं श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दावहे नमस्यावः सत्कारयावः सम्मानयावः कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपास्वहे ।

३९. कात्यायनसगोत्र स्कन्दक ने भगवान् गीतम से इस प्रकार कहा—गीतम ! हम चलें, तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें, सत्कार-सम्मान करें। वे कल्याणकारी, मंगल, देव और प्रशस्तचित्तवाले हैं, उनकी हम पर्युपासना करें।

ययासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबंध मत करो।

४०. तए णं से भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरं, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥

ततः सः भगवान् गीतमः स्कन्दकेन कात्यायनसगोत्रेण सार्द्धम् यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः, तत्रैव प्रादीधरत् गमनाय ।

४०. भगवान् गीतम ने कात्यायनसगोत्र स्कन्दक के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ जाने का संकल्प किया।

४१. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं वियट्ठभोइ यावि होत्था ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणः भगवान् महावीरः व्यट्ठभोजी चापि आसीत् ।

४१. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर प्रतिदिनभोजी^१ थे।

भाष्य

१. प्रतिदिनभोजी

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'व्यावृत्तभोजी' किया है। इसके निरुक्त में उन्होंने लिखा है—'व्यावृत्त-व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) सूर्य में भोजन करने वाला व्यावृत्तभोजी कहलाता है।' यहाँ प्रतिदिन के

अर्थ में 'व्यावृत्त' का प्रयोग संगत नहीं लगता। संस्कृत शब्द कोश में 'अट्ठ' का एक अर्थ 'निरन्तर' है।^१ इसलिए व्यट्ठभोजी का अर्थ 'निरन्तरभोजी' किया जा सकता है।

४२. तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्ठभोइस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगलं अणलंकिय-विभूषियं लक्खण-वज्जन-गुणोववेयं सिरीए अतीव-अतीव उवसोभेमाणं चिट्ठइ ॥

ततः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य व्यट्ठभोजिनः शरीरकम् 'ओरालं' शृंगारं कल्याणं शिवं धन्यं मंगल्यं अनलंकृत-विभूषितं लक्षण-व्यञ्जन-गुणोपेतं श्रिया अतीव-अतीव उपशोभमानं तिष्ठति ।

४२. प्रतिदिनभोजी श्रमण भगवान् महावीर का शरीर प्रधान, शृंगारित (अतिशयशोभित), कल्याण, शिव, धन्य, मंगलमय, अलंकृत न होने पर भी विभूषित, लक्षण, व्यञ्जन, गुणों से युक्त और श्री से अतीव-अतीव उपशोभमान है।

१. वही, २।४१—'वियट्ठभोइ'ति व्यावृत्ते व्यावृत्ते सूर्यं भुङ्क्ते इत्येवंशीलो २. आट्टे.—अट्ट—frequent, constant
व्यावृत्तभोजी प्रतिदिनभोजीत्यर्थः।

भाष्य

१. सूत्र ४२

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के शरीर के नौ विशेषण बतलाए गए हैं:

१. ओराल—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—प्रधान।^१
२. शृंगार—अतिशय शोभावाला।
३. कल्याण—श्रेय।
४. शिव—उपद्रवरहित।
५. धन्य—स्वस्थ, भाग्यशाली, प्रशंसनीय।
६. मांगल्य—हितार्थ की प्राप्ति कराने वाला।

७. अनलंकृतविभूषित—मुकुट आदि अलंकारों से अलंकृत और वस्त्र आदि से विभूषित—अलंकृत-विभूषित। भगवान् का शरीर न अलंकार से अलंकृत था और न वस्त्र से विभूषित था। यह वृत्ति-सम्मत अर्थ है।^२ यह वर्णनात्मक है। इससे कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। विशेषता की दृष्टि से उक्त वाक्य का आशय यह होना चाहिए कि भगवान् का शरीर अलंकृत न होने पर भी विभूषित था—कान्ति, दीप्ति और चमकयुक्त था।

८. लक्षण, व्यञ्जन और गुणों से युक्त

लक्षण—शुभसूचक शरीर के चिह्न।

व्यञ्जन—मष, तिल आदि।

इनका वैकल्पिक अर्थ है—जन्म-जात चिह्न 'लक्षण' और

पश्चात् होने वाला चिह्न 'व्यञ्जन'।

गुण—सौभाग्य आदि।

वृत्तिकार ने लक्षण का अर्थ मान, उन्मान और प्रमाण किया है। जो पुरुष जल से भरी हुई कुण्डिका में प्रवेश करता है, उसके प्रवेश करने पर एक द्रोण जितना जल निकलता है, वह 'पुरुषमानोपेत' कहलाता है; तराजु पर बैठा हुआ पुरुष अर्धभार^३ मान होता है तो वह 'उन्मानोपेत' कहलाता है। अपने अंगुल से १०८ अंगुल की ऊंचाई वाला 'प्रमाणोपेत' कहलाता है।^४ वृत्तिकार द्वारा कृत 'लक्षण' की व्याख्या यहां विमर्शनीय है।

अणुओगदाराई के अनुसार उत्तमपुरुष मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त तथा लक्षण, व्यञ्जन और गुणों से उपेत होता है।^५ मुख आत्माङ्गुल से बारह अङ्गुल-प्रमाण होता है और जो पुरुष नवमुख-प्रमाण (अर्थात् १०८ अङ्गुल) ऊंचाई वाला होता है वह प्रमाणोपेत, जो पुरुष द्रोणी-प्रमाण है, वह मानयुक्त और जो अर्धभार तुल्य तुलता है, वह उन्मानयुक्त है।^६

प्रस्तुत आगम में भी लक्षण-व्यञ्जन-गुणोपेत तथा मानोन्मान-प्रमाण-प्रतिपूर्ण—ये दोनों विशेषण स्वतन्त्र रूप में मिलते हैं।^७ इसलिए यहां लक्षण का अर्थ शरीरगत चिह्न अधिक संगत लगता है। लक्षण और व्यञ्जन का संयुक्त प्रयोग शरीरगत चिह्नों के अर्थ में होता है।

८. श्री—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—लक्ष्मी और शोभा। यहां 'शोभा' अर्थ प्रासंगिक है।^८

४३. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स विचट्टभो-इस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजण-गुणोववेयं सिरीए अतीव-अतीव उव-

ततः सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य व्यट्टभोजिनः शरीरकम् 'ओरालं' शृंगारं कल्याणं शिवं धन्यं मांगल्यम् अनलंकृतविभूषितं लक्षण-व्यञ्जन-गुणोपेतं श्रिया अतीव-अतीव उपशोभमानं पश्यति,

४३. ^१ वह कात्यायनसगोत्र स्कन्दक प्रतिदिन-भोजी श्रमण भगवान् महावीर के प्रधान, शृंगारित, कल्याण, शिव, धन्य, मंगलनय, अलंकृत न होने पर भी विभूषित, लक्षण, व्यञ्जन, गुणों से युक्त और श्री से अतीव-अतीव उपशोभमान शरीर को

१. भ.वृ.२।४२—'ओरालं'ति प्रधानम्।

२. वही,२।४२—अलंकृतं मुकुटादिभिर्विभूषितं—वस्त्रादिभिस्तत्रिषेधादनलङ्कृतविभूषितम्।

३. देखें, अणु.सू.३७८।

४. भ.वृ.२।४२—लक्षणं—मानोन्मानादि, तत्र मानं—जलद्रोणमानता, जलभृत-कुण्डिकायां हि मातव्यः पुरुषः प्रवेश्यते तत्रवेशे च यज्जलं ततो निस्सरति, तद्यदि द्रोणमानं भवति, तदाऽसौ मानोपेत उच्यते। उन्मानं त्यर्द्धभारमानता, मातव्यः पुरुषो हि तुलारोपितो यद्यर्द्धभारमानो भवति, तदोन्मानोपेतोऽसावुच्यते। प्रमाणं पुनः स्वाङ्गुलेनाद्योत्तरशताङ्गुलोच्छ्रयता, यदाह—

“जलदोणमर्द्धभारं समुहाइ समूसिओ उ जो नव उ।

माणुम्माणपमाणं तिचिहं खलु लक्खणं एयं॥”

व्यञ्जनं—मषतिलकादिकमयवा सहजं लक्षणं पश्चान्नवं व्यञ्जनमिति।

गुणाः—सौभाग्यादयो लक्षणव्यञ्जनानां वा ये गुणास्तैरुपेतं यत्तत-या।

५. अणु.३६०, गा.१—

माणुम्माणपमाणजुत्ता, लक्खणवंजणगुणेहि उववेया।

उत्तमकुलप्यसूया उत्तमपुरिसा मुणेयच्चा॥

६. वही, ३६०—जे णं जया मणुस्सा भवति तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेण दुवालस अंगुलाइं मुहं, नवमुहाइं पुरिसे पमाणजुते भवइ। दोणीए पुरिसे माण-जुते भवइ, अर्द्धभारं तुल्लमाणे पुरिसे उम्माणजुते भवइ।

७. भ.११।१३४—लक्खण-वंजण-गुणोववेयं माणुम्माण-पमाण-पडिपुण्णसुजाय-सव्वंगसुंदरंगं।

८. भ.वृ.२।४३—'सिरीए'ति लक्ष्म्या शोभया वा।

सोभेमाणं पासइ, पासिता हइतुष्टचित्त-
माणंदिए णंदिए पीइमणे परमसोभ-
णस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव
समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छिता समणं भगवं महावीरं
तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेता
वंदइ नमंसइ, वंदिता नमंसिता णच्चासन्ने
नात्तिदूरे सुस्सुसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे
विणएणं पजलियडे पज्जुवासइ ॥

दृष्ट्वा हृष्टतुष्टचित्तः आनन्दितः नन्दितः प्रीति-
मनाः परमसौमनस्यितः हर्षवशविसर्पदहृदयः
यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपा-
गच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं
त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा न अत्यासन्नः
नात्तिदूरः शुश्रूषमाणः नमस्यन् अभिमुखः
विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपास्ते ।

देखता है, देखकर हृष्ट-तुष्ट चित्त वाला, आनन्दित,
नन्दित, प्रीतिपूर्ण मन वाला, परम सौमनस्य-युक्त
और हर्ष से विकस्वर हृदय वाला हो गया । जहां
श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां वह आता है,
आकर श्रमण भगवान् महावीर को दाईं ओर से
प्रारंभ कर तीन बार प्रदक्षिणा करता है, वन्दन-
नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर न अति
निकट, न अति दूर शुश्रूषा और नमस्कार की
मुद्रा में उनके सम्मुख सविनय वद्धाञ्जलि होकर
पर्युपासना करता है ।

भाष्य

सूत्र ४३

शब्द-विमर्श

हृष्टतुष्ट—अतितुष्ट; अथवा हृष्ट—विस्मित, तुष्ट—जिसमें चित्त
या मन तोष प्राप्त करे ।

आनन्दित—सौम्य आदि भावों से ईषत् समृद्ध मुख-मण्डल ।

नन्दित—सौम्य आदि भावों से समृद्धतरता को प्राप्त ।

प्रीतिमन—जिसका मन प्रीति से भरा हुआ हो ।

सोमणस्सिए—वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—
सौमनस्यित और सौमनस्यिक—परम सौमनस्य वाला ।

विसप्पमाण—फैलता हुआ ।^१

४४. खंदयाति ! समणे भगवं महावीरे खंदयं
कच्चायणसगोत्तं एवं बयासी—से नूनं तुमं
खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगलएणं
नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं
पुच्छिए—मागहा !

१. किं सअंते लोए ? अणंते लोए ? २.
सअंते जीवे ? अणंते जीवे ? ३. सअंता
सिद्धी ? अणंता सिद्धी ? ४. सअंते सिद्धे ?
अणंते सिद्धे ? ५. केण वा मरणेणं मरणेण
जीवे बड्ढति वा, हायति वा ? एवं तं चेव
जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव हव्वमागए ।
से नूनं खंदया ! अडे समडे ?

हंता अत्थि ॥

स्कन्दक ! अयि ! श्रमणः भगवान् महावीरः
स्कन्दकं कात्यायनसगोत्रम् एवमवादीत्—
अथ नूनं त्वं स्कन्दक ! श्रावस्त्यां नगर्यां
पिंगलकेन निर्गन्धेन वैशालिकश्रावकेण
अयमाक्षेपः पृष्टः—मागध !

१. किं सान्तः लोकः ? अनन्तः लोकः ?
२. सान्त जीवः ? अनन्त जीवः ? ३. सान्ता
सिद्धिः ? अनन्ता सिद्धिः ? ४. सान्तः
सिद्धः ? अनन्तः सिद्धः ? ५. केन वा मरणेन
प्रियमाणः जीवः वर्धते वा, हीयते वा ? एवं
तच्चैव यावत् यत्रैव मम अन्तिकः तत्रैव 'हव्वं'
आगतः । स नूनं स्कन्दक ! अर्थः समर्थः ?

हन्त अस्ति ।

४४. 'हे स्कन्दक !' इस सम्बोधन से सम्बोधित कर
श्रमण भगवान् महावीर ने कात्यायनसगोत्र
स्कन्दक से इस प्रकार कहा—स्कन्दक ! श्रावस्ती
नगरी में वैशालिक-श्रावक पिंगल निर्गन्ध ने तुमसे
यह प्रश्न पूछा—मागध !

१. क्या लोक सान्त है अथवा अनन्त है ? २.
जीव सान्त है अथवा अनन्त है ? ३. सिद्धि सान्त
है अथवा अनन्त है ? ४. सिद्ध सान्त है अथवा
अनन्त है ? ५. किस मरण से मरता हुआ जीव
बढ़ता है अथवा घटता है ? इस प्रकार श्रमण
भगवान् महावीर ने वह सारी बातें कहीं यावत्
तुम मेरे पास आगए । स्कन्दक ! क्या यह अर्थ
संगत है ?

हां, है ।

४५. जे वि य ते खंदया ! अयमेयास्वे
अज्जात्थिए वित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे
समुप्पज्जित्था—किं सअंते लोए ? अणंते
लोए ?—तस्स वि य णं अयमडे—एवं

योऽपि च तव स्कन्दक ! अयमेतद्रूपः आ-
ध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संक-
ल्पः समुदपादि—किं सान्तः लोकः ? अनन्तः
लोकः ?—तस्यापि च अयमर्थः—एवं खलु

४५. ^१स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का
आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ—क्या लोक सान्त है अथवा
अनन्त है ? उसका भी यह अर्थ है—

१. वही, २। ४३—हृष्टतुष्टचित्तमाणंदिए'ति हृष्टतुष्टमत्पर्यं तुष्टं हृष्टं वा—विस्मितं
तुष्टं च—तोषवद्यत्तं—मनो यत्र तत्तथा, तद् हृष्टतुष्टचित्तं यथा भवति एवम्
'आनन्दितः' ईषन्मुखसौम्यतादिभावैः समृद्धिसमुपगतः, ततश्च 'नंदि'ति नन्दि-
तस्तीरेव समृद्धतरतामुपगतः, 'पीइमणे'ति प्रीतिः—प्रीणनमाप्यायनं मनसि यस्य

स तथा 'परमसोमणस्सिए'ति परमं सौमनस्यं—सुमनस्कता संजातं यस्य स
तथा 'परमसौमनस्यितस्तद्वाऽस्यास्तीति परमसौमनस्यिकः 'हरिसवसविसप्प-
माणहियए'ति हर्षवशेनविसर्पद्—विस्तारं ब्रजद् हृदयं यस्य स तथा ।

खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते,
तं जहा—द्वओ, खेतओ, कालओ,
भावओ ।

द्वओ णं एगे लोए सअंते ।

खेतओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयण-
कोडाकोडीओ आयाम-विक्खंभेणं, असंखे-
ज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिकखेवेणं
पण्णत्ते, अत्थि पुण से अंते ।

कालओ णं लोए न कयाइ न आसी, न
कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ
—भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य—
धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्टिए
निच्चे, नत्थि पुण से अंते ।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा,
अणंता गंधपज्जवा, अणंता रसपज्जवा,
अणंता फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा,
अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुय-
लहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते ।

सेत्तं खंदगा ! द्वओ लोए सअंते, खेतओ
लोए सअंते, कालओ लोए अणंते, भावओ
लोए अणंते ॥

मया स्कन्दक ! चतुर्विधः लोकः प्रज्ञतः, तद्
यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः ।

द्रव्यतः एकः लोकः सान्तः ।

क्षेत्रतः लोकः असंख्येया योजनकोटिकोटयः
आयाम-विष्कम्भेण, असंख्येया योजनकोटि-
कोटयः परिक्षेपेण प्रज्ञतः, अस्ति पुनः तस्य
अन्तः ।

कालतः लोकः न कदापि नासीत्, न कदापि
न भवति, न कदापि न भविष्यति—अभूत्
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः नियतः
शाश्वतः अक्षयः अव्ययः अवस्थितः नित्यः,
नास्ति पुनः तस्य अन्तः ।

भावतः लोके अनन्ताः वर्णपर्यवाः, अनन्ताः
गन्धपर्यवाः, अनन्ताः रसपर्यवाः, अनन्ताः
स्पर्शपर्यवाः, अनन्ताः संस्थानपर्यवाः,
अनन्ताः गुरुकलघुकपर्यवाः, अनन्ताः अगु-
रुकलघुकपर्यवाः, नास्ति पुनः तस्य अन्तः ।

तदेतत् स्कन्दक ! द्रव्यतः लोकः सान्तः,
क्षेत्रतः लोकः सान्तः, कालतः लोकः अनन्तः,
भावतः लोकः अनन्तः ।

स्कन्दक ! मैंने लोक चार प्रकार का बतलाया है,
जैसे—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः ।

द्रव्यतः लोक एक और सान्त है ।

क्षेत्रतः लोक असंख्येय कोटाकोटि योजन लम्बा-
चौड़ा और असंख्येय कोटाकोटि योजन परिधि
वाला प्रज्ञत है और वह अन्त-सहित है ।

कालतः लोक कभी नहीं था, कभी नहीं है और
कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है—वह था, है और
होगा—वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय,
अव्यय, अवस्थित, नित्य है और उसका अन्त
नहीं है, वह अनन्त है ।

भावतः लोक में अनन्त वर्णपर्यव, अनन्त
गन्धपर्यव, अनन्त रसपर्यव, अनन्त स्पर्शपर्यव,
अनन्त संस्थानपर्यव, अनन्त गुरुकलघुपर्यव, अनन्त
अगुरुकलघुपर्यव हैं और उसका अन्त नहीं है, वह
अनन्त है ।

स्कन्दक ! इसलिए द्रव्यतः लोक सान्त है, क्षेत्रतः
लोक सान्त है, कालतः लोक अनन्त है, भावतः
लोक अनन्त है ।

भाष्य

१. सूत्र ४५

शब्द-विमर्श

द्रव्यतः.....भावतः—देखें भ. २।२-७ का भाष्य

ध्रुव—अचल, गतिरहित ।

नियत—एकस्वरूपता के कारण नियमबद्ध ।

शाश्वत—प्रतिक्षण अस्तित्व वाला ।

अक्षय—अविनाशी ।

अव्यय—जिसके एक अवयव का भी व्यय न हो ।

अवस्थित—हीयमान और वर्धमान इन दोनों अवस्थाओं से
मुक्त ।

नित्य—अवस्थित होने के कारण सदा होने वाला ।^१

भावतः लोक में—लोक शब्द का निरुक्त यह है—जो दिखाई
देता है, वह लोक है ।^२ इसीलिए भावतः लोक का निरूपण वर्ण,

गन्ध आदि के पर्यवों से किया गया है । पर्यव का अर्थ है—पर्याय ।
पर्यव, विशेष, धर्म, पर्याय, पर्यय, भेद और भाव—ये सब पर्याय-
वाची शब्द हैं ।^३ पर्यव दो प्रकार के होते हैं—स्वभाव पर्यव और
विभाव पर्यव । जीव और पुद्गल में दोनों प्रकार के पर्यव रहते हैं,
शेष द्रव्यों में स्वभाव पर्यव होता है ।^४ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये
पुद्गल के स्वभाव पर्यव हैं । एक परमाणु या स्कन्ध एक गुण काले
रंग वाला यावत् अनन्त गुण काले रंग वाला हो जाता है । इसी
प्रकार गंध, रस और स्पर्श में भी स्वाभाविक परिणामन होता रहता
है । गुरुलघु पर्यव पुद्गल और पुद्गल युक्त जीव में होता है । इसका
संबंध स्पर्श से है ।^५ अगुरुलघु पर्यव एक विशेष गुण या शक्ति है ।
इस शक्ति से द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहता है । चेतन अचेतन नहीं
होता और अचेतन चेतन नहीं होता—इस नियम का आधार अगुरुलघु
पर्यव ही है । इसी शक्ति के कारण द्रव्य के गुणों में प्रतिसमय

१. वही, २।४५—‘ध्रुवे’ति ध्रुवोऽचलत्वात् स चानियतरूपोऽपि स्यादत
आह—‘णियते’ति नियत एकस्वरूपत्वात्, नियतरूपः कादाचित्कोऽपि स्या-
दत आह—‘सासए’ति शाश्वतः प्रतिक्षणं सद्भावात्, स च नियतकाला-
पेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—‘अक्खए’ति अक्षयोऽविनाशित्वात्, अयं च
बहुतरप्रदेशापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—‘अव्वए’ति अव्ययस्तत्त्वदेशा-
नामव्ययत्वात्, अयं च द्रव्यतयाऽपि स्यादित्याह—‘अवट्टिए’ति अवस्थितः
पर्यायानामनन्ततयाऽवस्थितत्वात्, किमुक्तं भवति ?—नित्य इति ।

२. भ.५।२५५—अजीवेहिं लोक्कइ पलोक्कइ, जे लोक्कइ से लोए ।

३. एकार्यक कोश, पृ. ६१—पज्जवो ति वा भेदो ति वा गुणो ति वा एगड्ढा ।

४. नयचक्र, गा.१८—

सम्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुदिट्ठं ।

सव्वेसिं च सहावं, विट्ठमावं जीवपोगलाणं च ॥

५. देखें, भ.१।३६२-४१६ का भाष्य ।

'षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि' होती रहती है।' इस शक्ति को सूक्ष्म वाणी से अगोचर, प्रतिक्षण वर्तमान और आगम प्रमाण से स्वीकरणीय बतलाया गया है।^१ अगुरुलघु पर्याय को स्वभाव-पर्याय और अर्थपर्याय भी कहा जाता है। अगुरुलघु का दूसरा अर्थ है भारहीन। नामकर्म की एक प्रकृति का नाम भी अगुरुलघु कर्म है। उसका संबंध भी भारहीनता से है।

अनादि पारिणाभिक अगुरुलघु शक्ति प्रत्येक द्रव्य में होती है। वह यहां विवक्षित नहीं है। अगुरुलघु नामकर्म भी यहां विवक्षित नहीं है। यहां गुरुलघु की नियामक शक्ति के रूप में अगुरुलघु विवक्षित है। यह शक्ति स्वयं भारहीन है, साथ-साथ गुरुलघु की नियामक भी है। यह शक्ति सिद्ध जीवों में पाई जाती है। सिद्ध

जीव गुरुलघु नहीं हैं। यह निषेधपक्ष है। उसका विधिपक्ष है कि वे अगुरुलघु हैं। यह सिद्धों में पाया जाने वाला अगुरुलघु गुरुलघु का अभाव नहीं है, किन्तु यह एक विधायक शक्ति है। इसीलिए उसके अनन्त पर्यव होते हैं और इसी शक्ति के द्वारा वे न नीचे आते हैं और न इधर-उधर परिभ्रमण करते हैं। यह अगुरुलघुशक्ति अणु, सूक्ष्म स्कन्ध और अमूर्त द्रव्यों में पाई जाती है।^२ संसारी जीव में गुरुलघु और अगुरुलघु दोनों पर्यवों का अस्तित्व होता है। औदारिक आदि शरीरों के कारण गुरुलघु पर्यवों का अस्तित्व होता है और कर्मण आदि पुद्गल द्रव्यों की अपेक्षा से तथा जीव की अपेक्षा से अगुरुलघु पर्यवों का अस्तित्व होता है।^३ सिद्ध जीव अशरीरी होते हैं; इसलिए उनमें केवल अगुरुलघु पर्यव होते हैं।

४६. जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे
अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे
समुप्पज्जित्था—
किं सअंते जीवे ? अणंते जीवे ?
तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए
खंदया ! चउब्धिहे जीवे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।
दब्बओ णं एगे जीवे सअंते।
खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जएणिए, असंखे-
ज्जएणेतोगादे, अत्थिए पुण से अंते।

कालओ णं जीवे न कयाइ न आसी, न
कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ—
भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य—धुवे
नियए सासए अवखए अवए अवट्ठिए
निच्चे, नत्थिए पुण से अंते।
भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा,
अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चारित्तपज्जवा,
अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुय-
लहुयपज्जवा, नत्थिए पुण से अंते।
सेत्तं खंदया ! दब्बओ जीवे सअंते, खेत्तओ
जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ
जीवे अणंते ॥

योऽपि च तव स्कन्दक ! अयमेतद्रूपः
आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः
संकल्पः समुदपादि—
किं सान्तः जीवः ? अनन्तः जीवः ?
तस्यापि च अयमर्थः—एवं खलु मया
स्कन्दक ! चतुर्विधः जीवः प्रज्ञप्तः, तद् यथा
—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः।
द्रव्यतः एकः जीवः सान्तः।
क्षेत्रतः जीवः असंख्येयप्रदेशिकः, असं-
ख्येयप्रेदेशावगाढः, अस्ति पुनः तस्य अन्तः।
कालतः जीवः न कदापि नासीत्, न कदापि
न भवति, न कदापि न भविष्यति—अभूत्
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः नियतः
शाश्वतः अक्षयः अव्ययः अवस्थितः नित्यः,
नास्ति पुनः तस्य अन्तः।
भावतः जीवे अनन्ताः ज्ञानपर्यवाः, अनन्ताः
दर्शनपर्यवाः, अनन्ताः चारित्रपर्यवाः,
अनन्ताः गुरुकलघुकपर्यवाः, अनन्ताः अगुरु-
कलघुकपर्यवाः, नास्ति पुनः तस्य अन्तः।
तदेतत् स्कन्दक ! द्रव्यतः जीवः सान्तः,
क्षेत्रतः जीवः सान्तः, कालतः जीवः अनन्तः,
भावतः जीवः अनन्तः।

४६. स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का
आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ—
क्या जीव सान्त है अथवा अनन्त है ?
उसका भी यह अर्थ है—स्कन्दक ! मैंने जीव
चार प्रकार का बतलाया है, जैसे—द्रव्यतः,
क्षेत्रतः, कालतः और भावतः।
द्रव्यतः जीव एक और सान्त है।
क्षेत्रतः जीव असंख्येयप्रदेशी है, आकाश के
असंख्येयप्रेदेशों में अवगाहन किए हुए है और
वह अन्तसहित है।
कालतः जीव कभी नहीं था, कभी नहीं है और
कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है—वह था, है और
होगा—वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय,
अव्यय, अवस्थित, नित्य है और उसका अन्त
नहीं है, वह अनन्त है।
भावतः जीव में अनन्त ज्ञानपर्यव, अनन्त दर्शन-
पर्यव, अनन्त चारित्रपर्यव अनन्त गुरुलघुपर्यव,
अनन्त अगुरुलघुपर्यव हैं और उसका अन्त नहीं
है, वह अनन्त है।
स्कन्दक ! इसलिए द्रव्यतः जीव सान्त है, क्षेत्रतः
जीव सान्त है, कालतः जीव अनन्त है, भावतः
जीव अनन्त है।

१. आलापपड्ढति नयचक्र, परिशिष्ट पृ. २११—अगुरुलघुविकाराः स्वभाव-
पर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिहानिरूपाः। अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभाग-
वृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्त-
गुणवृद्धिः इति षड्वृद्धिः। तथा अनन्तभागहानिः, असंख्यातभागहानिः,
संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः, असंख्यातगुणहानिः, अनन्तगुणहानिः,
इति षड्वृद्धिहानिरूपा द्वादश ज्ञेयाः।
२. वही, पृ. २१६—अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मा वागगोचराः प्रतिक्षणं
वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।

आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ ४ ॥

३. भ.वृ.२।४५—'वण्णपज्जव'ति वर्णविशेषा एकगुणकालत्वादयः, एयमन्येऽपि
गुरुलघुपर्यवास्तद्विशेषा बादरस्कन्धानाम्, अगुरुलघुपर्यवा अपूनां सूक्ष्म-
स्कन्धानाममूर्तानां च।

४. भ.वृ.२।४६—अनंता गुरुलघुपर्यवा औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य, इतरे तु
कर्मणादिद्रव्याणि जीवस्वरूपं चाश्रित्येति।

४७. जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अज्ज-
त्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे
समुप्पज्जित्था—

किं सअंता सिद्धी ? अणंता सिद्धी ?
तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए
खंदया ! चउच्चिहा सिद्धी पण्णत्ता, तं जहा
—दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ ।

दब्बओ णं एगा सिद्धी सअंता ।
खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसं जोयण-
सयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, एगा
जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं
तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापन्न-
जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं
पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते ।

कालओ णं सिद्धी न कयाइ न आसी, न
कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ—
भविसु य, भवति य, भविस्सइ य—धुवा
नियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया
निच्चा, नत्थि पुण सअंता ।

भावओ णं सिद्धीए अणंता वण्णपज्जवा,
अणंता गंधपज्जवा, अणंता रसपज्जवा,
अणंता फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा,
अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुय-
लहुयपज्जवा, नत्थि पुण सअंता ।

सेत्तं खंदया ! दब्बओ सिद्धी सअंता,
खेत्तओ सिद्धी सअंता, कालओ सिद्धी
अणंता, भावओ सिद्धी अणंता ॥

४८. जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे
अज्जत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे
समुप्पज्जित्था—

किं सअंते सिद्धे ? अणंते सिद्धे ?
तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए
खंदया ! चउच्चिहे सिद्धे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ ।
दब्बओ णं एगे सिद्धे सअंते ।

खेत्तओ णं सिद्धे असंखेयपएसिए, असं-
खेयपएसोगाढे, अत्थि पुण से अंते ।

कालओ णं सिद्धे सादीए, अपज्जवसिए,
नत्थि पुण से अंते ।

भावओ णं सिद्धे अणंता नाणपज्जवा, अणंता
दंसणपज्जवा, अणंता अगरुयलहुयपज्जवा,

योऽपि च तव स्कन्दक ! अयमेतद्रूपः
आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः
संकल्पः समुदपादि—

किं सान्ता सिद्धिः ? अनन्ता सिद्धिः ?
तस्यापि च अयमर्थः—एवं खलु मया
स्कन्दक ! चतुर्विधा सिद्धिः प्रज्ञप्ता, तद् यथा
—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः ।

द्रव्यतः एका सिद्धिः सान्ता ।

क्षेत्रतः सिद्धिः पञ्चचत्वारिंशच्च योजन-
शतसहस्राणि आयाम-विष्कम्भेण, एका
योजनकोटिः द्विचत्वारिंशच्च शतसहस्राणि
त्रिंशच्च सहस्राणि द्वयोः च एकोनपञ्चाशद्
योजनशते किंचित् विशेषाधिके परिक्षेपेण
प्रज्ञप्ता, अस्ति पुनः तस्याः अन्तः ।

कालतः सिद्धिः न कदापि नासीत् न कदापि
न भवति, न कदापि न भविष्यति—अभूत्
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवा, नियता,
शाश्वती, अक्षया, अव्यया, अवस्थिता,
नित्या, नास्ति पुनः सान्ता ।

भावतः सिद्ध्यां अनन्ताः वर्णपर्यवाः,
अनन्ताः गन्धपर्यवाः, अनन्ताः रसपर्यवाः,
अनन्ताः स्पर्शपर्यवाः, अनन्ताः संस्थान-
पर्यवाः, अनन्ताः गुरुकलधुकपर्यवाः,
अनन्ताः अगुरुकलधुकपर्यवाः, नास्ति पुनः
सान्ता ।

तदेतत् स्कन्दक ! द्रव्यतः सिद्धिः सान्ता,
क्षेत्रतः सिद्धिः सान्ता, कालतः सिद्धिः
अनन्ता, भावतः सिद्धिः अनन्ता ।

योऽपि च तव स्कन्दक ! अयमेतद्रूपः
आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः
संकल्पः समुदपादि—

किं सान्तः सिद्धः ? अनन्तः सिद्धः ?
तस्यापि च अयमर्थः—एवं खलु मया
स्कन्दक ! चतुर्विधः सिद्धः प्रज्ञप्तः, तद् यथा
—द्रव्यतः, क्षेत्रतः कालतः, भावतः ।

द्रव्यतः एकः सिद्धः सान्तः ।

क्षेत्रतः सिद्धः असंख्येयप्रदेशिकः, असंख्येय-
प्रदेशावगाढः, अस्ति पुनः तस्य अन्तः ।

कालतः सिद्धः सादिकः अपर्यवसितः, नास्ति
पुनः तस्य अन्तः ।

भावतः सिद्धे अनन्ताः ज्ञानपर्यवाः, अनन्ताः
दर्शनपर्यवाः, अनन्ताः अगुरुकलधुकपर्यवाः,

४७. स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का
आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ—

क्या सिद्धि सान्त है अथवा अनन्त है ?
उसका भी यह अर्थ है—स्कन्दक ! मैंने सिद्धि
चार प्रकार की बतलाई है, जैसे—द्रव्यतः,
क्षेत्रतः, कालतः और भावतः ।

द्रव्यतः सिद्धि एक और सान्त है ।

क्षेत्रतः सिद्धि पैंतालीस (४५) लाख योजन
लम्बी-चौड़ी है, उसकी परिधि एक करोड़
बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास
(१,४२,३०,२४६) योजन से कुछ अधिक प्रज्ञप्त
है और वह अन्त-सहित है ।

कालतः सिद्धि कभी नहीं थी, कभी नहीं है और
कभी नहीं होगी, ऐसा नहीं है—वह थी, है और
होगी—वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय,
अव्यय, अवस्थित, नित्य है और वह सान्त नहीं
है, वह अनन्त है ।

भावतः सिद्धि में अनन्त वर्णपर्यव, अनन्त
गन्धपर्यव, अनन्त रसपर्यव, अनन्त स्पर्शपर्यव,
अनन्त संस्थानपर्यव, अनन्त गुरुलघुपर्यव, अनन्त
अगुरुलघुपर्यव हैं और वह सान्त नहीं है, वह
अनन्त है ।

स्कन्दक ! इसलिए द्रव्यतः सिद्धि सान्त है, क्षेत्रतः
सिद्धि सान्त है, कालतः सिद्धि अनन्त है, भावतः
सिद्धि अनन्त है ।

४८. स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का
आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ—

क्या सिद्ध सान्त है अथवा अनन्त है ?
उसका भी यह अर्थ है—स्कन्दक ! मैंने सिद्ध
चार प्रकार का बतलाया है, जैसे द्रव्यतः, क्षेत्रतः
कालतः और भावतः ।

द्रव्यतः सिद्ध एक और सान्त है ।

क्षेत्रतः सिद्ध असंख्येयप्रदेशी है, आकाश के
असंख्येय प्रदेशों में अवगाहन किए हुए है और
वह अन्त-सहित है ।

कालतः सिद्ध सादि अपर्यवसित है और उसका
अन्त नहीं है ।

भावतः सिद्ध में अनन्त ज्ञानपर्यव, अनन्त
दर्शनपर्यव, अनन्त अगुरुलघुपर्यव हैं और उसका

नन्धि पुण से अंते ।

सेत्तं खंदया ! दब्बओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअंते, कालओ सिद्धे अणंते, भावओ सिद्धे अणंते ॥

४९. जे वि य ते खंदया ! इमेयारुवे अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—

केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा, हायति वा ?

तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य, पंडियमरणे य ।

से किं तं बालमरणे ?

बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. वलयमरणे २. वसट्टमरणे ३. अंतो-सत्त्वमरणे ४. तद्भवमरणे ५. गिरिपडणे ६. तरुपडणे ७. जलप्यवेसे ८. जल-णप्यवेसे ९. विसमक्खणे १०. सत्थोवाडणे ११. वेहाणसे १२. गद्धपट्टे—इच्छेतेणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, अणंतेहिं तिरिय-भवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, अणंतेहिं मणुयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं चाउरंतं संसार-कंतारं अणुपरियइइ। सेत्तं मरमाणे वड्ढइ-वड्ढइ ।

सेत्तं बालमरणे ।

नास्ति पुनः तस्य अन्तः।

तदेतत् स्कन्दक ! द्रव्यतः सिद्धः सान्तः, क्षेत्रतः सिद्धः सान्तः, कालतः सिद्धः अनन्तः, भावतः सिद्धः अनन्तः।

योऽपि च तय स्कन्दक ! अयमेतदरूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—

केन मरणेन प्रियमाणः जीवः वर्धते वा, हीयते वा ?

तस्यापि अयमर्थः—एवं खलु स्कन्दक ! मया द्विविधं मरणं प्रज्ञप्तं, तद् यथा— बालमरणं च पण्डितमरणं च ।

अथ किं तत् बालमरणम् ?

बालमरणं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं, तद् यथा— वलयमरणं, वशार्त्तमरणम्, अन्तःशल्यमरणं, तद्भवमरणं, गिरिपतनं, तरुपतनं, जल-प्रवेशः, ज्वलनप्रवेशः, विषभक्षणं, शस्त्राव-पाटनं, वैहानशं, गृध्रस्पृष्टम्। इत्येतेन स्कन्दक ! द्वादशविधेन बालमरणेन प्रियमाणः जीव अनन्तैः नैरयिकभवग्रहणैः आत्मानं संयोजयति, अनन्तैः तिर्यग्भवग्रहणैः आत्मानं संयोजयति, अनन्तैः मनुष्यभवग्रहणैः आत्मानं संयोजयति, अनन्तैः देवभवग्रहणैः आत्मानं संयोजयति, अनादिकं च 'अणवदग्गं' चतु-रन्तं संसारकान्ताम् अनुपर्यटति। तदेतत् प्रियमाणः वर्धते-वर्धते।

तदेतत् बालमरणम् ।

अन्त नहीं है, वह अनन्त है।

स्कन्दक ! इसलिए द्रव्यतः सिद्ध सान्त है, क्षेत्रतः सिद्ध सान्त है, कालतः सिद्ध अनन्त है, भावतः सिद्ध अनन्त है।

४९. ^१स्कन्दक ! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—

किस मरण से मरता हुआ जीव बढ़ता है अथवा घटता है ?

उसका भी यह अर्थ है—स्कन्दक ! मैंने मरण दो प्रकार का बतलाया है, जैसे—बालमरण और पण्डितमरण।

वह बालमरण क्या है ?

बालमरण बारह प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—

१. वलयमरण—संयम-जीवन से च्युत होकर मरना।

२. वशार्त्तमरण—इन्द्रियों के वशवर्ती होकर मरना।

३. अन्तःशल्यमरण—माया आदि आन्तरिक शल्य की दशा में मरना।

४. तद्भवमरण—तिर्यच या मनुष्य भव में विद्यमान प्राणी पुनः तद्भवयोग्य—तिर्यच या मनुष्य भवयोग्य आयुष्य का बंध कर वर्तमान आयु के क्षय होने पर मरता है, उसका मरण तद्भवमरण है।

५. गिरिपतन—पर्वत से गिरकर मरना।

६. तरुपतन—वृक्ष से गिरकर मरना।

७. जलप्रवेश—जल में डूब कर मरना।

८. ज्वलनप्रवेश—अग्नि में प्रवेश कर मरना।

९. विषभक्षण—जहर खाकर मरना।

१०. शस्त्रावपाटन—छूरी आदि शस्त्रों से शरीर को विदीर्ण कर मरना।

११. वैहानश—गले में फांसी लगा वृक्ष की शाखा से लटक कर मरना।

१२. गृध्रस्पृष्ट—मीथ द्वारा मांस नोचे जाने पर मरना। स्कन्दक ! इस बारह प्रकार के बालमरण से मरता हुआ जीव नैरयिक के अनन्त भव-ग्रहण से अपने आपको संयोजित करता है, तिर्यच के अनन्त भव-ग्रहण से अपने आप को संयोजित करता है, मनुष्य के अनन्त भव-ग्रहण से अपने आपको संयोजित करता है, देव के अनन्त भव-ग्रहण से अपने आपको संयोजित करता है और वह आदि-अन्तहीन चतुर्गत्यात्मक संसारकान्ता में अनुपर्यटन करता है। इस बालमरण से मरता हुआ जीव बढ़ता है, बढ़ता है।

यह बालमरण है।

से किं तं पंडियमरणे ?

पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य ।

से किं तं पाओवगमणे ?

पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
नीहारिमे य, अनीहारिमे य । नियमा
अप्पडिकम्मे ।

सेत्तं पाओवगमणे ।

से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
नीहारिमे य, अनीहारिमे य । नियमा
सपडिकम्मे ।

सेत्तं भत्तपच्चक्खाणे ।

इच्छेतेणं खंदया ! दुविहेणं पंडियमरणेणं
मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं
अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिय-
भवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं
मणुयभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,
अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं
विसंजोएइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं
चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयइ । सेत्तं
मरमाणे हायइ-हायइ ।

सेत्तं पंडियमरणे ।

इच्छेएणं खंदया ! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे
जीवे बड्ढइ वा, हायइ वा ॥

अथ किं तत् पण्डितमरणम् ?

पण्डितमरणं द्विविधं, प्रज्ञप्तं, तद् यथा—
प्रायोपगमनं च भक्तप्रत्याख्यानं च ।

अथ किं तत् प्रायोपगमनम् ?

प्रायोपगमनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद् यथा—
निर्हारिमञ्च, अनिर्हारिमञ्च । नियमाद्
अप्रतिकर्म ।

तदेतत् प्रायोपगमनम् ।

अथ किं तद् भक्तप्रत्याख्यानम् ?

भक्तप्रत्याख्यानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद् यथा—
निर्हारिमं च, अनिर्हारिमं च । नियमात्
सप्रतिकर्म ।

तदेतद् भक्तप्रत्याख्यानम् ।

इत्येतेन स्कन्दक ! द्विविधेन पण्डितमरणेन
प्रियमाणः जीवः अनन्तैः नैरयिकभवग्रहणैः
आत्मानं विसंयोजयति, अनन्तैः तिर्यग्-
भवग्रहणैः आत्मानं विसंयोजयति, अनन्तैः
मनुष्यभवग्रहणैः आत्मानं विसंयोजयति,
अनन्तैः देवभवग्रहणैः आत्मानं विसंयोजयति,
अनादिकं च 'अणवदग्गं' चतुरन्तं संसार-
कान्तारं व्यतिव्रजति ।

तदेतन् प्रियमाणः हीयते-हीयते ।

तदेतत् पण्डितमरणम् ।

इत्येतेन स्कन्दक ! द्विविधेन मरणेन प्रियमाणः
जीवः वर्धते वा, हीयते वा ।

वह पण्डितमरण क्या है ?

पण्डितमरण दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—
प्रायोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ।

वह प्रायोपगमन क्या है ?

प्रायोपगमन दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—
निर्हारि और अनिर्हारि । यह नियमतः अपरिकर्म
होता है ।

यह प्रायोपगमन है ।

वह भक्तप्रत्याख्यान क्या है ?

भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—
निर्हारि और अनिर्हारि । यह नियमतः सपरिकर्म
होता है ।

यह भक्तप्रत्याख्यान है ।

स्कन्दक ! इस द्विविध पण्डितमरण से मरता हुआ
जीव नैरयिक के अनन्त भव-ग्रहण से अपने
आपको विसंयोजित करता है, तिर्यच के अनन्त
भव-ग्रहण से अपने आपको विसंयोजित करता
है, मनुष्य के अनन्त भव-ग्रहण से अपने आप
को विसंयोजित करता है, देव के अनन्त भव-
ग्रहण से अपने आपको विसंयोजित करता है और
वह आदि-अन्तहीन चतुर्यत्यात्मक संसारकान्तार
का व्यतिक्रमण करता है । इस पण्डितमरण से
मरता हुआ जीव घटता है, घटता है ।

यह पण्डितमरण है ।

स्कन्दक ! इस द्विविध बाल और पण्डितमरण से
मरता हुआ जीव बढ़ता है और घटता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४६

आयु का क्षय, इन्द्रिय और बल का विनाश होना मरण है ।
उसके दो प्रकार बतलाए गये हैं—बालमरण और पंडितमरण । ठाणं
में मरण के तीन प्रकार मिलते हैं—बालमरण, पण्डितमरण और
बालपण्डितमरण ।^१ यहां 'बालपण्डितमरण' स्वतंत्र रूप में विवक्षित
नहीं है । ठाणं में मरण के चौदह प्रकार तथा समवाओ में मरण के
सतरह प्रकार बतलाए गए हैं । भगवती आराधना में भी मरण के
सतरह प्रकार उपलब्ध हैं । देखें तालिका ।

प्रस्तुत प्रकरण में बालमरण के बारह प्रकार बतलाए गए हैं ।

इनमें वैहायस और गृध्रस्पृष्ट विशेष स्थिति में अप्रतिकृष्ट—अनिषिद्ध
बतलाए गए हैं । आयातो में केवल वैहायस का विधान है ।^२ उसमें
गृध्रस्पृष्ट का विधान नहीं है । इससे प्रतीत होता है कि गृध्रस्पृष्ट
अनिषिद्ध है—यह मान्यता आयारो के उत्तरकाल में हुई है । ठाणं
में वैहायस और गृध्रस्पृष्ट दोनों अनिषिद्ध हैं ।^३ विजयोदया में भी
वैहायस और गृध्रस्पृष्ट को अप्रतिषिद्ध और अननुज्ञात बतलाया गया
है ।

१. ठाणं, ३।११६—तिविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे, पंडियमरणे,
बालपंडियमरणे ।

२. आयातो, ८।१६—तवस्सिणो हु तं सेयं, जमेगे विहमाइए ।

३. ठाणं, २।४१३—दो मरणाइं समणेणं भगवता गहावीरेणं समणाथं निग्गंथाणं
णो निच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं बुइयाइं णो णिच्चं पसत्याइं णो णिच्चं

अब्भणुण्णायाइं भवति । कारणे पुण अप्पडिकुइयाइं, तं जहा—वेहायसे चेव
गिद्धपट्टे चेव ।

४. विजयोदया, वृ.प.८८—अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे विष्यणासं गिद्धपुइं
इति सञ्ज्ञिते ।

भग. २/४६	अं., २/४११-१४	सम. १७/६	नि. ११/६३	मूलाराधना, १/२५ विजयोदया वृत्ति प.८६
बालमरण— बलय वशार्त्त तद्भव अन्तःशल्य गिरिपतन तरुपतन जलप्रवेश ज्वलनप्रवेश विषभक्षण शस्त्रावपाटन वैहायस गृध्रस्पृष्ट पण्डितमरण प्रायोपगमन भक्तप्रत्याख्यान म. १३/१३०-१४५ मरण— आवीचि अवधि आत्यन्तिक बाल पण्डित	अग्रशस्तमरण— बलय निदान वशार्त्त तद्भव निदान गिरिपतन तरुपतन जलप्रवेश ज्वलनप्रवेश विषभक्षण शस्त्रावपाटन वैहायस गृध्रस्पृष्ट प्रशस्तमरण प्रायोपगमन भक्तप्रत्याख्यान	मरण— आवीचि अवधि आत्यन्तिक बलाय (बलन्) वशार्त्त अन्तःशल्य तद्भव बाल पण्डित बालपण्डित छद्मस्थ केवली वैहायस गृध्रस्पृष्ट (गृध्रपृष्ठ) भक्तप्रत्याख्यान इंगिनी प्रायोपगमन	बालमरण— गिरिपतन मरुपतन भृगुपतन तरुपतन गिरिप्रस्कन्दन मरुप्रस्कन्दन भृगुप्रस्कन्दन तरुप्रस्कन्दन जलप्रवेश ज्वलनप्रवेश जलप्रस्कन्दन ज्वलनप्रस्कन्दन विषभक्षण शस्त्रावपाटन बलय वशार्त्त तद्भव अन्तःशल्य वैहायस गृध्रस्पृष्ट	मरण— आवीचि तद्भव अवधि आद्यन्त बाल पण्डित अवसन्न बालपण्डित सशल्य बलाय वशार्त्त विप्राणस गृध्रपृष्ठ भक्तप्रत्याख्यान प्रायोपगमन इंगिनी केवली

उत्तराभ्यन्त निर्युक्ति में 'वैहायस' और 'गृध्रस्पृष्ट' इन दोनों को अनुज्ञात बतलाया गया है।^१

उक्त तालिका में मरण की संख्या और क्रम में भेद मिलता है। संख्या भेद विवक्षा-सापेक्ष है। निशीब में बालमरण के २० प्रकार बतलाए गये हैं और अन्त में इस प्रकार के अन्यतर बाल मरणों का भी संकेत किया गया है।^२ इससे स्पष्ट है कि बालमरण की संख्या १२ भी हो सकती है, २० भी हो सकती है और ५० भी हो सकती है। ग्रंथकर्ता की विवक्षा के आधार पर संख्या न्यून और अधिक हो सकती है। क्रमभेद भी ग्रन्थकर्ता की विवक्षा है।

मृत्यु के मूल प्रकार दो ही हो सकते हैं—आवीचिमरण और प्रायोगिकमरण। शेष सब प्रायोगिकमरण के प्रकार हैं। अकलंक ने मरण के दो प्रकारों का निर्देश किया है—नित्यमरण और तद्भवमरण। उनके अनुसार तद्भवमरण का अर्थ है नए भव की प्राप्ति

से पूर्ववर्ती अनन्तर क्षण में होने वाला पूर्वभव का विगमन।^३ बालमरण और पण्डितमरण के दो-दो अर्थ होते हैं—

१. अविरत व्यक्ति का मरण बालमरण कहलाता है। विरत व्यक्ति का मरण पण्डितमरण कहलाता है। देशविरत व्यक्ति का मरण बालपण्डितमरण कहलाता है। बालमरण और पण्डितमरण का उक्त अर्थ अविरति और विरति की अपेक्षा से किया गया है।^४

२. प्रस्तुत प्रकरण में बाल मनुष्य या अविरत मनुष्य के आत्मघाती प्रयत्न, निदान और आर्त्त-रौद्र ध्यान की दशा में होने वाला मरण बालमरण है।

इसी प्रकार यहां पण्डितमरण का प्रयोग भी अनशनपूर्वक होने वाले मरण के अर्थ में किया गया है। पण्डितमरण का एक प्रकार इंगितमरण भी है। यह भक्तप्रत्याख्यान का ही एक प्रकार है। इसलिए इसका पृथक् निर्देश नहीं है।^५ जयाचार्य ने इस प्रसंग में एक सहज

१. उत्तरा.नि.गा.२२४—

गिद्धाद्भक्तखणं गिद्धपिष्ट उब्धंधणाद् वेहासं।

एए दुत्रि वि मरणा, कारणजाए अणुण्णाया।।

२. निसीह.११।६३—अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि बालमरण्णाणि।

३. त.रा.वा.७।२२—मरणं द्विविधं—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति।..... तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्।

४. उत्तरा.नि.गा.२२२—

अविरयमरणं बालं मरणं विरयाण पंडियं विंति।

जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं।।

५. (क) भ.जो.१।३५।२७,२८—

अन्य सूत्र रै मांय, पंडित मरणज त्रिविधे।

पाओवगमन सुहाय, इंगित भतपचखाण फुन॥

इंगित-मरणज तेह, विशेष भतपचखाण नों।

तिण कारण थी जेह, तृतीय भेद न कहयो इहां।

(ख) भ.वृ.२।४६—यच्चान्यत्रेह स्थाने इंगितमरणमभिधीयते तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेष इति नेह भेदेन दर्शितमिति।

उभरने वाले प्रश्न का समाधान किया है। यहां पण्डितमरण के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं। कोई मुनि अनशन के बिना मरता है, क्या उसका मरण पण्डितमरण नहीं कहलाएगा ? इस प्रश्न के समाधान में उन्होंने लिखा है कि मुनि विरत अवस्था में मरता है इसलिए उसका मरण पण्डितमरण कहलाएगा। किन्तु वह यहां विवक्षित नहीं है। यहां प्रायोगमन और भक्तप्रत्याख्यान के अर्थ वाला पण्डितमरण विवक्षित है। मरण के सतरह प्रकारों में बालमरण, पण्डितमरण और बाल-पण्डितमरण का स्वतन्त्र निर्देश है तथा वलायमरण आदि का उनसे पृथक् निर्देश है। इससे भी इनके दो संदर्भों में प्रयुक्त होने की पुष्टि होती है।

शब्द-विमर्श

बलवमरण—संयमजीवन से च्युत व्यक्ति के मरण को बलवमरण कहा जाता है। मूलाराधना में इसका नाम वलायमरण है। विजयोदया में इसके संस्कृत रूप दो दिए हैं—पलाय और बलाका।^१ उत्तराध्ययन-नियुक्ति में भी वलायमरण नाम उपलब्ध है।^२ भगवतीवृत्ति में भी इसका संस्कृत रूप वलनमरण किया है।^३

वशात्तमरण—इन्द्रिय और विषय की परतन्त्रता से पीड़ित मनुष्य का मरण विजयोदया के अनुसार आर्त-रौद्र-ध्यान में प्रवर्तमान प्राणी का मरण वशात्तमरण है। इसके चार भेद किए गए हैं: १. इन्द्रियवशात् २. वेदनावशात् ३. कषायवशात् ४. नोकषायवशात्।^४

अन्तःशल्यमरण—अतिचारों की आलोचना किए बिना दोषपूर्ण स्थिति में होने वाला मरण। वृत्तिकार ने इसके दो भेद किए हैं—द्रव्य और भाव। शरीर में शस्त्र की नोक आदि रहने से जो मृत्यु होती है, वह 'द्रव्य अन्तःशल्य-मरण' कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरने वाले की मृत्यु को 'भाव अन्तःशल्य-मरण' कहा जाता है।

विजयोदया में इसका नाम 'शल्य-मरण' है। उसके भी दो भेद हैं—द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन तीनों शल्यों की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म को 'द्रव्यशल्य' कहा जाता है। द्रव्यशल्य की दशा में होने वाला 'द्रव्यशल्य-मरण' कहलाता है।

यह मरण पांच स्थावर और अमनस्क त्रस जीवों के होता है। उक्त तीन शल्यों के हेतुभूत कर्मों के उदय से जीव में जो माया, निदान और मिथ्यात्व के परिणाम होते हैं, उन्हें भावशल्य कहा जाता है। इस दशा में होने वाला मरण 'शल्य-मरण' कहा जाता है।

जहां भावशल्य है, वहां द्रव्यशल्य अवश्य होता है, किन्तु भावशल्य केवल समनस्क जीवों के ही होता है। अमनस्क जीवों में संकल्प या चिन्तन नहीं होता, इसलिए उनके केवल द्रव्यशल्य ही होता है। इसलिए अमनस्क जीवों के मरण को 'द्रव्यशल्य-मरण' और समनस्क जीवों के मरण को 'भावशल्य-मरण' कहा गया है।

तद्भवमरण—तिर्यञ्च या मनुष्य भव में विद्यमान प्राणी पुनः तद्भव योग्य तिर्यञ्च या मनुष्य भव-योग्य आयुष्य का बंध कर वर्तमान आयु के क्षय होने पर मरता है, उसका मरण 'तद्भवमरण' है।^५ वृत्ति के अनुसार यह केवल मनुष्य और तिर्यञ्च के होता है।^६ उत्तराध्ययननियुक्ति के अनुसार तद्भवमरण अकर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव, नारक को छोड़कर शेष जीवों (मनुष्य और तिर्यञ्च) के होता है।^७ तद्भवमरण बालमरण का एक प्रकार माना गया है। इसका हेतु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर जयाचार्य ने दिया है। उनके अनुसार निदानपूर्वक होने वाला तद्भवमरण बालमरण होता है।^८

वैहानश—इसका मूल वेहाणस है। मूलाराधना में विष्णोणस शब्द मिलता है। इन दोनों में समानता खोजी जा सकती है। वैहानश और विष्णोणस दोनों विशेष स्थिति में अप्रतिषिद्ध बतलाए गये हैं। विह का अर्थ है—आकाश और आनश का अर्थ है—विनाश या जीवन की समाप्ति। इस प्रकार वैहानश का अर्थ होगा—वृक्ष-शाखा आदि से लटक कर गले में फन्दा डालकर जीवन को समाप्त कर देना। वृत्तिकार ने निरुक्तिवशः वैहानस शब्द की सिद्धि की है।^९ किन्तु समाप्ति के अर्थ में तालव्य शकार अधिक उपयुक्त है। विष्णोणस का अर्थ प्राण-अपान का निरोध कर जीवन को समाप्त करना है। संभावना की जा सकती है कि दोनों शब्द मूल में एक रहे हों। बाद में पाठ-परिवर्तन हुआ हो। अर्थ की दृष्टि से वेहाणस पाठ अधिक उपयुक्त लगता है।

१. भ.जो.१।३५।२६-३१—

मुख्य थकी ए ख्यात, द्वि प्रकार पंडित-मरण।
अणसण विण मुनि जात, परे तिको न कहयुं इहां ॥
सर्वानुभूति साध, सुनक्षत्र मुनिवर बलि।
पाम्या पद आराध, अणसण विण पंडित-मरण ॥
वली अन्य मुनिराय, संथारा विण जे मरे।
ते पंडित-मरण सुहाय, तेहनों कथन इहां नयी ॥

२. विजयोदया, वृ.प.८८।

३. उत्तरा. नि.गा.२१७—

संजोगजोपविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु।

४. भ.वृ.२।४६—वलतो बुभुक्षापरिगतत्वेन वलवलायमानस्य संथमाद् वा प्रस्यतो मरणं तद्वलनमरणम्।

५. विजयोदया, वृ.प.८६।

६. (क) सम.वृ.प.३४—यस्मिन् भवे—तिर्यग्मनुष्यमवलक्षणे वर्तते जन्तुस्तद्-भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनः तत्क्षयेण प्रियमाणस्य यद्भवति तत्तद्भवमरणम्।
(ख) भ.वृ.२।४६—तथा तस्मै भवाय मनुष्यादेः सतो मनुष्यादावेव बद्धायुषो यन्मरणं तत्तद्भवमरणम्।

७. वही, २।४६—इदं च नरतिरश्चामेवेति।

८. उत्तरा.नि.गा.२२१—

मोक्षं अकर्मभूमि-नर-तिरिण सुरगणे अ नेरइए।
सेसाणं जीवाणं तत्त्वमरणं तु केसिचि ॥

९. भ.जो.१।३५।६—

मनुष्य मरी नै मनुष्य हुवै, तिर्यच मरी नै तिर्यच।
तद्भव-मरण कसो तसुं, कर्म निदाने संच ॥

१०. भ.वृ.२।४६—'वेहाणसे'ति विहायसि—आकाशे भवं वृक्षशाखाद्युद्वन्धनेन यत्तिरुक्तिवशाद्वैहानसम्।

गृध्रस्पृष्ट—कोई व्यक्ति हाथी आदि बृहत्काय जानवरों के शव में प्रवेश कर शरीर का व्युत्सर्ग करता है। हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोचकर मार डालते हैं, उस स्थिति में जो मरण होता है, वह गृध्रस्पृष्ट मरण कहलाता है।^१ दिगम्बर परम्परा में इसका अर्थ शस्त्र के द्वारा प्राण-त्याग करना मिलता है।^२

श्वेताम्बर-साहित्य में गृध्रस्पृष्ट की जो अर्थ-परम्परा है, वह आलोच्य है। इसकी प्राचीनता भी संदिग्ध है। जैन साधना-पद्धति की तपस्या के अनुकूल भी नहीं है। कारण उपस्थित होने पर तात्कालिक मरण के लिए यह प्रयोग उपयोगी नहीं है।

दीर्घकालीन प्रयोग की दृष्टि से भक्तप्रत्याख्यान और प्रायोपगमन ये दोनों श्रेष्ठ उपाय हैं। इसलिए गृध्रस्पृष्ट का अर्थ अभी अनुसन्धान का विषय है।

प्रायोपगमन—प्राय का अर्थ है मृत्यु। समाधि-मरण के लिए उपगमन करना अथवा उपवेशन करना प्रायोपगमन कहलाता है। यह अनशन का एक प्रकार है। व्याख्या-साहित्य में इसके संस्कृत रूप पादोपगमन और पादपोपगमन भी मिलते हैं।^३

निर्हारिम अथवा **निर्हारि**—उपाश्रय से बाहर गिरिकन्दरा आदि एकान्त स्थानों में किया जाने वाला अनशन।

अनिर्हारिम अथवा **अनिर्हारि**—उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन।

अप्रतिकर्म अथवा **अपरिकर्म**—शुश्रूषा- या उपचार-रहित। प्रायोपगमन अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट लेटा रहता है, कोई स्पन्दन नहीं करता, हलन-चलन नहीं करता। इसलिए यह नियमतः अप्रतिकर्म होता है।

भक्तप्रत्याख्यान—समाधि-मरण के लिए किया जाने वाला अनशन। यह नियमतः सप्रतिकर्म होता है।

अनशन के इन दोनों प्रकारों की विशेष जानकारी के लिए उत्तरज्ज्वणपाणि, ३०।१२, १३ के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

१. भ.वृ.२।४६—'गिद्धपट्टेत्ति गृध्रैः पक्षिविशेषैर्गृध्रैर्वा मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य विदारितस्य करि-करभ-रासभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद्गृध्रस्पृष्टं गृध्रस्पृष्टं वा गृध्रैर्वा भक्षितस्य—स्पृष्टस्य यत्तद्गृध्रस्पृष्टम्।

२. विजयोदया, वृ.प.८८—शस्त्रग्रहणेन यद् भवति तद् गृध्रस्पृष्टमिति।

३. उत्तर. अ.५ का आमुख द्रष्टव्य है।

४. (क) आचारो, ८।७५-१३० तथा गा. १-२५।

(ख) सूय. २।२।६७।

(ग) उत्तर. ३६।२५०-२५५।

(घ) दसाओ, १०।३१।

५. उत्तर. ४।७—

लाभंतरे जीविय बूहइत्ता।

पच्छा परिण्णाय मलावधंसी ॥

मरण-मीमांसा

भगवान् ने जीवन और मृत्यु दोनों की अनेकान्त-दृष्टि से समीक्षा की थी। उनकी दृष्टि में व्यक्ति जैसे जीने के लिए स्वतन्त्र है, वैसे ही मरने के लिए भी स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। बालमरण मृत्यु की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। भावावेश में जो आत्महत्या की जाती है, वह बालमरण है। वह स्वतन्त्रता का दुरुपयोग है। पंडितमरण या समाधि-मरण मृत्यु की स्वतन्त्रता का सदुपयोग है। इस मरण के पीछे कोई भावावेश नहीं होता। पूर्ण शान्त और समाहित चित्त की अवस्था में इस मरण का वरण किया जाता है। आचारो, सूयगबो, उत्तरज्ज्वणपाणि और दसाओ में इस समाधि-मरण की पृष्ठभूमि और प्रक्रिया का निरूपण हुआ है।^४ मुनि को जब यह लगे कि इस शरीर के द्वारा नए-नए गुणों की उपलब्धि हो रही है, तब तक वह जीवन का वृंहण करे। जब कोई विशेष गुण की उपलब्धि न हो, तब वह परिज्ञापूर्वक इस शरीर को त्याग दे।^५ शरीर-व्युच्छेद के लिए आहार का त्याग किया जा सकता है। इसका उत्तरज्ज्वणपाणि में स्पष्ट निर्देश है।^६ इसका निर्देश ठाणं में भी उपलब्ध है।^७ अनशन रुग्ण अवस्था में ही नहीं, किसी बाधा के न होने पर भी किया जा सकता है।^८ यह विधान केवल मुनि के लिए ही नहीं, श्रमणोपासक या श्रावक के लिए भी है।^९ इस समाधि-मरण को उत्तरवर्ती आचार्यों ने मृत्यु-महोत्सव कहा है।

जीवन के बारे में भी भगवान् महावीर का दृष्टिकोण अनेकान्तवादी रहा है। उनकी दृष्टि में संयमपूर्ण जीवन वांछनीय है। और असंयमपूर्ण जीवन वांछनीय नहीं है। उनकी भाषा है—जीवन की आंकाक्षा और मरण की आंकाक्षा दोनों ही नहीं करनी चाहिए। व्यक्ति को जीवन की आंकाक्षा और मरण के भय से मुक्त रहना चाहिए, किन्तु संयमपूर्ण जीवन और समाधि-मरण की आंकाक्षा करणीय है।

६. वही, २६।३३-३४—

निग्गंथो धिइमंते, निग्गंथी वि न करेज्ज छहिं वेव।

ठाणेहि उ इमेहि, अणइकमणा य से होइ ॥

आयंके उदसग्गे, तित्तिक्खया बंभवेरगुत्तीसु।

पाणिदया तवहेउं, सरीरयोच्छेयणद्वाए ॥

७. ठाणं, ६।४२।

८. सूय. २।२।६७—तेणं एतेणं विहारेणं विहरमाणं बहूइं वासाइं सामण्णपरियाणं पाउणंति, पाउणिता आवाहंसि उप्पणंसि वा अणुप्पणंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति।

९. दसाओ, १०।३१—से णं सभणोवासए भवति—अभिमतजीवाजीये जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासणपरियाणं पाउणंति, पाउणिता आवाहंसि उप्पणंसि वा अणुप्पणंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइ।

५०. एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुव्भं अंतिए केवल्लिपण्णत्तं धम्मं नि-
सामित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवंघं ॥

५१. तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स, तीसे य महइ-
महालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ ।
यम्मकहा भाणियव्वा ॥

अत्र सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः संबुद्धः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—इच्छामि भदन्त ! तव अन्तिके केवल्लिप्रज्ञप्तं धर्मं निशमितुम् ।

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः स्कन्दकस्य कात्यायनसगोत्रस्य, तस्यां महामहत्यां परिषदि धर्मं परिकथयति । धर्मकथा भणितव्या ।

५०. इस बिन्दु पर वह कात्यायनसगोत्र स्कन्दक संबुद्ध होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करता है। वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोलता है “भन्ते ! मैं आपके पास केवल्लि-प्रज्ञप्त धर्म को सुनना चाहता हूँ।”

“देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबंध मत करो।”

५१. श्रमण भगवान् महावीर कात्यायनसगोत्र स्कन्दक को उस विशाल परिषद् में धर्म कहते हैं। धर्मकथा^१ वक्तव्य है।

भाष्य

१. धर्मकथा

धर्मकथा के वर्णन की भी एक शैली निर्धारित कर ली गई। ओवाइयं में जो धर्मकथा का निर्देश है, उसी की ओर सर्वत्र निर्देश किया गया है। भगवान् महावीर ने सबको एक ही प्रकार की

धर्म-देशना दी, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। इसे आगम-संकलन-कालीन शैली ही कहा जा सकता है।

५२. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हइतुइचित्तमाणांदिए णंदिए पीइभणे परमसोमणस्सिए हरिसवस-
विसप्पमाण्हियए उट्टाए उट्टेइ, उट्टेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-
पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासि—

सद्दहामि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं, रोएमि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं, अब्भु-
ड्ढेमि णं भंते ! निग्गंयं पावयणं ।
एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अविताहमेयं
भंते ! असंदिग्धमेयं भंते ! इच्छियमेयं भंते !
पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छिय-पडिच्छियमेयं
भंते !—

से जहेयं तुव्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभायं अवक्कमइ, अवक्क-
मित्ता तित्ठं च कुंडियं च जाव धाउरत्ताओ य एगंते एडेइ, एडेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-

ततः सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टचित्तः आनन्दितः नन्दितः प्रीतिमनाः परमसौमनस्यितः हर्षवशविसर्पद्-
हृदयः उत्थया उत्तिष्ठति, उत्थया श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिः आदक्षिणप्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—

श्रद्धधामि भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम्, प्रत्येमि भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम्, रोचे भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम्, अभ्युत्तिष्ठामि भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम् ।
एवमेतद् भदन्त ! तथैतद् भदन्त ! अविताह-
मेतद् भदन्त ! असंदिग्धमेतद् भदन्त ! इष्टमेतद्
भदन्त ! प्रतीष्टमेतद् भदन्त ! इष्ट-प्रतीष्टमेतद्
भदन्त !—

तत् यथैदं यूयं वदथ इति कृत्वा श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा उत्तरपौरस्त्यं दिग्भागम् अपक्रामति, अपक्रम्य त्रिदण्डं च कुण्डिकां च यावद् धातुरक्ते एकान्ते एडयति, एडयित्वा यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिः आद-

५२. ^१वह कात्यायनसगोत्र स्कन्दक श्रमण भगवान् महावीर के पास धर्म सुनकर अवधारण कर हृष्ट-तुष्ट चित्त वाला, आनन्दित, नन्दित, प्रीतिपूर्ण मनवाला, परम सौमनस्य युक्त और हर्ष से विकस्वर हृदय वाला हो गया। वह उठने की मुद्रा में उठता है, उठकर श्रमण भगवान् महावीर को दायीं ओर से प्रारम्भ कर तीन बार प्रदक्षिणा करता है, वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस प्रकार बोला—

भन्ते ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धा करता हूँ।
भन्ते ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन में प्रतीति करता हूँ।
भन्ते ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन में रुचि करता हूँ।
भन्ते ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन में अभ्युत्थान करता हूँ।
भन्ते ! यह ऐसा ही है, भन्ते ! यह तथा (संवादितापूर्ण) है, भन्ते ! यह अविताह है, भन्ते ! यह असंदिग्ध है, भन्ते ! यह इष्ट है, भन्ते ! यह प्रतीप्सित (प्राप्त करने के लिए इष्ट) है और भन्ते ! यह इष्ट-प्रतीप्सित है—

जैसा आप कह रहे हैं—ऐसा भाव प्रदर्शित कर वह श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशा-भाग (ईशान कोण) की ओर जाता है, जाकर त्रिदण्ड, कमण्डलु, यावत् धातुरक्त शाटक को एकान्त में डाल देता है, डालकर जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां आता है। आकर श्रमण

पयाहिणं करेइ, करेत्ता बंदइ नमंसइ,
बंदित्ता नमंसित्ता एवं बयासी—आलित्ते णं
भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए,
आलित्त-पलित्ते णं भंते ! लोए जराए
मरणेण य ।

से जहानामए केइ गाहावई अगारंसि
झियायमाणंसि जे से तत्तय भंडे भवइ
अप्पभारे भोल्लगरुए, तं गहाय आयाए
एगंतमंतं अयक्कमइ । एस मे नित्यारिए
समाणे पच्छा पुरा य हियाए सुहाए खमाए
निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ।

एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे
भंडे इडे कंते पिए मणुण्णे मणामे वेजे
वेस्सासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंड-
करंडगसमाणे, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा
णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा
णं बाला, मा णं दंसा, मा णं मसया, मा णं
वाइय-पित्तिय-संभिय-सञ्जिवाइय विविहा
रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु ति कट्टु
एस मे नित्यारिए समाणे परलोयस्स हियाए
सुहाए खमाए नीसेसाए आणुगामियत्ताए
भविस्सइ ।

तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पच्चा-
वियं, सयमेव मुंडावियं, सयमेव सेहावियं,
सयमेव सिक्खावियं, सयमेव आचार-गोचरं
विणय-वेणइय-चरण-करण-जायामाया-
वत्तियं धम्ममाइक्खियं ॥

क्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—
आदीप्तः भदन्त ! लोकः, प्रदीप्तः भदन्त !
लोकः, आदीप्त-प्रदीप्तः भदन्त ! लोकः जरसा
मरणेन च ।

अथ यथानामकः कश्चिद् गृहपतिः अगारे
ध्यायमाने यः सः तत्र भाण्डः भवति
अल्पभारः मूल्यगुरुकः, तं गृहीत्वा आत्मना
एकान्तमन्तम् अपक्रामति । एष मम
निस्तारितः सन् पश्चात् पुरा च हिताय सुखाय
क्षमाय निःश्रेयसे आनुगामिकत्वाय भवि-
ष्यति ।

एवमेव देवानुप्रिय ! ममापि आत्मा एकः
भाण्डः इष्टः कान्तः प्रियः मनोज्ञः 'मणामे'
स्थेयान् वैश्वसिकः सम्मतः बहुमतः अनुमतः
भाण्डकरण्डकसमानः, मा शीतं, मा उष्णं, मा
क्षुधा, मा पिपासा, मा चौराः, मा व्यालाः, मा
दंशाः, मा मशकाः, मा वातिक-पैक्तिक-
श्लैश्मिक-सात्रिपातिकाः विविधाः रोगातंकाः
परीषहोपसर्गाः स्पृशन्तु इति कृत्वा एष मम
निस्तारितः सन् परलोकस्य हिताय सुखाय
क्षमाय निःश्रेयसे आनुगामिकत्वाय भवि-
ष्यति ।

तद् इच्छामि देवानुप्रिय ! स्वयमेव प्रव्रजितं,
स्वयमेव मुण्डितं, स्वयमेव शैक्षापितं, स्वयमेव
शिक्षापितं, स्वयमेव आचार-गोचरं विनय-
वैनयिक-चरण-करण-यात्रामात्राप्रत्ययं धर्म-
माख्यातम् ।

भगवान् महावीर को दावीं ओर से प्रारम्भकर तीन
बार प्रदक्षिणा करता है, प्रदक्षिणा कर वन्दन-
नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस
प्रकार बोला—भन्ते ! यह लोक बुद्धापे और मौत
से आदीप्त हो रहा है (जल रहा है), भन्ते ! यह
लोक बुद्धापे और मौत से प्रदीप्त हो रहा है
(प्रज्वलित हो रहा है), भन्ते ! यह लोक बुद्धापे
और मौत से आदीप्त-प्रदीप्त हो रहा है ।

जैसे किसी गृहपति के घर में आग लग जाने पर
वह वहां जो अल्पभार वाला और बहुमूल्य
आभरण होता है, उसे लेकर स्वयं एकान्त स्थान
में चला जाता है । (और सोचता है—) अग्नि
से निकाला हुआ यह आभरण पहले अथवा पीछे
मेरे लिए हित, सुख, क्षम, निःश्रेयस और आनु-
गामिकता के लिए होगा ।

“देवानुप्रिय ! इसी प्रकार मेरा शरीर भी एक
उपकरण है। वह इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ,
मनोहर, स्थिरतर, विश्वसनीय, सम्मत, बहुमत,
अनुमत और आभरण-करण्डक के समान है। इसे
सर्दी न लगे, गर्मी न लगे, भूख न सताए, प्यास
न सताए, चोर पीड़ा न पहुंचाए, हिंसा पशु इस
पर आक्रमण न करे, दंश और मशक इसे न
काटे, वात, पित्त, श्लेष्म और संनिपात-जनित
विविध प्रकार के रोग और आतंक तथा परीषह
और उपसर्ग इसका स्पर्श न करें, इस अभिसंधि
से मैंने इसे पाला है। मेरे द्वारा इसका निस्तार
होने पर यह परलोक में मेरे लिए हित, सुख,
क्षम, निःश्रेयस और आनुगामिकता के लिए होगा।
इसलिए देवानुप्रिय ! मैं आपके द्वारा ही प्रव्रजित
होना चाहता हूं, मैं आपके द्वारा ही मुण्डित होना
चाहता हूं, मैं आपके द्वारा ही शैक्ष बनना चाहता
हूं, मैं आपके द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करना चाहता
हूं तथा आपके द्वारा ही आचार, गोचर, विनय-
वैनयिक, चरण-करण-यात्रामात्रा-मूलक धर्म का
आख्यान चाहता हूं ।

भाष्य

१. सूत्र ५२

प्रस्तुत सूत्र में स्कन्दक के द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति आस्था
की अभिव्यक्ति का निरूपण है। फिर उसके द्वारा भगवान् महावीर
के पास प्रवचना लेने की प्रार्थना का वर्णन है। उस समय एक

सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में दीक्षित होने की परम्परा जटिल नहीं
थी। विचार-परिवर्तन के बाद कोई भी व्यक्ति जहां चाहे दीक्षित हो
सकता था। ऐसा करना कोई विवाद या विग्रह का विषय नहीं

बनता था। इसलिए परिव्राजक स्कन्दक ने भगवान् के पास प्रव्रजित होने की प्रार्थना सहज भाव से की और भगवान् ने उसे अपने संघ में प्रव्रजित कर लिया।

एक विरक्त आत्मा दीक्षित होने से पहले जिन शब्दों में अपने वैराग्य की भावना प्रस्तुत करता है, उसकी भी आगम-साहित्य में एक निश्चित वर्णन-शैली है। स्कन्दक के प्रकरण में भी उस शैली का प्रयोग किया गया है।

शब्द-विमर्श

निर्ग्रन्थ-प्रवचन—निर्ग्रन्थों का शासन। भगवान् महावीर के समय में जैन शासन निर्ग्रन्थ-प्रवचन के नाम से प्रख्यात था।

तथा—सत्य, वैसा।

प्रतीप्सित—प्राप्त करने के लिए इष्ट।

लोक—जीव-लोक।

भाण्ड—आभरण।

अण्यभारे—अल्पभार वाला।

वृत्तिकार ने अण्यसारे पाठ की व्याख्या की है।^१ जयाचार्य ने भी उसी का अनुसरण किया है।^२ इसका अर्थ होता है 'अल्प किन्तु सार'। इसका अगला विशेषण है मोत्त्वगरुए। इसके सन्दर्भ में अण्यभारे—यह पाठ अधिक संगत लगता है। ज्ञातावृत्ति में अभयदेवसुरि ने अण्यसारे पाठ की व्याख्या की है, अण्यसारे को पाठांतर माना है।

हित, सुख आदि—इस शब्द-समूह के लिए देखें, भ.२।३० का भाष्य।

आया (आत्मा)—यहां 'आत्मा' शब्द 'शरीर' 'जीवन' या 'पूर्ण व्यक्तित्व' के अर्थ में प्रयुक्त है। ओवाइयं और रायपसेणइयं में इस प्रकार के प्रकरण में 'शरीर' शब्द का प्रयोग मिलता है।

वेज (स्वैयानु)—यह 'तर' के अर्थ में निष्पन्न स्थिर शब्द है।

इसका अर्थ है 'स्थिरतर'। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'स्थैर्य' किया है।^३

भाण्डकरण्डक—आभरण का करण्डक, टोकरी या पिटाड़ी।

वातिक—वात-संबंधी रोग।

पैतिक—पित्त-संबंधी रोग।

श्लैष्मिक—कफ-संबंधी रोग।

सात्रिपातिक—वात, पित्त आदि दोषों के मिश्रण से होने वाला रोग।

सन्निवाइय—इस पद में प्रथमा के बहुवचन का लोप माना गया है।^४

रोग—सम्बन्ध काल तक चलने वाली व्याधि।^५

आतङ्क—सघोघाती व्याधि।^६

परीषह—शरीर और मन को पीड़ा देने वाले बाह्य और आन्तरिक कारण।

उपसर्ग—उपद्रव।^७

त्तिकट्टु—यहां वृत्तिकार ने शेष माना है—त्तिकट्टु इत्य-भिसन्चाय य पालितः इति शेषः।^८

प्रव्रजित, मुण्डापित, शैक्षापित, शिक्षापित—वृत्तिकार ने इन चार पदों में क्रम-व्यवस्था बतलाई है। उसके अनुसार 'प्रव्रजित' का अर्थ है 'मुनि-वेश देना'। 'मुण्डापित' का अर्थ है 'केश का लुंचन'। शैक्षापित का अर्थ है 'दिनचर्या से संबंधित क्रिया-कलाप का ज्ञान कराना'।^९ 'शिक्षापित' का अर्थ है—'अध्ययन कराना'।^{१०}

आचार-गोचर—आचार—ज्ञान आदि पांच प्रकार का आचार।^{११} गोचर—भिक्षाचर्या।^{१२}

विनय—अनुशासन अथवा विनम्रता।

वैनयिक—विनय का फल।^{१३}

नन्दी वृत्ति में भी हरिभद्रसुरि ने इसका यही अर्थ किया है।^{१४}

१. भ.वृ.२।५२—'अण्यसारे'ति अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम्।

२. भ.जो.१।३६।१२—

घर में भंड वस्तु हुवै, अल्प न्हानी तिका छै सार।

वस्तु बहुमौली ग्रही आत्मना, जावै एकांत स्थान तिवार ॥

३. ज्ञाता.वृ.प.६६—पण्यं हिरण्यादि अल्पभारं, पाठान्तरे अल्पं च तत्सारं चेत्य-ल्पसारं मूल्यगुरुकम्।

४. ओवा.सू.११७।

५. राय.सू.७६६।

६. भ.वृ.२।५२—स्थैर्यधर्मयोगात् स्थैर्यः।

७. वही,२।५२—इह प्रयगावहुवचनलोपो दृश्यः।

८. वही,२।५२—तोगाः कालसहा व्याधयः आतंकास्त एव सघोघातिनः।

९. विशेष जानकारी के लिए देखें, ठाणं, ४।५६७-६०१ तथा इनके टिप्पण।

११. भ.वृ.२।५२।

१२. देखें, ठाणं, ५।४४, ४५ का टिप्पण।

१३. भ.वृ.२।५२—प्रव्रजितं रजोहरणादिवेषदानेनात्मानमिति गम्यते। भावे वा क्तप्रत्ययस्तेन प्रव्रजितमित्यर्थः मुंडितं शिरोलुंचनेन 'सेहावियं'ति सेहितं प्रत्यु-पेक्षणादिक्रियाकलापग्राहणतः, शिक्षितं सूत्रार्थग्राहणतः।

१४. ठाणं, ५।१४७—पंचविहे आचारो पण्णते, तं जहा—गाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे।

१५. भ.वृ.२।५२—आचारः—श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादि, गो-चरो—भिक्षाटनम्।

१६. तुलना के लिए देखें, दसवे. ७।२ का टिप्पण; भ.वृ. २।५२—वैनयिकं—तत्फलं कर्मक्षयादि।

१७. नन्दी, हारि.वृ.पृ.७५—वैनयिकम्—फलं कर्मक्षयादि।

नन्दी चूर्ण में वैनयिक का अर्थ शिष्य किया गया है।^१ किन्तु प्रकरण की दृष्टि से यहां 'विनय' का फल यही अर्थ संगत है।

चरण—यह व्रत आदि का सूचक है।^२ इसके सत्तर प्रकार हैं। व्याख्या-साहित्य में यह 'चरणसत्तरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

करण—यह आहार-विशुद्धि आदि का सूचक है।^३ इसके सत्तर

प्रकार हैं। व्याख्या-साहित्य में यह 'करणसत्तरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

यात्रा—संयम-यात्रा।

मात्रा—संयम-यात्रा के लिए आवश्यक परिमित आहार।

वृत्ति—चर्तन या व्यवहार।^४

५३. तए णं समणे भगवं महावीरं खंदयं कच्चा-
यणसगोत्तं सयमेव पच्चावेइ, सयमेव
मुंडावेइ, सयमेव सेहावेइ, सयमेव सिक्खा-
वेइ, सयमेव आचार-गोचरं विणय-वेण-
इय-चरण-करण-जायामायावत्तियं धम्ममा-
इक्खइ—एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं, एवं
चिद्धियव्वं, एवं निसीइयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं,
एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, एवं
उद्दाय-उद्दाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं
संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो
किंचि वि पमाइयव्वं ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः स्कन्दकं
कात्यायनसगोत्रं स्वयमेव प्रव्रजयति, स्वयमेव
मुण्डयति, स्वयमेव शैक्षयति, स्वयमेव
शिक्षयति, स्वयमेव आचार-गोचरं विनय-
वैनयिक-चरण-करण-यात्रामात्राप्रत्ययं धर्ममा-
ख्याति—एवं देवानुप्रिय ! गन्तव्यम्, एवं
स्थातव्यम्, एवं निषत्तव्यम्, एवं त्वक्-
वर्तितव्यम्, एवं भोक्तव्यम्, एवं भाषितव्यम्,
एवम् उत्थाय-उत्थाय प्राणेषु भूतेषु जीवेषु
सत्त्वेषु संयमेन संयतितव्यम्, अस्मिन् च अर्थे
न किञ्चिदपि प्रमादितव्यम्।

५३. श्रमण भगवान् महावीर कात्यायनसगोत्र
स्कन्दक को स्वयं ही प्रव्रजित करते हैं, स्वयं ही
मुण्डित करते हैं, स्वयं ही शैक्ष बनाते हैं, स्वयं
ही शिक्षित करते हैं और स्वयं ही आचार-गोचर,
विनय-वैनयिक-चरण-करण-यात्रामात्रा-मूलक धर्म
का आख्यान करते हैं—देवानुप्रिय ! इस प्रकार
चलना चाहिए, इस प्रकार ठहरना चाहिए, इस
प्रकार बैठना चाहिए, इस प्रकार करवट लेनी
चाहिए, इस प्रकार भोजन करना चाहिए, इस
प्रकार बोलना चाहिए, इस प्रकार पूर्ण जागरूकता
से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के प्रति संयम से
संयत रहना चाहिए। इस अर्थ में किञ्चित् भी
प्रमाद नहीं करना चाहिए।

भाष्य

१. सूत्र ५३

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् ने स्कन्दक के लिए जिस धर्म का प्रवचन किया, वह एक दीक्षान्त भाषण है।

सूत्रकार ने 'एवं' शब्द के द्वारा विषय को बहुत संक्षिप्त कर दिया। यदि वह विषय विस्तृत होता, तो शैक्ष के लिए इसकी बहुत उपयोगिता हो जाती। एवं शब्द की व्याख्या दसवेआलिष' के जयं और सूयगडो' के आउत्तं शब्द के आधार पर की जा सकती है।

वृत्तिकार ने भी एवं की संक्षिप्त व्याख्या की है।^५

शब्द-विमर्श

पमाइयव्वं—प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति, अनवधानता, मूर्च्छा।

५४. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समण-
स्स भगवओ महावीरस्स इयं एयारूवं ध-
म्मियं उवएसं सम्मं संपडिवज्जइ—तमाणाए
तह गच्छइ, तह चिद्धइ, तह निसीयइ, तह

ततः सः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः श्रमणस्य
भगवतः महावीरस्य एतम् एतद्रूपं धार्मिकम्
उपदेशं सम्यक् संप्रतिपद्यते—तद् आजाय'
तथा गच्छति, तथा तिष्ठति, तथा निषीदति,

५४. वह कात्यायनसगोत्र स्कन्दक श्रमण भगवान्
महावीर के इस प्रकार के धार्मिक उपदेश को
सम्यक् प्रकार से स्वीकार करता है—उसे भली-
भांति जानकर वैसे ही (संयमपूर्वक) चलता है,

१. नन्दी चू.पृ.६१—वेणिया—सीसा।

२. प्र.सारो.प.१३३, गा. ५५१—

वय सपणधम्म संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥

३. वही, प.१३६, गा. ५६२—

पिंडविशोही य सभिई भावण पडिया य इदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

४. भ.वृ.२।५२—चरणं—व्रतादि, करणं—पिण्डविशुद्ध्यादि, यात्रा—संयम-
यात्रा, मात्रा—तदर्थमेवाहारमात्रा, ततो विनयादीनां द्रव्यं, ततश्च विनया-
दीनां वृत्तिः—चर्तनं यत्रासौ विनयवैनयिकचरणकरणयात्रामात्रावृत्तिकोऽतस्तं
धर्मम्।

५. दसवे.अ.४, गा. ८।

६. सू.२।२।१६।

७. भ.वृ.२।५३—एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं ति युगमात्रभूयस्तदृष्टिनेत्यर्थः 'एवं
चिद्धियव्वं'ति निष्क्रमणप्रवेशादिवर्जिते स्थाने संयमालप्रवचनबाधापरिहारे-
णोर्ध्वस्थानेन स्थातव्यम्, 'एवं निसीइयव्वं'ति, 'निषत्तव्यम्' उपवेष्टव्यं संदंशक-
भूमिप्रमार्जनादिन्यायेनेत्यर्थः 'एवं तुयट्टियव्वं'ति शयितव्यं, सामायिको-
च्चारणादिपूर्वकम् 'एवं भुंजियव्वं'ति धूमाङ्गारादिवोषवर्जनतः 'एवं भासि-
यव्वं'ति मधुरादिविशेषणोपपन्नतयेति 'एवमुत्थायोत्थाय' प्रमादनिद्राव्यपोहेन
विबुद्ध्य विबुद्ध्य प्राणादिषु विषये यः संयमो—रक्षा तेन संयतव्यं—यति-
तव्यम्।

तुयइइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उडाय-
उडाय पागेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं
संजमेइ, अस्सिं च णं अट्टे णो पभायइ ॥

तथा त्वगवर्तते, तथा भुनक्ति, तथा भाषते,
तथा उत्थाय-उत्थाय प्राणेषु भूतेषु जीवेषु
सत्त्वेषु संयमेन संयच्छति, अस्मिन् च अर्थे न
प्रमाद्यति ।

वैसे ही ठहरता है, वैसे ही बैठता है, वैसे ही
करवट लेता है, वैसे ही भोजन करता है, वैसे
ही बोलता है, वैसे ही पूर्ण जागरुकता से प्राण,
भूत, जीव और सत्त्वों के प्रति संयम से संयत
रहता है। इस अर्थ में वह प्रमाद नहीं करता ।

भाष्य

१. आणाए

हमने संस्कृत रूप आनाय किया है। वृत्ति में इसका संस्कृत रूप आनाय है।^१

५५. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे
जाते—इरियासमिए भासासमिए एसणा-
समिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए
उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-पारि-
द्वावणियासमिए मणसमिए वइसमिए काय-
समिए मणगुत्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्ति-
दिए गुत्तबंमयारी चाई लज्जू धन्ने खंतिखमे
जिइंदिए सोहिए अनियाणे अप्पुस्सुए
अबहिल्लेसे सुसामण्णए दंते इणमेव
निगंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ ॥

ततः स्कन्दकः कात्यायनसगोत्रः अनगारः
जातः—ईर्यासमितः भासासमितः एषणा-
समितः आदानभाषडामत्रनिक्षेपणासमितः
उच्चार-प्रश्रवण-क्ष्वेल-सिंघाण-जल्ल-पारिष्ठा-
पनिकासमितः मनःसमितः वचःसमितः काय-
समितः मनोगुप्तः वचोगुप्तः कायगुप्तः गुप्तः
गुप्तेन्द्रियः गुप्तब्रह्मचारी त्यागी लज्जावान् धन्यः
क्षान्तिक्षमः जितेन्द्रियः शोधितः अनिदानः
अल्पोत्सुकः अबहिल्लेशयः सुश्रामण्यरतः दान्तः
इदमेव नैर्ग्रन्थं प्रवचनं पुरतः कृत्वा विहरति ।

५५. कात्यायनसगोत्र स्कन्दक अनगार हो गया—
वह विवेकपूर्वक चलता है, विवेकपूर्वक बोलता
है, विवेकपूर्वक आहार की एषणा करता है,
विवेकपूर्वक वस्त्रपात्र आदि को लेता और रखता
है, विवेकपूर्वक मल, मूत्र, श्लेष्मा, नाक के मैल,
शरीर के गाढ़े मैल का परिष्ठापन (विसर्जन) करता
है, मन की संगत प्रवृत्ति करता है, वचन की
संगत प्रवृत्ति करता है, शरीर की संगत प्रवृत्ति
करता है, मन का निरोध करता है, वचन का
निरोध करता है, शरीर का निरोध करता है,
अपने आपको सुरक्षित रखता है, इन्द्रियों को
सुरक्षित रखता है, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखता है,
संग (आसक्ति) का त्याग करता है, अनाचरण
करने में लज्जा करता है, कृतार्थता का अनुभव
करता है, समर्थ होने पर भी क्षमा करता है,
इन्द्रिय-जयी है, अतिचार की विशुद्धि करता है,
पौद्गलिक समृद्धि का संकल्प नहीं करता,
उत्सुकता से मुक्त रहता है, भावधारा को आलो-
न्मुखी रखता है, सुश्रामण्य में रत है, इन्द्रिय और
मन का निग्रह करता है और इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन
(जिन-शासन) को ही आगे रख कर चलता है।

भाष्य

१. सूत्र ५५

प्रस्तुत सूत्र में जैन मुनि की एक जीवन्त प्रतिमा उल्कीर्ण की
गई है। इसके दर्शन से मुनि के मुनित्व का साक्षात्कार हो जाता है।
उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों रूप सामने आ जाते हैं। चलना,
बोलना, खाना, वस्तुओं को लेना-रखना और उत्सर्ग करना—ये
जीवनयात्रा की सामान्य प्रवृत्तियां हैं। इनके साथ 'समिति' शब्द का
प्रयोग है। वह इस बात की ओर इंगित करता है कि मुनि की ये
प्रवृत्तियां सर्वसाधारण की तरह नहीं होनी चाहिए। ये गुप्ति-पूर्वक
होनी चाहिए। ये प्रवृत्तियां संयत और जागरुकता-पूर्ण होनी चाहिए।

मन, वचन और शरीर—ये तीनों प्रवृत्ति के साधन हैं। इनका

प्रयोग भी संयत और संगत होना चाहिए। मुनि के लिए इनकी
प्रवृत्ति का निग्रह करना भी आवश्यक है। साधना के लिए प्रवृत्ति
और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित होता है। प्रवृत्ति के बिना जीवन
की यात्रा नहीं चलती और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति में होने वाली
समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्देश है कि
मन, वचन, शरीर की सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति दोनों करनी चाहिए।
उनकी सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला मुनि मनसमित, वचनसमित और
कायसमित कहलाता है; उनकी निवृत्ति करने वाला मनोगुप्त, वचनगुप्त
और कायगुप्त कहलाता है।^१

१. भ.वृ.२।५४—तद् अनन्तरं आनाया—आवेशेन।

२. वही, २।५५—'इरियासमिए'ति ईर्यायां—गमने समितः, सम्यक्प्रवृत्तत्वरूपं
हि समितत्व; 'आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमए'ति आदानेन—ग्रहणेन सह
भाषडामत्राया—उपकरणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा—न्यासस्तस्यां समितो यः

स तथा; 'उच्चार'त्यादि, इह च 'खेल'ति कण्ठमुखश्लेष्मा सिद्धान्तं च—
नासिकाश्लेष्मा, 'मणसमिए'ति संगतमनःप्रवृत्तिकः, 'मणगुत्ते'ति मनोनिरोध-
वान्।

गुप्त का अर्थ है संरक्षित। वृत्तिकार ने इसे मनोगुप्त आदि का निगमन बतलाया है।^१ किन्तु दशवैकालिक की चूर्णियों के आधार पर इसका विशेष अर्थ ज्ञात होता है। वह इस प्रकार है—

‘गुरू के वचन में दत्तावधान’^२ और ‘प्रयोजनवश बोलने वाला’।^३

इन्द्रियों को सुरक्षित रखने वाला गुप्तेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य की नीं गुप्तियों का सम्यक् पालन करने वाला गुप्तब्रह्मचारी होता है।^४

इन्द्रिय-विकार से मुक्त जितेन्द्रिय होता है। भगवती के वृत्तिकार ने इन्द्रिय और जितेन्द्रिय के बीच एक भेदोखा खींची है—“जिसमें इन्द्रिय-विकार का अभाव नहीं है, किन्तु उसका गोपन कर लेता है, वह गुप्तेन्द्रिय और जिसमें इन्द्रिय-विकार उत्पन्न नहीं होता है, वह जितेन्द्रिय होता है।”^५

शरीर, वचन और मन की विविध अवस्थाओं में होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति के माध्यम से मुनि के स्वरूप का चित्रण किया गया है। ईर्या, एषणा, आदान-निक्षेप, उच्चार-प्रश्रवण और काय समिति—ये सब शरीर की चेष्टाएँ हैं। कायगुप्ति, इन्द्रियगुप्ति और ब्रह्मचर्यगुप्ति—ये शारिरिक चेष्टा की निवृत्ति के प्रकार हैं।

भाषा और वचन समिति—ये भाषा की प्रवृत्ति के प्रकार हैं। वचनगुप्ति भाषा की निवृत्ति है।

मन की समिति—यह मन की प्रवृत्ति का निर्देश है। मन की गुप्ति—यह उसकी निवृत्ति का निर्देश है। ‘गुप्त’ का संबंध मन और वचन दोनों से हो सकता है। मुनि अपने शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का सन्तुलन बनाए—इसका सम्यक् मार्गदर्शन दिया गया है।

मुनि के लिए संग (लेप या आसक्ति) का त्याग करना आवश्यक है।^६ स्वामी कार्तिकेय ने संग को तीन उदाहरणों के द्वारा समझाया है—मिष्ट भोजन, रागद्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुएं और ममत्व के वासस्थान—इनको छोड़ना त्याग है।^७ उपाध्याय विनयविजय ने शान्तसुधारसभावना में भी त्याग की यही परिभाषा की है।^८

अकलंक ने त्याग के तीन अर्थ किए हैं—सत्रिधि या संग्रह

का अपाय करना, स्वयोग्यदान अथवा संयत को ज्ञान आदि का दान।^९

‘अकरणीय कार्य में लज्जा करना’ मुनि के चरित्र का एक विशेष लक्षण है। वृत्तिकार ने लज्जा का अर्थ ‘संयमी’ किया है। शंकराचार्य ने ही का अर्थ ‘अकार्य करने में लज्जा’ किया है।^{१०} वृत्तिकार ने लज्जा का वैकल्पिक अर्थ ‘रज्जु’ की भांति सरल व्यवहार करने वाला किया है।^{११}

एक गृहस्थ धन-सम्पदा को प्राप्त कर अपने आप को धन्य मानता है, जैसे ही मुनि आत्मिक सम्पदा को उपलब्ध कर धन्य होता है।^{१२}

कुछ लोग असमर्थ होने के कारण सहन करते हैं अथवा उन्हें सहन करना पड़ता है। मुनि समर्थ होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करता है; इसलिए वह क्षान्तिकाम कहलाता है।^{१३}

मुनि का हृदय अकलुषित या पवित्र होता है, इसलिए उसे शोधी कहा गया। इसका वैकल्पिक अर्थ सुहृद् हो सकता है। वह समस्त प्राणियों के साथ मैत्री का व्यवहार करता है; इसलिए यह अर्थ भी संगत है।^{१४}

वह अनिदान होता है—पौद्गलिक पदार्थों की आंकाक्षा नहीं करता।^{१५}

मुनि आत्मा में रमण करता है; इसलिए पदार्थ के प्रति उसके मन में औत्सुक्य नहीं होता। किसी वस्तु को देखकर यह क्या है? यह कैसी है? यह किसकी है? यह कैसे बनी है? यह कहां होती है? आदि-आदि प्रश्नों की व्याकुलता उसमें नहीं होती। वह उत्कंठा से मुक्त होता है।^{१६} उत्तरज्ज्वलाणिक के अनुसार यह स्थिति सुख की स्पृहा का निवारण करने पर प्राप्त होती है।^{१७}

मुनि की भावधारा संयम में अन्तर्लीन रहती है; इसलिए वह ‘अबहिलेश्य’ कहलाता है।

मुनि सम—समानता की अनुभूति, शम—शान्ति, क्लम—तपस्या में रत होता है, उसका श्रामण्य अतिशायी बनता है; इसलिए उसे ‘सुश्रामण्यरत’ कहा जाता है।

१. भ.वृ.२।५५—‘गुप्ते’ति मनोगुप्तत्वादीनां निगमनम्।

२. दसवे.अ.चू.पृ.१६६—मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।

३. दसवे.जि.चू.पृ.२८८—वायाए कजमेत्तं भासंतो।

४. भ.वृ.२।५५—‘गुप्तिदिष्ट’ ति ‘गुत्तबंभयारी’ति गुप्तं—ब्रह्मगुप्तियुक्तं ब्रह्म चरति यः स।

५. वही,२।५५—‘जितेन्द्रिय’ इन्द्रियविकाराभावात्, यच्च प्राग् गुप्तेन्द्रिय इत्युक्तं तदिन्द्रियविकारगोपनमात्रेणापि स्यादिति विशेषः।

६. वही,२।५५—‘चाइ’ति सङ्गत्यागवान्।

७. बारस अणुवेक्खा, गा. ४०१—

जो चयदि मिट्टमोज्जं, उवयरणं राय-दोस-संजणयं।

वसदि ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स ॥

८. शान्तसुधारसभावना, १०।२—

सत्य-क्षमा-मार्दव-शौच-संग-

त्यागार्जव-ब्रह्म विमुक्तियुक्तः।

९. (क) त.रा.बा.६।६, भा.२, पृ.५६८—त्यागः पुनः सत्रिहितस्यापायः, दानं वा स्वयोग्यम्, अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते।

(ख) द्रष्टव्य, ठाणं, १०।१६ का टिप्पण।

१०. सनत्सुजातीय, शांकरभाष्य, २।१६—हीः—अकार्यकरणे लज्जा।

११. भ.वृ.२।५५—‘लज्जु’ति संयमवान् रज्जुरिव वा रज्जुः अचक्रव्यवहारः।

१२. वही,२।५५—‘धत्रे ति धन्यो—धर्मधनलब्धेत्यर्थः।

१३. वही,२।५५—‘खंतिखमे’ति क्षान्त्या क्षमते न त्वसमर्थतया योऽसौ क्षान्तिकामः।

१४. वही,२।५५—‘सोहिण’ति शोभितः शोषावान् शोधितो वा निराकृताति-चारत्वात्, सीहृदं—मैत्री सर्वप्राणिषु तद्योगात्सीहृदो वा।

१५. वही,२।५५—‘अणियाणे’ति प्रार्थनारहितः।

१६. वही,२।५५—‘अप्पुसुए’ति अल्पीत्सुक्यः त्वरारहितः।

१७. उत्तर.२६।३०—अप्पडिबद्धयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एणे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे याचि विहरइ।

मुनि क्रोध आदि कषाय तथा इन्द्रिय और मन का निग्रह करता है, इसलिए वह 'दान्त' कहलाता है।

इणमेव निगंयं पावयणं पुरओ काउं विहरइ—इस वाक्य में पूर्ण समर्पण की अभिव्यञ्जना की गई है। नैर्ग्रन्थ प्रवचन को निरन्तर

सामने रखना या उसे आगे रखकर चलना हार्दिक श्रद्धा का प्रतिफलन है।^१

मुनि कैसा होना चाहिए और मुनि को कैसा जीवन जीना चाहिए, उसका एक सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत प्रकरण में हुआ है।

५६. तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ नयरीओ छत्रपलासाओ चेइयाओ पडिनि-
क्खमइ, पडिनिक्खमिप्ता बहिया जणवय-
विहारं विहरइ ॥

५७. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स
भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं
अंतिए सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाइं
अहिज्जइ, अहिज्जिता जेणेव समणे भगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता
समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता
नमंसित्ता एवं वदासी—इच्छामि णं भंते !
तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं
भिक्षुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।
अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ॥

५८. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं
भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे
हट्ठे जाव नमंसित्ता मासियं भिक्षुपडिमं
उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥

५९. तए णं से खंदए अणगारे मासियं
भिक्षुपडिमं अहासुत्तं अहाकम्मं अहामणं
अहातच्चं अहासम्मं सम्मं काएण फासेइ
पालेइ सोभेइ तीरेइ पूरेइ किट्टेइ अणुपालेइ
आणाए आराहेइ, सम्मं काएण फासेत्ता
पालेत्ता सोभेत्ता तीरेत्ता पूरेत्ता किट्टेत्ता
अणुपालेत्ता आणाए आराहेत्ता जेणेव समणे
भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवाग-
च्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ,
वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं
भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दो-
मासियं भिक्षुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं वि-
हरित्तए ।

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः कयञ्जलायाः
नगर्याः छत्रपलाशाघ् चैत्यात् प्रतिनिष्कामति,
प्रतिनिष्कम्य बहिः जनपदविहारं विहरति ।

ततः सः स्कन्दकः अनगारः श्रमणस्य भगवतः
महावीरस्य तथारूपाणां स्थविराणाम् अन्तिके
सामायिकादिकानि एकादश अंगानि अधीते,
अधीय यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव
उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एवमवादीद्—इच्छामि भदन्त ! युष्माभिः
अभ्यनुज्ञातः सन् मासिकीं भिक्षुप्रतिमाम्
उपसंपद्य विहर्तुम् ।
यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

ततः सः स्कन्दकः अनगारः श्रमणेन भगवता
महावीरेण अभ्यनुज्ञातः सन् हृष्टः यावन् नम-
स्यित्वा मासिकीं भिक्षुप्रतिमाम् उपसंपद्य
विहरति ।

ततः सः स्कन्दकः अनगारः मासिकीं
भिक्षुप्रतिमां यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं
यथातत्त्वं यथासाम्यं सम्यक् कायेन स्पृशति
पालयति शोधयति तीरयति पूरयति कीर्तयति
अनुपालयति आज्ञया आराधयति, सम्यक्
कायेन स्पृष्ट्वा पालयित्वा शोधयित्वा
तीरयित्वा पूरयित्वा कीर्तयित्वा अनुपाल्य
आज्ञया आराध्य यत्रैव श्रमणः भगवान्
महावीरः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं
भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा
नमस्यित्वा एवमवादीद्—इच्छामि भदन्त !
युष्माभिः अभ्यनुज्ञातः सन् द्वैमासिकीं भिक्षु-
प्रतिमाम् उपसंपद्य विहर्तुम् ।

५६. श्रमण भगवान् महावीर कयंजला नगरी और
छत्रपलाश चैत्य से पुनः निष्क्रमण करते हैं, पुनः
निष्क्रमण कर आसपास जनपद में विहार कर रहे
हैं ।

५७. 'वह स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर
के तथारूप स्थविरों के पास सामायिक आदि
ग्यारह अंगों का अध्ययन करता है, अध्ययन
कर जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं वहां आता
है, आकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-
नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस
प्रकार बोला—भन्ते ! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर
एकमासिकी प्रथम भिक्षु-प्रतिमा की उपसम्पदा
स्वीकार कर विहार करना चाहता हूँ।
देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबन्ध मत
करो ।

५८. वह स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर
की अनुज्ञा प्राप्त कर हृष्ट चित्त वाला हुआ यावत्
वह भगवान् को नमस्कार कर मासिकी भिक्षुप्रतिमा
की उपसम्पदा स्वीकार कर विहार कर रहा है ।

५९. वह स्कन्दक अनगार मासिकी भिक्षुप्रतिमा
का यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातत्त्वं,
यथासाम्यं सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्श करता
है, पालन करता है, उसे शोधित करता है, पारित
करता है, पूरित करता है, कीर्तित करता है, अनु-
पालित करता है, आज्ञा से उसकी आराधना
करता है तथा सम्यक् प्रकार से काया से उसका
स्पर्श कर, उसका पालन, शोधन, पारण, पूरण,
कीर्तन, अनुपालन और आज्ञा से आराधन कर
जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं वहां आता है,
आकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार
करता है, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोलता
है—भन्ते ! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर द्वैमासिकी
भिक्षुप्रतिमा की उपसम्पदा को स्वीकार कर विहार
करना चाहता हूँ ।

१. भ.वृ.२।५५—'अवहिल्लेस्से' ति अविद्यमाना बहिः—संयमाद्धिस्ता-
ल्लेश्या—मनोवृत्तियस्यासावबहिल्लेश्याः; 'सुसामण्णरए'ति शोभने श्रमणत्वे
रतोऽतिशयेन वा श्रमण्ये रतः; 'दंते'ति दान्तः क्रोधादिदमनात्, द्यन्तो वा

रगद्वेषयोरन्तार्थं प्रवृत्तत्वात्, 'इणमेव'ति इदमेव प्रत्यक्षं 'पुरो काउं'ति अग्रे
विधाय मार्गान्भिज्ञो मार्गज्ञनरमिव पुरस्कृत्य वा—प्रधानीकृत्य 'विहरति'
आस्ते इति ।

अहासुहं देवानुषिया ! मा पडिबंधं । तं चेव ॥

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् । तच्चैव ।

देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबन्ध मत करो। वह द्विमासिकी प्रतिमा की उपसम्पदा को स्वीकार कर उसकी आज्ञा-पूर्वक आराधना करता है ।

६०. एवं तेमासियं, चउम्मासियं, पंचमासियं, छम्मासियं, सत्तमासियं, पढमसत्तरातिदियं, दोचसत्तरातिदियं, तचसत्तरातिदियं, रात्तिदियं, एगरातियं ॥

एवं त्रैमासिकीं, चातुर्मासिकीं, पाञ्चमासिकीं, षण्मासिकीं, साप्तमासिकीं, प्रथमसत्तरात्रिदिवा, द्वितीयसत्तरात्रिदिवा, तृतीयसत्तरात्रिदिवा, रात्रिदिवा, एकरात्रिकीम् ।

६०. इसी प्रकार त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पांचमासिकी, षण्मासिकी, साप्तमासिकी, प्रथम सात रात-दिन की, द्वितीय सात रात-दिन की, तृतीय सात रात-दिन की, एक रात-दिन की और एक रात की प्रतिमा स्वीकार करता है, स्वीकार कर उसकी आज्ञा-पूर्वक आराधना करता है।

भाष्य

१. सूत्र ५७-६०

इन चार सूत्रों में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख है। इनका विशद वर्णन दसाओ में उपलब्ध है।^१ वृत्तिकार ने प्रतिमा का अर्थ 'अभिग्रह-विशेष' किया है।^२ 'प्रतिमा' शब्द की विशेष जानकारी के लिए णाणं, २।२४३-२४८ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

भिक्षु-प्रतिमाएं उन भिक्षुओं द्वारा आवरित होती हैं, जिनका शारीरिक संहनन सुदृढ़ और श्रुतज्ञान विशिष्ट होता है। पंचाशक के अनुसार जो मुनि विशिष्ट संहनन-सम्पन्न, धृति-सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न तथा भावितात्मा होता है, वही गुरु की आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं को स्वीकार कर सकता है। उसकी न्यूनतम श्रुत-संपदा नौवें पूर्व की

तीसरी वस्तु तथा उक्त श्रुत-संपदा कुछ न्यून दस पूर्व की होनी चाहिए।^३

वृत्तिकार ने प्रश्न उपास्यत क्रिया है—स्कन्दक ग्यारह अंग का अध्येता था। प्रतिमा की साधना विशिष्ट श्रुतसम्पन्न मुनि ही कर सकता है। फिर उन्होंने प्रतिमा की आराधना कैसे की ? इसका समाधान यह है—स्कन्दक ने भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त कर प्रतिमा की आराधना की थी। केवली की उपस्थिति में श्रुत का नियम लागू नहीं होता।^४

दसाओ के अनुसार प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है—

नाम	कालमान	आहार-परिमाण	प्रारंभिक तपस्या	साधनास्थल	आसन
१. एकमासिकी भिक्षु-प्रतिमा	एक मास	एक-एक दत्ति	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
२. द्वैमासिकी भिक्षु-प्रतिमा	दो मास	दो-दो दत्तिया	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
३. त्रैमासिकी भिक्षु-प्रतिमा	तीन मास	तीन-तीन दत्तियां	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
४. चातुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा	चार मास	चार-चार दत्तियां	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
५. पाञ्चमासिकी भिक्षु-प्रतिमा	पांच मास	पांच-पांच दत्तियां	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
६. षण्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा	छह मास	छह-छह दत्तियां	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
७. साप्तमासिकी भिक्षु-प्रतिमा	सात मास	सात-सात दत्तियां	०	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
८. प्रथम सात रात-दिन की भिक्षु-प्रतिमा	सात दिन-रात	०	घृतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	उत्तान, पार्श्वशयन, निपथा
९. द्वितीय सात रात-दिन की भिक्षु-प्रतिमा	सात दिन-रात	०	घृतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	दण्डायत, लघुशयन, उकडू
१०. तृतीय सात रात-दिन की भिक्षु-प्रतिमा	सात दिन-रात	०	घृतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, अन्नकुब्ज
११. अहोरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा	एक दिन-रात	०	षष्ठ भक्त	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, अन्नकुब्ज
१२. एकरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा	एक रात	०	अष्टम भक्त	गांव आदि के बाहर	कायोत्सर्ग आदि

शब्द-विमर्श

ययासूत्र....ययासाम्—इन पांच पदों में प्रतिमा की विधि का निर्देश दिया गया है। 'सूत्र' शब्द विधिसूत्र का सूचक है। 'कल्प'

शब्द मर्यादा वा व्यवस्था का सूचक है। 'मार्ग' शब्द पद्धतों के अनुसरण का सूचक है। 'तत्त्व' शब्द प्रतिमा के वास्तविक स्वरूप का सूचक है। 'साम्य' शब्द समभाव का सूचक है।^५

१. दसाओ, ७।१-३६।

२. भ.वृ.२।५६—भिक्षुचित्तमभिग्रहविशेषम् ।

३. श्रीपंचाशक, १८।४, ५—

पडिचज्जइ एयाओ संघयणं थिइजुओ महासत्तो ।

पडिमाओ भावियप्पा, सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ ॥

गच्छे छिअ-निम्माओ, जा पुव्व दस भवे असंपुण्णा ।

णवमस्स तइय वत्थु, होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥

४. भ.वृ.२।५६—नन्वयभेकादशाङ्गधारी पठितः, प्रतिमाशच विशिष्टश्रुतवानेव करोति, यदाह—

“गच्छे छिय णिम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा ।

णवमस्स तइयवत्थु होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥”

इति कथं न विरोधः ? उच्यते, पुरुषान्तरविषयोऽयं श्रुतानयनः, तस्य तु सर्वविदुषद्वेषेण प्रवृत्तत्वात्त दोष इति ।

५. वही, २।५६—‘अहासुत्तं’ति सामान्यसूत्रानतिक्रमेण ‘अहाकण्यं’ति प्रतिमा-कल्पानतिक्रमेण तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमेण वा ‘अहापण्यं’ति ज्ञानादिनोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण वा ‘अहातच्चं’ति यथातत्त्वं तत्त्वानतिक्रमेण मासिकी भिक्षुप्रतिमेति शब्दार्थानतिलङ्घनेनेत्यर्थः । ‘अहासम्’ति यथासाम्यं समभावानतिक्रमेण ।

२. सामायिक आदि ग्यारह अंग

ग्यारह अंगों में पहला अंग आचारो है। प्रस्तुत सूत्र में 'सामायिक आदि ग्यारह अंग' का उल्लेख किया गया है। यह सामायिक क्या है ? वृत्ति में इसकी कोई व्याख्या नहीं है। प्रसंग के अनुसार सामायिक को आचारो (आचारांग) का पर्यायवाची नाम माना जा सकता है। आचारो में सामायिक—सभता का ही प्रतिपादन है।

वृत्तिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है—पांचवें अंग में स्कन्दक का चरित उपलब्ध है। यदि उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तो, पांचवें अंग में स्कन्दक-चरित कैसे मिलता ?

वृत्तिकार ने इसके समाधान में लिखा है—भगवान् महावीर के तीर्थ में नौ वाचनाएँ थीं। उनमें स्कन्दक-चरित में अभिधेय अर्थ किसी दूसरे व्यक्ति के चरित्र द्वारा प्रतिपादित किए गए थे। सुधर्मा स्वामी ने अपनी वाचना में फिर स्कन्दक-चरित्र को स्थान दिया। इसलिए स्कन्दक द्वारा ग्यारह अंगों के अध्ययन में और वर्तमान

पांचवें अंग के स्कन्दक-प्रकरण में कोई विरोध नहीं है। इसका दूसरा विकल्प यह बताया है—गणधर अतिशायी ज्ञान वाले थे। उनके द्वारा भविष्य में होने वाले चरित्र का प्रतिपादन भी किया जा सकता है।

वृत्तिकार का यह समाधान अत्यन्त श्रद्धाभिषिक्त है। आगम-रचना के इतिहास की दृष्टि से विचार करें, तो यह प्रश्न कोई जटिल नहीं है। भगवान् महावीर के समय में ग्यारह अंगों का जो स्वरूप था वह आज उपलब्ध नहीं है। आज जो ग्यारह अंग उपलब्ध हैं, वे देवर्षिगणी द्वारा संकलित वाचना के हैं। इनकी पूर्ववर्ती ग्यारह अंगों से तुलना नहीं की जा सकती। इनमें उत्तरवर्ती अनेक घटनाएँ संकलित हैं।^१ जमालि के प्रकरण में भी सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्ययन का उल्लेख है^२ और प्रस्तुत आगम में उसका चरित्र भी निरूपित है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वीकार करना अधिक संगत होगा कि प्रस्तुत आगम में स्कन्दक और जमालि के चरित उत्तरकाल में संकलित किए गए हैं।

६१. तए णं से खंदए अणगारे एगरातिंयं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुव्मेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ॥

ततः सः स्कन्दकः अनगारः एकरात्रिकीं भिक्षुप्रतिमां यथामूर्त्तं यावद् आराध्य यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—इच्छामि भदन्त ! युष्माभिः अभ्यनुज्ञातः सन् गुणरत्नसंवत्सरं तपःकर्म उपसम्पद्य विहर्तुम् । यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

६१. वह स्कन्दक अनगार एक रात की भिक्षुप्रतिमा की यथासूत्र यावत् आराधना कर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहाँ आता है, आकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस प्रकार बोला— भन्ते! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर गुणरत्नसंवत्सर तपःकर्म की उपसम्पदा स्वीकार कर विहार करना चाहता हूँ। देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबंध मत करो।

६२. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हइत्तुइ जाव नमंसित्ता गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तं जहा— पढमं मासं चतुर्थचतुर्थेणं अणिक्वित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुए सूराम्भिमुहे आयावणभूमिं आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य ।

ततः सः स्कन्दकः अनगारः श्रमणेन भगवता महावीरेण अभ्यनुज्ञातः सन् हृष्टतुष्टः यावन् नमस्यित्वा गुणरत्नसंवत्सरं तपःकर्म उपसम्पद्य विहरति, तद् यथा— प्रथमं मासं चतुर्थचतुर्थेण अनिक्षितेन तपः-कर्मणा दिवा स्थानोत्कुटुकः सूर्याभिमुखः आतापनभूम्याम् आतापयन्, रात्रौ वीरासनेन अप्रावृत्तेन च ।

६२. वह स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की अनुज्ञा प्राप्तकर हृष्टतुष्ट चित्त वाला हुआ यावत् नमस्कार कर गुणरत्न संवत्सर तपःकर्म^१ की उपसम्पदा स्वीकार कर विहार करता है, जैसे— प्रथम मास में विना विराम^२ (एकान्तर) चतुर्थ-^३ चतुर्थभक्त(एक-एक दिन का उपवास) तपःकर्म करता है, दिन में स्थान—कायोत्सर्ग-मुद्रा और उकडू आसन^४ में बैठ सूर्य के सामने मुंह कर आतापनभूमि में आतापना लेता है^५ और रात्रि में वीरासन^६ में बैठा है, निर्वस्त्र रहता है।

१. भ.वृ.२।५७—'एकारसअंगाई अहिउइ'ति इह कश्चिदाह—नन्दनेन स्कन्दकचरितात्त्रागैकादशाङ्गानिष्पत्तिरवसीयते, पञ्चमाङ्गान्तमूर्त्तं च स्कन्दकचरितमिदमुपलभ्यते इति कथं न विरोधः ? उच्यते, श्रीमन्महावीरतीर्थे किल नव वाचनाः, तत्र च सर्ववाचनासु स्कन्दकचरितात् पूर्वकाले ये स्कन्दकचरिताभिधेया अर्थास्ते चरितान्तरद्वारेण प्रज्ञाप्यन्ते। स्कन्दकचरितोत्पत्तौ च सुधर्मस्वामिना जन्मनामानं स्वशिष्यमङ्गीकृत्याधिकृतवाचनायामस्यां स्कन्द-

कचरितमेवाश्रित्य तदर्थप्ररूपणा कृतेति न विरोधः। अथवा सातिशाशयित्वाद् पणधराणामनागतकालभाविवारितनिबन्धनमदुष्टमिति, भाविशिष्यसन्ताना-पेक्षयाऽतीतकालनिर्देशोऽपि न दुष्ट इति।

२. ठाणं, ७।१४०, १४१।
३. भ.६।२१५।

दोच्चं मासं छट्ठंछट्ठेणं अणिविखत्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठणुक्कुडुए सूर्याभिमुखे आयावणभूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेणं अवाउडेणं य ।

एवं तच्चं मासं अड्डमंअड्डमेणं । चउत्थं मासं दसमंदसमेणं । पंचमं मासं बारसमंबारसमेणं । छट्ठं मासं चउद्दसमंचउद्दसमेणं । सत्तमं मासं सोलसमंसोलसमेणं । अड्डमं मासं अड्डारसमंअड्डारसमेणं । नवमं मासं वीसइमंवीसइमेणं । दसमं मासं बावीसइमं-बावीसइमेणं । एक्कारसमं मासं चउवीसइमं-चउवीसइमेणं । बारसमं मासं छवीसइमं-छवीसइमेणं । तेरसमं मासं अड्डावीसइमं-अड्डावीसइमेणं । चउद्दसमं मासं तिसइमं-तिसइमेणं । पण्णरसमं मासं बत्तीसइमं-बत्तीसइमेणं । सोलसं मासं चोत्तीसइमं-चोत्तीसइमेणं अणिविखत्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठणुक्कुडुए सूर्याभिमुखे आयावणभूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेणं अवाउडेणं य ॥

द्वितीयं मासं षष्ठषष्ठेण अणिविखत्तेण तपःकर्मणा दिया स्थानोत्कुटुकः सूर्याभिमुखः आतापनभूम्याम् आतापयन् रात्रौ वीरासनेन अप्रावृतेन च ।

एवं तृतीयं मासम् अष्टमाष्टमेन । चतुर्थं मासं दशमदशनेन । पञ्चमं मासं द्वादशद्वादशेन । षष्ठं मासं चतुर्दशचतुर्दशेन । सप्तमं मासं षोडशषोडशेन । अष्टमं मासम् अष्टादशाष्टादशेन । नवमं मासं विंशविंशेन । दशमं मासं द्वाविंशद्वाविंशेन । एकादशं मासं चतुर्विंशचतुर्विंशेन । द्वादशं मासं षड्विंशषड्विंशेन । त्रयोदशं मासम् अष्टाविंशाष्टाविंशेन । चतुर्दशं मासं त्रिंशत्रिंशेन । पञ्चदशं मासं द्वात्रिंशद्वात्रिंशेन । षोडशं मासं चतुस्त्रिंशचतुस्त्रिंशेन अनिश्चितेन तपःकर्मणा दिया स्थानोत्कुटुकः सूर्याभिमुखः आतापनभूम्याम् आतापयन् रात्रौ वीरासनेन अप्रावृतेन च ।

दूसरे मास में बिना विराम षष्ठ-षष्ठभक्त (दो-दो दिन का उपवास) तपःकर्म करता है। दिन में स्थान—कायोत्सर्ग-मुद्रा और उकडू आसन में बैठ सूर्य के सामने मुंह कर आतापनभूमि में आतापना लेता है और रात्रि में वीरासन में बैठता है, निर्वस्त्र रहता है।

इसी प्रकार तीसरे मास में अष्टम-अष्टमभक्त (तीन-तीन दिन का उपवास), चौथे मास में दशम-दशमभक्त (चार-चार दिन का उपवास), पांचवें मास में द्वादश-द्वादशभक्त (पांच-पांच दिन का उपवास) छठे मास में चतुर्दश-चतुर्दशभक्त (छह-छह दिन का उपवास), सातवें मास में षोडश-षोडशभक्त (सात-सात दिन का उपवास), आठवें मास में अष्टदश-अष्टदशभक्त (आठ-आठ दिन का उपवास), नवें मास में बीसवां-बीसवांभक्त (नव-नव दिन का उपवास), दसवें मास में बाईसवां-बाईसवांभक्त (दश-दश दिन का उपवास), ग्यारहवें मास में चौबीसवां-चौबीसवांभक्त (ग्यारह-ग्यारह दिन का उपवास), बारहवें मास में छवीसवां-छवीसवांभक्त (बारह-बारह दिन का उपवास), तेरहवें मास में अठईसवां-अठईसवांभक्त (तेरह-तेरह दिन का उपवास), चौदहवें मास में तीसवां-तीसवांभक्त (चौदह-चौदह दिन का उपवास), पन्द्रहवें मास में बत्तीसवां-बत्तीसवांभक्त (पन्द्रह-पन्द्रह दिन का उपवास) और सोलहवें मास में बिना विराम चौतीसवां-चौतीसवांभक्त (सोलह-सोलह दिन का उपवास) तपःकर्म करता है। दिन में स्थान— कायोत्सर्ग-मुद्रा और उकडू आसन में बैठ सूर्य के सामने मुंहकर आतापनभूमि में आतापना लेता है और रात्रि में वीरासन में बैठता है, निर्वस्त्र रहता है।

भाष्य

१. गुणरत्न संवत्सर तपःकर्म

इस तपस्या में सोलह मास का समय लगता है। इसमें तपस्या का कालमान १३ महीनें और १७ दिनों का होता है। आहार का

कालमान ७३ दिन का होता है।^१ देखें तालिका—

१. भ.वृ.२।६१—गुणानां—निर्जराविशेषायां रचनं—करणं संवत्सरेण— सत्रिभागवर्षेण यस्मिंस्तपसि तद् गुणरचनसंवत्सरं, गुणा एव वा रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्नः संवत्सरो यत्र तद्गुणरत्नसंवत्सरं—तपः, इह च त्रयोदश मासाः सप्तदशदिनाधिकास्तपःकालः, त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणककाल इति, एवं चायम्—

पण्णरसवीसचउव्वीस चैव चउवीस पण्णवीसा य ।
चउवीस एक्कवीसा चउवीसा सत्तवीसा य ॥

तीसा तेत्तीसावि य चउव्वीस छवीस अड्डवीसा य ।
तीसा बत्तीसावि य सोलसमासेसु तवदिवसा ॥
पण्णरसदसड्डुछपंचचउरपंचसु य तिण्णि तिण्णित्ति ।
पंचसु दो दो य तह सोलसमासेसु पारणगा ॥

इह च यत्र मासेऽष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्वन्ते तावन्त्यग्रेतनमासा-
दाकृष्य पूरणीयानि, अधिकानि चाग्रेतनमासे क्षेप्तव्यानि ।

कालमान	तपस्या	दिन में आसन	आतापना	रात्रि आसन	तपस्या के दिन	पारणा के दिन
प्रथम मास	चतुर्थ-चतुर्थ भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	१५	१५
द्वितीय मास	षष्ठ-षष्ठ भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२०	१०
तृतीय मास	अष्टम-अष्टम भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२४	८
चतुर्थ मास	दशम-दशम भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२४	६
पंचम मास	द्वादश-द्वादश भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२५	५
षष्ठ मास	चतुर्दश-चतुर्दश भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२४	४
सप्तम मास	षोडश-षोडश भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२१	३
अष्टम मास	अष्टादश-अष्टादश भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२४	३
नवम मास	बीसवां-बीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२७	३
दशम मास	बावीसवां-बावीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	३०	३
ग्यारहवां मास	चौबीसवां-चौबीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	३३	३
बारहवां मास	छबीसवां-छबीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२४	२
तेरहवां मास	अठ्ठाईसवां-अठ्ठाईसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२६	२
चौदहवां मास	तीसवां-तीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	२८	२
पन्द्रहवां मास	बत्तीसवां-बत्तीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	३०	२
सोलहवां मास	चौतीसवां-चौतीसवां भक्त	उकडू	सूर्याभिमुख होकर	वीरासन निर्वस्त्र अवस्था	३२	२
					४०७	७३

२. बिना विराम

अनिश्चित का अर्थ 'बिना विराम' है ।

३. चतुर्थ

इसका अर्थ है उपवास। एक दिन में भोजन के दो भक्त (या वेल) माने जाते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार उपवास करने वाला एक बार भोजन कर आहार का प्रत्याख्यान कर देता है। उपवास के दिन दो भक्त अनाहार रहते हैं। पारणा के दिन भोजन के समय उपवास पूरा किया जाता है। चौथे भक्त की सीमा तक आहार का त्याग होता है, इसलिए इसका पारिभाषिक नाम चतुर्थ है।^१ आगम-साहित्य में उपवास के लिए प्रायः 'चतुर्थ' का ही प्रयोग मिलता है। संबोधप्रकरण में इसके अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं।^२

४. स्थान—कायोत्सर्ग-मुद्रा और उकडू आसन

स्थान का अर्थ है कायोत्सर्ग। वृत्तिकार ने स्थान का अर्थ आसन किया है। उल्लुटुक या उकडू आसन का अर्थ है—दोनों पैरों को भूमि पर टिकाकर दोनों पुतों को भूमि से न छुहाते हुए भूमि पर बैठना।^३

इसकी दूसरी परिभाषा है—एड़ी और पुतों को ऊंचा रखकर

बैठना।

घेरण्डसंहिता में उल्लुटुआसन का विवरण इस प्रकार है—चरणों के अंगुठों को भूमि में टेककर, दोनों एड़ियों को निरालम्ब कर, ऊपर को उठा दें। गुहा को एड़ियों पर रखें—इसे उल्लुटुआसन कहते हैं।^४

५. आतापन-भूमि में आतापना लेता है

आतापना तैजस शक्ति या कुण्डलिनी के विकास की एक प्रकृत साधना है।^५ इसका प्रयोग जैन मुनि तथा अन्य तपस्वी भी करते थे।^६ इस तप के लिए एक ऊंचा स्थान चुना जाता है, जहां से सूर्य का आतप लिया जा सके। यह स्थान पर्वत का शिखर या कोई भी ऊंचा टीला हो सकता है। आतापना सूर्य के सम्मुख खड़े होकर, दोनों भुजाओं को ऊंचा कर ली जाती थी। यह कायोत्सर्ग की खड़ी मुद्रा और उकडू आदि आसनों में ली जाती थी। बृहत्कल्प भाष्य में आतापना के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

उत्कृष्ट—लेटकर ली जाने वाली।

मध्यम—बैठकर ली जाने वाली।

जघन्य—खड़े-खड़े ली जाने वाली।

उत्कृष्ट आतापना के तीन प्रकार हैं—

१. भ.वृ.२।६२—चतुर्थं भक्तं थावन्नक्तं त्यज्यते तत्र तस्मिन्चतुर्थम्, इयं चोपवासस्य सञ्ज्ञा, एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति।

२. संबोधप्रकरण, गा. ६६—

मुद्यो सप्तगो धम्मो, निष्पावो उत्तमो अणाहारो।

चउप्याओ भत्तद्धो, उववासो तस्स एगङ्ग॥

३. भ.वृ.२।६२—स्थानम्—आसनमुल्लुटुकम्—आधारे पुत्तालगनरूपं यस्यासौ स्थानोल्लुटुकः।

४. घेरण्डसंहिता, २।२३—

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतीं।

तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुल्लुटुआसनम्॥

५. ठाणं, ३।३८६।

६. भ.३।३३।

१. उत्कृष्ट उत्कृष्ट—ओंधे मुंह लेटकर ली जाने वाली।
२. उत्कृष्ट मध्यम—बाई या दाईं करवट में लेटकर ली जाने वाली।
३. उत्कृष्ट जघन्य—सीधा लेटकर ली जाने वाली।
मध्यम आतापना के भी तीन प्रकार हैं—
४. मध्यम उत्कृष्ट—पर्यकासन में ली जाने वाली।^१
५. मध्यम मध्यम—अर्धपर्यकासन में ली जाने वाली।
६. मध्यम जघन्य—उकडू आसन में ली जाने वाली।
जघन्य आतापना के भी तीन प्रकार हैं—
७. जघन्य उत्कृष्ट—हस्तिशुण्डिका में ली जाने वाली।
८. जघन्य मध्यम—एकपादिका में ली जाने वाली।
९. जघन्य जघन्य—समपादिका में ली जाने वाली।^१

आतापना से प्राणिक ऊर्जा का संचय होता है। यह सूर्य के तेजस् अर्थात् सौर ऊर्जा (solar energy) से प्राप्त होती है। सूर्य रश्मि-चिकित्सा-पद्धति में सूर्य-किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए किया जाता है। मुनि और तपस्वी इनका प्रयोग प्राण-ऊर्जा के संवर्धन और चित्त की निर्मलता के लिए करते थे।

पर्यकासन—बाएं पैर को दाएं ऊरु और जंघा की संधि पर तथा दाएं पैर को बाएं ऊरु और जंघा की संधि पर रखना। पर्यकासन और पद्मासन को एक माना जाता है।^१ घेरण्डसंहिता के अनुसार बद्धपद्मासन ही पद्मासन है।^१ आप्टे के अनुसार पर्यकासन और वीरासन एक हैं।^१

अर्धपर्यकासन—बाएं या दाएं किसी एक पैर को पद्मासन की मुद्रा में रखना।

हस्तिशुण्डिकासन—हस्तिशुण्डिकासन की दो मुद्राएं प्राप्त होती हैं—

१. पुतों के सहारे बैठ कर क्रमशः एक-एक पैर को ऊपर उठाकर अधर में रखना।^१

२. सीधे खड़े रहकर शिर को घुटनों की ओर नीचे लाना तथा दोनों हाथ जोड़कर हाथी की सूंड की भांति दोनों पैरों के बीच से ले जाना।

१. मध्यम के बैकल्पिक प्रकार इस प्रकार हैं—

मध्यम उत्कृष्ट—गोदोहिकासन में ली जाने वाली।

मध्यम मध्यम—उकडू-आसन में ली जाने वाली।

मध्यम जघन्य—पर्यकासन में ली जाने वाली।

२. वृ.क.भा.गा.५६४५-५६४६।

३. स्या.वृ.प.२८७—पर्यका—जिनप्रतिमानामिव या पद्मासनमिति रूढा तथा अर्धपर्यका—उरावेकपादनिवेशनलक्षणा।

४. घेरण्डसंहिता, २। ८—

वामोरुपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्द्व्याधिविनाशकारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥

५. आप्टे.—पर्यकासन—देखें, इसी सूत्र में वीरासन का भाष्य, भाष्यांक ६।

६. (क) वृ.क.भा.गा.५६४८ वृत्ति—पुताभ्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पादनरूपा।

(ख) देखें, उत्तर. ३०। २७ का टिप्पण।

७. मनोनुशासनम्, पृ. ४६।

एकपादिक—सीधे खड़े होकर गर्दन, पृष्ठवंश और पैर तक का सारा शरीर सीधा और समरेखा में रखकर एक पैर को उठाकर सीधा फैलाना।^१

समपादिका—सीधे खड़े रहकर गर्दन, पृष्ठवंश और पैर तक का सारा शरीर सीधा और समरेखा में रखकर दोनों पैरों को सटाकर रखना।^१

६. वीरासन

प्रथम परिभाषा—कुर्सी पर बैठकर उसे निकाल देने पर जो मुद्रा बनती है उसे वीरासन कहते हैं।^१

दूसरी परिभाषा—बद्धपद्मासन की तरह दोनों पैरों को रखकर, हाथों को पद्मासन की तरह रखना।^१

तीसरी परिभाषा—दाएं पैर के घुटने को उठाकर पैर भूमि पर रखा जाता है। बाएं पैर की अङ्गुलियों को भूमि पर टिकाकर, एड़ी ऊंची कर, उस पर गुदा रखकर बैठा जाता है। घुटना आड़ा रखा जाता है। मुट्ठी बांधकर हाथ घुटनों पर सीधे रखे जाते हैं। सीना उठाकर सामने देखा जाता है।

घेरण्डसंहिता में भी प्रायः यही मुद्रा मिलती है।^१ आप्टे ने वीरासन के विषय में वशिष्ठ का मत उद्धृत किया है।^१

फल—उकडू आसन का प्रभाव वीर्य-ग्रन्थियों पर पड़ता है और यह ब्रह्मचर्य की साधना में बहुत फलदायी है। वीरासन से धैर्य, सन्तुलन और कष्ट-सहिष्णुता का विकास होता है।

वीरासन की विधि—दायें पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी मल्लहार पर नीचे आ जाए इस प्रकार रखें। बायें पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी दायें पैर के पंजे के पास रहे इस प्रकार रखें। रेचक करते-करते बायें हाथ को बाईं साथल पर उस प्रकार रखें जिससे कोहनी का भाग थोड़ा ही दूर रहे। फिर दायें हाथ के पंजे से बायें हाथ के पंहुंके को पकड़ें।

वीरासन का प्रभाव—वीरासन का यह दूसरा प्रकार है। इस आसन में बैठकर नादानुसन्धान किया जाता है।

इस आसन के अभ्यास से शौर्य प्रकट होता है। जटराग्नि प्रदीप्त होती है। स्फूर्ति और उत्साह पैदा होता है।

८. (क) वृ.क.भा.गा.५६४८ वृत्ति—उत्थितस्यैकपादेनावस्थानम्।

(ख) मनोनुशासनम्, पृ. ४३।

९. (क) वृ.क.भा.गा.५६४८ वृत्ति—समतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा यदूर्ध्व-स्थितैराताप्यते।

(ख) मनोनुशासनम्, पृ. ४३

१०. श.वृ.२।६२—सिंहासनोपविष्टस्य—भून्यस्तपादस्यापनीतसिंहासनस्येव यद-वस्थानं तद्वीरासनम्।

११. मनोनुशासनम्, पृ. ५२।

१२. आसन अने मुद्रा, प्रथम खण्ड, पृ. २६७।

१३. घेरण्डसंहिता, २। १५—

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदुरुसंस्थितम्।

इतरसंस्थितया पश्चाद् वीरासनमिति स्मृतम् ॥

१४. आप्टे.—पर्यकासन—

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्थोऽथै तु संस्थितं।

इतरसंस्थितवोरुं वीरासनमुदाहृतम् ॥

६३. तए णं से खंदए अणगारे गुण-
रयणसंबच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं
जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता
बहूहिं चउत्थ-छट्टुम-दसम-दुवालसेहिं,
मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मोहिं
अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

६४. तए णं से खंदए अणगारे तेणं ओरालेणं
विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं
सिवेणं धत्तेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं
उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं
तवोकम्मोणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठि-
चम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे
धमणिसंतए जाए यावि होत्था । जीवंजीवेणं
गच्छइ, जीवंजीवेणं चिट्ठइ, भासं भासित्ता
वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाइ, भासं
भासिस्सामीति गिलाइ ।

से जहानामए कट्टसगडिया इ वा,
पत्तसगडिया इ वा, पत्त-तिल-भंडगसगडिया
इ वा, एरंडकट्टसगडिया इ वा, इंगाल-
सगडिया इ वा—उण्हे दिण्णा सुक्का
समाणी ससहं गच्छइ, ससहं चिट्ठइ,
एवामेव खंदए अणगारे ससहं गच्छइ, ससहं
चिट्ठइ, उवचिए तवेणं अवचिए मंस-
सोणिएणं, हुयासणे विव भासरासि-
पडिच्छण्णे तवेणं, तेएणं, तव-तेयसिरीए
अतीव-अतीव उवसोभमाणे-उवसोभमाणे
चिट्ठइ ॥

तत सः स्कन्दकः अनगारः गुणरत्नसंबत्सरं
तपःकर्म यथासूत्रं यथाकल्पं यावत् आराध्य
यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव
उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं
वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा बहुभिः
चतुर्थ-षष्ठ-अष्टम-दशम-द्वादशैः मासार्द्धमास-
क्षणैः विचित्रैः तपःकर्मभिः आत्मानं भाव-
यन् विहरति ।

ततः सः स्कन्दकः अनगारः तेन 'ओरालेणं'
विपुलेन प्रत्तेन प्रगृहीतेन कल्याणेन शिवेन
धन्येन मांगल्येन सश्रीकेण उदग्गेण उदात्तेन
उत्तमेन उदारेण महानुभागेन तपःकर्मणा
शुष्कः रूक्षः निर्मासः अस्थि-चर्मावन्तः जात-
श्चापि आसीत् । जीवंजीवेन गच्छति, जीवं-
जीवेन तिष्ठति, भाषां भाषित्वापि ग्लायति,
भाषां भाषमाणः ग्लायति, भाषां भाषिष्ये इति
ग्लायति ।

अथ यथानाम काष्ठशकटिका इति वा,
पत्रशकटिका इति वा, पत्र-तिल-भाण्डक-
शकटिका इति वा, एरण्डकाष्ठशकटिका इति
वा, अंगारशकटिका इति वा—उण्णे दत्ता
शुष्का सती सशब्दं गच्छति, सशब्दं तिष्ठति,
एवमेव स्कन्दकः अनगारः सशब्दं गच्छति,
सशब्दं तिष्ठति, उपचितः तपसा अपचितः
मांस-शोणितेन, हुताशनः इव भस्मराशि-
प्रतिष्ठः तपसा, तेजसा, तपस्तेजःश्रिया
अतीव-अतीव उपशोभमानः-उपशोभमानः
तिष्ठति ।

६३. यह स्कन्दक अनगार गुणरत्नसंबत्सर तपःकर्म
की यथासूत्र, यथाकल्प यावत् आराधना कर जहां
श्रमण भगवान् महावीर हैं वहां आता है, आकर
श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करता
है, वन्दन-नमस्कार कर अनेक चतुर्थभक्त, षष्ठ-
भक्त, दशमभक्त, द्वादशभक्त, अर्धमास और मास-
क्षण—इस प्रकार विचित्र तपःकर्म के द्वारा
आत्मा को भावित करता हुआ विहरण कर रहा
है ।

६४. ^१वह स्कन्दक अनगार उस प्रधान, विपुल,
अनुज्ञात, प्रगृहीत, कल्याण, शिव, धन्य, मंगल-
मय, शोभायित, उत्तरोत्तर वर्धमान, उदात्त, उत्तम,
उदार और महान् प्रभावी तपःकर्म से सूखा, रूखा,
मांसरहित, चर्म से वेष्टित अस्थि वाला, उठते-बैठते
समय किट-किट शब्द से युक्त, कृश और धमनियों
का जाल-मात्र हो गया । वह प्राण-बल से चलता
है और प्राण-बल से ठहरता है, वह वचन बोलने
के पश्चाद् भी ग्लान होता है, वचन बोलता हुआ
भी ग्लान होता है और वचन बोलूंगा यह चिन्तन
करता हुआ भी ग्लान होता है ।

जैसे कोई इंधन से भरी हुई गाड़ी, पत्तों से भरी
हुई गाड़ी, पत्र-सहित तिलों और मिट्टी के वर्तनों
से भरी हुई गाड़ी, एरण्ड की लकड़ियों से भरी
हुई गाड़ी तथा कोयलों से भरी हुई गाड़ी ताप
लगने से सूखी हुई, सशब्द चलती है और सशब्द
ठहरती है, इसी प्रकार स्कन्दक अनगार सशब्द
(किट-किट की ध्वनि-सहित) चलता है और
सशब्द ठहरता है, वह तप से उपचित और
मांस-शोणित से अपचित हो गया । वह राख के
ढेर से ढकी हुई अग्नि की भांति तप, तेज तथा
तपस्तेज की श्री से ^२अतीव-अतीव उपशोभित
होता हुआ, उपशोभित होता हुआ रहता है ।

भाष्य

१. सूत्र ६४

प्रस्तुत सूत्र में तप के चौदह विशेषण निर्दिष्ट हैं—

ओराल—ओराल का अर्थ है प्रधान । वह तप प्रधान होता
है, जो आशंसायुक्त हो ।

विपुल—विस्तीर्ण । लम्बी अवधि तक होने वाला तप ।

प्रत्त—इसका मूल 'पयत्त' शब्द है । इसके संस्कृत रूप 'प्रत्त'
और 'प्रदत्त' दोनों हो सकते हैं । इसका अर्थ है 'गुरु द्वारा अनुज्ञात' ।

प्रगृहीत—संयमपूर्वक आराधित । वृत्तिकार ने इसका अर्थ
'बहुमानपूर्वक आश्रित' किया है ।

कल्याण—आरोग्यकर ।

शिव—निरुपद्रव ।

धन्य—कृतार्थ ।

मांगल्य—अनिष्ट का उपशमन करने वाला ।

सश्रीक—आभायुक्त ।

उदग्र—उत्तरोत्तर वर्धमान ।

उदात्त—उत्तमभाव युक्त ।

उत्तम—श्रेष्ठ। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'ज्ञानयुक्त' तथा 'उत्तमपुरुषों द्वारा आसेवित' भी किया है।

उदार—व्यथामुक्त।^१

महानुभाव—महान् प्रभावी।^२

शब्द-विमर्श

अस्थिचर्मावनद्ध—हड्डियों पर मांस नहीं रहा, वे केवल चमड़ी से वेष्टित हैं—इस अवस्था को बतलाने के लिए 'अस्थिचर्मावनद्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है।^३

किटिकिटिकाभूत—'किटिकिटिका' अनुकरण शब्द है। उठते-बैठते समय पैर की हड्डियों से होने वाली आवाज।^४ संस्कृत में

'कटकटा' शब्द का प्रयोग दो चीजों की रगड़ से उत्पन्न होने वाली आवाज के अर्थ में होता है।^५

धमनिसंतत—नाड़ी का जाल।^६

जीवंजीव—प्राणबल। यहां अनुस्वार अलाक्षणिक है।^७

२. राख के ढेर से ढकी हुई.....तपस्तेज की श्री से

शरीर की शोभा या सौन्दर्य को बढ़ाने वाले दो तत्त्व हैं—रक्त और मांस। तपस्या के द्वारा स्कन्दक मुनि के शरीर में रक्त और मांस का अपचय हो गया। इसलिए वह बाहर से सुन्दर नहीं लग रहा था, किन्तु अन्दर में तप और तेज की शोभा से अत्यन्त उपशोभित हो रहा था।^८

६५. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे
समोसरणं जाव परिसा पडिगया ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहे नगरे
समवसरणं यावत् परिषद् प्रतिगता ।

६५. उस काल और उस समय राजगृह नगर में
श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण था यावत्
परिषद् चली गई ।

६६. तए णं तस्स खंदयस्स अणमारस्स
अण्णया कयाइ पुवरत्तावरत्तकालसमयंति
धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे
अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकमे
समुप्पजित्था—

एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं ओरालेणं
विउलेणं पयत्तेणं एगहिएणं कल्लाणेणं
सिबेणं धन्नेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं
उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महानुभागेणं
तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्टि-
चम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे धमणि-
संतए जाए । जीवंजीवेणं गच्छामि, जीवंजी-
वेणं चिद्धामि, भासं भासित्ता वि गिलामि,
भासं भासमाणे गिलामि, भासं भासि-
स्सामीति गिलामि ।

ततः तस्य स्कन्दकस्य अनगरस्य अन्यदा
कदाचित् पूर्वरात्रापरात्रकालसमये धर्म-
जागरिकां जाग्रतः अयमेतद्रूपः
आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः
संकल्पः समुदपादि—

एवं खलु अहम् अनेन एतद्रूपेण 'ओरालेणं'
विपुलेन प्रतेन प्रगृहीतेन कल्याणेन शिवेन
धन्वेन मांगल्येन सश्रीकेण उदग्गेण उदात्तेन
उत्तमेन उदारेण महानुभागेन तपःकर्मणा
शुष्कः रूक्षः निर्मासः अस्थि-चर्मावनद्धः
किटिकिटिकाभूतः कृशः धमनिसन्ततः
जातः। जीवंजीवेन गच्छामि, जीवंजीवेन
तिष्ठामि, भाषां भाषित्वापि ग्लायामि, भाषां
भाषमाणः ग्लायामि, भाषां भाषिष्ये इति
ग्लायामि ।

६६. किसी एक समय मध्यरात्रि में^९ धर्म-जागरिका^१
करते हुए उस स्कन्दक अनगर के मन में आध्या-
त्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ—

मैं इस विशिष्टरूप वाले प्रधान, विपुल, अनुज्ञात,
प्रगृहीत, कल्याण, शिव, धन्य, मंगलमय, श्री-
सम्पन्न, उत्तरोत्तर वर्धमान, उदात्त, उत्तम, उदार
और महानप्रभावी तपःकर्म से सूखा, रूखा,
मांस-रहित, चर्म से वेष्टित अस्थिवाला, उठते-बैठते
समय किट-किट शब्द से युक्त, कृश और धमनियों
का जाल-मात्र हो गया हूँ। मैं प्राणबल से चलता
हूँ और प्राणबल से ठहरता हूँ। मैं वचन बोलने
के पश्चाद् भी ग्लान होता हूँ और वचन बोलता
हुआ भी ग्लान होता हूँ। वचन बोलूंगा यह
चिन्तन करता हुआ भी ग्लान होता हूँ।

१. आटे. — उदार—Unperplexed

२. भ.वृ.२।६४—'ओरालेणं'मित्यादि 'ओरालेन' आशंसारहिततया प्रधानेन,
प्रधानं चाल्पमपि स्यादित्याह—'विपुलेन' विस्तीर्णेन बहुदिनत्वात्, विपुलं च
गुरुभिरनुज्ञातमपि स्यात् प्रयत्नकृतं वा स्यादत आह—'पयत्तेणं'ति प्रदत्ते-
नानुज्ञातेन गुरुभिः प्रयत्नेन वा प्रयत्नवत्ता—प्रभादरहितेनेत्यर्थः एवंविधमपि
सामान्यतः प्रतिपन्नं स्यादित्याह—'प्रगृहीतेन' बहुमानप्रकर्षादाश्रितेन, तथा
'कल्याणेन' नीरोगताकारणेन 'शिवेन' शिवहेतुना 'धन्वेन' धर्मधनसाधुना
'माङ्गल्येन' दुरितोपशमसाधुना 'सश्रीकेण' सम्यकपालनात्सशोभेन 'उदग्गेण'
उन्नतपर्यवसानेन उत्तरोत्तरं वृद्धिमतेत्यर्थः 'उदात्तेन' उन्नतभाववता 'उत्तमेणं'ति
ऊर्ध्वं तमसः—अज्ञानाद्यत्तत्तथा तेन ज्ञानयुक्तेनेत्यर्थः उत्तमपुरुषासेवितत्वाद्
वोत्तमेन 'उदारेण' औदार्यवता निःस्पृहत्वातिरेकात् 'महानुभागेन' महा-
प्रभावेण ।

३. वही, २।६४—अस्थीनि चर्मावनद्धानि यस्य सोऽस्थिचर्मावनद्धः ।

४. वही, २।६४—किटिकिटिकानिर्मासास्थिसम्बन्धयुपवेशनादिक्रियासमुत्थः शब्द-
विशेषस्तां भूतः—प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः ।

५. आटे.—कटकटा—An onomatopoeic word supposed to
represent the noise of rubbing together.

६. भ.वृ.२।६६—'धमनीसन्ततो' नाडीव्याप्तो मांसक्षयेण दृश्यमाननाडीकत्वात् ।

७. वही, २।६६—'जीवंजीवेणं'ति अनुस्वारस्यागमिकत्वात् 'जीवंजीवेन' जीव-
बलेन गच्छति न शरीरवलेनेत्यर्थः ।

८. वही, २।६६—'हुताशन इव भस्मराशिप्रतिच्छन्नः 'तवेणं तेएणं'ति तपोलक्षणेन
तेजसा, अयमभिप्रायः—यथा भस्मच्छत्रोऽग्निर्वहिवृत्त्या तेजोरोहितोऽन्तर्वृत्त्या
तु ज्वलति ! एवं स्कन्दकोऽपि अपचितमांसशोणितत्वाद्बहिर्निस्तेजा अन्तस्तु
शुभध्यानतपसा ज्वलतीति ।

से जहानामए कट्ठसगडिया इ वा, पत्तस-
गडिया इ वा, पत्त-तिल-भंडगसगडिया इ
वा, एरंडकट्ठसगडिया इ वा, इंगालस-
गडिया इ वा—उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी
ससहं गच्छइ, ससहं चिड्डइ, एवामेव अहं पि
ससहं गच्छामि, ससहं चिड्डामि ।

तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए
पुरिसक्कार-परक्कमे तं जावता मे अत्थि
उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे
जाव य मे धम्मयारिए धम्मोवदेसए समणे
भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, तावता
मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए,
फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहंपंडुरे
पभाए रत्तासोयम्पकासे, किंसुय-सुयमुह-
गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए, उट्ठि-
यम्मि सूरु सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा
जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता
नमंसित्ता णच्चासन्ने णातिदूरे सुस्सूसमाणे
अभिमुहे विणएणं पंजलियडे पञ्जुवासित्ता
समणेणं भगवया महावीरेणं अद्मणुण्णाए
समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरोवेत्ता,
समणा य समणीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं
धेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं-
सणियं दुरुहिता मेहघणसंनिगासं देव-
सन्निवातं पुट्टवीसिलापट्टयं पडिलेहिता,
दब्भसंथारगं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स
संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइ-
क्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंख-
माणस्स विहरित्ताए ति कट्टु एवं संपेहेइ,
संपेहेत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव
उट्ठियम्मि सूरु सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे
तेयसा जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं
महावीरं तिक्खुत्तो आप्याहिण-पयाहिणं
करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमं-
सित्ता णच्चासन्ने णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमं-
समाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे
पञ्जुवासइ ॥

अथ यथानामकं काष्ठशकटिका इति वा,
पत्रशकटिका इति वा, पत्र-तिल-भाण्डक-
शकटिका इति वा, एरण्डकाष्ठशकटिका इति
वा, अंगारशकटिका इति वा, उण्णे दत्ता
शुष्का सती सशब्दं गच्छति, सशब्दं तिष्ठति,
एवमेव अहमपि सशब्दं गच्छामि, सशब्दं
तिष्ठामि ।

तद् अस्ति तावन् मे उत्थानं कर्म बलं वीर्यं
पुरुषकार-पराक्रमः तद् यावन् मे अस्ति
उत्थानं कर्म बलं वीर्यं पुरुषकार-पराक्रमः
यावच्च मे धर्माचार्यः धर्मोपदेशकः श्रमणः
भगवान् महावीरः जिनः सुहस्ती विहरति,
तावन् मे श्रेयः कल्पं प्रादुष्प्रभातायां रजन्वां,
फुल्लोत्पलकमलकोमलोन्मीलिते यथापाण्डुरे
प्रभाते रक्ताशोकप्रकाशे किंशुक-शुकमुख-
गुञ्जाद्धरागसदृशे, कमलाकरषण्डबोधके,
उत्थिते सूरु सहस्सरश्मी दिनकरे तेजसा
ज्वलति श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा
नमस्यित्वा नात्यासन्नः नातिदूरः शुश्रूषमाणः
अभिमुखः विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपास्य
श्रमणेन भगवता महावीरेण अभ्यनुज्ञातः सन्
स्वयमेव पंच महाव्रतानि आरोप्य, श्रमणोश्च
श्रमणीश्च क्षमयित्वा तथारूपैः स्थविरैः कृत-
योग्यैः सार्द्धं विपुलं पर्वतं शनैः-शनैः आरुह्य
मेघघनसन्निकाशं देवसन्निपातं पृथिवीशिला-
पट्टकं प्रतिलेख्य, दर्भसंस्तारकं संस्तृत्य दर्भ-
संस्तारोपगतस्य संलेखनाजोषणाजुष्टस्य प्रत्या-
ख्यातभक्तपानस्य प्रायोपगतस्य कालमनव-
कांक्षमाणस्य विहर्तुम् इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते,
संप्रेक्ष्य कल्पे प्रादुष्प्रभातायां रजन्वां यावद्
उत्थिते सूरु सहस्सरश्मी दिनकरे तेजसा
ज्वलति यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव
उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं
त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा नात्यासन्नः
नातिदूरः शुश्रूषमाणः नमस्यन् अभिमुखः
विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपास्ते ।

जैसे कोई इंधन से भरी हुई गाड़ी, पत्तों से भरी
हुई गाड़ी, पत्र-सहित तिलों और मिट्टी के बर्तनों
से भरी हुई गाड़ी, एरंड की लकड़ियों से भरी हुई
गाड़ी तथा कोयलों से भरी हुई गाड़ी ताप लगने
से सूखी हुई सशब्द चलती है और सशब्द ठहरती
है, इसी प्रकार मैं भी सशब्द (किट-किट की
ध्वनि-सहित) चलता हूँ और सशब्द ठहरता हूँ।
इस समय मुझ में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और
पुरुषकार-पराक्रम है; अतः जब तक मुझ में
उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम
है और जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, जिन,
सुहस्ती^१, श्रमण भगवान् महावीर विहार कर रहे
हैं, तब तक मेरे लिए यह श्रेय है कि मैं कल
उषाकाल में पौ फटने पर^२ प्रफुल्लित उत्पल और
अर्ध विकसित कमल वाले^३ तथा पीत आभा
वाले^४ प्रभात में लाल अशोक की दीप्ति, पलाश,
तोते के मुख और गुञ्जार्ध के समान रंग वाले,
जलाशय गत नलिनी वन के उद्बोधक सहस्सरश्मि
दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान
होने पर श्रमण भगवान् महावीर को
वंदन-नमस्कार कर, न अति निकट न अति दूर
सुश्रूषा और नमस्कार की मुद्रा में उनके सम्मुख
सविनय बद्धाञ्जलि होकर पर्युपासना करूँ, श्रमण
भगवान् महावीर की अनुज्ञा प्राप्त होने पर मैं स्वयं
ही पांच महाव्रतों की आरोपणा करूँ,^५ श्रमण-
श्रमणियों से क्षमायाचना करूँ, तथारूप कृतयोग्य
स्थविरों के साथ धीमे-धीमे विपुल पर्वत पर चढ़
सघन मेघ के समान श्याम वर्ण वाले देवों के
समागम-स्थल पृथ्वीशिलापट्ट का प्रतिलेखन करूँ,
(उस पर) डाभ का बिछीना बिछाऊँ, उस डाभ
के बिछीने पर बैठ संलेखना की आराधना में
लीन^६ हो, भक्तपान का प्रत्याख्यान कर
प्रायोपगमन अनशन की अवस्था में^७ मृत्यु की
आकांक्षा नहीं करता हुआ रहूँ—ऐसी संप्रेक्षा
करता है, संप्रेक्षा कर दूसरे दिन उषाकाल में पौ
फटने पर यावत् सहस्सरश्मि दिनकर सूर्य के उदित
और तेज से देदीप्यमान होने पर जहां श्रमण भग-
वान् महावीर हैं वहां आता है, आकर श्रमण भग-
वान् महावीर को दायीं ओर से प्रारम्भ कर तीन
बार प्रदक्षिणा करता है, वन्दन-नमस्कार करता
है, वन्दन-नमस्कार कर न अति निकट न अति
दूर सुश्रूषा और नमस्कार की मुद्रा में उनके सम्मुख
सविनय बद्धाञ्जलि होकर पर्युपासना करता है ।

१. मध्यरात्रि में

'प्रस्तुत वाक्य में दो पद हैं—'पूर्वरात्र' और 'अपरात्र', पूर्वरात्र—रात्रि का पूर्व भाग—यह वृत्तिकार का अभिमत है। रात्रि के पश्चिम भाग के अर्थ में 'अपरात्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। संस्कृत शब्दकोश में भी 'अपरात्र' शब्द इस अर्थ में उपलब्ध है। 'अपरात्र' शब्द विरात्र के अर्थ में मिलता है।' शब्दकोश के आधार पर पूर्वरात्र का कालमान सूर्यास्त से मध्यरात्रि तक तथा अपरात्र का कालमान रात्रि का अंतिम प्रहर है।'

वृत्तिकार ने अवरत्त को अपरात्र का ही प्राकृत रूप माना है। उनके अनुसार रेफ का लोप होने पर अवरत्त पद की सिद्धि हो जाती है।

जयाचार्य के अनुसार पुब्रत्तावरत्त—इन दोनों पदों से 'मध्यरात्रि' का अर्थ फलित होता है। 'पूर्वरात्रि का अंतिम भाग' और 'पश्चिमरात्रि का पूर्वभाग'—यह अर्धरात्रि का समय है। पुब्रत्तावरत्त वाक्य के द्वारा इसी समय का संकेत दिया गया है।'

अनुयोगद्वारचूर्णि से चिन्तन का समय रात्रि का दूसरा प्रहर फलित होता है।' इससे मध्यरात्रि के अर्थ की पुष्टि होती है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'सूर्यास्त से दो घड़ी पश्चात् से लेकर अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व तक' पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का समय है। 'अर्धरात्रि के दो घड़ी पश्चात् से सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व तक' वैरात्रिक स्वाध्याय का समय है। इन दोनों के बीच 'अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व से अर्धरात्रि के दो घड़ी पश्चात् तक' चार घड़ी का समय निद्रा का है। इस समय का उपयोग धर्मजागरिका के लिए भी किया जाता था।'

'पूर्वरात्र अपरात्र'—इस वाक्य की दो अर्थ-परम्पराएं प्राप्त हैं—

१. रात्रि का प्रथम भाग और पश्चिम भाग।

२. मध्यरात्रि।

२. धर्मजागरिका

जागरिका का अर्थ है—चिन्तन, अनुस्मरण और नींद से जागना। धर्म का चिन्तन करना—इसके आधार पर धर्मजागरिका

१. आटे.—विरात्र—The end of night (बहुरात्र, अपरात्र)
२. वही,—पूर्वरात्र—The first part of the night from dark to midnight.
अपरात्र—The last watch of night (पाणिनी अष्टाध्यायी ५।४।२७)
३. भ.जो. १।३८।३३ का नीचे का वार्तिक—पुब्रत्तावरत्तकालसमयसि—इहां इण पाठ ऊपर टीकाकार ने विवेचन मननीय है—रात्रि नो पूर्वभाग ते पूर्वरात्र कहियै। बलि अपरात्र ते अपकृष्ट रात्रि, रात्रि नु पश्चिम भाग। पूर्वरात्रि अनै पश्चिम रात्रि ए विहुं लक्षण जो काल रूप समय तेहनै कहियै पुब्र-रत्तावरत्तकालसमय। एतलै मध्यरात्रि नै विषे—पूर्व रात्रि नुं छेहलुं भाग अनै पश्चिम रात्रि नुं पहिलुं भाग ए विहुं भाग रात्रि ना ते वेला अर्द्धरात्रि हुइं, ते अर्धरात्रि नै विषे।
अथवा पूर्वरात्रि अपरात्रि काल समय इहां रेफरा लोप थकी पुब्र-रत्तावरत्तकालसमयसि इम पाठ हुइं।
४. अनु.चू.पृ.११—कल्पमिति श्वः प्रगे वा तद्य कल्पमतिक्रान्तमनागतं वा, एतद्य कल्पग्रहणं पण्णवपं पडुद्ध जओ पण्णवगो वितिय जामे पण्णवेति।

का अर्थ होता है धर्मचिन्ता। धर्मध्यान का अनुस्मरण करना—इसके आधार पर धर्मजागरिका का अर्थ होता है धर्मध्यान का अभ्यास। नींद से जागना—इसके आधार पर धर्मजागरिका का अर्थ होता है—नींद को त्याग कर धर्म के विषय में अनुचिन्तन करना।

३. सुहस्ती

तीर्थंकर का एक विशेषण 'पुरुषवरगन्धहस्ती' मिलता है।' वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ 'शुभार्थी' किया है।' किन्तु 'सुहस्ती' अधिक प्रासंगिक लगता है।

४. उषाकाल में पौ फटने पर

इस वाक्य में रात्रि के उषाकाल की सूचना दी गई है।' अनु-योगद्वारचूर्णि में इस समय को अरुणोदय से लेकर सूर्योदय के पहले तक का बतलाया गया है।'

५. प्रफुल्लित उत्पल और अर्धविकसित कमल वाले

इस वाक्य में आए हुए 'कमल' शब्द का अर्थ वृत्ति में 'हरिण' किया गया है और कोमल का अर्थ 'अकठोर'।' यहां कमल का हरिण अर्थ स्वाभाविक नहीं है। इसका सहज अर्थ 'जलज' ही होना चाहिए। कमल सूर्यविकासी होता है; इसलिए वह प्रसंगानुसारी भी है। अनुयोगद्वारचूर्णि में उत्पल और कमल दोनों एक साथ उल्लिखित हैं और 'कोमल' शब्द अपूर्ण के अर्थ में व्याख्यात है।' सूत्रकार ने भी कोमल का प्रयोग उन्मीलित के विशेषण के रूप में किया है। 'कोमल उन्मीलित' अर्थात् अर्धविकसित।

६. पीत आभावाले

पाण्डुर शब्द के अनेक अर्थ हैं। सफेद-सा, सफेद-पीला। अनुयोगद्वारचूर्णि में इसका अर्थ 'प्रभाखचित जैसा' किया गया है।'

७. पांच महाव्रतों की आरोपणा करूं

इस वाक्य में विहरित्तए तक के पाठ से अनशन की विधि फलित होती है। उसके चार अंग हैं—

१. महाव्रत की आरोपणा—आरोपणा का अर्थ है प्राय-श्चित्त—महाव्रतों का पुनरुच्चारण और उनमें जाने-अनजाने हुई भूलों का प्रायश्चित्त।

५. अणगारधर्ममृत, ६।११-१३।
६. आवस्सयं, ६।११।
७. भ.वृ.२।६६—'सुहस्ति'ति शुभार्थी भव्यान् प्रति सुहस्ती वा पुरुष-वरगन्धहस्ती।
८. वही, २।६६—प्रादुः—प्राकाशये ततः प्रकाशप्रभातायां रज्यां।
९. अनु.चू.पृ.११—पादुरिति प्रकासीकृतं, केन ? प्रभया, किं प्रकासितं ? रय-णीए सेसं, किमुक्तं भवति ? अरुणोदयादारभ्य यावन्नोदयति आदित्य इत्यर्थः तंसि पभाते, पभातोवलक्षणं च इमं।
१०. भ.वृ.२।६६—फुल्लं—विकसितं तद्य तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं तद्य कमल-श्च—हरिणविशेषः फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलम्—अकठोरमुन्मीलितं—दलानां नयनयोश्चोन्मीलनं यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्।
११. अनु.चू.पृ.११—फुल्ला उत्पला कमला य कोमला उन्मील्लिया—अद्धवि-कसिता य सोयना।
१२. वही, पृ.११—प्रभाखचितेव उदिते सुरे भवति।

२.खामणा—जिन साधु-साध्वियों के साथ जीवन बिताया, उनके प्रति कोई कटु व्यवहार हुआ हो अथवा मन में उच्चावच भाव आया हो, उसके लिए क्षमायाचना करना ।

३.अनशन की विधि सम्पन्न कराने वाले स्थविरों के साथ अनशन-भूमि पर पहुंच जाना ।

४. अनशन-भूमि के उपयुक्त स्थल पर बिछौना कर अनशन को स्वीकार करना ।

६८ वें सूत्र में यह भी प्राप्त है कि अनशन करते समय मुनि का मुंह पूर्व दिशा की ओर तथा अञ्जलि मस्तक का स्पर्श करती हुई होनी चाहिए ।

विशेष जानकारी के लिए आचार्यो, ८।१०५ से आगे पूरा अध्ययन द्रष्टव्य है ।

८. कृतयोग्य

जो स्थविर अनशन की विधि सम्पन्न कराने में कुशल होते, वे 'कृतयोग्य' कहलाते थे। योग्या का अर्थ है अभ्यास। चरक में 'कृतयोग्य' वैध का एक विशेषण है।

६७. खंदयाइ ! समणे भगवं महावीरे खंदयं अणगारं एवं बयासी—से नूनं तव खंदया! पुब्बरत्तावरत्तकालसमयसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अञ्जलिये चित्तिये पत्तिये मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्वा— एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं तवेणं ओरालेणं विउलेणं तं चेव जाव कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संयेहेसि, संयेहेत्ता कल्लं पाउप्यभायाए रयणीए जाव उट्टियम्मि सूरै सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते जेणेव ममं अंतिये तेणेव ह्वमागए । से नूनं खंदया ! अट्टे समट्ठे ?

हंता अत्थि ।

अहामुहं देवानुप्पिया ! मा पडिबंधं ॥

स्कन्दक ! अयि ! श्रमणः भगवान् महावीरः स्कन्दकम् अनगारम् एवमवादीत्—तत् नूनं तव स्कन्दक ! पूर्वरात्रापरान्त्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतः अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—एवं खलु अहम् अनेन एतद्रूपेण तपसा 'ओरालेणं' विपुलेन तच्चैव यावत् कालम् अनवकांक्षमाणस्य विहर्तुम् इति कृत्वा एवं संप्रेक्षसे, संप्रेक्ष्य कल्पे प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूरै सहस्ररश्मी दिनकरे तेजसा ज्वलति यत्रैव ममान्तिकः तत्रैव 'ह्रस्वं' आगतः । सः नूनं स्कन्दक ! अर्थः समर्थः ?

हन्त अस्ति ।

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

६७. स्कन्दक ! इस सम्बोधन से संबोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने स्कन्दक अनगार से इस प्रकार कहा—स्कन्दक ! मध्यरात्रि में धर्म-जागरिका करते हुए तुम्हारे मन में यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—मैं इस विशिष्ट रूपवाले प्रधान, विपुल तप से कृश हो गया हूँ यावत् मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ रहूँ—ऐसी संप्रेक्षा करते हो, संप्रेक्षा कर दूसरे दिन उषाकाल में पी फटने पर यावत् सहस्ररश्मि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर तुम जहां मैं हूँ, वहां मेरे पास आए हो। स्कन्दक ! क्या यह अर्थ संगत है ?

हां, यह संगत है ।

देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबंध मत करो ।

६८. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्टुत्तुच्चिसमाणंदिए णंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए उडाए उट्टेइ, उट्टेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, आरुहेत्ता समणा य समणीओ य खामेइ, खामेत्ता तहारूवेहिं थे-

ततः सः स्कन्दकः अनगारः श्रमणेन भगवता महावीरेण अभ्यनुज्ञातः सन् हृष्टतुष्टचित्तः आनन्दितः नन्दितः प्रीतिमनाः परमसौमनस्यितः हर्षवशदिसर्पद्दहृदयः उत्थया उत्तिष्ठति, उत्थाय श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा स्वयमेव पंचमहाव्रतानि आरोहति, आरुह्य श्रमणान् च श्रमणीः च क्षमयति, क्षमयित्वा तथारूपैः स्थ-

६८. ^१ वह स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की अनुज्ञा प्राप्तकर हृष्ट-तुष्ट चित्त वाला, आनन्दित, नन्दित, प्रीतिपूर्ण मनवाला, परम सौमनस्ययुक्त और हर्ष से विकस्वर हृदय वाला हो गया। वह उठने की मुद्रा में उठता है, उठकर श्रमण भगवान् महावीर को दायीं ओर से प्रारंभ कर तीन बार प्रदक्षिणा करता है, वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह स्वयं ही पांच महाव्रतों की आरोहणा करता है, आरोहणा कर

१. चरक, चिकित्सास्थान, ८—योग्या—कर्माभ्यासः ।

२. भ.वृ.२।६६—'कडाईहिं'ति इह पदैकदेशात्पदसमुदायो दृश्यस्ततः कृत-योग्यादिभिरिति स्यात्, तत्र कृता योग्याः—प्रत्युपेक्षणादिव्यापारा येषां सन्ति ते कृतयोगिनः ।

३. नि.भा.यू.उ.१०, गा.२६६६-३००१, भा.३, पृ. ६६—'श्रुतार्थप्रत्युच्चारणा-

समर्थः कृतयोगी' ।

४. व्य.भा.उ.५, वृ.प.६—कृतयोगी नाम यः पूर्वमुभयधर आसीत्, नेदानीम् ।

५. वही, उ.५, वृ.प.१६—यः कृतयोगी सूत्रतोऽर्थतश्चच्छेदग्रन्थधरः स्थविरः ।

६. भ.वृ.२।६६—संतिज्यते—कृशीक्रियतेऽनयेति संलेखना—तपस्तस्या जोषणा—सेवा तथा जुष्टः—सेवितो जूषितो वा क्षपितो यः स तथा तस्य ।

रेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं
सणियं-सणियं दुहइ, दुहिता मेहघण-
सन्निगासं देवसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं
पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता उच्चारपासवणभूमिं
पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता दहमसंथासगं संघरइ,
संघरित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियं कनिसण्णे
करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए
अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव
सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।
नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स
जाव सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपाविउ-
कामस्स ।
वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ
मे भगवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ
नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—
पुर्विं पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्च- क्खाए
जावजीवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले
पच्चक्खाए जावजीवाए । इयाणिं पि य णं
समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं
पाणाइवायं पच्चक्खामि जावजीवाए जाव
मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि जावजीवाए ।
सव्वं असण-पाण-खाइम-साइमं—चउ-
व्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए ।
जं पि य इमं सरीरं इहं कंतं पियं जाव मा
णं वाइय-पित्तिय-संभिय-सन्निवाइय विविहा
रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु ति कट्टु
एवं पि णं चरिमेहिं उस्सास-नीसासेहिं
बोसिरामि ति कट्टु संलेहणाइसणाइसिए
भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं
अणवकंखमाणे विहरइ ॥

विरैः कृतयोग्यैः सार्द्धं विपुलं पर्वतं शनैः-शनैः
आरोहति, आरोह्य मेघधनसन्निकाशं
देवसन्निपातं पृथिवीशिलापट्टकं प्रतिलिखति,
प्रतिलिख्य उच्चारप्रखवण भूमिं प्रतिलिखति,
प्रतिलिख्य दर्भसंस्तारकं संस्तृणाति, संस्तृत्य
पौरस्त्याभिमुखः सम्पर्यङ्गनिषण्णः करतल-
परिगृहीतं दशनखं शिरसावत्तं मस्तके
अञ्जलिं कृत्वा एवमवादीत्—

नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यः यावत् सिद्धि-
गतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः ।
नमोऽस्तु श्रमणाय भगवते महावीराय यावत्
सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामाय ।

वन्दे भगवन्तं तत्रगतं इहगतः, पश्यतु मे
भगवान् तत्रगतः इहगतं इति कृत्वा वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—
पूर्वमपि मया श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य
अन्तिके सर्वः प्राणातिपातः प्रत्याख्यातः
यावज्जीवं यावन् मिथ्यादर्शनशल्यः प्रत्या-
ख्यातः यावज्जीवम् । इदानीमपि च श्रमणस्य
भगवतः महावीरस्य अन्तिके सर्वं प्राणातिपातं
प्रत्याख्यामि यावज्जीवं यावन् मिथ्यादर्शनशल्यं
प्रत्याख्यामि यावज्जीवम् । सर्वम् अशन-पान-
खाद्य-स्वाद्यं चतुर्विधमपि आहारं प्रत्याख्यामि
यावज्जीवम् । यदपि च इदं शरीरम् इष्टं कान्तं
प्रियं यावन् मा वातिक-पैतिक-श्लैष्मिक-
सन्निपातिकाः विविधाः रोगात्तद्भाः परीषहो-
पसर्गाः स्पृशन्तु इति कृत्वा एतदपि चरमैः
उच्छ्वास-निःस्वासैः व्युत्सृजामि इति कृत्वा
संलेखनाजोषणाजुष्टः प्रत्याख्यातभक्तपानः
प्रायोपगतः कालमनवकांक्षमाणः विहरति ।

श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना करता है,
क्षमायाचना कर तथारूप कृतयोग्य स्थविरों के
साथ धीमे-धीमे विपुल पर्वत पर चढ़ता है, चढ़कर
सघन मेघ के समान श्यामवर्ण वाले देवों के
समागम-स्थल पृथ्वी शिलापट्ट का प्रतिलेखन
करता है, प्रतिलेखन कर उच्चार-प्रखवण-भूमि का
प्रतिलेखन करता है, प्रतिलेखन कर डाभ का
बिछौना बिछाता है, बिछा कर पूर्व दिशा की ओर
मुंह कर पर्यक-आसन में बैठ दोनों हथेलियों से
निष्पन्न सम्पुट वाली दसनखालक अंजलि को^२
सिर के सम्मुख घुमाकर, मस्तक पर टिकाकर
इस प्रकार बोलता है—

नमस्कार हो अर्हत् भगवान् को यावत् जो
सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं ।
नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर को यावत्
जो सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करने के
इच्छुक हैं ।

'यहां बैठा हुआ मैं वहां विराजित भगवान् को
वन्दन करता हूँ। वहां विराजित भगवान् यहां
स्थित मुझे देखें' ऐसा सोचकर वह वन्दन-नमस्कार
करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस प्रकार
बोलता है—मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर
के पास जीवनभर के लिए सर्व प्राणातिपात यावत्
मिथ्यादर्शनशल्य^३ का प्रत्याख्यान किया था । इस
समय भी मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास जीवन
भर के लिए सर्व प्राणातिपात यावत् मिथ्या-
दर्शनशल्य का प्रत्याख्यान करता हूँ । मैं जीवन
भर के लिए सर्व अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य
—इस चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान
करता हूँ । यद्यपि मेरा यह शरीर मुझे इष्ट, कान्त,
प्रिय यावत् वात, पित्त, श्लेष्म और सन्निपात-
जनित विविध प्रकार के रोग और आतंक तथा
परीषह और उपसर्ग इसका स्पर्श न करें, इसलिए
इसको भी मैं अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास तक
छोड़ता हूँ । ऐसा कर वह संलेखना की आराधना
में लीन होकर भक्तपान का प्रत्याख्यान कर
प्रायोपगमन अनशन की अवस्था में मृत्यु की
आकांक्षा नहीं करता हुआ रह रहा है ।

भाष्य

१. सूत्र ६८

प्रस्तुत सूत्र में एक स्थान पर पांच महाव्रत की आरोपणा का
उल्लेख है और दूसरे स्थान पर 'मैंने श्रमण भगवान् महावीर के पास
प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य का प्रत्याख्यान किया था'—
इसका उल्लेख है । इन दोनों पाठों से एक प्रश्न उपस्थित होता है
कि स्कन्दक ने प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के प्रत्याख्यानपूर्वक

दीक्षा का व्रत स्वीकार किया था और अनशन के समय पांच महाव्रतों
की आरोपणा की, इसका तात्पर्य क्या है ?

भगवान् पार्श्व के शासन में केवल सामायिक चारित्र था और
भगवान् महावीर के शासन में सामायिक चारित्र तथा छेदोपस्थापनीय
चारित्र दोनों थे । दीक्षा सामायिक चारित्र के संकल्प के साथ की

जाती और एक सप्ताह, चार मास अथवा छह मास के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकृत किया जाता था। सामायिक चारित्र में केवल सर्व सावधयोग का प्रत्याख्यान होता था। भगवान् महावीर ने दीक्षा के समय "सर्वं मे अकरणिजं पावकम्"—इस संकल्प के साथ सामायिक चारित्र स्वीकार किया था।^१ छेदोपस्थापनीय चारित्र में सावधयोग का प्रत्याख्यान विस्तार के साथ किया जाता था। विस्तार की दो परम्पराएं प्रस्तुत सूत्र में विद्यमान हैं—

१. पांच महाव्रतों का स्वीकार।

२. अठारह प्रकार की सावध प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान।

प्रस्तुत सूत्र में दोनों का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में पहले कौन-सी परम्परा प्रचलित हुई—यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। संभावना की जा सकती है कि पहले अठारह प्रकार की सावध प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान की परम्परा रही हो और उसके पश्चात् उसका संक्षिप्त रूप पांच महाव्रतों के रूप में हुआ हो। सूत्र-संकलन के काल में दोनों परम्पराओं का एक साथ उल्लेख हुआ है—यह संभावना की जा सकती है।

शब्द-विमर्श

आरुहेइ—आरोहणा करना। 'आरोहणा' और 'आरोपणा'

६६. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जिता, बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्यपरियाणं पाउणित्ता भासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुञ्जीए कालगए ॥

ततः सः स्कन्दकः अनगारः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य तथारूपाणां स्थविराणाम् अन्तिके सामायिकादीनि एकादश अङ्गानि अधीय बहुप्रतिपूर्णाणि द्वादशवर्षाणि श्रमण्यपर्यायं प्राप्य भासिक्या संलेखनया आत्मानं जोषित्वा षष्टि भक्तानि अनशनेन छित्त्वा आलोचित-प्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः आनुपूर्व्या कालगतः ॥

६६. वह स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों के पास सामायिक आदि म्यारह अंगों का अध्ययन कर प्रायः परिपूर्ण बारह वर्ष के श्रमण्य-पर्याय का पालन कर एक मास की संलेखना से अपने आप (शरीर) को कृश बना, अनशन के द्वारा साठ भक्त (भोजन के समय) का छेदन कर आलोचना और प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्ण दशा में क्रमशः दिवंगत हो गया।

भाष्य

१. साठ भक्त

एक दिन में भोजन के दो भक्त होते हैं। तीस दिन के अनशन में साठ भक्त त्यक्त हो जाते हैं।^६

२. आलोचना और प्रतिक्रमण कर

आलोचना का अर्थ है—अपनी भूलों का प्रकट उच्चारण या निवेदन। प्रतिक्रमण का अर्थ है—अकरणीय को पुनः न करने का संकल्प अथवा अतीत की भूलों के लिए मिथ्या दुष्कृत का प्रयोग।^{१०}

१. आ.चूला, १५।३२—“सर्वं मे अकरणिजं पावकम्” ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडियज्जइ।

२. भ.वृ.२।६६—घनमेघसदृशं—सान्द्रजलदसमानं कालकमित्यर्थः।

३. वही, २।६६—“देवसंनिवायं” ति देवानां संनिपातः—समागमो रमणीयत्वाद् यत्र स तथा तं।

४. वही, २।६६—पृथ्वीशिलारूपः पट्टकः—आसनविशेषः पृथिवीशिलापट्टकः काष्ठशिलाऽपि शिला स्यादतस्तद्व्यवच्छेदाय पृथिवीग्रहणं।

५. वही, २।६८—“संपलियं कनिस्सण्णे” ति पद्मासनोपविष्टः।

६. योगशास्त्र, ४।१२५, १२६—

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरिकृते सति।

पर्यङ्गे नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥

जंघाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जंघया।

पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥

७. भ.वृ.२।६८—“सिरसावत्तं” ति शिरसाऽप्राप्तम्—अस्पृष्टम्, अथवा शिरसि आवर्तं आवृत्तिरावर्तनं—परिभ्रमणं यस्यासीं समम्यलोपाच्छिरस्यावर्तस्तम्।

८. राज.वृ.पृ.५६—द्वयोर्हस्तयोरन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः सम्पुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिः ताम्। करतलाभ्यां परिगृहीता—निष्पादिता करतलपरिगृहीता ताम्। दश नखा यस्यां एकैकस्मिन् हस्ते नखपञ्चकसंभवात् दशनखा ताम् तथा। आवर्तनभावर्तः शिरस्यावर्तो यस्याः सा शिरस्यावर्ता—“कण्ठकालः”, “उरसिलोभा” इत्यादिवत् अनुवसभासः—ताम्।

९. भ.वृ.२।६६—“सट्ठिं भत्ताइं” ति प्रतिदिनं भोजनद्वयस्य त्यागास्त्रिंशता दिनैः षष्टिभक्तानि त्यक्तानि भवन्ति।

१०. वही, २।६६—आलोचितं—गुरूणां निवेदितं यदतिवारजातं तत्, प्रतिक्रान्तम्—अकरणविषयीकृतं येनासावालोचितप्रतिक्रान्तः अथवाऽऽलोचितश्चासावालोचनादानात् प्रतिक्रान्तश्च मिथ्यादुष्कृतदानादालोचितप्रतिक्रान्तः।

७०. तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउसम्मं करेत्ति, करेत्ता पत्त-चीवराणि गेण्हंति, गेण्हित्ता विपुलाओ पव्वयाओ सणियं-सणियं पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगइभइए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे मिउमइवसंपन्ने अल्लीणे विणीए। से णं देवाणुप्पिएहिं अद्धणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरुहत्ता, समाणा य समणीओ य खामेत्ता, अन्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं-सणियं द्रुहित्ता जाव मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सद्धिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुब्बीए कालगए। इमे य से आचारमंडए ॥

ततः ते स्थविराः भगवन्तः स्कन्दकम् अनगारं कालगतं ज्ञात्वा परिनिर्वाणप्रत्ययं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, कृत्वा पात्र-चीवराणि गृह्णन्ति, गृहीत्वा विपुलात् पर्वतात् शनैः-शनैः प्रत्यारोहन्ति, प्रत्यारुह्य यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादिषुः—एवं खलु देवानुप्रियाणां अन्तेवासी स्कन्दकः नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः प्रकृतिउपशान्तः प्रकृतिप्रतनु-क्रोधमानमायालोभः मृदुमार्दवसम्पन्नः आलीनः विनीतः। स देवानुप्रियैः अभ्यनुज्ञातः सन् स्वयमेव पंच महाव्रतानि आरुह्य, श्रमणाः च श्रमणीः च क्षमयित्वा, अस्माभिः सार्द्धं विपुलं पर्वतं शनैः-शनैः आरुह्य यावत् मासिक्यां संलेखनायान् आत्मानं जोषित्वा पश्चिं भक्तानि अनशनेन छित्त्वा आलोचित-प्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः आनुपूर्व्या कालगतः। इमानि च तस्य आचारभाण्डकानि।

७०. वे स्थविर भगवान् स्कन्दक अनगार को दिवंगत जानकर परिनिर्वाणहेतुक^१ कायोत्सर्ग करते हैं, कायोत्सर्ग कर उसके पात्र और चीवरों को लेते हैं, लेकर धीमे-धीमे विपुल पर्वत से नीचे उतरते हैं, नीचे उतर कर जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं वहां आते हैं, आकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर वे इस प्रकार कहते हैं—देवानुप्रिय का अन्तेवासी स्कन्दक नाम का अनगार, जो प्रकृति से भद्र और प्रकृति से उपशान्त था, जिसकी प्रकृति में क्रोध, मान, माया, लोभ प्रतनु (पतले) थे, जो मृदु-मार्दव से सम्पन्न, आत्मलीन और विनीत था, उसने देवानुप्रिय की आज्ञा पाकर स्वयं ही पांच महाव्रतों की आरोहणा की, श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना की, हमारे साथ धीरे-धीरे विपुल पर्वत पर चढ़ा यावत् एक मास की संलेखना से अपने आप को कृश बनाया, अनशन के द्वारा साठ भक्तों का छेदन किया, वह आलोचना और प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्ण दशा में क्रमशः दिवंगत हो गया। ये प्रस्तुत हैं उसके साधु-जीवन के उपकरण।^२

भाष्य

१. परिनिर्वाणहेतुक

परिनिर्वाण का अर्थ है— मरण। मुनि का परिनिर्वाण होने पर कायोत्सर्ग करने का विधान है।^१

परिनिर्वाण के समय अन्य मुनियों को हर्ष और शोक दोनों अवस्थाओं से अतीत रहकर उदासीन भाव में रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकरण में कायोत्सर्ग का उल्लेख है, किन्तु स्कन्दक मुनि के शव का व्युत्सर्ग किस विधि से किया गया—इसका कोई

उल्लेख नहीं है। कप्पो (बृहत्कल्प) में दिवंगत मुनि के शरीर-व्युत्सर्ग की विधि निर्दिष्ट है।^२ भाष्य में इसकी विस्तृत चर्चा मिलती है।^३ तुलना के लिए देखें, भगवती आराधना, गा. १६७६-२०००।

२. आचार-भाण्ड

साधवाचार का उपकरण।

७१. भंतेति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववण्णे ?

गोयमाइ ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगइभइए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमाया-

भदन्त ! अयि ! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—एवं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासी स्कन्दकः नाम अनगारः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गतः ? कुत्र उपपन्नः ?

गौतम ! अयि ! श्रमणः भगवान् महावीरः भगवन्तं गौतमम् एवमवादीत्—एवं खलु गौतम ! मम अन्तेवासी स्कन्दकः नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः प्रकृतिउपशान्तः प्रकृति-

७१. 'भन्ते !' इस सम्बोधन से संबोधित कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार कहते हैं—देवानुप्रिय का शिष्य स्कन्दक नाम का अनगार कालमास में काल (मृत्यु) को प्राप्त कर कहां गया है ? कहां उपपन्न हुआ है ? 'गौतम !' इस सम्बोधन से संबोधित कर श्रमण भगवान् महावीर भगवान् गौतम से इस प्रकार कहते हैं—'गौतम ! मेरा अन्तेवासी स्कन्दक अनगार, जो प्रकृति से भद्र और प्रकृति से उपशान्त

१. भ.वृ. २।७०—'परिणिव्वाणवत्तियं'ति परिनिर्वाणं—मरणं, तत्र यच्चरिीरस्य परिष्ठापनं तदपि परिनिर्वाणमेव तदेव प्रत्ययो— हेतुर्यस्य स परिनिर्वाण-प्रत्ययोऽतस्तम्।

२. कप्पो, ४।२५।

३. वृ. क. भा. गा. ५४६७-५५६५।

लोभे मिउमद्वसंपण्णे अल्लीणे विणीए, से णं मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेत्ता जाव मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सडिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे ॥

प्रतनुक्रोधमानमायालोभः मृदुमार्दवसम्पन्नः आलीनः विनीतः, सः मया अभ्यनुज्ञातः सन् स्वयमेव पंच महाव्रतानि आरुह्य यावन् मासिक्यां संलेखनायाम् आत्मानं जोषित्वा षष्टिं भक्तानि अनशनेन छित्त्वा आलोचित-प्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा अच्युते कल्पे देवत्वेन उपपन्नः ।

था, जिसकी प्रकृति में क्रोध-मान-माया-लोभ प्रतनु थे, जो मृदु-मार्दव से सम्पन्न, आत्मलीन और विनीत था, उसने मेरी आज्ञा पाकर स्वयं ही पांच महाव्रतों की आरोहणा की यावत् एक महीने की संलेखना से अपने आप को कृश बनाया, अनशन के द्वारा साठ भक्तों का छेदन किया । यह आलोचना और प्रतिक्रमण कर, समाधिपूर्ण दशा में कालमास में काल को प्राप्त कर अच्युत कल्प में देवरूप में उपपन्न हुआ है ।

७२. तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥

तत्र अस्त्येककानां देवानां द्वाविंशतिं सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता । तत्र स्कन्दकस्यापि देवस्य द्वाविंशतिं सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

७२. वहां कुछ देवों की स्थिति बाईस सागरोपम की प्रज्ञप्त है । वहां स्कन्दक देव की स्थिति भी बाईस सागरोपम है ।

७३. से णं भन्ते ! खंदए देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ? गीयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सम्बुदुक्खाणं अंतं करोहिति ॥

सः भदन्त ! स्कन्दकः देवः तस्माद् देवलोकाद् आयुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं च्यवं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्र उपपत्स्यते ? गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति, 'बुज्झिहिति' मोक्ष्यति परिनिर्वास्यति सर्वदुःखानाम् अन्तं करिष्यति ।

७३. भन्ते ! वह स्कन्दक देव आयु-क्षय, भव-क्षय और स्थिति-क्षय^१ के अनन्तर उस देवलोक से च्यवन कर^२ कहां जाएगा ? कहां उपपन्न होगा ? गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा ।

भाष्य

१. आयु-क्षय, भव-क्षय और स्थिति-क्षय

ठाणं में आयुबन्ध के छह प्रकार बतलाए गए हैं—जाति, गति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाग।^१ आयुष्य के प्रदेश (परमाणु-स्कन्ध) क्षीण हो जाते हैं, उस अवस्था का नाम आयुक्षय है। ठाणं की भाषा में इसे 'प्रदेश-आयु का क्षय' कहा जा सकता है।

'भवक्षय' का अर्थ है किसी एक गति या जाति के अनुबन्ध की समाप्ति। 'भव' शब्द में गति और जाति दोनों का समावेश किया जा सकता है।

'स्थिति' का अर्थ है काल-मर्यादा। आयुष्य के बन्ध के साथ

इनका बन्ध होता है और आयुष्य के प्रदेशों की समाप्ति के साथ ये सब समाप्त हो जाते हैं।^१

२. च्यवन कर

वृत्तिकार ने च्यव शब्द का अर्थ शरीर किया है। उसका वैकल्पिक अर्थ च्यवन किया है।

चइत्ता का मूल अर्थ त्याग कर और वैकल्पिक अर्थ 'च्यवन कर' किया है।^२

१. ठाणं, ६।११६।

२. भ.वृ.२।७३—'आउक्खएणं'ति आयुष्कर्मदलिकनिर्जरणेन, 'भवक्खएणं' ति देवभवनिबन्धनभूतकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेन 'ठित्तिक्खएणं'ति आयुष्कर्मणः स्थितेर्वेदनेन ।

३. वही, २।७३—'चय'न्ति शरीरं 'चइत्त'ति त्यक्त्वा, अथवा 'चयं' ति च्यवं—च्यवनं 'चइत्त'ति च्युत्वा कृत्वा ।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

समुद्घाय-पदं

समुद्घात-पदम्

समुद्घात-पद

७४. कइ णं भंते ! समुद्घाया पण्णत्ता ?
गोयमा ! सत्त समुद्घाया पण्णत्ता, तं
जह—१. वेदणासमुद्घाए २. कसाय-
समुद्घाए ३. मारणांतियसमुद्घाए ४. वेउ-
वियसमुद्घाए ५. तेजससमुद्घाए ६. आ-
हारसमुद्घाए ७. केवलियसमुद्घाए ।
छाउमत्तियसमुद्घायवज्जं समुद्घायपदं नेय-
वं ।

कति भदन्त ! समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः ?
गीतम ! सप्त समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—
वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः, मारणा-
न्तिकसमुद्घातः, वैक्रियसमुद्घातः, तैजस-
समुद्घातः, आहारकसमुद्घातः, केवलिक-
समुद्घातः । छादमस्थिकसमुद्घातवर्ज्यं समु-
द्घातपदं नेतव्यम् ।

७४. 'भन्ते ! समुद्घात कितने प्रज्ञप्त हैं ?
गीतम ! समुद्घात सात प्रज्ञप्त हैं, जैसे—वेदना
समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्-
घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात,
आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात।
छादमस्थिक समुद्घात को छोड़कर पण्णत्ता का
समुद्घात-पद (३६) ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सूत्र ७४

जीव विशेष परिस्थिति में अपने प्रदेशों का शरीर से बाहर प्रक्षेपण करता है, उस क्रिया का नाम समुद्घात है।

वेदना समुद्घात—जीव जब वेदना के अनुभव में परिणत होकर उस (वेदना के अनुभव) के साथ एकीभाव स्थापित कर लेता है, उस समय वह भविष्य में अनुभव-योग्य वेदनीय कर्म-प्रदेशों की उदीरणा कर उन्हें उदय में ले आता है। उदित पुद्गलों का अनुभव कर उनका निर्जरण कर देता है। वेदना समुद्घात में परिणत जीव वेदनीय कर्म पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है।

कषाय समुद्घात—जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में परिणत होकर शरीर से बाहर आत्म-प्रदेशों को फैलाता है, शरीर के पोले भाग को भरता है, फिर उनका शरीर से बाहर प्रक्षेपण करता है। इस क्रिया में वह कषाय के पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है।

मारणान्तिक समुद्घात—जीव का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब वह मारणान्तिक समुद्घात करता है। सब जीव मारणान्तिक समुद्घात के द्वारा नहीं मरते। जिनका अन्तिम समय अत्यन्त कष्टमय होता है, वे ही जीव मारणान्तिक समुद्घात करते हैं। यह समुद्घात मरण के अन्त में होता है, इसलिए इसका नाम मारणान्तिक है। इस समुद्घात का प्रयोग करने वाला अपने आत्म-प्रदेशों को चौड़ाई में शरीर-प्रमाण तथा लम्बाई में जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण, उत्कर्षतः असंख्य-योजन-प्रमाण क्षेत्र तक एक ही दिशा में अगले जन्म में उत्पन्न होने के स्थान तक फैला देता है।

मारणान्तिक समुद्घात कोई जीव एक बार करता है। वह अपने उत्पत्ति-स्थान में जाकर वहीं उत्पन्न हो जाता है। कोई जीव उसका प्रयोग दो बार करता है। वह मारणान्तिक समुद्घात के द्वारा अपने अग्रिम जन्म के उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचकर लौट आता है। पूर्व स्थिति में आकर फिर मारणान्तिक समुद्घात का प्रयोग कर मरता है।'

मारणान्तिक समुद्घात करने वाला आयुष्य कर्म के पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है।

वैक्रिय समुद्घात—इस समुद्घात का प्रयोग विक्रिया—विविध प्रकार के रूपों का निर्माण करने के लिए किया जाता है। वैक्रिय समुद्घात का प्रयोग करने वाला वैक्रिय शरीर नाम कर्म के पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है। भट्ट अकलंक ने विक्रिया के दो प्रकारों का निर्देश किया है—एकत्व-विक्रिया और पृथक्त्व-विक्रिया।

एकत्व-विक्रिया—अपने शरीर का सिंह आदि के रूप में परिवर्तन करना। उदाहरण के रूप में स्थूलभद्र को प्रस्तुत किया जा सकता है। स्थूलभद्र की बहनें अपने मुनि-भाई का दर्शन करना चाहती थीं। उन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से पूछा—हमारे भाई कहा हैं ? भद्रबाहु ने कहा—गुफा में ध्यान कर रहा है। वे गुफा की ओर गईं, स्थूलभद्र ने अपनी बहनों के आने की बात जान ली, सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। बहनों ने गुफा में सिंह को देखा और वे मुड़कर वापस भद्रबाहु के पास आ गईं। भद्रबाहु के संकेता-

१. भ. ६।१२२।

नुसार दूसरी बार गई, तो गुफा में स्थूलभद्र बैठे थे।

पृथक्त्व-विक्रिया—अपने शरीर से भिन्न प्रासाद, मण्डप आदि का निर्माण करना।^१

विशेष विवरण के लिए देखें, भगवती, ३।४ का भाष्य।

तैजस समुद्घात—तेजोलब्धि-सम्पन्न पुरुष अपने आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर प्रक्षेपण करता है। वे चौड़ाई और मोटाई में शरीर-प्रमाण होते हैं तथा लम्बाई में संख्यात योजन प्रमाण दण्ड का निर्माण करते हैं। प्रयोक्ता पुरुष तैजस शरीर नाम कर्म के पुद्गलों का परिशाटन और तद्योग्य अन्य पुद्गलों का ग्रहण कर तेजोलेश्या का प्रयोग करता है। इसका उद्देश्य होता है—अनुग्रह और निग्रह करना। अनुग्रह के लिए शीतल तेजोलेश्या और निग्रह के लिए उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक विज्ञान परमाणु-शक्ति का उपयोग निर्माण और ध्वंस दोनों के लिए कर रहा है, जैसे ही तेजोलब्धि भी निर्माण और ध्वंस दोनों के लिए प्रयुक्त की जाती थी। तैजस समुद्घात का प्रयोग करने वाला तैजस शरीर नाम कर्म का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है।

आहारक समुद्घात—आहारक लब्धि से सम्पन्न मुनि आहारक शरीर का निर्माण करने के लिए अपने आत्म-प्रदेशों का बाहर प्रक्षेपण करता है। वे चौड़ाई और मोटाई में शरीर-प्रमाण होते हैं तथा लम्बाई में संख्यात योजन प्रमाण दण्ड का निर्माण करते हैं। प्रयोग करने वाला पूर्वबद्ध आहारक शरीर नाम कर्म के पुद्गलों का परिशाटन और तद्योग्य अन्य पुद्गलों का ग्रहण कर आहारक शरीर का निर्माण करता है। सिद्धसेन गणी के अनुसार उस शरीर का जघन्य प्रमाण एक रत्नि—बन्धी मुट्टी वाले हाथ जितना और उत्कृष्ट प्रमाण पूरे हाथ जितना।^२

आहारक शरीर के निर्माण का प्रयोजन

तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार इसका प्रयोजन है—सन्देह-निवारण। आहारक लब्धि-सम्पन्न चतुर्दश पूर्वधर मुनि किसी अत्यन्त गहन विषय में संदिग्ध हो जाता है, तब सन्देह-निवारण के लिए वह आहारक शरीर का निर्माण कर उसे केवली के पास संप्रेषित करता है। वह अपने सन्देह का समाधान पाकर फिर अपने मूल शरीर में आ तदवस्थ हो जाता है।^३

सिद्धसेन गणी ने चतुर्दशपूर्वी की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है—भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर। जिसे प्रत्येक अक्षर के श्रुतगम्य पर्यायों का भिन्न अथवा परिस्फुट ज्ञान होता है, वह 'भिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी' कहलाता है। वही श्रुतकेवली कहलाता है। उसके मन में श्रुतज्ञान-विषयक कोई संशय नहीं होता, इसलिए वह आहारक समुद्घात का प्रयोग नहीं करता। अभिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी को अक्षर-पर्यायों का परिस्फुट ज्ञान नहीं होता; इसलिए वह श्रुत-विषयक अर्थ का सन्देह उत्पन्न होने पर यदि आहारक लब्धि सम्पन्न हो, तो उसका प्रयोग कर लेता है।^४

भट्ट अकलंक ने आहारक समुद्घात के प्रयोग के तीन प्रयोजनों का निर्देश किया है:

१. आहारक लब्धि के सद्भाव का ज्ञान २. सूक्ष्म पदार्थ का निर्धारण ३. संयम-परिपालन।^५

धवला और **द्रव्यसंग्रह** की टीका में आहारक समुद्घात के विषय में कुछ विशेष तथ्य उपलब्ध हैं।

धवला के अनुसार—आहारक समुद्घात के प्रयोग से निर्मित आहारक शरीर एक हस्त प्रमाण, सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, हंस के समान धवला, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—इन सात धातुओं से रहित, विष, अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओं से मुक्त, वज्र, शिला, स्तम्भ, जल व पर्वतों में से गमन करने में दक्ष तथा मस्तक से उत्पन्न होता है।^६

द्रव्यसंग्रह की टीका के अनुसार—आहारक समुद्घात का प्रयोग करने वाला अपने मस्तिष्क से एक निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकालता है। वह पुतला जहां कहीं केवली होते हैं, वहां संशय का निवारण कर, प्रश्नकर्ता को समाधान दे, पुनः अपने शरीर में प्रवेश कर जाता है।^७

आहारक समुद्घात का प्रयोग करने वाला आहारक शरीर नाम कर्म पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है।

केवली समुद्घात—आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिकों से जब वेदनीय कर्म की स्थिति और दलिक तथा नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और दलिक अधिक होते हैं, तब उनको आपस में बराबर

१. त.रा.वा.२।४६, पृ.१५२—विविधकरणं विक्रिया। सा द्वेषा—एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया चेति। तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिंहव्याघ्र-हंसकुरादिभावेन विक्रिया। पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्ड-पादिविक्रिया।

२. त.सू. (भाष्यानुसारिणी टीका-सहित), २।४६, पृ.२०६—प्रमाणं चास्यावर-तो न्यूनः पाणिरुत्कर्षेण सम्पूर्ण इति।

३. वही, २।४६, पृ.२०६—कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्च-याधिगमार्थं क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाशक्य-गमनं मत्वा लब्धिप्रत्ययमेवोत्पादयति। पृष्ट्वाऽथ भगवन्तं छिन्नसंशयः पुन-रागत्य व्युत्सृज्यन्तर्मुहूर्तस्य।

४. वही, २।४६, पृ.२०६—स च द्विविधः—भिन्नाक्षरोऽभिन्नाक्षरश्च, ते च यस्यै-

कैकपक्षरं श्रुतज्ञानगम्यपर्यायैः सत् कारिकाभेदेन भिन्नं यित्तिभिरतामितं स भिन्नाक्षरः, तस्य च श्रुतज्ञानसंशयापगमात् प्रश्नाभावस्ततश्चाहारकलब्धि-तामपि नैवोपजीवति विनालम्बनेन, स एव श्रुतकेवली भण्यते, शेषः करो-त्यकृत्स्नश्रुतज्ञानलासादवीतरागत्वाच्च, अत एव केचिद् परितुष्यन्तः सूत्र-माचार्यकृतन्यासादधिकमधीयते। "अकृत्स्नश्रुतस्वर्द्धिमतः" इत्यनेन विशेषण-कलापेनेति, एवंविधश्चतुर्दशपूर्वधर एव सज्जातलब्धिस्तत्रिवर्तयति।

५. त.रा.वा.२।४६, पृ.१५३—कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थं कदाचित् सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च।

६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा.१, पृ.२६६।

७. वही, भा.१, पृ.२६६।

करने के लिए केवली समुद्धात होता है। जब आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तभी समुद्धात होता है। समुद्धात में आठ समय लगते हैं। पहले समय में आत्म-प्रदेश शरीर के बाहर निकल कर दण्डाकार फैल जाते हैं। वह दण्ड ऊंचाई-निचाई में लोक-प्रमाण होता है। पर उसकी मोटाई शरीर के बराबर ही होती है। दूसरे समय में उक्त दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण में फैलकर कपाटाकार (किंवाड़ के आकार का) बन जाता है। तीसरे समय में कपाटाकार आत्म-प्रदेश पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में फैलकर मन्थनाकार (मन्थनी के आकार के) बन जाते हैं। चौथे समय में खाली भागों में फैलकर आत्म-प्रदेश समूचे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार

प्रथम चार समयों में आत्म-प्रदेश क्रमशः फैलते हैं, वैसे ही अन्त के चार समयों में क्रमशः सिकुड़ते हैं। पांचवे समय में फिर मन्थनाकार, छठे समय में कपाटाकार, सातवें समय में दण्डाकार और आठवें समय में पहले की भांति शरीरस्थ हो जाते हैं।

इन आठ समयों में पहले और आठवें समय में औदारिक योग, दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र योग तथा तीसरे, चौथे और पांचवे समय में कार्मण योग होता है।^१ समुद्धात-विषयक विशेष अवबोध के लिए पण्णवणा का छत्तीसवां पद (समुद्धात-पद) द्रष्टव्य है।

१. पण्ण. ३६।८२-८५; प्रज्ञा. वृ. प. ६०२—तस्य केवलिनः सर्व-बहुप्रदेशं वेदनीय-मुपलक्षणमेतद् नामगोत्रे च तथा सर्वशतोक्तप्रदेशमायुःकर्म तदा स.....ततश्च तैर्वन्धनैः स्थितिभिश्च विषमं सत् वेदनीयादिकं समुद्धातविधिना सममायुषा

सह करोति, स एवं खलु केवली बन्धनैः, स्थितिभिश्च विषमस्य सतो वेदनीयादिकस्य कर्मणः 'समीकरणयाए'. समवरुन्ति—समुद्धाताय प्रयतते, एवं खलु समुद्धातं गच्छति।



तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
पुढवि-पदं	पृथिवी-पदम्	पृथ्वी-पद
७५. कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१. रयणप्पभा २. सक्करप्पभा ३. बालुयप्पभा ४. पंक्कप्पभा ५. धूमप्पभा ६. तमप्पभा ७. तमत्तमा । जीवाभिगमे नेरइयाणं जो वित्तिओ उद्देसो सो नेयब्बो जाव—	कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञाताः ? गौतम ! सत्त पृथिव्यः प्रज्ञाताः, तद् यथा— रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमाः । जीवाभिगमे नैरयिकाणां यः द्वितीयः उद्देशः स नेतव्यः यावत्—	७५. भन्ते ! पृथ्वियां कितनी प्रज्ञात हैं ? गौतम ! पृथ्वियां सात प्रज्ञात हैं, जैसे—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमा । जीवाभिगम में नैरयिकों का जो दूसरा उद्देशक है, वह ज्ञातव्य है यावत्—
७६. किं सब्बे पाणा उववण्णपुब्बा ? हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ॥	किं सर्वे प्राणाः उपपन्नपूर्वाः ? हन्त गौतम ! असकृत् अथवा अनन्तकृत्वः ।	७६. क्या सब प्राणी (यहां) पहले भी उपपन्न हुए हैं ? हां, गौतम ! अनेक बार अथवा अनन्त बार । ^१

भाष्य

१. अनेक बार अथवा अनन्त बार

जीव तत्त्व के लिए जैन दर्शन की यह विशिष्ट धारणा रही है कि समस्त जीव दो प्रकार के हैं—पहले स्थूल शरीर धारण किए हुए हैं, दूसरे सूक्ष्म शरीर वाले हैं। सूक्ष्म शरीर की धारणा पूर्णरूप से वैज्ञानिक और लोक के सन्तुलन की व्यवस्था में उपयोगी है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन पांच स्थावर कार्यों के जीव सूक्ष्म और बादर इन दो भागों में विभक्त होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में वनस्पति-काय के सूक्ष्म जीव विवक्षित हैं। वनस्पति के मूल प्रकार दो हैं—प्रत्येक शरीरी और साधारण शरीरी। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उसे साधारण शरीरी कहा जाता है। एक शरीर में अनन्त जीव के साथ रहने की प्रवृत्ति को परिभाषित करते हुए उस शरीर को निगोद कहा जाता है तथा उन जीवों को निगोदजीव कहा है।^१ इनको एक ही शरीर के होने की प्रामाणिकता

इन तथ्यों से सिद्ध की है कि वे एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं, एक साथ ही श्वास-उच्छ्वास व आहार लेते हैं।^१ ऐसा व्यवहार अन्य किसी भी जीव का नहीं है। यह अभिन्नता औदारिक शरीर की अपेक्षा से बतलाई गई है। आत्म-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से इनके तैजस और कर्मण शरीर व्यक्तिगत होते हैं।

ये जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि ये वनस्पति के जीव स्थूल वनस्पति से नितान्त भिन्न हैं। ये सूक्ष्म निगोद के जीव जैन विज्ञान की दृष्टि से जब अव्यवहार राशि से उद्धरण या उद्धर्तन करते हैं, तो वे स्थूल वनस्पति में विकास करते हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह परिवर्तन ऐसी स्थिति में होता है जब लोक में किसी प्रकार के संतुलन में परिवर्तन होता है। जब कोई जीव मोक्ष प्राप्त करता है, तो संसार

१. जीवा.५।३७—कतिविधा णं भंते ! णिओदा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—णिओदा य णिओदजीवा य ।

२. पण्ण.१।४८, गा.५३-५७—

समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती ।
समयं आणुगगहणं, समयं ऊत्तास-नीसासे ॥
एक्कस्स उ जं महणं, बहूण साहारणाण तं चेव ।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तं पि एगस्स ॥

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥

जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्तवणिज्जसंकासो ।

सव्वो अगणिपरिणतो, निगोयजीवे तहा जाण ॥

एगस्स दोह तिण्ह व, संखेज्जाण व न पासिउं सक्का ।

दीसंति सरीराइं, णिगोयजीवाणऽणंताणं ॥

के जीवों के संतुलन-हेतु अव्यवहार राशि के जीव उद्वमण करते हैं और इस संतुलन को बनाने में यह एक प्रक्रिया है जिसे इस प्रकार दरसाया जा सकता है—निगोद जीव—संसारी जीव—मोक्ष के जीव

जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आ जाते हैं।^१

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव कहीं बाहर से नहीं आते, न अन्तरिक्ष से आते और न घटते या बढ़ते हैं। वे एक जाति से दूसरी जाति में, एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में बदलते रहते हैं।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि जीवों की संख्या अनन्त है, वे अनादि हैं। जो नया उद्गम दिखाई देता है, वास्तव में वह नया उद्गम नहीं है, अपितु जीव एक जाति से दूसरी जाति में अपने शरीर के आवरण में बदलता है।

निगोद के जीव एक Reserve Fund (स्थाई कोश या अक्षय कोश) की तरह हैं। ये ही लोक में जैविक सन्तुलन बनाये रखते हैं। ये सूक्ष्म निगोद से बादर निगोद अथवा प्रत्येक शरीर में आ जाते हैं। इस उद्वर्तन के और भी कारण उपलब्ध हैं। इस उद्वर्तन के सहयोगी कारण ये हैं:—

१. चेतना के परिणामों की भिन्नता।
२. लेश्याओं का परिवर्तन होना।
३. काल-लब्धि।

पारिभाषिक शब्दावली में अनादिनिगोद, नित्यनिगोद या अनादि

वनस्पति को अव्यवहार राशि कहा जाता है।^२ निगोद के दो प्रकार होते हैं—सूक्ष्म निगोद और बादर निगोद।^३

जो जीव एक बार अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आ जाता है, उसकी राशि में परिवर्तन नहीं होता वह सूक्ष्म निगोद में जाने पर भी व्यवहार राशि में ही रहता है। व्यवहार का अर्थ है—भेद। अव्यवहार राशि के जीवों में इन्द्रियकृत कोई भेद नहीं है। यह आत्मा का प्राकृतिक रूप है, इसीलिए आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध कब हुआ—जैन दर्शन के सामने यह प्रश्न ही नहीं है। इस अव्यवहार राशि में से निकलकर जीव व्यवहार राशि में आते हैं। वहाँ उनके एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये—भेद बनते हैं। जो जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आकर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, वह प्रत्येक योनि में अनन्त बार पैदा हो चुका है। जो जीव अव्यवहार राशि से निकलकर शीघ्र मुक्त हो जाता है, उसके लिए असकृत् (अनेक बार) का नियम है। वह एकाधिक बार जन्म लेकर मुक्त हो जाता है। अनन्त बार और अनेक बार के उल्लेख होने के विशेष कारण हैं। ऐसे जीव भी हैं जो अव्यवहार राशि से निकल कर केवल एकाधिक भव करते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, जैसे मरुदेवी माता के संबंध में उल्लेख है कि उन्होंने सूक्ष्म निगोद से निकल कर दूसरे जन्म में ही मोक्ष पा लिया।

अनन्त बार और अनेक बार इन दोनों नियमों के उदाहरण बारहवें शतक में विस्तार से वर्णित हैं।^४

१. अभिधान राजेन्द्रकोष, भा. ६, पृ. ६३५—

सिज्जन्ति जतिया किर, इह संवहारजीवरासीयो।

जंति अणाइवणस्सइ-रासीओ तत्तिमा तम्मिस्ति ॥

निगोदाश्च द्विधासूक्ष्मा बादराश्च, यावन्तः सिध्यन्ति तावन्तः सूक्ष्म-निगोदेभ्यो व्यवहारराशौ समायान्ति।

२. गोम्पटसार, जीवकाण्ड, भा. १६६

३. जीवा. ५।५३—णिओदजीवा णं भंते कतिविहा पण्णत्ता ? गेयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमणिओदजीवा, बादरणिओदजीवा य;

जीवा. वृ. प. ४२३—भगवानाह—गौतम ! द्विविधा निगोदाः प्रज्ञास्तास्तद् यथा—निगोदाश्च निगोदजीवाश्च। उभयेषामपि निगोदशब्दवाच्यतया प्रसिद्धत्वात् तत्र निगोदा जीवाश्चयविशेषाः, निगोदजीवा भिन्नतैजसकार्मणा जीवा एव। अधुना निगोदभेदान् पृच्छति 'निगोद्याणं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञास्तास्तद् यथा सूक्ष्मनिगोदाश्च बादर-निगोदाश्च, तत्र सूक्ष्मनिगोदाः सर्वलोकापन्ना बादरनिगोदाः मूलकदादयः।

४. भ. १२।१३३-१५२।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

इंदिय-पदं

इन्द्रिय-पदम्

इन्द्रिय-पद

७७. कइ णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. सोइंदिए २. चक्खिंदिए ३. घाणिंदिए
४. रसिंदिए ५. फासिंदिए । षढमिल्लो
इंदियउद्देशओ नेयवो जाव—

कति भदन्त ! इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि ?

गौतम ! पंच इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा
—श्रोत्रेन्द्रियं, चक्षुरिन्द्रियं, घ्राणेन्द्रियं, रसे-
न्द्रियं, स्पर्शेन्द्रियम् । प्रथमः इन्द्रिय-उद्देशकः
नेतव्यः यावत्—

७७. भन्ते ! इन्द्रियां कितनी प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! इन्द्रियां पांच प्रज्ञप्त हैं, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय,
चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय और स्पर्श-
न्द्रिय। प्रथम इन्द्रिय-उद्देशक (पण्णवणा के
इन्द्रिय-पद (१५) का प्रथम उद्देशक) ज्ञातव्य है,
यावत्—

७८. अल्लोणे णं भंते ! किणा फुडे ? कतिहिं
वा काएहिं फुडे ?

गोयमा ! नो धम्मत्थिकाएणं फुडे जाव नो
आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स
देसेणं फुडे आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं
फुडे, नो पुढविकाइएणं फुडे जाव नो अद्धा-
समएणं फुडे, एणे अजीवदब्बदेसे अगुरु-
लहुए अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते
सब्बागासे अणंतभागूणे ॥

अलोकः भदन्त ! केन स्पृष्टः कतिभिः वा
कार्यैः स्पृष्टः ?

गौतम ! नो धर्मास्तिकायेन स्पृष्टः यावन् नो
आकाशास्तिकायेन स्पृष्टः, आकाशास्ति-
कायस्य देशेन स्पृष्टः आकाशास्तिकायस्य
प्रदेशैः स्पृष्टः, नो पृथिवीकायेन स्पृष्टः यावन्
नो अद्धासमयेन स्पृष्टः, एकः अजीवद्रव्यदेशः
अगुरुलघुकः अनन्तैः अगुरुलघुकगुणैः
संयुक्तः सर्वाकाशः अनन्तभागोनः ।

७८. भन्ते ! अलोक किससे स्पृष्ट है ? अथवा कितने
कार्यों से स्पृष्ट हैं ?

गौतम ! वह न धर्मास्तिकाय से स्पृष्ट है यावत् न
आकाशास्तिकाय से स्पृष्ट है। वह आकाशास्ति-
काय के देश से स्पृष्ट है। वह आकाशास्तिकाय
के प्रदेशों से स्पृष्ट है। वह न पृथ्वीकाय से स्पृष्ट
है यावत् न अद्धा समय से स्पृष्ट है। वह एक,
अजीव द्रव्य का देश, अगुरुलघु, अनन्त अगुरु-
लघु गुणों से संयुक्त है और अनन्तवें भाग से न्यून
परिपूर्ण आकाश है।



पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

परिचारणा-वेद-पदं

परिचारणा-वेद-पदम्

परिचारणा-वेद-पद

७६. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासंति पण्णवति परूवेति—

१. एवं खलु नियंटे कालगए समाणे देवभूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ नो अण्णे देवे, नो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभि-जुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, नो अप्पणि-च्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव अप्पाणं विउब्बिय-विउब्बिय परियारेइ ।

२. एगे वि य णं जीवे एणेणं समएणं दो वेदे वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं च, पुरिसवेदं च ।

जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिसवेयं वेएइ ।

जं समयं पुरिसवेयं वेएइ तं समयं इत्थिवेयं वेएइ ।

इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेयणाए इत्थिवेयं वेएइ ।

एवं खलु एगे वि य णं जीवे एणेणं समएणं दो वेदे वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं च, पुरिसवेदं च ।

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति भाषन्ते प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्ति—

१. एवं खलु निर्ग्रन्थः कालगतः सन् देवभूतेन आत्मना स तत्र नो अन्यान् देवान्, नो अन्येषां देवानां देवीः अभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति, नो आत्मीयाः देवीः अभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति, आत्मनैव आत्मानं विकृत्य-विकृत्य परिचारयति ।

२. एकोऽपि च जीवः एकेन समयेन द्वौ वेदौ वेदयति, तद् यथा—स्त्रीवेदं च, पुरुषवेदं च ।

यस्मिन् समये स्त्रीवेदं वेदयति, तस्मिन् समये पुरुषवेदं वेदयति ।

यस्मिन् समये पुरुषवेदं वेदयति, तस्मिन् समये स्त्रीवेदं वेदयति ।

स्त्रीवेदस्य वेदनया पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषवेदस्य वेदनया स्त्रीवेदं वेदयति ।

एवं खलु एकोऽपि च जीवः एकेन समयेन द्वौ वेदौ वेदयति, तद् यथा—स्त्रीवेदं च, पुरुषवेदं च ।

७६. ^१ भन्ते ! अन्ययूथिक ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—

१. मृत्यु को प्राप्त हुआ निर्ग्रन्थ अपनी देवरूप आत्मा के द्वारा वहां पर अन्य देवों और अन्य देवों की देवियों का आश्लेष कर-कर परिचारणा नहीं करता, वह अपनी देवियों का आश्लेष कर-कर परिचारणा नहीं करता, किन्तु वह अपने ही बनाए हुए विभिन्न रूपों से परिचारणा करता है ।

२. एक जीव एक समय में दो वेदों का वेदन करता है, जैसे—स्त्रीवेद का और पुरुषवेद का ।

जिस समय वह स्त्रीवेद का वेदन करता है, उसी समय पुरुषवेद का वेदन करता है ।

जिस समय वह पुरुषवेद का वेदन करता है, उसी समय स्त्रीवेद का वेदन करता है ।

वह स्त्री वेद के वेदन से पुरुषवेद का वेदन करता है और पुरुषवेद के वेदन से स्त्रीवेद का वेदन करता है ।

इस प्रकार एक जीव भी एक समय में दो वेदों का वेदन करता है, जैसे—स्त्रीवेद का और पुरुषवेद का ।

भाष्य

१. सूत्र ७६

प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों के दो मत निरूपित हैं। पहला मत देवों के मैथुन-सेवन से संबन्धित है और दूसरा लिंग-वेदन से संबन्धित है। इनके विषय में भगवान् महावीर का अभिमत अगले सूत्रों में निर्दिष्ट है।

शब्द-विमर्श

आश्लेष कर-कर—चृत्तिकार ने 'अभियुज्य' शब्द के दो अर्थ किए हैं—चश में कर अथवा आश्लेष कर।

परिचारणा करता है—इसका अर्थ है—परिभोग करना। स्थानांग वृत्ति में इसका अर्थ 'देव-मैथुन-सेवा' भी किया है।^३

द्रष्टव्य, षणं ३।६ का टिप्पण और ५।५४ का टिप्पण।

विउब्बिय—इसका अर्थ है रूप का निर्माण कर।

वेद—यह एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'मैथुन की संवेदना उत्पन्न करने वाला मोहकर्म का परमाणु-स्कन्ध'। इसका दूसरा अर्थ है 'मैथुन की संवेदना'। इसका तीसरा अर्थ है 'मैथुन-क्रिया में उत्पन्न होने वाले लिंग'।^३

१. भ.वृ.२।७६—'अभियुज्य' वशीकृत्य आश्लेष्य वा ।

२. स्था.वृ.प.१००—परिचारणा देवमैथुनसेवेति । ...परिचारयति—परिभुङ्क्ते-

वेदबाधोपशमनायेति ।

३. प्रज्ञा.वृ.प.४६८, ४६९—'विद्यते' इति वेदः स्त्रिया वेदः स्त्रीवेदः, स्त्रियाः

पहले अर्थ का संबंध मोहकर्म से है।
और अवयव को द्रव्यवेद कहा जाता है।

संवेदना को भाववेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।
वेद के तीन प्रकार

८०. से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एव-
माइक्खंति जाव इत्थिवेदं च, पुरिसवेदं च ।
जेते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं
पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि भासामि
पण्णवेमि परूवेमि—

१. एवं खलु णियंटे कालगए समाणे
अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उवत्तारो
भवन्ति—महिद्धिएसु महज्जुतीएसु महाबलेसु
महायसेसु महासोक्खेसु महाणुभागेसु दूरग-
तीसु चिराद्धितीएसु । से णं तत्थ देवे भवइ
महिद्धिए जाव दस दिसाओ उज्जोएमाणे
पभासेमाणे पासाइए दरिसणिजे अभिरूवे
पडिरूवे । से णं तत्थ अण्णे देवे, अण्णेसिं
देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय
परियारेइ, अप्पणिच्चियाओ देवीओ अभि-
जुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, नो अप्प-
णामेव अप्पाणं विउच्चिय-विउच्चिय परि-
यारेइ ।

२. एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं
वेदं वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं वा, पुरिसवेदं
वा ।

जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ, नो तं समयं
पुरिसवेदं वेदेइ ।

जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ, नो तं समयं
इत्थिवेदं वेदेइ ।

इत्थिवेदस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ,
पुरिसवेदस्स उदएणं नो इत्थिवेदं वेदेइ ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं
वेदेइ, तं जहा—इत्थीवेदं वा, पुरिसवेदं
वा ।

इत्थी इत्थिवेदेणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ ।
पुरिसो पुरिसवेदेणं उदिण्णेणं इत्थिं पत्थेइ ।
दो वि ते अण्णमण्णं पत्थेति, तं जहा—
इत्थी वा पुरिसं, पुरिसे वा इत्थिं ॥

तत् कथमेतद् भदन्त ! एवम् ?

गौतम ! यत् ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति
यावत् स्त्रीवेदं च पुरुषवेदं च । ये एते एव-
माहुः, मिथ्या ते एवमाहुः । अहं पुनः गौतम!
एवमाख्यामि भाषे प्रज्ञापयामि प्ररू-
पयामि—

१. एवं खलु निर्ग्रन्थः कालगतः सन्
अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वाय उपपत्ता
भवति—महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु महाबलेषु
महायशःसु महासौख्येषु महानुभागेषु दूरगतिषु
चिरस्थितिकेषु । सः तत्र देवः भवति
महर्द्धिकः यावद् दश दिशः उद्द्योतयन्
प्रभासयन् प्रासादीयः दर्शनीयः अभिरूपः
प्रतिरूपः । सः तत्र अन्यान् देवान् अन्येषां
देवानां देवीः अभियुज्य-अभियुज्य परि-
चारयति, आत्मीयाः देवीः अभियुज्य-अभि-
युज्य परिचारयति, नो आत्मनैव आत्मानं
विकृत्य-विकृत्य परिचारयति ।

२. एकोऽपि च जीवः एकेन समयेन एकं
वेदं वेदयति, तद् यथा—स्त्रीवेदं वा पुरुषवेदं
वा ।

यस्मिन् समये स्त्रीवेदं वेदयति, नो तस्मिन्
समये पुरुषवेदं वेदयति ।

यस्मिन् समये पुरुषवेदं वेदयति, नो तस्मिन्
समये स्त्रीवेदं वेदयति ।

स्त्रीवेदस्य उदयेन नो पुरुषवेदं वेदयति,
पुरुषवेदस्य उदयेन नो स्त्रीवेदं वेदयति ।

एवं खलु एकः जीवः एकेन समयेन एकं वेदं
वेदयति, तद् यथा—स्त्रीवेदं वा पुरुषवेदं
वा ।

स्त्री स्त्रीवेदेन उदीर्णेन पुरुषं प्रार्थयति । पुरुषः
पुरुषवेदेन उदीर्णेन स्त्रियं प्रार्थयति । द्वावपि
तौ अन्योन्यं प्रार्थयतः, तद् यथा—स्त्री वा
पुरुषं, पुरुषो वा स्त्रियम् ।

८०. भन्ते ! यह इस प्रकार कैसे है ?

गौतम ! अन्ययूथिक, जो ऐसा आख्यान करते हैं
यावत् जीव एक साथ स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों
का वेदन करते हैं । जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या
कहते हैं । गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान,
भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता हूँ—

१. मृत्यु को प्राप्त हुआ निर्ग्रन्थ महान् ऋद्धि और
महान् ध्रुति से सम्पन्न, महाबली, महान् यशस्वी,
महान् सौख्य-युक्त, महान् सामर्थ्य वाले, ऊंची गति
वाले और चिरकालिक स्थिति वाले किसी देवलोक
में देवरूप में उपपन्न होता है । वह महान् ऋद्धि
से सम्पन्न यावत् दसों दिशाओं को उद्द्योतित और
प्रभासित करता हुआ, द्रष्टा के चित्त को प्रसन्न
करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय^२
देव होता है । वह अन्य देवों और देवों की देवियों
का आश्लेष कर-कर परिचारणा करता है, अपनी
देवियों का आश्लेष कर-कर परिचारणा करता
है, किन्तु वह अपने बनाए हुए विभिन्न रूपों से
परिचारणा नहीं करता ।

२. एक जीव एक समय में एक ही वेद का वेदन
करता है, जैसे—स्त्रीवेद का अथवा पुरुषवेद
का ।

जिस समय वह स्त्रीवेद का वेदन करता है, उस
समय पुरुषवेद का वेदन नहीं करता ।

जिस समय वह पुरुषवेद का वेदन करता है, उस
समय स्त्रीवेद का वेदन नहीं करता ।

वह स्त्रीवेद के उदय से पुरुषवेद का वेदन नहीं
करता और पुरुषवेद के उदय से स्त्रीवेद का वेदन
नहीं करता ।

इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही वेद
का वेदन करता है, जैसे—स्त्रीवेद का अथवा
पुरुषवेद का ।

स्त्री उदयप्राप्त स्त्रीवेद के कारण पुरुष की इच्छा
करती है और पुरुष उदयप्राप्त पुरुषवेद के कारण
स्त्री की इच्छा करता है । वे दोनों परस्पर एक
दूसरे की इच्छा करते हैं, जैसे—स्त्री पुरुष की
इच्छा करती है, पुरुष स्त्री की इच्छा करता है ।

पुमांसं प्रत्यभिलाष इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि स्त्रीवेदः, पुरुषस्य वेदः
पुरुषवेदः, पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाष इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पुरुषवेदः,

नपुंसकस्य वेदो नपुंसकवेदः, नपुंसकस्य स्त्रियं पुरुषं च प्रत्यभिलाष इत्यर्थः
तद्विपाकवेद्यं कर्मापि नपुंसकवेदः ।

१. सूत्र ८०

प्रस्तुत सूत्र में अन्ययूथिक मत से महावीर के मत की भिन्नता का निदर्शन है। यहां अन्ययूथिक का नोमोल्लेख नहीं, किन्तु प्रकरण के अनुसार यह अभिमत आजीवक सम्प्रदाय का होना चाहिए। वह एक श्रमण-सम्प्रदाय है और भगवान् महावीर के समकालीन भी है। उसका अस्तित्व पहले भी था—यह स्वीकार करने में कोई ऐतिहासिक बाधा भी नहीं लगती। बौद्ध साहित्य में गोशालक को आजीवक का तीसरा आचार्य बतलाया गया है।^१

ठाणं में परिचारणा के नौ विकल्प प्राप्त हैं।^२ उनमें 'अप्पणावेव अप्पणा विउव्विय-विउव्विय परियारेति' इस विकल्प को सर्वत्र मान्य किया है। प्रस्तुत सूत्र में इसे अस्वीकार किया गया है। यह स्पष्ट विरोधाभास है। इसे वाचना-भेद मानकर सन्तोष किया जा सकता है। किन्तु जहां पक्ष और प्रतिपक्ष का प्रश्न है, वहां वाचना-भेद की बात पर्याप्त

नहीं है। इस विषय में एक तर्क सामने है—ठाणं में देव का सामान्य निर्देश है। इसलिए अपने द्वारा निर्मित रूप के साथ परिचारणा की बात मान्य की गई। प्रस्तुत प्रसंग में निर्ग्रन्थ का जीवन जीकर होने वाले देव का निर्देश है। यह संभावना की जा सकती है कि वह देव जो पूर्वजन्म में निर्ग्रन्थ था, अपने द्वारा निर्मित रूप के साथ परिचारणा नहीं करता।

२. द्रष्टा के चित्त को प्रसन्न करने वाला.....रमणीय

प्रासादीय—जिसे देखकर चित्त प्रसन्न हो।

दर्शनीय—जिसे देखकर चक्षु थके नहीं।

अभिरूप—मनोज्ञ रूप वाला।

प्रतिरूप—जिसका रूप प्रत्येक द्रष्टा की आंख में प्रतिबिम्बित हो।^३

गम्भ-पदं

गर्भ-पदम्

गर्भ-पद

८१. उदगम्भे णं भंते ! उदगम्भे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?
गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा ॥

उदकगर्भः भदन्त ! उदकगर्भः इति कालतः कियच्चिरं भवति ?
गीतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण षण्मासान् ।

८१. भन्ते ! उदकगर्भ उदकगर्भ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है ?
गीतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः छह मास ।

भाष्य

१. सूत्र ८१

प्रस्तुत सूत्र का सम्बन्ध वर्षा-शास्त्र से है। उदकगर्भ का अर्थ है—कुछ कालावधि के पश्चात् वर्षा का हेतुभूत पुद्गल-परिणाम। इसकी पहचान सन्ध्याराग आदि के द्वारा होती है।^४ ठाणं में उदकगर्भ

के आठ प्रकार बतलाए गए हैं।^५ स्थानांग वृत्ति में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।^६

८२. तिरिक्खजोणियगम्भे णं भंते ! तिरिक्खजोणियगम्भे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठ संवच्छराइं ॥

तिर्यग्योनिकगर्भः भदन्त ! तिर्यग्योनिकगर्भः इति कालतः कियच्चिरं भवति ?

गीतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अष्ट संवत्सरान् ।

८२. भन्ते ! तिर्यग्योनिकगर्भ तिर्यग्योनिकगर्भ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है ?

गीतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षतः आठ वर्ष ।

८३. मणुस्सीगम्भे णं भंते ! मणुस्सीगम्भे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं ॥

मनुष्यीगर्भः भदन्त ! मनुष्यीगर्भः इति कालतः कियच्चिरं भवति ?

गीतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण द्वादश संवत्सरान् ।

८३. भन्ते ! मनुषी-गर्भ मनुषी-गर्भ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है ?

गीतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्षतः बारह वर्ष ।

१. अंगुत्तरनिकाय, छकनिपाता, महावग्गो, छलभिजातिसुत्तं ।

२. ठाणं, ३।६।

३. म.वृ.२।८०—'पासाइए' द्रष्टव्यां चित्तप्रसादजनकः 'दरिसण्णिजे' यं पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति 'अभिरूवे' मनोज्ञरूपः 'पडिरूवे'ति द्रष्टारं-द्रष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथेति ।

४. म.वृ.२।८१—तत्रोदकगर्भः—कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य चावस्थानं जघन्यतः समयः समयानन्तरमेव प्रवर्षणात् । उत्कष्टतस्त

षण्मासान्, षण्णां मासानामुपरि वर्षणात्, अयं च मार्गशीर्षपीषादिषु वैशा- खान्तेषु सन्ध्यारागमेघोत्पादादिलिङ्गो भवति । यदाह—

“पोषे समार्गशीर्षे सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः ।

नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं पोषेऽतिहिमपातः ॥”

५. ठाणं, ४।६४०, ६४१ ।

६. स्था.वृ.प.२७३ ।

८४. कायभवत्वे णं भंते ! कायभवत्वे ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

कायभवस्थः भदन्त ! कायभवस्थः इति कालतः कियच्चिरं भवति ?

८४. ^१भन्ते ! कायभवस्थ (माता के उदर में रहे हुए अपने गर्भ-शरीर में उत्पन्न होने वाला जीव) कायभवस्थ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउवीसं संबच्छराईं ॥

गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण चतुर्विंशतिः संबत्सराण् ।

गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्षतः चौबीस वर्ष ।

भाष्य

१. सूत्र ८४

सूत्र ८३ में मानुषी के गर्भ की उत्कृष्ट स्थिति १२ वर्ष की बतलाई गई है और काय-भवस्थ की २४ वर्ष की। कोई प्राणी पहले गर्भ में १२ वर्ष तक रहता है और वहां से मरकर फिर उसी गर्भ-शरीर में उत्पन्न हो जाता है और उत्पन्न होकर फिर १२ वर्ष तक गर्भ में रहता है। इस प्रकार काय भवस्थ की उत्कृष्ट गर्भ स्थिति २४ वर्ष

की हो जाती है। एक ही गर्भकाय में उसके दो भव या जन्म हो जाते हैं, इसलिए उसका नाम काय भवस्थ किया गया है। १२ वर्ष की स्थिति को 'भवस्थिति' और २४ वर्ष की स्थिति को 'कायस्थिति' कहा जाता है।^१

८५. मणुस्स-पंचेदियतिरिक्खजोणियवीए णं भंते ! जोणिवभूए केवत्तियं कालं संचिद्धइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ॥

मनुष्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकबीजं भदन्त ! योनिभूतं कियत् कालं संतिष्ठते ? गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण द्वादश मुहूर्तान् ।

८५. ^१भन्ते ! मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्य का योनि-बीज (वीर्य) कितने काल तक योनिभूत (उत्पादक शक्तिवाला) रहता है ? गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्षतः बारह मुहूर्त ।

भाष्य

१. सूत्र ८५

बीज और वीर्य पर्यायवाची शब्द हैं। प्रवचनसारोद्धार में बीज शुक्र और शोणित दोनों के लिए प्रयुक्त है।^१ योनिभूत का अर्थ है—उत्पादक शक्ति से सम्पन्न।

८६. एगजीवे णं भंते ! एगभवग्रहणेणं केवइयाणं पुत्तत्ताए हव्वामागच्छइ ? गोयमा ! जहण्णेणं इक्कस्स वा दोण्ह वा तिण्ह वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तस्स जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ॥

एकजीवः भदन्त ! एकभवग्रहणेन कियतां पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छति ? गौतम ! जघन्येन एकस्य वा द्वयोः वा त्रयाणां वा, उत्कर्षेण शतपृथक्त्वस्य जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति ।

८६. ^१भन्ते ! एक जीव एक भव में कितने जीवों का पुत्र हो सकता है ? गौतम ! जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ सौ तक जीवों का पुत्र हो सकता है।

१. भ.वृ.२।८४—काये—जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो—जन्म स कायभवस्तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः, स च कायभवस्थ इति, एतेन पर्यायेणेत्यर्थः, 'चउवीसं संबच्छराईं'ति स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्भूत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया, इत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति। केचिदाहुः—द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्य-बीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते, द्वादशवर्षस्थितिरिति ।

२. प्र.सारो.वृ.प.४०१, द्वार २४१, गा.१३६०।

गव्वद्धिइ मणुस्सीणुक्किद्धा होइ वरिसवारसणं ।

गव्वस्स य कायठिई नराण चउवीस वरिसाईं ॥

३. वही, वृ.प.४०२, द्वार २४७, गा.१३६७—

बीयं सुक्कं तह सोणियं च ठाणं तु जणपिगव्वंमि ।

१. सूत्र ८६

वृत्तिकार ने पिता की संख्या के लिए बैल आदि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार बहुसंख्यक बैल आदि का वीर्य गाय आदि की योनि में प्रविष्ट होनेपर जो जीव पैदा होता है, वह बहुपितृक होता है।

शब्द-विमर्श

पृथक्त्व—पृथक्त्व का अर्थ है दो से नौ। यह सामयिक संज्ञा है।^१

८७. एगजीवस्स णं भंते ! एगभवग्गहणेणं केवइया जीवा पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ? गोयमा ! जहण्णेणं एको वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ॥

एकजीवस्य भदन्त ! एकभवग्रहणेन कियन्तः जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति ? गौतम ! जघन्येन एको वा द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षेण शतसहस्रपृथक्त्वं जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति ।

८७. भन्ते ! एक जीव के एक भव में कितने जीव पुत्र-रूप में उत्पन्न हो सकते हैं ? गौतम ! जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र-रूप में उत्पन्न हो सकते हैं।

८८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ—जहण्णेणं एको वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जघन्येन एको वा द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षेण शतसहस्रपृथक्त्वं जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति ?

८८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— एक जीव के जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र-रूप में उत्पन्न हो सकते हैं ?

गोयमा ! इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए समुप्पज्जइ । ते दुहओ सिणेहं चिण्णति, चिण्णित्ता तत्थ णं जहण्णेणं एको वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—जहण्णेणं एको वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ॥

गौतम ! स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतायां योन्यां मैथुनवृत्तिको नाम संयोगः समुत्पद्यते । तौ द्वितः स्नेहं चिनुतः, चित्वा तत्र जघन्येन एको वा द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षेण शतसहस्रपृथक्त्वं जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—जघन्येन एको वा द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षेण शतसहस्रपृथक्त्वं जीवाः पुत्रत्वाय 'हव्वं' आगच्छन्ति ।

गौतम ! स्त्री और पुरुष की कर्मकृत (कामोद्दीपक) योनि में मैथुनवृत्तिक नामक संयोग उत्पन्न होता है । वे स्त्री और पुरुष स्नेह (वीर्य और शोणित) का संघय करते हैं। संघय करन के पश्चात् वहां जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र-रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्ररूप में उत्पन्न हो सकते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ८७, ८८

वृत्तिकार ने बहुपुत्र की बात समझाने के लिए मत्स्य आदि का उदाहरण दिया है। मछली के एक साथ नौ लाख बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं और निष्पन्न भी हो सकते हैं। मनुष्य-स्त्री की योनि में नौ लाख जीव उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु निष्पन्न बहुत नहीं होते^१ अर्थात् एक, दो अथवा तीन हो सकते हैं (देखें मूलपाठ)।

जयाचार्य के अनुसार ये नौ लाख संज्ञी (समनस्क) जीव होते

हैं।^१ संभोग के समय असंज्ञी (अमनस्क) जीव भी पैदा होते हैं।^१ उनकी संख्या यहां निर्दिष्ट नहीं है।

शब्द-विमर्श

कर्मकृत—वृत्तिकार ने कर्म के दो अर्थ किए हैं—नाम कर्म अथवा काम-वासना का उद्दीपक कर्म। प्रस्तुत प्रकरण में वैकल्पिक अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।^१

१. भ.वृ.२।८६—मनुष्याणां तिरश्चां च बीजं द्वादशमुहूर्तान् यावद्योनिभूतं भवति, ततश्च गवादीनां शतपृथक्त्वस्यापि बीजं गवादियोनिप्रविष्टं बीजमेव, तत्र च वीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यते, स च तेषां बीजस्वामिनां सर्वेषां पुत्रो भवतीत्यत उक्तम्—'उक्कोसेणं सयपुहुत्तसे' त्यादि ।

२. प्र.सारो.वृ.प.४०२.द्वार२४६, गा.१३६४ की वृत्ति—पृथक्त्वं चेह द्विप्रभृति-रानवभ्य इति समयोक्तं ज्ञेयम् ।

३. भ.वृ.२।८७—मत्स्यादीनामेकसंयोगेऽपि शतसहस्रपृथक्त्वं गर्भं उत्पद्यते

निष्पद्यते चेत्येकस्यैकभवग्रहणे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां भवतीति । मनुष्ययोनिं पुनरुत्पन्ना अपि बहवो न निष्पद्यन्त इति ।

४. भ.जो.१।४०।३०—

ते इण अर्थे करिंते हे गोतम, जव शीघ्र ही आय ।

पुत्रपथै नवलक्ष ऊपजै, ए सन्नी तणी अपेक्षाव ।

५. पण्ण.१।८४—सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा विगतजीवकलेवरसु वा धी-पुरिस-संजोएसु वा.....एथ णं सम्मुच्छिममणुसा सम्मुच्छंति ।

मैथुनवृत्तिक—इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं, मैथुनवृत्तिकः
और मैथुनप्रत्ययिकः ।

स्नेह—स्नेह का अर्थ है—वीर्य और रक्त ।

८६. मेहुणण्णं भन्ते ! सेवमाणस्स केरिसए
असंजमे कज्जई ?
गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे
रुयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं
समभिद्धंसेज्जा, एरिसए णं गोयमा ! मेहुणं
सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ ॥

मैथुनं भदन्त ! सेवमानस्य कीदृशः असंयमः
क्रियते ?
गौतम ! सः यथानामकः कश्चित् पुरुषः 'रुय'
नालिकां वा बूरनालिकां वा तप्तेन कनकेन
समभिद्धंसेत्, ईदृशः गौतम ! मैथुनं सेव-
मानस्य असंयमः क्रियते ।

८६. ^१भन्ते ! मैथुन सेवन करने वाले जीव के कैसा
असंयम होता है ?
गौतम ! जिस प्रकार कोई पुरुष तपी हुई शलाका
से रूई से भरी हुई नालिका अथवा बूर से भरी
हुई नालिका को ध्वस्त कर देता है । गौतम !
मैथुन सेवन करने वाले जीव के ऐसा असंयम
होता है ।

भाष्य

१. सूत्र ८६

प्रस्तुत सूत्र में मैथुन के द्वारा होने वाले असंयम को समझाया
गया है। भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया। अब्रह्मचर्य
से राग या मूर्च्छा बढ़ती है। यह अब्रह्मचर्य की वर्जना का एक

पहलू है। उसकी वर्जना का दूसरा पहलू है—हिंसा। संभोग-काल में
उत्कर्षतः नौ लाख जीवों की हिंसा होती है। वे जीव पञ्चेन्द्रिय होते
हैं। वृत्तिकार ने इस श्रुति का उल्लेख किया है।^१

६०. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! यावत् वि-
हरति ।

६०. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है,
इस प्रकार भगवान् गौतम यावत् संयम और तप
से अपने आप को भावित करते हुए विहरण कर
रहे हैं ।

६१. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ
नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडि-
निक्खमइ, पडिनिक्खमिप्ता बहिया जण-
वयविहारं विहरइ ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः राजगृहान्
नगराद् गुणशिलाच् चैत्यात् प्रतिनिष्क्रमति,
प्रतिनिष्क्रम्य बहिः जनपदविहारं विहरति ।

श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर और
गुणशिल चैत्य से पुनः निष्क्रमण करते हैं, पुनः
निष्क्रमण कर राजगृह के आस-पास जनपद में
विहरण कर रहे हैं ।

तुंगियानयरी-समणोवासय-पदं

तुङ्गिकानगरी-श्रमणोपासक-पदम्

तुंगिकानगरी-श्रमणोपासक-पद

६२. तेणं कालेणं तेणं समएणं तुंगिया नामं
नयरी होत्या—वण्णओ ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये तुङ्गिका नाम नगरी
आसीत्—वर्णकः ।

६२. उस काल और उस समय तुंगिका नामक नगरी
थी—नगर-वर्णन ।

६३. तीसे णं तुंगियाए नयरीए बहिया उत्तर-
पुरत्थिमे दिसीभागे पुष्पवतिए नामं चेइए
होत्या—वण्णओ ॥

तस्याः तुङ्गिकायाः नगर्याः बहिः उत्तरपूरस्थे
दिग्भागे पुष्पवतिकं नाम चैत्यम् आसीत्—
वर्णकः ।

६३. उस तुंगिका नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिग्भाग
(ईशानकोण) में पुष्पवतिक नामक चैत्य था—
चैत्य-वर्णन ।

१. भ.वृ.२।८८—नामकर्मनिर्वर्तितायां योनी अथवा कर्ममदनोद्दीपको व्यापारस्तत्
कृतं यस्यां सा कर्मकृताऽतस्तस्याम् ।

२. वही,२।८८—मैथुनस्य वृत्तिः—प्रवृत्तिर्यस्मिन्नसौ मैथुनवृत्तिको मैथुनं वा प्रत्य-
यो—हेतुर्यस्मिन्नसौ स्वार्थिके कप्रत्यये मैथुनप्रत्ययिकः ।

३. वही,२।८६—रूतं—कर्पासविकारस्तद्भूता नालिका—शुषिरवंशादिरूपा

रूतनालिका ताम् । एवं बूरनालिकाभ्यः नवरं बूरं—वनस्पति विशेषा-
वयवविशेषः । 'समभिद्धंसेज्जा'ति रूतादिसमभिद्धंसेनात् इह चायं वाक्यशेषो
दृश्यः—एवं मैथुनं सेवमानो योनिगतसत्त्वान् मेहनेनाभिद्धंसेत् । एते च किल
ग्रन्थान्तरे पञ्चेन्द्रियाः श्रूयन्त इति ।

६४. तत्त्व षं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसन्ति—अद्वा दिता वित्थिण्णविपुलभवण-सयणासण-जाणवाह-णाइण्णा बहुधण-बहुजायरूव-रयया आयो-गपयोगसंपजत्ता विच्छद्विवविपुलभत्तपाणा बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलय-प्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगय-जीवाजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-निज्जर-किरियाहिकरणबंध-पमोवखकुसला अस-हेजा देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खस्स-किन्नरकिंपुरिसगरुलंगंधव्वमहोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिकमणिज्जा, निग्गंथे पावयणे निस्सं-किया निक्कंखिया निच्चित्तिगिच्छा लद्धइा गहियइा पुच्छियइा अभिगयइा विणिच्छियइा अद्विमिज्जेम्माणुरागरत्ता अयमाउत्तो ! निग्गंथे पावयणे अट्टे अयं पर-मट्टे सेसे अणट्टे, ऊसियफलिहा अवंगुय-दुवारा चियत्तंतेउरघरप्पवेसा चाउहसइ-मुद्धिइपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेभाणा, समणे निग्गंथे फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पीठ-फलग-सेजा-संधारएणं ओसह-भेसज्जेणं पडिलाभेभाणा बहुहिं सीलव्वयगुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहा-परिगहिएहिं तवोक्कम्मेहिं अप्पाणं भावेभाणा विहरंति ॥

तत्र तुङ्गिकायां नगर्यां बहवः श्रमणोपासकाः परिवसन्ति—आद्वयाः दीप्ताः विस्तीर्णविपुल-भवन-शयनासन-यानवाहनाकीर्णाः बहुधन-बहुजातरूप-रजताः अयोग-प्रयोगसंप्रयुक्ताः विच्छर्दितविपुलभक्तपाणाः बहुदासी-दास-गो-महिष-गवेलकप्रभूताः बहुजनस्य अपरिभूताः अभिगतजीवाजीवाः उपलब्धपुण्यपापाः आ-श्रव-संवर-निर्जरा-क्रियाधिकरण-बन्ध-प्र-मोक्षकुशलाः असहाय्याः देवासुरनाग-सुवर्णयक्षराक्षसकिन्नरकिंपुरुषगरुडगन्धर्व-महोरगादिकैः देवगणैः नैर्ग्रन्थात् प्रवचनाद् अनतिक्रमणीयाः नैर्ग्रन्थे प्रवचने निःशंकिताः निष्काङ्क्षिताः निर्विचिकित्साः लब्धार्थाः गृहीतार्थाः पृष्टार्थाः अभिगतार्थाः विनि-श्चितार्थाः अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्ताः इद-मायुष्मन् नैर्ग्रन्थं प्रवचनम् अर्थः इदं परमार्थः शेषम् अनर्थः उच्छ्रितपरिधाः अपावृत्तद्वाराः 'चियत्त'अन्तःपुरगृहप्रवेशाः चतुर्दशाष्ट-मोद्धिष्टपूर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यग् अनुपालयन्तः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुक-एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-प्रतिग्रह-कन्वल-पादप्रौंछनेन पीठ-फलक-शय्या-संस्तारकेण औषध-भैषज्येन प्रतिल-लाभयन्तः बहुभिः शीलव्रतगुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासेः यथापरिगृहीतैः तपःकर्मभिः आत्मानं भावयन्तः विहरन्ति ।

६४. ^१उस तुंगिका नगरी में अनेक श्रमणोपासक रहते हैं। वे सम्पन्न और दीप्तिमान हैं। उनके विशाल और प्रचुर भवन शयन-आसन वाले और यान-वाहन से आकीर्ण हैं। उनके पास प्रचुर धन, सोना और चांदी हैं। वे आयोग और प्रयोग में संलग्न हैं। उनके घर में विपुलमात्रा में भोजन और पान दिया जा रहा है। उनके पास अनेक दास, दासी, गाय, भैंस और भेड़ें हैं। वे बहुजन के द्वारा अपरिभवनीय हैं। जीव-अजीव को जानने वाले, पुण्य-पाप के मर्म को समझने वाले, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के विषय में कुशल, सत्य के प्रति स्वयं निश्चल, देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देव-गणों के द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अविचलनीय, इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंका-रहित, कांक्षा-रहित, विचिकित्सा-रहित, यथार्थ को सुनने वाले, ग्रहण करने वाले, उस विषय में प्रश्न करने वाले, उसे जानने वाले, उसका विनिश्चय करने वाले, (निर्ग्रन्थ प्रवचन के) प्रेमानुराग से अनुरक्त अस्थि-मज्जावाले 'आयुष्मन्'। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन यथार्थ है। यह परमार्थ है, शेष अनर्थ है', (ऐसा मानने वाले), आगल को ऊंचा और दरवाजे को खुला रखने वाले, अन्तःपुर और दूसरों के घर में बिना किसी रुकावट के प्रवेश करने वाले, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करने वाले, श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रौंछन, औषध-भैषज्य, पीठ-फलक, शय्या और संस्तारक का दान देने वाले, बहुतशीलव्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास के द्वारा तथा यथा-परिगृहीत तपःकर्म के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए रह रहे हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६४

प्रस्तुत सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों का वर्णन है। श्रमण की उपासना करनेवाले गृहस्थ का नाम है श्रमणोपासक। इसका समानार्थक शब्द है श्रावक।

इस वर्णन में श्रमणोपासकों की सामाजिक और धार्मिक दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। सम्पन्नता, दानशीलता और

अपरिभवनीयता—यह उनकी सामाजिक अवस्था का चित्रण है। तत्त्वज्ञान, आत्म-निर्भरता, धर्म के प्रति दृढ आस्था, व्रतों की आराधना और तपस्या—यह उनके धार्मिक जीवन का चित्रण है। भौतिक जीवन के साथ धार्मिक जीवन का योग होना श्रावक जीवन की अपनी विशेषता है।

शब्द-विमर्श

आद्वय—धन-धान्य आदि से परिपूर्ण।

दीप्त—दीप्तिमान्। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'प्रसिद्ध' किया है। औपपातिक वृत्ति में 'दित्त' पाठ का अर्थ दृप्त—दर्पवान् किया है। 'दित्त' का 'प्रसिद्ध' अर्थ चिन्तनीय है। ओवाइयं में 'दित्ता', वित्ता—ये दो पाठ मिलते हैं। 'वित्त' का अर्थ 'प्रसिद्ध' है। प्रतीत होता है प्रस्तुत प्रकरण में पाठ और वृत्ति दोनों की अव्यवस्था हुई है।

आयोग और प्रयोग—आयोग का अर्थ है—द्विगुण आदि की वृद्धि के लिए अर्थ देना। प्रयोग का अर्थ है—ब्याज। औपपातिक वृत्ति में आयोग का अर्थ 'अर्थ-लाभ' और प्रयोग का अर्थ 'उपाय' किया गया है। हो सकता है राजा कृषिक के प्रसंग में यह अर्थ-परिवर्तन किया गया। स्थानांग वृत्ति में 'प्रयोग' का अर्थ 'ऋण लेनेवालों को अर्थ देना' किया है।

विच्छर्दित—त्यक्त अथवा विच्छित्तिमान—विभूतियुक्त।^१

गवेलक—भेड़।^२

पुण्य—शुभ कर्म को पुण्य कहते हैं।

पाप—अशुभ कर्म को पाप कहते हैं।

आश्रव—कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहते हैं।

संवर—आश्रव के निरोध को संवर कहते हैं।

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने से जो आत्म-उज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।

क्रिया—द्रष्टव्य भ.१।२७६-२८६ और भ.१।३६४-३७२ का भाष्य।

अधिकरण—गाड़ी, यंत्र आदि।^३

बन्ध—कर्म-पुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है।

मोक्ष—समस्त कर्मों का फिर बन्ध न हो, ऐसा क्षय होने से

आत्मा अपने ज्ञानदर्शनमय स्वरूप में अवस्थित होती है, उसका नाम मोक्ष है।

कुशल—हेय और उपादेय का ज्ञाता।

सत्य के प्रति स्वयं निश्चल—वृत्तिकार ने असहेज शब्द के दो अर्थ किए हैं:

१. आत्मकर्तृत्व एवं कर्म-सिद्धान्त पर जिन्हें इतना भरोसा होता है, वे विपत्ति के क्षणों में भी किसी दिव्य शक्ति के सहयोग की आकांक्षा नहीं करते, इसलिए वे असहेज (असहाय्य) कहलाते हैं।

२. अन्य मतावलम्बियों द्वारा सम्यकत्व से विचलित करने के प्रयत्नों के उपरान्त भी जो विचलित नहीं होते, अपने सिद्धान्तों और साधना-पथ में अविचल रहने के लिए किसी बाहरी सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते, वे असहेज होते हैं। इसका फलितार्थ यह है—वे स्वयं तत्त्वज्ञ और जैन दर्शन के मर्मज्ञ होते हैं। इसलिए अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों को प्रतिहत करने में वे स्वयं समर्थ होते हैं और जिन-शासन में अत्यन्त भावित होने के कारण वे दूसरों का सहयोग नहीं चाहते।^४

श्रीमज्जयाचार्य ने भगवती-जोड़ में लम्बी चर्चा प्रस्तुत की है।^५ विघ्ननिवारण, सामाजिक प्रतिष्ठा और अध्यात्म-साधना के विकास की दृष्टि से यदि श्रावक दिव्य शक्तियों का सहयोग लेता है, तो वह अनुचित नहीं है।

जयाचार्य के अभिमत में यह असहेज स्वतंत्र साधना के सन्दर्भ में विशेष प्रयोग है, जिस प्रकार श्रमण के लिए प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में गोचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय का विधान किया गया है, वह साधु के लिए अनिवार्य साधना-पद्धति नहीं है तथा उनके समाचरण के अभाव में साधुत्व खंडित नहीं होता,^६ वैसे ही श्रावक दिव्य शक्तियों का सहयोग न ले, यह उनका विशेष गुण है, पर सम्यकत्व के साथ उसकी अनिवार्यता नहीं है। यदि अनिवार्यता हो, तो आगमों के निम्न प्रसंग हमें एक बार पुनः चिन्तन का अवसर देते हैं:

१. भ.वृ.२।६४—दित्ति दीप्ताः—प्रसिद्धाः दृप्ता वा दर्पिताः।

२. औ.वृ.पृ.२१—दित्तेति दृप्तो दर्पवान्।

३. ओवा.सू.१४।

४. औ.वृ.पृ.२१—वित्तेति प्रसिद्धः।

५. (क) भ.वृ.२।६४—आयोगो—द्विगुणादिवृद्धयाऽर्थप्रदानं प्रयोगश्च कलान्तरं तौ संप्रयुक्तौ—व्यापारितौ यैस्ते तथा।

(ख) आटे.—कलान्तरम्—Interest, Profit—

पासे शतस्य यदि पंच कलान्तरं स्यात् (लीलावती);

प्रयोगः—(17) (a) Principal, loan bearing interest; (b) Lending money on usury.

६. औ.वृ.पृ.२२—आयोगस्य अर्थलाभस्य, प्रयोगः उपायाः।

७. स्था.वृ.प.४००—आयोगेन द्विगुणादिलाभेन, द्रव्यस्य प्रयोगः—अधमर्णानां दानम्।

८. भ.वृ.२।६४—विच्छर्दितं वा—विधिविच्छित्तिमद्विपुलं भक्तं च पानकं च येषां ते तथा।

९. वही,२।६४—गवेलका—उरभ्राः।

१०. (क) भ.वृ.२।६४—अधिकरणं गत्री-यंत्रकादि।

(ख) आटे.—गत्री—A car drawn by oxen.

११. भ.वृ.२।६४—'असहेजे'त्यादि—अविद्यमानं साहाय्यं—परसाहायकम् अत्यन्तसमर्थत्वाद्येषां ते साहाय्यास्ते च ते देवादयश्चेति कर्मधारयः, अथवा व्यस्तमेवेदं तेनासाहाय्या—आपद्यपि देवादिसाहायकानपेक्षाः स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थः अथवा पाषण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यकत्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षन्ते, स्वयमेव तत्प्रतिधातसमर्थत्वा-ङ्गिनशासनात्यन्तभावितत्वाच्चेति।

१२. भ.जो.१।४१।१५७३।

१३. उत्तर.२६।८ का टिप्पण न.५।

१. अभयकुमार ने महाराणी धारिणी की उदग्र आकांक्षा को तृप्त करने के लिए देव की आराधना कर अभीप्सित कार्य में सफलता प्राप्त की, जिसका विस्तृत वर्णन हमें नायायम्कहाओ (अ.१) में उपलब्ध है।

२. अंतगडदाओ (३।४७-५०)के अनुसार श्री कृष्ण ने अपने छोटे भाई गजसुकुमाल के लिए देव की आराधना की और इच्छित फल प्राप्त किया।

३. चक्रवर्ती भरत ने चक्रवर्ती बनने से पहले अष्टम भक्त तप कर देवाराधना की जिसका प्रमाण है—जंबुद्वीपपण्ती (३।२०)।

४. श्रीकृष्ण ने लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित नामक देव की आराधना कर उसकी सहायता ली थी (नायायम्कहाओ, १।१६।२३७)

औपपातिकवृत्ति और राजप्रशनीयवृत्ति में असहज का अर्थ 'सम्यक्त्व से अविचलित रहना' ही किया है, जो जयाचार्य के चिन्तन को और अधिक पुष्ट करता है। यदि दिव्य शक्तियों के सहयोग से सम्यक्त्व की सुरक्षा में खतरा होता, तो श्री कृष्ण और भरत चक्रवर्ती दिव्य शक्तियों की आराधना क्यों करते ?

जयाचार्य के मन्यन का नवनीत यही है कि श्रावक वैसे साहाय्य की इच्छा नहीं करता, जिससे सम्यक्त्व और सत्य की निष्ठा में विचलन का भाव उत्पन्न हो।

असुर और नागकुमार—ये दोनों भवनपति जाति के देव हैं।

सुवर्ण—यह ज्योतिष्क जाति का देव है।

यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गंधर्व और महोरग—ये व्यन्तर जाति के देव हैं।

गरुड—गरुड भवनपति जाति के देव हैं।

निःशंकित—तत्त्व के विषय में सन्देह से मुक्त।

निष्कांक्षित—कुतत्त्व की आंकाक्षा से मुक्त।

निर्विचिकित्स—धार्मिक आराधना के फल के विषय में सन्देह से मुक्त।

लब्धार्थ—अर्थ का श्रवण करनेवाला। यहां 'अर्थ' शब्द सूत्र का वाच्य, तत्त्व का प्रतिपाद्य और लक्ष्य—इन तीन सन्दर्भों में प्रयुक्त है।

गृहीतार्थ—अर्थ का अवधारण करनेवाला।

पृष्टार्थ—सन्दिग्ध अर्थ के विषय में प्रश्न करनेवाला।

अभिगृहीतार्थ—प्रश्न के उत्तर को समझने वाला।

विनिश्चितार्थ—अर्थ के तात्पर्य को समझने वाला।

अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्त—मज्जागत संस्कार अत्यन्त सुदृढ़ होता है। उसे बदलना सहज संभव नहीं होता।^१

विशेष जानकारी के लिए **सूयगडो**, २।२।६२ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

आगल को ऊंचा और दरवाजे को खुला रखने वाले—'उन श्रमणोपासकों का अन्तःकरण उन्नत और स्फटिक की भांति निर्मल स्वच्छ है। तात्पर्य की भाषा में जिन-प्रवचन की प्राप्ति के कारण वे परितुष्ट मनवाले हैं।' यह वृद्ध-व्याख्या है। यहां 'वृद्ध' शब्द के द्वारा अभयदेवसूरि का संकेत सूत्रकृतांग के वृत्तिकार शीलाकाचार्य की ओर प्रतीत होता है। शीलाकाचार्य ने सूत्रकृतांग की वृत्ति में उसियफलिते की यही व्याख्या की है।^२ वृत्तिकार ने इसके दो विकल्प और उद्धृत किए हैं—

१. वे श्रावक अपने घरों के द्वार की आगल को ऊंचा रखते हैं।

२. अपनी अतिशय उदारता के कारण वे गृहद्वार के आगल रखते ही नहीं, किवाड़ सदा खुला रखते हैं।^३

वृत्तिकार ने किवाड़ खुले रखने के दो कारण बतलाए हैं। उन्हें सदर्शन प्राप्त हुआ है, इसलिए किसी अन्य सम्प्रदाय से उन्हें कोई भय नहीं है; इसलिए वे खुले द्वार रहते हैं—यह वृद्ध-व्याख्या है। दूसरा मत यह बतलाया है—उदारता की दृष्टि से वे किवाड़ खुला रखते हैं।^४

आगल को ऊंचा और किवाड़ को खुला रखने का कारण सूत्रकृतांगचूर्णि में निर्दिष्ट है, वह आगम-परम्परा के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है—जैन श्रमणों की यह मर्यादा है कि वे बन्द किवाड़ को खोल नहीं सकते और खुले किवाड़ों को बन्द नहीं कर सकते। दसवेआलियं का कथन है—**कवाडं णो पणोत्तेज्जा**।

दूसरी बात है—घर में बार-बार आने-जाने वाले लोग किवाड़ को खोलते हैं या बन्द करते हैं, तो उससे जीवों की विराधना होती

१. औ.वृ.पृ.१८८; राज.वृ.पृ.२६०—अविद्यमानसाहाय्यः, कुतीर्थिकप्रेरितः सम्यक्त्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते।

२. म.वृ.२।६४—तत्र देवा—वैमानिकाः 'असुरे'ति असुरकुमाराः 'नाग'ति नागकुमाराः, उभयेऽथमी भवनपतिविशेषाः, 'सुवर्ण'ति सवर्णाः ज्योतिष्काः यक्षराक्षसकिन्नरकिंपुरुषाः व्यन्तरविशेषाः 'गरुड'ति गरुडध्वजाः सुपर्ण-कुमाराः—भवनपतिविशेषाः गन्धर्वा महोरगाश्च—व्यन्तरविशेषाः।

३. वही, २।६४—अस्थीनि च—कीकसानि भिज्जा च—तन्मध्यवर्ती धातु-रस्थिभिज्जास्ताः प्रेमानुरागेण—सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भादिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा, अथवाऽस्थिभिज्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा।

४. द्रष्टव्य, सू.२।२।७१ का टिप्पण।

५. म.वृ.२।६४—'ऊसियफलिते'ति उच्छ्रितम्—उन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं

चित्तं येषां ते उच्छ्रितस्फटिकाः मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमानसा इत्यर्थ इति वृद्धव्याख्या, अन्ये त्वाहुः—उच्छ्रितः—अर्गलास्थानादपनीयोद्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्मागादपनीत इत्यर्थः, परिघः—अर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिघाः अथवोच्छ्रितो—गृहद्वारादपगतः परिघो येषां ते उच्छ्रित-परिघाः, औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकाणां गृहप्रवेशनार्थ-मनर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थः।

६. वही, २।६४—'अवंगुयदुबारे'ति अप्रावृतद्वाराः—कपाटादिभिरस्यगित-गृहद्वारा इत्यर्थः, सदर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाषण्डिकाद् बिम्प्यति, शोभन-मार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या। अन्ये त्वाहुः—भिक्षुकप्रवेशार्थमीदर्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः।

७. दसवे.५।१।१८।

है। अतः श्रावक आगलों को ऊंचा कर अपने घर के मुख्य द्वार को तथा कोठे आदि के किंबाड़ को सदा खुला रखते हैं।

अन्तःपुर और दूसरों के....प्रवेश करने वाले—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—श्रावक अपनी धार्मिकता के कारण इतना विश्वसनीय हो जाता है कि उसका अन्तःपुर और परघर में प्रवेश अभिमत है, बिना रोकटोक हो सकता है। इसका दूसरा अर्थ है कि उनके अन्तःपुर और घर में शिष्ट जन का प्रवेश सम्मत है। इसके द्वारा उनकी ईर्ष्या-मुक्त प्रवृत्ति की सूचना दी गई है। तीसरा अर्थ है कि उन्होंने अन्तःपुर और परघर में जैसे-तैसे प्रवेश करना वर्जित किया है। इनमें पहला अर्थ अधिक प्रासंगिक है।

चतुर्दशी, अष्टमी....अनुपालन करनेवाले—श्रमणोपासकों के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पीषधोपवास करने का उल्लेख महत्वपूर्ण है। प्रतिपूर्ण पीषधोपवास करने वाले चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करते हैं, उपवास में जल भी नहीं लेते। पूरे दिन और रात धर्म की आराधना में लीन रहते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र, शरीर-शास्त्र और विज्ञान के सन्दर्भ में यदि हम इनका समाधान खोजें, तो सही समाधान मिल सकता है।

शरीर-शास्त्र के अनुसार हमारे शरीर में बहत्तर प्रतिशत पानी है। पानी का संबन्ध चन्द्रमा से है।

ज्योतिष-शास्त्र में मन का कारक चन्द्रमा है। चन्द्रमा के आधार पर ही ज्योतिषी जातक के मन की स्थिति का विश्लेषण करते हैं।

"चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का निकटवर्ती ग्रह है। पृथ्वी पर स्थित पानी पर उसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। चन्द्र-दिवस के अनुसार समुद्र में ज्वार-भाटे का समय बदलता रहता है।

"शुक्ल पक्ष की पञ्चमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा कृष्ण पक्ष की पञ्चमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या के दिन चन्द्रमा पृथ्वी और शरीर के ठीक सामने आता है। उस समय समुद्र और हमारे शरीर का पानी उछाल मारता है। इन पर्व-तिथियों में इधर शरीर का पानी उछाल मारता है, उधर हरी वनस्पति जिसमें नब्बे प्रतिशत पानी होता है, का सेवन करने से शरीर में जल-तत्त्वों की वृद्धि हो जाती है और अग्नि-तत्त्व मन्द पड़ने से शरीर में वायु-रोग बढ़ता है। वायु जब मस्तिष्क में पहुँचता है तो उसके कारण मनुष्यों में उन्माद उत्पन्न होता है।

'शिकागो के एक वैज्ञानिक ने सिद्ध किया है कि मस्तिष्क

के रोगों पर चन्द्रमा का असर होता है। पूर्णिमा तथा अमावस्या के दिन चन्द्रमा का सर्वाधिक प्रबल प्रभाव होता है।"

भगवती तथा जीवाजीवाभिगमे में बताया है कि लवण समुद्र चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा या अमावस्या और पूर्णिमा को अतिरेक-अतिरेक बढ़ता है और घटता है।

लगता है, इसीलिए भगवती में जैन श्रावकों के लिए चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा या अमावस्या को केवल धर्म की आराधना करने का विधान किया गया है। इन दिनों में उपवास को निर्जल करना चाहिए। शरीर में जल-तत्त्वों की अधिक वृद्धि न हो, इसीलिए निर्जल उपवास का विधान किया गया है। उत्तरकाल में पर्व-तिथियों में हरियाली का वर्जन करने की परम्परा प्रचलित हुई।

पर्व-तिथियों में जो उपवास किया जाता है वह पीषधोपवास कहलाता है। पर्व-तिथियों में एक दिन-रात आहार, शरीर-सत्कार आदि का त्याग कर ब्रह्मचर्य-पूर्वक जो धर्माधना की जाती है, उसे 'प्रतिपूर्ण पीषध' कहा जाता है।

विशेष जानकारी के लिए उत्तरज्योतिषाणि, ५।२३ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

औषध—वह दवा जिसमें एक ही द्रव्य हो।

भैषज्य—वह दवा जिसमें अनेक द्रव्यों का मिश्रण हो।

शील—शील शब्द शील-समाधी धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है 'समाधान'। आगम के व्याख्या-साहित्य में इसके अनेक अर्थ किए गए हैं। श्रावक के बारह व्रतों में पांच अणुव्रत हैं, शेष सात शीलव्रत कहलाते हैं।

यहां 'गुण' शब्द का प्रयोग पृथक् किया गया है, इसलिए 'शील' शब्द के द्वारा चार शिक्षाव्रत ग्रहणीय हैं।

शील—चार शिक्षाव्रत।

व्रत—पांच अणुव्रत।

गुण—तीन गुणव्रत।

वृत्तिकार ने शीलव्रत का अर्थ अणुव्रत किया है।

विरमण—यथोचित राग आदि की निवृत्ति, इन्द्रिय-विषयों का यथाशक्य परित्याग।

प्रत्याख्यान—नमस्कार-सहिता, पीरुषी आदि का संकल्प।

पीषध—पर्व-दिन में विशेष अनुष्ठान या आराधना करना।

१. सूत्र.वृ.पृ.३६८,३६९, द्रष्टव्य, सू.२।२।७२ का टिप्पण।

२. भ.वृ.२।६४—'चियत्तो'ति लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वज्ञानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः। अन्येत्वाहुः—'चियत्तो'ति नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः—शिष्टजनप्रवेशानं येषां ते तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्स्य विशेषणमिति। अथवा 'चियत्तो'ति त्यक्तोन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो यैस्ते तथा।

३. तन्दुरुस्ती आपके हाथ में (एक्युप्रेशर पद्धति),पृ.७४ से ७६।

४. (क) भ.३।१५२—लवणसमुद्रे चाउसद्गुदिद्गुपुण्णमासिणीसु अतिरेगे वद्दइ वा?

हायइ वा ?

(ख) जीवा.३।७९६—एवं खलु गोयमा लवणसमुद्रे चाउसद्गुदिद्गुपुण्णमासिणीसु अतिरेगे अतिरेगे वद्दइ वा हायति वा।

५. द्रष्टव्य, अभिधान राजेन्द्र कोश, 'शील' शब्द।

६. चारित्रसार,१३।६—'गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते।' द्रष्टव्य, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 'शील' शब्द।

७. भ.वृ.२।६४—शीलव्रतानि—अणुव्रतानि।

६५. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावधिञ्जा
थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना
बलसंपन्ना रुवसंपन्ना विणयसंपन्ना नाण-
संपन्ना दंसणसंपन्ना चरित्तसंपन्ना लज्जासंपन्ना
लाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी
जियकोहा जियमाणा जियमाया जियतोभा
जियनिहा जिइंदिया जियपरीसहा जीवि-
यास-मरण-भयविप्पमुक्का तवप्पहाणा गुण-
प्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा निग्ग-
हप्पहाणा निच्छयप्पहाणा मद्दवप्पहाणा
अज्जवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा
मुत्तिप्पहाणा विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा
वेयप्पहाणा बंमप्पहाणा नयप्पहाणा निय-
मप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोयप्पहाणा चारु-
पणा सोही अणियाणा अप्पुसुया
अबहिल्लेसा सुसामण्णया अच्छिद्-
पसिणवागणा कुत्तियावणभूया बहुसुया
बहुपरिवारा पंचहिं अणगारसपहिं सद्धिं
संपरिवुडा अहाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं
दूइज्जमाणा सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव
तुंगिया नगरी जेणेव पुप्फवइए चेइए तेणेव
उवागच्छंति, उवागच्छिता अहापडिरुवं
ओगहं ओगिण्हित्ता षं संजमेणं तवसा
अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये पार्थापत्नीयाः
स्थविराः भगवन्तः जातिसम्पन्नाः कुलसम्पन्नाः
बलसम्पन्नाः रूपसम्पन्नाः विनयसम्पन्नाः ज्ञान-
सम्पन्नाः दर्शनसम्पन्नाः चारित्रसम्पन्नाः लज्जा-
सम्पन्नाः लाघवसम्पन्ना ओजस्विनः तेजस्विनः
वर्चस्विनः यशस्विनः जितक्रोधाः जितमानाः
जितभायाः जितलोभाः जितनिद्राः जितेन्द्रियाः
जितपरीषहाः जीविताशा-मरण-भयवि-
प्रमुक्ताः तपःप्रधानाः गुणप्रधानाः करण-
प्रधानाः चरणप्रधानाः निग्रहप्रधानाः निश्चय-
प्रधानाः मार्दवप्रधानाः आर्जवप्रधानाः लाघव-
प्रधानाः क्षान्तिप्रधानाः मुक्तिप्रधानाः विद्या-
प्रधानाः मन्त्रप्रधानाः वेदप्रधानाः ब्रह्म-
प्रधानाः नयप्रधानाः नियमप्रधानाः सत्य-
प्रधानाः शौचप्रधानाः चारुप्रज्ञाः शोधिनः
अनिदानाः अल्पोत्सुकाः अबहिल्लेश्याः सुश्रा-
मण्यरताः अच्छिद्रप्रश्नव्याकरणाः कुत्रि-
कापणभूताः बहुश्रुताः बहुपरिवाराः पंचभिः
अनगारशतैः सार्द्धं संपरिवृताः यथानुपूर्वि
चरन्तः ग्रामानुग्रामं दवन्तः सुखं सुखेन
विहरन्तः यत्रैव तुङ्गिका नगरी यत्रैव पुष्प-
वतिकः चैत्यः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य
यथाप्रतिरूपम् अवग्रहम् अवगृह्य संयमेन
तपसा आत्मानं भावयन्तः विहरन्ति ।

६५. ^१उस काल और उस समय पार्थापत्नीय स्थविर
भगवान्, जो जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न,
रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न,
चारित्रसम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओज-
स्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोधजयी, मान-
जयी, मायाजयी, लोभजयी, निद्राजयी, जिते-
न्द्रिय, परीषहजयी, जीने की आशंसा और मृत्यु
के भय से मुक्त, तपप्रधान, गुणप्रधान, करण-
प्रधान, चरणप्रधान, निग्रहप्रधान, निश्चयप्रधान,
मार्दवप्रधान, आर्जवप्रधान, लाघवप्रधान, क्षमा-
प्रधान, मुक्तिप्रधान, विद्याप्रधान, मन्त्रप्रधान,
वेदप्रधान, ब्रह्मप्रधान, नयप्रधान, नियमप्रधान,
सत्यप्रधान, शौचप्रधान, चारुप्रज्ञ, पवित्र हृदय
वाले, निदानरहित, उल्लुक्कारहित, आत्मोन्मुखी
भावधारा वाले, सुश्रामण्य में रत, प्रश्न का यथार्थ
उत्तर देने वाले, कुत्रिकापणतुल्य, बहुश्रुत और
बहुत परिवार वाले हैं, वे पांच सौ अनगारों के
साथ स-परिवृत होकर अनुक्रम से परिव्रजन करते
हुए एक ग्राम से दूसरे ग्राम में घूमते हुए सुखपूर्वक
विहरण करते हुए जहां तुंगिका नगरी है, जहां
पुष्पवतिक चैत्य है, वहां आए और आकर प्रवास-
योग्य स्थान की अनुमति लेकर संयम और तप
से अपने आपको भावित करते हुए रह रहे हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ६५

प्रस्तुत सूत्र में स्थविर की विशेषताओं का निरूपण किया गया है। इनसे मुनि के बहु-आयामी व्यक्तित्व का परिचय हो जाता है।

शब्द-विमर्श

स्थविर—श्रुतवृद्ध ।

जातिसम्पन्न—उत्तम मातृपक्षवाला ।

कुलसम्पन्न—उत्तम पितृपक्षवाला ।

लज्जासम्पन्न—लज्जा अथवा संयम से सम्पन्न ।^१

लाघवसम्पन्न—अल्प उपकरण-युक्त । गौरव का त्याग करनेवाला ।^१

ओजस्वी—मनोबल से युक्त ।

तेजस्वी—शरीर-प्रभा से युक्त ।

वर्चस्वी—विशिष्ट प्रभाव-युक्त ।

यशस्वी—ख्यातिमान ।

वृत्तिकार ने वच्चंसी का वैकल्पिक अर्थ 'वचस्वी' (विशिष्ट वचन युक्त) भी किया है।^३

गुणप्रधान—'गुण' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ संयम-गुण किया है।^४ दशवैकालिकचूर्णि में इसका अर्थ 'चारित्र-रक्षा के लिए की जानेवाली भावना' है।^५

चरणप्रधान करणप्रधान—द्रष्टव्य भ. २।५२ का भाष्य ।

१. भ. वृ. २।६५—लज्जा—प्रसिद्धा संयमो वा ।

२. वही, २।६५—लाघवं—द्रव्यतोऽल्पोपधित्वं भावतो गौरवत्यागः ।

३. वही, २।६५—'ओयंसी'ति ओजस्विनो मानसावष्टम्भयुक्ताः 'तेयंसी'ति तेज-
स्विनः शरीरप्रभायुक्ताः 'वच्चंसी'ति 'वर्चस्विनः' विशिष्टप्रभावांपेताः 'वचस्विनो

वा' विशिष्टवचनयुक्ताः 'जसंसी'ति ख्यातिमन्तः अनुस्वारश्चैतेषु प्राकृतत्वात् ।

४. वही, २।६५—गुणाश्च संयमगुणाः ।

५. दशवै. जि. चू. पृ. ३७०—गुणा तैस्ति सारक्खणनिमित्तं भावणाओ ।

निग्रहप्रधान—निग्रह का शाब्दिक अर्थ है निषेध और नियन्त्रण। अनाचार का निषेध करना और अपने इन्द्रिय तथा मन का नियन्त्रण करना—ये दोनों अर्थ यहां संगत हो सकते हैं।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ अन्यायकारी को दण्ड देना किया है।^१

निश्चयप्रधान—१. अवश्यकरणीय का संकल्प, २. तत्त्व का निर्णय।^२

मार्दवप्रधान-आर्जवप्रधान—क्या ये 'जितमान' और 'जितमाय' के पुनरुक्त नहीं हैं ? इस प्रश्न का वृत्तिकार ने बहुत अच्छा समाधान दिया है। उनके अनुसार मान और माया को जीतने का अर्थ है—मान और माया के उदय को विफल कर देना। जबकि 'मार्दवप्रधान' तथा 'आर्जवप्रधान' के द्वारा मान और माया के 'उदय के अभाव' की सूचना दी गई है।^३

लाघवप्रधान—लाघव का अर्थ है—क्रिया की दक्षता।^४

विद्याप्रधान मंत्रप्रधान—विद्या—जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो।

मंत्र—जिसका अधिष्ठाता देव हो।^५

अभयदेवसूरि ने विद्या और मंत्र के वैकल्पिक अर्थ भी दिए हैं—जो साधना-सहित हो, वह विद्या और जो साधना-रहित हो, वह मंत्र।

वेदप्रधान—औपपातिक वृत्ति में वेद के दो अर्थ मिलते हैं—आगम तथा ऋग्वेद आदि वेद।^६

ब्रह्मप्रधान—ब्रह्म के दो अर्थ हैं—वस्ति-निरोध तथा कुशल

६६. तए णं तुंगियाए नयरीए सिंघाडग-तिग-
चउक-चचर-चउम्मुह-महापह-परेसु जाव
एगदिसाभिमुहा निजायति ॥

तस्याः तुङ्गिकायाः नगर्याः शृङ्गाटक-त्रिक-
चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख-महापथ-पथेषु यावत्
एकदिशाभिमुखाः निर्यान्ति ।

६६. उस तुंगिका नगरी के शृङ्गाटकों, तिराहों,
चौराहों, चौहट्टों, चार द्वार वाले स्थानों, राजमार्गों
और मार्गों पर यावत् नागरिक जन एक ही
दिशा के अभिमुख जा रहे हैं।

१. भ.जो.१।४२।१६—

निग्रह-प्रधान जेह, दंड अन्याय करै जसुं।

अनाचार सेवेह तास निषेधी दंड दियै ॥

२. भ.वृ.२।६५—निग्रहः अन्यायकारिणां दण्डः।

३. वही,२।६५—निश्चयः—अवश्यकरणाभ्युपगमस्तात्त्वनिर्णयो वा।

४. वही,२।६५—ननु जितक्रोधादित्वान्मार्दवादिप्रधानत्वमवगम्यत एव तत्किं मार्द-
वेत्यादिना ? उच्यते, तत्रोदयविफलतोक्ता, मार्दवादिप्रधानत्वे तूदयाभाव
एवेति।

५. वही,२।६५—लाघवम्—क्रियासु दक्षत्वम्।

६. भ.जो.१।४२।२४-२६—

विद्या करी प्रधान, ते प्रज्ञासी आदि करि।

देवी साधन जान, अक्षर अनुकेडै तिका ॥

मंत्रे करी प्रधान, हरिणगमेपी प्रमुख ही।

अधिष्ठित सुविधान, तेह तणा पिण जाणमुनि ॥

अथवा विद्या सोय, साधना करी सहित जे।

मंत्र जिको अवलोक्य, साधना करी रहित ते ॥

७. ज्ञाता.वृ.प.८—विद्याः—प्रज्ञात्प्यादिदेवताधिष्ठिता वर्णानुपूर्व्यः, मंत्राः—

अनुष्ठान।^६

नयप्रधान—नैगम आदि सात नय अथवा नीति।^७

नियम—नाना प्रकार के अभिग्रह।^८

शौच—अनवध आचार।^९

चारुप्रज्ञ—प्रज्ञा का अर्थ है—श्रुतनिरपेक्ष ज्ञान अन्तर्दृष्टि।

पवित्र हृदय वाला.....सुश्रामण्य में रत—देखें,भ.२।५५ का
भाष्य।

निश्छिद्र प्रश्नव्याकरण—व्याकरण का अर्थ है—उत्तर या
व्याख्या। निश्छिद्र का अर्थ है—निर्दोष। जिसमें प्रश्न के उत्तर या
व्याख्या की शक्ति निर्दोष होती है अथवा तत्काल उत्तर देने की
शक्ति होती है, वह निश्छिद्र प्रश्न व्याकरणवाला होता है।^{१०}

कुत्रिकापणभूत—'कुत्रिकापण' एक विशिष्ट दुकान का नाम
है। आगम-साहित्य में इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है। भगवान्
महावीर के युग में इस प्रकार की अनेक दुकानें होने का उल्लेख
मिलता है। कुत्रिक के संस्कृत रूप दो मिलते हैं—कुत्रिक और कुत्रिच।
जिस दुकान में स्वर्ग, मनुष्यलोक और पाताल—इन तीनों में होने
वाली सभी वस्तुएं मिलती हैं, उसे 'कुत्रिकापण' कहा जाता है।
जिसमें धातु, जीव और मूल (जड़)—ये तीनों प्रकार के पदार्थ मिलते
हैं, उसे 'कुत्रिजापण' कहा जाता है। स्थविर समीहित अर्थ-सम्पादन
की लब्धि से युक्त अथवा सकल गुणों से युक्त थे; इसलिए उनकी
कुत्रिकापण से तुलना की गई है।^{११}

हरिणगमिष्यादिदेवताधिष्ठितास्ता एव, अथवा—विद्या ससाधनाः, साधन-
रहिताः मंत्राः।

८. (क) औ.वृ.पृ.६३—वेदाः आगमाः ऋग्वेदादयो वा।

(ख) भ.जो.१।४२।२७—

वेद करी सुप्रधान, आगम चिहुं वेदज्ञ वा।

९. राज.वृ.पृ.२८३—ब्रह्मचर्यं वस्तिनिरोधः सर्वमेव वा कुशलानुष्ठानम्।

१०. (क) वही,पृ.२८३—नया नैगमादयः सप्त प्रत्येकं शतविधाः।

(ख) औ.वृ.पृ.६२—नया नीतयः।

११. राज.वृ.पृ.२८३—नियमा विचित्रा अभिग्रहविशेषाः।

१२. राज.वृ.पृ.२८३—द्रव्यतो निर्लेपता, भावतोऽनवद्यसमाचारता।

१३. भ.जो.१।४२।३५।

१४. (क) भ.वृ.२।६५—कुत्रिकं स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणं भूमित्रयं तत्संभवं वस्त्व-
पि कुत्रिकं तत्सम्पादक आपणो हृद्ः कुत्रिकापणस्तद्भूताः समीहितार्थसम्पा-
दनलाभियुक्तत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः।

(ख) अल्पपरिचित शब्दकोश—अथवा धातुजीवमूल—लक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो-
जातं त्रिजं सर्वमपि वस्त्वित्यर्थः, कौ—पृथिव्यां त्रिजमापण्यति— व्यवहरति
यत्र हृद्दे सः कुत्रिजापणः।

भाष्य

१. शृङ्गाटकों मार्गों

'शृङ्गाटक' इत्यादि पदों के लिए द्रष्टव्य है—भ.२।३० का भाष्य।

६७. तए षं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धदुठ समाणा हट्टुतुदुठचित्तमाणंदिया णंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसम्पमाणहियया अण्णमण्णं सदावेत्ति, सदावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चिञ्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना जाव अहापडिरुवं ओम्महं ओगिण्हित्ता णं संजमेणं तवसा अण्णणं भावेमाणा विहरंति ।

तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सबणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पञ्जुवासणयाए ? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सबणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? तं गच्छामो षं देवाणुप्पिया ! थेरे भगवंते वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पञ्जुवासामो। एयं णे पेच्चभवे इहभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति इति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमदुं पडिसुणेत्ति, पडिसुणेत्ता जेणेव सयाइ-सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पहाया कयवलिकम्मा कयकोउय-मंगल-पाय-च्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं बत्याइं पवर परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं-सएहिं गिहोहिंतो पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खयित्ता एगयओ मेलायंति, मेलायित्ता पायविहारचारेणं तुंगियाए नयरीए मज्झमज्जेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता जेणेव पुष्पवतिए चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति, (तं जहा—१. सच्चित्तानं दव्वाणं विओसरणयाए २. अचित्तानं दव्वाणं अविओसरणयाए ३. एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं ४. चक्खुप्फासे अंजलि-प्पग्गहेणं ५. मणसो एगत्तीकरणेणं) जेणेव

ततः ते श्रमणोपासकाः अनया कथया लब्धार्थाः सन्तः हृष्टतुष्टचित्ताः आनन्दिताः नन्दिताः प्रीतिमनसः परमसौमनस्यिताः हर्षवशविसर्पदुहृदयाः अन्योन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा एवमवादिषुः—एवं खलु देवानुप्रियाः! पार्श्वार्थत्वीयाः स्थविरा भगवन्तः जातिसम्पन्नाः यावद् यथाप्रतिरूपं अवग्रहम् अवग्रह संयमेन तपसा आलानं भावयन्तः विहरन्ति ।

तत् महाफलं खलु देवानुप्रियाः ! तथारूपाणां स्थविराणां भगवतां नामगोत्रस्यापि श्रवणस्य, किमंग पुनः अभिगमन-वन्दन-नमस्यन-प्रतिप्रच्छन-पर्युपासनयाः ? एकस्यापि आर्यस्य धार्मिकस्य सुवचनस्य श्रवणस्य, किमंग पुनः विपुलस्य अर्थस्य ग्रहणस्य? तद् गच्छामः देवानुप्रियाः ! स्थविरान् भगवतः वन्दामहे नमस्यामः सत्कारयामः सम्मानयामः कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपासामहे । एतत् नः प्रेत्यभवे इहभवे च हिताय सुखाय क्षमाय निःश्रेयसे आनुगामिकत्वाय भविष्यति इति कृत्वा अन्योन्यस्य अन्तिके एतदर्थं प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य यत्रैव स्वकानि-स्वकानि गृहाणि तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य स्नाताः कृतबलिकर्माणः कृतकौतुक-मंगल-प्रायश्चित्ताः शुद्धप्रवेश्यानि मंगलानि वस्त्राणि प्रवरं परिहिताः अल्पमहाघ्वाभरणालंकृत-शरीराः स्वकेभ्यः-स्वकेभ्यः गृहेभ्यः प्रतिनिष्कामन्ति, प्रतिनिष्कम्य एकतः मिलन्ति, मिलित्वा पादविहारचारेण तुङ्गिकायाः नगर्याः मध्यमध्येन निर्गच्छन्ति, निर्गम्य यत्रैव पुष्पवतिकः चैत्यः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य स्थविरान् भगवतः पंचविधेन अभिगमेन अभिगच्छन्ति, (तद् यथा—१. सचित्तानां द्रव्याणां व्युत्सर्जनतया २. अचित्तानां द्रव्याणां च व्युत्सर्जनतया ३. एकशाटिकेन उत्तरासंगकरणेन ४. चक्षुःस्पर्शं अंजलि-प्रग्रहेण ५. मनसः एकत्वीकरणेन) यत्रैव स्थविराः भगवन्तः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपा-

६७. वे श्रमणोपासक इस कथा को सुनकर हृष्ट-तुष्ट चित्तवाले, आनन्दित, नन्दित, प्रीतिपूर्ण मन वाले, परम सौमनस्य-युक्त और हर्ष से विकस्वर हृदयवाले हो गए। वे परस्पर एक दूसरे को सम्बोधित कर इस प्रकार बोले—देवानुप्रियो ! पार्श्वार्थत्वीय स्थविर भगवान् जो जातिसम्पन्न हैं यावत् प्रवास-योग्य स्थान की अनुमति लेकर संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए रह रहे हैं।

देवानुप्रियो ! तथारूप स्थविर भगवान् के नाम-गोत्र का श्रवण भी महान फलदायक है, फिर अभिगमन, वन्दन, नमस्कार, प्रतिपृच्छ और पर्युपासना का कहना ही क्या ? एक भी आर्य धार्मिक सुवचन का श्रवण महान फलदायक है फिर विपुल अर्थ-ग्रहण का कहना ही क्या ? इसलिए देवानुप्रियो ! हम चलें, स्थविर भगवान् को वन्दन-नमस्कार करें, सत्कार-सम्मान करें। वे कल्याणकारी हैं, मंगल, देव और प्रशस्त चित्तवाले हैं, उनकी पर्युपासना करें। यह हमारे परभव और इहभव के लिए हित, सुख, क्षम, निःश्रेयस् और आनुगामिकता के लिए होगा। ऐसा सोचकर वे परस्पर, इस विषय की प्रतिज्ञा करते हैं, प्रतिज्ञा कर जहां अपने-अपने घर हैं, वहां आते हैं, वहां आकर उन्होंने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक (तिलक आदि), मंगल (दधि, अक्षत आदि) और प्रायश्चित्त किया, शुद्ध प्रवेश्य (सभा में प्रवेशोचित) मांगलिक वस्त्रों को विधिवत् पहना। अल्पभार और बहुमूल्य वाले आभरणों से शरीर को अलंकृत किया। (इस प्रकार सज्जित होकर वे) अपने-अपने घरों से निकलकर एक साथ मिलते हैं। एक साथ मिलकर पैदल चलते हुए तुंगिका नगरी के बीचो-बीच निर्गमन करते हैं, निर्गमन कर जहां पुष्पवतिक चैत्य है, वहां आते हैं, वहां आकर पांच प्रकार के अभिगमों से स्थविर भगवान् के पास जाते हैं। (जैसे— १. सचित्त द्रव्यों को छोड़ना २. अचित्त द्रव्यों को छोड़ना, ३. एक शाटकवाला उत्तरासंग करना ४. दृष्टिपात होते

येरा भगवंतो तेनेव उवागच्छंति,
उवागच्छिता तित्स्कुतो आयाहिण-पयाहिणं
करेति, करेता बंदति नमंसंति, बंदिता
नमंसित्ता तिविहाए पञ्जुवासणाए पञ्जु-
वासंति ॥

गम्य त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां कुर्वन्ति, कृत्वा
वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा त्रिवि-
धया पर्युपासनया पर्युपासते ।

ही बद्धाञ्जलि होना ५. मन को एकाग्र करना)
जहां स्थविर भगवान हैं वहां आते हैं। आकर
दायीं ओर से प्रारम्भ कर तीन बार प्रदक्षिणा करते
हैं। प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार करते हैं।
वन्दन-नमस्कार कर तीन प्रकार की पर्युपासना के
द्वारा पर्युपासना करते हैं।

भाष्य

१. हित.... आनुगामिकता

हित आदि पदों के लिए द्रष्टव्य है—भ.२।३० का भाष्य।

२. बलिकर्म

यह स्नान के अनन्तर की जानेवाली क्रिया है। वृत्तिकार ने
इसका अर्थ अपने गृह-देवता की पूजा किया है।^१ निशीथभाष्य-वृषि
में चावल आदि से अल्पना करने को बलिकर्म कहा गया है।^२

अंगुत्तरनिकाय में बलि के पांच प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. ज्ञातिबलि २. अतिथिबलि ३. पूर्वप्रेतबलि ४. राजबलि
५. देवता-बलि।^३

मनुस्मृति में भी बलिप्रकरण में महर्षि, पितर, देव, भूत और
अतिथि—इन पांच प्रकारों का निर्देश मिलता है।

बलि का अर्थ पूजा है, किन्तु स्नान के पश्चात् बलिकर्म का
अर्थ घटित नहीं होता। पुष्करिणी में स्नान किया, वहां भी बलिकर्म
करने का उल्लेख है।^४ वहां कुलदेवता की पूजा कैसे हो सकती है?
यहां 'बलि' का अर्थ 'जलाञ्जलि' देना हो सकता है। इसका दूसरा
अर्थ—'ललाट पर रेखा खींचना' भी किया जा सकता है।^५ जयाचार्य
ने 'बलिकर्म' शब्द की विस्तृत मीमांसा की है।^६

३. कौतुक

'कौतुक' शब्द कुतूहल, उत्सव, अपचय आदि अनेक अर्थों में

प्रयुक्त होता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ काजल का तिलक किया
है।^७ दृष्टिदोष आदि से बचने के लिए काजल का तिलक करने की
प्रथा थी। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'ललाट से मुशल का स्पर्श
करवाना' किया है।^८

द्रष्टव्य, उत्तरञ्जयणाणि, २२।६ का टिप्पण।

कौतुक के अर्थ में कौडहल शब्द का भी प्रयोग मिलता है।
उसका अर्थ है पुत्र-प्राप्ति के लिए स्नान आदि करना।^९

सौभाग्य आदि के निमित्त स्नान करना या करवाना कौतुक
कहलाता है।^{१०}

४. मंगल

सरसों, दही, अक्षत, दूर्वा, अंकुर आदि का प्रयोग करने को
मंगल कहा जाता है।^{११}

५. प्रायश्चित्त

कौतुक और मंगल ये चक्षुदोष आदि के निवारण के लिए
किये जाते हैं। इसलिए कौतुक और मंगल का प्रयोग प्रायश्चित्त
कहलाता है। वृत्तिकार ने एक मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके
अनुसार पाददुष्म पाठ व्याख्यात होता है।^{१२} तात्पर्यार्थ में कोई मौलिक
अन्तर नहीं है।

१. भ.वृ.२।६७—'कयबलिकम्'ति स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म यैः स्वगृहदेवतानां
ते तथा ।

२. निशीथ भा.गा.२०४ की चू.—बलिकरणंकूरा तिणा बलिकडा ।

३. अंगुत्तरनिकाय,पञ्चक निपातो, मुण्डराजवग्गो, आदियसुत्तं, ५।५।१, पृ.३११
—पुन च परं,गहपति, आरियसावको उट्टानविरियाधिगतेहि भोगेहि बाहा-
बलपरिचितेहि....पञ्चबलिं कत्ता होति। ज्ञातिबलिं, अतिथिबलिं,
पुष्पपेतबलिं, राजबलिं, देवताबलिं—अयं चतुर्व्यो भोगानं आदियो ।

४. मनुस्मृति, ३।८०—

ऋषयः पितरो देवा, भूतान्यतिययस्तथा ।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥

५. नाया.१।२।१४।

६. आपटे.—बलिक्रिया—line on the forehead.

७. भ.जो.१।४३।१-४६।

८. भ.वृ.२।६७—कौतुकानि—यथीतिलकादीनि ।

९. उत्तरा.बृ.वृ.प.४६०—कौतुकानि ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि ।

१०. (क) उत्तर.२०।४५—

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे,

निमित्तकोऊहल संपगाढे ।

(ख) उत्तरा.बृ.वृ.प.४७६—कौतुकं च अपत्याधर्थं न्नपनादि ।

११. स्या.वृ.प.२६१—रक्षादिकरणेन कौतुककरणेन—सौभाग्यादिनिमित्तं परस्त्र-
पनकादिकरणेनेति ।

१२. भ.वृ.२।६७—मंगलानि तु—सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि ।

१३. वही, २।६७—'कयकोउयमंगलपावच्छित्त'ति कृतानि कौतुकमंगलान्येव
प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहुः
—'पायच्छित्त'ति पादेन पादे वा क्षुसाश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुताः कृत—
कौतुकमंगलाश्च ते पादच्छुताश्चेति विग्रहः ।

६. शुद्ध प्रवेश्य

वृत्तिकार ने इसके (शुद्धपावेस के) दो संस्कृत रूप दिए हैं—शुद्धात्मवैष्य और शुद्धप्रवेश्य। शुद्धात्मवैष्य का अर्थ है—शुद्ध आत्मा के लिए वेपोचित। शुद्धप्रवेश्य का अर्थ है—सभाप्रवेशोचित वेश।

७. प्रवर

यह क्रियाविशेषण विभक्तिरहित पद है। वृत्तिकार ने पउराइ—इस पाठान्तर का उल्लेख किया है।

८. अभिगमों

अभिगम के ज्ञानपरक और गमनपरक दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं। अभिगम—ज्ञान, विस्तृत बोध और बोधिताम—ये ज्ञान-परक अर्थ हैं।

प्रतिपत्ति, विनयप्रतिपत्ति, विनयविधि का समाचरण—ये गति-परक अर्थ हैं। प्रस्तुत प्रकरण में अभिगमन का अर्थ विनय की प्रतिपत्ति है। उसके पांच अंग होते हैं, जिनका सूत्र में उल्लेख है। इनमें पहले दो हैं—

१. सचित्त द्रव्य का व्युत्सर्ग

२. अचित्त द्रव्य का अव्युत्सर्ग

यह 'अव्युत्सर्ग' शब्द चिन्तनीय है। वृत्तिकार ने अवि-ओसरणयाए का अर्थ 'वस्त्र, अंगूठी आदि का अत्याग' किया है।

वस्त्र आदिका त्याग न करना स्वाभाविक है—उसका अभिगमन के अंग के रूप में उल्लेख किस लिए आवश्यक है?—यह प्रश्न सहज ही उभरता है। ज्ञाता की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने एक वैकल्पिक पाठ का उल्लेख किया है। उसका अर्थ है छत्र, चामर आदि का व्युत्सर्ग। यह वैकल्पिक पाठ और उसका अर्थ संगत प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'अविओसरणयाए' पाठ सही प्रतीत नहीं होता। यहां 'अ' शब्द 'च' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'च' व्यञ्जन का लोप होने पर अकार शेष रहता है। इसका अर्थ है 'अपि' (भी)। इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ होगा—अचित्त द्रव्यों का भी व्युत्सर्ग। अभिगम के समय जैसे सचित्त पुष्पमालाएं आदि का व्युत्सर्ग किया जाता था, वैसे ही छत्र-चामर आदि का भी व्युत्सर्ग किया जाता था।

६. उत्तरासंग

उत्तरीय वस्त्र का विशेष विधि से न्यास करना, जिस प्रकार पूजा के समय उत्तरीय ओढ़ा जाता है।

६८. तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं सम-
णोवासयाणं तीसे महइमहालियाए महच्च-
परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेत्ति, तं
जहा—

सब्बाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सब्बाओ
मुसावायाओ वेरमणं, सब्बाओ अदिण्णा-
दाणाओ वेरमणं, सब्बाओ बहिद्धादाणाओ
वेरमणं ॥

ततः ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणो-
पासकानां तस्यै महातिमहत्त्यै महार्चपरिषदे
चातुर्यामिं धर्मं परिकथयन्ति, तद् यथा—

सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, सर्वस्मात्
मृषावादाद् विरमणम्, सर्वस्माद् अदत्तादानाद्
विरमणम्, सर्वस्माद् बहिस्तादादानाद् विर-
मणम् ।

६८. वे स्थविर भगवान् उन श्रमणोपासकों को उस
विशालतम ऐर्ध्वशाली परिषद् में चातुर्याम धर्म
का उपदेश करते हैं, जैसे—

सर्वप्राणातिपात से विरत होना, सर्व मृषावाद से
विरत होना, सर्व अदत्तादान से विरत होना, सर्व
बाह्य आदान (परिग्रह) से विरत होना ।

६९. तए णं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं
अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हइतुइ जाव
हरिसवसविसप्यमाणहियया तिक्खुत्तो
आयाहिण-पयाहिणं करेत्ति, करेत्ता एवं
वयासी—संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे
किंफले ?

ततः ते श्रमणोपासकाः स्थविराणां भगवताम्
अन्तिके धर्मं श्रुत्वा निश्चयं हृष्टतुष्टाः यावत्
हर्षवशविसर्पद्हृदयाः त्रिः आदक्षिण-प्रदक्षिणां
कुर्वन्ति, कृत्वा एवमवादिषुः—संयमः
भदन्त! किंफलः ? तपः किंफलम् ?

६९. वे श्रमणोपासक भगवान् स्थविरों के पास
धर्म सुनकर, अवधारण कर, हृष्ट-तुष्ट चित्त वाले
हो गए यावत् हर्ष से उनका हृदय विकस्वर हो
गया। वे दायीं ओर से प्रारम्भ कर तीन बार
प्रदक्षिणा करते हैं, प्रदक्षिणा कर इस प्रकार
बोले—भन्ते! संयम का फल क्या है ? तपस्या
का फल क्या है ?

१००. तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए
एवं वयासी—संजमे णं अज्जो ! अण-
ण्हयफले, तवे वोदाणफले ॥

ततः ते स्थविराः भगवन्तः तान् श्रमणो-
पासकान् एवमवादिषुः—संयमः आर्याः !
अनास्रवफलः, तपः व्यवदानफलम् ।

१००. वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों से इस
प्रकार बोले—आर्या ! संयम का फल है अनास्रव
और तप का फल है व्यवदान—निर्जरा ।

१. म.वृ.२।६७—शुद्धात्मनां वैष्णानि—वेपोचितानि अथवा शुद्धानि च तानि
प्रवेश्यानि च—राजादिसभाप्रवेशोचितानि शुद्धप्रवेश्यानि ।

२. वही,२।६७—'वत्याइ पवराइ परिहिय'त्ति कचिद् दृश्यते 'वत्याइ पवरपरि-
हिय'त्ति, तत्र प्रथमपाठो व्यक्तः, द्वितीयस्तु प्रवरं यथा भवत्येवं परिहिताः

प्रवरपरिहिताः ।

३. वही,२।६७—वस्त्रमुद्रिकादीनाम् 'अविओसरणयाए'त्ति अत्यागेन ।

४. ज्ञाता.वृ.प.५०।

५. म.वृ.२।६७—उत्तरासंगः—उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः ।

१०१. तए णं ते समणोवासया येरे भगवंते एवं वयासी—जइ णं भंते ! संजमे अण-ण्हयफले, तवे वोदाणफले ! किंपत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववजंति ?

१०२. तत्थ णं कालियपुत्ते नामं येरे ते सम-णोवासए एवं वयासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववजंति । तत्थ णं मेहिले नामं येरे ते समणोवासए एवं वयासी—पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देव-लोएसु उववजंति । तत्थ णं आणंदरक्खिए नामं येरे ते समणोवासए एवं वयासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववजंति । तत्थ णं कासवे नामं येरे ते समणोवासए एवं वयासी—संगियाए अज्जो ! देवा देव-लोएसु उववजंति । पुव्वतवेणं, पुव्वसंजमेणं, कम्मियाए, संगि-याए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववजंति । सच्चे णं एस अडे, नो चैव णं आयभाव-क्तव्वयाए ॥

ततः ते श्रमणोपासकाः स्थविरान् भगवतः एवमवादिषुः—यदि भदन्त ! संयमः अनान्न-वफलः, तपः व्यवदानफलम् । किंप्रत्ययं भदन्त ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते ?

तत्र कालिकपुत्रः नाम स्थविरः तान् श्रमणो-पासकान् एवमवादीत्—पूर्वतपसा आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । तत्र मेहिलः नाम स्थविरः तान् श्रमणोपासकान् एवमवादीत्—पूर्वसंयमेन आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । तत्र आनन्दरक्षितः नाम स्थविरः तान् श्रमणोपासकान् एवमवादीत्—कर्मितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । तत्र काश्यपः नाम स्थविरः तान् श्रमणो-पासकान् एवमवादीत्—संगितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । पूर्वतपसा, पूर्वसंयमेन, कर्मितया, संगितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । सत्यो-ऽयमर्थः, नो चैव आलभाववक्तव्यतया ।

१०१. वे श्रमणोपासक भगवान् स्थविरों से इस प्रकार बोले—‘भन्ते ! यदि संयम का फल अना-न्नव है और तप का फल व्यवदान है, तो देव देवलोक में किस कारण से उपपन्न होते हैं ?

१०२. कालिकपुत्र नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—आर्यों ! पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । मेहिल (अथवा मैथिल) नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—आर्यों ! पूर्वकृत संयम से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—आर्यों ! कर्म की सत्ता से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । काश्यप नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—आर्यों ! आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । आर्यों ! पूर्वकृत तप, पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । यह अर्थ सत्य है । अहंमानिता के कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है ।

भाष्य

१. सूत्र ६६-१०२

प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् पार्श्व द्वारा सम्मत दो तत्त्वों—संवर और निर्जरा की घर्षा हुई है। भगवान् महावीर ने उस दो अंगवाले धर्म का समर्थन किया है। धर्म के दो तत्त्व हैं—संयम और व्यवदान। संयम के द्वारा कर्म का निरोध होता है और व्यवदान के द्वारा कर्म की निर्जरा होती है।

ये दोनों स्वर्गोत्पत्ति के कारण नहीं हैं, फिर कोई जीव स्वर्ग में कैसे उत्पन्न होता है ? उसका कोई कारण है या निष्कारण ही पैदा होता है ? इस प्रश्न के समाधान में चार स्थविरों ने चार उत्तर दिए हैं—पूर्व तप, पूर्व संयम, कर्मिता और संगिता।

इन चारों में एक संगति है। चारों के समवाय से एक उत्तर

बनता है। पूर्व तप का अर्थ है—सराग अवस्था में होने वाला तप और पूर्व संयम का अर्थ है—सराग अवस्था में होनेवाला संयम। इन दो उत्तरों का तात्पर्यार्थ यह है कि वीतराग संयम और वीतराग तप की अवस्था में स्वर्गोत्पत्ति के हेतुभूत आयुष्य का बंध नहीं होता, वह सराग संयम और सराग तप की अवस्था में होता है। छठे, सातवें गुणस्थान में होता है, इसीलिए तप और संयम के साथ ‘पूर्व’ शब्द को जोड़ा गया है। मुख्यतया स्वर्गोत्पत्ति के दो हेतु हैं—कर्मिता और सङ्गिता। तप से कर्म की निर्जरा होती है और संयम से कर्म का निरोध होता है। इन दोनों से आयुष्य कर्म का बंध नहीं होता। उसके बंध के दो कारण हैं—कर्म का अस्तित्व और संग (राग) का अस्तित्व।^१ जो जीव वर्तमान जन्म में मुक्त होने

१. (क) म.वृ.२।१०१—कः प्रत्ययः—कारणं यत्र तत् किंप्रत्ययं ? निष्कारणमेव देवा देवलोकेषुपद्यन्ते तपःसंयमयोरुक्तनीत्या तदकारणत्वादित्यभिप्रायः ।

(ख) म.जो.१।४३।६३—

संयमं सूं आवता कर्म रोकै, तपं सूं पूर्व कर्म खपाय ।

स्वर्गं तणां कारणं नहिं दोनुं, तिणं सूं निःकारणे स्वर्गं जाय ॥

२. म.वृ.२।१०२—‘पुव्वतवेणं’ति पूर्वतपः—सरागावस्थाभावि तपस्या, वीतरागावस्थाऽपेक्षया सरागावस्थायाः पूर्वकालभावित्वात्, एवं संयमोऽपि

अवधाख्यातचारित्रमित्यर्थः । ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वा-वाप्तिः, रागांशस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् । ‘कम्मियाए’ति कर्म विधत्ते यस्यासी कर्मा तद्भावस्तथा कर्मितया । अन्ये त्वाहुः—कर्मणां विकारः कारिका तथा-ऽक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः । ‘संगियाए’ति सङ्गो यस्यास्ति स सङ्गी तद्भावस्तथा, ससङ्गो हि ब्रह्मादिषु संयमादियुक्तेऽपि कर्म बध्नाति, ततः सङ्गितया देवत्वावाप्तिरिति । आह च—

पुव्वतवसंजमा होति रागिणो पच्छिमा अरागस ।

रागो संगो वुत्तो संगो कम्मं भवो तेणं ॥

वाला नहीं है, उसके संसार में अवस्थित रहने योग्य कर्म शेष हैं, वह पुनर्जन्म के लिए आयुष्य कर्म का बन्ध करता है। इस दृष्टि से देवत्व-प्राप्ति का एक हेतु कर्म का अस्तित्व बनता है। प्रश्न पूछा गया—देव के आयुष्य का बंध किस कर्म के उदय से होता है ? उत्तर दिया गया—वह शरीरप्रयोग नाम कर्म के उदय से होता है। कर्मबंध का मूल कारण है—शरीरप्रयोग नाम कर्म का उदय। इसके अतिरिक्त देवगति-योग्य कर्म बंधने के हेतु चार बतलाए गये हैं—

१. सराग संयम २. संयमासंयम ३. बालतपःकर्म ४. अकाम निर्जरा। ये चारों देवगति के आयुष्य-बंध के हेतु हैं। उसके बंध का कारण (साधकतम साधन या साक्षात् कारण) है—शरीरप्रयोग नाम कर्म का उदय।

१०३. तए णं ते समणोवासया धेरिहं भगवंतेहि इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हइतुइया धेरे भगवंते वंदंति नमंसंति, पसिणाइं पुच्छंति, अइयाइं उवादिदंति, उवादिपत्ता जामेव दिंसि पाउब्भूया तामेव दिंसि पडिगया ॥

ततः ते श्रमणोपासकाः स्थविरैः भगवद्भिः इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकृताः सन्तः हृष्टतुष्टाः स्थविरान् भगवतः वन्दन्ते नमस्यन्ति, प्रश्नान् पृच्छन्ति, अर्थान् उपाददन्ति, उपादाय यस्याः एव दिशः प्रादुर्भूताः तस्यामेव दिशि प्रतिगताः।

१०३. वे श्रमणोपासक भगवान् स्थविरों से ये इस प्रकार के उत्तर सुनकर हृष्ट-तुष्ट हो भगवान् स्थविरों को वन्दन-नमस्कार करते हैं, प्रश्न पूछते हैं, अर्थ ग्रहण करते हैं, ग्रहण कर जिस दिशा से आए, उसी दिशा में लौट जाते हैं।

१०४. तए णं ते थेरा अण्णया कयाइं तुंगियाओ नयरीओ पुप्फवतियाओ चेइयाओ पडिनिग्गच्छंति, बहिया जणवयविहारं विहरंति ॥

ततः ते स्थविराः अन्यदा कदाचित् तुङ्गिकायाः नगर्याः पुष्पवतिकाच्च चैत्यात् प्रतिनिर्गच्छन्ति, बहिः जनपदविहारं विहरन्ति।

१०४. किसी दिन वे स्थविर तुंगिका नगरी के पुष्पवतिक चैत्य से लौट जाते हैं, बाह्य जनपदों में विहार करते हैं।

१०५. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्या—सामी समोसदे जाव परिसा पडिगया ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहः नाम नगरम् आसीत्। स्वामी समवहृतः यावत् परिषद् प्रतिगता।

१०५. उस काल और उस समय राजगृह नामक नगर था। वहाँ भगवान् महावीर पधारे यावत् परिषद् आई और लौट गई।

१०६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे जाव संखित्तविपुलतेयलेस्से छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य ज्येष्ठः अन्तेवासी इन्द्रभूतिः नाम अनगारः यावत् संक्षित्तविपुलतेजोलेश्यः षष्ठ्यष्टेन अनिक्षित्तेन तपःकर्मणा संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति।

१०६. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् विपुल तेजो लेश्या को अन्तर्लीन रखने वाले बिना विराम षष्ठभक्त तपःकर्म तथा संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए रह रहे हैं।

१०७. तए णं भगवं गोयमे छट्ठवखमणपारणांसि पढमाए पोरिसीए सज्जायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तिंयं

ततः भगवान् गौतमः षष्ठक्षपणपारणके प्रथमायां पौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, द्वितीयायां पौरुष्यां ध्यानं ध्यायति, तृतीयायां पौरुष्यां अत्वरितमचपलमसंभ्रान्तः मुखपोतिकां प्रति-

१०७. भगवान् गौतम षष्ठभक्त के पारणा में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं, द्वितीय प्रहर में ध्यान करते हैं, तृतीय प्रहर में त्वरता- चपलता- और संभ्रम-रहित होकर मुखचक्रिका का प्रतिलेखन

१. (क) भ. ८।४२८।

(ख) ठाणं, ४।६२६।

(ग) ओवा.सू.७३।

२. भ.वृ.२।१०१—'दाप' लवने अथवा 'दैप' शोधने' इति वचनाद्। व्यवदानं—पूर्वकृतकर्मचरणगहनस्य लवनं प्राक्कृतकर्मकचवरशोधनं वा फलं यस्य

तद्व्यवदानफलं तप इति।

३. वही, २।१०२—आत्मभाव एव—स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो—वाच्योऽभिमानाद्येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव—आत्मभाववक्तव्यता—अहंमनिता तथा।

पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता भायणवत्थाइं
पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता भायणाइं पमज्जइ,
पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहेत्ता
जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता
एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुभेहिं
अब्भणुण्णाए समाणे छइक्खमणपारणांसि
रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्जिमाइं कुलाइं
घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ताए ।
अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ॥

लिखति, प्रतिलिख्य भाजनवस्त्राणि प्रति-
लिखति, प्रतिलिख्य भाजनानि प्रमार्जयति,
प्रमार्ज्य भाजनानि उद्गृह्णाति, उद्गृह्य यत्रैव
श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति,
उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते
नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—
इच्छामि भदन्त ! भवद्भिः अनुज्ञातः सन्
षष्ठक्षपणपारणके राजगृहे नगरे उच्च-नीच-
मध्यमानि कुलानि गृहसमुदानस्य भिक्षाचर्यायै
अटितुम् ।

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् ।

करते हैं, प्रतिलेखन कर पात्र-वस्त्र का प्रतिलेखन
करते हैं प्रतिलेखन कर पात्रों का प्रमार्जन करते
हैं, प्रमार्जन कर पात्रों को हाथ में लेते हैं, लेकर
जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां आते हैं,
आकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार
करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर वे इस प्रकार
बोले—भन्ते ! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर षष्ठभक्त
के पारणा में राजगृह नगर के उच्च, नीच और
मध्यम कुलों की सामुदानिक^१ भिक्षाचर्या के लिए
घूमना चाहता हूँ।

देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, प्रतिबन्ध मत
करो।

भाष्य

१. सामुदानिक

नाना घरों से ली जानेवाली भिक्षा ।^१

१०८. तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया
महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स
भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसि-
लाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनि-
क्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर-
पत्तोयणाए दिइीए पुरओ रिंयं सोहेमाणे-
सोहेमाणे जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवा-
गच्छइ, उवागच्छित्ता रायगिहे नगरे उच्च-
नीय-मज्जिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स
भिक्खायरियं अडइ ।

ततः भगवान् गौतमः श्रमणेन भगवता
महावीरेण अभ्यनुज्ञातः सन् श्रमणस्य भगवतः
महावीरस्य अन्तिकात् गुणशिलाच् चैत्थात्
प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य अत्वरितम-
चपलमसंभ्रान्तः युगान्तरप्रलोकनया दृष्ट्या
पुरतः ईर्या शोधयन्-शोधयन् यत्रैव राजगृहं
नगरं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य राजगृहे
नगरे उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृहसमु-
दानस्य भिक्षाचर्याम् अटति ।

१०८. भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर की
अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमण भगवान् महावीर के पास
से गुणशिल चैत्य से बाहर आते हैं, बाहर आकर
त्वरता-, चपलता और संभ्रम-रहित होकर युग-
प्रमाण भूमि को देखने वाली दृष्टि^१ से ईर्या^२ समिति
का शोधन करते हुए, शोधन करते हुए जहां
राजगृह नगर है वहां आते हैं, आकर राजगृह
नगर के उच्च, नीच और मध्यम कुलों की सामु-
दानिक भिक्षाचर्या के लिए घूमते हैं ।

भाष्य

१. युगप्रमाण भूमि को देखने वाली दृष्टि

युग का अर्थ है—गाड़ी का जुआ । युग-प्रलोकना का अर्थ
है युगप्रमाण भूमि के अन्तर को देखनेवाली । वृत्तिकार ने 'युग' का
अर्थ यूपधयज्ञ का स्तम्भ किया है ।^२

१०९. तए णं भगवं गोयमे रायगिहे नगरे
उच्च-नीय-मज्जिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स
भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्वं निसा-
मेइ—एवं खनु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए
नयरीए बहिया पुष्पवइए चेइए पासाव-

ततः भगवान् गौतमः राजगृहे नगरे उच्च-नीच-
मध्यमानि कुलानि गृहसमुदानस्य भिक्षा-चर्या-
याम् अटन् बहुजनशब्दं निशमयति—एवं
खलु देवानुप्रियाः ! तुङ्गिकायाः नगर्याः बहिः
पुष्पवतिके चैत्ये पार्श्वपर्यायाः स्थविराः

१०९. भगवान् गौतम राजगृह नगर के उच्च, नीच
और मध्यम कुलों की सामुदानिक भिक्षाचर्या के
लिए घूमते हुए अनेक व्यक्तियों से ये शब्द सुनते
हैं—देवानुप्रिय ! तुंगिका नगरी से बाहर
पुष्पवतिक चैत्य में पार्श्वपर्याय भगवान् स्थविरों

१. भ.वृ.२।१०७—गृहेषु समुदानं भैक्षं गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय ।

व्यवधानं प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना तथा दृष्ट्या ।

२. भ.वृ.२।१०८—युगं—यूपस्तत् प्रमाणमन्तरं—स्वदेहस्य दृष्टिपातदेशस्य च

च्चिञ्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं
एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं
भंते ! किंफले ? तवे किंफले ?

तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए
एवं वयासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्ह-
यफले, तवे बोदाणफले, तं चेव जाव पुव्व-
तवेणं, पुव्वसंजमेणं, कम्मियाए, सँगियाए
अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति । सब्भे
णं एस मट्ठे, नो चेव णं आयभाववत्तब्ब-
याए ।

से कहमेयं मन्ने एवं ॥

११०. तए णं भगवं गोयमे इमीसे कहाए
लद्धेइ समाणे जायसट्ठे जाव समुप्पन्नको-
उहल्ले अहापज्जत्तं समुदाणं गेण्हइ, गेण्हिता
रायगिहाओ नयराओ षडिनिक्खमइ अतुरि-
यमच्चलमसंभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए
पुरओ रियं सोहेमाणे-सोहेमाणे जेणेव
गुणसित्तए चेइए, जेणेव समणे भगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता
समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते
गमणागमणाए पडिक्कमइ, पडिक्कमित्ता
एसणमणेसणं आलोएइ, आलोएत्ता भत्त-
पाणं पडिदंसेइ, पडिदंसेत्ता समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता
एवं वदासी—एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं
अब्भगुण्णाए समाणे रायगिहे नये उच्च-
नीय-मज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स
भिव्खायरियाए अडमाणे बहुजणसहं
निसामेभि—एवं खलु देवाणुष्पिया ! तुंगि-
याए नयरीए बहिया पुष्फवइए चेइए पासा-
वच्चिञ्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं
एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं
भंते ! किंफले ? तवे किंफले ?

तं चेव जाव सब्भे णं एस मट्ठे, नो चेव
णं आयभाववत्तब्बयाए ।

तं पमू णं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसि
समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं
वागरेत्तए ? उदाहु अप्पमू ? समिया णं
भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसि समणोवासयाणं
इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए ?
उदाहु असमिया ? आउज्जिया णं भंते !
ते थेरा भगवंतो तेसि समणोवासयाणं इमाइं
एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए ? उदाहु

भगवन्तः श्रमणोपासकैः इमानि एतद्रूपाणि
व्याकरणानि पृष्टाः—संयमः भदन्तः किंफलः ?
तपः किंफलम् ?

ततः ते स्थविराः भगवन्तः तान् श्रमणो-
पासकान् एवमवादिषुः—संयमः आर्याः !
अनास्रवफलः, तपः व्यवदानफलम्, तस्मैव
यावत् पूर्वतपसा, पूर्वसंयमेन, कर्मितया, सङ्गि-
तया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते ।
सत्योऽयमर्थः नो चैव आत्मभाववत्तव्यतया ।

तत् कथमेतत् मन्ये एवम् ?

ततः भगवान् गौतमः अनया कथया लब्धार्थः
सन् जातश्रद्धः यावत् समुत्पन्नकुतूहलः यथा-
पर्याप्तं समुदानं गृह्णाति, गृहीत्वा राजगृहान्
नगरात् प्रतिनिष्क्रामति, अत्वरितमचपल-
मसंभ्रान्तः युगान्तरप्रलोकनया दृष्ट्या पुरतः
ईर्या शोधयन्-शोधयन् यत्रैव गुणशिलकं
चैत्यं, यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव
उपागच्छति, उपागम्य श्रमणस्य भगवतः महा-
वीरस्य अदूरसामन्ते गमनागमने प्रतिक्रामति,
प्रतिक्रम्य एषणाम् अनेषणाम् आलोचयति,
आलोच्य भक्तपानं प्रतिदर्शयति, प्रतिदर्श्य
श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति,
वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—एवं खलु
भदन्त ! अहं भवद्भिः अभ्यनुज्ञातः सन् राज-
गृहे नगरे उच्चनीच-मध्यमानि कुलानि गृह-
समुदानस्य भिक्षाचर्यायि अटन् बहुजनशब्दं
निशमयामि—एवं खलु देवानुप्रिय ! तुङ्गि-
कायाः नगर्याः बहिः पुष्पवतिके चैत्ये पार्श्व-
पत्नीयाः स्थविराः भगवन्तः श्रमणोपासकैः
इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि पृष्टाः—
संयमः भदन्त ! किंफलः ? तपः किंफलम् ?

तस्मैव यावत् सत्योऽयमर्थः, नो चैव आत्म-
भाववत्तव्यतया ।

तत् प्रभवः भदन्त ! ते स्थविराः भगवन्तः
तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि
व्याकरणानि व्याकर्तुम् ? उताहो अप्रभवः ?
सम्यज्चः भदन्त ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां
श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याक-
रणानि व्याकर्तुम् ? उताहो असम्यज्चः ?
आवर्जिकाः भदन्त ! ते स्थविराः भगवन्तः
तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि

से श्रमणोपासकों ने ये इस प्रकार के प्रश्न पूछे
भन्ते ! संयम का फल क्या है ? तप का फल
क्या है ?

उन भगवान् स्थविरों ने उन श्रमणोपासकों को
इस प्रकार कहा—आर्यों ! संयम का फल अना-
स्रव है, तप का फल व्यवदान है। इसी प्रकार
यावत् पूर्वकृत तप, पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता
और आसक्ति के कारण देव देवलोकों में उपपन्न
होते हैं। यह अर्थ सत्य है, अहंमानिता के
कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है।

तो क्या यह ऐसे ही है ?

११०. यह कथा सुनकर भगवान् गौतम के मन में
श्रद्धा यावत् कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे यथापर्याप्त
भिक्षा लेते हैं, लेकर राजगृह नगर से बाहर आते
हैं, त्वरा-चपलता- और संभ्रम-रहित होकर
युगप्रमाण भूमि को देखले वाली दृष्टि से
ईर्या-समिति का शोधन करते हुए, शोधन करते
हुए जहां गुणशिलक चैत्य है, जहां श्रमण भगवान्
महावीर हैं, वहां आते हैं, आकर श्रमण भगवान्
महावीर के न अति दूर और न अति निकट
रहकर गमनागमन का प्रतिक्रमण करते हैं, प्रति-
क्रमण कर, एषणा और अनेषणा की आलोचना
करते हैं, आलोचना कर भक्त-पान दिखलाते हैं,
दिखलाकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-
नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार
बोले—भन्ते ! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर राजगृह
नगर के उच्च, नीच और मध्यम कुलों में
सामुदानिक भिक्षा के लिए घूमता हुआ अनेक
व्यक्तियों से ये शब्द सुनता हूँ—देवानुप्रिय !
तुंगिका नगरी के बाहर पुष्पवतिक चैत्य में
पार्श्वपत्नीय भगवान् स्थविरों से श्रमणोपासकों ने
ये इस प्रकार के प्रश्न पूछे—भन्ते ! संयम का
फल क्या है ? तप का फल क्या है ?

इसी प्रकार यावत् यह अर्थ सत्य है, अहंमानिता
के कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है।

भन्ते ! क्या वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों
को ये इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ हैं ?
अथवा असमर्थ हैं ? वे भगवान् स्थविर उन
श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में
योग्य हैं ? अथवा अयोग्य हैं ? वे भगवान्
स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के
उत्तर देने में दायित्वपूर्ण हैं ? अथवा दायित्वपूर्ण
नहीं हैं ? वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों

अणाउज्रिया ? पलिउज्रिया णं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए ? उदाहु अपलिउज्रिया ?—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उव्वजंति । पुव्वसंजमेणं, कम्मियाए, संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उव्वजंति । सच्चे णं एस मद्दे, नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ।

पभू णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए, नो चेव णं अम्मभू । समिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए, नो चेव णं असमिया । आउज्रिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए, नो चेव णं अणाउज्रिया । पलिउज्रिया णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए, नो चेव णं अपलिउज्रिया—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उव्वजंति । पुव्वसंजमेणं, कम्मियाए, संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उव्वजंति । सच्चे णं एस मद्दे, नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ।

अहं पि णं गोयमा ! एवमाइव्वयामि, भासामि, पण्णवेमि, परूवेमि—पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उव्वजंति । पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उव्वजंति । कम्मियाए देवा देवलोएसु उव्वजंति । संगियाए देवा देवलोएसु उव्वजंति ।

पुव्वतवेणं, पुव्वसंजमेणं, कम्मियाए, संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उव्वजंति । सच्चे णं एस मद्दे, नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ॥

व्याकरणानि व्याकर्तुम् ? उताहो अनावर्जिकाः ? परिवर्जिकाः भदन्त ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकर्तुम् ? उताहो अपरिवर्जिकाः ?—पूर्वतपसा आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । पूर्वसंयमेन, कर्मितया, संगितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । सत्योऽयमर्थः, नो चैव आलभाववत्तव्वतया ।

प्रभवः गौतम ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकर्तुम्, नो चैव अग्रभवः । सम्यज्चः गौतम ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकर्तुम्, नो चैव असम्यज्चः । आवर्जिकाः गौतम ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकर्तुम्, नो चैव अनावर्जिकाः । परिवर्जिकाः गौतम ! ते स्थविराः भगवन्तः तेषां श्रमणोपासकानाम् इमानि एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याकर्तुम्, नो चैव अपरिवर्जिकाः—पूर्वतपसा आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । पूर्वसंयमेन, कर्मितया, संगितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । सत्योऽयमर्थः नो चैव आलभाववत्तव्वतया ।

अहमपि गौतम ! एवमाख्यामि, भाषे, प्रज्ञापयामि, प्ररूपयामि—पूर्वतपसा देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । पूर्वसंयमेन देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । कर्मितया देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । संगितया देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते ।

पूर्वतपसा, पूर्वसंयमेन, कर्मितया, संगितया आर्याः ! देवाः देवलोकेषु उपपद्यन्ते । सत्योऽयमर्थः, नो चैव आलभाववत्तव्वतया ।

भाष्य

१. योग्य'

वृत्तिकार ने समिया के तीन अर्थ किए हैं—विपर्यासरहित, सम्यक् प्रवृत्त, अभ्यासवान् ।^१

१. आष्टे—सम्यक्—Fit.

२. भ.वृ.२।११०—'समिया णं'ति सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक् ते

को ये इस प्रकार के उत्तर देने में विशिष्ट दायित्वपूर्ण^१ हैं ? अथवा विशिष्ट दायित्वपूर्ण नहीं हैं ?—आर्यों ! पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । आर्यों ! पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं, यह अर्थ सत्य है, अहंमानिता के कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है ।'

गौतम ! वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ हैं, असमर्थ नहीं हैं । गौतम ! वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में योग्य हैं, अयोग्य नहीं हैं । गौतम ! वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में विशिष्ट दायित्वपूर्ण हैं, दायित्वहीन नहीं हैं । गौतम ! वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में योग्य हैं, अयोग्य नहीं हैं । गौतम ! वे भगवान् स्थविर उन श्रमणोपासकों को ये इस प्रकार के उत्तर देने में विशिष्ट दायित्वपूर्ण हैं, दायित्वहीन नहीं हैं—आर्यों ! पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । आर्यों ! पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं यह अर्थ सत्य है, अहंमानिता के कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है ।

गौतम ! मैं भी इसी प्रकार आख्यान करता हूँ, भाषण करता हूँ, प्रज्ञापन करता हूँ, प्ररूपणा करता हूँ—पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । पूर्वकृत संयम से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । कर्म की सत्ता से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं ।

आर्यों ! पूर्वकृत तप, पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं । यह अर्थ सत्य है, अहंमानिता के कारण ऐसा नहीं कहा जा रहा है ।

व्याकर्तुं वर्तन्ते अविपर्यासास्त इत्यर्थः समज्यन्तीति वा सम्यज्चः समिता वा—

सम्यक्प्रवृत्तयः श्रमिता वा—अभ्यासवन्तः ।

२. दायित्वपूर्ण

आउञ्जिया का अर्थ है—अभिमुखीभूत, शुभ प्रवृत्ति में व्याप्त।
वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'ज्ञानी' किया है।

३. विशिष्ट दायित्वपूर्ण

पलिउञ्जिया का अर्थ है—विशिष्ट दायित्वपूर्ण।^१

१११. तहारूवं णं भन्ते ! समणं वा माहणं वा
पञ्चवासमाणस्स किंफला पञ्चवासणा ?
गोयमा ! सवणफला ।
से णं भन्ते ! सवणे किंफले ?
नाणफले ।
से णं भन्ते ! नाणे किंफले ?
विण्णाणफले ।
से णं भन्ते ! विण्णाणे किंफले ?
पच्चक्खाणफले ।
से णं भन्ते ! पच्चक्खाणे किंफले ?
संजमफले ।
से णं भन्ते ! संजमे किंफले ?
अणणहयफले ।
से णं भन्ते ! अणणहए किंफले ।
तवफले ।
से णं भन्ते ! तवे किंफले ?
वोदाणफले ।
से णं भन्ते ! वोदाणे किंफले ?
अकिरियाफले ।
सा णं भन्ते ! अकिरिया किंफला ?
सिद्धिपञ्चवसाणफला—पण्णात्ता गोयमा !

तथारूपं भदन्त ! श्रमणं वा माहनं वा
पर्युपासीनस्य किंफला पर्युपासना ?
गौतम ! श्रवणफला ।
अथ भदन्त ! श्रवणं किंफलम् ?
ज्ञानफलम् ।
अथ भदन्त ! ज्ञानं किंफलम् ?
विज्ञानफलम् ।
अथ भदन्त ! विज्ञानं किंफलम् ?
प्रत्याख्यानफलम् ।
अथ भदन्त ! प्रत्याख्यानं किंफलम् ?
संयमफलम् ।
अथ भदन्त ! संयमः किंफलः ?
अनास्रवफलः ।
अथ भदन्त ! अनास्रवः किंफलः ?
तपःफलः ।
अथ भदन्त ! तपः किंफलम् ?
व्यवदानफलम् ।
अथ भदन्त ! व्यवदानं किंफलम् ?
अक्रियाफलम् ।
अथ भदन्त ! अक्रिया किंफला ?
सिद्धिपर्यवसानफला—प्रज्ञता गौतम !

१११. 'भन्ते' तथारूप श्रमण-माहन की पर्युपासना
करने का क्या फल है ?
गौतम ! पर्युपासना का फल है—श्रवण।
भन्ते ! श्रवण का क्या फल है ?
गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान है।
भन्ते ! ज्ञान का क्या फल है ?
गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।
भन्ते ! विज्ञान का क्या फल है ?
गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान है।
भन्ते ! प्रत्याख्यान का क्या फल है ?
गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम है।
भन्ते ! संयम का क्या फल है ?
गौतम ! संयम का फल अनास्रव है।
भन्ते ! अनास्रव का क्या फल है ?
गौतम ! अनास्रव का फल तप है।
भन्ते ! तप का क्या फल है ?
गौतम ! तप का फल व्यवदान है।
भन्ते ! व्यवदान का क्या फल है ?
गौतम ! व्यवदान का फल अक्रिया है।
भन्ते ! अक्रिया का क्या फल है ?
गौतम ! अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है।

संग्रहणी गाथा

सवणे नाणे य विण्णाणे,
पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणणहए तवे चेव,
वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

श्रवणं ज्ञानं च विज्ञानं,
प्रत्याख्यानं च संयमः ।
अनास्रवः तपश्चैव,
व्यवदानम् अक्रिया सिद्धिः ॥

संग्रहणी गाथा

श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम,
अनास्रव, तप, व्यवदान, अक्रिया और सिद्धि।

भाष्य

१. सूत्र १११

प्रस्तुत सूत्र में श्रमण-माहन की पर्युपासना से प्राप्त होनेवाली
अध्यात्म-विकास की दस भूमिकाओं का उल्लेख किया गया है।
सन्तसाहित्य में 'सत्संग' शब्द बहुत प्रचलित है। उससे होनेवाली
ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया का एक बहुत सुन्दर चित्रण यहां उपलब्ध है—

१. श्रवण—धर्म अथवा अध्यात्म का श्रवण।
२. ज्ञान—श्रुतज्ञान।
३. विज्ञान—हेय और उपादेय का विवेक।

४. प्रत्याख्यान—हेय और उपादेय का विवेक होने पर ही
मनुष्य हेय का प्रत्याख्यान करता है।

५. संयम—इन्द्रिय और मन का संयमन।

६. अनास्रव—नए कर्म का निरोध।

७. तप—विशिष्ट प्रकार की शुभ प्रवृत्ति।

८. व्यवदान—पुरातन कर्म की निर्जरा।

९. अक्रिया—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध।

१. वही, २।११०—'आउञ्जिय'ति आयोगिका: उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः
जानन्तीति भावः ।

२. वही, २।११०—'पलिउञ्जिय'ति परि—समन्ताद् योगिका: परिज्ञानिन इत्यर्थः
परिजानन्तीति भावः ।

१०. सिद्धि—मोक्ष।^१

ये अध्यात्म-विकास की दस भूमिकाएं ठाणं में भी उपलब्ध

हैं।^३ दसवेआलियं में इन भूमिकाओं का विस्तार से निरूपण हुआ है।^३

उष्णजलकुण्ड-पदं

११२. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, भासंति, पण्णवेति परूवेति—एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वैभारस्स पच्चयस्स अहे, एत्थ णं महं एगे हरए अघे पण्णत्ते—अणेगाइं जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, नाणादुमसंडमंडिउद्देसे, सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं बहवे ओराला बलाहया संसेयंति संमुच्छंति वासंति। तव्वइरित्ते य णं सया समियं उसिणे-उसिणे आउकाए अभिनिस्सवइ।

उष्णजलकुण्ड-पदम्

अन्ययूथिका: भदन्त ! एवमाख्यान्ति, भाषन्ते, प्रज्ञापयन्ति, प्ररूपयन्ति—एवं खलु राजगृहस्य नगरस्य बहिः वैभारस्य पर्वतस्य अधः, अत्र महान् एकः ह्रदः अधः प्रज्ञप्तः—अनेकानि योजनानि आयाम-विष्कम्भेण नानाद्रुमषण्डमंडितोद्देशः सश्रीकः प्रासादीयः दर्शनीयः अभिरूपः प्रतिरूपः। तत्र बहवः 'ओराला' बलाहकाः संस्वेदन्ते संमुच्छन्ति वर्षन्ति। तद्व्यतिरिक्तश्च सदा समितः उष्णः-उष्णः अक्कायः अभिनिःस्रवति।

उष्णजलकुण्ड-पद

११२. ^१भन्ते ! अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्रज्ञापन करते हैं, प्ररूपणा करते हैं—राजगृह नगर के बाहर वैभार पर्वत के नीचे अघ नामक एक विशाल द्रह प्रज्ञप्त है। उसकी लंबाई-चौड़ाई अनेक योजन है। उसका तटभाग नाना द्रुमवनों से मण्डित है। वह श्रीसम्पन्न, द्रष्टा के चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय है। उसमें बहुत प्रधान बलाहक (जलीय स्कन्धों को ऊपर उठाने वाला ताप) भाप बनते हैं, बादल बनते हैं और बरसते हैं। उस जलाशय के भर जाने पर वह सदा सघन रूप में गरम-गरम जल का अभिनिःस्रवण करता है।

भाष्य

१. सूत्र ११२

वृत्तिकार ने हरए अघे के स्थान पर 'अप्पे' इस पाठ का उल्लेख किया है। प्राचीन लिपि में 'घ' और 'प्प' की लिखावट समान है। 'अप्प' का अर्थ है जल का उद्गम-स्थल।^१

शब्द-विमर्श

उद्देश—तटभाग^१।

सया समियं—देखें, भ. १।३१४-३१६ का भाष्य।

११३. से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एव-माइक्खंति जाव जे ते एवमाइक्खंति, मिच्छंते एवमाइक्खंति। अहं पुण गोयमा ! एव-माइक्खामि, भासामि, पण्णवेमि, परूवेमि—एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वैभारस्स पच्चयस्स अदूरसामन्ते, एत्थ णं महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे पण्णत्ते—पंच धणुसयाइं आयाम-विक्खंभेणं, नाणादुमसंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति। तव्वइरित्ते वि य णं सया समियं उसिणे-उसिणे आउयाए अभिनिस्सवइ।

तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ?

गौतम ! यत्ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति यावत् ये एते एवमाख्यान्ति, मिथ्या ते एव-माख्यान्ति। अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि, भाषे, प्रज्ञापयामि, प्ररूपयामि—एवं खलु राजगृहस्य नगरस्य बहिः वैभारस्य पर्वतस्य अदूरसामन्ते, अत्र महातपोपतीरप्रभवं नाम प्रस्रवणं प्रज्ञप्तं—पञ्च धनुःशतानि आयाम-विष्कम्भेण, नानाद्रुमषण्डमण्डितोद्देशं सश्रीकं प्रासादीयं दर्शनीयं अभिरूपं प्रतिरूपम्। तत्र बहवः उष्णयोनिकाः जीवाः य पुद्गलाः य उदकत्वाय अवक्रामन्ति, व्युक्रामन्ति, च्यवन्ते, उपपद्यन्ते। तद्व्यतिरिक्तोऽपि च सदा समितः उष्णः-उष्णः अक्कायः अभिनिःस्रवति।

११३. ^१भन्ते ! यह इस प्रकार कैसे है ?

गौतम ! जो अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं यावत् जो वे ऐसा आख्यान करते हैं, वे मिथ्या आख्यान करते हैं। गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपणा करता हूँ—राजगृह नगर के बाहर वैभार पर्वत के न अतिदूर न अतिनिकट महातपोपतीरप्रभव नामक निर्झर है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई पांच सौ धनुष है। उसका तटभाग नाना द्रुमवनों से मण्डित है, वह श्रीसंपन्न, द्रष्टा के चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय है। यहां अनेक उष्णयोनिक जीव और पुद्गल उदकरूप में उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, च्युत होते हैं और उत्पन्न होते हैं। उस जलाशय के भर जाने पर उससे सदा सघनरूप में गरम-गरम जल का अभि-

१. भ.वृ.२।१११।

२. ठाणं, ३।४१८।

३. दसवे.४।११-२५।

४. भ.वृ.२।११२।

५. आटे.

एस णं गोयमा ! महातपोवतीरप्यभवे
पासवणे। एस णं गोयमा ! महा-
तपोवतीरप्यभवस्स पासवणस्स अदे
पणत्ते।।

एतद् गीतम् ! महातपोपतीरप्रभवं प्रस्रवणम् ।
एष गीतम् ! महातपोपतीरप्रभवस्य प्रस्रवणस्य
अर्थः प्रज्ञातः ।

निःस्रवण होता है। गीतम् ! यह महातपोपतीर-
प्रभव नामक निर्झर है। गीतम् ! यह महा-
तपोपतीरप्रभव निर्झर का अर्थ प्रज्ञात है।

भाष्य

सूत्र ११३

प्रस्तुत सूत्र में “जीवा य भोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति” यह पाठ है। यदि पुद्गल का पानी के रूपमें परिणमन नहीं होता तो पाठ केवल ‘जीवा’ ही होता। इससे यह सिद्ध होता है कि जल सचित और अचित्त दोनों प्रकार का होता है।

उष्णयोनिक जीव गरम वातावरण में ही पनपते हैं। अब उन्हें वैज्ञानिक मान्यता भी मिल रही है। लुईस दामस ने लिखा है—

“एक जीवाणु प्रजाति है जिसे १६८२ तक पृथिवी के धरातल पर देखा ही नहीं गया। इन जीवों को स्वप्न में भी कभी नहीं देखा गया। ये प्रकृति के जिन नियमों को हम जानते हैं, उनके जीते जागते उल्लंघन हैं। चीजें जो एक प्रकार से सीधे नरक से आई हो या हम जो नरक के बारे में सोचते हैं। पृथ्वी के अन्दर गर्म क्षेत्र में जो रहने लायक न हो। इस प्रकार के क्षेत्रों में हाल में अनुसंधानी पनडुब्बियों की वैज्ञानिक निगाह पड़ी है। यह पनडुब्बियां समुद्र के तल में २५००० मीटर या इससे ज्यादा तक जा सकती है। ये तल के गह्रों में किनारे तक पहुंच सकती हैं। जहां खुली नालियां पृथिवी की पपड़ी में चिमनियों से अधिक गर्म समुद्री जल छोड़ती हैं। इन्हें समुद्री वैज्ञानिक “ब्लेक स्मोकर्स” कहते हैं। यह केवल गरम पानी या भाप नहीं या दबाव के नीचे भी भाप नहीं, जैसी कि प्रयोगशाला के (आटो-लेब) में होती है, जिस पर हम दशकों से सारे जीवाणु नष्ट करने के लिए निर्भर करते आए हैं। यह बहुत अधिक गरम पानी अत्यधिक दबाव में होता है जिसका

तापमान ३०० अंश सेण्टीग्रेट से भी ज्यादा होता है। इतने ताप पर अब तक ज्ञात जीव रह ही नहीं सकता। प्रोटीन और डी.एन.ए. टूट जाएंगे। एन्जाइम पिघल जाएंगे। कोई भी जिन्दा चीज क्षण भर में मर जाएगी। हम अब तक स्वीकार करते आए हैं कि शुक्र ग्रह पर इतना ही तापमान होने के कारण वहां जीवन नहीं हो सकता। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि ४-५ अरब वर्ष पूर्व इस ग्रह के आरम्भिक समय में जीवन नहीं रहा होगा। बी.जे.ए. वैरोज तथा जे.डब्ल्यू. डेमिंग ने हाल में इन गहरे समुद्रों का नालियों से आए जीवाणुओं की जीवन्त बस्तियों की खोज की है। यही नहीं जब इन जीवाणुओं को पानी से ऊपर लाया गया, उन्हें टाइटेनियम सुइयों में रखा गया तथा २५० अंश सेण्टीग्रेट तक गरम ताप वाले कक्षों में मुहरबन्द किया गया तो ये जीवित ही नहीं रहे बल्कि बड़े उत्साह से पुनरुत्पादन किया। इनकी संख्या बढ़ती गयी उन्हें केवल उबलते पानी में ही डालकर मारा जा सकता है। फिर भी यह साधारण जीवाणु जैसे लगते हैं। इलैक्ट्रॉनिक माइक्रोस्कोप के नीचे इनकी संरचना वैसी ही है—कोशिका—दीवारें, राइबोसोम तथा बाकी सब कुछ, जैसा कि अब कहा जा रहा है। यदि ये मूल रूप से पुरातत्व काल के जीवाणु हैं हमारे सब के पुरखे, तो फिर उन्होंने या उनकी पीढ़ियों ने ठंडा होकर जीना कैसे सीखा? मैं इससे ज्यादा आश्चर्यजनक चाल की कल्पना ही नहीं कर सकता।”

११४. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे
समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ ।।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान्
गीतम्: श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नम-
स्यति ।

११४. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही
है—इस प्रकार कहते हुए भगवान् गीतम् श्रमण
भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं।



छट्टो उद्देशो : छटा उद्देशक

मूल भासा-पदं	संस्कृत छाया भाषा-पदम्	हिन्दी अनुवाद भाषा-पद
११५. से नूणं भन्ते ! मन्नामी ति ओहारिणी भासा ? एवं भासापदं भाषियब्धं ॥	अथ नूनं भदन्त ! मन्ये इति अवधारिणी भाषा ? एवं भाषापदं भणितव्यम् ।	११५. 'भन्ते ! मैं मनन करता हूँ, क्या यह अव- धारिणी भाषा है ? यहां भाषापद (पणवणा, पद ११) वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र ११५

अवधारिणी भाषा—भाषा ज्ञान का माध्यम है। जिस भाषा के द्वारा अर्थ का अवधारण किया जाता है, उसका नाम है—अवधारिणी भाषा। यह अवबोध की बीजभूत होती है। मनन और चिन्तन इसी के माध्यम से होते हैं।

१. भ.वृ.२।११५—'मन्ये' अवबुध्ये इति। एवमवधार्यते—अवगम्यतेऽनयेत्यवधारणी, अवबोधबीजभूतेत्यर्थः।



सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
ठाण-पदं	स्थान-पदं	स्थान-पद
११६. कति णं भंते ! देवा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउब्बिहा देवा पण्णत्ता, तं जहा —भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया ॥	कति भदन्त ! देवाः प्रज्ञाताः ? गौतम ! चतुर्विधाः देवाः प्रज्ञाताः, तद् यथा— भवनपति-वानमन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकाः ।	११६. भन्ते ! देव कितने प्रकार के प्रज्ञात हैं ? गौतम ! देव चार प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे— भवनपति, वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।
११७. कहि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! इमीसे स्यणप्पभाए पुढवीए जहा ठाणपदे देवाणं वत्तव्वया सा भाणियव्व्या । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे एवं सर्वं भाणियव्वं जाव सिद्धगंडिया समत्ता । कप्पाण पइट्ठाणं, बाहल्लुच्चत्तमेव संठाणं ।	कुत्र भदन्त ! भवनवासिनां देवानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः यथा स्थानपदे देवानां वक्तव्यता सा भणितव्या । उपपातेन लोकस्य असंख्येयतमभागे एवं सर्वं भणितव्यं यावत् सिद्धकण्डिका समाप्ता । कल्पानां प्रतिष्ठानं बाहल्योद्यत्त्वमेव संस्थानम् ।	११७. भन्ते ! भवनवासी देवों के स्थान कहाँ प्रज्ञात हैं ? गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में प्रज्ञात हैं । स्थान-पद (पण्णवणा, २।३०-६३) में जो देवों की वक्त- व्यता है, वह कथनीय है । उनका उपपात लोक के असंख्यातर्वे भाग में होता है । इस प्रकार यह समूचा प्रकरण यावत् सिद्धकण्डिका की समाप्ति (पण्णवणा, २।३०-६७) तक वक्तव्य है । सौधर्म आदि कल्प-विमानों के प्रतिष्ठान (आधार), बाहल्य (मोटार्ई), ऊँचाई और संस्थान (आकृति) के लिए जीवाभिगम का जो वैमानिक उद्देश (३। १०५७-११३८) है, वह समग्र यहाँ वक्तव्य है ।
जीवाभिगमे जो वेमाणिउद्देशो सो भाणियव्वो सब्बो ॥	जीवाभिगमे यः वैमानिकोद्देशः स भणितव्यः सर्वः ।	



अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

चमरसभा-पदं

चमरसभा-पदम्

चमरसभा-पद

११८. कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पब्बयस्स दाहिणे णं तिरियमसंख्वेजे दीवसमुद्दे वीई-वइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं वायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहिता, एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तिगिच्छिकूडे नामं उप्पायपब्बए पण्णत्ते —सत्तरसएक्खीसे जोयणसए उइं उच्च-त्तेणं चत्तारितीसे जोयणसए कोसं च उव्वे-हेणं मूले दसवावीसे जोयणसए विक्खं-भेणं, मज्जे चत्तारि चउवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं, दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसे-सूणे परिक्खेवेणं, मज्जे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इग्याले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोयणसहस्साइं, दोण्णि य छलसीए जोय-णसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं, मूले वित्थडे, मज्जे संखित्ते, उप्पिं विसाले, वरवइरविग्गहिए महामउदसंठाणसंठिए सब्बयणामए अच्छे सण्हे लण्हे घडे मट्ठे निरए निम्मले निप्पंके निक्कंडच्छाए सप्पभे समिरिईए सउज्जोए पासादीए दरिसणिजे अभिरुवे पडिरुवे । से णं एगाए पउम-वस्वेइयाए, वणसंडेण य सब्बओ समंता संपरिक्खित्ते । पउमवस्वेइयाए वणसंडस्स य वण्णओ ॥

कुत्र भदन्त ! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुर-कुमारराजस्य सभा सुधर्मा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे तिर्यग् असंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यति-ब्रज्य अरुणवरस्य द्वीपस्य बाह्याद् वेदिका-न्त्याद् अरुणोदयं समुद्रं द्विचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि अवगाह्य, अत्र चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य तिगिच्छिकूटः नाम उत्पातपर्वतः प्रज्ञप्तः—सप्तदशएकविंश-तिः योजनशतानि ऊर्ध्वम् उच्चत्वेन, चतुस्त्रिंशद् योजनशतानि क्रोशं च उद्वेधेन, मूले दशद्विंशतिः योजनशतानि विष्कम्भेण, मध्ये चतुश्चतुर्विंशतिः योजनशतानि विष्कम्भेण, उपरि सप्तत्रयोविंशतिः योजन-शतानि विष्कम्भेण, मूले त्रीणि योजन-सहस्राणि, द्वे च द्वात्रिंशदुत्तरे योजनशते किंचिद्विशेषोऽनं परिक्षेपेण, मध्ये एकं योजनसहस्रं त्रीणि च एकचत्वारिंशत् योजन-शतानि किंचिद्विशेषोऽनं परिक्षेपेण, उपरि द्वे च योजनसहस्रे, द्वे च षडशीतिः योजनशते किंचिद्विशेषाधिकः परिक्षेपेण, मूले विस्तृतः, मध्ये संक्षिप्तः, उपरि विशालः, वरवज्र-विग्रहिकः, महामुकुन्दसंस्थानसंस्थितः सर्व-रत्नमयः अच्छः श्लक्ष्णः श्लक्ष्णः घृष्टः मृष्टः नीरजः निर्मलः निष्पङ्कः निष्कङ्कच्छायः संप्रभः समरीचिकः सोद्योतः प्रासादीयः दर्शनीयः अभिरूपः प्रतिरूपः । स एकया पञ्चवरवेदिकया, वनषण्डेन च सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः । पञ्चवरवेदिकायाः वनषण्डस्य च वर्णकः ।

११८. भन्ते ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की सुधर्मा सभा कहां प्रज्ञप्त है ? गौतम ! जम्बूद्वीप द्वीप में मेरूपर्वत से दक्षिणभाग में तिरछे असंख्य द्वीपसमुद्रों के पार चले जाने पर अरुणवर द्वीप है। उसकी बाहरी वेदिका के आगे अरुणोदय समुद्र है। उसका बयालीस हजार योजन अवगाहन करने पर असुरेन्द्र असुरराज चमर का तिगिच्छिकूट नामक उत्पात-पर्वत प्रज्ञप्त है—उसकी ऊंचाई सतरह सौ इक्कीस योजन है। उसका उद्वेध (गहराई) चार सौ तीस योजन और एक कोश है। उसका मूल में विष्कम्भ (चौड़ाई) एक हजार बाईस योजन है, मध्य में उसका विष्कम्भ चार सौ चौबीस योजन है और ऊपर का विष्कम्भ सात सौ तेईस योजन है। उसकी मूल में परिधि तीन हजार दो सौ बत्तीस कुछ कम योजन है, मध्य में परिधि एक हजार तीन सौ इकतालीस कुछ कम योजन है, ऊपर की परिधि दो हजार दो सौ छयांसी योजन से कुछ अधिक है। वह मूल में विस्तृत, मध्य में संकड़ा और ऊपर विशाल है। उसकी आकृति श्रेष्ठ वज्र जैसी है, वह महामुकुन्द नामक वाद्य के संस्थान से संस्थित है, सर्वरत्नमय है। वह स्वच्छ, सूक्ष्म, चिकना, स्निग्ध, घुटा हुआ, प्रमार्जित, रजरहित, निर्मल, निष्पङ्क, निरावरण दीप्ति वाला तथा प्रभा, मरीचि और उद्योतयुक्त है। द्रष्टा के चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय, और रमणीय है। वह एक पद्मवर वेदिका और वृक्षनिकुंज से चारों ओर से घिरा हुआ है। पञ्चवरवेदिका और वृक्षनिकुंजों का वर्णन।

भाष्य

१. सूत्र ११८

शब्द-विमर्श

उत्पातपर्वत—तिर्यग् लोक में जाने के लिए जिस पर्वत से उड़ान भरी जाती है उसे उत्पात-पर्वत कहा जाता है।^१ इसकी तुलना वर्तमान की हवाई पट्टी से की जा सकती है। ये संख्या में अनेक हैं।^२ इन उत्पात-पर्वतों पर वैक्रिय शरीर का पुनर्निमाण कर देव ऊपर, नीचे या तिरछे लोक में जाने के लिए अपने विमानों के साथ उड़ानें भरते हैं।

विग्रहिक—विग्रह का अर्थ है आकृति। वरवज्रविग्रहिक—वज्र जैसी शरीर-रचना वाला।^३

सण्ह, लण्ह—ये दोनों 'शलक्षण' शब्द के प्राकृत रूप हैं। 'शलक्षण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां 'सण्ह' का अर्थ सूक्ष्म और 'लण्ह' का अर्थ चिकना घटित होता है।^४

निरावरण प्रभा—निरावरण दीप्ति।^५

११६. तस्स णं तिग्गिच्छिकूटस्स उप्पाय-
पव्वयस्स उप्पि बहुसम-रमणीजे भूमिभागे
पण्णत्ते—वण्णओ॥

तस्य तिग्गिच्छिकूटस्य उत्पातपर्वतस्य उपरि
बहुसम-रमणीयः भूमिभागः प्रज्ञप्तः—वर्ण-
कः।

११६. उस तिग्गिच्छिकूट उत्पात पर्वत के ऊपर
बहुसम-रमणीय भूभाग प्रज्ञप्त है—भूभाग-
वर्णन।

भाष्य

१. बहुसम

यहां 'बहु' शब्द 'अपूर्ण' के अर्थ में है।^६ इसलिए 'बहुसम' का अर्थ होगा—प्रायः सम।

१२०. तस्स णं बहुसमरमणीजस्स भूमिभा-
गस्स बहुमज्जदेसभागे, एत्थ णं महं एगे
पासायवड्ढेसए पण्णत्ते—अट्टाइजाइं
जोयणसयाइं उट्ठं उच्चत्तेणं, पणुवीसं
जोयणसयं विक्खंभेणं। पासायवण्णओ।
उल्लोयभूमिवण्णओ। अट्टजोयणाइं मणि-
पेट्ठिया। चमरस्स सीहासणं सपरिवारं
भाणियव्वं॥

तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहु-
मध्यदेशभागे, अत्र महान् एकः प्रासादा-
वतंसकः प्रज्ञप्तः—अर्धतृतीयानि योजन-
शतानि ऊर्ध्वं उच्चत्वेन, पञ्चविंशतिः योजन-
शतानि विक्खम्भेण। प्रासादवर्णकः। उल्लो-
चभूमिवर्णकः। अष्ट योजनानि मणि-
पीठिका। चमरस्य सिंहासनं सपरिवारं भणि-
तव्यम्।

१२०. उस बहुसमरमणीय भूभाग के प्रायः
मध्यदेशभाग में एक महान् प्रासादावतंसक^७ प्रज्ञप्त
है—उसकी ऊंचाई दो सौ पचास योजन है और
चौड़ाई एक सौ पच्चीस योजन है। प्रासाद का
वर्णन। चंदोवा के ऊपर की भूमि^८ का वर्णन।
मणिपीठिका आठ योजन की है। चमर का
सिंहासन उसके परिवार के सिंहासनों सहित
वक्तव्य है।

भाष्य

१. प्रासादावतंसक

श्रेष्ठ प्रासाद, प्रासादों में शिखर तुल्य प्रासाद।

२. उल्लोच भूमि

चंदोवा के ऊपर की भूमि, छत।

१२१. तस्स णं तिग्गिच्छिकूटस्स दाहिणे णं
छक्कोडिसए पणवव्वं च कोडीओ पणतीसं च

तस्य तिग्गिच्छिकूटस्य दक्षिणे षट्कोटिशतं
पञ्चपञ्चाशच् च कोट्यः पञ्चत्रिंशच् च

१२१. उस तिग्गिच्छिकूट उत्पातपर्वत के दक्षिण भाग
में अरुणोदय समुद्र में छह अरब, पचपन करोड़,

१. (क) भ.वृ.२।११८—तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति।

(ख) स्था.वृ.प.४५७—'उप्पायपव्वए'ति—उत्पतनं ऊर्ध्वर्गमनमुत्पातस्ते-
नोपलक्षितः पर्वत उत्पातपर्वतः।

२. ठाणं, १०।४७-६१

३. भ.वृ.२।११८—वरवज्रस्येव विग्रह—आकृतिर्यस्य स स्वार्थिके कप्रत्यये सति

वरवज्रविग्रहिको मध्ये क्षाम इत्यर्थः।

४. (क) भ.वृ.२।११८—शलक्षणः—शलक्षणपुद्गलनिर्वृतत्वात्, लण्हे—मसृणः।

(ख) जीवा.वृ.प.१७८—सण्हा—शलक्षणा—शलक्षणपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ना
शलक्षण-दलनिष्पन्नपटवत् लण्हा—मसृणाघुण्डितपटवत्।

५. भ.वृ.२।११६—'निकंडच्छाए' निरावरण दीप्तिः।

६. भिक्षुशब्दानुशासन, ८।२।८।

सयसहस्साईं पण्णासं च सहस्साईं अरु-
णोदए समुद्रे तिरियं वीइवइत्ता अहे स्य-
णप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयण-
सहस्साईं ओगाहिता, एत्थ णं चमरस्स
असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचा
नामं रायहाणी पण्णात्ता—एगं जोयणसय-
सहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबूदीव-
प्पमाणा ।

ओवारियलेणं सोलसजोयणसहस्साईं
आयाम-विक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसह-
स्साईं पंच य सत्ताणजए जोयणसए किंचि
विसेसूणे परिवस्सेवेणं, सब्बप्पमाणं वेमा-
णियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्वं ।।

शतसहस्राणि पञ्चाशच् च सहस्राणि अरु-
णोदये समुद्रे तिर्यक् व्यतिव्रज्य अधः रत्न-
प्रभायाः पृथिव्याः चत्वारिंशद् योजनशत-
सहस्राणि अवगाह्य अत्र चमरस्य असुरेन्द्रस्य
असुरकुमारराजस्य चमरचञ्चा नाम राजधानी
प्रज्ञप्ता—एकं योजनशतसहस्रम् आयाम-
विष्कम्भेण जम्बूद्वीपप्रमाणा ।

उपकारिकालयनं षोडशयोजनसहस्राणि
आयाम-विष्कम्भेण, पञ्चाशद् योजनसह-
स्राणि पञ्च घ सप्तनवतिः योजनशतं किञ्चिद्
विशेषोऽनं परिक्षेपेण, सर्वप्रमाणं वैमानिक-
प्रमाणस्य अर्धं नेतव्यम् ।

पैंतीस लाख और पचास हजार योजन तिरछा
चले जाने पर तथा नीचे की ओर रत्नप्रभा पृथ्वी
का चालीस हजार योजन अवगाहन करने पर
असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर की चमरचञ्चा
नामक राजधानी प्रज्ञप्त है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई
एक लाख योजन है। वह जम्बूद्वीप-प्रमाण है।

उसकी पीठिका लम्बाई-चौड़ाई में सोलह हजार
योजन और परिधि में पचास हजार पांच सौ
सितानवे योजन से कुछ कम है। उसका सर्व
प्रमाण वैमानिक देवों की राजधानी के प्राकार
आदि से आधा जानना चाहिए।



नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

समयखेत्त-पदं

समयक्षेत्र-पदम्

समयक्षेत्र-पद

१२२. किमिदं भन्ते ! समयखेत्ते त्ति पवुच्चति?
गोयमा ! अद्दाइजा दीवा, दो य समुहा,
एस णं एवइए समयखेत्तेति पवुच्चति ॥

किमिदं भदन्त ! समयक्षेत्रमिति प्रोच्यते ?
गीतम ! अर्धतृतीया द्वीपाः द्वी च समुद्री,
एतद् एतावत् समयक्षेत्रमिति प्रोच्यते ।

१२२. भन्ते ! समयक्षेत्र किसे कहा जाता है ?
गीतम ! अर्ध द्वीप और दो समुद्र—यह इतना
क्षेत्र समय-क्षेत्र कहलाता है ।

१२३. तत्त्वं णं अयं जंबुद्वीपे दीवे सब्ब-
दीव-समुहाणं सब्बभन्तरे । एवं जीवा-
भिगमवत्तव्वया नेयव्वा जाव अब्भित्तरे-
पुक्खरद्धं जोइसविहूणं ॥

तत्रायं जम्बूद्वीपः द्वीपः सर्वद्वीप-समुद्राणां
सर्वाभ्यन्तरः । एवं जीवाभिगमवत्तव्व्यता नेत-
व्या यावद् आभ्यन्तर-पुष्करार्द्धं ज्योतिष्क-
विहीनम् ।

१२३. इनमें जम्बूद्वीप नामक द्वीप सब द्वीपों और
समुद्रों के मध्य में है । इस प्रकार आभ्यन्तर
पुष्करार्ध तक जीवाजीवाभिगम की वक्तव्यता
ज्ञातव्य है । उसमें से केवल ज्योतिष्क देवों की
वक्तव्यता छोड़ देनी है ।



दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
अत्याकाय-पदं	अस्तिकाय-पदम्	अस्तिकाय-पद
१२४. कति णं भन्ते ! अत्याकाया पण्णत्ता? गोयमा ! पंच अत्याकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए ॥	कति भदन्त ! अस्तिकायाः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! पञ्च अस्तिकायाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः ।	१२४. भन्ते ! अस्तिकाय कितने प्रज्ञप्त हैं ? गौतम ! अस्तिकाय पांच प्रज्ञप्त हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।
१२५. धम्मत्थिकाए णं भन्ते ! कतिवण्णे ? कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ? गोयमा ! अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे; अरूवी, अजीवे, सासए, अवडिए लोग्गदब्बे । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, गुणओ । दब्बओ णं धम्मत्थिकाए एगे दब्बे । खेत्तओ लोग्गण्णमाणमेत्ते । कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविस्सु य, भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए, सासए, अव्वए, अब्बए, अवडिए, णिच्चे । भावओ अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे । गुणओ गमणगुणे ॥	धर्मास्तिकायः भदन्त ! कतिवर्णः ? कतिगन्धः ? कतिरसः ? कतिस्पर्शः ? गौतम ! अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः; अरूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितः, लोकद्रव्यम् । सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणतः । द्रव्यतः धर्मास्तिकायः एकम् द्रव्यम् । क्षेत्रतः लोकप्रमाणमात्रः । कालतः न कदाचिन् नासीत्, न कदाचिन् नास्ति, न कदाचिन् न भविष्यति—अभवच् च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः, नियतः, शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः, नित्यः । भावतः अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः । गुणतः गमनगुणः ।	१२५. भन्ते ! धर्मास्तिकाय में कितने वर्ण हैं ? कितने गन्ध हैं ? कितने रस हैं ? कितने स्पर्श हैं ? गौतम ! वह अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श; अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अंशभूत द्रव्य है । वह संक्षेप में पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्य की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से, भाव की अपेक्षा से और गुण की अपेक्षा से । द्रव्य की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है । क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाण मात्र है । काल की अपेक्षा से कभी नहीं था—ऐसा नहीं है, कभी नहीं है—ऐसा नहीं है, कभी नहीं होगा—ऐसा नहीं है—वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा—अतः वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है । भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श है । गुण की अपेक्षा से गमनगुण—गति में उदासीन सहायक है ।
१२६. अधम्मत्थिकाए णं भन्ते ! कतिवण्णे ? कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ? गोयमा ! अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे; अरूवी, अजीवे, सासए, अवडिए, लोग्गदब्बे ।	अधर्मास्तिकायः भदन्त ! कतिवर्णः ? कतिगन्धः ? कतिरसः ? कतिस्पर्शः ? गौतम ! अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः; अरूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितः, लोकद्रव्यम् ।	१२६. भन्ते ! अधर्मास्तिकाय में कितने वर्ण हैं ? कितने गन्ध हैं ? कितने रस हैं ? कितने स्पर्श हैं ? गौतम ! वह अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श; अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अंशभूत द्रव्य है ।

से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ गुण-
ओ ।

दब्बओ णं अधम्मत्थिकाए एगे दब्बे ।
खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते ।
कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ
नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य,
भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए,
सासए, अक्खए, अब्बए, अवड्डिए,
णिच्चे ।

भावओ अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे ।

गुणओ ठाण्णुणे ॥

सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—
द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणतः ।

द्रव्यतः अधर्मास्तिकायः एकम् द्रव्यम् ।
क्षेत्रतः लोकप्रमाणमात्रः ।
कालतः न कदाचिन् नासीत्, न कदाचिन्
नास्ति, न कदाचिन् न भविष्यति—अभवच्च
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः, नियतः,
शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः,
नित्यः ।

भावतः अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः ।

गुणतः स्थानगुणः ।

वह संक्षेप में पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्य
की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की
अपेक्षा से, भाव की अपेक्षा से और गुण की
अपेक्षा से ।

द्रव्य की अपेक्षा से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है ।
क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाण मात्र है ।
काल की अपेक्षा कभी नहीं था—ऐसा नहीं है,
कभी नहीं है—ऐसा नहीं है, कभी नहीं
होगा—ऐसा नहीं है—वह अतीत में था, वर्तमान
में है और भविष्य में रहेगा—अतः वह ध्रुव,
नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और
नित्य है ।

भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अगन्ध, अरस और
अस्पर्श है ।

गुण की अपेक्षा से स्थानगुण—स्थिति में उदासीन
सहायक है ।

१२७. आगासत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे ?
कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे;
अरूपी, अजीव, सासए, अवड्डिए, लोगा-
लोगदब्बे ।

से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ, गुण-
ओ ।

दब्बओ णं आगासत्थिकाए एगे दब्बे ।

खेत्तओ लोयालोयप्पमाणमेत्ते—अणंते ।

कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ
नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य,
भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए,
सासए, अक्खए, अब्बए, अवड्डिए,
णिच्चे ।

भावओ अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे ।

गुणओ अवगाहणागुणे ॥

१२८. जीवत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे ?
कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे;

आकाशास्तिकायः भदन्त ! कतिवर्णः ?
कतिगन्धः ? कतिरसः ? कतिस्पर्शः ?

गौतम ! अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः;
अरूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितः,
लोकालोकद्रव्यम् ।

सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—
द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणतः ।

द्रव्यतः आकाशास्तिकायः एकम् द्रव्यम् ।

क्षेत्रतः लोकालोकप्रमाणमात्रः—अनन्तः ।

कालतः न कदाचिन् नासीत्, न कदाचिन्
नास्ति, न कदाचिन् न भविष्यति—अभवच्च
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः, नियतः,
शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः,
नित्यः ।

भावतः अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः ।

गुणतः अवगाहणागुणः ।

जीवास्तिकायः भदन्त ! कतिवर्णः ? कति-
गन्धः ? कतिरसः ? कतिस्पर्शः ?

गौतम ! अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः;

१२७. भन्ते ! आकाशास्तिकाय में कितने वर्ण हैं ?
कितने गन्ध हैं ? कितने रस हैं ? कितने स्पर्श
हैं ?

गौतम ! वह अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श;
अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक-
लोक का एक अंशभूत द्रव्य है ।

वह संक्षेप में पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्य
की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की
अपेक्षा से, भाव की अपेक्षा से और गुण की
अपेक्षा से ।

द्रव्य की अपेक्षा से आकाशास्तिकाय एक द्रव्य
है ।

क्षेत्र की अपेक्षा से लोक- तथा अलोक-
प्रमाण—अनन्त है ।

काल की अपेक्षा से कभी नहीं था—ऐसा नहीं
है, कभी नहीं है—ऐसा नहीं है, कभी नहीं होगा
—ऐसा नहीं है—वह अतीत में था, वर्तमान में
है और भविष्य में रहेगा—अतः वह ध्रुव, नियत,
शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य
है ।

भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अगन्ध, अरस और
अस्पर्श है ।

गुण की अपेक्षा से अवगाहणगुण वाला है ।

१२८. भन्ते ! जीवास्तिकाय में कितने वर्ण हैं ?
कितने गन्ध हैं ? कितने रस हैं ? कितने स्पर्श
हैं ?

गौतम ! वह अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श;

अरूबी, जीवे, सासए, अवडिए, लोग-
दब्बे ।

से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ,
गुणओ ।

दब्बओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं
जीयदब्बाइं ।

खेत्तओ लोग्गमाणमेत्ते ।

कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ
नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य,
भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए,
सासए, अक्खए, अब्बए, अवडिए,
णिच्चे ।

भावओ अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे ।

गुणओ उवओगगुणे ॥

१२६. पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे ?
कतिगंधे ? कतिरसे ? कतिफासे ?

गोयमा ! पंचवण्णे, पंचरसे, दुगंधे,
अड्डफासे;

रूबी, अजीवे, सासए, अवडिए, लोग-
दब्बे ।

से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—
दब्बओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ,
गुणओ ।

दब्बओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं
दब्बाइं ।

खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते ।

कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ
नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य,
भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए,
सासए, अक्खए, अब्बए, अवडिए,
णिच्चे ।

भावओ वण्णमंते, गंधमंते, रसमंते,
फासमंते ।

गुणओ ग्रहणगुणे ॥

१३०. एगे भंते ! धम्मत्थिकायपदेसे धम्मत्थि-

अरूपी, जीवः, शाश्वतः, अवस्थितः,
लोकद्रव्यम् ।

सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—
द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणतः ।

द्रव्यतः जीवास्तिकायः अनन्तानि द्रव्याणि ।

क्षेत्रतः लोकप्रमाणमात्रः ।

कालतः न कदाचिन् नासीत्, न कदाचिन्
नास्ति, न कदाचिन् न भविष्यति—अभवच्
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः, नियतः,
शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः,
नित्यः ।

भावतः अवर्णः, अगन्धः, अरसः, अस्पर्शः ।

गुणतः उपयोगगुणः ।

पुद्गलास्तिकायः भदन्त ! कतिवर्णः ? कति-
गन्धः ? कतिरसः ? कतिस्पर्शः ?

गौतम ! पञ्चवर्णः, पञ्चरसः, द्विगन्धः, अष्ट-
स्पर्शः;

रूपी, अजीवः, शाश्वतः, अवस्थितः, लोक-
द्रव्यम् ।

सः समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—
द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः, गुणतः ।

द्रव्यतः पुद्गलास्तिकायः अनन्तानि द्रव्या-
णि ।

क्षेत्रतः लोकप्रमाणमात्रः ।

कालतः न कदाचिन् नासीत्, न कदाचित्
नास्ति, न कदाचिन् न भविष्यति—अभवच्
च, भवति च, भविष्यति च—ध्रुवः, नियतः,
शाश्वतः, अक्षयः, अव्ययः, अवस्थितः,
नित्यः ।

भावतः वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान्,
स्पर्शवान् ।

गुणतः ग्रहणगुणः ।

एकः भदन्त ! धर्मास्तिकायप्रदेशः धर्मास्ति-

अरूपी, जीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का
एक अंशभूत द्रव्य है ।

वह संक्षेप में पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्य
की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की
अपेक्षा से, भाव की अपेक्षा से और गुण की
अपेक्षा से ।

द्रव्य की अपेक्षा से जीवास्तिकाय अनन्त जीव-
द्रव्य है ।

क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाणमात्र है ।

काल की अपेक्षा से कभी नहीं था—ऐसा नहीं
है, कभी नहीं है—ऐसा नहीं है, कभी नहीं होगा
—ऐसा नहीं है—वह अतीत में था, वर्तमान में
है और भविष्य में रहेगा—अतः वह ध्रुव, नियत,
शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य
है ।

भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अगन्ध, अरस और
अस्पर्श है ।

गुण की अपेक्षा से उपयोग गुणवाला है ।

१२६. भन्ते ! पुद्गलास्तिकाय में कितने वर्ण हैं ?
कितने गन्ध हैं ? कितने रस हैं ? कितने स्पर्श
हैं ?

गौतम ! उसमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और
आठ स्पर्श हैं;

वह रूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक
का एक अंशभूत द्रव्य है ।

वह संक्षेप में पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्य
की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की
अपेक्षा से, भाव की अपेक्षा से और गुण की
अपेक्षा से ।

द्रव्य की अपेक्षा से पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य
है ।

क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाणमात्र है ।

काल की अपेक्षा से कभी नहीं था—ऐसा नहीं
है, कभी नहीं है—ऐसा नहीं है, कभी नहीं
होगा—ऐसा नहीं है—वह अतीत में था, वर्तमान
में है और भविष्य में रहेगा—अतः वह ध्रुव,
नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और
नित्य है ।

भाव की अपेक्षा से वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान्
और स्पर्शवान् है ।

गुण की अपेक्षा से ग्रहणगुण—समुदित होने की
योग्यता वाला है ।

१३०. भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को

काए त्ति वत्तव्वं सिया ?
गोयमा ! णो इण्डे समइहे ॥

कायः इति वक्तव्यं स्यात् ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

१३१. एवं दोण्णि, तिण्णि, चत्तारि, पंच,
छ, सत्त, अट्ठ, नव, दस, संखेज्जा, असं-
खेज्जा । भंते ! धम्मत्थिकायपदेसा धम्मत्थि-
काए त्ति वत्तव्वं सिया ?
गोयमा ! णो इण्डे समइहे ॥

एवं द्वी, त्रयः, चत्वारः, पञ्च, षट्, सप्त,
अष्ट, नव, दश, संख्येयाः, असंख्येयाः ।
भदन्त ! धर्मास्तिकायप्रदेशाः धर्मास्तिकायः
इति वक्तव्यं स्यात् ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

१३१. भन्ते ! क्या इसी प्रकार धर्मास्तिकाय के दो,
तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस,
संख्येय और असंख्येय प्रदेशों को धर्मास्तिकाय
कहा जा सकता है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

१३२. एगपदेसूणे वि य णं भंते ! धम्मत्थि-
काए धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?
गोयमा ! णो इण्डे समइहे ॥

एक प्रदेशोऽपि भदन्त ! धर्मास्तिकायः
धर्मास्तिकायः इति वक्तव्यं स्यात् ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

१३२. भन्ते ! क्या एक प्रदेश कम धर्मास्तिकाय
को भी धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

१३३. से केणट्टेणं भंते ! एवं चुच्चइ—एगे
धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति
वत्तव्वं सिया जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं
सिया ?
से नूणं गोयमा ! खंडे चक्के ? सगले चक्के ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—एकः
धर्मास्तिकायप्रदेशः नो धर्मास्तिकायः इति
वक्तव्यं स्यात् यावद् एकप्रदेशोऽपि च
धर्मास्तिकायः नो धर्मास्तिकायः इति वक्तव्यं
स्यात् ?
अथ नूनं गौतम ! खण्डं चक्रम् ? सकलं
चक्रम् ?

१३३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा
है—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय
नहीं कहा जा सकता यावत् एक प्रदेश कम
धर्मास्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा
सकता ?

भगवं ! नो खंडे चक्के, सगले चक्के ।

भगवन् ! नो खण्डं चक्रम्, सकलं चक्रम् ।

गौतम ! क्या चक्र का खण्ड चक्र कहलाता है ?
अथवा अखण्ड चक्र चक्र कहलाता है ?

खंडे छत्ते ? सगले छत्ते ।

खण्डं छत्रम् ? सकलं छत्रम् ?

भगवन् ! चक्र का खण्ड चक्र नहीं कहलाता,
अखण्ड चक्र चक्र कहलाता है ।

भगवं ! नो खंडे छत्ते, सगले छत्ते ।

भगवन् ! नो खण्डं छत्रम्, सकलं छत्रम् ।

क्या छत्र का खण्ड छत्र कहलाता है ? अथवा
अखण्ड छत्र छत्र कहलाता है ?

खंडे चम्मे ? सगले चम्मे ?

खण्डं चर्म ? सकलं चर्म ?

भगवन् ! छत्र का खण्ड छत्र नहीं कहलाता,
अखण्ड छत्र छत्र कहलाता है ।

भगवं ! नो खंडे चम्मे, सगले चम्मे ।

भगवन् ! नो खण्डं चर्म, सकलं चर्म ।

क्या चर्म का खण्ड चर्म कहलाता है ? अथवा
अखण्ड चर्म चर्म कहलाता है ?

खंडे दंडे ? सगले दंडे ?

खण्डः दण्डः ? सकलः दण्डः ?

भगवन् ! चर्म का खण्ड चर्म नहीं कहलाता,
अखण्ड चर्म चर्म कहलाता है ।

भगवं ! नो खंडे दंडे, सगले दंडे ।

भगवन् ! नो खण्डः दण्डः, सकलः दण्डः ।

क्या दण्ड का खण्ड दण्ड कहलाता है ? अथवा
अखण्ड दण्ड दण्ड कहलाता है ?

खंडे दूसे ? सगले दूसे ?

खण्डं दूष्यम् ? सकलं दूष्यम् ?

भगवन् ! दण्ड का खण्ड दण्ड नहीं कहलाता,
अखण्ड दण्ड दण्ड कहलाता है ।

भगवं ! नो खंडे दूसे, सगले दूसे ।

भगवन् नो खण्डं दूष्यम्, सकलं दूष्यम् ।

क्या दूष्य का खण्ड दूष्य कहलाता है ? अथवा
अखण्ड दूष्य दूष्य कहलाता है ?

खंडे आयुहे ? सगले आयुहे ?

खण्डः आयुधः ? सकलः आयुधः ?

भगवन् ! दूष्य का खण्ड दूष्य नहीं कहलाता,
अखण्ड दूष्य दूष्य कहलाता है ।

भगवं ! नो खंडे आयुहे, सगले आयुहे ।

भगवन् ! नो खण्डः आयुधः, सकलः
आयुधः ।

क्या आयुध का खण्ड आयुध कहलाता है ?
अथवा अखण्ड आयुध आयुध कहलाता है ?

खंडे मोदक ? सगले मोदक ?

खण्डः मोदकः ? सकलः मोदकः ?

भगवन् ! आयुध का खण्ड आयुध नहीं कहलाता,
अखण्ड आयुध आयुध कहलाता है ।

क्या मोदक का खण्ड मोदक कहलाता है ? अथवा
अखण्ड मोदक मोदक कहलाता है ?

भगवं ! नो खंडे मोदए, सगले मोदए ।
से तेण्डेणं गोयमा ! एवं वुचइ—एगो
धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति
वत्तव्वं सिया जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं
सिया ॥

१३४. से किंखाइ णं भंते ! धम्मत्थिकाए त्ति
वत्तव्वं सिया ?
गोयमा ! असंखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा, ते
सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एक-
ग्रहणगहिया—एस णं गोयमा ! धम्म-
त्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ॥

१३५. एवं अधम्मत्थिकाए वि । आगासत्थि-
काय-जीवत्थिकाय-भोग्गलत्थिकाया वि एवं
चेव, नवरं—त्तिहं पि पदेसा अणंता
भाणियव्वा । सेसं तं चेव ॥

भगवन् ! नो खण्डः मोदकः, सकलः मोदकः ।
तत् तेनार्थेन गीतम ! एवमुच्यते—एकः
धर्मास्तिकायप्रदेशः नो धर्मास्तिकायः इति
वक्तव्यं स्याद् यावद् एकप्रदेशो नोऽपि च
धर्मास्तिकायः नो धर्मास्तिकायः इति वक्तव्यं
स्यात् ।

तत् 'किंखाइ' भवन्त ! धर्मास्तिकायः इति
वक्तव्यं स्यात् ?
गीतम ! असंख्येयाः धर्मास्तिकायप्रदेशाः, ते
सर्वे कृत्स्नाः प्रतिपूर्णाः निरवशेषाः एक-
ग्रहणगृहीताः—एष गीतम ! धर्मास्तिकायः
इति वक्तव्यं स्यात् ।

एवम् अधर्मास्तिकायोऽपि ! आकाशास्ति-
काय-जीवास्तिकाय-पुद्गलास्तिकायाः अपि
एवं चैव, नवरं—त्रयाणामपि प्रदेशाः
अनन्ताः भणितव्याः । शेषं तच्च चैव ।

भगवन् ! मोदक का खण्ड मोदक नहीं कहलाता,
अखण्ड मोदक मोदक कहलाता है ।
गीतम ! यह इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—
धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं
कहा जा सकता यावत् एक प्रदेश कम धर्मा-
स्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा
सकता ।

१३४. भन्ते ! धर्मास्तिकाय किसे (कितने प्रदेशों
को) कहा जा सकता है ?
गीतम ! धर्मास्तिकाय के असंख्येय प्रदेश हैं । वे
सब प्रतिपूर्ण, निरवशेष और एक शब्द (धर्मा-
स्तिकाय) के द्वारा गृहीत होते हैं—गीतम ! इसको
धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ।

१३५. इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय वक्तव्य है ।
आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गला-
स्तिकाय भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं, केवल इतना
अन्तर है—इन तीनों के प्रदेश अनन्त होते हैं ।
शेष पूर्ववत् ।

भाष्य

१. सूत्र १२४-१३५

आगम-साहित्य में तत्त्व के चार वर्गीकरण मिलते हैं—

१. द्रव्य—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ।^१
२. पांच अस्तिकाय—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति-
काय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय । (यह प्रस्तुत आलापक में
है ।)
३. छह द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ।^२
४. नवतत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा,
बन्ध, मोक्ष ।^३

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है; इसलिए उसने मूल तत्त्व दो
माने—जीव और अजीव । पञ्चास्तिकाय इन दो का विस्तार है ।
जीव और अजीव को सांख्य आदि द्वैतवादी दर्शन भी मानते हैं ।
किन्तु अस्तिकाय का सिद्धान्त भगवान् महावीर का सर्वथा मौलिक
सिद्धान्त है । जीव की तुलना सांख्य-सम्मत पुरुष से की जा सकती
है । पुद्गल की तुलना सांख्य-सम्मत प्रकृति से की जा सकती है ।
आकाश प्रायः सभी दर्शनों में सम्मत है । धर्मास्तिकाय और अधर्मा-
स्तिकाय—ये दो तत्त्व अन्य किसी दर्शन में प्रतिपादित नहीं हैं ।
'द्रव्य' शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में मिलता है । किन्तु
'अस्तिकाय' का प्रयोग अन्य किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है । यह

अस्तित्व का वाचक शब्द है । वेदान्त में जैसे ब्रह्म निरपेक्ष अस्तित्व
है, वैसे ही जैन दर्शन में ये पांच निरपेक्ष अस्तित्व हैं । जैसे पुद्गल
के परमाणु होते हैं, वैसे ही शेष चार अस्तिकायों के भी परमाणु
होते हैं । उनके परमाणु पृथक्-पृथक् नहीं होते, वे सदा अपृथक् रहते
हैं, इसलिए वे 'प्रदेश' कहलाते हैं । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय
के प्रदेश असंख्य, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवा-
स्तिकाय—इनके प्रदेश अनन्त हैं ।^४ षड्द्रव्यवाद पञ्चास्तिकाय के
उत्तरकाल का विकास है । भगवती के दो प्रसंगों के आधार पर यह
अनुमान किया जा सकता है । कालोदय आदि अन्ययूथिक संन्यासियों
ने एक चर्चा शुरु की—श्रमण ज्ञातपुत्र पांच अस्तिकायों की प्रज्ञापना
करते हैं ।^५

पांच अस्तिकाय के साथ अन्धा-समय या काल का योग होने
पर छह द्रव्य बन जाते हैं । इस प्रकार अस्तित्ववाद की दृष्टि से तत्त्व
के ये तीन वर्गीकरण हैं । नव पदार्थ का वर्गीकरण उपयोगितावाद
की दृष्टि से है । उसमें जीव और अजीव ये दो मूल द्रव्य हैं । शेष
सात पदार्थों में मोक्ष तथा उसके साधक-बाधक द्रव्यों का निरूपण
है ।

प्रस्तुत प्रकरण में अस्तिकाय का जो स्वरूप मिलता है, वह

१. भ.२५।६।

२. वही, २५।११, १२।

३. ठाणं.६।६।

४. भ.२।१३४, १३५।

५. (क) वही, ७।२१२-२२०।

(ख) वही, १८।१३४-१४२।

दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। जीव तत्त्व का सिद्धान्त अनेक दर्शनों में स्वीकृत है। वह अंगुष्ठ-परिमाण है, देह-परिमाण है अथवा व्यापक है—यह विषय भी चर्चित है, किन्तु उसका स्वरूप-ज्ञान—उसके कितने परमाणु या प्रदेश हैं—यह विषय कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अस्तिकाय को प्रदेशात्मक बतला कर भगवान् महावीर ने उसके स्वरूप को एक नया आयाम दिया है।

जैन दर्शन में अस्तित्व का अर्थ है—परमाणु या परमाणु-स्कन्ध। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये चार परमाणु-स्कन्ध हैं। इनके परमाणु कभी वियुक्त नहीं होते, इसलिए ये प्रदेश-स्कन्ध कहलाते हैं। पुद्गलास्तिकाय के परमाणु संयुक्त और वियुक्त दोनों अवस्थाओं में होते हैं, इसलिए उसमें परमाणु और परमाणु-स्कन्ध दोनों अवस्थाएं मिलती हैं।

पांच अस्तिकायों में एक जीवास्तिकाय के प्रदेश-स्कन्ध चैतन्यमय हैं, शेष तीन अस्तिकायों के प्रदेश-स्कन्ध तथा पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश-स्कन्ध और परमाणु चैतन्यरहित हैं, अजीव हैं।

पांच अस्तिकायों में चार अस्तिकाय अमूर्त हैं, पुद्गलास्तिकाय मूर्त है। अमूर्त का लक्षण है—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अभाव। मूर्त का लक्षण है—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त होना।

शब्द-विमर्श

अस्तिकाय—‘अस्ति’ शब्द के दो अर्थ हैं—

१. त्रैकालिक अस्तित्व

२. प्रदेश

काय का अर्थ है—राशि।^१

लोकद्रव्य—चार अस्तिकाय और लोकाकाश के समवाय का नाम है—लोक। धर्मास्तिकाय लोक का एक घटक है, इसलिए उसे लोकद्रव्य कहा गया है।^२

दन्वओ, खेतओ, कालओ—देखें २।२-७ का भाष्य।

भाव और गुण

भाव का अर्थ है पर्याय। अस्तिकाय-चतुष्टय में भाव का निषेधात्मक निरूपण किया गया है। केवल पुद्गलास्तिकाय में उसका विधायक निरूपण है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के सहभावी धर्म हैं। उत्तरवर्ती दार्शनिक और लाक्षणिक ग्रन्थों में सहभावी धर्म को गुण और क्रमभावी धर्म को पर्याय कहा गया है।

आगम-साहित्य में सहभावी और क्रमभावी दोनों प्रकार के धर्मों को पर्याय कहा गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो ही नय हैं, गुणार्थिक नय विवक्षित नहीं है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सहभावी भी हैं और इनका अवस्था-भेद होता रहता है, इसलिए ये क्रमभावी भी हैं।

वृत्तिकार ने ‘गुण’ का अर्थ कार्य किया है।^३ यहां ‘गुण’ शब्द सहभावी धर्म के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, यह उपकार के अर्थ में प्रयुक्त है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय गति और स्थिति के प्रेरक नहीं हैं, केवल उपकारक हैं।^४ गमन गुण का अर्थ होगा—गति में उपकारक। स्थान-गुण का अर्थ होगा—ठहरने में उपकारक। अवगमना-गुण का अर्थ होगा—आश्रय में उपकारक।

चैतन्य जीव का स्वभाव है। उपयोग चैतन्य की प्रवृत्ति है। सूत्र १३७ में वह जीव के लक्षण के रूप में निर्दिष्ट है; इसलिए वह उपकारक है। उसके द्वारा जीव होने का पता चलता है।

जीवास्तिकाय और जीव

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों संख्या की दृष्टि से एकव्यक्तिक हैं। जीव अनन्त हैं। उन अनन्त जीवों के समुदय का नाम जीवास्तिकाय है। परमाणु और परमाणु-स्कन्ध भी अनन्त हैं। उनके समुदय का नाम पुद्गलास्तिकाय है। एक जीव जीवास्तिकाय नहीं कहलाता तथा एक कम जीव वाले जीवास्तिकाय को जीवास्तिकाय नहीं कहा जाता। सभी जीवों का समुदय जीवास्तिकाय कहलाता है। पुद्गलास्तिकाय का भी यही नियम है। जीवास्तिकाय को क्षेत्र की अपेक्षा से लोक-प्रमाण कहा गया है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय को भी क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाण कहा गया है। किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। धर्मास्तिकाय अकेला ही पूरे लोक में व्याप्त है, जब कि लोक-आकाश का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जहां जीव न हो।

जीव जीवास्तिकाय का एक देश है।^५ प्रत्येक जीव असंख्यात-प्रदेशात्मक है। ठाण में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव—इन चारों का प्रदेश-परिमाण एक समान बतलाया गया है।^६ केवली समुद्घात के समय एक जीव के प्रदेश पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं।^७ अतः एक जीव को भी क्षेत्र की अपेक्षा से लोकप्रमाण कहा जा सकता है। यह कादाचित्क घटना है। यहां यह विवक्षित नहीं है। यहां जीवास्तिकाय का लोक-व्यापित्व ही विवक्षित है।

१. म.वृ.२।१२४—अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्तेऽतस्तोषां काया—राशयोऽस्ति-कायाः, अथवाऽस्तीत्यर्थं निपातः कालत्रयाभिधायी, ततोऽस्तीति—सन्ति आसन् भविष्यन्ति च ये कायाः—प्रदेशराशयोऽस्ति काया इति।

२. वही, २।१२५—लोकस्य—पञ्चास्तिकायात्मकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यम्।

३. वही, २।१२५—‘गुणो’ति कार्यतः।

४. त.रा.वा.५।१७—गतिस्थित्योः धर्माधर्मो कर्तारो इत्ययमर्थः प्रसक्तः इति, तत्र, किं कारणम्, उपकारवचनात्। उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्य-नर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपेक्षितं भवति।

यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद् गच्छतः यद्वाद्युपकारकं भवति, न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मो उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्तं भवति।

५. म.वृ.२।१३५—उपयोगगुणो जीवास्तिकायः प्राग्दर्शितः, अथ तदंशभूतो जीवः।

६. ठाण, ४।४६५—चत्तारि पएसमणेण तुल्ला पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोपागासे, एगजीवे।

७. वही, २।११४—चउत्थे समए लोणं पूरति।

एक जीव के प्रदेश असंख्य होते हैं। जीवास्तिकाय के प्रदेश अनन्त बतलाए गए हैं। यह अनन्त जीवों की अपेक्षा से है। पुद्गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेश स्कन्ध-समुदय की अपेक्षा से निर्दिष्ट

हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं, किन्तु अखंड आकाश के प्रदेश अनन्त है।

पांच अस्तिकायों का विवरण निम्न यंत्र में दिया जा रहा है—

	चेतन / अचेतन	मूर्त / अमूर्त	प्रदेशपरिमाण	गुण	एक / अनन्त	क्षेत्रीय अवस्थिति
धर्मास्तिकाय	अचेतन	अमूर्त	असंख्य	उदासीन गतिसहायक	एक द्रव्य	लोक-परिमाण
अधर्मास्तिकाय	अचेतन	अमूर्त	असंख्य	उदासीन स्थितिसहायक	एक द्रव्य	लोक-परिमाण
आकाशास्तिकाय	अचेतन	अमूर्त	अनन्त	अवगाहना	एक द्रव्य	लोकालोक-परिमाण
पुद्गलास्तिकाय	अचेतन	मूर्त	अनन्त	ग्रहण—परस्पर संबंध करना	अनन्त द्रव्य	लोक-परिमाण
जीवास्तिकाय	चेतन	अमूर्त	एक जीव की अपेक्षा असंख्य, सम्पूर्ण जीवास्तिकाय की अपेक्षा अनन्त	उपयोग	अनन्त द्रव्य	लोक-परिमाण

जीवत्त-उपदर्शन-पदं

१३६. जीवे णं भन्ते ! सउद्वाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ?

हंता गोयमा ! जीवे णं सउद्वाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आय-भावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ॥

१३७. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं चुच्चइ—जीवे णं सउद्वाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! जीवे णं अणंताणं आभिणि-बोहियनाणपज्जवाणं, अणंताणं सुयनाण-पज्जवाणं, अणंताणं ओहिनाणपज्जवाणं, अणंताणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं, अणंताणं केवलनाणपज्जवाणं, अणंताणं मइअण्णाण-पज्जवाणं, अणंताणं सुयअण्णाणपज्जवाणं, अणंताणं विभंगनाणपज्जवाणं, अणंताणं चक्खुदंसणपज्जवाणं, अणंताणं अचक्खु-दंसणपज्जवाणं, अणंताणं ओहिदंसणपज्ज-वाणं, अणंताणं केवलदंसणपज्जवाणं उव-ओगं गच्छइ । उवओगलक्खणे णं जीवे । से एण्णट्टेणं एवं चुच्चइ—गोयमा ! जीवे णं सउद्वाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ॥

जीवत्व-उपदर्शन-पदम्

जीवः भदन्त ! सोत्थानः सकर्मा सबलः सवीर्यः सपुरुषकार-पराक्रमः आत्मभावेन जीवभावम् उपदर्शयति इति वक्तव्यं स्यात् ?

हन्त गौतम ! जीवः सोत्थानः सकर्मा सबलः सवीर्यः सपुरुषकार-पराक्रमः आत्मभावेन जीवभावम् उपदर्शयति इति वक्तव्यं स्यात् ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जीवः सोत्थानः सकर्मा सबलः सवीर्यः सपुरुषकार-पराक्रमः आत्मभावेन जीवभावम् उपदर्शयति इति वक्तव्यं स्यात् ?

गौतम ! जीवः अनन्तानाम् आभिनिबोधिक-ज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां श्रुतज्ञानपर्यवा-णाम्, अनन्तानाम् अवधिज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां मनःपर्यवज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां केवलज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां मत्य-ज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां श्रुताज्ञानपर्यवा-णाम्, अनन्तानां विभंगज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानां चक्षुदर्शनपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् अचक्षुदर्शनपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् अवधि-दर्शनपर्यवाणाम्, अनन्तानां केवलदर्शनपर्य-वाणाम् उपयोगं गच्छति । उपयोगलक्षणः जीवः । तद् एतेनार्थेन एवमुच्यते—गौतम ! जीवः सोत्थानः सकर्मा सबलः सवीर्यः सपुरुषकार-पराक्रमः आत्मभावेन जीवभावम् उपदर्शयति इति वक्तव्यं स्यात् ।

जीवत्व-उपदर्शन-पद

१३६. भन्ते ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से युक्त जीव अपने आत्म-भाव (आत्मप्रवृत्ति) से जीव-भाव (जीव होने) को प्रकट करता है—क्या यह कहा जा सकता है ?

हां, गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से युक्त जीव अपने आत्म-भाव से जीव-भाव को प्रकट करता है—यह कहा जा सकता है !

१३७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से युक्त जीव अपने आत्म-भाव से जीवभाव को प्रकट करता है—यह कहा जा सकता है ?

गौतम ! जीव आभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यवों, श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यवों, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यवों, मनःपर्यवज्ञान के अनन्त पर्यवों, केवलज्ञान के अनन्त पर्यवों, मतिअज्ञान के अनन्त पर्यवों, श्रुतअज्ञान के अनन्त पर्यवों, विभङ्गज्ञान के अनन्त पर्यवों, चक्षुदर्शन के अनन्त पर्यवों, अचक्षुदर्शन के अनन्त पर्यवों, अवधिदर्शन के अनन्त पर्यवों और केवलदर्शन के अनन्त पर्यवों के उपयोग को प्राप्त होता है। जीव उपयोगलक्षण वाला है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से युक्त जीव अपने आत्म-भाव से जीव-भाव को प्रकट करता है—यह कहा जा सकता है !

भाष्य

१. सूत्र १३६, १३७

जीव स्वरूप से अमूर्त और चैतन्यमय है, किन्तु प्रत्येक संसारी जीव शरीरधारी है। शरीरधारी होने के कारण वह मूर्त है, उसका चैतन्य अदृश्य है। वह क्रिया अथवा प्रवृत्ति के द्वारा दृश्य बनता है। जीव की पहचान ज्ञान से नहीं होती, ज्ञानपूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति से होती है। प्रवृत्ति की छह अवस्थाओं का सूत्रकार ने उल्लेख किया है—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम। जीव उत्थान, गमन, शयन, भोजन आदि आत्मभावों के द्वारा अपने चैतन्य को अभिव्यक्त करता है। विशिष्ट उत्थान विशिष्ट चेतनापूर्वक होता है—प्रत्येक विशिष्ट उत्थान के पीछे एक विशिष्ट प्रकार की चेतना काम करती है। यह चैतन्यपूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति ही जीव का लक्षण

बनती है। जीव का लक्षण उपयोग बतलाया गया है। ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं। ज्ञेय के अनुसार ज्ञान के पर्याय का परिवर्तन होता रहता है, इसीलिए उपयोग—चेतना का व्यापार जीव का लक्षण बनता है।

शब्द-विमर्श

आत्मभाव—उत्थान आदि क्रिया के लिए होनेवाला जीव-परिणाम।

जीवभाव—जीवत्व, चैतन्य।

पर्यव—बुद्धि से कृत अविभाग परिच्छेद।^१

आगास-पदं

१३८. कतिविधे णं भंते ! आगासे पण्णत्ते ?
गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा
—लोयागासे य अलोयागासे य ॥

१३६. लोयागासे णं भंते ! किं जीवा ?
जीवदेसा ? जीवप्पदेसा ? अजीवा ?
अजीवदेसा ? अजीवप्पदेसा ?
गोयमा ! जीवा वि, जीवदेसा वि, जीव-
प्पदेसा वि; अजीवा वि, अजीवदेसा वि,
अजीवप्पदेसा वि ।

जे जीवा ते नियमा एगिंदिया, बेइंदिया,
तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अणि-
दिया ।

जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा,
बेइंदियदेसा, तेइंदियदेसा, चउरिंदियदेसा,
पंचिंदियदेसा, अणिंदियदेसा ।

जे जीवप्पदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा,
बेइंदियपदेसा, तेइंदियपदेसा, चउरिंदिय-
पदेसा, पंचिंदियपदेसा, अणिंदियपदेसा ।

जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
रूवी य अरूवी य ।

आकाश-पदम्

कतिविधः भदन्त ! आकाशः प्रज्ञातः ?
गौतम ! द्विविधः आकाशः प्रज्ञातः, तद् यथा
—लोकाकाशः च अलोकाकाशः च ।

लोकाकाशः भदन्त ! किं जीवाः ? जीव-
देशः ? जीवप्रदेशः ? अजीवाः ? अजीव-
देशः ? अजीवप्रदेशः ?
गौतम ! जीवाः अपि, जीवदेशः अपि, जीव-
प्रदेशः अपि; अजीवाः अपि, अजीवदेशः
अपि, अजीवप्रदेशः अपि ।

ये जीवाः ते नियमाद् एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः,
त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः, अनि-
न्द्रियाः ।

ये जीवदेशाः ते नियमाद् एकेन्द्रियदेशाः, द्वी-
न्द्रियदेशाः, त्रीन्द्रियदेशाः, चतुरिन्द्रियदेशाः,
पञ्चेन्द्रियदेशाः, अनिन्द्रियदेशाः ।

ये जीवप्रदेशाः ते नियमाद् एकेन्द्रियप्रदेशाः,
द्वीन्द्रियप्रदेशाः, त्रीन्द्रियप्रदेशाः, चतुरिन्द्रिय-
प्रदेशाः, पञ्चेन्द्रियप्रदेशाः, अनिन्द्रिय-
प्रदेशाः ।

ये अजीवाः ते द्विविधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा
—रूपिणः च अरूपिणः च ।

आकाश-पद

१३८. आकाश कितने प्रकार का प्रज्ञात है ?
गौतम ! आकाश दो प्रकार का प्रज्ञात है, जैसे—
लोकाकाश और अलोकाकाश ।

१३६. भन्ते ! लोकाकाश क्या जीव है ? जीव का
देश है ? जीव का प्रदेश है ? अजीव है ?
अजीव का देश है ? अजीव का प्रदेश है ?
गौतम ! लोकाकाश जीव भी है, जीव का देश
भी है, जीव का प्रदेश भी है; अजीव भी है,
अजीव का देश भी है और अजीव का प्रदेश भी
है ।

जो जीव हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्री-
न्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं ।

जो जीव के देश हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय जीवों
के देश हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के देश हैं, त्रीन्द्रिय
जीवों के देश हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के देश हैं,
पञ्चेन्द्रिय जीवों के देश हैं और अनिन्द्रिय जीवों
के देश हैं ।

जो जीवों के प्रदेश हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय जीवों
के प्रदेश हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के प्रदेश हैं, त्रीन्द्रिय
जीवों के प्रदेश हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रदेश हैं,
पञ्चेन्द्रिय जीवों के प्रदेश हैं और अनिन्द्रिय जीवों
के प्रदेश हैं ।

जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
रूपी और अरूपी ।

१. भ.वृ.२।१३७—'पर्यवाः' प्रज्ञाकृता अविभागाः परिच्छेदाः ।

जे रूपी ते चउब्बिहा पण्णत्ता, तं जहा—
खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणु-
पोगला ।

जे अरूपी ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा
—धम्मत्तिकाए, नो धम्मत्तिकायस्य देसे,
धम्मत्तिकायस्स पदेसा; अधम्मत्तिकाए,
नो अधम्मत्तिकायस्स देसे, अधम्मत्ति-
कायस्स पदेसा, अद्वासमए ॥

ये रूपिणः ते चतुर्विधाः प्रज्ञाताः, तद् यथा
—स्कन्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, पर-
माणुपुद्गलाः ।

ये अरूपिणः ते पञ्चविधाः प्रज्ञाताः, तद्
यथा—धर्मास्तिकायः, नो धर्मास्तिकायस्य
देशः, धर्मास्तिकायस्य प्रदेशाः; अधर्मास्ति-
कायः, नो अधर्मास्तिकायस्य देशः, अधर्मा-
स्तिकायस्य प्रदेशाः, अध्वसमयः ।

जो रूपी हैं, वे चार प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
स्कन्ध, स्कन्ध के देश, स्कन्ध के प्रदेश और
परमाणुपुद्गल ।

जो अरूपी हैं, वे पांच प्रकार के प्रज्ञात हैं, जैसे—
धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश नहीं होता,
धर्मास्तिकाय के प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, अधर्मा-
स्तिकाय का देश नहीं होता, अधर्मास्तिकाय के
प्रदेश और अध्वसमय ।

भाष्य

१. सूत्र १३८, १३९

आकाश के दो खण्ड हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश ।
इनकी सीमा रेखा है—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय । वे जिस
आकाशखण्ड में व्याप्त हैं, वहां गति और स्थिति होती हैं । जहां
गति और स्थिति हैं, वहां जीव और पुद्गल का अस्तित्व है । इसलिए
धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त आकाशखण्ड लोकाकाश
है । शेष आकाश में आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है;
इसलिए उसकी संज्ञा अलोकाकाश है ।^१ लोकाकाश समीम है और
अलोकाकाश असमीम ।^१

जीव और अजीव दोनों लोकाकाश में व्याप्त हैं, फिर देश
और प्रदेश की व्याप्ति के प्रश्न की सार्थकता क्या है ? इस विषय
पर वृत्तिकार ने विमर्श किया है । उनके अनुसार देश और प्रदेश
का प्रतिपादन सापेक्ष है । नैयायिक, वैशेषिक आदि कुछ दार्शनिक
आत्मा को व्यापक और निरवयव मानते हैं । जैन दर्शन के अनुसार
आत्मा देह-परिमाण और सावयव है । इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर
जीव के देश और प्रदेश का प्रश्न उपस्थित किया गया है ।^१

पांच अस्तिकायों में एक पुद्गल-द्रव्य ही ऐसा है, जिसके देश
की संभावना की जा सकती है । पुद्गल-द्रव्य के दो प्रकार हैं—
परमाणु और स्कन्ध । परमाणु मिलते हैं, स्कन्ध बन जाता है; स्कन्ध
का भेद होता है, फिर परमाणु बन जाते हैं । पुद्गल-द्रव्य कभी
विभक्त और कभी अविभक्त होता रहता है, इसलिए उसका देश
संभव है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सर्वथा अविभक्त हैं ।
उनका एक भी प्रदेश (परमाणु) द्रव्य से पृथक् नहीं होता । उस

अवस्था में उनके देश की कल्पना नहीं की जा सकती; इसीलिए
सूत्रकार ने लोकाकाश में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के देश
का निषेध किया है । जीव के देश का विधान सापेक्ष दृष्टि से किया
गया है । संख्यात्मक दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और
आकाशास्तिकाय तीनों एक-एक हैं । जीव और पुद्गल—दोनों में से
प्रत्येक अनन्त हैं । अनन्त जीवों की अपेक्षा से एक जीव को जीवों
का एक देश कहा जा सकता है । वृत्तिकार ने संकोच-विकोच की
अपेक्षा से जीव की व्याख्या की है । उनके अनुसार एक जीव के
स्थान में अनेक जीवों के देश हो सकते हैं । इस दृष्टि से जीव के
देश का विधान किया जा सकता है ।^१ वृत्तिकार ने चूर्णिकार का
अभिमत उद्धृत किया है । चूर्णिकार के अनुसार अरूपी द्रव्य का
प्रतिपादन समुदय अथवा एक स्कन्ध के रूप में किया जाता है ।
वह स्कन्ध प्रदेशात्मक है, देशात्मक नहीं है । प्रदेश अवस्थित होते
हैं और देश अनवस्थित होता है । इसलिए अरूपी द्रव्य के देश का
निर्देश नहीं किया गया है । अरूपी द्रव्य के साथ जो 'देश' शब्द
का प्रयोग मिलता है, वह व्यवहार के लिए किया गया है ।^१ व्यवहार
के दो प्रकार हो सकते हैं—

१. स्वविषयगत व्यवहार—जैसे धर्मास्तिकाय अपने देश से
ऊर्ध्वलोक में व्याप्त होता है ।

२. परद्रव्यस्पर्शनादिगत व्यवहार—जैसे ऊर्ध्वलोकाकाश धर्मा-
स्तिकाय के देश का स्पर्श करता है ।^१ वृत्तिकार ने चूर्णिकार के आधार
पर ही प्रस्तुत सूत्र (१३९) की व्याख्या की है ।

१. द्रष्टव्य, म. ११।१००-१०८ ।

२. म. ११।१०९, ११० ।

३. म. वृ. २।१३९—ननु लोकाकाशे जीवा अजीवाश्चेत्युक्ते तद्देशप्रदेशास्तत्रोक्ता
एव भवन्ति, जीवाद्यव्यतिरिक्तत्वाद्देशादीनां, ततो जीवाजीवग्रहणे किं देशा-
दिग्रहणेनेति ? नैवं, निरवयवता जीवादाय इति मतव्यवच्छेदार्थत्वादस्येति ।

४. म. वृ. २।१३९—इह तु समेदस्याकाशाध्यातत्वेन विवक्षितत्वात्तदाधेयाः सप्त
वक्तव्या भवन्ति, न च तेऽत्र विवक्षिताः, बस्यमाणकारणात् । ये तु विवक्षि-
तास्तानाह—पंचेति, कथमित्याह—'धम्मत्तिकाए' इत्यादि, इह जीवानां पुद्-

गतानां च बहुत्वादेकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा स्थाने संकोचादितयाविधि-
परिणामवशाद्बहवो जीवाः पुद्गलाश्च तथा तद्देशास्तत्रदेशाश्च संभवन्तीति
कृत्वा जीवाश्च जीवदेशाश्च जीवप्रदेशाश्च, तथा रूपिद्रव्यापेक्षयाऽजीवाश्-
चाजीवदेशाश्चाजीवप्रदेशाश्चेति संगतम्, एकत्राच्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य
सद्भावात् ।

५. द्रष्टव्य, म. ११।१००, १०१ ।

६. द्रष्टव्य, वही, २।१४६, १४८ ।

७. म. वृ. २।१३९ ।

१४०. अलोयागासे णं भंते ! किं जीवा ? जीवदेसा ? जीवप्पदेसा ? अजीवा ? अजीवदेसा ? अजीवप्पदेसा ?
गोयमा ! नो जीवा, नो जीवदेसा, नो जीवप्पदेसा; नो अजीवा, नो अजीवदेसा, नो अजीवप्पदेसा; एगे अजीवदब्बदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे ॥

अलोकाकाशः भदन्त ! किं जीवाः ? जीवदेशाः ? जीवप्रदेशाः ? अजीवाः ? अजीवदेशाः ? अजीवप्रदेशाः ?
गीतम ! नो जीवाः, नो जीवदेशाः, नो जीवप्रदेशाः; नो अजीवाः, नो अजीवदेशाः, नो अजीवप्रदेशाः; एकः अजीवद्रव्यदेशः अगुरुकलधुकः अनन्तैः अगुरुकलधुकगुणैः संयुक्तः सर्वाकाशे अनन्तभागोनः ।

१४०. ^१भन्ते ! अलोकाकाश क्या जीव है ? जीव का देश है ? जीव का प्रदेश है ? अजीव है ? अजीव का देश है ? अजीव का प्रदेश है ?
गीतम ! वह न जीव है, न जीव का देश है, न जीव का प्रदेश है; न अजीव है, न अजीव का देश है, न अजीव का प्रदेश है। वह एक अजीव द्रव्य का देश है, अगुरुलघु है, अनन्त अगुरुलघु गुणों से संयुक्त है और अनन्त भाग से न्यून परिपूर्ण आकाश है।

भाष्य

१. सूत्र १४०

अलोकाकाश में केवल अजीव-द्रव्य का देश है—इसका तात्पर्य है कि अलोक में आकाश परिपूर्ण नहीं है। उसका एक भाग लोक में है, इसलिए अलोक में अजीव-द्रव्य का देश है।^१ अलोकाकाश परिपूर्ण आकाश की अपेक्षा अनन्त भाग न्यून है क्योंकि लोकाकाश

अलोकाकाश के अनन्तवें भाग जितना है।^१ वह अलोकाकाश अगुरुलघु है, अनन्त अगुरुलघु गुणों से संयुक्त होते हैं। 'अगुरुलघु' की मीमांसा के लिए भ.२।४५ का भाष्य द्रष्टव्य है।

अस्तिकाय-पदं

अस्तिकाय-पदम्

अस्तिकाय-पद

१४१. धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए षण्णत्ते ?
गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोय-फुडे लोयं चव फुसित्ता णं चिड्डइ ॥

धर्मास्तिकायः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः ?
गीतम ! लोके लोकमात्रः लोकप्रमाणः लोक-स्पृष्टः लोकं चैव स्पृष्ट्वा तिष्ठति ।

१४१. ^१भन्ते ! धर्मास्तिकाय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है ?

गीतम ! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही स्पर्श कर अवस्थित है।

१४२. अधम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए षण्णत्ते ?
गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोय-फुडे लोयं चव फुसित्ता णं चिड्डइ ॥

अधर्मास्तिकायः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः ?
गीतम ! लोके लोकमात्रः लोकप्रमाणः लोक-स्पृष्टः लोकं चैव स्पृष्ट्वा तिष्ठति ।

१४२. भन्ते ! अधर्मास्तिकाय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है ?

गीतम ! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही स्पर्श कर अवस्थित है।

१४३. लोयाकासे णं भंते ! केमहालए षण्णत्ते ?
गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोय-फुडे लोयं चव फुसित्ता णं चिड्डइ ॥

लोकाकाशः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः ?
गीतम ! लोके लोकमात्रः लोकप्रमाणः लोक-स्पृष्टः लोकं चैव स्पृष्ट्वा तिष्ठति ।

१४३. भन्ते ! लोकाकाश कितना बड़ा प्रज्ञप्त है ?

गीतम ! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही स्पर्श कर अवस्थित है।

१४४. जीवत्थिकाए णं भंते ! केमहालए षण्णत्ते ?
गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोय-फुडे लोयं चव फुसित्ता णं चिड्डइ ॥

जीवास्तिकायः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः ?
गीतम ! लोके लोकमात्रः लोकप्रमाणः लोक-स्पृष्टः लोकं चैव स्पृष्ट्वा तिष्ठति ।

१४४. भन्ते ! जीवास्तिकाय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है ?

गीतम ! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही स्पर्श कर अवस्थित है।

१. भ.वृ.२।१४०—अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाशद्रव्यस्य भाग-रूपत्वात्।

२. यही, २।१४०—लोकाकाशस्यालोकाकाशापेक्षयाऽनन्तभागरूपत्वादिति।

१४५. योगलत्तिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोय-
फुडे लोयं चव फुसित्ता णं चिड्ढइ ॥

पुद्दलास्तिकायः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः?

गौतम ! लोके लोकमात्रः लोकप्रमाणः लोक-
स्पृष्टः लोकं चैव स्पृष्ट्वा तिष्ठति ।

१४५. भन्ते ! पुद्दलास्तिकाय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है?

गौतम ! वह लोक में है, लोक-परिमाण है, लोक-
प्रमाण है, लोक से स्पृष्ट है और लोक का ही
स्पर्श कर अवस्थित है ।

भाष्य

१. सूत्र १४१-१४५

प्रस्तुत आलापक से 'लोक पञ्चास्तिकायमय है'—यह परि-
भाषा फलित होती है। चार अस्तिकाय लोकव्यापी हैं।
आकाशास्तिकाय केवल लोकव्यापी नहीं है, अतः 'लोक पञ्चा-
स्तिकायमय है'—यह सापेक्ष वचन है।

चार अस्तिकाय लोकप्रमाण हैं। इनमें धर्मास्तिकाय और
अधर्मास्तिकाय—ये दोनों एक-व्यक्तिक रूप में व्यापक हैं।

जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—ये दोनों अस्तिकाय
अनेक-व्यक्तिक हैं—जीव अनन्त हैं और पुद्गल (परमाणु और
परमाणुस्कन्ध) भी अनन्त हैं। तात्पर्य की भाषा में निर्दिष्ट है कि
सम्पूर्ण लोकाकाश में जीव और पुद्गल व्याप्त हैं। लोकाकाश का
एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां जीव और परमाणु अथवा स्कन्ध
का स्पर्श न हो।

फुसणा-पदं

१४६. अहोलोए णं भंते ! धम्मत्तिकायस्स
केवइयं फुसति ?

गोयमा ! सातिरेणं अद्धं फुसति ॥

स्पर्शना-पदम्

अधोलोकः भदन्त ! धर्मास्तिकायं कियत्
स्पृशति ?

गौतम ! सातिरेकम् अर्धं स्पृशति ।

स्पर्शना-पद

१४६. भन्ते ! अधोलोक धर्मास्तिकाय के कितने
भाग का स्पर्श करता है ?

गौतम ! वह धर्मास्तिकाय का कुछ अधिक आधे
भाग का स्पर्श करता है ।

१४७. तिरियलोए णं भंते ! धम्मत्तिकायस्स
केवइयं फुसति ?

गोयमा ! असंखेज्जइभागं फुसति ॥

तिर्यग्लोकः भदन्त ! धर्मास्तिकायं कियत्
स्पृशति ?

गौतम ! असंख्येयतमं भागं स्पृशति ।

१४७. भन्ते ! तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के कितने
भाग का स्पर्श करता है ?

गौतम ! वह धर्मास्तिकाय के असंख्यातवें भाग
का स्पर्श करता है ।

१४८. उहूलोए णं भंते ! धम्मत्तिकायस्स
केवइयं फुसति ?

गोयमा ! देसूणं अद्धं फुसति ॥

ऊर्ध्वलोकः भदन्त ! धर्मास्तिकायं कियत्
स्पृशति ?

गौतम ! देशोनम् अर्धं स्पृशति ।

१४८. भन्ते ! ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के कितने
भाग का स्पर्श करता है ?

गौतम ! वह धर्मास्तिकाय के कुछ कम आधे भाग
का स्पर्श करता है ।

१४९. इमा णं भंते ! रयणप्पभापुडवी धम्म-
त्तिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसति ?
असंखेज्जइभागं फुसति ? संखेजे भागे
फुसति ? असंखेजे भागे फुसति ? सव्वं
फुसति ?

गोयमा ! णो संखेज्जइभागं फुसति, असंखे-
ज्जइभागं फुसति, णो संखेजे भागे फुसति,
णो असंखेजे भागे फुसति, णो सव्वं
फुसति ॥

इयं भदन्त ! रत्नप्रभापृथिवी धर्मास्तिकायस्य
किं संख्येयतमं भागं स्पृशति ? असंख्येयतमं
भागं स्पृशति ? संख्येयान् भागान् स्पृशति ?
असंख्येयान् भागान् स्पृशति ? सर्वं स्पृशति ?

गौतम ! नो संख्येयतमं भागं स्पृशति, असंख्ये-
यतमं भागं स्पृशति, नो संख्येयान् भागान्
स्पृशति, नो असंख्येयान् भागान् स्पृशति, नो
सर्वं स्पृशति ।

१४९. भन्ते ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी क्या धर्मास्तिकाय
के संख्यात वें भाग का स्पर्श करती है ? असं-
ख्यात वें भाग का स्पर्श करती है ? संख्येय भागों
का स्पर्श करती हैं ? असंख्येय भागों का स्पर्श
करती है अथवा सम्पूर्ण का स्पर्श करती है ?

गौतम ! वह संख्यातवें भाग का स्पर्श नहीं करती,
असंख्यातवें भाग का स्पर्श करती है, संख्येय
भागों का स्पर्श नहीं करती, असंख्येय भागों का
स्पर्श नहीं करती और सम्पूर्ण का स्पर्श नहीं
करती ।

१५०. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुडवीए

अस्याः भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः घनो-

१५०. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी का घनोदधि क्या

घणोदही धम्मत्तिकायस्स किं संखेज्जभागं फुसति ? असंखेज्जभागं फुसति ? संखेजे भागे फुसति ? असंखेजे भागे फुसति ? सत्त्वं फुसति ?

जहा रत्तप्रभा तथा घणोदहि-
घणवाय-तणुवाया वि ॥

१५१. इमीसे णं भन्ते ! रत्तप्रभाए पुढवीए ओवासंतरे धम्मत्तिकायस्स किं संखेज्ज-
भागं फुसति ? असंखेज्जभागं फुसति ?
संखेजे भागे फुसति ? असंखेजे भागे
फुसति ? सत्त्वं फुसति ?

गोयमा ! संखेज्जभागं फुसति, नो असंखे-
ज्जभागं फुसति, नो संखेजे भागे फुसति,
नो असंखेजे भागे फुसति, नो सत्त्वं
फुसति ।

ओवासंतराई सत्त्वाइं ॥

१५२. जहा रत्तप्रभाए पुढवीए वत्तव्वया
भणिया एवं जाव अहेसत्तमाए ।

एवं सोहम्मे कप्पे जाव ईसीपम्भारा पुढवी
—एते सत्त्वे वि असंखेज्जभागं फुसति ।
सेसा पडित्तेहियव्वा ।

१५३. एवं अधम्मत्तिकाए, एवं लोयाकासे
वि ।

संग्रहणी गाहा

पुढवोदही घण-तणू,
कप्पा गेयेज्जणुत्तरा सिद्धी ।
संखेज्जभागं अंतरेसु
सेसा असंखेजा ॥ १ ॥

दधि: धर्मास्तिकायस्य किं संख्येयतमं भागं
स्पृशति ? असंख्येयतमं भागं स्पृशति ? संख्ये-
यान् भागान् स्पृशति ? असंख्येयान् भागान्
स्पृशति ? सर्वं स्पृशति ?

यथा रत्तप्रभा तथा घनोदधि-घनवात-
तनुवाताः अपि ।

अस्याः भदन्त ! रत्तप्रभायाः पृथिव्याः
अवकाशान्तरं धर्मास्तिकायस्य किं संख्येयतमं
भागं स्पृशति ? असंख्येयतमं भागं स्पृशति ?
संख्येयान् भागान् स्पृशति ? असंख्येयान्
भागान् स्पृशति ? सर्वं स्पृशति ?

गीतम ! संख्येयतमं भागं स्पृशति, नो
असंख्येयतमं भागं स्पृशति, नो संख्येयान्
भागान् स्पृशति, नो असंख्येयान् भागान्
स्पृशति, नो सर्वं स्पृशति ।

अवकाशान्तराणि सर्वाणि ।

यथा रत्तप्रभायाः पृथिव्याः वत्तव्वयता भणिता
एवं यावद् अधःसत्तम्याः ।

एवं सीधर्मः कल्पः यावद् ईषत्प्राग्भारापृथिवी
—एते सर्वेऽपि असंख्येयतमं भागं स्पृश-
न्ति । शेषाः प्रतिषेद्धव्या ।

एवम् अधर्मास्तिकायः एवं लोकाकाशोऽपि ।

संग्रहणी गाथा

पृथिव्युदधी घन-तनू
कल्पाः प्रैवेयानुत्तरी सिद्धिः ।
संख्येयतमं भागम् अन्तरेषु
शेषाः असंख्येयतमान् ॥

धर्मास्तिकाय के संख्यातवें भाग का स्पर्श करता
है ? असंख्यातवें भाग का स्पर्श करता है ? संख्येय
भागों का स्पर्श करता है ? असंख्येय भागों का
स्पर्श करता है अथवा सम्पूर्ण का स्पर्श करता
है ?

जैसे रत्तप्रभा पृथ्वी स्पर्श करती है, वैसे ही
घनोदधि, घनवात और तनुवात भी स्पर्श करते
हैं ।

१५१. भन्ते ! इस रत्तप्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर
क्या धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग का स्पर्श करता
है ? असंख्यातवें भाग का स्पर्श करता है ?
संख्येय भागों का स्पर्श करता है ? असंख्येय
भागों का स्पर्श करता है ? अथवा सम्पूर्ण का
स्पर्श करता है ?

गीतम ! वह संख्यातवें भाग का स्पर्श करता है,
असंख्यातवें भाग का स्पर्श नहीं करता, संख्येय
भागों का स्पर्श नहीं करता, असंख्येय भागों का
स्पर्श नहीं करता और सम्पूर्ण का स्पर्श नहीं
करता ।

इसी प्रकार सभी अवकाशान्तर वत्तव्व्य हैं ।

१५२. जैसे रत्तप्रभा पृथ्वी की वत्तव्वयता कही गई
है वैसे ही यावत् अधःसत्तमी (सातवीं पृथ्वी) की
वत्तव्वयता ज्ञातव्व्य है ।

इसी प्रकार सीधर्मकल्प यावत् ईषत्-प्राग्भारा
पृथ्वी—ये सभी धर्मास्तिकाय के असंख्यात वें
भाग का स्पर्श करते हैं । शेष विकल्पों का
प्रतिषेध कर देना चाहिए ।

१५३. इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय का और इसी
प्रकार लोकाकाश का स्पर्श करते हैं ।

संग्रहणी गाथा

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, बारह कल्प,
नी प्रैवेयक, पांच अनुत्तर विमान और सिद्धशिला
—इन में पृथ्वी, बारह कल्प, नी प्रैवेयक और
पांच अनुत्तर विमान के अवकाशान्तर धर्मा-
स्तिकाय आदि के संख्यात वें भाग का स्पर्श करते
हैं और शेष सब (पृथ्वी से सिद्धशिला तक) उनके
असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं ।

१. सूत्र १४६-१५३

जैन विश्वविद्या के अनुसार लोक का प्रमाण चौदह रज्जु है। वह तीन भागों में विभक्त है—१. अधोलोक २. तिर्यक्लोक ३. ऊर्ध्वलोक। धर्मास्तिकाय लोक की सीमा करनेवाला तत्त्व है। उसे आधार मानकर लोक के तीन विभागों की स्पर्शना पर विचार किया गया है। अधोलोक का व्याप्तिकेत्र (ऊंचाई की अपेक्षा से) सात रज्जु से कुछ अधिक है, इसलिए वह धर्मास्तिकाय के कुछ अधिक अर्धभाग का स्पर्श करता है। ऊर्ध्वलोक का व्याप्तिकेत्र सात रज्जु से कुछ कम है, इसलिए वह धर्मास्तिकाय के कुछ कम अर्धभाग का स्पर्श करता

है। तिर्यग्लोक लोक के प्रायः मध्य में है, इसलिए उसे मध्यलोक भी कहा जाता है। उसका व्याप्तिकेत्र १८०० योजन है, इसलिए वह धर्मास्तिकाय के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करता है। रत्नप्रभा पृथ्वी आदि सब की ऊंचाई (व्याप्तिकेत्र) संख्यात योजनों में होने से, वे धर्मास्तिकाय के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं। केवल अवकाशान्तर का व्याप्तिकेत्र (ऊंचाई) सर्वत्र असंख्यात योजन प्रमाण होने के कारण वह धर्मास्तिकाय के संख्यातवें भाग का स्पर्श करता है।

१. 'रज्जु' की मीमांसा के लिए देखें, विश्व-प्रहेलिका, पृ.११३-१२३।



परिशिष्ट

१. नामानुक्रम (व्यक्ति और स्थान)
२. भाष्यविषयानुक्रम ।
३. पारिभाषिक शब्दानुक्रम ।
४. आधारभूत ग्रन्थ-सूची ।
५. जिनदास महत्तरकृत चूर्णि—दो शतक ।
६. अभयदेवसूरिकृत वृत्ति—दो शतक ।

नामानुक्रमः व्यक्ति और स्थान

अकलंक	२३, २८, ७८, ६३, १३५, २२८, २३६, २५३
अर्नेस्ट पोपेल	१५६
अभयकुमार	२६६
अभयदेवसूरि	६-६, १३, २२, २३, ३२, ३६, ५७, ६३, ७४, ७८, ८८, १३५, १४१, १४५, १४७, १६५, १८३, १८५, १६१, २१६, २३३, २६६, २६६, २७२
अमृतचन्द	१३८
अरस्तु	२०
अरिष्टनेमि	२१५
आइंस्टीन	११, १६७
आत्रे	१५२
आनन्द	८६
आनन्दरक्षित	२७३
आसुरी	२०८
इन्द्रभूति	१४, १५, १७, १८, १६६, २७४
इम्मेन्युअल काण्ट	११
उमास्वाति	८१, ८२, ८८, ६१, ६२, १००, १८७
ऋषभ	६, १०, २१५
एंथानी डिकेस्पर	१५६
एनेक्जीमेण्डर	१३३
एनेक्जीमेनस	१३३
कपिल	२०८
करंजला	२०७, २१२, २१६, २१७, २३७
कलकत्ता	४५
कार्तिकेय	२३६
काननद्वीप	४५
कालास	१७६-१८३
कालिकपुत्र	२७३
काशी	२१५
काश्यप	२७३
कुन्दकुन्द	६२
कृषिक	२६५
केशी	२१५
कौशल	२१५
गजसुकुमाल	२६६
गर्दभाल	२०७, २१८

गुजरात	४५
गुणरत्नसूरि	२०८
गुणशिलक	१२, १३, २०७, २३६
गोयमा	६१
गोशालक	६८, ८१, २६०
गौतम	६-१८, २१, २३-२६, २६-३२, ३४, ३६-४०, ४२, ४३, ४६-५६, ५६, ६२, ६४ ६७, ७०- ७३, ७५-७७, ७६, ८०, ८२-८५, ६४-१०३, १०५-१०८, ११-११८, १२१-१२६, १३६- १४०, १४२-१४४, १४६, १४८-१५२, १५४- १५७, १५६, १६०, १६२-१७४, १७६-१७६, १८४-१८७, १८६, १६२, १६३, १६७-२००, २०२-२०५, २०७, २१८-२२०, २१५, २५०- २५२, २५५, २५७, २५६-२६३, २७४-२८०, २८२, २८३, २८६-२६१, २६३, २६४, २६६- २६६
ग्रीक	१३३
चंपा	६
चरक	६६, १५१
चिल्लणा	१२
छत्रपलाशक	२०७, २१२, २१६, २१७, २३७
जमालि (ती)	२३, २३
जयाचार्य	१०-१२, ३३, ३५, ३६, ४२, ५६, ६२, ८१, ८७, ८६, ६१, ६२, ६६, १४७, २१४, २२८, २२६, २३३, २४६, २६२, २६५, २६६, २७१
जिनभद्रगणी (क्षमाश्रमण)	६, १८, ६२, १७४, १७५, १८२
जिनसेन	६
जिनेन्द्र वर्णी	६२
ज्ञातपुत्र	२६१
टामस, लुईस	२८०
तामलुक	४५
ताम्रलिसि	४५
तुंगिका	१६८, २६३, २६४, २६८-२७०, २७४-२७६
थावन्नापुत्र	२१५
थेलिज	१३३
देकार्त	१३६

देवर्धिगणी	६०, २०८, २३६
धर्मसी	८१, ६६
धारिणी	२६६
नार्थ करोलिना	१५६
पंचशिख	२०६
पकुध कात्यायन	१६१
पतञ्जलि	१३५, १६५, २०८
पाशर्व	६१, ६३, १८२, १६८, २१०, २१५, २४८, २७३
पिंगल	२०६, २११, २१२, २१६, २२२
पुण्यविजयजी	६
पुष्पदन्त	६, १०
पुष्पवतिक	२६३, २६८, २७४
प्रवाहण जैवलि	१३४
प्लेटो	२०
बंगाल	४५
बम्बई	४५
बाशम ए. एल.	६६
बुद्ध, गौतम	२०६
बेचरदासजी	१५३
ब्रह्म	२०८
ब्रह्मऋषि	८
ब्राह्मी	६, १०
भद्रबाहु	६, २५२
भरत	२६६
भरद्वाज	१५२
भरौच	४५
भिक्षु	८६
भृगुकच्छ	४५
मंखलिपुत्रगोशालक	६६
मंखलीगोशालक	६६
मंडितपुत्र	५६
मधुरा	४५
मलयगिरि	६, १२, २२, ३६, ५७, ६३, ७४, ८८, १४१, १५८, २१६, २४६
मल्ल	२१५
मल्लवादी	६२
मल्लिषेण सूरी	२१०
महावीर	६, ११-१४, १७-१६, २१, २७, ४०, ४६, ६५, ६६, ७७, ८१, ८६, ९०, ९१-९३, ९८, ९९, १०१, १०३, १२६, १३०, १३४-१३६, १५१, १७६, १७७, १७६, १८२, १८७, १९७-१९९, २०१, २०७, २०६, २१४-२२७, २३०-२३४, २३७, २३६, २४३-२४५, २४७-२५०, २६०, २६३, २६६, २७३-२७६, २८०, २६१, २६२
मागध	२११, २१२, २१६, २२२
मैहिल	२७३
यशोविजयजी	७६, ६२

राजगृह	५, ६, ११, १३, ४७, १६८, १६६, २०७, २४४, २६३, २७४-२७६, २७६
रैक	१३३
रोह	१२६-१३४
लाइबनिस्	१४०
लायमन	१८५
लिच्छवी	२१५
लुईस टामस	२८०
वज्री	२१५
वज्रस्वामी	८
वाचस्पति मिश्र	२०८
वार्षगण्य	२०८
विनयविजय	२३६
विलियम फिफर	१५६
विशाल	२१०
वीरसेन	८, ६२
वैशालिक	२१५
वैशाली	२१०, २१५
शंकराचार्य	२३६
शय्यभवसूरि	८, ६
शान्त्याचार्य	२७१
शिकागो	२६७
शिवशर्माचार्य	६३
शीलांकाचार्य	२६६
श्यामार्य	६
श्रावस्ती	२०७, २१०, २१२, २१३, २१७-२१९, २२२
श्रीकृष्ण	२०८, २३६
श्रेणिक	१२
समयसुन्दर	६२
सिकन्दर	१६६
सिद्धसेन	११, २१, ७६, ७८, ६२, १३६
सिद्धसेनगणी	८२, २५३
सिद्धसेन दिवाकर	६०, ६२, ६३
सिद्धसेनसूरि	१५२
सुकुमालिका	६८
सुधर्मा	११, ६५, २३६
सुन्दरी	६
सेतक	२१५
स्कन्दक	२०७-२०६, २११, २१२, २१६-२२७, २३२, २३३, २३५, २३७-२३६, २४३, २४७-२५१
स्थूलभद्र	२५२, २५३
स्पिनोजा	१४०
हरिभद्र	६३
हरिभद्रसूरि	६, १३
हेमचन्द्र	७, २४६
हेराक्लाइट्स	१३३



परिशिष्ट-२

भाष्यविषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अंकुश	२१८	अवकाशान्तर	१२३, १३५
अंतिमशरीरी	१०४	अवगाहना	११२
अक्रियावाद	१९१	अवधारणी भाषा	२८१
अक्षय	२२३	अवभासित...प्रभासित करता है	१२३
अज्झत्थिय	२१७	अवस्थित	२२३
अज्ञान	१८३	अयिरति	३४
अज्ञान के भंग	११५	अव्यय	२२३
अदृष्ट	१८३	अव्यवधि	१८३
अधिक भंग	१२०	अव्याकृत	१८३
अनभिगम	१८३	अशून्यकाल	६५
अनलंकृतविभूषित	२२१	असंज्ञी	६८
अनिर्वृद्ध	१८३	असंज्ञी आयु	७०
अनिर्हारिम अथवा अनिर्हारि	२३०	असंयत का वानमंतरदेव-रूप में जन्म	४३
अनुदीर्ण	८६	असंवृत-संवृत	४०
अनुदीर्ण उदीरणाभव्य कर्म	८६	अस्तित्व-नास्तित्व	७७
अनुपधारित	१८३	अस्थिचर्मावनद्ध	२४४
अनुपरिवर्तन और व्यतिव्रजन	१७१	अधि-मज्ञा-प्रेमानुरागरक्त	२६६
अनेक बार अथवा अनन्त बार	२५५	आकर	४४
अन्तकर	१०४	आकाश-प्रतिष्ठित	१३७
अन्तक्रिया	६६, १६१	आकाशास्तिकाय	२६५
अन्तःशल्यमरण	२२६	आकीर्ण	४६
अन्तेवासी	१४	आकुलीकरण और परीतीकरण	१७१
अन्ययुक्तिक मत से महावीर के मत की भिन्नता	२६०	आक्षेप	२११
अपरा	१५३	आगल को ऊँचा और दरवाजे को खुला रखने वाले	२६६
अपौरुषेय	१३८	आचार-गोचर	२३३
अप्य	२७६	आचार-भाण्ड	२५०
अप्यभारे	२३३	आच्छादित	४६
अप्रतिकर्म अथवा अपरिकर्म	२३०	आजीविक	६६
अबोधि	१८३	आण्णए	२३५
अभिगमन....पर्युपासन	२१४	आतंक	२३३
अभिगमों	२७२	आत्मपन-भूमि में आत्मपना लेता है	२४१
अभिनिविष्ट	१५८	आत्म-भाव-वक्तव्यता	२७४
अभिसमन्वागत	१५८	आत्मकर्तृत्ववाद	२७
अरहंतादिशब्दों का विशेष अर्थ	७	आदिष्ट	६५
अर्थ	२१४	आध्यात्मिक	१८५
अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण	२१७	आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में गर्भस्य शिशु का विकास, क्षमता व व्यवहार	१५६
अर्थ	१४६	आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं	२४
अर्थपर्यकासन	२४२	आनन्दित	२२२
अलमस्तु	१०४	आनुगाभिकता	२१४
अलोकाकाश	२६६		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आया (आत्मा)	२३३	कर्बट	४५
आयु-क्षय, भव-क्षय और स्थिति-क्षय	२५१	कर्म	८२
आयुष्य का अल्पबहुत्व	७१	कर्म की विभिन्न अवस्थाएं	२६
आयोग और प्रयोग	२६५	कर्मकृत	२६२
आरम्भ, अनारम्भ	३२	कर्म के साथ काल का नियम	२६
आलोचना और प्रतिक्रमण कर	२४६	कर्म ग्रहण की प्रक्रिया	७३
आवास	१०७	कर्म परिवर्तन का सिद्धांत	४०
आश्रम	४५	कर्म-पुद्गल-वर्गणा	२८
आहार के प्रकार	१५२	कर्म-प्रतिष्ठित जीव	१३७
आहार के सन्दर्भ में सब्धेणं वेसं और सब्धेणं सब्धं	१४५	कर्म-संगृहीत जीव	१३८
आहार-पुद्गल-वर्गणा	२८	कर्मवाद	६८
आधौवधिक	१०४	कर्म, वर्ण, लेश्या	५७
इम्य	२१६	कर्म-वेदन	४८
इह-पर-भविक आयुष्य	१७६	कलकल	२१६
ईर्या	२७५	कलुषसमापन्न	२११
ईस्वर	२१५	कल्प	२०६
उग्र तपस्वी.....घोरब्रह्मचर्यवासी	१६	कल्पान्तर	६१
उद्यार-प्रस्रवण	१५३	कल्पोपपत्तिका	१६१
उद्भावच	१८३	कल्याण	२२१
उच्छ्वास और निःश्वास	१५३	कवल-आहार	१५३
उक्लुष्ट	२१६	कसीटी पर खचित स्वर्ण-रेखा तथा पद्म-केशर की भांति	
उत्तरवैक्रिय	११४	पीताम्भ गौरवर्ण वाले	१६
उत्तरासंग	२७२	कांक्षाप्रदोष	१७७
उत्थान	८२	कांक्षामोहनीय	७४
उत्पत्ति-निष्पत्तिवाद	१६१	कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन के प्रकार	८६
उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक	२२०	कांक्षामोहनीय का बन्ध आदि	८०
उत्पन्नज्ञानदर्शनधर	१०४	कांक्षित	२११
उत्पातपर्यंत	२८३	कांचनिका	२१७
उदक-गर्भ	२६०	कात्यायन	२०६
उदय	३१	कान्दर्पिक, किल्बिषिक और आभियोगिक	६८
उदयानन्तर-पश्चात्कृत कर्म	८६	काययोग में भंग	११६
उदीरणा	७५, ८६	काल-समय	२६
उदीर्ण	८६, १५८	काष्ठशय्या	१८३
उद्गति	१६६	किटकिटिकाभूत	२४४
उद्देश	२७६	कुंडिका	२१७
उद्दत्तमान और उद्भूत	१४४	कुत्रिकापणभूत	२६६
उपपद्यमान और उपपन्न	१४४	कृत	७४, १५८
उपसर्ग	१८३, २३३	कृतयोग्य	२४७
उपस्थित	१८३	केवल	१०३
उपहित	१८३	केवल इनका नानात्व ज्ञातव्य है	११७
उल्लोच-भूमि	२८४	केसरिका	२१७
उषाकाल में पी फटने पर	२४६	कौटुम्बिक	२१६
उष्णजलकुण्ड	२८०	कौतुक	२७१
उस काल और उस समय	११	क्रिया	१२८
एकपादिक	२४२	क्रियावाद	५६
एत्वं, इहं	६०	क्षत्रिय	२१५
ऐर्यापथिकी, साम्परायिकी	१६३	क्षम	२१४
ओराल	२२१	खेट	४५
औषध-भेषज्य	२६७	गणेशिया	२१८
कज्जइ	१२६	गमनीय	७६
करण	२३४	गर्ग	१५१
करोटिका	२१७	गुणरत्न-संवत्सर-तपःकर्म	२४०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
गुरुत्व और लघुत्व	१७१	तनुवात, घनवात, घनोदधि	१३५
गृध्रस्पृष्ट	२३०	तन्मना	१५७
गोपमाइ	२१८	ताप के १४ विशेषण	२४३
गौतम के मन में एक श्रद्धा एक शंसय और एक कुतूहल जन्मा...प्रबलतम बना	२०	तर्क	८८
गौतमसंगोत्र	१५	तलवर	२१५
ग्राम	४४	तल्लेश्य	१५७
ग्रामकण्टक	१८३	तापस	६८
घतुर्थ	२४१	तिर्यञ्च	६६
चतुर्दशपूर्वी, चार ज्ञान से समन्वित	१७	तुंगिकानगरी-श्रमणोपासक	२६४
चतुर्दशी, अष्टमी....अनुपालन करने वाले	२६७	तुम्हारा (ते)	७८
चरक और परिब्राजक	६६	तैजस व कार्मण के सत्ताईस भंग	११३
चरण	२३४	त्तिकडू	२३३
चरित्रान्तर	६१	त्रिदण्ड	२१७
चलमान-चलित आदि नव पद	२१	त्रयणुकवाद	१६१
चलित, अचलित (कर्म प्रक्रिया)	३०	वेज	२३३
चित, उपचित	७४	दर्शनभ्रष्ट स्वतीर्थिक—जैन मुनि वेषधारी	६६
चिन्तित	२१७	दर्शानान्तर	६०
चैत्य	१२, २१४	दायित्वपूर्ण	२७६
छन्द	२०६	दीक्षान्त भाषण	२३४
छहों अंगों का वेत्ता	२०६	दीर्घीकरण और हस्वीकरण	१७१
जनसम्मर्द...जनसन्निपात	२१३	दृष्टिगोचर	१२३
जन्म और आयुष्यवाद	६०	देव के विशेषण—महद्विक आदि	१४८
जिन	१३	देवत्व प्राप्त करने योग्य असंयमी	६७
जिनस्थानों में	११६	देवसंनिपात	२४६
जिसका जो नानात्व है वह ज्ञातव्य है	१२१	देसं उवस्मइ, देसं पचस्खाइ	१६१
जीवंचीव	२४४	देसेणं, देसं, सब्बेणं, सब्बं	१४४
जीव-अजीववाद	१३४	दोनों हथेलियों से निष्पन्न समुत् वाली....अंजलि को	२४६
जीव और पुद्गल का सम्बन्ध	१३६	द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः	२०१
जीव का लक्षण	२६४	द्रष्टा के चित को प्रसन्न करने वाला....रमणीय	२६०
जीव-प्रतिष्ठित अजीव	१३७	द्रोणमुख	४५
जीव-संगृहीत अजीव	१३८	धन्य	२२१
जीवास्तिकाय और जीव	२६२	धमनिंसंतत	२४४
जीवों का भव-परिवर्तन	६५	धर्मकथा	२३१
ज्ञाता, ज्ञान देने वाले	१३	धर्मजागरिका	२४६
ज्ञान आदि का भवान्तर संक्रमण (पुनर्जन्म)	३७	घाजरत्ताओ	२१८
ज्ञानान्तर	६०	ध्यानकोष्ठक में लीन होकर	१६
ज्यौतिषायण	२०६	ध्रुव	२२३
ढके हुए	४६	न अति दूर और न अति निकट, ऊर्ध्वजानु अधःसिर (उकडू आसन की मुद्रा में)	१८
णवसं—गेरइया	६१	नगर	४४
णवसं—मणुस्सा	६१	नन्दित	२२२
णावकंखइ	१८५	नमस्कार महामन्त्र	६
तद्धित	१५७	नमस्कार महामन्त्र का मूल-स्रोत और कर्ता	८
तत्तीव्राध्यवसान	१५७	नयान्तर	६२
तत्त्वों के चार वर्गीकरण	२६१	नाम-गौत्र	२१४
तथा	२३३	निःश्रेयस	२१४
तथारूप	१५७, २१४	निगम	४४
तदध्यवसित	१५७	निघण्टु	२०६
तदर्थोपयुक्त	१५७	नित्य	२२३
तदर्पितकरण	१५७	निघत	१५८
तद्ध्यमरण	२२६	निमित्त	८२
तद्भावनाभावित	१५७	नियत	२२३

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
नियमान्तर	६३	प्रशास्ता	२१७
निरावरण प्रभा	२८४	प्रस्थापित	१५८
निरुक्त	२०६	प्रहाण	२०६
निरोध	२०६	प्राणातिपात....मिथ्यादर्शनशल्य	१२६
निर्ग्रन्थ-प्रवचन	२३३	प्रायश्चित्त	२७१
निर्जरण	७५	प्रायोपगमन	२३०
निर्हारिम या निर्हारि	२३०	प्रायोपगमन अनशन की अवस्था में	२४७
निश्छिद्र प्रश्नव्याकरण	२६६	प्रार्थित	२१७
नैरयिक असंज्ञी आयु	७०	प्रासादावतंसक	२८४
नैरयिक और पृथ्वीकायिक जीवों में अन्तर	११८	प्रासुक-एषणीय	१८६
नैरयिक जीवों में आयुस्थिति व कषाय संज्ञा	१०६	प्रीतिमन	२२२
नैरयिकों का आहार एवं जीवन	५६	प्रेत्यभव	२१४
नैरयिकों के भंग	११२	फलकशय्या	१८३
पंडित	१८७	बंधणय	२०६
पंडितमरण	२२८	बद्ध	१५८
पत्तन	४५	बन्ध करता है	७१
पमाइयबं	२३४	बल	८२
परमाधोवधिक	१०४	बलिकर्म	२७१
पराक्रम	८२	बहुसम्	२८४
परिचरणा-वेद	२५८	बाल	१८७
परिनिर्वाणहेतुक	२५०	बाल, पंडित और बालपंडित का आयुष्य	१६१
परीषह	१८३, २३३	बालमरण के प्रकार	२२७
पर्यकासन	२४२	बाल्य	१८३
पर्याप्ति और पर्याप्त	१५६	दिना विराम	२४१
पर्युपासना के लाभ	२७८	बोल	२१६
पवित्रक	२१८	ब्रह्मचर्यवास	१०४
पांच महाव्रतों की आरोपणा करूं	२४६	ब्राह्मी लिपि को नमस्कार	६
पारम	२०६	भंग-शून्य	१२०
पीत आभवाले	२४६	भंते वह ऐसा ही है, भंते वह ऐसा ही है	४६
पुद्गल और जीव की त्रैकालिकता	१००	भक्तप्रत्याख्यान	२३०
पुरुषकार	८२	भङ्गान्तर	६२
पुरुषार्थवाद (आत्मकर्तृत्व)	८५	भट	२१५
पृथ्वीयों में	१०७	भण्डमत्तोवगरण	१६७
पृथ्वीशिलापट्ट	२४६	भवधारणीय	११४
पैतिक	२३३	भवसिद्धिक-सिद्धि-और सिद्धवाद	१३५
प्रकृति-उदीरणा की योग्यता	८६	भव्य	१६६
प्रज्ञा	८८	भव्यद्रव्यदेव	६७
प्रतिक्रमण	१८३	भाण्ड	२३३
प्रतिदिनभोजी	२२०	भाण्डकरपडक	२३३
प्रतिलोभ भंग वक्तव्य हैं	११७	भारयुक्त और भारहीन पदार्थ	१७४
प्रतीक्षित	२३३	भिक्षु-प्रतिमा	२३८
प्रत्यय	८२	भेदसभापत्र	२११
प्रफुल्लित उत्पल और अर्धविकसित कमल वाले	२४६	भोज	२१५
प्रमत्त-अप्रमत्त का विभाग वक्तव्य नहीं है	३५	भंगल	२७१
प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत	३४	भंगल-पद	५
प्रमाणान्तर	६३	भडम्ब	४५
प्रमोक्ष	२११	मतान्तर	६२
प्रयोग से	७८	मध्यरात्रि में	२४६
प्रवचनभासा	१०४	मन को धारण करता हुआ...संचर करता हुआ	७६
प्रवचनान्तर और प्रवचनी-अंतर	६१	मनोगत	२१७
प्रवर	२७२	मरण-मीमांसा	२३०
प्रव्रजित, मुण्डापित, शैक्षापित, शिक्षापित	२३३	मल्ल	२१५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
महाव्रतों की आरोपणा का उल्लेख	२४८	वायुकाय की काय-स्थिति	२०२
मांगल्य	२२१	वायुकायिक जीव वायुकाय का आन, अपान, उच्छ्वास निःश्वास करते हैं	२०२
माडम्बिक	२१६	वायुकायिक जीवों का सशरीर निष्क्रमण या अशरीर निष्क्रमण	२०३
मात्रिक-पैत्रिक-अंग	१५४	विग्रहगति	१४७
मात्रा	२३४	विग्रहिक	२८४
मानुषी के गर्भ की स्थिति	२६१	विचिकित्सित	२११
मायी मिथ्यादृष्टि और अमायी सम्यग्दृष्टि	६१	विधान-मार्गणा	२०१
मार्गान्तर	६१	विनय	२३३
माहन	२१५	विपुल तेजोलेश्या को अन्तर्लीन रखने वाला	१७
मिश्र	११७	विशिष्ट दायित्वपूर्ण	२७६
मिश्रकाल	६५	विसम्पमाप	२२२
भृगु	१६६	वीरासन	२४२
भृतादी निर्ग्रन्थ	२०६	वीरियवज्राई	१६७
संघनसंनिकास	२४६	वीर्य	८२
मैथुन के द्वारा होने वाला असंयम	२६३	वीर्यलब्धि के प्रकार (उपस्थापन-अपक्रमण)	६६
मोक्षवाद	१०३	वीर्यलब्धिक	१५६
यथासूत्र... यथासाम्य	२३८	वृत्ति	२३४
यात्रा	२३४	वृषिका	२१७
यावत्	३५	वेदन	७५
युगप्रमाण भूमि को देखने वाली दृष्टि	२७५	वेदनावाद	५७
योग्य	२७६	वैक्रियलब्धिक	१५७
योध	२१६	वैक्रियसमुद्घात	१५७
योनि-बीज	२६१	वैनयिक	२३३
योनि में नौ लाख जीव	२६२	वैशालिकश्रावक	२१०
राख के ढेर से ढकी हुई...तपस्तेज की श्री से	२४४	वैहानश	२२६
राजगृह नाम का नगर या	११	व्यतिकीर्ण	४६
राजधानी	४५	व्यवच्छेद	२०६
राजन्य	२१५	व्याकरण	२०६
राजा	२१५	व्याघात और निर्व्याघात	२०१
रोग	२३३	शंका....कलुष	७५
रोह के प्रश्न, महावीर के उत्तर	१३३	शकित	२११
लक्षण, व्यञ्जन और गुणों से युक्त	२२१	शरीर-निरपेक्ष	१७
लघिमाऋद्धिसम्पन्न	१७	शाश्वत	२२३
लब्धापलब्धी	१८३	शाश्वत-अशाश्वत	१८७
लब्धार्थ	२६६	शिक्षा	२०६
लाघव	१७६	शिव	२२१
लिङ्गान्तर	६१	शील	२६७
लिच्छवी	२१५	शुद्ध प्रवेश	२७२
लेश्या	६१	शून्यकाल	६६
लोक	२३४	शुगाटक....पथ	२१३
लोक-अलोकवाद	१३४	शुंगार	२२१
लोक का निरूपण वर्णगन्ध आदि पर्यवों से	२२३	श्रमण-माहण	१५७
लोक का प्रमाण	२६८	श्री	२२१
लोक पंचास्तिकाय है	२६७	श्रुत को नमस्कार	१०
लोकद्रव्य	२६२	श्रेष्ठी	२१६
वज्रऋषभनाराय संहनन	१५	श्लैष्मिक	२३३
बण्णवज्ज	१५८	श्वासोच्छ्वास	२०१
वर्षनवाची आलापक	११	षष्टितन्त्र	२०६
बलयमरण	२२६	संकल्प	२१७
वशासमरण	२२६	संख्यान	२०६
वह निकट आ गया है....निकट मार्ग पर है	२१६	संज्ञा	८८
वातिक	२३३		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
संपल्यंकासन	२४६	सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेग और व्युत्सर्ग	१८२
संयतासंयत	३३	सामुदायिक	२७५
संयम	१०४	सायुष्क संक्रमण या निरायुष्क	१५१
संयम और तप से अपने आप को भावित करते हुए	१६	सारक	२०६
संयम की आराधना करने वाले	६८	सार्थवाह	२१६
संयम की विराधना करने वाले	६८	सिंहनाद	२१६
संलेखना की आराधना में तीन	२४७	सित	१३८
संवर	१०४	सिद्ध....सब दुःखों का अन्त करता है	४१
संवर-निर्जरा की चर्चा	२७३	सुकलेसाणं	६१
संवेग	१५७	सुख	२१४
संसार	६५	सुहस्ती	२४६
संस्थान	६५, २०६	सूक्ष्म, स्थूल	२८
संस्थान-काल	६५	सूर्य का उदय और अस्त	१२२
संहनन	११३	सेनापति	२१६
सण्ह, लण्ह	२८४	सोपक्रम आयु, निरुपक्रम आयु	२०२
सत्त्व	२०६	सोमणस्सिण	२२२
सत्य के प्रति स्वयं निश्चल (असहेज)	२६५	स्कन्दक-कथा	२०८
सदा-समित	१४१	स्कन्दक के द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति	२३२
सन्निवेश	४५	स्थविर	१८३
समपादिका	२४२	स्थविर की विशेषता	२६८
समचतुरस्र संस्थान	१५	स्थान	११२, २४१
समाहारणा	६१	स्थान-मार्गणा	२०१
समिति, गुप्ति आदि मुनिचर्या का उपदेश	२३५	स्थिति-उदीरणा की योग्यता	८६
समुद्घात	२५२	स्थिति-स्थान	१०७
सम्यक् श्रद्धा	७६	स्नेह	२६३
सम्यग्दृष्टि में तीन ज्ञान का नियम है, मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान की भजना है	११५	स्नेहाय	१४१
सम्यग्मिथ्यादृष्टि में भंग	११५	स्पर्श	१२३
सर्वाक्षरसन्निपाती लब्धि से युक्त	१८	स्पर्शना	१२६
सवीर्य, अवीर्य	१६८	स्पृष्ट	४६, १५८
संबन्धि, सन्वाबन्धि	१२६	स्फोटवाद	१६१
सशरीर या अशरीर	१५१	स्वभाव से	७८
साठ भक्त	२४६	हर्ष	१२३
सात हाथ की ऊंचाई वाले समचतुरस्र संस्थान से संस्थित वज्रऋषभनाराच संहनन-युक्त	१५	हस्तिशुण्डिकासन	२४२
सन्निपातिक	२३३	हिंसासक प्रवृत्ति पर विभज्यवाद	१६५
सामान्य जीव	३५	हित	२१४
सामायिक आदि ग्यारह अंग	२३६	हुण्ड संस्थान	११४
		हृष्टतुष्ट	२२२
		होत्या	२१६



पारिभाषिक शब्दानुक्रम

अंग (आगम) ६, १८, २३६, २४६
 अकर्म ८३, ८४, ८६
 अकर्मभूमिज २२६
 अकाम निर्जरा ४३, ४४, ६८, १६१, २७४
 अक्रियमाण कृत १८६
 अक्रिया २७८
 अक्रियावाद १६१
 अक्रोध १७६, १७७
 अक्षर ६
 अगन्ध २८७, २८८, २८९
 अगर्हा १८१
 अगुरुलघु १२६, १७२, १७४, २६६
 अगुरुलघु पर्यव २२३, २२४, २२६
 अगृह्णि १७६, १७७
 अग्नि १३३, २०१, २६६
 अग्नि कुमार १०६
 अघात्य कर्म २२
 अचक्षुदर्शन ६०, २६३
 अचराम ४०
 अचरमशरीरी ४०
 अचित्त २०६, २८०
 अचेतन १४०, १६७, २२३, २६३
 अचेलत्व १७६, १७७
 अच्युत कल्प देव ६७, ६८, १०६, १४८
 अच्युत च्यवमान १४६
 अजीव १३०, १३४, १३६, १३८, २८६, २६१, २६२, २६३, २६४, २६६
 अज्ञान ८१, ११६, ११८, १२१, १७४, १७६, १८१
 अज्ञेयवाद ४८
 अढाई द्वीप २८६
 अणिमा १७
 अणु २८, १२४
 अणु-बादर १२६
 अणुव्रत ६६
 अतिथि १८६
 अतीतकाल ६४, १००, १३२, १७४, १७६, २२०, २८७, २८८, २८९
 अतीन्द्रिय ज्ञान १४, १७, ७६
 अत्यन्ताभाव ७८
 अथर्वणवेद २०७
 अदत्तादान ३३, १२८, १७०, २७२
 अदत्तादान-क्रिया १२६

अदृष्ट १८१
 अदृष्टजन्मवेदनीय १६६
 अद्धा-समय २६१
 अद्वैतवाद १३३
 अधर्मास्तिकाय १३४, १७३, १७६, १६७, २८६, २८६, २६०,
 २६१, २६२, २६३, २६६, २६८
 अधस्तन १०६
 अधिकरण १२६, २६४, २६६
 अधोलोक १०६, १२६, १४०, १४१, २६६
 अध्यवसान १६६, १६६, १६७
 अध्यवसाय ३४, ६७, ६८, १६६, १६६, १६७
 -काल ६६
 -स्थान ३६
 -साधना २६६
 अनगार १४, ३६, ४०, ४१
 अनधिगम ७६
 अनन्त १७२, २०८, २१२, २१६, २२२, २२३, २२६, २२७, २६६,
 २८८, २८९
 -अनन्त काल ६६
 गुना ६६, ६६
 अनन्तरावगाढ १२८
 -परम्परावगाढ १२६
 अनभिगम १८१
 अनलंकृतविभूषित २२१
 अनवकांक्षण-वृत्ति १६६
 अनवगाढ १२३
 अनशन १७, ६६, २४७, २४८
 -भूमि २४७
 अनाकार उपयोग ११६, १७४, १७६
 अनागतकाल १००, १०३, १३२, १७४, १७६
 अनादि ६२, ६६, १७२
 -अनन्त ४०
 का सिद्धान्त १३६
 पारिणामिक ७८, २२४
 सिद्ध २१०
 सिद्धि १३६
 अनानुपूर्वी १३१, १३२, १३३
 -कृत १२८
 अनारम्भक ३, ३१, ३२, ३४
 अनास्रव २७२, २७६, २७८
 अनाहारक २६

अनित्यस्य २०६
 अनित्य १८७
 अनिदान २३६
 अनिदावेदना ५८
 अनिन्द्रिय ३८, १५१, २६२, २६४
 अनिबद्ध मंगल ६
 अनियत विपाक ६६
 अनिर्यूढ १८१
 अनिहारी २२७, २३०
 अनुज्ञा ७५
 अनुत्तरोपपातिक देव ५७, १०६, २६८
 अनुत्थान ८३, ८४, ८५
 अनुदीर्ण ४८, ८२, ८३, ८४, ८६
 किन्तु उदीरणायोग्य ८२, ८३
 -उदीरणा भव्य कर्म ८६
 अनुपधारित १८१
 अनुपरिवर्तन १७१
 अनुभव १३६
 अनुभाग २६, ४०, ६३, ७४, ८६, ६४
 -उदीरणा ८६
 -कर्म ६७, ६८
 -बन्ध देखें अनुभाग
 अनुभाव ३६
 अनुमान ६३, २०८
 अनेकान्तवाद ६५, ६६, १३४, १४०, २३०
 अनेवंभूत वेदना ६६
 अन्तःशाल्यमरण २२६, २२८, २२६
 अन्तकर १०१, १०४, १७७
 अन्तकृत २०५
 अन्तक्रिया १, ६६, १६१
 अन्तर १२६
 अन्तराय ६४, १६६
 अन्तरालगति १४७, २०३
 अन्तिमशरीरी १०२, १०३, १०४, १७७, २०१
 अन्तेवासी १४
 अन्यतीर्थिक २५८
 अन्ययूथिक १७८, १८८, १८९, १९२, १९६, २५६, २७६
 अपक्रमण ६५, ६६, ६७
 अपघित १८८
 अपरा (स्लेसेंटा) १५१, १५३
 अपरिकर्म २२७, २३०
 अपरिग्रही ५६
 अपरिस्पन्दात्मक वीर्य ८२
 अपरीत १७१
 अपर्यवसित २१०
 अपवर्तन २६, २७, ३०, ३१, ४१
 अपान—देखें आन, अपान
 अपार्ध-पुद्गल परिवर्त ४०, १७१
 अपुरुषकारपराक्रम ८३, ८४
 अप्कायिक जीव ३५, ११६, १४१, १८५, १६७, १६६, २०१
 अप्रकम्प १६६
 अप्रतिकर्म २३०
 अप्रतिबद्धता १७६, १७७
 अप्रत्याख्यान ५६, ६०

अप्रत्याख्यानक्रिया ५१, ५२, ५५, ५६, १८४
 अप्रमत्त ३५, ३६, ६१
 संयत ३२, ३३, ३४, ३६, ५५, ५६
 अप्रशस्त लेश्या ३६
 अबल ८३, ८४, ८५
 अबहिलेश्य २३६
 अबाधाकाल ७४
 अबोधि १८१
 अब्रह्मचर्य २६३
 अभवसिद्धिक १३०
 अभव्य ६७
 अभाव २६०
 अभाषा १६०
 अभिगम १८१, २७०, २७२
 अभिग्रह ६३, २६६
 अभिघर्म १७७
 अभिनिविद्ध ४१
 अभिनिविष्ट १५७, १५८, १६६, १६७
 अभिप्राक्षर २५३
 अभियोगी ६६
 अभिरूप २६०
 अभिवादन २१४
 अभिसमण्णागय ४१
 अभिसमन्वागत १४६, १५८, १६६, १६७
 अम्याख्यान १२८, १२६, १७०
 अमनस्क ५७, ५८, ६०, ६८, ७०, ११५, २६२
 तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय—देखें असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय
 अमान १७६
 अमाया ६२, १७६
 अमायी ६१, ६२
 सम्यग्दृष्टि ५८, ६०, ६१, ६२
 अमावस्या २६७
 अमूर्च्छ १७६, १७७
 अमूर्त ७६, १६७, २०६, २६३
 अयथार्थवादी १७७
 अरहंताणं ७
 अरति-रति १७२, १७०
 अरस २८७, २८८, २८६
 अरिहंताणं ७
 अरुणवर द्वीप २८३
 अरुणोदय समुद्र २८३
 अरुहंताणं ७
 अरूपी २८७, २६४
 अर्थ घर्षाय २२४
 अर्थविग्रह ६०
 अर्थनाराच ११३
 अर्थपर्यकासन २४२
 अर्थभार २२१
 अर्थभागधी ८, १०
 अर्थभास २४३
 अर्हत् ५, ११, ४१, ७५, ६६, १०२, १०३, २२०
 -प्रवचन ११
 अलंकृत-विभूषित २२१
 अलमस्तु १०४

अलोक १२८, १३०, १३१, १३२, १३५, १६७, २८८, २९३, २९६
 अलोम १७६
 अल्पचेल १७६
 अल्पतर पुद्गल ५४
 अल्पप्रदेश-परिमाण ३६
 अल्पबहुत्व ७१, १२६
 अल्पशरीरी ५०, ५४, ५७
 अल्पेच्छा १७६, १७७
 अल्पोपधिक १७६
 अवकाशान्तर १२२, १२३, १३१, १३२, १३५, १७२, १७५, २६८, २६९
 अवगाढ ७३, १२३
 -अनवगाढ १२६
 अवगाहन २२४, २२५
 -गुण २८६
 अवगाहना १०६, ११२, ११५, ११६, १२६, २१०, २६३
 -स्थान १११
 -काल ११२
 अवग्रह ८८
 अवतारवाद २१०
 अवधारणा ८१
 अवधारणी २८१
 अवधि-ज्ञान १३, १७, ६०, १०३, १०४, २६३
 -दर्शन ६०, २६३
 अवर्ण २८७, २८८, २८९
 अवसर्पिणी ११, २०२
 अवस्थान-काल ६४, ६५
 अवस्थित २२४, २८७
 अवाय ८८, ६०
 अविग्रहगति १४५, १४७
 अविज्ञात १८१
 अविरत ३३, ४२, ४३, १६१ तथा देखें असंयत
 अविरति ३२, ३३, ३४, ५६, १८३ तथा देखें असंयत
 अविसंवादन ६२
 अवीर्य ८३, ८४, ८५, १६६, १६७, १६८
 अवेदनीय २७
 अव्यय २२४
 अव्यवच्छिन्न १८१
 अव्याकृत १८१, २०६
 अव्यापन्न १५४
 अव्युत्कालिक ध्यवमान १४६
 अव्युत्सर्ग २७२
 अव्रत—देखें अविरति
 अव्रती जीव—देखें अविरति
 अशरीर ३७, ३८, २०३
 अशुभ ३४, २०५
 योग ३२, ३३, ३४, ५६
 अशून्य-काल ६४, ६५, ६६
 अशैलेशीप्रतिपन्न १६७, १६८
 अश्रवण १८१
 अश्रुत १८१
 अष्टम भक्त २६६
 अष्टस्पर्शी २८
 असंख्यातगुना ५६, ७१
 असंख्यातवां माय २६६, २६९

असंख्येय १०६, ११२, २२७, २६३, २६६, २६७
 प्रदेश ११२, २२४, २२५, २६१, २६८
 असंख्येयभाग ५६
 असंक्षिप्त ५०, ५३, ५७, ५८, ६१
 असंज्ञी ६६, ६८, १२१, २६२
 -आयु ६७, ७०, ७१
 तिर्यचपदेन्द्रिय ६६
 असंयत ३२, ३३, ३५, ३६, ४२, ४३, ४४, ५४, ५५, ६६, ६७, १६१, १८७
 तथा देखें अविरति
 असंयत भव्य ब्रह्म ६७
 असंयती—देखें असंयत
 असंयम २३०, २६३ तथा देखें अविरत
 असंयमी तथा देखें असंयत
 असंवृत ३६, ४०, ४१
 असंवृत ब्रह्म ४०
 असंसारसमापन्न ३२, १६७
 असंहनन-अवस्था ११४
 असत् १३३, १३४
 असत्य ६२
 असातवेदनीय कर्म २६, ३६, ४१, ५७, ७४, १८४, १८७
 असिद्ध १३१
 असिद्धी १३५
 असुर २६४, २६६
 असुरकुमार देव ५६, ५८, ६१, ७२, १०५, १०७, ११७
 अस्तिकाय २१, १०१, १३१, १६७, १६९, २८५, २९०, २९१, २९३, २९६
 अस्तित्व
 ७७, ७८, ७९, ८३, ८४, १०१, १३३, १४०, २०८, २०९, २२४, २६०
 अस्थितकल्पी ६२
 अस्थिबंध १५; देखें संहनन
 अस्थिरचना ११३; देखें संहनन
 अस्पर्श २८७, २८८, २८९
 असृष्ट १२३, १२५, १२६, १२७, २०३
 अहमानिता २७७
 अहितक ३३, १६५
 अहेतुगम्य ७६
 अहेतुवाद ७६
 आकर ४२, ४४
 आकाश—देखें आकाशास्तिकाय
 -खण्ड २६३
 -प्रदेश ७३, १२६
 आकाशास्तिकाय १३४, १७३, १७५, १६७, २८५, २८८, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९६
 आकुलीकरण १७१
 आकृति १५
 आकृति-विज्ञान १४
 आक्षेप २११
 आक्सीजन २४
 आगम ६, ८, १५, ६६, ६०, ६१, ६२, २०८, २१३, २६५, २६१
 का व्याख्या-साहित्य ६६
 प्रमाण ६३
 युग का दर्शन १६७
 -संकलन-काल ६३, २०८
 -साहित्य-देखें आगम
 आगमों का संकलन २०८

आगमोत्तरयुग का दर्शन १६७
 आचारशास्त्रीय १६८
 आचार्य ५, १४, ६६
 आजीवक ६६, ६७, ६८, ६९, ८६, १६३, २१०, २६०
 आजीविक-देखें आजीवक
 आटो-लेब २८०
 आतापन-भूमी २४१
 आतापना २३६, २४०, २४१
 आत्म-कर्तृत्ववाद ८०, १२६, २६५
 -परिणाम ६३
 -प्रदेश ६८, १४५, २५२, २५३, २५४
 -भाव २६३, २६४
 -भाव-वञ्चन ६२
 आत्मा १७, १६, ३७, ३८, ४२, ६०, ८२, १८३, २०६, २१०, २५८, २७४, २६३
 आत्मा, सशरीर ३७
 आत्माद्बुल २२१
 आत्मारम्भक ३१, ३२, ३४
 आत्यन्तिक २२८
 आघातकर्म १८४, १८५
 आधिकारणिकी १६२, १६३, १६४
 आधुनिक विज्ञान २५३
 आधोवधिक अवधि १०२, १०४
 आध्यात्मिक दृष्टि १४०, १८७
 आन—देखें आन, अपान
 आन, अपान २४, १६६, २००, २०४
 आनत १०६
 आनापान २४
 आनुगामिकता ६३, २१३, २१४, २३२, २७०, २७१
 आनुपूर्वी १२८
 -अनानुपूर्वी १२६
 -कृत १२८
 आनुवंशिकी १४, १५
 आमामण्डल ५७, ६३
 आभियोगिक ६६, ६७, ६८
 आमिनिबोधिकज्ञान ६०, ११६, १२०
 आभ्युपगमिकी ६८, ६९, २६३
 आम्रकुञ्जक १५७, २३८
 आयु—देखें आयुष्य
 -क्षय २५१
 -बन्ध देखें आयुष्य-बंध
 -विज्ञान १५४
 -वेद १५१, १५२, १५३, १५४, १५६
 आयुष्य २६, ४२, ४८, ६०, ६१, ६४, १४८, १४९, १५६, १६०, १६१, १७८, १७९, २०३, २२६, २२७, २५२, २७३, २७४
 कर्म ३६, ४१, २०५, २५३, २७३
 -बन्ध ४४, ४८, ७०, १५१, १७९, २५१
 -वाद ६०
 आरंभिकी ५१
 आरण देवलोक १०६
 आरम्भ ३१, ३२, ५६
 आरम्भवाद १६१
 आरम्भिकी ३४, ५२, ५४, ५६, ५६, ६०, ६२
 आर्जवप्रधान २६६

आर्त-रौद्र-ध्यान २२६
 आलोचना २४६, २५०, २५१
 आवर्त २०
 आविचिमारण २२८
 आश्रम ४२, ४४, ४५
 आश्रव ३३, ५६, ८१, १०३, २६४, २६५, २६९
 -द्वार ३२
 आसक्ति २६६, २७३, २७६, २७७
 आस्रव—देखें आश्रव
 आहरण १४२-१४४
 आहार २८, २९, ३१, ४६, ५६, ५७, ६०, ६१, १४४, १५२, १६७, २५५
 -पर्याप्ति १४४, १५६
 -स्थिति २४
 आहारक २८, ३८, १२०, १५२
 शरीर १२०, १४६, १७५, २५३
 आहार-पुद्गल-वर्गणा २८
 आहारक लब्धि २५३
 वर्गणा ६३
 समुद्घात २५२, २५३
 आह्वियमाण आहृत १४८, १४९
 इतिहास २०७
 इत्यंस्थ २०४, २०६
 इन्द्रिय ३८, ६२, ८८, १४०, १५१, १५५, १८३, १६६, २०१, २२७, २५६, २६६
 -जयी १६
 -ज्ञान १५१
 -पर्याप्ति १४४
 -वशार्त २२६
 -संस्थान ३८
 इम्य २१३, २१६
 इलिका गति १४५
 इलैक्ट्रोनिक माईक्रोस्कोप २८०
 इहभक्ति ३७, ३८, १७६
 इक्ष्वाकु २१४
 ईर्या २३६, २७५, २७६
 ईशान १०६
 ईश्वर ४८, १३५, २०६, २१०, २१५
 -कर्तृत्ववाद २७, ४८, ७७, ७८, १३५
 ईश्वरप्रामा १३७, २०६, २६८
 ईहा ८८, ६०
 उकडू आसन १८, १६, २३८, २४१
 उग्र २१४, २१५
 तपस्वी १६
 उच्च-नीच २७५, २७६
 उच्चार-प्रसवण १५३, २३६
 उच्छ्वास, निःश्वास
 २४, ४६, ५४, ५६, ५७, ६०, ६१, १५०, १५३, १८२, १६७, १६९, २००, २०१, २०२, २०४
 उक्तिका १६
 उल्लिख शरीर १७
 उत्तर-वैक्रिय ११४
 उत्तरासंग २७२
 उत्तानशयन १५७, २३८
 उत्थान ८१, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, १६८, २४५, २६३

उत्पत्ति-निष्पत्तिवाद १६१
 उत्पत्तिस्त्रोत ८२
 उत्पन्नज्ञानदर्शनधर ४१,१०१,१०३,१०४,२३६
 उत्पत्त पर्वत २८२,२८३,२८४
 उत्पाद २१,२२,२३,७७,१००,१०१,१८७
 उत्सर्पिणी २०२
 उदकगर्भ २६०
 उदग्र २४३
 उदधिकुमार १०६
 उदधिप्रतिष्ठित १३७
 उदय ३०,३१,८१,८२,८३,८६,१६६,२६६,२७४
 के अनन्तर पञ्चालकृत कर्म ८२,८३,८६
 उदात्त २४३
 उदीरणा २२,२३,२६,२७,२८,३०,३१,४१,७३,७५,८२,८३,८६,
 ८७,६६
 -भव्य ८६
 -योग्य ८३,८४,८५,८६
 उदीरित २५,२६
 उदीर्ण ४१,४८,६१,८२,८३,८४,८५,८६,१५८,१६६,१६७
 उद्देशक ३१
 उद्देशना-अन्तेवासी १५
 उद्धर्तन २६,२७,४१,१४२,१४३
 उन्मान २२१
 उपकरण १६७
 उपकारक-शक्ति १५१
 उपचय २५,२६,२६,३६,७४,१५१,१५४
 उपचित ७३,७४,७५,१८१,१८३,१८८
 उपद्रवण ३२
 उपधारित १८१
 उपनिषद में सृष्टिवाद १३३
 उपपद्यमान १४२,१४४
 उपपन्न १४२,१४४,२५५
 उपपात ६०,६७,१६३
 उपयोग १०६,१३२,२०१,२६३,२६४
 गुणवाला २८६
 उपयोगलक्षण—देखें उपयोग
 उपवास १६,१७,२६७
 उपशामन ८३,८४,८६,८७
 उपशान्त १६६
 उपशामना २७,४१,८५
 उपस्थान ६४,६५
 उपस्थापना-अन्तेवासी १४,१५
 उपस्थित १८१,१८३
 उपहित १८१,१८३
 उपादेय २६५
 उपाध्याय ५,६६
 उभयारम्भक ३१,३२,३४
 उल्लोच भूमि २८३
 उष्णयोनिक जीव २७६,२८०
 ऊंचालोक १४१
 ऊर्ध्वजानु अधःशिरा १८,१६
 ऊर्ध्वलोक १०५,१२६,१४०,२६३,२६५
 ऋग्वेद २०७

ऋजुगति १४७
 ऋजुता ६२
 ऋजुसूत्रनय २२,२३,६२
 ऋद्धि १७,१४८,२५६
 एकत्व विक्रिया २५२
 एकदण्डी २०८
 एकभक्तिक कर्माशय ६६
 एकान्तपण्डित १५६,१६१
 एकान्तबाल ६६,१५६,१६१
 एकार्यक २३
 ऐकेन्द्रिय ८७,११३,१४५,१६६,२००,२०१,२६२,२६४
 एवंभूत ६२
 वेदना ६६
 एषणा २३६
 एषणीय १८६
 ऐर्यापथिकी १६२,१६३
 ओघ १८५
 ओज १५२,१५३
 आहार २८,१५२
 ओजस् १५२
 ओजस्वी २६८
 ओराल २६,२२१,२४३
 ओहिणाणजिणे १३
 औघ-औद्देशिक १८५
 औघिक १८,३६,६०
 औदारिक २८,३८,६३,११३,११८,१५१,१७५,२०३,२२४,२५६
 औदारिकमिश्र २५४
 औदारिकवर्गणा ६३
 औदारिकशरीर—देखें औदारिक
 औद्देशिक १८५
 औपक्रमिकी ६८,६६
 वेदना ६८
 औपग्रहिक १८
 औपपातिक २१३
 औपम्य ६३
 कड ४१
 कन्दर्पी भावना ६८
 कन्दुक गति १४५
 कम्पड ७
 कपाटाकार २५४
 करण ४१,८२,१५५,१५६,२३४
 करणप्रधान २६८
 करणवीर्य १६८,१६६
 कर्बट ४२
 कर्म २३,२६,२७,३०,३६,४०,४१,४२,४८,५३,५७,६०,६१,७४,७५,
 ८०,८१,८२,८३,८४,८५,८६,८७,८८,६२,१३६,१३७,१३८,१५१,१५८,
 १६६,१६७,१६८,१६९,१७३,१७५,१८५,२४५,२६२,२७३,२७४,२७६,
 २७७,२६३
 -उदय ६८
 -उदीरणा ८६
 -काण्ड २०८
 -क्षय ६६
 -ग्रंथ ७३,७४,११६

-दलिक ७४
 -निर्जरण ४४
 -निषेक ७४
 -पुद्गल २६,३०,३१,६३,७३,७४,८६,९८,२६३
 -पुद्गल-वर्गणा २६,२८
 -प्रकृति ६,४१,७३,६४
 -प्रतिष्ठित १३७,१३८
 -प्रदेश ३१,७५,९८
 -बन्ध ४०,४८,५७,५९,६०,८१,१५७,१९३,२७४
 -मुक्त ४०
 -रूप १९१
 -लेश्या १३१
 -विपाक ६६,१६५
 -वाद २७,४८,७३,९८
 -वेदन ४८,७५,९८
 -शरीर २८,३८
 -शास्त्र—देखें कर्मग्रन्थ
 -सत्ता २७७
 -सिद्धान्त २६५
 कर्माशय १६५
 कर्मिता २७३
 कलकल २१६
 कलह १३८,१७०
 कलुष ८६
 -समापन्न ७५,२११,२१२
 कल्प २०७,२०९
 -स्थिति ६१
 कल्पान्तर ८८,६१
 कल्पोपपत्तिका १६१
 कल्याण २२१,२४३
 कवल आहार १५०,१५१,१५२,१५३
 कषाय ३४,५६,६३,१८३,१९३,२५२
 का उदय या विलय ६३
 की अल्पता १६१
 कुशील निर्ग्रय ३५
 -चतुष्क ८१
 -वशार्त २२६
 -समुद्घात २५२
 कांक्षा ७४,७५,८६,९१,९२,९३,१७७,२११,२१२,२६४
 का जन्म ६१
 -प्रदोष ५,१७७
 मोहनीय कर्म ७२,७३,७४,७५,७६,८०,८१,८७,८८,
 ८९,९०,९१,९३
 कान्दर्पिक ६६,६७,६८
 कापिल ६६
 कापोत लेश्या ३४,३५,६०,६१,६२,११४,११६,११७,११८,१२०
 काय ४०,२०२
 -क्लेश १७
 -गुप्त २३५
 -परीत १७१
 -भवस्थ २६१
 -योग १६,११६,१६५,१७४
 -समित २३५
 -स्थिति ६५,२०२

कायिक परिष्पन्द १६५
 कायिकी क्रिया १६२,१६३,१६४,१६५
 कायोत्सर्ग ८,२३८,२५०
 -मुद्रा २३६,२४०,२४१
 कारण २१७
 कार्बन-डाइऑक्साइड २४
 कार्मण शरीर २८,२६,११२,११३,११६,११८,१२०,१४७,१५२,१७२,
 १७४,१७५,२०३,२२४
 योग २५४
 वर्गणा ६३
 काल ११,२६,३०,६०,६६,१०२,१२५,१२६,१२९,१३२,१६७,२००,
 २०१,२०१,२०२,२०७,२०९,२१०,२२०,२६३,२७४,२८७,२८८,
 २८९,२९१
 -मर्यादा ४८,२५१
 कालतः २२३,२२४,२२५,२२६
 काव्यानुशासन ११
 किपुरुष २६४,२६६
 किन्नर २६४,२६६
 किल्बिषिक ६६,६७,६८
 किल्बिषी भावना ६८,६९
 कीलिका १६,११३
 कुटिन्नत ६६
 कुण्डलिनी २४१
 कुत्रिकापण २६८,२६९
 कुब्ज १५
 कुलसम्पन्न २६८
 कुलस्थविर १८३
 कृत ७३,७५,१५७,१५८,१६६,१६७
 कृतयोगी २४७
 कृतयोग्य स्थविर २४५,२४७,२४८
 कृतिकर्म २०
 कृष्णपक्ष १७१
 कृष्ण—परिव्राजक ६६
 कृष्ण लेश्या ३४,३५,३६,६०,६१,६२,११६,११७,११८,१७४
 केवल ६०,१०३
 -ज्ञान १७,२२,६३,९०,९१,१२०,२६३
 -ज्ञानी १३,१०४
 -जाणजिणे १३
 -दर्शन ६०,२६३
 ब्रह्मचर्यवास १०१
 संयत जीवः ३६
 संयम १११
 केवली १२,१८,४१,१०२,१०३,२१०,२२०,२५३
 -समुद्घात २५२,२५३,२५४,२६२
 कोश ३८
 कोशिका-दीवारें २८०
 कौटुम्बिक २१६
 कौतुक २७१
 कौरव २१४
 क्रमविकासवाद १३३
 क्रमोपयोगवाद ६२
 क्रियमाण १६४
 कृत १२६
 क्रिया १८६,१९०

क्रिया ५६, ६०, ६१, ६२, १२८, १२९, १६१, १६२, १६३, १६४, १७६, १८६,
१९०, १९०, २०८, २६४, २६५
-वाद ५६
-वादी १६१
कोण १२६
क्रोध ६२, ८१, १२८, १७०, १७७, १८१, १८३
संज्ञा १०६
क्रोमोसोम १५
क्लम १५४, २३६
क्लेश १०३, १६५
क्षत्रिय ६६, २०८, २१३, २१५
क्षपण ६८
क्षम २३२, २७०
क्षमायाचना २५०
क्षय (क्षयिक) २२, ८१, १६६
क्षयोपशम १७, ३८, ४८, ८१, १६६
क्षेत्र ११, ६६, १२५, १२६, १६७, २०१, २२३, २२४, २२५, २२६,
२८७, २८६
खामणा २४७
खेचर ६६
खेट ४२
गंधर्व २६४, २६६
गणधर १४
-वाद ६५
गणस्थविर १८३
गणित-विद्या ६
गणित्सु २१८
गणेश्वर २१८
गणेश्वरी २१८
गति ४२, ४३, २६३
-परिणाम १७५
-सहायक २६३
गन्ध १५८, २२३, २८६, २६०
गमन २७५
गरिमा १७
गरुड २६४, २६६
गर्भ १४६
अवक्रान्ति-प्रकरण १५२
का देवलोक-गमन १५५
का नरक-गमन १५५
की मुद्रा १५७
-विज्ञान १५०, १५२, १५३, १५५, १५६, १५७, १५८
-शरीर १४६
गर्हा ८२, ८३, ८५, ८७, १८१
गाढ बन्धन ३६, ४०, १८५, १८६
गिरिपतन २२६, २२८
गुण २६७, २८७, २८८, २८९, २९२
गुणप्रधान २६८
गुणरत्न संवत्सर तपःकर्म २३६, २४०, २४३
गुणसूत्र (देखें क्रोमोसोम) १५, १५४
गुणस्थान ५६, ६२
गुप्ति २३५
गुरु १७४
गुरुत्व १७१

गुरुलघु १७२, १७४, २२३
गृहस्पृष्ट मरण २२६, २२७, २२८
गृहस्थ १६१
गेरुक ६८
गोत्र ६४, २०६
गोदोहिका १६, २३८
गोशालक के शिष्य ६८
ग्राम ४२, ४४
-स्थविर १८३
ग्रीक दर्शन में सृष्टिवाद १३३
ग्रीवेयक ६७, २६८
-त्रिक १०६
घनवात १३१, १३३, १३५, १३६, १७२, १७५, २६६
घनोदधि १३१, १३५, १३६, १७२, १७५, २६६, २६८
घोरतपस्वी १६, १७
घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष ६०
चक्रवर्ती १२
चक्षुदर्शन ६०, २६३
चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष ६०
चतुःस्थानपतित ५६
चतुःस्पर्शी २८
चतुरिन्द्रिय ८७, ११६, १६७, १६६, २०१, २६२, २६४
चतुर्गति-गमन २०६
चतुर्गत्यात्मक संसारकान्तर २२६
चतुर्थभक्त २३६, २४१, २४३
चतुर्दशपूर्वी १३, १४, १७, १८, ६०, २५३
चतुर्थांश ६१
चतुर्विंशस्तय ८
चतुष्क २१३
चत्वर २१३
चमर २८३
चमरचञ्चा १६६
चय २५, २६, २६, ७३, ७४, १५१
चरक ६६
चरक-परिव्राजक ६६, ६७
चरण २३४
चरणप्रधान २६८
चरमशरीरी ४०, ४१
चरित्रान्तर ८८, ६१
चलन २३
चलमान अचलित १८८
चलमान चलित २२, २३, १८६
चार द्वार वाले स्थान २१२, २६६
चार वेद २०७
चारित्र ३७, ३८, ६७, ६८, ६९, १८३, २४८, २४६
-पर्यव २२४
मोह १७, २७, ६६
चिण १३
चित ७३, ७४, ७५, १५५, १५६, १५७
चीनी बौद्ध सम्प्रदाय २०८
चेइय १२
चेतन १७, ६०, १३४, १४०, २२३, २६२
चेतना ६०
चेतन्य केन्द्र १६

चैतन्याद्वैतवाद १३४
 चैत्य १२, २०७, २१४, २३७, २६३, २७६
 चीबीस दण्डक ६०
 चीराहा २१२, २६६
 चौहटा २१२, २६६
 च्यवन २५१
 छद्मस्थ १०२, १०३, १०४
 छन्द २०७, २०६
 छह द्रव्य २६१
 छायास्थिक समुदाय २५२
 छेदन २३
 छेदोपस्थापनीय चारित्र १५, ६१, २४८, २४६
 जटाधारी ६८
 जडचैतन्याद्वैतवाद १३४
 जडाद्वैतवाद १३४
 जन-उकलिका २१२, २१४
 -ऊर्मि २१२, २१४
 -कलकल २१२, २१३
 -पद २१०
 -बोल २१२, २१३
 -व्यूह २१२, २१३
 -सत्रिपात २१२, २१४
 -समूह २१२
 -सम्मर्द २१३
 जन्म ६०
 -काल ६०
 -मरण ६२
 जन्मान्तर-सादृश्यवाद ६५
 जम्बूद्वीप १२३, २८३
 जलप्रवेश मरण २२६, २२८
 जाति २८, २०१
 -सम्पन्न २६८
 -स्थविर १८३
 -स्मरणज्ञान ६६
 जिण १३
 जिणे १४
 जिन १३, १४, ४१, ७५, ७६, १०२, २२०, २४५
 -कल्पस्थिति ६१
 -कल्पी मुनि २१७
 जीन १५
 जीव २४-२६, ३०-३५, ४०, ४१, ४४, ४८, ५१, ५२, ५६, ५८-६६, ७५,
 ८२, ८५, ११३, १३०, १३४, १३६-१४०, १४४-१४६, १६७-१७२,
 १८६, १६०, १६७, १६६-२०५, २०८, २०६, २११, २१२, २२३,
 २२४, २३४, २५२, २५५, २५६, २५८, २६१, २६३, २७३,
 २६०-२६४, २६५
 -अजीव २६४
 -अणु २८०
 -अवस्था २०६
 -अस्तिकाय १३४, १७३, १७५, २८५, २८६, २८७, २८६, २६०,
 २६१, २६२, २६३, २६५
 -त्व २०१
 -द्रव्य २००, २६१
 -प्रदेश २६, ३०, ३१

-भाव २६३
 -मुक्त १३७
 जेनेटिक साइंस १४
 जैन दर्शन ४८, ७७, ८६, १६१, १६७, २१०, २६२
 दर्शन में सृष्टि १३३
 महाराष्ट्री ८
 मुनि ६६, ६८, २३५
 मुनिवेषधारी ६७, ६६
 विज्ञान २५५
 साधना-पद्धति २१७
 जैव-रसायन १५
 ज्ञात २१४
 ज्ञान ३६, ३७, ३८, ६२, ६६, १०६, ११५, ११८, १२०, १३१, १७४, १७५,
 १८१, १८३, २७८
 -कोश ३८
 -दर्शन ६२
 पारम्भिक ३८
 -पर्यव २२५
 -मोह ८६
 ज्ञानान्तर ८८, ६०
 ज्ञानावरणीय कर्म ३८, ७४, ८६, ६४
 ज्ञानी ६८, २१६
 ज्ञानेन्द्रिय १३६
 ज्ञेय ७६
 ज्योतिष-शास्त्र २६७
 ज्योतिष्क देव ३५, ५६, ५८, ६७, १०६, १२१, १६८, २८१, २८६
 ज्योतिषायण २०६
 ज्वलनप्रवेश (मरण) २२६, २२८
 तत्तीव्राध्यवसान १५७
 तक्षित १५७
 तत्त्व १३३
 -ज्ञान २०८, २६४
 -विद्या १६७
 तथारूप १५७
 तदध्यवसित १५७
 तदर्थोपयुक्त १५७
 तदर्पितकरण १५७
 तदुभयभक्ति ३८
 तद्भवमरण २२६, २२८, २२६
 तद्भावनाभावित १५७
 तनुवात १३१, १३२, १३३, १३५, १३६, १७२, १७५, २६६
 तन्मना १५७
 तप १४, १६, १७, १६, ३७, ३८, ६१, ६६, १२१, १३०, १६६, १७६, १८७,
 १६३, २०७, २१२, २६३, २७२, २७३, २७७, २७८
 तपःकर्म २३६, २४०, २४३, २४४, २६४, २७४
 तपस्वी २१६
 तप्ततपस्वी १६, १७
 तमःप्रभा १०५, २५५
 तमस्तमा १०५, २५५
 तमिल ७
 तरुपतन (मरण) २२६, २२८
 तलवर २१५
 तल्लेश्य १५७

तापस ६६, ६७, ६८
 श्रमण ६८
 तिरछा लोक—देखें तिर्यग्लोक
 तिराहा २१२, २६६
 तिर्यग्योनिक ५७, ६१, ६४, ६६, ७०, ९७, ९८, १२०, १४८
 -आयु ७०
 गर्भ २६०
 -संसार-अवस्थान-काल ६४
 तिर्यग्लोक १४१, २८३, २६६
 तिर्यग्य ४२, ४३, ६६, ६७, ७०, १५१, १६०, १७१, २०४, २२६, २२७
 यौगलिक ७१
 तीन गुप्तियां १०४
 तीर्थकर १२, ६६
 तीव्र अनुभाव ३६
 तीव्र बन्धन ४०
 तेजः ३५, ३६, १२१
 तेजस्कायिक ३५, १८५, १६७, १६६
 तेजस्वी २६८
 तेजोलब्धि २५३
 तेजोलेश्या १४, १७, ३४, ६०, ६१, ६२, ११७, ११८, २५२, २७४
 तेजस २८, २६, ६३, ११२, ११३, ११८, १२०, १४७, १५२, १७२,
 १७५, २०३
 तेजस शक्ति २४१
 तेजस समुद्धा २५२, २५३
 त्रस १३६, १३७, १८५
 -नाडी २०१
 त्रायलिंश देव ८६
 त्रिक २१३
 त्रिदण्ड २१७
 त्रिदण्डी ६८, २०८
 त्रिप्रदेशी स्कन्ध १६१
 त्रीन्द्रिय ८७, ११६, १६७, १६६, २०१, २६२, २६४
 त्रैकालिक २०६
 त्र्यणुक १६१
 वाद १६१
 दण्डक ३५, ४८, ५६, ६०, ७२, ७३, १२८, १४६
 दण्डाकार २५४
 दण्डायत २३८
 दर्शन ३७, १३१, १७४, १७५, १८३
 पर्यव २२४, २२५
 भ्रष्ट स्वतीर्थिक ६६, ६७, ६६
 मोहनीय २७, ६६, ७४, ६७
 दर्शनान्तर ८८, ९०
 दर्शनावरण ६४
 दर्शनीय २६०
 दशमभक्त २४३
 दहन २३
 दार्शनिक ४८, ६५, २६५, २६६
 दिगम्बर-साहित्य ६२
 दिव्य शक्तियाँ २६५
 दिशा १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, २००, २०१
 कुमार १०६
 दीक्षा २४८

दीप्ततपस्वी १६
 दीर्घीकरण १७१, १७२
 दुःख १६१
 दुरधिगम ७६
 दुष्प्रवृत्ति ३२
 दृष्ट १८१
 दृष्टि १०६, ११८, १३१, १७४, १७५, १७७
 देव ४२, ६१, ६४, ६५, ६७, ६८, १४८, १४९, १५६, १६०, १६८,
 १७१, १६६,
 २२६, २२७, २५८, २६४, २६६, २७३, २७७, २८२
 -असंज्ञी आयु ७०, ७१
 -आयु ७०, ७१
 -गति ४५, ६७, ७०
 -त्व ६७
 -लोक ४३, ६७, ६८, २५१, २५६, २७३
 -संसार-अवस्थान-काल ६४
 देश ११, ५६, १७५, २६३
 -कथा ८१
 -तः आहार १५३
 -बन्ध १६
 -विरत ५६, ६८, ६६, २२८
 देशात्मक २६३
 देशी भाषा १२६
 द्वैतवादी २६१
 दोष १७०
 द्यूत ८१
 द्रव्य ११, २१, २२, ६३, ७८, ६६, १००, १३२, १७४, १७५, १८७, १६७,
 २०१, २०६, २२३, २२६, २८७, २८८, २८६, २६१, २६३, २६४
 -तः २२३, २२४, २२५, २२६
 -त्व २२३
 अवमोदरिका १७७
 क्रिया ६७
 मंगल ५
 लिपि १०
 लेश्या ५७, १०६, ११४, ११६, ११८, १२०, १२१, १५५, १५६,
 १५७, १७४, १७५
 वेद २५६
 शल्य २२६
 श्रुत १०
 सम्यक्त्व ७६
 द्रव्यार्थिक ६२, १८२, १८३
 द्रव्येन्द्रिय १५१
 द्रष्टा २६०
 द्रोण २२१
 द्रोणमुख ४२, ४४, ४५
 द्रोणी-प्रमाण २२१
 द्वादशभक्त २४३
 द्वादशांगधर १८, १८३
 द्वादशांगी २०, २८, ६१
 द्विप्रदेशी स्कन्ध १६०, १६१
 द्वीन्द्रिय ८७, ११६, १६७, १६६, २०१, २६२, २६४
 द्वीप १३१, १७५

द्वीपकुमार १०६
 द्वीपसमुद्र २८३
 द्वेष ८१,१२८,१६५
 द्वैक्रियवाद १७६
 द्वैतवाद १३४
 द्वैतवादी दर्शन १३४,२६१
 द्रव्यगुण १६१
 धन्य २२१,२४३
 धर्म ८१,१५६,२६७,२७३,२६१
 -कथा २३१
 -जागरिका २४६
 -ध्यान २४६
 धर्मान्तेवासी १५
 धर्मास्तिकाय
 ५६,१३४,१७३,१७५,१६७,२८५,२८८,२८६,२६०,२६२,२६३,
 २६५,२६६,२६६
 धारक २०६
 धारणा ८८,६०
 धूमप्रभा १०५,२५५
 ध्यानकोष्ठ १६,१३०
 ध्यानमुद्रा १६
 द्रौढ्य २१,२२,१००,१०१,१८७
 नगर ४२,४५
 -स्थविर १८३
 नपुंसकवेद २५६
 नमस्कार मंत्र ८,६
 नय २३,६२,१७४,१८३
 -दृष्टि २१
 नयान्तर ८८,६२
 नरक ३५,४३,६१,६६,७०,१५६,१६०,१७१,१६३
 नागकुमार २१४,२६४,२६५
 नाडी-तंत्र ३८
 नानाघोष २३
 नानार्थक २३
 नानाव्यञ्जन २३
 नामकर्म ६३,८१,८२,६४,२२४,२६२
 नाराच (संहनन) ११३
 नास्तिक २०८
 नास्तित्व ७७,७८,७६
 निःशक्ति २६६
 निःश्रेयस २१४,२३२,२७०
 निःस्पन्द ४१
 निकाचना २६,२७,३०,३१,४१,८६
 निकाय २०२
 निक्षेप १०
 निर्गठ २७
 निगम ४२
 निग्रह २६६
 निघण्टु २०७
 नित्यानित्यवाद १८७
 निदान २२६
 निद्रा ८१
 निधत्त २७,२६,३०,३१,४१,८६,१५७,१५८,१६६,१६७
 निबद्ध मंगल ६,८

निमित्त ८२
 नियत २२४
 नियत विपाक ६६
 नियति ८१
 -वाद ८१,६६
 नियम ११५
 नियमान्तर ८८,६३
 निरायुष्क १५१
 निरुक्त २०७,२०६
 निरुपक्रम २०३
 निरोध १८३,२७३,२७४
 निर्यन्त्र ६८,१८५,१८६,२०४,२०५,२०६-२१२,२५८,२५९
 -प्रवचन २३१,२३५,२६४
 निर्जरा १६,२३,२६,२६-३१,४२,४४,५७,७५,८५-८७,६८,२६४,२६५,
 २७२-२७४,२६१
 निर्जीण २५,२६,७२
 निर्देश १२६
 निर्युद्ध १८१
 निर्विचिकित्स २६६
 निर्विशयमान ६१
 निर्विष्ट ६१
 निर्वृत्तित १६४
 निर्वृत्त्यमान १६४
 निहारी २२७,२३०
 निहारीम २३०
 निलय १३३
 निश्चय नय २३,१८२
 निषद्या १६,२३८
 निषेक-रचना ७४
 निष्काक्षित २६६
 निःसृज्यमान १६४
 निःसृष्ट १६४
 निहत्त ४१
 निहत्त ६८,६६
 नील लेश्या ३४-३६,६०-६२,११६-११८,१२०
 नेगम ७०,६२,२६६
 नैयायिक २६५
 नैरयिक २६,३४,४६-५१,५७,५८,६०,६४,६५,७०,७२,८७,६७,६८,
 १०६,१०६,११२-११४,११६,११६,१२०,१३१,१४२,१५५,१६८,
 १७२,२२६,२२७,२५५
 -असंज्ञी-आयु ७१
 -आयु ७०
 यावत् वैमानिक १७५
 -संसार-अवस्थान-काल ६४
 नैश्चयिक काल १६७
 नोर्कर्म ८७
 नोर्कर्म-पुद्गल १४७
 नोकषायवशार्त २२६
 नो परीत-नो अपरीत १७१
 न्यग्रोध परिमंडल (संस्थान) १५
 न्याय दर्शन १५१
 पंकप्रभा १०५,२५५
 पंचयाम ६१
 पञ्चीत तत्त्व २०८

पञ्चास्तिकाय २८६, २६१
 पञ्चेन्द्रिय ६२, ६०, २०१, २६३, २६२, २६४
 तिर्यञ्च ३३-३५, ५४, ५८, ६१, ६५, ६६, १६८, २६१
 पण्डित १६१
 -पर्याय १८७
 -वीर्य ६४, ६५, ६६
 मरण २२७-२३०
 पत्तन ४२
 पद्म लेख्या ३४, ३५, ३६, ६१, ६२, १२१
 पनडुब्बियाँ २८०
 परंपरागत २०५
 परकाय २०३
 परतरभव ३८
 परपरिवाद १२८, १२६, १७०
 परमविक १७६
 परभाववञ्चन ६२
 परमअवधिज्ञान १०३
 परमकृष्ण लेख्या ११६
 परमहंस ६६
 परमाणु २८, ६६-१०१, १८८-१६१, २२३, २६०, २६३
 -स्कन्ध २६०
 परमात्मा २०६
 परमाधोवधिक अवधि १०२, १०४
 परम्परावागाढ १२४
 पराक्रम ८०-८२, ८५, १६८
 परारम्भक ३१, ३२, ३४
 परिग्रह ३३, ५६, १२८, १७०, २७२
 परिचारणा २५८, २५६
 परिज्ञापुर्वक २३०
 परिणमन २६, ४६
 परिणम्यमान परिणत १४८, १४६
 परिणाम ४०, ४४, ४८, २०२
 परिणामी कारण १४५
 परिणामी-नित्यवाद २२
 परिताप १६५
 परिनिर्वाण ४२, २५०
 परिनिर्वृत ३६, ४१, १०१, १०३, १७७, १८२, २०५, २५१
 परिनिव्वाह ४१
 परिव्राजक ६८, ६६, १६७, २०८, २१७, २१८
 परिस्पन्दात्मक वीर्य ८२
 परिष्कारविशुद्धि (चारित्र) ६१
 परीत १७१
 परीतीकरण १७१
 परीषह १८२, २३३
 -जयी १६
 परोक्ष ज्ञान ७६, ६३, १०४
 पर्यकासन १५, २४२
 पर्यय २२३
 पर्यव १३२, १७५, २२३, २२४
 पर्याप्त १४४, १५५, १५६
 पर्याप्ति १४४, १५५, १५६
 पर्याय ११, २२, ७८, ६६, १००, १४०, १७४, २२३
 -स्थविर १८३
 पर्यायार्थिक (नय) ११, ६२, १८२

पर्युपासना २०, २१२, २१४, २१६, २२०, २७०, २७१
 पर्व-तिथियाँ २६७
 पल्योपम ४३
 पवित्रक २१८
 पश्याकृत ८३
 पश्चाद् उपपन्न ५०, ५३, ५७
 पांचप्रदेशी स्कन्ध १६१
 पांच समितियाँ १०४
 पादोपसंग्रह २१४
 पानी २०१, २५५
 पाप ५८, २६५, २६१
 -कर्म ४२-४४, १२६
 -कर्म का प्रत्याख्यान ४३
 -स्थान १२६, १७२
 पारगत २०५
 पारमविक ३८
 पारिग्रहिकी क्रिया ५१, ५२, ५४, ५५, ५६
 पारिणामिक (भाव) ४०
 पारितापनिकी (क्रिया) १६२, १६३, १६४, १६५
 पार्श्व की परम्परा १६८
 पार्श्वशायन १५७, २३८
 पार्श्वपत्नीय १६८
 पाश ६२
 पाशचात्य दर्शन १३६
 पितृ-अंग १५४
 पुण्य ५८, १५६, १६५, २६५, २६१
 पुण्य-पाप ६२, २६४
 पुत्रजीवरसहरणी १५०
 पुद्गल २४-२६, २६, ३१, ३५, ४०, ४६, १००, ११३, १२७, १३७-१४०, १४४, १५२, १६१, २०१, २०२, २२३, २२४, २५२, २५३, २७६, २८०, २६१, २६५
 -द्रव्य १७४, २००, २६३
 -परिणाम २६०
 -वर्णना २५, १६१
 -संघात १५२
 पुद्गलास्तिकाय १३४, १७३, १७५, १६७, २८५, २८७, २८८-२६५
 पुनर्जन्म ३७, ५८, २१०, २७३
 -वाद २७, ४३
 पुराण-साहित्य २०८
 पुरुष २०८, २६१
 -क्रिया ८२
 -वेद २५८, २५६
 पुरुषकार-पराक्रम ८०-८५, २४५, २६१, २६३
 पुरुषमानोपेत २२१
 पुरुषार्थ ६६
 -वाद २७, ८१, ६८, ६६, १६६
 पुष्कार्थ २८६
 पूर्णिमा २६७
 पूर्व उपपन्न ५०, ५३, ५७
 पूर्व (कृत) तप २७६, २७७
 पूर्व (कृत) संयम २७३, २७४, २७७
 पूर्वजन्म ३८, ४८
 -स्मृति—देखें जातिस्मरण ज्ञान
 पूर्वबद्ध ४८
 पृथक्त्व विक्रिया २५२, २५३

पृथक्करण १८३
 पृथ्वी १०५, १३१, १३६, १७२, १७५, १९६, २०१, २५५
 कायिक (जीव) ३५, ५६, ५८, ६०-६२, ८७, ८८, १०६, ११८, ११९,
 १८५, १९७, १९६, २०१
 पैशुन्य १२८, १२६, १७०
 पीषधोपवास २६४, २६७
 प्रकृति २६, ३६, ६३, २०८, २६१
 -उदीरणा ८६
 -बन्ध ४०, ४१, ६३
 प्रक्षेप आहार २८, १५२
 प्रगृहीत २४३
 प्रज्ञापनीय ७६
 प्रणय ८१
 प्रणिधान १६५
 प्रतिक्रमण ४२, ४३, १८३, २४६, २५०, २५१
 प्रतिपृच्छा २७०
 प्रतिभा २३८
 प्रतिरूप २६०
 प्रतिलेखन ८१, २४८, २७५
 प्रतिषेध ७५
 प्रतिसंलीनता १६
 प्रत्त २४३
 प्रत्यक्ष ६३, २०८
 ज्ञान १४, ६२, ६३
 प्रत्यभिज्ञा ८८
 प्रत्यय ८२
 प्रत्याख्यान ४२, ४४, ५६, १६०, १६१, १८०, १८२, १८३, २४८, २६४,
 २६७, २७८
 प्रतिदिनभोजी २२१
 प्रत्युत्थान २१४
 प्रत्येक शरीरी २५५
 प्रदक्षिणा २०
 प्रदेश २६, ५६, ७३, ११२, १३२, १७४, २१०, २६०, २६३, २६४
 -उदय ८६
 -उदीरणा ८६
 -कर्म ६७
 -बन्ध ४०, ६३
 -स्कन्ध २६०
 प्रदेशालक २६३
 प्रदेशवगाही १२७
 प्रपञ्च-निरोध २०६
 प्रमत्त ३५, ३६, ६१
 और अप्रमत्त ६०
 संयत ३२-३४, ५५, ५६, ६०, ६८
 प्रमाणान्तर ८८, ६३
 प्रमाणोपेत २२१
 प्रमाता ७८
 प्रमाद ३४, ८०, ८१
 -योग ८०
 प्रमार्जन २७५
 प्रमेय ७८
 प्रमोक्ष २११
 प्रयोग से ७७, ७८
 पर्वचना ६२

प्रवचनकार ६१
 प्रवचनमाता १०१, १०३, १०४
 प्रवचनान्तर ८८, ६१
 प्रवचनी-अन्तर ८६, ६१
 प्रवर २७२
 प्रवृत्ति ३४, ५६
 प्रव्रज्या १५
 प्रव्राजना अन्तेवासी १४, १५
 प्रशस्त ३५, १७१
 प्रशान्त ३६, ४१, १०१-१०३, १७७, १८२, २५१
 प्रशासक १८३, २१३
 प्रशास्ता २१५
 -स्थविर १८३
 प्रश्न २१७
 प्रस्थापित १५७, १५८, १६६, १६७
 प्रहाण २३
 प्राकृत भाषा १२६
 प्राण २४, १८६, १९०, २०४, २०५, २३४
 -शक्ति २४
 प्राणत १०६
 प्राणविद्योजनात्मक १६५
 प्राणातिपात ३३, १२७-१२९, १६५, १७०-१७२, २४८, २४९, २७२
 -क्रिया १२८, १६२-१६६
 प्राणी १३७, २५५
 प्रात्यधिक ६३
 प्रादोषिकी (क्रिया) १६२-१६५
 प्रायश्चित्त २७१
 प्रायोगिक ७८
 -मरण २२८
 प्रायोपगमन अनशन २२७-२२९, २४५, २४७
 प्रासादीय २६०
 प्रासुक १८६
 -भोजी २०६
 प्रिय १२८, १७०
 बद्धस्त निर्ग्रन्थ ४०
 बद्ध ४१, १५८, १६६, १६७
 बन्ध ३०, ३१, ३६, ४८, ८०, ८१, २२६, २६४, २६५, २७३, २७४, २६१
 बन्धन ४१
 -बद्ध १८५, १८६
 बल ८०-८५, ८६, २४५, २६३
 बलाहक २७६
 बलिकर्म २७०, २७१
 बहुउदक ६६
 बहुप्रदेश-परिमाण ३६
 बहुश्रुत २६८
 बहुसम २८३
 वादर २८, १२४
 बाल १६१
 -तप ४३
 -तपःकर्म २७४
 -पण्डित ५६, १६०, १६१
 -पण्डित-वीर्य ६४-६६
 -पण्डितमरण २२७, २२९
 -पर्याय १८७

-मनुष्य २२८
 -मरण २२६-२२८
 -वीर्य ६४, ६६
 बालुकाप्रभा १०५, २५५
 बाह्य आदान २७२
 बुज्झइ ४१
 बुद्ध २०५, २०६
 बोधि १८१
 बोल २१६
 बौद्ध ८६, १६३
 दर्शन १०३
 भिक्षु ६८
 साहित्य १४, २७, ६६
 ब्रह्म १०६
 ब्रह्मचर्य १६, १७, ४२
 -गुप्ति २३६
 -वास १०३, १०४, १८२, १८३
 ब्रह्मलोक ६७
 ब्राह्मण १८५, २०८
 परिव्राजक ६६
 ब्राह्मी लिपि ५, ६, १०
 भंगान्तर ८८, ६२
 भक्त-कथा ८१
 -प्रत्याख्यान २२७-२३०
 भगवान् महावीर की साधना-पद्धति १७७
 भजना ११५
 भट २१३, २१५
 भव ४०, ६५, २०५, २१३, २६१
 -क्षय २५१
 -ग्रहण २२६
 -धारणीय ११४, १५५
 -निरोध २०६
 -परिवर्तन ६४
 -स्थिति ६५
 -सिद्धिक १३०, १३५
 भवान्तर-संक्रमण ३६, ३७
 भवनपति देव ३५, ८७, १०५, १०७, ११७, २८१
 भवनवासी ६७, ६८, देखें भवनपति
 भवनावास १०७
 भविष्य २२०, २८७-२८६
 भवोपग्राही ४२
 भव्य ६७
 -द्रव्य-देव ६७, ६८
 भारतीय दण्ड-विधान १६६
 भाव ११, ४०, १२६, १६७, २००, २०१, २०६, २८७, २८८, २८९, २९२
 अवमोदरिका १७७
 -धारा ४०, ४१, ६३
 मंगल ५
 लिपि १०
 लेश्या ५७
 वेद २५८
 शल्य २२६
 श्रुत १०
 साधना १७७

भावतः २२३, २२४, २२५
 भावना ६६
 भावी जन्म ३६
 नैगम ७०
 भावेन्द्रिय १५१
 भाषा २८, १६०, १६६, २८१
 -पद २८१
 -पर्याप्ति १५६
 भिक्षुप्रतिमा २३७-२३६
 भिन्नाक्षर २५३
 भूत १८६, १६०, २०४, २३४
 भेद ११, २६, ७५, ८६
 -विज्ञान १४०
 -समापत्र ७५, २११, २१२
 भेदन २३
 भोज २१४, २१५
 मंगल ६, ८, २७१
 मंत्र ६६
 -शास्त्र ७
 मडम्ब ४२, ४४, ४५
 -पति २१३
 मडाई २०६
 मणपञ्जवणाणजिये १३
 मणिपीठिका २८३
 मतान्तर ८८, ६२
 मति १३, १२०, १२१
 -ज्ञान १७, ११८, ११९, २६३
 -भ्रंश ८१
 मध्यलोक १०५
 मन ३८, ४०, ६०, ६८, ७०, १४०, १५५-१५७, १६६, १८३, २६६
 -योग ११६, १७४
 -योगी ११६
 -समित २३५
 मनःपर्यव-ज्ञान १३, १७, ३६, ६०, २६३
 -ज्ञानी १३, १०४
 मनःपर्याप्ति १५६
 मनुष्य ४२, ४३, ५७, ५८, ६१, ६४, ६५, ६७, ६८, ६९, ८८
 १२०, १४८, १५१, १५६, १६०, १७१, २२७, २६२
 -असंज्ञी-आयु ७०, ७१
 -आयु ७०
 -लोक ४३
 -संसार-अवस्थान-काल ६४
 मनो-गुप्त २३५
 -भक्ष्य आहार २८, २९
 -वर्गणा २८, ६३
 -विज्ञान १४, १५, १४०
 मन्दनाकार २५४
 मरण २३
 -मीमांसा २३०
 मल्ल २१५
 मल्लवि २१३
 महर्षि १४७
 महाआरंभ १६१
 महातपस्वी १६, १७

महाद्युतिक १४८, २५६
 महानुभाव १४८
 महान् यशस्वी २५६
 महान् सामर्थ्यं काले २५६
 महान् सौख्य-युक्त २५६
 महाबल १४८
 महाबली २५६
 महामुकुन्द २८३
 महायज्ञ १४८
 महाविदेह क्षेत्र २५१
 महाव्रत ६३, २५१
 -आरोपण १५
 की आरोपणा २४५, २४६
 महाशरीरी ५०, ५४, ५६, ५७
 महिमा १७
 महेशाख्य १४८
 महोरग २६४, २६६
 मांगल्य २२१, २४३
 मागधी ८
 माडम्बिक २१५
 मातृजीवरसहरणी १५०
 मातृ-अंग १५४
 मात्रा २३४
 मान ८१, १२८, १७०, १७७, १८१, २२९
 मानयुक्त २२१
 मानसिक १६, १६५
 मानुषी-गर्भ २६०
 मानोन्मान २२१
 माया ६२, ८१, १२८, १७०, १७७, १८१, २२६
 निदान और मिथ्यात्व २२६
 -प्रत्यया ३४, ५१, ५२, ५४, ५५, ६२
 -मृषा १२८, १२६, १७०
 -शल्य ६२
 मायी मिथ्यादर्शनी ६२
 मिथ्यादृष्टि ६०-६२
 मारणान्तिक २५२
 मार्ग ६१, २६६
 मार्गण १२६, २०१
 मार्गान्तर ८८, ६१
 मार्दवप्रधान २६६
 मासिकी भिक्षुप्रतिमा २३७
 माहण १५७, २१३
 माहेन्द्र १०६
 मिथ्याज्ञान ८१
 मिथ्यात्व ३४, ५६
 मिथ्यात्व मोहनीय ७४
 मिथ्यादर्शन ११४, २२६
 -प्रत्यया ५१, ५२, ५५, ६२
 -शल्य १२८, १२६, १७०, १७१, २४८, २४६
 मिथ्या-दृष्टि ४४, ५०, ५४-५६, ५८, ५९, ६२, ६७, ६८, ६६, ११४, ११५,
 १६१, १७७
 -रुचि ६७
 मिश्रकाल ६४-६६
 मुक्त ३६-४१, १०११०३, १३६, १७७, १८२, २०५, २१०

मुक्ति २०८
 -स्थान ४२
 मुखवत्तिका २७४
 मुञ्चइ ४१
 मुनि ५, २०६
 मूर्च्छा ५६, ८२, १७६, २६३
 मूर्त-अमूर्त १६७
 मूल तत्त्व १३३
 मृतयाची २०६
 मृताशी २०६
 मृत्यु ४४
 -काल ४२
 का वरण ४२
 मृषावाद ३३, १२८, १७०, २७२
 -क्रिया १२६
 मैथुन ३३, १२८, १७०, २५८, २६३
 -वृत्तिक २६२
 मोक्ष ६७, २६४, २६५, २६९
 -पद १०१
 मोहनीय कर्म २६, ३४, ८१, ८२, ६४, ६६, ६७, २५८
 यक्ष २६४, २६६
 यजुर्वेद २०७
 यज्ञ २७५
 यथाख्यात (चारित्र) ६१
 यथानिकरण ६६
 यशस्वी २६८
 याचितभोजी २०४-२०६
 यात्रा २३४
 युगपद् उपयोगवाद ६२
 योग ३४, ५६, ६२, ६३, ८०-८२, १०६, ११८, १३४, २०८, २५४
 -आश्रव ३२
 -दर्शन ६६, १६५
 -परिणाम ६३
 -वर्णणा ६३
 योगी ६६
 योजन ४५
 योद्धा २१३
 योध २१५
 योनि २६२
 -बीज २६१
 -भूत २६१
 यौगलिक ५७
 मनुष्य ७१
 रज्जु २६६
 रत्नप्रभा पृथ्वी ७१, १०५, १११, ११२, ११४, ११६, २५५, २८१, २८३,
 २६७-२६६
 रस १७, १५८, २००, २२३, २६०
 -परिवर्तन ४१
 -वान् २८६
 रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष ६०
 राइबोसोम २८०
 राक्षस २६४, २६६
 राग ८१
 राजधानी ४२

राजन्य २१३-२१५
 राजमार्ग २१२, २६६
 राजा २१५
 राशि २६०
 राष्ट्रस्यविर १८३
 रूप १५८
 रूपी २६४
 रोम-आहार ५६
 लक्षण-व्यञ्जन-गुणोपेत २२१
 लगुडशयन २३८
 लघिमा १७
 लघु १७४
 -त्व १७१
 लज्जासम्पन्न २६८
 लब्धि १६
 -वीर्य १६७, १६८, १६९
 लब्ध्यक्षर ६
 लवसत्तम देव ५७
 लाघव १७६, २६६
 -सम्पन्न २६८
 लाघविक १७६
 लान्तक कल्प ६७, १०६
 लिंगान्तर ८८, ६१
 लिच्छवि २१३, २५५
 -पुत्र २१३
 लेश्या १७, ३५, ३६, ५०, ५१, ५३, ५७, ६०-६३
 द्रव्य— देखें द्रव्य लेश्या
 -त्रिक ३५
 -सूत्र ५७
 लोक ८, १३०, २०६, २११, २१२, २१६, २२२, २२३, २५४, २५५, २७७,
 २८७-२८६, २६३
 -अलोकवाद १३४
 -द्रव्य २६२
 -विद्या १६८
 -स्थिति १३६, १३७
 लोकाकाश १६७, २०६, २१०, २६२, २६३, २६५, २६६
 लोकान्त १२६, १३१, १३२
 लोम ८१, १२८, १७०, १७७, १८१
 -प्रत्यया ६२
 लोम आहार २८, १५२, १५३
 वंदना २०
 वचन १६६
 -गुप्त २३५
 -योग १७४
 -योगी ११६
 -समित २३५
 वज्री २१५
 वज्र २८३
 वज्ररूपभनाराच संहनन १४, १५, ११३
 वृद्धावस्था ४१
 वनस्पतिकायिक (जीव) ३३, ३५, ११६, १८५, १६७, १६९, २०१, २५५
 वरवज्रविग्रहिक २८६
 वर्गणा २८, ३६, ६३, १६१, २०२
 वर्चस्वी २६८

वर्ण ५७, ६०, ६१, ६३, १५८, २००, २२३, २६०
 -बाह्य १५७, १५८
 -वध्य १५८
 -वान् २८६
 वर्तमान २२०, २७३, २८७-२८६
 -काल १००
 वर्ष (क्षेत्र) १३१, १७५
 वलयमरण २२६, २२८, २२९
 वशात् २२८
 -मरण २२६, २२९
 वाचना २३६
 -अन्तेवासी १५
 -भेद ६२, २६०
 वायिक १६
 वाणी-संयम ४०
 वानमंतर देव ३५, ४३, ५६, ५८, १२१, १६८, २८१
 देवलोक ४२
 वामन १५
 वायु २०१, २०२, २५५
 -कायिक (जीव) ३५, १८५, १६७, १६९, २०१-२०३
 -प्रतिष्ठित १३६
 विकलेन्द्रिय ११६, १२०
 विग्रहगति १४५, १४७
 विचय १३
 विचिकित्सा ७५, ८६
 -रहित २६४
 विचिकित्सित ७५, २११, २१२
 विजत १३
 विजयोदया २२६
 विज्ञ २०४, २०५
 विज्ञात १८१, २६७, २७८
 विज्ञानवाद १३५
 विदिशा १२२, १२३
 विद्या ६६
 विद्युत्कुमार १०६
 विधान १२६
 विनय २३३
 विनाश ७७
 विपाकोदय ८६
 विपुल तेजो लेश्या २४३, २७४
 विभंग अज्ञान ११५, १२१, २६३
 विभज्यवाद १६५
 विभाग औद्देशिक १८५
 विभाव २२३
 विभुक्ति १८३
 वियोजन ६६
 विरति ३३, ६०, १८३
 विरमण २६७
 विलय २०६
 विवेक १८०-१८२
 विशुद्धि ६३
 विशेष २२३
 विषकूट-यंत्र १६६
 विषमक्षण २२६, २२८

विषय ८१
 विसंयोजित २२७
 विसंवाद ६२
 विसंवादन ६२
 विखस्तः ७८
 वीतराग ३६, ५६, ६०, ६१
 संयत ३६, ५५
 वीरासन २३८-२४०, २४२
 वीर्य ८०-८५, ८६, १६६, २४५, २६१-२६३, २६३
 -परिणाम १७५
 -बाह्य १६६
 -भाव ६४
 -लब्धि ६३, १५५, १५६
 वृत्ति २३४
 वृद्धमत ११६
 वेद २०४, २०५, २५६
 वेदना २३, २६, २६, ३०, ३१, ४८, ५२, ५३, ५५-
 ६१, ७५, ८४, ८५, ८७, ६६, २५२
 -सूत्र ६०, ६१
 -वशात् २२६
 -वाद ५७
 वेदनीय २७, ६४
 कर्म २०४
 कर्म-प्रदेश २५२
 वेदित २५, २६, ७३
 वैक्रिय (शरीर) २८, ३८, १३, २१२, ११३, १२०, १५१, १७२, १७५, २०३
 लब्धि १५५, १५७
 वर्गणा ६३
 समुद्रात् १५५, १५७, २५२
 वैज्ञानिक २०१, २५५, २६७, २८०
 सिद्धान्त १३६
 वैदिक ऋषि १३३
 संहिताओं २०८
 साहित्य २०८
 वैयकिक २३३, २३४
 वैमानिक देव ३६, ४४, ५६, ५८, ६१, ७२, ७३, १२१, १४४, १४६, १६८,
 १७३, २८१
 देवों की राजधानी २८५
 वैरानुबंधी १६६
 वैशालिक श्रावक २१०
 वैशेषिक दर्शन ७७, १६१, २६५
 वैशसिक ७८
 वैहानश २२६, २२६
 वैहायस २२७, २२८
 व्यञ्जनाक्षर ६
 व्यञ्जनावग्रह ६०
 व्यष्टुभोजी—देखें व्यावृत्तभोजी
 व्यतिव्रजन १७१
 व्यय २१-२३, १००, १०१, १८७
 व्यवच्छिन्न १८१
 व्यवदान २७२, २७३, २७६, २७८
 व्यवहार ६२, १८२
 और निश्चय १८३
 नय २३, ६८, १८२, १८७

व्याकरण २०७, २०६, २१७
 व्याकृत १८१
 व्यावहारिक काल १६७
 व्यावृत्तभोजी २२०
 व्युत्सर्ग १८०-१८२, २३०, २७२
 व्यूह २१३
 व्रत ४४, २६७
 व्रती ३३, १६१
 शंका ७५, १७६, ८६, ६२, ६३
 -रहित २६४
 शंकित ७५, २११, २१२
 शब्द ५६, ६२
 -नय ११
 शम २३६
 शरीर १७, ३८, ४६, ५६, ५७, ६०, ६१-६३, ८०, ८२, १०६, ११२, ११३,
 ११८, १२०, १३२, १४०, १४५, १५४, १६६, १७२, १७४, २०३, २२४, २५२
 और मनस् १३६
 नाम कर्म ६३, १६६
 -पर्याप्ति १५३, १५६
 -निर्माण ६२, १५१
 -योग-वर्गणा ६३
 -व्युत्सर्ग की विधि २५०
 -शास्त्र २६७
 -संघात ११३
 शरीरी ४०
 शर्कराप्रभा १०५, २५५
 शल्य-मरण २२६
 शस्त्र १६७
 शस्त्रावपाटन (मरण) २२६, २२८
 शाक्य ६८, ६६, १००, १०१, १३०, १३२, २२३, २२४, २८७-२८६
 शाश्वत काल १०३
 शिक्षा २०७, २०६
 शिक्षित बन्धन ३६-४१
 शिव २२१, २४३
 शीतल तेजोत्प्रेष्या २५३
 शीर्षासन १६
 शील २६७
 -व्रत ६६, २६४
 शुक्र १०६
 शुक्ल पक्ष १७१
 लेश्या ३४, ३५, ६०-६२, १२१, १७४
 वर्ण २००
 शुद्ध प्रवेश्य २७२
 शुभ २०५
 -अशुभ २०६
 -योग ३२-३४
 शून्यकाल ६४, ६६
 शून्यवाद १३५
 शृंगाटक २१२, २१३, २६६
 शृंगार २२१
 शेवार्त (संहवन) ११३, ११८
 शैलेशी १६६
 -प्रतिपन्न १६७, १६८
 शैव दर्शन ६२

शौरसेनी ८
 श्रद्धा २०
 श्रम २१४
 श्रमण ६७-८६, १५७, १६०, १८५, २१०, २४८, २६४
 मिश्रित्य १७६, १८६
 -परम्परा २०८
 -माहान २७८
 -अभियोग २४५, २५०
 -संघ २१०
 -सम्प्रदाय ६६, १६३, २६०
 श्रमणी २१०, २४८
 श्रमणोपासक ५६, २१०, २३०, २६४, २७०, २७२, २७३
 श्रवण १८१, २७८
 श्रामण्य ६७
 -पर्याय २४६
 श्रावक १६१, २१०, २३०, २६५, २६६
 श्राविका २१०
 श्री २२१
 श्रुत ६, १०, १३, १२०, १२१
 -अज्ञान २६३
 -केवली १८
 -ज्ञान १०, १७, ६०, ११८-१२०, २६३
 -ज्ञानी १८
 -निश्चित ६०
 -वद्व १८३
 -स्यविर १८३
 श्रेष्ठी १८४, २१६
 श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष ६०
 श्वास १६७, २०१
 -वर्गणा २०२
 श्वासोच्छ्वास २८, ५६, १५४, २०१, २०२, २५५
 -पर्याय १५६
 श्वेताम्बर-साहित्य २३०
 षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि २२४
 षड् आवश्यक ६२
 षटितन्त्र २०७, २०६
 षष्ठभक्त २४३
 सङ्घ्रिय ३८
 सक्रमण २६, २७, ३०, ३१, ४१, १५१
 संकिल्ल ४४
 संख्या १२६
 संख्यात २०७, २०६
 संख्यातवां भाग २६६
 संख्येय २६७
 संगिता २७३
 संग्रह ६२
 संघस्यविर १८३
 संघात १५
 संज्ञा ८७, १३२, १७४, १७५
 संज्ञाकर ६
 संज्ञिमूत ५०, ५३, ५७, ५८, ६१
 संज्ञी २६२
 पंचेन्द्रिय १५५, १५६
 संज्वलन कथाय ६८

संघीयमन्त्र १६४
 संपराय २७
 समुच्छिन्न
 संयोग-काल २६३
 संघत (संघति) ३२-३६, ५५, ५६
 संघतासंघत ३३, ३६, ४३, ५४, ५५, ५६, ६०, ६६, ६७, २७४
 संघम १४, १६, ३७, ३८, ४४, ६६, ६८, १०४, १२१, १३०, १६६,
 १७६-१८२, १८७, १६३, २०७, २१२, २६३, २७२-२७४,
 २७६-२७८
 संघनासंघम—देखें संघतासंघत
 संयोग ११
 संलेखना २४५, २४७
 संवर १६, ४०, ७६, ८५, ८७, १०४, १८०-१८२, २६४, २६५, २७३, २६१
 -योग १८३
 संवृत ३६, ४०, १७७
 वक्षुस ४०
 संवेग १५७
 संशय ८१
 संसार ६४, ६५, १४०, १७०, १७१, २०३
 संसार-अवस्थान-काल ६४, ६५, १७२
 का आकुलीकरण १७१
 का परीतीकरण १७१
 -चक्र २०६
 परीत १७१
 -ग्रहाण २०६
 -भ्रमण ४०
 -वेदनीय कर्म २०४, २०५
 -वेदनीय-ग्रहाण २०६
 -वेदनीय-व्यवच्छेद २०६
 -व्यवच्छेद २०६
 -समापन्न १६७
 संसारी ३३
 संस्कार-सूत्र १५
 संस्थान १४, ६५, १०६, ११४, ११८, १२०, २०६
 -काल ६५
 संहति १८८
 संहनन १४, १५, १०६, ११३, ११४, ११८, १२०
 -रहित १२०
 स-इन्द्रिय ३८, २०८
 सकथाय ३६
 सधित २८०
 सण्ह लण्ह २८३
 सत् ७८, १२६, १३३, १३४, २०६
 सत्कारणवाद १३३
 सत्ता २०६, २७६, २७७
 सत्त्व १८६, १६०, २०४, २०५, २३४
 सत्य ६२, ७६
 सद्योविपाकी १६५
 सनलुमार १०६
 सन्निवेश ४२, ४४, ४५
 सपरिकर्म २२७
 सपर्यवसित १७२
 सप्रतिक्रमण पञ्चमहाब्रह्मालक १८२
 सभचतुरस्र संस्थान १४, १५

समनस्क ५७, ५८, ११५, २६२
समाभिलष ११, ६२
समय २६, ३०, १०१, १०८, १११, १२५, १२६, १७३, १७५, १६३, २२०,
२५८, २६३
-क्षेत्र १६६, २८६
समाधिमारण २३०, २५०, २५१
समिति २३६
समुद्रघात १६६, २५२
समुद्र १३१, १३६
समुद्री वैज्ञानिक २८०
सम्पर्द २१३
सम्यक् ७६
-त्व ३८, ४८, ८६, ११६, २६५, २६६
-चारित्र ६१
-ज्ञान ६१
-दर्शन ७६, ६६, ११४
-दृष्टि ३३, ४४, ५०, ५४-५६, ५८, ५९, ६२, ६८, ११५, १६१
-दृष्टि उपपन्नग ६१
-मिथ्यादर्शन ११४
-मिथ्यादृष्टि ५०, ५४, ५५, ५६, ११४, ११५
-रुचि ६७
सराग ६०, ६१, २७३
तप २७३
संयम ३६, ४३, ५५, २७४
सर्वकाल १३३, १७४
सर्वज्ञ १२-१४, २२०
सर्वतः आहार १५३
सर्वदर्शी १२, २२०
सर्वदुःखप्रहीण २०५
सर्वव्रत ६६
सर्वांगसन १८, १६
सर्वाक्षरसन्निपाती लब्धि १८
सवीर्य १६६, १६८
सर्व्वन्ति सर्व्वान्ति १२६
सशरीर ३८, २०३
सश्रीक २४३
सहस्रारकल्प ६७, ६६, १०६
सांख्य दर्शन ६६, १०३, २०८, २६१
परिव्राजक २१७
सांख्यिकी ४८
साकार उपयोग ११६, १७४, १७५
सागर ४८, १७५
सागरोपम २३
साठ मक्त २४६
सातवेदनीय २६, ५७, ५८, ७४
सादि पारिभाषिक ७८
सिद्ध २१०
साधन १२६
साधना-पद्धति २६५
साधारण शरीरी २५५
सान्त २०६, २२३, २२४, २२५, २२६
सामवेद २०७
सामाचारी ६७, ६१, ६२
सामान्य जीव ३४, ३५, ८७, १४५

सामायिक ८, ६, ३८, ६१-६३, १८०, १८२, २३६, २४६
आदि ग्यारह अंग २३६
चारित्र २४८
सामुदायिक शिक्षाचर्या २७३, २७५
साम्प्रदायिकी (क्रिया) १६२
साम्युक्त १५१
सारक २०६
सारम्भ ३३
सार्थवाह २१३, २१६
सावद्य योग १८३
सास्वादन सम्यक्त्व ११६, १२०
साहित्य १६३
सिंहनाद २१६
सिञ्जइ ४१
सिद्ध ५, ३३-३५, ३६-४१, १०२, १०३, १३०, १३१, १३६, १७७, १८२,
२०४-२०६, २०६-२११, २२२, २२४, २२६, २५१,
-कण्डिका २८१
-वाद १३५
-शिला २६८
सिद्धालय २०६
सिद्धि १३०, १३५, २०६, २१२, २२२, २२५, २४८, २७८
सुख २१४, २३२, २७०
-दुःख ४८, २०५
सुखाधिगम ७६
सुवर्ण २६४, २६६
सुश्रामप्यरत २३६, २६८
सूक्ष्म ३८, ७६, १४०
जल १४१
-तर ३८
निगोद २५५
शरीर ३८
सम्प्राय (चारित्र) ६१
स्कन्ध २२४
सूर्य १२२, १२३
सृष्टिवाद ६५, १३३, १३४
सेनापति २१६
सोपक्रम आयु २०३
सौधर्म देवलोक ६७, ६८
स्कन्दक-चारित्र २३६
स्कन्ध २८, ५६, १००, १०१, २२३, १२५, २६३
स्टेटिस्टिक्स ४८
स्तनितकुमार १०६
स्त्रीवेद २५८, २५९
स्थलघर ६६
स्थविर १८३, १६८, २४६, २६८
-कल्प ६१
-कल्पस्थिति ६१
स्थान २४१
स्थावर ११६, १३६, १३७
-काय २०२
स्थितकल्पी ६२
स्थिति २३, २६, ३१, ३६, ६३, १११, १२६, २५६, २८८, २६३
-उदीरणा ८६
-क्षय २५१

-परिवर्तन ४१
 -बन्ध ३६, ४०, ७४
 -सहायक २६३
 -स्थान १०५, १०७, ११८
 स्थिर ३०
 स्थूल ३८
 शरीर ३८, १४७, १५१, २५५
 सृष्टि १६१
 श्रेह २६३
 -काय १४०, १४१, १८८, १८९
 स्पर्श १२६, १२९, १५८, २००, २२३, २६०, २६३
 स्पर्शन १२६
 स्पर्शनिन्द्रिय २८
 -प्रत्यक्ष ६०
 स्पर्शवान् २८६
 स्पृश्यमान १२५, १२६
 स्पृष्ट ४१, १२५-१२७, १५७, १५८, १६६, १६७, २०३
 स्फोट १६१
 -वाद १६१
 स्मारक २०६
 स्मृत १८१
 स्मृतिकोश ३८

स्यन्दमान १५३
 स्वकाय २०३
 स्वभाव पर्याय २२३
 पर्याय २२४
 स्वभाव से ७७, ७८
 स्वर्ग २७३
 स्वविषय-अविषय १२६
 स्वातंत्र्य २०६
 स्वाध्याय २७४
 स्वाभाविक परिणमन २२३
 स्वामित्व १२६
 हंस ६६
 हस्तिशुण्डिकासन २४२
 हिंसा २०८, २६३
 हित २१४, २३२, २७०
 हित, सुख २३३
 हीयमान १५४
 हुंडक संस्थान १५, ११४, ११८, १२०
 हेतुगम्य ७६
 हेय २६५
 हस्वीकरण १७१, १७२



परिशिष्ट - ४

आधारभूत ग्रन्थ-सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, संचयन प्रमुख, प्रकाशक आदि	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
१.	अंगुत्तर निकाय			पालि प्रकाशन मण्डल, विहार राज्य	२६०, २७१
२.	अंतगडदसाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६, २६६
३.	अष्टगार धर्ममृत	पं. खूबचन्द	सन् १९२७		२४६
४.	अणुओगदाराइं (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	भू. ३६:६, १३, ६२, ६३, २२१
५.	अणुत्तरोदवाइयदसाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६
६.	अथर्ववेद				१३४
७.	अनुयोगद्वारचूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)	१३, २४६
८.	अनुयोगद्वारवृत्ति	मलधारीय हेमचन्द्र सूरी	सन् १९३६	श्री केशरबाई ज्ञानमन्दिर, पाटण,	१३
९.	अनुयोगद्वारवृत्ति	हरिभद्र	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमल जी, श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)	१३
१०.	अभिधर्मकोश भाष्यम्	ले. आचार्य वसुबन्धु	सन् १९७०	बौद्ध भारती, वाराणसी	१०३, १७७
११.	अभिधर्माचिंतामणि (नाममाता)	ले. आचार्य हेमचन्द्र सं. नेमिचन्द्र शास्त्री	वि. सं. २०२०	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी	१९६, २०६
१२.	अभिधान राजेन्द्र कोष	विजय राजेन्द्र सूरी	सन् १९८६	लोगोस प्रेस, नई दिल्ली	२६६, २६७
१३.	अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोष	संकलक आचार्य आनन्दसागरसूरी	वि. सं. २०१०	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत	२१३, २६६
१४.	अष्टांग-संग्रह (इन्दुव्याख्या-सहित)				१६२, १६३
१५.	अष्टांग हृदयम्			मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	१६१, १६३
१६.	अहिर्बुध्न्यसंहिता				२०८
१७.	अगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि शब्दसूची)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८०	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	भू. २१
१८.	आचारांगचूर्णि	श्री जिनदासगणि	सन् १९४१	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे.संस्था, रतलाम (मालवा)	१३, १२६
१९.	आचारांगभाष्यम् (प्रकाशयमान ग्रन्थ)	भाष्यकारः आचार्य श्री महाप्रज्ञ			७६
२०.	आचारांगवृत्ति	श्री श्रीलांकाचार्य	सन् १९७८	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	१२६
२१.	आत्मप्रबोध				भू. ३५
२२.	आदिपुराण	आचार्य जिनसेन	सन् १९८८	भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली	६
२३.	आयारचूला (अंगसुत्ताणि, भाग १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	१०, १६, १८६, २१४, २४६
२४.	आयारो (मूलपाठ, अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक-मुनि नथमल	वि. सं. २०३१	जैन विश्वभारती, लाडनू (राज.)	६, ७६, ६८, १२६, १७६, २२७, २३०

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, शिष्य ग्रन्थ, प्रकाशक आदि	संकाय	प्रकाशक	पृष्ठ
२५. आलापपद्धति	देखें नयचक्र			२२३
२६. आवश्यकचूर्ण	श्री जिनदासगणि	सन् १९२६	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी, श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)	१०४
२७. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रवृत्ति-सहित)	भद्रबाहु	वि. सं. २०३८	श्री मेरुलाल कनैयालाल कोठारी, धार्मिक ट्रस्ट आर आर ठक्कर मार्ग, बम्बई	७,६,२१५,२१६
२८. आवस्यस्यं (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ,	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६,२४६
२९. आसन अने मुद्रा		द्वितीय संस्करण	श्री डाह्याभाई हीराभाई पटेल कायावरोहण वाया मियागाम जि. बड़ौदा	२४२
३०. इन्द्रियवादी री चौपाई (शिक्षुग्रन्थ रत्नाकर, प्रथमखण्ड)	सं. आचार्य तुलसी	प्रथमावृत्ति, सन् १९६०	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता	८६
३१. उत्तररज्जयणाणि (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण)	वा.प्र. आचार्य तुलसी, सं. विवेचक: युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वितीय संस्करण सन् १९६२	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू (राज.)	६,१८,३८,४१,४४,६३, ६६,८६,६९,६८,१०४ १७६,२१०,२११,२३०, २३६,२४२,२६५,२७१
३२. उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन	मुनि नथमल	वि. सं. २०२३	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता	२०८,२१५
३३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति	ले. भद्रबाहु	देखें- उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति		२२८,२२६
३४. उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति (श्री उत्तराध्ययनानि)	ले. शान्ताचार्य	सन् १९१७	देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	१२,४४,४५,२७१
३५. उवासगदसाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन्. १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	६,८६
३६. ऋग्वेद				१३४
३७. एकार्यक कोश	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	२२३
३८. ओषधिनिर्युक्ति (माष्य एवं द्रोणाचार्य कृत-वृत्ति-सहित)	निर्युक्तिकार—भद्रबाहु	सन् १९१६	आगमोदय समिति, मेहसाणा	२१८
३९. ओवाइयं (उर्वंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	मू. ३४,११,१७,५६,६७- ६६,१८३,२०६,२०८- २१०,२१३,२१५,२१६ २३३,२६५,२७३
४०. औपपातिकवृत्ति	अभयदेवसूरि	वि. सं. १९६४	मणिकलाल नहलचंद...ट्रस्ट	१२,१८,२१३,२१५- २१८,२६५,२६६,२६६
४१. कर्पो (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	२५०
४२. कर्मग्रन्थ (नवसुत्ताणि, भाग ५)	श्री देवेन्द्र सूरि		श्रीवर्द्धमान स्यानकवासी जैन धार्मिक (शिक्षा समिति बड़ौत (मेरठ)	११६
४३. कर्मप्रकृति	श्रीमद् शिवशर्मसूरि विरचित, तत्त्वावधान—आचार्य श्री नानेश सं. देव कुमार जैन	प्रथम संस्करण १९८२	श्री गणेशस्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर	२७,२८,७३,७४,८६
४४. कल्पसूत्र	भद्रबाहु सं. मुनि पुण्यविजयजी	सन् १९५२	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद	६
४५. कसाय पाहुंडं	सं. पं फूलचन्द्र, पं महेन्द्र कुमार, पं कैलाशचन्द्र	सन् १९४४	भा. दि. जैनसंघ चौरसी, मधुरा	मू. १४,१५,३६;२२,८६

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, वाचना प्रमुख, प्रकाशक जाति	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
४६. कौटिल्य अर्थशास्त्र	कौटिल्याचार्य			४५
४७. कौषीतकी				२०८
४८. गणधरवाद	ले. जिनभद्रगणि सं. महोपाध्याय विनयसागर	सन् १९८२	राजस्थान प्राकृत भारती, संस्थान, जयपुर एवं सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर	६५
४९. गोमटसार	श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती सं. स्व. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये			२१०, २५६
५०. घेरण्ड-संहिता	भाष्यकार, श्री स्वामी जी महाराज	वि. सं. २०२१	श्री पीतम्बरापीठ संस्कृत परिषद् दतिया, मध्य प्रदेश	१८, १९, २४१, २४२
५१. चरक-संहिता		चतुर्दश संस्करण	चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी	१५१-१५४, १५६, २४७
५२. चारित्रसार				२६७
५३. छान्दोग्योपनिषद्			गीता प्रेस गोरखपुर	१३३, १३४, २०८
५४. जंबुद्वीवपण्णती (उवंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती लाडनू, (राज.)	१२६, २६६
५५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति	शान्तिचन्द्र	सन् १९२०	देवचन्द्र लालभाई जैनुस्तकोखार फण्ड, बम्बई	१२
५६. जय धवला	देखें कषाय पाहुडं			२२
५७. जीतकल्प भाष्य (जीतकल्पसूत्रम्, सभाष्य)	ले. जिनभद्रगणी सं. मुनि पुण्यविजयजी	वि. सं. १९६४	बबलचंद्र केशवलाल मोदी हाजा पटेलनी पोल, अहमदाबाद	१९
५८. जीवाजीवाभिगमे (उवंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	६५, १७१, १७२, १७६, २१०, २५५, २५६, २६७, २८२, २८६
५९. जीवाजीवाभिगमवृत्ति				१७३, २१६, २५६
६०. जैन दर्शन का आदिकाल	ले. दलसुख मालवणिया			भू. १६, ३१
६१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	सं. शु. जिनेन्द्र वर्णा,	सन् १९४४	भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली,	६२, ११३, २५३, २६७
६२. ज्ञाताधर्मकथावृत्ति	अभयदेवसूरि	सन् १९५२	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई	२१८, २३३, २६६, २७२
६३. ज्ञानविन्दुप्रकरणम्	यशोविजयजी	सन् १९५१	सिंघी जैन ग्रन्थमाला	७६, ६०, ६२
६४. झीणी चरचा	ले. जयाचार्य प्रवा. आचार्य श्री तुलसी, प्रधान सं. युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ सं. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा	सन् १९८५	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	२२, ६२, ६३
६५. ठाणं (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं.-विवेचक मुनि नथमल	वि. सं. २०३३	जैन विश्वभारती, लाडनू, (राज.)	भू. १७, १८, ३४, ६, १३-१७, १९, २२, २७, २८, ३१, ३५, ३८, ४०, ४२, ५७, ५९, ६२, ६५, ६६, ८१, ८६-६३, १०४, ११३, १३५, १४७, १४९, १५३, १७६, १८३, १९१, २०६, २०९, २१४, २२७, २३०, २३३, २३६, २३८, २३९, २४१, २५१, २५८, २६०, २७४, २७६, २८४, २९२
६६. तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्)	ले. भट्ट अकलंक देव सं पं मेहन्द्र कुमार जैन	वि. सं. २००६	भारतीय ज्ञान पाठ काशी, दुर्गाकुण्डरोड, बनारस ४	भू. १४, १५, १६-१८, २२, २८, ४४, ५६, ६२, ७८, ८१, ८६, ९२, १३५, १३६, १४४, १४७, २०१, २०३, २०६, २२८, २३६, २५३, २६५

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, वाचना प्रमुख, प्रकाशक आदि	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
६७. तत्त्वार्थवृत्ति	श्रुतसागर सूरि		भारतीय ज्ञान पीठ काशी, बनारस	१३५
६८. तत्त्वार्थसूत्र (सभाष्य तत्त्वार्थविधिगम सूत्र)	ले. उमास्वाति		सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२	३४, ८१, ८२, ८८, ९१, ९२ १०१, १२६, १३५, १८७
६९. तत्त्वार्थविधिगमसूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्यानुसारीणीटीका)	टीकाकार सिद्धसेनगणी		देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	८२, ८८, २५३
७०. तिलोपपण्णती	यतिदूषभाचार्य	वि. सं. १९६६	जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर,	१७, १०७, १३६
७१. तीर्थंकर महावीर	आचार्य विजयेन्द्रसूरि		यशोधर्म मन्दिर, बम्बई	२१०
७२. तैत्तिरीय उपनिषद्	शांकर भाष्य सहित	नवम संस्करण	गीताप्रेस, गोरखपुर	१३३, २०८
७३. दशवैकालिक-एक समीक्षात्मक अध्ययन	ले. मुनि नथमल	वि. सं. २०२३	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता	मू. ३२; ४४, ४५
७४. दशवैकालिकचूर्णि (दसकालियसुत्तं भद्रवाहुनिर्मुक्ति व अमस्त्यचूर्णिसहित)	ले. अगस्त्यसिंह स्थविर सं. मुनि पुण्यविजयजी	सन् १९७३	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी अहमदाबाद	८, २३६
७५. दशवैकालिकचूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९३३	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	८, ४५, २३६, २६८
७६. दशवैकालिकनिर्मुक्ति	देखें दशवै. हरिभद्र			६८, ६९
७७. दशवैकालिकवृत्ति	हरिभद्र सूरि		देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फण्ड	८, ४४, ४५
७८. दसवेआलियं (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	८, ९, १८, २०, ४०, ६८, १८३, २०६, २१५, २३३, २३४, २६६, २७६
७९. दसाओ (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	२३०, २३८
८०. दीघनिकायपालि		वि. सं. २०१५	बिहारराजकीय पालिप्रकाशन मण्डल	६६, १६१
८१. देशीनाममाला	हेमचन्द्राचार्य	सन् १९३८		२१८
८२. देशीशब्द कोश	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	१३३, २१४
८३. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (किरणवली विवृत्तियुक्त)	ले. सिद्धसेन दिवाकर सं. विजय सुशील सूरि	सन् १९७७	विजय लावण्य सूरेश्वर ज्ञानमन्दिर, बोयाद (सौराष्ट्र)	मू. १५; ६०
८४. ध्यानशतक (ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव)	हरिभद्रसूरि	सन् १९७६	वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली	मू. ३४
८५. नंदी (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	मू. १४-१७, २०, २१, ३२, ३६; ६, १७, ८८, ९०, ९३
८६. नंदीचूर्णि (नंदीसूत्र, चूर्णि-सहित)	आगमकार—देववाचक, चूर्णिकार—जिनदास महत्तर सं. मुनि श्री पुण्यविजयजी	सन् १९६६	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी	मू. २१, ३२; १७, ६३, २३४
८७. नन्दी सूत्र (मलयगिरि वृत्तियुक्त)		सं. १९६०	आगमोदय समिति, महेसाणा	६, ८८
८८. नन्दी सूत्रम् (हारिमद्रीय वृत्तिसहित)	सं. मुनि पुण्यविजयजी	सन् १९६६	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी	मू. ३६; २३४
८९. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग)			जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई	१३
९०. नयचक्र (परिशिष्ट—आलापपद्धति)	ले. माइल्लधवल, सं. अनुवाद— पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री	सन् १९७१	भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली	२२३
९१. नायाधम्मकहाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६, ६८, २०८, २०९, २१५ २६६, २७१
९२. नियमसार तात्पर्यवृत्ति				१३५

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुसूचक, वाचन श्रमण, प्रकाशक आदि	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
६३. निरयावलियाओ (उर्वंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	२१५
६४. निशीथसूत्रम् (भाष्य व चूर्णि सहित)	सं. उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि मुनि श्री कन्हैयालाल "कमल"	सन् १९८२	सन्मति-ज्ञान पीठ लोहामंडी, आगरा	१३,४४,४५,२४७,२७१
६५. निसीहञ्जयणं (नवसुत्ताणि भाग, ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	२२८
६६. न्यायदर्शनम् (वात्स्यायन भाष्य)			बोद्ध भारती, वाराणसी	१५१
६७. न्यायावतार	ले. आचार्य सिद्धसेन	सन् १९७६	श्रीपरम श्रुतप्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अग्गास	६३
६८. पंचसंग्रह (दिगम्बर)	सं. हीरालाल जैन	वि. सं. २०१७	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१६,१८,५६,६३,८१,८६
६९. पंचसंग्रह (श्वेताम्बर)				८६
१००. पंचाशक	ले. हरिमद्र			२३८
१०१. पंचास्तिकाय (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति)	सं. प्रो. ए. चक्रवर्ती डॉ. ए. एन. उपाध्ये	सन् १९७५	भारतीय ज्ञानपीठ	१३६
१०२. पद्मोवसणाकण्ठो	देखें कल्प सूत्र			६
१०३. पट्टावलि-समुच्चय	ले. धर्मसागरगणी			मू.३५
१०४. पण्णवणा (उर्वंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६,१०,२४,२८,२९,३६, ४६,५८-६३,६६-६८,७३, ८१,८६,९८,११६,१३५, १५८,२०२,२०३,२१०, २१४,२५२,२५४,२५५, २५७,२६२,२८१,२८२
१०५. पण्णवागरणई (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नयमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६,१२
१०६. पातञ्जल योगदर्शनम् (व्यास भाष्य सहित)	ले. महर्षि पतञ्जलि व्याख्याकार—श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य	सन् १९७४	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-पटना-वाराणसी	१६,२०,४८,६६,१३५, १६५,१७६,२१०
१०७. पातञ्जल योगदर्शन (योगवार्तिक)	ले. महर्षि पतञ्जलि व्याख्याकार—विज्ञानभिक्षु			१०३
१०८. प्रज्ञापनावृत्ति	ले. श्रीमन्मलयगिर्वाचार्य	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेहसाणा	५,२२,२८,३६,५७,५८, ६२,६३,७४,१२८,१५८, २५४,२५८
१०९. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार				८८
११०. प्रमाण मीमांसा	ले. हेमचन्द्र	सन् १९८६	सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद	५
१११. प्रवचनसार	ले. कुन्दकुन्दाचार्य	सन् १९४८	श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र	६२,१३५,२०७
११२. प्रवचनसारोद्धार	ले. श्रीमन्नेमिचन्द्रसूरि टीका. श्रीसिद्धसेनसूरि	प्रथम संस्करण	देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फण्ड	१२६,१५२,१८५,२३४, २६१,२६२
११३. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध	ले. जयाचार्य प्रवाचक—आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रथम संस्करण १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	१२,६०
११४. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	रिचर्ड पिशल, अनु. डॉ. हेमचन्द्र जोशी डी. लिट.,		विज्ञान-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना	७
११५. प्राकृत व्याकरण	ले. हेमचन्द्र			१३,१६
११६. प्राचीन भारतीय अभिलेख	ले. श्री राम गोयल	सन् १९८२	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर	८

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, वाचन प्रमुख, प्रकाशक आदि	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
११७. बारस अणुवेखा	आचार्य कुन्दकुन्द			२३६
११८. बृहत्कल्पसूत्रम् (स्योपज्ञनिर्वृत्ति, संघदास गणि संकलित माष्य आदि सहित)	ले. स्यविर आर्यभद्रबाहु		जैन आत्मानन्द समा, भावनगर	१४१,२४२,२५०
११९. बृहदारण्यकोपनिषद्-एक समीक्षात्मक अध्ययन	ले. डॉ. रघुवंश झा	सन् १९८४	किशोर विद्या निकेतन, भदौनी वाराणसी	१३३,२०८
१२०. बोधपाहुड				७
१२१. भगवद् गीता				३,१२३,२०८
१२२. भगवती आराधना (विजयोदयावृत्ति-सहित)	ले. आचार्य श्री शिवार्य	सन् १९३५	सखाराम दोशी, शोलापुर	१८५
१२३. भगवतीचूर्णि (प्रस्तुत अगम का पंचम परिशिष्ट)	जिनदास महस्तर		हस्तलिखितप्रति	
१२४. भगवती-जोड	ले. जयाचार्य प्रवाचक आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा	प्रथम संस्करण १९८१ लाडनूँ (राज.)	जैन विश्व भारती	१०,११,२०,३३-३६,४०, ४२,५९,६६,७१,८१,८७, ८९,९१,९२,९७,११२, १४५,१४७,१५७,२१३, २१४,२२८,२२९,२३३, २४६,२६२,२६५,२६९, २७१,२७३
१२५. भगवतीवृत्ति (प्रस्तुत पुस्तक का छठा परिशिष्ट)	ले. अमयदेव सूरि			
१२६. भगवती सूत्र	अनु. बेचरदास दोशी		आगमोदय समिति, मेहसाणा	१५३
१२७. भारतीय तत्त्वविद्या	ले. पं. सुखलालजी संघवी	सन् १९६०	ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद	१६१
१२८. भिक्षुशब्दानुशासनम्	ले. मुनि चौधमल्ल सं. मुनि राजेन्द्र कुमार		आदर्श साहित्य संघ चुरु, राजस्थान	२८४
१२९. मज्झिम निकाय			विहार राजकीय पालिप्रकाशन मण्डल	२८,२०६
१३०. मनुस्मृति	टीकाका र— पंडित श्री हरमोविन्द शास्त्री	सन् १९७०	चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस वाराणसी	२०६,२०८,२१४,२७१
१३१. मनोऽनुशासनम्	ले. आचार्य तुलसी	सन् १९८६	आदर्श साहित्य संघ चुरु, राजस्थान	२४२
१३२. महानिशीथ				८,६,१३
१३३. महापुराण			भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१७
१३४. महाभारत				२०८
१३५. महावस्तु				२१५
१३६. मूलाचार	ले. श्रीमद् बट्टकेराचार्य	सन् १९८४	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	१८५,१८६
१३७. योगशास्त्र	ले. कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य	सन् १९७५	श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशनसंघ दिल्ली	२०८,२४९
१३८. राजप्रश्नीयवृत्ति	ले. मलयगिरि	वि. सं. १९९४	शंभुलाल जगशीशाह, युर्जरग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद	१२,२१३,२१४,२१६, २४६,२६९
१३९. रामायणम्, वाल्मिकेय	सन् १९८६	भुवन वाणी ट्रस्ट	लखनऊ	२१०
१४०. रायपसेणइयं (उर्वंगसुत्ताणि भाग ४, खण्ड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.)	भू. ३२,१२,६०,२१३, २१५,२३३
१४१. लोकप्रकाश	ले. विनयविजयगणि	वि. सं. १९६०	श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभा अहमदाबाद	४४
१४२. ववहारो (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती लाडनूँ, (राज.)	१८३
१४३. वाक्यपदीयम्			डेकन कालेज, पूना	१६१
१४४. विजयोदयावृत्ति	देखें, भगवती आराधना			२२७,२२८,२३०
१४५. विद्यानुशासन, योगशास्त्र				७

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, वाचन प्रमुख, प्रकाशक आदि	संकाय	प्रकाशक	पृष्ठ
१४६. विवागसुयं (अंगसुताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नयमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	६
१४७. विशेषावश्यकभाष्यम्	ले. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण सं. दलसुखमाई मालवणीया		लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद	५,१३,१८,२८,१०३, १४८,१७५,१८२
१४८. विशेषावश्यकभाष्यम् (कोट्याचार्यवृत्ति-सहित)				१३
१४९. विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी	डॉ. प्रेम सागर जैन			१०
१५०. विश्व प्रहेलिका	ले. मुनि महेन्द्र कुमार	सन् १९६६	जेठलाल एस. जवेरी, भारत बिजली लिमिटेड, उद्योगनगर, किंग्स सर्किल रेलवे स्टेशन के पास, बम्बई	२६८
१५१. विसंवादशतक	ले. समयसुन्दर			६२
१५२. व्यवहार सूत्र (भाष्य एवं मलयगिरि विरचित वृत्ति-सहित)	सं. मुनि माणिक	सन् १९२८	यकील त्रिकमलाल अगरचन्द्र, अहमदाबाद	भू.३१;२४७
१५३. शतपथ ब्राह्मण			चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी	१३४
१५४. शान्तसुधारसभावना	ले. उपाध्याय विनय विजय सं. अनु. मुनि राजेन्द्र कुमार	सन् १९८५	आदर्श साहित्य संघ चुरू (राज.)	२३६
१५५. श्वेताश्वतर उपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्)	व्याख्याकार—हरिकृष्णदास गोयन्दका		मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर	२०८
१५६. षट्खण्डागम (धवला टीका-सहित)	ले. पुष्पदन्त भूतबलि, वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका सहित, सं. हीरालाल जैन	सन् १९४२	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र अमरावती	६-८,१५,२०,८६,११३, १४७,१५८,१६६,२०६
१५७. षड्दर्शनसमुच्चय	ले. आचार्य हरिभद्र टीकाकार गुणरत्नसूरि	सन् १९७०	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी	२०८
१५८. षष्टितंत्र				२०८
१५९. संबोध प्रकरण				२४१
१६०. सनत्सुजातीय शांकरभाष्य	अनु. स्वामी श्रीसनातनदेव		गीताप्रेस पो. गीताप्रेस (गोरखपुर)	२३६
१६१. सन्मतिप्रकरण	ले. सिद्धसेन दिवाकर	सन् २०१६	ज्ञानोदय ट्रस्ट, अनेकान्त विहार, श्रेयस् कॉलोनी के पास, अहमदाबाद-६	११,२१,२२,७६,७८,६३, १३६
१६२. समवसार	आचार्य कुन्दकुन्द	चतुर्थ आवृत्ति	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट	१८३
१६३. समवाओ (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण, परिशिष्ट आदि)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनू, (राज.)	भू.१४-१७,२०,२१,३६; ६,१०,१४,२०,३८,१०४, ११३,१८३
१६४. समवायांगवृत्ति				२२६
१६५. सर्वार्थसिद्धि				२०६
१६६. सागारधर्माभूत	पंडित आशाधर	वीर नि. सं. २४८२	सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर	१०
१६७. सुतनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	सन् १९५१	महाबोधि सभा, सारनाथ	१४
१६८. सुश्रुत संहिता		पंचम संस्करण	मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली)	१५२-१५४
१६९. सूत्रकृतांगचूर्णि	जिनदास महत्तर		श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम	१०३,१२८,२६७
१७०. सूत्रकृतांगनिर्घृति	देखें सूत्रकृतांगवृत्ति			१५२
१७१. सूत्रकृतांगवृत्ति	श्री शीलाकाचार्य			२८,१६६
१७२. सूत्रगडो (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ	भाग १—१९८४ भाग २—१९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)	भू.१७,१८;६,१३,५६, ६६,१०४,१५६,१५७, १६१,१६१,२१५,२३०, २३४,२६६

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक, भाषा प्रमुख, प्रकाशक आदि	संस्करण	प्रकाशक	पृष्ठ
१७३. सूरपण्णती (उक्कसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाहन्, (राज.)	१२२,१२३
१७४. स्थानांगवृत्ति	ले. अभयदेवसुरि	सन् १९३७	सेठ माणिकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद	१३,१५,१६,४४-४६,८८, १३५,१४४,१४७,२१३, २५८,२६०,२६५,२७१, २८४
१७५. स्याद्वादमंजरी	अनु. सं. डा. जगदीश चन्द्र जैन	सन् १९६२	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	२१०
१७६. हठयोगप्रदीपिका	स्वात्माराम योगीन्द्र	सन् १९८८	खेमराज श्री कृष्ण दास अध्यक्ष, श्री वेन्कटेश्वर प्रेस, बम्बई	१६
१७७. हेमशब्दानुशासनम्	आचार्य हेमचन्द्र	वि. सं. २००७	छगनीराम अमरचन्द्र शिरोलिया, उज्जैन	७
१७८. Doctrine of the Jainas	W. Schubring	First Edition, 1962	Motilal Banarsidass Delhi, Varanasi, Patna	मू.१८,१९;१८५,१८७
१७९. Encycloepadia Britannica		सन् 1973		१५४
१८०. Greek Thinkers	Theoder Gomper			१३३,१३४
१८१. Greschicite der Indischen Philosophie	Frauwallener		मू. १६	
१८२. History and Doctrines of Ajivkas	Dr. A. L. Basham			६६
१८३. Mahavira And His Teachings (Lord Mahavir and Anyatirthikas)	Josep Delue	सन् 1977	Bhagavan Mahavira Mahotsava Samiti, Bombay	मू.१६
१८४. Principal Upanishads	Dr. S. Radhakrishnan			१३३
१८५. Sanskrit-English Dictionary	Sir Monier-Monier- Williams		Motilal Banarsidass Delhi, Varanasi, Madras	४५
१८६. Sanskrit-English Dictionary	V. S. Apte	Revised and Enlarged Edition सन् 1957	Presad Prakashan, Pune	१२,१३,१६,२०,२४,४४, ४६,८०,१२३,१४१,१५८, १६७,२०६,२११,२१४, २१६-२१८,२२०,२४२, २४४,२४६,२६५,२७१, २७६,२७९
१८७. Studies in the Bhagavati Sutra	Dr. J. C. Sikdar	First Edition	Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahinsa (Bihar)	१६६
१८८. The Universe and Dr. Einstein	Lincoln Barnett			१६७
१८९. The World Book Encycloepadia			World Book-Childcraft International, Inc. Chicago...	१३६
१९०. Viyāhapannatti	Josep Delue	1970	De Tempel, Tempelhoe Brugge (Belgie)	मू.३३
१९१. Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellshaaft			Leipzig, Wiesbaden	१८५



जिनदास महत्तर-कृता भगवती-चूर्णिः

प्रथमं शतकम्

पञ्चमः उद्देशकः

नमो जिनाय

पुढवी ठिति योगाहण सरीर संघयणमेव संठोणो । लेस्सा दिट्ठी णो अछौगै जोगवुवयोगे विरहिज्जति जं ठाणं असीति भिगा (भंगा) तहिं करिज्जासि जत्थ उगेहोति विरहोति विरहो अभंगं सत्तावीसा वा चउहिं कोदीहिं लोभादीहिं वा ठितिसुत्तादि विसेसितेहिं समझुभंगलक्खणं पुढवीसुत्तं—सत्त कण्णाउ प्रतेयं चउवीसा दंडएणं आवासणेयव्वा । ठितिसुत्तं जहण्ण मज्झा उकोसा जहिण्णियातो समय दुसमयं संखेज्जा जाव तस्सावासस्सुक्कोसिया ण पावत्ती ताव आदि-अंत-समय-विरहितासंखेज्जा द्विती द्वाणो भवन्ति । जहण्णद्विती अविरहिता नारगेहिं कहु तत्थ सत्तावीसं भंगा । कोहोवयुत्तेहिं य अविरहिता तहिं निच्चवहुवयणं समाहियाए जहण्णियाए असीति तत्थ य तेहि विरहो होति अहवा एको वा दो वा तिण्णि वा संखेज्जा ते कोवे वा माणे वा मायाए वा लोभे वा उवउत्ता तत्थ भंगा असीति वत्तव्वा एवं जाव संखेज्जसमयाहियाए वा ततो असंखेज्जा । तप्पाउस्सुक्कोसियासु अविरहियत्तणात्तो सत्तावीसं । उगाहणसुत्तं—सरीरप्पमाणं तहेव जहण्णादियं उववज्जमाणं ते जहण्णद्वितीए विरहिज्जति तत्थासीति जाव संखेज्जपदेसाविया । असंखेज्जं तप्पायुग्गुक्कोसियासु सत्तावीसं अविरहियत्तणात्तो । संघयण-संठाण-काउलेस्सासु सत्तावीसं । दिट्ठी संभामिच्छते ण विरहिज्जति तत्थसीति सेस दंसणे रतण पढमं पुढविसुत्ताणि समत्ताणि ताव सत्तावीसं । एवं सत्तसुवि लेस्सासु विसेसो । एवं भवणवासीणं लोभादीया देवाणं लोभपरिणामबहुत्ताउ सत्तावीसमसीतिं च द्विती आदि विसेसिते कोधादिसु वारेज्जा णारगाणं जहा असंखेज्जेसु णं पुढविक्कते सव्वट्ठाणेसु बहुया काऊण सुण्णभंगो णवरं तेउलेस्साए विरहिज्जति ति देवोवत्तीए तत्था-सीति एवं आउवणप्फतीणं पुढवीकाय तुल्लं तेउवाऊण सव्वत्थ अभंगं । वितिचउरिंदियाणं सत्तावीसद्वयेणं अभंगं बहुत्ताउ असीति चेव सासातण सम्मद्विट्ठि विरहं संभवोपपातं बहुत्वं आभिणिदोहितसुत्तणाणसमत्तेसु असीति । पंचिंदियतिरियाणं जहण्णद्विती उगाहणासु विरहिउ जेसु असीति तेसु सव्वेव सत्तावीसाए बहुत्तातो अभंगं सम्भामिच्छते विरहाउ चेवासीति । मणुयाणं जहण्णियाए द्वितीए आहारकशरीरं पडुच्च विरहाउ असीति सेसियाउ सट्ठाणेसु असीतीतो भाणियव्वातो सत्तावीसद्वयेणं अभंगं णेरतियाण जहा केवलणाणे मोहणिज्जक्खयाउ असंभवो । वेमाणियमाणमंत जोसिया जहा लोभादीया असुरा णेरइया देवेसु सत्तावीसा असीति भंगा सेसे पुढविक्काइयादिसु मणुयपज्जेतेसु दससु सत्तावीसमसीते अभंगं संखेवतो जाणे सेवं भगवं ।

षष्ठः उद्देशकः

सर्वदिक् सर्वदिक्षु वा सर्वाणि यावन्ति नोवी सव्वन्ति सामान्यविशेषनयाभ्यां प्रसिद्धितः पदानि व्याख्यातव्यानि नियमा छद्विसिं । भवन-मन्यावलविभाप्रतिहतोद्योतप्रदीपवत् लोकोऽलोकमध्ये कर्मकर्मं वत्ततामात्मनिसमन्वायंतः कर्मलक्षणपदार्थमभिनिर्वर्तयन्ति एकैन्द्रियान्प्राप्योपरितं लच्छिता सीदिति कृतयागमनप्रतिघातिनो भवन्ति तद्वदेशा व्फतादि दिग्बुधे अव्ये एकस्य बहुमध्ये प्रतिघातिनः गेहानागर प्रम्नाः पयोरनाथ-पर्यवसानता तयोः पूर्वमिदं परमिदमिति न शक्यते वक्तुं रात्रिदिनस्येव स प्रतिपक्षप्रतिसिद्धमुपात्तोदाहरणवदभाव्यं लोयंतं सत्तमेणोवासंतरेण वारेत्तण सत्तमं सेसमुपगतो अणंतं सेसाणंतरेहिं जाव सव्वतो लोयद्विति सभाव वा तेणमुत्तमसिंघाय समितीत्याद्युदाहरणं चानुमानं सदांम्बमात्रया इदं समितं एकीभाव न वा इतं फु कारणावयवेन कार्यावयवी न निर्वर्त्तयते तंतुना पढा न च्च प्रदेशे वता नव देशे न सर्वः असकलकारणत्वात् तंतुना पट इव न च सर्वाय वैदेश कार्याभिनिवृत्तिः संपूर्णसमं वाप्प समवायिकारणत्वात् घेटिकदेश देशवत् सर्वावयवैः सर्व पूर्णकारण समयात् घटवत् ।

सप्तमः उद्देशकः

उववज्जमाणे आहार उववण्णे आहार उव्वट्ठमाणे आहार उव्वट्ठे आहार पढमसमए सव्वमाहारमुववयमाणे सेसेसु देस वा सव्ववाहार अद्वेणं विद्धाणिव्वत्ती ण सिया उवगरणं णा सिया रंभया पोग्गला भावोत्तन्नव्विति सामत्थ तेण जोगा सव्विंदिएसु कायिको शरीरस्फंदः मानसो मनोव्यापार प्रणिधिः ।

अष्टमः उद्देशकः

इषुसयोगो विकरणं खेवगस्सेव प्रणयेन मृगवधो नेतरेषां किं कारणं कज्जमाणं कृतमेव हन्यमानो हत एवं छम्मासाणुवंधीकणविधिः परितो अण्णं परिणामांतरं पोग्गलादि संघातो जाति ।

नवमः उद्देशकः

गुरुय दव्वे णत्थि-अच्चंतं हेद्वा अवत्थाणाभाव अलहुयदव्वे विणत्थि उद्वा गमणतो णिच्छयणयस्स ववहारस्स यातर दव्वखंधेसुवज्जादिरुतादि य गरुलहुं णिच्छयणयस्स गुरुलघु अट्ठप्पासा खंधा । अगुरुलघु अमुत्तदव्वाणि तप्पट्टे सपज्जया कालो सुहुमपरिणया चतुप्फालाव खंधा एगजीवेति दव्वद्वयाए एगमि जीवे सव्वपज्जव संगहातो जहाजीवे भवपज्जया तथा भवे वीतरयज्ज यत्ति कट्ट पक्कभवयकरणे दुभव जावकरणं जालगठिकावत् उत्तरं निव्वयणं एगे जता एगं गेण्हति ण तदा वितियस्स गहणं घडविणाणकाले य ड गट्टण दिण्णाणं इव थिरसुत्ते थिरो जीवो दव्वट्टताए कंमाइं अत्थिराईं संजोगविभागसंवंधतो जीवो ण विद्धंसति कम्मपोगलविद्धंसति सव्वगमेसु य चेव ।

दशमः उद्देशकः

चलमाणे नो चलिते दव्वद्वियस्स सव्वमणुप्पणमवि णट्टमिति कट्ट अहवा ववहारस्स इच्छित कज्जाकरणातो णो चलितं णिच्छयस्स जइ एगसमय चलितं अतोचलितं । दो परमाणुपोगला सप्पहत्तातो ण संहणति तिघभि धी समुदातो सो चेव परमत्थतो पुरिट्ठिभेएणं केवलं भिज्जंति तिण्हं च भज्जत्तणातो छेदो भवति ततो दिव हता उत्तरं समुदाएण । अवयव पुव्वएण होयव्वं पिंडवत् जे य अंता अवयवा ते परमाणू तेसि च समुदायो वि होति कारणत्तातो तंतु पट्ट इव ण य तिण्ह मज्झभेदो अवयवत्वात्परमाणुवत् भेदेण तिप्पदेसा तिण्णि वा दो वा भवति तथा भासादव्वाइं कारणत्तेण पढमपच्छिमकाले भासाए णिदिरसंती । वट्टमाणे समय परम णिरोहे ववहारा भावातो उत्तर भासा वट्टमाणकालय तेण दवतीतकट्ट । तप्पयाय परिणामातो हवति घटवत् अण्णहा भासाभावो सव्वभासापसंगे एवं किरियादिपदेसु योज्जं परिहारो य दुभवकरणेन किरियातो भणियातो पढमं सत्तं सम्मत्तं ।

द्वितीयं शतकम्**प्रथमः उद्देशकः**

जीवा एगैदिया णिप्फंदाणुस्सासा दित्तातो भासरासी इव होहिंति तिसिं फंदादिणो धम्मा आहारादि पुव्वसरीर वयणातो पुरिस इव उस्सासादिय । वाउयाणो सो सव्वेसिं वाउकाइयाण वाउक्कातो चेव उसासो । मृतयाजी मडाई मृतासी वा साधुस्स पुनरपि संसारभात्वेप्यति तदाविह कारण चित्तत्तणातो अनिरुद्ध भवत्तणादिणो हेतवो इत्येतस्मादर्थान् इच्छत्थं अंकुरवत् वीजवइ विपरीतं एते चेव हेत विपरीताच्छिन्न संसारस्य दधकारणत्थात् वीजवदेवाकारणवत्त्वाद्वावेउद्वा भोईति दिनकरे व्यावृत्ते अहोरात्रे इति भो जीवा यावत् सांते लोए सपडिपव्खा दसपहो चउच्चिहेणत्थे चत्तारि भणित्ता पंचत्थिकाया लोगो एगं दव्वं समुदाय सद्दत्तणातो वणस्संति तोणावत् ।

पञ्चमः उद्देशकः

संजमातो कर्मनास्त्रवंति तवेण विदारणं करेति जति एतेसिं एयं कज्जं ततो किंप्रत्ययं देवार्थकार्यं णत्थित्ति तस्स कारणानि अभावो पावति चउहि चत्तारि कारणानि देवलोगस्स साहणाणि भणित्ताणि पुव्वतवपुव्वसंजमकंमवसंगियताइं पंचण्हं संजमाणं अवक्खात हेद्वा पुव्वाणि तेण तवेण तेण संयमेणं अहक्खायचारित्तेण वंधति शुभाशुभं पुव्वतवसंजमे सुभकंमियाए संगिया वि पुव्वसंजमसुह देवलोग संगतोरानो दोय आवुत्तेहिं परियावुत्तेहिं समत्थेहिं समएहिं ।

दशमः उद्देशकः

उउदंसत्थिकायादिसु पर्युदासो दट्टव्वो अरुवि, पंचविधो समासतो लोगागासपमाणो खेत्तपरिच्छिण्णोत्ति खेत्तप्पमाणो वण्णो दवण्णासोपतस्स भावो अमुत्तो अवण्णा जाव फासे भावो तस्स दव्व पज्जातो गुणो दव्वट्टवीरियं तस्स तस्स या जहा पोगलत्थिकायस्स भावारूवादयो अणंता तथा अमुत्त दव्वाणं अगरुलहुभावा अणंता दट्टवा । एगे भंते धंमत्थि समुदाए वट्टमाणो सट्टोणावव वट्टति असगलत्तणेतो जो य उवयारो सो सव्वो अतत्त्वं मृग्यते वक्कादीणि उदाहरणाणि लोगागासेणं सत्तमी लोगागासे किमस्ति जीवादय इत्यादे या देवकुलु साधुवत् अजीवा दुविहा रूवी अरूवी खंधा द्विप्रदेशिकाद्या देशा द्विधागाराच्छेदेन एगतो द्वयं पदेसा वंधत्था परमाणवो सुद्धा अगतखंधभावा अरुविणो दव्वा समुदायसद्देण भणंति णीसासा तत्थ पदेसेहिं वा णिस्सेसं भणेज्ज णा देसेण तस्स अणवट्टिपमाणत्तणातो तेण ण देसेणिद्देसो तथा पोगलत्थिकायां वि जो पुण देससंदो एतेसु कतो सो सविसय गत ववहारत्थं पर दव्व फुसणादिगत ववहारत्थं वा णमु पुण अण्णावहुयमसणादिसु देसमसणाण संभवति अणवट्टियतातोणस्सेसदव्व-ग्गहणं दव्वट्टताए वा पदेसट्टताए भवति अट्टासमयोवट्टमाण एग समयो ण च सयाणि अहो उवरिय तिरियलोगो ततो अधोलोगो लोगमज्जा पुण रयणप्पभपुढविओगासंत रज्जुभमाणा असंखेज्जतिभागमोगाहिंता भवति अहो लोगो सत्तरज्जुतो साधेयतो हेद्वा सत्त वित्थारो देसूणातो उट्टलोगो देसूणा सत्तरज्जुतो वंभलोते वित्थारो पंच रज्जुतो एतेण अण्णहुत्तणेज्जा लोगो अणंततिभागो लोगागासस्स अल्लोगागासमणंतविभागीणं लोगागासं समुदितं ।

बितियशतं

अभयदेवसूरि-कृता भगवती-वृत्तिः

प्रथमं शतकम्

प्रथम उद्देशकः

सर्वज्ञमीश्वरमन्तमत्तङ्गमग्र्यं,
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहभिद्धम् ।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतं,
श्रीमञ्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि ॥ १ ॥
नत्वा श्री वर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे ।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्ये सर्वविदस्तया ॥ २ ॥
एतद्दीकाचूर्णी जीवाभिममादिवृत्तिलेशांघ्र ।
संयोज्य पञ्चमाङ्कं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित् ॥ ३ ॥

व्याख्यातं समवायाख्यं चतुर्थमङ्कम् ।

अथावसरायातस्य 'विआहपण्णत्ति' ति सञ्ज्ञितस्य पञ्चमाङ्कस्य समुन्नतजयकुञ्जरस्येव ललितपदपद्धतिप्रबुद्धजनमनोरञ्जकस्य उपसर्गनिपाताव्यय-
स्वरूपस्य घनोदारशब्दस्य लिङ्गविभक्तियुक्तस्य सदाख्यातस्य सल्लक्षणस्य देवताधिष्ठितस्य सुवर्णमण्डितोद्देशकस्य नानाविधाद्भुतप्रवरचरितस्य
षट्त्रिंशत्प्रश्नसहस्रप्रमाणसूत्रदेहस्य चतुरनुयोगचरणस्य ज्ञानचरणनयनयुगलस्य द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयद्वितयदन्तमुशलस्य निश्चयव्यवहारनय-
समुन्नतकुम्भद्वयस्य प्रस्तावनावचनरचनाप्रकोण्डशुण्डादण्डस्य नियमनवचनातुच्छपुच्छस्य कालाघटप्रकारप्रवचनोपचारचारपरिकरस्य उत्सर्गापवादवाद-
समुच्छलदतुच्छघण्टायुगलघोषस्य यशःपटहपटुप्रतिरवापूर्णदिकचक्रवालस्य स्याद्वादविशदाङ्कुशवशीकृतस्य विविधहेतुहेतिसमूहसमन्वितस्य मिथ्या-
त्वाज्ञानाविरमणलक्षणरिपुबलदलनाय श्रीमन्महावीरमहाराजेन नियुक्तस्य बलनियुक्तकल्पगणनायकमतिप्रकल्पितस्य मुनियोधैरनाबाधमधिगमाय
पूर्वमुनिशिल्पिकल्पितयोर्बहुप्रवरगुणत्वेऽपि ह्रस्वतया महतामेव वाञ्छितवस्तुसाधनसमर्थयोर्वृत्तिचूर्णिनाडिकयोस्तदन्वेषां च जीवाभिममादि-
विविधविवरणदवरक्तेशानां संघटनेन बृहत्तरा अत एवामहतामप्युपकारिणी हस्तिनायकादेशादिव गुरुजनवचनात्पूर्वमुनिशिल्पिकुलोत्पन्नै-
रस्माभिर्नाडिकेवेयं वृत्तिरारभ्यत इति शास्त्रप्रस्तावना ।

१. अथ 'विआहपण्णत्ति' ति कः शब्दार्थः ? उच्यते—विरिति' विविधा जीवाजीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः, आ—अभिविधिना
कथञ्चिन्निखिलज्ञेयव्याप्त्या मर्यादया वा—परस्परासंकीर्णलक्षणाभिधानरूपया, ख्या—ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादिविनेयान् प्रति
प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि—व्याख्याः । ताः प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभियस्याम् ।

२. अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्ते इति व्याख्याः—अभिलाप्यपदार्थवृत्तयः, ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम् ।

३. अथवा व्याख्यानाम्—अर्थप्रतिपादनानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो—ज्ञानानि यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः ।

४,५. अथवा व्याख्यायाः—अर्थकथनस्य प्रज्ञायाश्च—तद्धेतुभूतबोधस्य व्याख्यासु वा प्रज्ञाया आसिः—प्राप्तिः आर्तिर्वा—आदानं यस्याः सकाशादसौ

१. सर्वीय ख. ग. घ. च. छ.

२. विआह ख. च. छ. विवाह ग. घ.

३. उपसर्ग ख. ग. घ. च. छ.

४. ज्ञान नयनयन ग.

५. कालाघटप्रकारवचनो घ.

६. उत्सर्गापवादसमुच्छलद ग.

७. बलनियुक्तकल्पगण क. ग.

८. ०दिविवरण च.

९. संघटनेन ख. च. छ.

१०. विआहपण्णत्ति ख. ग. घ. च. छ.

११. x क. च. छ.

व्याख्याप्रज्ञासिर्वाख्याप्रज्ञासिर्वा व्याख्याप्रज्ञाद्वा भगवतः सकाशादातिरातिर्वा गणधरस्य यस्याः सा तथा ।

६. अथवा विवाहा—विविधा विशिष्टा वाऽर्थप्रवाहा नयप्रवाहा वा प्रज्ञाप्यन्ते—प्ररूप्यन्ते प्रबोध्यन्ते वा यस्यां, विवाहा वा—विशिष्टसन्ताना ।

७. विवाधा वा—प्रमणाबाधिता प्रज्ञा आथन्ते^१ यस्याः । विवाह^१ चासौ विवाधा चासौ प्रज्ञासिश्च—अर्थप्रज्ञासिश्चार्थप्ररूपणा=विवाहप्रज्ञासिर्विवाहप्रज्ञासिः विवाधप्रज्ञासिर्विवाधप्रज्ञासिर्वा ।

६. इयं च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते इति ।

इह व्याख्यातारः शास्त्रव्याख्यानारम्भे फलयोगमङ्गलसमुदायार्थादीनि द्वाराणि वर्णयन्ति । तानि चेह व्याख्यायां विशेषावश्यकादिभ्योऽवसेयानि । शास्त्रकारास्तु विप्रदिनायकोपशमननिमित्तं विनेयजनप्रवर्त्तनाय च शिष्टजनसमयसमाचरणाय वा मङ्गलाभिधेयप्रयोजनसम्बन्धानुदाहरन्ति । तत्र च सकलकल्याणकारणतयाऽधिकृतशास्त्रस्य श्रेयोभूतत्वेन विप्रः संभवतीति तदुपशमनाय मङ्गलान्तरव्यपोहेन भावमङ्गलमुपादेयम्, मङ्गलान्तरस्यानैकान्तिकत्वादनैकान्तिकत्वाच्च । भावमङ्गलस्य तु तद्विपरीततयाऽभिलषितार्थसाधनसमर्थत्वेन पूज्यत्वात् । आह च—

“किं पुण तमणेगेतियमच्चंतं च ण जओऽभिहाणाई ।

तत्विरीयं भावे तेण विसेतेण तं पुजं ॥”

भावमङ्गलस्य च तपःप्रभृतिभेदभिन्नत्वेनानेकविधत्वेऽपि परमेष्ठिपञ्चकनमस्काररूपं विशेषेणोपादेयम्, परमेष्ठिनां मङ्गलत्वलोकोत्तमत्वशरण्यात्वाभिधानात्, आह च—चत्तारि मंगलमित्यादि । तन्नमस्कारस्य च सर्वपापप्रणाशकत्वेन सर्वविघ्नोपशमहेतुत्वात्, आह च—

“एष पञ्चनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः ।

मङ्गलानां च सर्वेषां, प्रथमं भवति मङ्गलम् ।”

अत एवायं समस्तश्रुतस्कन्धानामादावुपादीयते । अत एव चायं तेषामभ्यन्तरतयाऽभिधीयते, यदाह—‘सो सव्वसुयक्खंधऽब्भंतरभूओ’ति, अतः शास्त्रस्यादादेव^१ परमेष्ठिपञ्चकनमस्कारमुपदर्शयन्नाह—

१।१. नमो अरहंताणमित्यादि^१,

तत्र नम इति नैपातिकं पदं द्रव्यभावसङ्कोचार्यम् । आह च—‘नेवाइयं पयं’ दव्वभावसंकोयणं पयत्थो । ‘नमः’ करचरणमस्तकसुप्रणिधानरूपो नमस्कारो भवत्वित्यर्थः, केम्य इत्याह—‘अरहंद्दयः’ अमरवरविनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्थन्तः, यदाह—

“अरहंति^१ बंदणनमंसणाणि अरहंति^१ पूयसकारं ।

सिद्धिगमणं च अरहा अरहंता^१ तेण बुच्चंति ॥”

अतस्तेभ्यः । इह च चतुर्थ्यर्थे षष्ठी प्राकृतशैलीवशात् ।

अविद्यमानं वा रहः—एकान्तरूपो देशः अन्तश्च—मध्यं गिरिगुहादीनां, सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः अतस्तेभ्योऽरहोऽन्तर्यः, अथवा अविद्यमानो रथः—स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतोऽश्च—विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरधान्ता अतस्तेभ्यः । अथवा ‘अरहंताणं’ति क्वचिदप्यासक्तिमगच्छद्भ्यः क्षीणरागत्वात् । अथवा अरहयद्भ्यः—प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञैतरविषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजद्भ्य इत्यर्थः ।

‘अरिहंताणं’ति पाठान्तरं, तत्र कर्मारिहन्तृभ्यः, आह च—

“अइविहंपि य कम्मं अरिभूयं होइ सपलजीवाणं ।

तं कम्मपरि^१ हंता, अरिहंता तेण बुच्चंति ॥”

‘अरुहंताणं’ मित्यपि पाठान्तरं, तत्र ‘अरोहद्भ्यः’ अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मवीजत्वात्, आह च—

“दग्गे बीजे ययाऽत्तन्तं, प्रादुर्भवति नाइकुरः ।

कम्मबीजे तथा दग्गे, न रोहति भवाइकुरः ॥ १ ॥”

नमस्करणीयता चैषां भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति ।

‘नमो सिद्धाणं’ति, सितं—बद्धमष्टप्रकारं^१ कर्मोन्धनं ध्यातं—दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते निरुक्तविधिना सिद्धाः ।

१. आयन्ते

२. x च.

३. क. ख. ग. घ. ङ. च. संकेतितदार्शेषु पाठविपर्ययो दृश्यते— विवाधप्रज्ञासिर्विवाधप्रज्ञासिर्वा

४. यहां टीकाकार ने मूल प्राकृत पाठ न देकर उसका संस्कृत रूप उद्धृत किया है ।

५. शास्त्रादादेव ख

६. सूत्र से पहले जो संख्या दी गई है, वह अंगसुत्ताणि भाग २ के आधार पर

दी गई है ।

७. पदं ख. घ. छ

८. संकोअण ग

९. १०. अरिहंति क

११. अरिहंता छ

१२. कम्मपरि क. ख. घ. च. छ

१३. प्रकार क. घ. च. छ

अथवा 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म—अपुनरावृत्त्या निवृत्तिपुरीमगच्छन् ।

अथवा 'षिधु संराद्धौ' इतिवचनात् सिद्ध्यन्ति स्म—निष्ठितार्था भवन्ति स्म ।

अथवा 'षिधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये चे'तिवचनात् सेधन्ति स्म—शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्मेति सिद्धाः ।

अथवा सिद्धाः—नित्याः अपर्यवसानस्थितिकत्वात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च—

“ध्यातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निवृत्तिसौधमूर्ध्नि ।

व्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठतार्यो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे ॥”

अतस्तेभ्यो नमः ।

नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया^१ स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवोपकारहेतुत्वादिति ।

'नमो आयरियाणं'ति आ—मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते—सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्याः, उक्तञ्च—

‘सुत्तत्त्विक लखणजुतो गच्छस्स मेदिभूओ य ।

गणतत्तिविप्पमुद्धो अत्थं वाएइ आयरिओ ॥’ ति ।

अथवा आचारो—ज्ञानाचारादिः पञ्चधा, आ—मर्यादया वा चारो—विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाद्येत्याचार्याः आह च—

‘पंचविहं आयारं आयरमाणा तदा पहासितं ।

आयारं दंसितां आयरिया तेण वुच्चंति ॥’

अथवा आ—ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारा—हेरिका ये ते आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेयाः अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्या अतस्तेभ्यः ।

नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात् ।

'नमो उवज्जायाणं'ति उपं—समीपमागत्याधीयते 'इङ् अध्ययने' इतिवचनात् पठ्यते । 'इण गता' वितिवचनाद्वा अधि—आधिक्येन गम्यते, 'इक् स्मरणे' इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः, यदाह—

‘चारसंगो जिणक्खाओ, सज्जाओ कहिओ बुहे ।

तं उवइसंति जम्हा, उवज्जाया तेण वुच्चंति ॥’

अथवा उपाधानमुपाधिः—संनिधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो—लाभः श्रुतस्य येषामुपाधीनां वा—विशेषणानां प्रक्रमाच्छेभनानामायो—लाभो येभ्यः ।

अथवा उपाधिरेव—संनिधिरेव आयम्—इष्टफलं दैवजनितत्वेन, आयानाम्—इष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषाम् ।

अथवा आधीनां—मनःपीडानामायो—लाभ आध्यायः अधियां वा नञः कुत्सार्थत्वात् कुबुद्धीनामायोऽध्यायः 'ध्मै चिन्तायाम्' इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्धानं वाऽध्यायः, उपहत आध्यायः अध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः । अतस्तेभ्यः ।

नमस्यता चैषां सुसंप्रदायायात्तजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति ।

'नमो सब्बसाहूणं'ति, साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः, समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात्साधवः, यदाह—

‘निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहेतिं साहूणो ।

समा य सब्बमूएसु, तम्हा ते भावसाहूणो ॥’

साहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवः, निरुक्तेरेव, सर्वे च ते सामायिकादिविशेषणाः प्रमत्तादयः पुलाकादयो वा^१ जिनकल्पिकप्रतिमा-कल्पिकयथालन्दकल्पिकपरिहारविशुद्धिकल्पिकस्थविरकल्पिकस्थितकल्पिकास्थितकल्पिककल्पातीतभेदाः^२ प्रत्येकबुद्धस्वयम्बुद्धबुद्धबोधितभेदा भारतादिभेदाः सुषमदुष्पमादिविशेषिता^३ वा साधवः सर्वसाधवः ।

सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवतामविशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम् । इदं चार्हदादिपदेष्वपि बोद्धव्यं, न्यायस्य समानत्वादिति ।

अथवा सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वस्ते च ते साधवश्च सार्वस्य वा—अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः, सर्वान् वा शुभयोमान् साधयन्ति—कुर्वन्ति । सार्वान् वा—अर्हतः साधयन्ति—तदाज्ञाकरणादारथयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा ।

अथवा श्रव्येषु—श्रवणार्हेषु वाक्येषु, अथवा सव्यानि—दक्षिणान्यनूकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो—निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो

१. x क. घ. च. छ

२. पयासंता छ पहासितो घ

३. दंसंता क. छ

४. साहेति ख. ग. च. छ

५. x ख. ग. च. छ

६. स्थितास्थितकल्पिक क. ख. ग. च. छ

७. सुखमदुःखमादि ख. घ. छ.

वाऽतस्तेभ्यः ।

‘नमो लोए सव्वसाहूणं’ति क्वचित्पाठः, तत्र ‘सर्व’ शब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते—‘लोके’ मनुष्यलोके न तु गच्छदौ ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नम इति । एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात्, आह च—

“असहाय सहायत्तं करेति’ मे संजमं करेतस्स ।

एएण कारणेणं णमाभिऽहं सव्वसाहूणं ।।१ ।।’ ति

ननु यद्ययं सङ्क्षेपेण नमस्कारस्तदा सिद्धसाधुनामेव युक्तः, तद्ग्रहणेऽन्वेषामप्यर्हदादीनां ग्रहणात्, यतोऽर्हदादयो न साधुत्वं व्यभिरन्ति । अथ विस्तरेण तदा ऋषभादिव्यक्तिसमुच्चारणतोऽसौ वाच्यः स्यादिति । नैव, यतो न साधुमात्रनमस्कारेऽर्हदादिनमस्कारफलमवाप्यते, मनुष्यमात्रनमस्कारे राजादिनमस्कारफलवदिति कर्तव्यो विशेषतोऽसौ, प्रतिव्यक्ति तु नासौ वाच्योऽशक्यत्वादेवेति ।

ननु यथाप्रधानन्यायमङ्गीकृत्य सिद्धादिरानुपूर्वी युक्ताऽत्र, सिद्धानां सर्वथाकृतकृत्यत्वेन सर्वप्रधानत्वात् । नैवम्, अर्हदुपदेशेन सिद्धानां ज्ञायमानत्वादर्हतामेव च तीर्थप्रवर्तनेनात्यन्तोपकारित्वादित्यर्हदादिरेव सा ।

नन्वेवमाचार्यादिः सा प्राप्नोति, क्वचित्काले आचार्येभ्यः सकाशादर्हदादीनां ज्ञायमानत्वादिति, अत एव च तेषामेवात्यन्तोपकारित्वात् । नैवम्, आचार्याणामुपदेशदानसामर्थ्यमर्हदुपदेशत एव, न हि स्वतंत्रा आचार्यादय उपदेशतोऽर्थज्ञापकत्वं प्रतिपद्यन्ते अतोऽर्हन्ता एव परमार्थेन सर्वार्थज्ञापकाः, तथा अर्हत्परिषद्रूपा एवाचार्यादयोऽतस्तान् नमस्कृत्यार्हन्नमस्करणमयुक्तम्, उक्तं च—

“ण य कोइवि परिसाए पणमिन्ता पणवए रत्तो’ति

एवं तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याधुनातनजनानां श्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात् तस्य च द्रव्यभावश्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य च द्रव्यश्रुत-हेतुकत्वात्सञ्ज्ञाऽक्षररूपं द्रव्यश्रुतं नमस्कुर्वन्नाह—

१।२. ‘णमो बंभीए लिवीए’ति ।

लिपिः—मुस्तकादावक्षरविन्यासः सा चाथादशप्रकाराऽपि श्रीमन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकाया दर्शिता ततो ब्राह्मीत्वभिधीयते, आह च—
“लेहं लिवीविहाणं जिणेणं बंभीइ^३ दाहिणकरेणं” इत्यतो ब्राह्मीतिस्वरूपविशेषणं लिपेरिति ।

ननु अधिकृतशास्त्रस्यैव मङ्गलत्वात् किं मङ्गलेन ? अनवस्थादिदोषप्राप्तेः । सत्यं, किन्तु शिष्यमतिमङ्गलपरिग्रहार्थं मङ्गलोपादानं शिष्टसमयपरिपालनाय चेत्युक्तमेवेति ।

अभिधेयादयः पुनरस्य सामान्येन व्याख्याप्रज्ञप्तिरिति नाम्नैवोक्ता इति ते पुनर्नोच्यन्ते, तत एव श्रोतृप्रवृत्त्यादीष्टफलसिद्धेः, तथाहि—इह भगवतोऽर्थव्याख्या अभिधेयतया उक्ताः, तासां च प्रज्ञापना बोधो वाऽनन्तरफलं, परम्पराफलं तु मोक्षः, स चास्याऽऽप्तवचनत्वादेव फलतया सिद्धो, न ह्याप्तः साक्षात् पारम्पर्येण वा यन्न मोक्षाङ्गं तद्वृत्तिपादयितुमुत्सहते, अनाप्तत्वप्रसङ्गात् । तथाऽयमेव सम्बन्धो यदुतास्य शास्त्रस्येदं प्रयोजनमिति ।

तदेवमस्य शास्त्रस्यैकश्रुतस्कन्धरूपस्य सातिरेकाध्ययनशतस्वभावस्य उद्देशकदशसहस्रीप्रमाणस्य षट्त्रिंशत्त्रयसहस्रपरिमाणस्य^१ अष्टाशीति-सहस्राधिकलक्षद्वयप्रमाणपदराशेर्मङ्गलादीनि दर्शितानि ।

अथ प्रथमे शते ग्रन्थान्तरपरिभाषयाऽध्ययने दशोद्देशका भवन्ति । उद्देशकाश्च—अध्ययनार्थदेशाभिधायिनोऽध्ययनविभागाः, उद्दिश्यन्ते—उपधानविधिना शिष्यस्याचार्येण यथैतावन्तमध्ययनभागमधीधेत्येवमुद्देशस्त एवोद्देशकाः, तांश्च सुखधरणस्मरणादिनिमित्ताद्याभिधेयाभिधानद्वारेण संग्रहीतुमिमां गाथामाह—‘रायगिहे’त्यादि ।

अधिकृतगाथार्थं यद्यपि वक्ष्यमाणोद्देशकदशकाभिगमे स्वयमेवावगम्यते तथापि बालानां सुखावबोधार्थमभिधीयते तत्र ‘रायगिहे’ति लुप्त-सप्तम्येकवचनत्वाद्वाजगृहे नगरे-वक्ष्यमाणोद्देशकदशकस्यार्थो भगवता श्रीमहावीरेण दर्शित इति व्याख्येयम् । एवमन्यत्रापीधिविभक्त्यन्तताऽवसेया । ‘चलण’ति चलनविषयः प्रथमोद्देशकः ‘चलमाणे चलिए’ इत्याद्यर्थनिर्णयार्थइत्यर्थः । ‘दुक्खे’ति दुःखविषयो द्वितीयः, ‘जीवो भदन्त ! स्वयंकृतं दुःखं वेदयती’ त्यादिप्रश्ननिर्णयार्थ इत्यर्थः । ‘कंखपओसे’ति काङ्क्षा—मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थोऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपो जीवपरिणामः स एव प्रकृष्टो दोषो—जीवदूषणं काङ्क्षाप्रदोषस्तद्विषयस्तृतीयः । जीवेन भदन्त ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतमित्याद्यर्थनिर्णयार्थः । चकारः सपुत्रये । ‘पगइ’ति प्रकृतयः—कर्मभेदाश्चतुर्थाद्देशकस्यार्थः, ‘कति भदन्त ! कर्मप्रकृतयः ? इत्यादिश्चासौ । ‘पुढवीजो’ति रत्नप्रभादिपृथिव्यः पञ्चमे वाच्याः, ‘कति भदन्त ! पृथिव्यः ?’ इत्यादि च^५ सूत्रमस्य । ‘जावन्ते’ति यावच्छब्दोपलक्षितः षष्ठः, ‘यावतो भदन्त ! अवकाशान्तरात्सूर्य’ इत्यादिसूत्रश्चासौ । ‘नेरइए’ति नैरयिकशब्दोपलक्षितः सप्तमः नैरयिको भदन्त ! निरये उत्पद्यमान’ इत्यादि च तत्सूत्रम् । ‘बाले’ति बाल-शब्दोपलक्षितोऽष्टमः, ‘एकान्तबालो भदन्त ! मनुष्य’ इत्यादिसूत्रश्चासौ । ‘गुरुए’ति गुरुकविषयो नवमः, ‘कथं भदन्त ! जीवा गुरुकत्वमागच्छन्ति?’ इत्यादि च सूत्रमस्य । चः समुच्चयार्थः । ‘चलणाओ’ति बहुवचननिर्देशाच्चलनाद्या दशमोद्देशकस्यार्थः, तत्सूत्रं चैवम्—‘अन्ययूथिका भदन्त ! एवमाख्यान्ति चलत् अचलितमित्यादी’ति प्रथमशतोद्देशकसङ्ग्रहणीगाथार्थः ।

तदेवं शास्त्रोद्देशे कृतमङ्गलादिकृत्योऽपि प्रथमशतस्यादौ विशेषतो मङ्गलमाह—

१।३. ‘नमो सुयस्त’ति नमस्कारोऽस्तु’ ‘श्रुताय’ द्वादशरूपार्याहोपवचनाय ।

१. करिति ख. ग. घ.

२. x क.

३. बंभीए ख. ग. च.

४. प्रमाणस्य क.

५. पाओसत्ति च पाओसित्ति ग

६. x ख

७. ति ग. घ. छ.

नन्विष्टदेवतानमस्करो मङ्गलार्थो भवति, न च श्रुतमिष्टदेवतेति कथमयं मङ्गलार्थ इति ? अत्रोच्यते—श्रुतमिष्टदेवतैव, अर्हतां नमस्करणीयत्वात्, सिद्धयत्, नमस्कुर्वन्ति च श्रुतमर्हन्तो—‘नमस्तीर्थार्थे’ति भणन्तः । तीर्थं च श्रुतं संसारसागरोत्तरपासाधारणकारणत्वात्, तदाधारत्वेनैव च सङ्घस्य तीर्थशब्दाभिधेयत्वात् । तथा सिद्धानपि मङ्गलार्थमर्हन्तो नमस्कुर्वन्त्येव—

“कारुण नमोकारं सिद्धाणमभिगहं तु सो गिण्हे” इति वचनादिति ।

एवं तावत्प्रथमशतोद्देशकाभिधेयार्थलेशः प्राग्दर्शितः, ततश्च ‘यथोद्देशं निर्देश’ इति न्यायमाश्रित्यादितः प्रथमोद्देशकार्यप्रपञ्चो वाच्यः । तस्य च गुरुपूर्वक्रमलक्षणं सम्बन्धमुपदर्शयन् भगवान् सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाश्रित्येदमाह—

१।४. ‘तेणं कालेणं तेणं समएणं’ मित्वादि,

अथ कथमिदमवसीयते यदुत—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमभिसंबन्धग्रन्थममुं मुक्तवानिति ? उच्यते, सुधर्मस्वामिवाचनाया एवानुवृत्तत्वात्, आह च—

“तित्यं च सुहम्माओ निरवच्चा गणहरा सेसा ।”

सुधर्मस्वामिनश्च जम्बूस्वाम्येव प्रधानः शिष्योऽतस्तमाश्रित्येयं वाचना प्रवृत्तेति ।

तथा षष्ठ्यङ्गे उपोद्घात एवं दृश्यते—यथा किल सुधर्मस्वामिनं प्रति जम्बूनामा प्राह—“जइ णं भंते ! पंचमरस अंगस्स विवाहपन्नतीए समणेणं भगवया महावीरेणं अयमट्टे पन्नते, छट्ठस्स णं भंते ! के अट्टे पन्नते ?”ति तत एवमिहापि सुधर्मैव जम्बूनामानं प्रत्युपोद्घातमवश्यमभिहितवानित्यवसीयत इति ।

अयं चोपोद्घातग्रन्थो मूलटीकाकृता समस्तं शास्त्रमाश्रित्य व्याख्यातोऽप्यस्माभिः प्रथमोद्देशकमाश्रित्य व्याख्यास्यते । प्रतिशतं प्रत्युद्देशकमुपोद्घातस्येह शास्त्रऽनेकधाऽभिधानादिति ।

अयं च प्राग्व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यातः कुतोऽपि कारणादिति ।

‘ते णं काले णं’ति, ते इति—प्राकृतःशैलीवशात्तस्मिन् यत्र तन्नगरमासीत् ! णंकारोऽन्वत्रापि वाक्यालङ्कारार्थो यथा “इमा णं भंते ! पुढवी” त्यादिषु । ‘काले’ अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थविभागलक्षण इति, ‘ते णं’ति तस्मिन् यत्रासौ भगवान् धर्मकथामकरोत् । ‘समए णं’ति समये—कालस्यैव विशिष्टे विभागे, अथवा तृतीयैवेयं, ततस्तेन कालेन हेतुभूतेन तेन समयेन हेतुभूतेनैव । ‘रायगिहे’ति एकारः प्रथमैकवचनप्रभवः ‘कयरे आगच्छइ दित्तरूवे’ इत्यादाविव । ततश्च राजगृहं नाम नगरं ‘होत्थ’ति अभवत् ।

नन्विदानीमपि तन्नगरगस्तीत्यतः कथमुक्तमभवदिति ?, उच्यते—वर्णकग्रन्थोक्तविभूतियुक्तं तदैवामवत् न तु सुधर्मस्वामिनो वाचनादानकाले, अवसर्पिणीत्वात्कालस्य तदीयशुभभावानां हानिभावात् ।

‘वत्रओ’ति इह स्थानके नगरवर्णको वाच्यः । ग्रन्थगौरवभयादिह तस्यालिखितत्वात्, स चैवम् ‘रिद्धिथिमियसमिद्धे’ ऋद्धं—पुरभवनादिभिर्वृद्धं स्तिमितं—स्थिरं स्वचक्रपरचक्रादिभयवर्जितत्वात् समृद्धं—धनधान्यादिविभूतियुक्तत्वात्, ततः पदत्रयस्य कर्ममधारयः, ‘पमुइयजगजाणवए’ प्रमुदिता—हृष्टाः प्रमोदकारणवस्तूनां सद्भावान्नना—नगरवास्तव्यलोका जानपदाश्च—जनपदभवास्तात्रायाताः सन्तो यत्र तत् प्रमुदित-जनजानपदमित्यादिरौपपातिकात् सव्याख्यानोऽत्र दृश्यः ।

१।५. ‘तस्स णं’ति षष्ठ्याः पञ्चम्यर्थत्वात्तस्माद्राजगृहव्रगतात् ‘बहिय’ति बहिस्तात् ‘उत्तरपुरत्थिमे’ति उत्तरपुरैरस्ये ‘दिस्सिभाए’ति दिशं भागो दिग्गुणो वा भागो गगनमण्डलस्य दिग्भागस्तत्र ‘गुणसिलक’ नाम ‘वेइयं’ति चित्तैलेप्यादिवचनस्य भावः कर्म वेति चैत्यं—सञ्ज्ञाशब्दत्वाद्देवदिव्यं तदाश्रयत्वात्तद्गृहमपि चैत्यं, तद्येह व्यन्तरायतनं न तु भगवतामर्हतामायतनं ‘होत्थ’ति वभूव, इह च यत्र व्याख्यास्यते तत्रायः सुगमत्वादित्यवसीयामेति ।

१।७. ‘तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे.....’

‘समणे’ति ‘श्रमु तपसि खेदे वे’ति वचनात् श्राम्यति—तपसीति श्रमणः । अथवा सह शोभनेन मनसा वर्तत इति समनाः, शोभनत्वं च मनसो व्याख्यातं स्तवप्रस्तावात्, मनोमात्रसत्त्वस्यास्तवत्वात् । ५ संगतं वा—यथा भवत्येवमर्णाति—भाषते समो वा सर्वभूतेषु सन् अणाति—अनेकार्थत्वाद्धातूनां प्रवर्तत इति समणो निरुक्तिवशाद् ।

‘भगवं’ति भगवान्—ऐश्वर्यादियुक्तः पूज्य इत्यर्थः । ‘महावीरे’ति वीरः ‘सूर वीर विक्रान्ता’दितिवचनात् रिपुनिराकरणतो विक्रान्तः, स च चक्रवर्त्यादिरपि स्यादतो विशेष्यते—महांश्चासौ दुर्जयान्तररिपुतिरस्करणाद्वीरश्चेति महावीरः । एतच्च देवैर्भगवतो गौणं नाम कृतं, यदाह—

“अपत्ते भयमेरवाणं खंतिक्खमे^१ परिसहोवसम्माणं ।

देवेहिं (से नामं) कयं (समणे भगवं) महावीरिस्सि ।।”

‘आदिकरे’ति आदौ—प्रथमतः श्रुतधर्मम्—आचारादिग्रन्थात्मकं करोति—तदर्थप्रणायकत्वेन प्रणयतीत्येवंशील आदिकरः । आदिकरत्वाद्यासौ किंविध इत्याह—‘तित्ययरे’ति तरन्ति तेन संसारसागरमिति तीर्थं—प्रवचनं तदव्यतिरेकाद्येहसङ्घस्तीर्थं तत्करणीयत्वात्तीर्थकरः । तीर्थकरत्वं चास्य नान्योपदेशपूर्वकमित्यत आह—‘सहसंबुद्धे’ति, सह—आत्मनैव सार्द्धमनन्योपदेशत इत्यर्थः, सम्यग्—यथावत् बुद्धो—हेयोपादेयोपेक्षणीय-वस्तुतत्त्वं विदितवानिति सहसंबुद्धः । सहसंबुद्धत्वं चास्य न प्राकृतस्य सतः पुरुषोत्तमत्वादित्यत आह—‘पुरिसुत्तमो^२’ति पुरुषाणां मध्ये तेन तेन

१. x क. ख. च. छ.

२. व्याख्यायते क. छ.

३. पुरच्छिमे क

४. चेइअं क. ख. ग. छ. चेइअ छ

५. सम्बन्धस्या घ. च. छ.

६. खंतिक्खे क.

७. पुरिसोत्तमो क. ग. घ.

रूपादिनाऽतिशयेनोद्गतत्वादूर्ध्ववर्तित्वादुत्तमः' पुरुषोत्तमः। अथ पुरुषोत्तमत्वमेवास्य सिंहाद्युपमानत्रयेण^१ समर्थयन्नाह—'पुरिससीहे'ति, सिंह इव सिंहः पुरुषश्चासौ सिंहश्चेति पुरुषसिंहः। लोकेन हि सिंहे शौर्यमतिप्रकृष्टमभ्युपगतमतः शौर्यं स उपमानं कृतः। शौर्यं तु भगवतो बाल्ये प्रत्यनीक-देवेन भाष्यमानस्याप्यभीतत्वात्^२ कुलिशकठिनमुष्टिप्रहारप्रहृतिप्रवर्द्धमानामरशरीरकुब्जताकरणाच्चेति^३। तथा 'पुरिसवरण्डरी'ति, वरपुण्डरीकं—प्रधानधवलसहस्रपत्रं पुरुष एव वरपुण्डरीकमिवेति पुरुषवरपुण्डरीकं, धवलत्वं चास्य भगवतः सर्वाशुभमलीगसरहितत्वात् सर्वेश्व शुभानुभावेः शुद्धत्वात्। अथवा पुरुषाणां—तलेवकजीवानां वरपुण्डरीकमिव—वरच्छत्रमिव यः सन्तापातपनिवारणसमर्थत्वात् भूषाकारणत्वाच्च स पुरुष-वरपुण्डरीकमिति। तथा 'पुरिसवरगंधहृत्'ति पुरुष एव वरगन्धहृत् पुरुषवरगन्धहृत्, यथा गन्धहृस्तिनो गन्धेनापि समस्तेतरहृस्तिनो भज्यन्ते तथा भगवतस्तद्देशविहरणेन ईतिपरवक्रदुर्भिक्षडमरमरकादीनि दुरितानि नश्यन्तीति पुरुषवरगन्धहृत्स्तीत्युच्यत इत्यत उपमात्रयात्पुरुषोत्तमोऽसौ। न चायं पुरुषोत्तम एव, किन्तु लोकस्याप्युत्तमो लोकनाथत्वाद्, एतदेवाह—'लोगणाहे'ति, लोकस्य—सञ्जिभव्यलोकस्य नाथः—प्रभुर्लोकनाथः, नाथत्वं च योगक्षेमकारित्वं 'योगक्षेमकृत्राथ' इति वचनात्, तच्चास्याप्राप्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्योगकरणेन लब्धस्य च परिपालनेनेति। लोकनाथत्वं च यथाऽवस्थितसमस्तवस्तुस्तोमप्रदीपनादेवेत्यत आह—'लोगपईवे'ति लोकस्य—विशिष्टतिर्यगरामररूपस्याऽऽन्तरतिमिरनिराकरणेन प्रकृष्टप्रकाशकारित्वात्प्रदीप इव प्रदीपः। इदं विशेषणं द्रष्टृलोकमाश्रित्योक्तम्, अथ दृश्यं लोकमाश्रित्याह—'लोगपजोयगरे'ति, लोकस्य—लोक्यत इति लोकः अनया व्युत्पत्त्या लोकालोकस्वरूपस्य समस्तवस्तुस्तोमस्वभावस्याखण्डभार्तण्डमण्डलमिव निखिलभावस्वभावभावभाससमर्थकेवलालोक-पूर्वकप्रवचनप्रभापटलप्रवर्त्तनेन प्रद्योतंघप्रकाशं करोतीत्येवंशीलो लोकप्रद्योतकरः। उक्तविशेषणोपेतश्च मिहिरहरिहरहिरण्यगर्भादिरपि तत्तीर्थिकमतेन भवतीति कोऽस्य विशेष इत्याशङ्क्यां तद्विशेषाभिधानायाह—'अभयदए'ति न भयं दयते—ददाति प्राणापहरणरसिकेऽप्युपसर्ग-कारिणि^४ प्राणिनीत्यभयदयः। अभया वा—सर्वप्राणिभयपरिहारवती दया—अनुकम्पा यस्य सोऽभयदयः। हरिहरमिहिरादयस्तु नैवमिति विशेषः। न केवलमसावपकारिणां तदन्येषां वाऽनर्थपरिहारमात्रं करोति अपि त्वर्थप्राप्तिमपि करोतीति दर्शयन्नाह—'चक्खुदये'ति चक्षुरिव चक्षुः—श्रुतज्ञानं शुभाशुभार्थविभागोपदर्शकत्वात्, यदाह—

“चक्षुभन्तस्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा ।

सम्यक् सदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरात्राः ॥”

तद्वयत इति चक्षुर्दयः। यथाहि लोके कान्तरगतानां चौरैर्विलुप्तधानानां बद्धचक्षुषां चक्षुरुद्घाटनेन चक्षुर्दत्त्वा वाञ्छितमार्गदर्शनेनोपकारी भवति, एवमयमपि ससारारण्यवर्तिनां रागादिचौरविलुप्तधर्मधानानां कुवासनाऽऽच्छादितसज्ज्ञानलोचनानां तदपनयनेन श्रुतचक्षुर्दत्त्वा निवारणमार्गं यच्छुभुपकारीति दर्शयन्नाह—'मग्गदए'ति, मार्ग—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं परमपदपुरुषार्थं दयत इति मार्गदयः। यथा हि लोके चक्षुरुद्घाटनं मार्गदर्शनं च कृत्वा चौरादिविलुप्तान् निरुपद्रवं स्थानं प्रापयन् परमोपकारी भवतीत्येवमयमपीति दर्शयन्नाह—'सरणदए'ति शरणं—त्राणं नानाविधोपद्रवोपद्रुतानां तद्रक्षास्थानं, तच्च परमार्थतो निर्व्वाणं तद्वयत इति शरणदयः। शरणदायकत्वं चास्य धर्मदेशनयैवेत्यत आह—'धम्म-देसए'ति धर्म—श्रुतचारित्रात्मकं देशयतीति धर्मदेशकः। 'धम्मदये'ति पाठान्तरं, तत्र च धर्म—चारित्ररूपं दयत इति धर्मदयः। धर्मदेशना-मात्रेणापि धर्मदेशक उच्यत इत्यत आह। 'धम्मसारहे' ति धर्मरथस्य प्रवर्तकत्वेन सारथिरिव धर्मसारथिः। यथा रथस्य सारथी रथं रथिक-मश्रांश्च रक्षति एवं भगवान् चरित्रधर्माङ्गानां—संयमात्मप्रवचनाख्यानां रक्षणोपदेशाद्धर्मसारथिर्भवतीति। तीर्थान्तरियमतेनान्येऽपि धर्मसारथयः सन्तीति विशेषयन्नाह—'धम्मवरचाउरंतचक्रवती'ति, त्रयः समुद्राश्चतुर्थश्च हिमवान् एते चत्वारोऽन्ताः—पृथिव्यन्ताः एतेषु स्वामितया भवतीति चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्ती च चातुरन्तचक्रवर्ती वरक्षासौ चातुरन्तचक्रवर्ती च वरचातुरन्तचक्रवर्ती—सजातिशयः। धर्मविषये 'वरचातुरन्त-चक्रवर्ती' धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती, यथा हि पृथिव्यां शेषराजातिशायी वरचातुरन्तचक्रवर्ती भवति तथा भगवान् धर्मविषये शेषप्रणेतृणां मध्ये सातिशयत्वात्तथोच्यत इति। अथवा धर्म एव वरमितरचक्रापेक्षया कपिलादिधर्मचक्रापेक्षया वा। चतुरन्तं दानादिभेदेन चतुर्विभागं चतसृणां वा नारकादिगतीनामन्तकारित्वाच्चतुरन्तं तदेव चातुरन्तं। यच्चक्रं भावारातिच्छेदात् तेन वर्तितुं शीलं यस्य स तथा। एतच्च धर्म-देशकत्वादिविशेषणकदम्बकं प्रकृष्टज्ञानादियोगे सति भवतीत्याह—'अप्यडिहयवरनाणदंसणधरे'ति अप्रतिहते—कटकृत्वादिभिरस्खलिते अविस्वादाके वा अत एव क्षायिकत्वाद्वा वरे—प्रधाने ज्ञानदर्शने केवलाख्ये विशेषसामान्यावबोध्यात्मके धारयतियः स तथा। छद्मवानप्येवंविध-संवेदनसंपदुपेतः कैश्चिदभ्युपगम्यते, स च मिथ्योपदेशित्वात्प्रोपकारी भवतीति निश्चयताप्रतिपादनायाऽस्याह।^५ अथवा—कथमस्याप्रतिहत-संवेदनत्वं संपन्नम् ? अत्रोच्यते, आवरणाभावाद्, एतमेवास्याऽऽवेदयन्नाह—'वियदृच्छउमे'ति व्यावृत्तं—निवृत्तमपगतं छद्म—शठत्वमावरणं वा यस्यासौ व्यावृत्तच्छद्म। छद्मभावश्चास्य रागादिजयाज्जात इत्यत आह। 'जिणे'ति जयति—निराकरोति रागद्वेषादिरूपाचरतीति जिनेः। रागा-दिजयश्चास्य रागादिस्वरूपतज्जयोपायज्ञानपूर्वक एव भवतीत्येतदस्याह। 'जाणए'ति जानाति छात्रास्थिकज्ञानचतुष्टयेनेति ज्ञायकः। ज्ञायक इत्यने-नास्य स्वार्थसंपत्त्युपाय उक्तः। अधुना तु स्वार्थसंपत्तिपूर्वकं परार्थसंपादकत्वं विशेषणचतुष्टयेनाह—'बुद्धे'ति, बुद्धो जीवादितत्त्वं बुद्धवान्। तथा 'बोहए'ति, जीवादितत्त्वस्य परेषां बोधयिता, तथा 'मुत्ते'ति मुक्तो बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनेन मुक्तत्वात्। तथा 'मोयए'ति परेषां कर्म-बन्धनान्नोचयिता। अथ मुक्तावस्थामाश्रित्य विशेषणान्याह—'सव्वन्नू सव्वदरिसी'ति सर्वस्य वस्तुस्तोमस्य विशेषरूपतया ज्ञायकत्वेन सर्वज्ञः, सामान्यरूपतया पुनः सर्वदर्शी, न तु मुक्तावस्थायां दर्शनान्तराभिमतपुरुषवद्भविष्यज्जडत्वम्। एतच्च पदद्वयं क्वचिन्न दृश्यत इति। तथा 'सिवमयल' मित्यादि, तत्र 'शिवं' सर्वऽऽबाधारहितत्वात्। 'अचलं' स्वाभाविकप्रायोगिकचलनहेत्वभावात्। 'अरुजम्' अविद्यमानरोगं तन्निबन्धनशरीर-मनसोरभावात्। 'अनन्तम्' अनन्तार्थविषयज्ञानस्वरूपत्वात्। 'अक्षयम्' अनाशं साद्यपर्यवसितस्थितिकत्वात्। अक्षतं वा परिपूर्णत्वात्सौर्ण-मासीचन्द्रमण्डलवत्। 'अव्याबाधं' परेषामपीडाकारित्वात्। 'सिद्धिगइनामधेयं'ति। सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः सा चासौ गम्यमानत्वाद्गतिश्च सिद्धिगतिस्तदेव नामधेयं—अशस्तं नाम यस्य तत्तथा। 'ठाण'ति तिष्ठति—अनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽवस्थितो

१. उद्भूत क. छ.
२. उपमा क. च
३. भाष्यमान घ.
४. प्रहत ग.
५. उद्योत ख. छ.

६. कारि ख. ग. छ.
७. चारित्र क. ग.
८. नरनारकादि क. ख. ग. च.
९. विशेषसामान्यबोध्यात्मके क. ख. ग. च. छ.
१०. प्रतिपादनायाऽह ग. घ.

भवति यत्र तत्स्थानं—क्षीणकर्मणो जीवस्य स्वरूपं लोकाग्रं वा । जीवस्वरूपविशेषणानि तु लोकाग्रस्याऽऽधेयधर्माणामाधारेऽध्यारोपादवसेयानि । तदेवंभूतं स्थानं 'संपाविउकामे' ति यातुमनाः, न तु तद्व्याप्तः तद्व्याप्तस्याकरणत्वेन विवक्षितार्थानां प्ररूपणाऽसम्भवात् । 'प्राप्तुकाम इति च यदुच्यते तदुपचारात्, अन्यथा हि निरभिलाषा एव भगवन्तः केवलिनो भवन्ति—

'भोक्ते भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः ।'

इति वचनादिति ।

'जाव समोसरणं'ति, तावद्भगवद्वर्णको वाच्यो यावत्समवसरणं—समवसरणवर्णक इति । स च भगवद्वर्णक एवम्—'भुवमोयग-भिग-नेल'-कजल-पहडुभमरगण-निद्धनिकुरुंवनियिकुधियपयाहिणावत्तमुद्धसिरए' । भुजगोचको—रत्नविशेषः भृङ्गः—कीटविशेषोऽङ्गारविशेषो वा नैलं—नीलीविकारः कजलं—मषी प्रहृष्टभ्रमरगणः प्रतीतः एत इव स्निग्धः कृष्णव्यो निकुरम्बः—समूहो येषां ते तथा ते च ते निविताश्च—निविडाः कुञ्चित्ताश्च—कुण्डलीभूताः प्रदक्षिणावर्ताश्च मूर्द्धनि शिरोजा यस्य स तथा । एवं शिरोजवर्णका "रतुप्लपत्तामउयसुकुमालकोमलतले" इति पादतलवर्णकान्तः शरीरवर्णको भागवतो वाच्यः । पादतलविशेषणस्य चावमर्थः—रक्तं—लोहितम् उत्पलपत्रवत्—कमलदलवत् मृदुकम्—अस्तब्धं सुकुमालानां मध्ये कोमलं च तलं—पादतलं यस्य य तथा । तथा "अट्टसहस्रवरपुरिसलक्खणधरे आगासगएणं चक्रेणं आगासगएणं छत्तेणं आगासगएणं चामराहं आगासफलहामएणं सपायपीठेणं सीहासणेणं" आकाशस्फटिकम्—अतिस्वच्छस्फटिकविशेषस्तन्मयेन उपलक्षित इति गम्यं । 'धम्मज्झएणं पुरओ कड्डिज्जमाणेणं' देवैरिति गम्यते । 'चउदसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाए अजियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे' साहस्सीशब्दः सहस्रपर्यायः सार्द्धं सह, तेषां विद्यमानतयाऽपि सार्द्धमिति स्यादत उच्यते—संपरिवृतः—परिकरित इति । 'पुव्वाणुत्थिं चरमाणे' न पश्चानुपूर्वादिनाः 'गामाणुगामं दूइज्जमाणे' ग्रामश्च प्रतीतः अनुग्रामश्च—तदनन्तरं ग्रामो ग्रामानुग्रामं तद् 'द्रवन्' गच्छन् 'सुहंसुहेणं विहरमाणे' जेषेव रायगिहे नगरे जेषेव गुणसिए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छिता अहापडिरुवं उगहं ओगिण्हइ ओगिण्हिता संजमेणं तवसा अण्णाणं भावेमाणे विहरइ'ति ।

समवसरणवर्णके च 'समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपच्चइया' इत्यादि साध्यादिवर्णको वाच्यः । तथाऽसुकुमारः शेषभवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका देवाश्च भगवतः समीपमागच्छन्तो वर्णयितव्याः ।

१।८. "परिसा निग्गय"ति राजगृहद्राजादिलोको भगवतो वन्दनार्थं निगतः, तत्रिर्गमश्चैवम्—'तए णं रायगिहे नगरे सिंघाडगतिग-चउकच्चरवउम्मुहमहापहपहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ—एवं खलु देवाणुण्णिया ! समणे भगवं महावीरे इह गुणसिए चेइए अहापडिरुवं ओगहं ओगिण्हिता संजमेणं तवसा अण्णाणं भावेमाणे विहरइ । तं सेयं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवताणं नामगोयस्सवि सवणयाए किमंम पुण वंदणणमंसणयाए ? तिकड्डु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता इत्यादिवाच्यो यावद्भगवन्तं नमस्यन्ति पर्युपासते चेति । एवं राजनिर्गमोऽन्तः-पुरनिर्गमश्च तत्पर्युपासना चौपपातिकवद्वाच्या ।

'धम्मो कहिओ'ति, धर्मकथेह भगवतो वाच्या, सा चेवं—'तए णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रत्तो चिल्लणापमुहाण य देवोणं तीसे य महइमहालियाए परिसाए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए धम्मं परिकहेइ, तंजहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा अजीवा बंधे मोक्खे' इत्यादि । तथा—

"जह णरगा गमंती जे णरया जा य वेयणा नरए ।

सारीरणसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥" इत्यादि ।

'पडिगया परिस'ति लोकः स्वस्थानं गतः, प्रतिगमश्च तस्या एवं वाच्यः—'तए णं सा महइमहालिया महच्चपरिसा' महाऽतिमहती^१ आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वादतिशयातिशयगुर्वी महत्सर्षत्—प्रशस्ताता प्रधानपरिषत्, 'महारानां वा—सत्पूजानां महाद्यां वा पृषत् महाद्येपृषदिति 'समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निराम्म हट्टुड्डा समणं भगवं महावीरं तिकखुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ'^२ करेता वंदइ नमंसइए एवं वयासी—सुयक्खाए णं भंते ! निग्गथे पावयणे, णत्थि णं अन्ने केइ समणे वा माहणे वा एरिसं धम्ममाइक्खितए । एवं वड्ढा जामेव दिरिसि पाउत्थुया तामेव दिशं पडिगव'ति ।

१।९. 'तेण'मित्यादि तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'जेट्ठे'ति प्रथमः^३ अंतेवासि'ति शिष्यः । अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घ-नायकत्वमाह । 'इंदभुइ'ति इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतनामधेयः । 'नाम'ति विभक्तिपरिणामात्रान्तेत्यर्थः । अन्तेवासी किल विवृक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह—'अणगारे'ति, नास्वागारं विद्यतं इत्यनगारः । अयं चावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह—'गोयमसगोत्तेणं'ति गौतमसगोत्र इत्यर्थः । अयं च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह—'सत्तुरसेहे'ति सत्तहस्तोच्छ्रयः । अयं च लक्षणहीनोऽपि स्यादित्यत आह—'समचउरंसंठाणसंठिए'ति, समं—नाभेरुपरि अधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च—प्रधानं समचतुरस्रम् । अथवा समाः—शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् । अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षितः शरीरावयव इति ।

अन्ये त्वाहुः—समा—अन्यूनाधिकाः यतस्रोऽस्रयस्यो यत्र तत्समचतुरस्रम् । अस्रयश्च पर्यङ्गसनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् आसनस्य तलाटोपरि-भागस्य चान्तरं दक्षिणरकन्धस्य वामजानुनश्चान्तरं वामरकन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति ।

१. भावात् क. ख. घ. छ.
२. नील च
३. पहिडु ख
४. भगवतो ख. ग. घ.
५. x ख. घ.
६. फालिह घ

७. उगहं क. ग. घ. छ.
८. उगिण्हिता ख. ग. घ. छ.
९. महतिमहती घ. छ.
१०. पृषत् म. छ.
११. पकरेइ क. ग. घ. छ.
१२. गोयमगोत्तेण घ. च. गोयमे गोत्तेणं ख. छ.

अन्ये त्वाहुः—विस्तारोत्सोधयोः समत्वात् समचतुरस्रं तद्य तत् संस्थानं च—आकारः समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थितो—व्यवस्थितो यः स तथा । अयं च हीनसंहननोऽपि स्यादित्यत आह—‘वज्ररिसभनारायसंधयणे’ ति, इह संहननम्—अस्थिराज्यविशेषः । वज्रादीनां लक्षणमिदम्—

‘रिसहो य होइ पट्टो, वज्रं पुण कीलियं विधाणाहि ।

उभओ मकडबंधो नारायं तं विधाणाहि ।’ ति ।

तत्र वज्रं च तत् कीलिकाकीलितकाष्ठसंपुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात् । ऋषभश्च लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसंपुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वात् । वज्रर्षभः स चारो नारायं च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसंपुटोपमसामर्थ्यपितत्वात् । वज्रर्षभनारायं (तद्य) तत् संहननम्— अस्थिराज्यविशेषोऽस्त्युत्तमसामर्थ्य-योगाद् यस्यासौ वज्रर्षभनारायसंहननः ।

अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थामेव वर्णयन्ति । अयं च निन्दवर्णोऽपि स्यादित्यत आह—‘कणयपुलयनिघसपम्हगोरे’ कनकस्य—सुवर्णस्य ‘पुलग’ ति यः पुलको—लवस्तस्य यो निकषः—कषपट्टके रेखालक्षणः तथा ‘पम्ह’ ति पद्मपक्ष्माणि—केशराणि तद्वद्वीरो यः स तथा । वृद्धव्याख्या तु—कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः—सारो वर्णातिशयस्तद्विधानो यो निकषो—रेखा तस्य यत्पक्ष्म—बहलत्वं तद्वद्वीरो यः स तथा । अथवा—कनकस्य यः पुलको—द्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो—वर्णतः सदृशो यः स तथा, ‘पम्ह’ ति पद्मं तस्य चेह प्रस्तावात्केशराणि गृह्यन्ते ततः पद्मवद्वीरो यः स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । अयं च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह—‘उग्तवे’ ति उग्रम् अप्रधृष्यं तपः—अनशनादि यस्य स उग्रतपाः, यदन्येन प्राकृतपुसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः । ‘दित्तवे’ ति, दीप्तं—जाज्वल्यमानदहन इव कर्मयनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो—धर्मध्यानादि यस्य स तथा । ‘तत्तवे’ ति तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः, एवं हि तेन तत्तपरतप्तं येन कर्माणि संताप्य तेन तपसा स्वात्माऽपि तपोरूपः संतापितो यतोऽन्यस्यास्युभयमिव जातमिति । ‘महानवे’ ति आशंसादोषरहितत्वात्प्रशस्ततपाः । ‘ओराले’ ति भीम उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणात्पार्श्वरथानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः—‘ओराले’ ति उदारः—प्रधानः । ‘घोरे’ ति घोरः अतिनिर्घृणः, परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशनाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः । अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः । ‘घोरगुणे’ ति, घोर—अन्यैर्दुर्नुचरा गुणा—मूलगुणादयो यस्य स तथा । ‘घोरतवरिस’ ति घोरैस्तपोभिस्तपस्वीत्यर्थः । ‘घोरंभवेरवासि’ ति घोरं—दारुणमल्प-सत्त्वैर्दुर्नुचरत्वाद्यद्वन्द्वहाचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा । ‘उच्छूढसरीरे’ ति उच्छूढम्—उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात् स तथा । ‘संखित्तविउलतेयलेसे’ ति संक्षिप्ता—शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला—विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहन-समर्थत्वात्तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु ‘उच्छूढसरोरसंखित्तविउलतेयलेसे’ ति कर्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति । ‘चउद्दसपुज्जि’ ति चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वो । अनेन तस्य श्रुतकेर्वालिता-माह, स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—‘यउणाणावगए’ ति, केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः । उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह—‘सव्वक्खरसन्निवाइ’ ति, सर्वं च तेऽक्षरसन्निपाताश्च—तत्संयोगाः सर्वेषां वाऽक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपातो । श्रव्यापि वा—श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्वेन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्रव्याक्षरसंनिवादी ।

स चैवंगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरेव साक्षादितिकृत्वा शिष्याचारत्वाच्च ‘समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते विहरता’ ति योगः । तत्र दूरं च—विप्रकृष्टं सामन्तं च—संनिकृष्टं तन्निषेधाददूरसामन्तं तत्र, नातिदूरं नातिनिकट इत्यर्थः । किंविधः संस्तत्र विहरतीत्याह—‘उहंजाणु’ ति ऊर्ध्वं जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषेधया अभावाच्चोक्तुक्कासन इत्यर्थः । ‘अहोसिरे’ ति अधोमुखः नोर्ध्वं तिर्यक्वा विक्षिप्तदृष्टिः, किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः । ‘ज्ञाणकोझेवगए’ ति यानं—धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतः—तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतः, तथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवति एवं स भगवान् ध्यानतोऽविप्रकीर्णोन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति । ‘संजमेण’ ति संवरेण । ‘तवस’ ति अनशनादिना, चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्व-ख्यापनार्थं, प्रधानत्वं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन । भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणे भोक्ष इति, ‘अप्पाणं भावेमाणे विहरइ’ ति, आत्मनं वासयंस्तिष्ठतीत्यर्थः ।

१।१०. ‘तते पं से’ ति,

‘ततः’ ध्यानकोष्ठोपगतविहरणानन्तरं णमिति वाक्यालङ्कारार्थः ‘से’ इति प्रस्तुतपरामर्शार्थः, तस्य तु सामान्योक्तस्य विशेषावधारणार्थमाह—‘भगवं गोयमे’ ति किमित्याह—‘जायसङ्गे’ इत्यादि, जातश्रद्धादिविशेषणः सन् उत्तिष्ठतीति योगः । तत्र जाता—प्रवृत्ता श्रद्धा—इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः । तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयस्तु अनवधारितार्थं ज्ञानं, स चैवं तस्य भगवतो जातः—भगवता हि महावीरेण ‘चलमाणे चलिण्’ इत्यादौ सूत्रे चलप्रर्थश्चलितो निर्दिष्टः, तत्र च य एव चलन् स एव चलितः इत्युक्तः, ततश्चैकार्थविषयवातेतौ निर्देशौ, चलत्रिति च वर्तमानकालविषयः चलित इति चातीतकालविषयः, अतोऽत्र संशयः—कथं नाम य एवार्थो वर्तमानः स एवातीतो भवति ?, विरुद्धत्वादनयोः कालयोरिति । तथा ‘जायकोउहल्ले’ ति, जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलो, जातौत्सुक्य इत्यर्थः, कथमेतान् पदार्थान् भगवान् प्रज्ञापयिष्यतीति । तथा ‘उप्पन्नसङ्गे’ ति उत्पन्ना—प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्य स उत्पन्नश्रद्धः ।

अथ जातश्रद्ध इत्येतावदेवास्तु किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्यभिधीयते ? प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात् । न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्तत इति । अत्रोच्यते, हेतुत्वप्रदर्शनार्थं, तथाहि—कथं प्रवृत्तश्रद्ध उच्यते ? यत् उत्पन्नश्रद्ध इति । हेतुत्वप्रदर्शनं चोचितमेव, वाक्यालङ्कारत्वात्तस्य, यथाहुः—

१. रिसह क. च. छ.

२. विशेषादुत्तम घ. छ.

३. निहस क.

४. उद्भूतत्वे क. घ. च.

५. अत ख. ग.

६. उराले ख. ग. घ.

७. x घ. च.

८. धर्म क. ग. घ.

“प्रवृत्तदीपाम्प्रवृत्तभास्करं प्रकाशचन्द्रां जुबुषे विभावरीम् ।”

इह यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगतं तथाऽप्यप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेहेतुतयोपन्यस्तमिति । ‘उप्यन्नसंसर्ग उप्यन्नकोउहल्ले’ति प्राग्वत्, तथा ‘संजायसङ्घे’ इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह संशब्दः प्रकाशादिवचनो, यथा—

“संजातकामो बलभिद्धिभूत्यां, मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च ।”

(संजातकामः—) ऐन्द्रैश्वर्यं प्रकर्षेण जातेच्छः कार्तवीर्यं इति ।

अन्ये तु ‘जायसङ्घे’ इत्यादि विशेषणद्वादशकमेवं व्याख्यान्ति—जाता श्रद्धा यस्य प्रष्टुं स जातश्रद्धः, किमिति जातश्रद्धः ? इत्यत आह—यस्माज्जातसंशयः, इदं वस्त्वेवं स्यादेवं वेति, अथ जातसंशयोऽपि कथमित्यत आह—यस्माज्जातकुतूहलः कथं नामास्यार्थमवभोत्स्ये ? इत्यभिप्रायवानिति, एतच्च विशेषणत्रयमवग्रहपेक्षया द्रष्टव्यम् । एवमुत्पन्नसंजातसमुत्पन्नश्रद्धत्वाद्य ईहापायधारणाभेदेन वाच्याः ।

अन्ये त्वाहुः—जातश्रद्धत्वाद्यपेक्षयोत्पन्नश्रद्धत्वाद्यः समानार्थां विवक्षितार्थस्य प्रकर्षवृत्तिप्रतिपादनाय स्तुतिमुखेन ग्रन्थकृतोक्ताः । न चैवं पुनरुक्तं दोषाय, यदाह—

“वक्ता हर्षमपादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन् ।

यत्पदमसकृद् ब्रूते तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥” इति

‘उद्गाए उद्देइ’ति उत्थानमुत्था—ऊर्ध्वं वर्तनं, तथा उत्थया ‘उत्तिष्ठति’ ऊर्ध्वो भवति । ‘उत्तिष्ठति’ इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयते यथा वक्तुमुत्तिष्ठते इति ततस्तद्व्यवच्छेदायोक्तमुत्थयेति । ‘उद्गाए उद्दिष्ट’ति उपागच्छतीत्युत्तरक्रियाऽपेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताऽभिधानाय उत्थयोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिशतीति ।

‘जेणेवे’त्यादि, इह प्राकृतप्रयोगादव्ययत्वाद्वा येनेति तस्मिन्नेव दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्तते ‘तेणेव’ति तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छति, तत्कालापेक्षया वर्तमानत्वादागमनक्रियाया वर्तमानविभक्त्या निर्देशः कृतः, उपागतवानित्यर्थः । उपागम्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं कर्मतापन्नं ‘तिक्खुत्तो’ ति त्रीन् वारान् त्रिकृत्वः ‘आयाहिणपयाहिणं करेइ’ति आदक्षिणाद्—दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः—परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽतस्तं करोतीति, ‘वंदइ’ति ‘वन्दते’ वाचा स्तौति ‘नमंसइ’ ति ‘नमस्यति’ कायेन प्रणमति ‘नच्चासन्ने’ति, ‘न’ नैव ‘अत्यासन्नः’ अतिनिकटः, अवग्रहपरिहारात्, नात्यासन्ने वा स्थाने, वर्तमान इति गम्यं, ‘णाइदूरे’ति ‘न’ नैवं ‘अतिदूरः’ अतिविप्रकृष्टः, अनौचित्यपरिहारात्, नातिदूरे वा स्थाने, ‘सुसूसमाणे’ति भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन्, ‘अभिमुहे’ति, अभि—भगवन्तं लक्ष्यीकृत्य मुखमस्येत्यभिमुखः, तथा ‘विणएणं’ति विनयेन हेतुना ‘पंजलिउडे’ ति प्रकृष्टः—प्रधानो तलाटतटघटितत्वेनाञ्जलिः—हस्तन्यासविशेषः कृतो—विहितो येन सोऽग्न्याहितादिदर्शनात् प्राञ्जलिकृतः ‘पञ्जुवासमाणे’ति ‘पर्युपासीनः’ सेवमानः ।

अनेन च विशेषणकदम्बकेन श्रवणविधिरुपदर्शितः, आह च—

“गिह्वाविगहापरिवञ्जिएहि गुत्तेहि पंचलिउडेहि ।

भत्तिबहुमाणपुब्बं उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥”ति

‘एवं वयासि’ति ‘एवं’ वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु ‘अवादीत्’ उक्तवान्—

१।११. ‘से’ इति तद् यदुक्तं पूज्यैः ‘चलच्चलित’ मित्यादि, ‘गूणं’ति एवमर्थं, तत्र तत्रास्यैवं व्याख्यातत्वात् ।

अथवा ‘से’ इतिशब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽथशब्दार्थं वर्तते । अथशब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः परिप्रश्नार्थो वा, यदाह—‘अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्य-मङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु’ ‘नून’ मिति निश्चितं । ‘भंते’ति गुरोरामन्त्रणं, ततश्च हे भदन्त ! कल्याणरूप ! सुखरूप ! इति वा ‘भदि कल्याणे सुखे च’ इति वचनात् । प्राकृतशैल्या वा भवस्य—संसारस्य भयस्य वा—भीतेरन्तहेतुत्वाद्भवान्तो भयान्तो वा तस्यामन्त्रणं हे भवान्त ! हे भयान्त ! वा । भान् वा—ज्ञानादिभिर्दीप्यमान ! ‘भा दीप्तौ’ इति वचनात्, भ्राजमान ! वा दीप्यमान ! ‘भ्राज् ! दीप्तौ’ इति वचनात् ।

अयं च आदित आरभ्य ‘भंते’ति पर्यन्तो ग्रन्थो भगवता सुधर्मस्वामिना पञ्चमाङ्गस्य प्रथमशतस्य प्रथमोद्देशकस्य सम्बन्धार्थमभिहितः । अथानेन सम्बन्धेनायातस्य पञ्चमाङ्गप्रथमशतप्रथमोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—‘चलमाणे चलिए’ इत्यादि ।

अथ केनाभिप्रायेण भगवता सुधर्मस्वामिना पञ्चमाङ्गप्रथमशतप्रथमोद्देशकस्यार्थानुक्तं^३ कुर्वतैवमर्थवाचकं सूत्रमुपन्यस्तं नान्यानीति ? अत्रोच्यते—इह चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्षाख्यः पुरुषार्थो मुख्यः, सर्वातिशायित्वात् । तस्य च मोक्षस्य साध्यस्य साधनानां च सम्यग्दर्शनादीनां साधनत्वेनाव्यभिचारिणामुभयनियमस्य शासनाच्छास्त्रं सद्भिरिष्यते । उभयनियमस्त्वेवं—सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्यैव साध्यस्य साधनानि नान्यस्यार्थस्य, मोक्षश्च तेषामेव साधनानां साध्यो नान्येषामिति, स च मोक्षो विपक्षस्यात्, तद्विपक्षश्च बन्धः, स च मुख्यः कर्मभिरात्मनः सम्बन्धः, तेषां तु कर्मणां प्रक्षयेऽयमनुक्रम उक्तः ‘चलमाणे’ इत्यादि ।

तत्र ‘चलमाणे’ति चलत्—स्थितिक्षयादुदयमागच्छद् विपाकाभिमुखीभवद्यत्कर्मैति प्रकरणगम्यं तच्चलितम्—उदितमिति व्यपदिश्यते । चलनक्रलो हि उदयावलिका, तस्य च कालस्यासंख्येयसमयत्वादादिमध्यान्तयोगित्वं, कर्मपुद्गलानामप्यनन्ताः स्कन्धा अनन्तप्रदेशाः ततश्च ते क्रमेण प्रतिमयमेव चलन्ति, तत्र योऽसावाद्यश्चलनसमयस्तस्मिंश्चलदेव तच्चलितमुच्यते । कथं पुनस्तद्वर्तमानं सदतीतं भवतीति ? अत्रोच्यते—यथा पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एवोत्पन्नो भवतीति, उत्पद्यमानत्वं च तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यते इत्येवं व्यपदेशदर्शनात् प्रसिद्धमेव । उत्पन्नत्वं तूपपत्त्या प्रसाध्यते, तथाहि—उत्पत्तिक्रियाकाल एव प्रथमतन्तुप्रवेशेऽसावुत्पन्नः, यदि पुनर्नोत्पन्नोऽभविष्यत्तदा

१. उद्देइ क. ख. ग. च.

३. पंचमांगस्य ख. ग.

२. पंजलिउडेहिं ख. च. पंजलिउडेहिं ग.

तस्याः क्रियाया वैयर्थ्यमभविष्यत् निष्फलत्वाद् । उत्पाद्योत्पादनार्था हि क्रियाः भवन्ति, यथा च प्रथमे क्रियाक्षणे नासावुत्पन्नस्तथात्तरेष्वपि क्षणेष्चानुत्पन्न एवासौ प्राप्नोति । को ह्युत्तरक्षणक्रियाणामात्मनि रूपविशेषो ? येन प्रथमया नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तुत्पाद्यते । अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः, दृष्टा चोत्पत्तिः, अन्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनाद् । अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाल एव किञ्चिदुत्पन्न पटस्य, यावद्योत्पन्नं न तदुत्तरक्रिययोत्पाद्यते । यदि पुनरुत्पाद्यते तदा तदेकदेशोत्पादन एव क्रियाणां कालानां च क्षयः स्यात् । यदि हि तदंशोत्पादननिरपेक्षा अन्याः क्रिया भवन्ति तदोत्तराशानुक्रमणं युज्येत नान्यथा, तदेवं यथा पट उत्पद्यमान एवोत्पन्नस्तथैवा- संख्यातसमयपरिमाणत्वादुत्पाद्यवैलिकाया आदिसमयात्प्रभृति चलदेव कर्म चलितं, कथं ? यतो यदि हि तत्कर्म चलनाभिमुखीभूतमुदयावैलिकाया आदिसमय एव न चलितं स्यात्तदा तस्याद्यस्य चलनसमयस्य वैयर्थ्यं स्यात्, तत्राचलितत्वात् यथा च तस्मिन् समये न चलितं तथा द्वितीयादिसमयेष्वपि न चलेत्, को हि तेषामात्मनि रूपविशेषो ? येन प्रथमसमये न चलितमुत्तरेषु चलतीति, अतः सर्वदैवाचलनप्रसङ्गः, अस्ति चान्यसमये चलनं, स्थितेः परिमितत्वेन कर्माभावाभ्युपगमाद्, अत आवैलिकाकालादिसमय एव किञ्चिच्चलितं, यच्च तस्मिंश्चलितं तत्रोत्तरेषु समयेषु चलति, यदि तु तेष्वपि तदेवाद्यं चलनं भवेत्तदा तस्मिन्नैव चलने सर्वेषामुदयावैलिकाचलनसमयानां क्षयः स्यात् । यदि हि तत्समयचलननिरपेक्षान्यसमयचलनानि भवन्ति तदोत्तरचलनानुक्रमणं युज्येत नान्यथा, तदेवं चलदपि तत्कर्म चलितं भवतीति ।

तथा 'उदीरिञ्जमाणे उदीरि'त्ति, उदीरणा नाम उदयाप्राप्तं विरेणाऽऽगामिना कालेन यद्वेदयितव्यं^१ कर्मदलिकं तस्य विशिष्टाध्यवसायलक्षणैः कारणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं सा चासंख्येयसमयवर्तिनी तथा च पुनरुदीरणया उदीरणप्रथमसमय एवोदीर्यमाणं कर्म पूर्वोक्तपटदृष्टन्तोनोदीरितं भवतीति ।

तथा 'वेङ्गमाणे वेङ्ग'त्ति वेदनं—कर्मणो भोगः, अनुभव इत्यर्थः, तच्च वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मणः उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य भवति । तस्य च वेदनाकालस्यासंख्येयसमयत्वादाद्यसमये वेद्यमानमेव वेदितं भवतीति ।

तथा 'पहिञ्जमाणे पहीणे'त्ति, प्रहाणं तु—जीवप्रदेशैः सह संश्लिष्टस्य कर्मणस्तेभ्यः पतनम्, एतदप्यसंख्येयसमयपरिमाणमेव, तस्य तु प्रहाणस्यादिसमये प्रहीयमाणं कर्म प्रहीणं स्यादिति ।

तथा 'छिञ्जमाणे छिन्ने'त्ति, छेदनं तु—कर्मणो दीर्घकालानां स्थितानां ह्रस्वताकरणम् । तच्चापवर्तनाभिधानेन कारणविशेषणं करोति । तदपि च छेदनसंख्येयसमयमेव, तस्य त्वादिसमये स्थितिशिद्यमानं कर्म छिन्नमिति ।

तथा 'भिञ्जमाणे भिन्ने'त्ति भेदस्तु—कर्मणः शुभस्याशुभस्य वा तीव्ररसस्यापवर्तनाकरणेन मन्दताकरणम् मन्दस्य चोद्वर्तनाकरणेन तीव्रताकरणम् । सोऽपि चासंख्येयसमय एव, ततश्च तदाद्यसमये रसतो भिद्यमानं कर्म भिन्नमिति ।

तथा 'डङ्गमाणे दङ्गे'त्ति दाहस्तु—कर्मदलिकदारूणां ध्यानाग्निना तद्रूपापनयनकर्मत्वजननमित्यर्थः । यथा हि काष्ठस्याग्निना दग्धस्य काष्ठरूपापनयनं भस्मात्सना च भवनं दाहस्तथा कर्मणोऽपीति । तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तवर्तित्वेनासंख्येयसमयस्यादिसमये दह्यमानं कर्म दग्धमिति ।

तथा 'मिञ्जमाणे मडे' म्रियमाणमायुःकर्ममृतमिति व्यपदिश्यते । मरणं ह्यायुःपुद्गलानां क्षयः, तच्च असंख्येयसमयवर्ति भवति । तस्य च जन्मनः प्रथमसमयादारभ्यावीचिकमरणेनानुक्षणं मरणस्य भावान्म्रियमाणं मृतमिति ।

तथा 'निञ्जरिञ्जमाणे निञ्जिणे'त्ति, निर्जीर्यमाणं—नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणं कर्म निर्जीणं—क्षीणमिति व्यपदिश्यते । निर्जरणस्यासंख्येयसमय-भावेत्वेन तत्प्रथमसमय एव पटनिष्पत्तिदृष्टान्तेन निर्जीर्णत्वस्योपपद्यमानत्वादिति । पटदृष्टान्तश्च सर्वपदेषु सभावानिको वाच्यः ।

तदेवमेतान्नय प्रश्नान् गौतमेन भगवता भगवान् महावीरः पृष्ठः सन्नुवाच—'हन्ते'त्यादि । अथ कस्माद् भगवन्तं^२ गौतमः पृच्छति ? विरचित-द्वादशाङ्गतया विदितसकलश्रुतविषयत्वेन निखिलसंशयातीतत्वेन च सर्वज्ञकल्पत्वात्तस्य, आह च—

“संखाईप उ भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा ।

ण य णं अणाइसेसी वियाणई एस छउमत्तो ॥”त्ति,

नैवम्, उक्तगुणत्वेऽपि छद्यस्यतयाऽनाभोगसम्भवात्, यदाह—

“न हि नामानाभोगश्छद्यस्यस्येह कस्यचिन्नास्ति ।

यस्मान्नानावरणं ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥”इति ।

अथवा जानत एव तस्य प्रश्नः संभवति । स्वकीयबोधसंवादनार्थमज्ञलोकबोधनार्थं शिष्याणां वा स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनार्थं सूत्र-रचनाकल्पसंपादनार्थं वेति ।

तत्र 'हंता गोयमे'त्ति, हन्तेति कोमलामंत्रणार्थः, दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभवमुभयत्रापि । 'चलमाणे' इत्यादेः प्रत्युच्चारणं तु चलदेव चलितमित्यादीनां स्वानुमतत्वप्रदर्शनार्थम् ।

वृद्धाः पुनराहुः—'हंता गोयमा' इत्यत्र 'हन्ते'ति एवमेतदिति अभ्युपगमवचनः, यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थं 'चलमाणे' इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति । इह च यावत्करणलभ्यानि पदानि सुप्रतीतान्येव । एवमेतानि नव पदानि कर्माधिकृत्य वत्तमानातीतकालसामानाधिकरण्यजिज्ञासया^३ पृथानि निर्णीतानि च ।

अथैतान्येव चलनादीनि परस्परतः किंतुल्यार्थानि भिन्नार्थानि वेति पृच्छं निर्णयं च दर्शयितुमाह—

१. युज्यते घ.
२. तत्रोत्तरेषु समयेषु न चलति क.
३. वेदितव्यं छ. घ.

४. भगवान् च. छ.

५. समाना घ. छ.

१।१२. एण णं भंते ! इत्यादि व्यक्तं, नवरम् 'एणद्ध'त्ति 'एकार्थानि' अनन्यविषयाणि एकप्रयोजनानि वा। 'नाणाघोसो' त्ति इह घोषाः—उदात्तादयः। 'नाणावज्जण'त्ति इह व्यञ्जनानि—अक्षराणि। 'उदाहु'त्ति उताहो निपातो विकल्पार्थः। 'नाणद्ध'त्ति भिन्नाभिधेयानि। इह च चतुर्भङ्गी पदेषु दृष्टा, तत्र—

कानिचिदेकार्थानि एकव्यञ्जनानि यथा क्षीरं क्षीरमित्यादीनि, तथाऽन्यानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा क्षीरं पय इत्यादीनि,

तथाऽन्यान्येकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथाऽर्कगव्यमाहिषाणि क्षीराणि तथाऽन्यानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटलकुटादीनि।

तदेवं चतुर्भङ्गीसंभवेऽपि द्वितीयचतुर्थभङ्गकौ' प्रश्नसूत्रे गृहीतौ, परिदृश्यमानानाव्यञ्जनता तदन्ययोरसम्भवात्। निर्वचनसूत्रे तु चलनादीनि चत्वारि पदान्याश्रित्य द्वितीयः, छिद्यमानादीनि तु पञ्च पदान्याश्रित्य चतुर्थ इति।

ननु चलनादीनामर्थानां व्यक्तभेदत्वात् कथमाद्यानि चत्वारि पदान्येकार्थानि ? इत्याशङ्क्याह—'उत्पन्नपक्षस्य'त्ति उत्पन्नमुत्पादो, भावे क्लीबे' क्तप्रत्ययविधानात्, तस्य पक्षः—परिग्रहोऽङ्गीकारः 'पक्ष परिग्रहे' इति धातुपाठादिति उत्पन्नपक्षः। इह च षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वाद् उत्पन्नपक्षेण—उत्पादाङ्गीकारेण उत्पादाख्यं पर्यायं परिगृह्य एकार्थान्येतान्युच्यन्ते।

अथवा 'उत्पन्नपक्षस्य' उत्पादाख्यवस्तुविकल्पस्याभिधायकानीति शेषः, सर्वेषामेषामुत्पादमाश्रित्यैकार्थकारित्वादेकान्तार्मुहूर्तमध्यभावित्वेन तुल्य-कालत्वान्नैकार्थिकत्वमिति भावः। स पुनरुत्पादाख्यः पर्यायो विशिष्टः केवलोत्पादः एव। यतः कर्मचिन्तायां कर्मणः प्रहाणेः फलद्वयं केवलज्ञानमोक्षप्राप्ती। तत्रैतानि पदानि केवलोत्पादविषयत्वादेकार्थान्युक्तानि। यस्मात् केवलज्ञानपर्यायो जीवेन न कदाचिदपि प्राप्तपूर्वः यस्माच्च प्रधानस्ततस्तदर्थ एव पुरुषप्रयासः, तस्मात् स एव केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यायोऽभ्युपगतः।

एषां च पदानामेकार्थानामपि सतामयमर्थः सामर्थ्यप्राप्तिक्रमः, यदुत—पूर्वं तद्वलति—उदेतीत्यर्थः, उदितं च वेद्यते अनुभूयत इत्यर्थः। तच्च द्विधा—स्थितिक्षयादुदयप्राप्तं उदीरणया चोदयमुपनीतं, ततश्चानुभवानन्तरं तत् प्रहोयते, दत्तफलत्वाज्जीवादपयातीत्यर्थः। एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातम्।

अन्ये तु व्याख्यान्ति—स्थितिबन्धाद्यविशेषितसामान्यकर्माश्रयत्वादेकार्थिकान्येतानि केवलोत्पादपक्षस्य च साधकानीति।

चत्वारि चलनादीनि पदान्येकार्थकानीत्युक्ते शेषाण्यनेकार्थकानीति सामर्थ्यादवगतमपि सुखावबोधाय साक्षात्प्रतिपादयितुमाह—'छिन्नमाणे' इत्यादि व्यक्तं, नवरं 'णाणद्ध'त्ति नानार्थानि, नानार्थत्वं त्वेवं—छिद्यमानं छिन्नमित्येतत्पदं स्थितिबन्धाश्रयं, यतः सयोगिकेवली अन्तकाले योगिनिरोधं कर्तुं कामो वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां दीर्घकालस्थितिकानां सर्वापवर्तनयाऽऽन्तमौहूर्तिकं स्थितिपरिमाणं करोति।

तथा 'भिद्यमानं भिन्न मित्येतत्पदमनुभागबन्धाश्रयं, तत्र च यस्मिन् काले स्थितिघातं करोति तस्मिन्नेव काले रसघातमपि करोति। केवलं रसघातः स्थितिखण्डकेभ्यः क्रमप्रवृत्तेभ्योऽनन्तगुणाभ्यधिकः। अतोऽनेन रसघातकरणेन पूर्वस्माद्भिन्नार्थं पदं भवति।

तथा 'दह्यमानं दग्ध'मित्येतत्पदं प्रदेशबन्धाश्रयं, प्रदेशबन्धस्त्वनन्तान्तरप्रदेशानां स्कन्धानां कर्मत्वापादनं। तस्य च प्रदेशबन्धकर्मणः सत्कानां पञ्चदशस्वाक्षरोच्चारणकालपरिमाणयाऽसंख्यातसमयया गुणश्रेणीरचनया पूर्वचिन्तानां शैलेश्यवस्थाभाविषमुच्छिन्नक्रियध्यानाग्निना प्रथमसमयादारभ्य यावदन्त्यसमयस्तावत्प्रतिपत्तिसमयं क्रमेणासंख्येयगुणवृद्धानां कर्मपुद्गलानां दहनं—दाहः। अनेन च दहनार्थेनेदं पूर्वस्मात्दाद्भिन्नार्थं पदं भवति। दाहश्चान्यत्रान्यथा रूढोऽपीह मोक्षचिन्ताऽधिकारान्मोक्षसाधन उक्तलक्षणकर्मविषय एव ग्राह्य इति।

तथा 'प्रियमाणं मृत'मित्येतत्पदमायुःकर्मविषयम्। यतः आयुष्कपुद्गलानां प्रतिपत्तिसमयं क्षयो मरणम्, अनेन च मरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति। तथा 'प्रियमाणं मृत'मित्यनेनायुःकर्मैवोक्तं, यतः कर्मैव तिष्ठज्जीवतीत्युच्यते, कर्मैव च जीवादपगच्छत् प्रियत इत्युच्यते। तच्च मरणं सामान्येनोक्तमपि विशिष्टमेवाभ्युपगन्तव्यम्। यतः संसारवर्तीनि मरणानि अनेकशोऽनुभूतानि दुःखरूपाणि चेति, किं तैः? इह पुनः पदेऽपुनर्भवमरणमन्त्यं सर्वकर्मक्षयसहचरितमपवर्गहितुभूतमिति विवक्षितमिति।

तथा 'निर्जीर्यमाणं निर्जीर्ण'मित्येतत्पदं सर्वकर्माभावविषयं, यतः सर्वकर्मनिर्ज्वरणं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं जीवेनेति, अतोऽनेन सर्व-कर्माभारूपनिर्ज्वरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति।

अथैतानि पदानि विशेषतो नानार्थान्यपि सन्ति सामान्यतः कस्य पक्षस्याभिधायकतया प्रवृत्तानीत्यस्यामाशङ्क्यामाह—'विगयपक्षस्य'त्ति विगतं विगमो—वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षया विनाशः, स एव पक्षो—वस्तुधर्मः तस्य वा पक्षः—परिग्रहो विगतपक्षस्तस्य विगतपक्षस्य वाचकानीति शेषः, विगतत्वं त्विहाशेषकर्माभावोऽभिमतो, जीवेन तस्याप्राप्तपूर्वतयाऽत्यन्तमुपादेयत्वात् तदर्थत्वाच्च पुरुषप्रयासस्येति। एतानि चैवं विगमार्थानि भवन्ति। छिद्यमानपदे हि स्थितिखण्डनं विगम उक्तः, भिद्यमानपदे ल्पुनभावभेदो विगमः, दह्यमानपदे त्वकर्मताभवनं विगमः, प्रियमाणपदे पुनरायुःकर्माभावो विगमः, निर्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगमः उक्तः। तदेवमेतानि विगतपक्षस्य प्रतिपादकानीत्युच्यन्ते।

एवं च यस्यज्वामाङ्गादिसूत्रोपन्यासे प्रेरितं, यदुत—केनाभिप्रायेणेदं सूत्रमुपन्यस्तमिति, तत् केवलज्ञानोत्पादसर्वकर्मविगमाभिधानरूपसूत्राभिप्राय-व्याख्यानेन निर्णीतमिति। एतत्सूत्रसंवादिस्मिद्धसेनाचार्योऽप्याह—

“उपज्ञमापकालं उपण्यां विगययं विगच्छंतं।

दवियं पण्यवयंतो तिकालविसयं विससेइ ॥” इति

१. चतुर्थी ख. ग. घ. च. छ.

२. x घ. च

३. x ख. ग. घ.

४. विगतं ग. घ. च. छ.

५. विगतार्थानि ग.

'उत्पद्यमानकाल'मित्यनेनाद्यसमवादारभ्योत्पत्त्यन्तसमयं यावदुत्पद्यमानत्वस्येत्वाद्धर्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तम् । उत्पन्नमित्यनेन त्वतीत-कालविषयम् । एवं विगतं विगच्छदित्यनेनापीति । ततश्चोत्पद्यमानादि प्रज्ञापयन् भगवान्^१ द्रव्यं विशेषयति, कथं ? त्रिकालविषयं यथा भवतीति संवादमाथार्थः ।

अन्ये तु कर्मेतिपदस्य सूत्रेऽनभिधानाच्चलनादिपदानि सामान्येन व्याख्यान्ति, न कर्मापेक्षयेव, तथाहि—'चलमाणे चलि'ति इह चलनम्—अस्थिरत्वपर्यायेण वस्तुन उत्पादः । 'वेद्भ्रमाणे वेद्'ति 'व्येजमानं'कम्पमानं, 'व्येजितं' कम्पितम्, 'एजु कम्पने' इति वचनात् । व्येजनमपि तद्रूपपेक्षयोत्पाद एव । 'उदीरिजमाणे उदीरि'ति इहोदीरणं स्थिरस्य सतः प्रेरणं, तदपि चलनमेव । 'पहिजमाणे पहीणे' ति 'प्रहीयमाण' प्रभ्रश्यत् परिपतदित्यर्थः 'प्रहीणं' प्रभ्रष्टं परिपतितमित्यर्थः, इहापि प्रहाणं चलनमेव, चलनादीनां चैकार्थत्वं सर्वेषां गत्यर्थत्वात् ।

'उपपन्नपक्वस्स'ति चलत्वादिना पर्यायेणोत्पन्नत्वक्षणपक्षस्याभिधायकान्येतानीति । तथा छेदभेददाहमरणनिर्जरणान्दकर्मार्थान्यपि व्याख्येयानि, तद्व्याख्यानं च प्रतीतमेव भिन्नार्थता पुनरेषामेवं—कुठारादिना लतादिविषयशब्देः, तोमरादिना शरीरादिविषयो भेदः, अग्निना दावादिविषयो दाहः, मरणं तु प्राणत्यागः, निर्जरा तु अतिपुराणीभवनमिति ।

'विगयपक्वस्स'ति भिन्नार्थान्यपि सामान्यतो विनाशाभिधायकान्येतानीत्यर्थः । न च वक्तव्यं—किमेतैश्चलनार्दिभिरिह निरूपितैः ? अतत्त्वरूपत्वा-देषाम् । अतत्त्वरूपत्वस्यासिद्धत्वात्, तदसिद्धिश्च निश्चयनयमतेन वस्तुस्वरूपस्य प्रज्ञापचितुमारब्धत्वात्^२ तथाहि—व्यवहारनवश्चलितमेव दलित-मिति मन्यते, निश्चयनयः^३ चलदपि चलितमिति । अत्र च बहुवक्तव्यं तन्न विशेषावश्यकारिहैवाभिधायमानजगत्तत्त्वचरिताद्वाऽव-रोयमिति ।^४

इहाद्ये प्रश्नोत्तरसूत्रद्वये मोक्षतत्त्वं चिन्तितम् । मोक्षः पुनर्जीवत्व । जीवाश्च नारकादयश्चतुर्विंशतिविधः, यदाह—

“नेरइया असुराई पुढबाई बेदियादओ^५ चैव ।^६

पंचिदियतिरियनरा वंतर जोइसिय वेमाणी ॥”

तत्र नारकास्तावत् स्थित्यादिभिश्चिन्तयन्नाह—

१।१३. 'नेरइयाण'मित्यादि, निर्गतम् अयम्—इष्टफलम् कर्म येभ्यस्ते निरयास्तेषु भवा नरांयका नारकारतेषां नैरयिकाणां 'भंते'ति भवन्तः केवइयकालं^७ति 'कियांश्यासौ कालश्चेति कियत्कालस्तं कियत्कालं यावत् 'ठिती' तिअयुःकर्मवशात्तरकेऽवस्थानं 'पन्नरा'ति 'प्रज्ञता'प्ररूपिता भगवद्भिरन्यतीर्थकरैश्चेति प्रश्नः ।

'गोयमे'त्यादि निर्वचनं व्यक्तमेव, नवरं 'दस वाससहरसाइ'ति प्रथमपृथिवीप्रथमप्रस्तटापेक्षया^८ तेत्तीरां सागरोदमाइ'ति सप्तमपृथिव्यपेक्षयेति । मध्यमा तु जघन्यापेक्षया समयाद्यधिका सामर्थ्यागम्येति ।

अनन्तरं नारकाणां स्थितिरुक्ता । ते चोच्छ्वासादिमन्तः इत्युच्छ्वासादिनिरूपणायाह—

१।१४. 'नेरइयाण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरं 'केवइकालस्स'ति प्राकृतशैल्या कियत्कालात् कियता कालेनेत्यर्थः । 'आणमंति'ति आनन्ति 'अन प्राणने' इति धातुपाठत्वं मकारस्यागमिकत्वात् । 'पाणमंति'ति प्राणंति । वाशब्दो समुच्चयार्थो एतदेव 'द्वयं क्रमेणार्थतः स्पष्टयन्नाह—ऊससंति वा नीससंति' व'ति यदेवोक्तमानन्ति तदेवोक्तमुच्छ्वसन्तीति, तथा यदेवोक्तं प्राणन्ति तदेवोक्तं निःश्वसन्तीति, अथवा आनन्ति प्राणमन्तीति 'णमु प्रहत्वे' इत्यस्यानेकार्थत्वेन श्वसनार्थत्वात् ।

अन्येत्वाहुः—'आनन्ति वा प्राणन्ति वा' इत्यनेनाध्यात्मक्रिया परिगृह्यते, 'उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा' इत्यनेन च बाह्येति । 'जहा ऊसासपए' ति एतस्य प्रश्नस्य निर्वचनं यथा उच्छ्वासपदे प्रज्ञापनायाः सप्तमपदे । तथा वाच्यं तच्चेदम्—'गोयमा ! सययं संतयामेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा' इति, तत्र सततम् अनवरतम्, अतिदुःखिता हि ते, अतिदुःखव्याप्तस्य^९ च निरन्तरमेवोच्छ्वासानिःधारां दृश्येते, सततत्वं च प्रायोवृत्त्याऽपि स्यादित्यत आह—'संतयामेव'ति सन्ततमेव नैकसमयेऽपि तद्विरहोऽस्तीति भावः । दीर्घत्वं चैव प्राकृतत्वात् । आनमन्तीत्यादेः पुनरुच्चारणं शिष्यवचने आदरोपदर्शनार्थम् । गुरुभिराद्रियमाणवचना हि शिष्याः संतोषवन्तो भवन्ति । तथा च पौनःपुन्येन प्रश्नश्रवणार्थनिर्णयादिषु घटन्ते लोके चादेयवचना भवन्ति । तथा च भव्योपकारस्तीर्थाभिवृद्धिश्चेति ।

अथ तेषामेवाहारं प्रश्नयन्नाह—

१।१५. 'जेरइयाण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरम् 'आहारड्ढि'ति आहारमर्थयन्ते—प्रार्थयन्त इत्येवंशोलाः । अर्थो वा—प्रयोजनमेषामस्तीत्यर्थिनः 'आहारेण—भोजनेनार्थिनः'^{१०} 'आहारस्य—भोजनस्य वाऽर्थिनः'^{११} आहारार्थिनः । 'जहा पन्नवणाए'ति 'आहारड्ढी' इत्येतत्प्रभृति यथा प्रज्ञापनावाश्चतुर्थोपाङ्ग-स्य 'पदमए'ति आवे 'आहारउद्देसए'ति आहारपदस्याष्टविंशतितमस्योद्देशकः पदशब्दलोपाद्याहारोद्देशकः तत्र भणितं 'तथा भाणियव्व'ति तेन प्रकारेण वाच्यमिति ।

तत्र च नारकाहारवक्तव्यतायां बहूनि द्वाराणि भवन्ति, तत्संग्रहार्थं पूर्वोक्तस्थित्युच्छ्वासलक्षणद्वारद्वयदर्शनपूर्विकां गाथामाह—

१. स भगवान् क. ख.

२. प्रहीणं ख. ग. च.

३. निश्चयस्तु क. ख. ग. च. छ.

४. चरिताद्या क. ग. घ.

५. विदियादाओ ग.

६. तह य. ख. ग. च.

७. केवइकालं क. ग. च.

८. नीससंति ख. ग. च.

९. दुःखव्याप्तस्य ख. ग. घ. च. छ.

१०. X ख. ग. छ.

११. X च.

‘दिइ उस्सासाहारे किं वाऽऽहारेति सव्वओ वावि ?

कति भागं सव्वणि व ? कीस व मुज्जो परिणमंति ॥’

व्याख्या, स्थितिर्नारकाणां वाच्या, उच्छ्वासश्च, तौ चोक्तावेव । तथा ‘आहारे’ति आहारविषयो विधिर्वाच्यः, स चैवम्—‘णेरइयाणं भंते ! आहारद्धी ? हंता आहारद्धी । णेरइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारद्धे समुप्पज्जइ ? ‘आहारार्थः’ आहारप्रयोजनमाहारार्थित्वमित्यर्थः । ‘गोयमा ! णेरइयाणं दुविहे आहारे पन्नत्ते’ अभ्यवहारक्रियेत्यर्थः, तंजहा—आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्राभोगः—अभिसन्धिस्तेन निर्वर्तितः—कृत आभोगनिर्वर्तितः आहारयामीतीच्छापूर्वक इत्यर्थः । अनाभोगनिर्वर्तितस्तु आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेणापि । प्रावृत्काले प्रचुरतरप्रश्रवणाद्यभिव्यंग्यशीतपुद्गलाद्याहारवत् ।

‘तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयविरहिण आहारद्धे समुप्पज्जइ’ अणुसमयं प्रतिक्षणं संततातितीव्रक्षुद्भवेदनीयकर्मादयत ओजआहारादिना प्रकारेणेति । ‘अविरहिण’ति चुक्कस्खलितन्यायादपि न विरहितः, अथवा प्रदीर्घकालोपभोग्याहारस्य सकृद्ग्रहणेऽपि भोगोऽनुसमयं स्यादतो ग्रहणस्यापि सातत्यप्रतिपादनार्थमविरहितमित्याह—

‘तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइएअंतोमुहुत्तिए आहारद्धे समुप्पज्जइ’ असंख्यातसामयिकः पत्न्योपमादिपरिमाणोऽपि स्यादत आह—अंतोमुहुत्तिए’ति । इदमुक्तं भवति—आहारयामीत्यभिलाष एतेषां गृहीताहारद्रव्यपरिणामतीव्रतरदुःखजननपुरस्सरमन्तमुहूर्तात्रिवर्तत इति ।

‘किं वाऽऽहारेति’ति किं स्वरूपं वा वस्तु नारका आहारयन्ति ? इति वाच्यं, वा शब्दः समुच्चये, तत्रेदं प्रश्ननिर्वचनसूत्रम्—‘णेरइया णं भंते ! किमाहारमाहारेति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइ’ अनन्तप्रदेशवन्ति पुद्गलद्रव्याणीत्यर्थः तदन्येषामयोग्यत्वात् । ‘खेतओ असंखेज्ज-पएसवगाढाई’ न्यूनतरप्रदेशवगाढानि हि न ग्रहणप्रायोग्यानि अनन्तप्रदेशवगाढानि तु न भवन्त्येव, सकललोकस्याप्यसंख्येयप्रदेशपरिमाणत्वात् ‘कालओ अण्णतरइइयाई’ जघन्यमध्यमोक्तृष्टथितिकामीत्यर्थः । स्थितिश्चाहारयोग्यस्कन्धपरिणामेनावस्थानमिति । ‘भावओ वण्णमंताई गंधमंताई रसमंताई फासमंताई आहारंति ।

‘जाइ भावओ वण्णमंताई आहारंति ताइ किं एगवण्णाइ आहारंति ? जाव किं पंचवण्णाइ आहारंति ? गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइ पि आहारंति जाव पंचवण्णाइ पि आहारंति ।’ विहाणमग्गणं पडुच्च कालवन्नाइ पि आहारंति जाव सुक्किल्लाईपि आहारंति ।’ तत्र ‘ठाणमग्गणं पडुच्च’ति तिष्ठन्स्मिन्निति स्थानं सामान्यं यथैकवर्षं द्विवर्णमित्यादि, ‘विहाणमग्गणं पडुच्च’ति विधानं—विशेषः कालादिरिति । जाइ वन्नओ कालवन्नाइ आहारंति ताइ किं एगगुणकालाई आहारंति जाव दसगुणकालाई आहारंति संखेज्जगुणकालाई असंखेज्जगुणकालाई अनन्तगुणकालाई आहारंति ? गोयमा ! एकगुणकालाई पि आहारंति जाव अनन्तगुणकालाई पि आहारंति, एवं जाव सुक्किलाई, एवं गंधओवि रसओवि ।

‘जाइ भावओ फासमंताई ठाणमग्गणं पडुच्च णो एगफासाइ आहारंति, णो दुफासाइ आहारंति, णो तिफासाइ आहारंति’ एकस्पर्शानामसम्भवादन्वेषां चाल्पप्रदेशिकतासूक्ष्मपरिणामाभ्यां ग्रहणायोग्यत्वात् । ‘चउफासाइ पि आहारंति जाव अडुफासाइ पि आहारंति’ बहुप्रदेशताबादरपरिणामाभ्यां ग्रहणयोग्यत्वादिति, ‘विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाई पि आहारंति जाव लुक्खाइ पि आहारंति ।’

‘जाइ फासओ कक्खडाई आहारंति ताइ किं एगगुणकक्खडाई आहारंति जाव अनन्तगुणकक्खडाई आहारंति ? गोयमा ! एगगुणकक्खडाई पि आहारंति जाव अणंतगुणकक्खडाई पि आहारंति एवं अडुवि फासा भाणियव्वा जाव अणंतगुणलुक्खाइ पि आहारंति ।

‘जाइ भंते ! अणंतगुणलुक्खाइ आहारंति ताइ किं पुड्ढाई आहारंति अपुड्ढाई आहारंति ? गोयमा ! पुड्ढाई आहारंति णो अपुड्ढाई अहारंति’ ‘पुड्ढाई’ति आत्मप्रदेशस्पर्शवन्ति, तत्पुनरात्मप्रदेशस्पर्शनमवगाढक्षेत्राद्वहिरापि भवति अत उच्यते—जाइ भंते ! पुड्ढाई आहारंति ताइ किं ओगाढाई आहारंति अणोगाढाई आहारंति ? गोयमा ! ओगाढाई नो अणोगाढाई’ ‘अवगाढानी’ति आत्मप्रदेशैः सहैकक्षेत्रावगाढानीत्यर्थः ।

‘जाइ भंते ! ओगाढाई आहारंति ताइ किं अणंतरोगाढाई आहारंति परंपरोगाढाई आहारंति ? गोयमा ! अणंतरोगाढाई आहारंति’ णो परंपरोगाढाई आहारंति ।’ अनन्तरावगाढानीति येषु प्रदेशेष्वामाऽवगाढस्तेष्वेव यान्यवगाढानि तान्यनन्तरावगाढानि अन्तराऽभावेनावगाढत्वात् यानि च तदन्तरवर्तीनि^१ तान्यवगाढसम्बन्धात्परम्परावगाढानीति ।

‘जाइ भंते ! अणंतरोगाढाई आहारंति ताइ किं अणूइ आहारंति बादराइ’ आहारंति ? गोयमा ! अणूइ पि आहारंति बादराइ पि आहारंति’ तत्राणुत्वं बादरत्वं चापेक्षिकं तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशवृद्ध्या वृद्धानामवसेयम् ।

‘जाइ भंते ! अणूइ पि आहारंति बादराइ पि आहारंति ताइ किं उड्ढं आहारंति ? एवं अहेवि तिरियं पि ? गोयमा ! उड्ढं पि आहारंति एवं अहेवि तिरियं पि ।

‘जाइ भंते ! उड्ढं पि आहारंति अहेवि तिरियं पि आहारंति ताइ किं आइ’ आहारंति मज्जे आहारंति पज्जवसाणे आहारंति ? गोयमा ! तिविहा-वि’,^२ अयमर्थः—आभोगनिर्वर्तितस्याहारस्यान्तर्भूतकस्यादिमध्यावसानेषु सर्वत्राहारयन्तीति ।

‘जाइ भंते ! आइ मज्जे अवसाणेवि आहारंति ताइ किं सविसए आहारंति अविसेए आहारंति ? गोयमा ! सविसए’ नो अविसेए आहारंति’ तत्र स्वः—स्वकीयो विषयः स्पृष्टावगाढानन्तरावगाढाख्यः स्वविषयस्तस्मिन्नाहारयन्ति ।

१. तद्ग्रहणप्रायोग्यानि क. ख.

२. बहुप्रदेशिकता क बहुप्रदेशिता छ.

३. तदनन्तरवर्तीनि छ. ग. घ. च.

४. बायराइ क. छ.

५. आदि छ. ग. घ. छ.

६. तिहावि क. च. छ.

७. सविसए आहारंति छ.

'जाइं भंते ! सविसए आहारेंति ताइं किं आणुपुव्विं आहारेंति अणाणुपुव्विं आहारेंति ? गोयमा ! आणुपुव्विं आहारेंति नो अणाणुपुव्विं आहारेंति,' तत्रानुपूर्व्या यथाऽसन्नं नातिक्रम्य ।

जाइं भंते ! आणुपुव्विं आहारेंति ताइं किं तिदिसिं आहारेंति जाव छदिसिं आहारेंति ? गोयमा ! नियमा छदिसिं आहारेंति ।' इह नारकाणां लोकमध्यवर्तित्वेन षण्णामप्युद्ध्वादिदिशामलोकेनानावृतत्वात् षट्सु दिक्वाहारग्रहणमस्ति तत उक्तं—नियमात् षड्दिशि । दिक्त्रयादिकत्यास्तु लोकान्तवर्तिषु पृथिवीकायिकादिषु दिशां त्रयस्य द्वयस्य एकस्याश्च अलोकेनावरणे (सति) भवन्तीति ।

यद्यपि वर्णतः पञ्चवर्णानीत्याद्युक्तं तथापि प्राचुर्येण यद्वर्णगन्धादियुतानि द्रव्याण्याहारयन्ति तानि दर्शयति 'उत्सन्नं कारणं पडुच्च'ति बाहुल्यलक्षणं कारणमाश्रित्य, तत्र च प्रकृत्यशुभानुभाव एव कारणमिति । 'वन्नओ कालनीलाइं गंधओ दुब्बिगंधाईं रसओ तित्तकडुवरसाईं फासओ कक्खडुगुरुयसीयलुक्खाईं'^१ एतानि च प्रायो मिथ्यादृष्ट्य एवाहारयन्ति, न तु भविष्यत्तीर्थकरादय इति ।

अथ तानि यथास्वरूपाण्येव नारका आहारयन्त्यन्यथा वैत्यस्यामाशंकायामभिधीयते—'तेसिं पि पोरणे वन्नगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता' विपरिणामादयो विनाशार्थत्वेनैकार्था एव ध्वनयः । 'अन्ने य अपुव्वे वन्नगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति' 'सव्वप्पणयाए'ति सर्वात्मना सर्वैरामप्रदेशैरित्यर्थः ।

व्याख्यातं सूत्रे संग्रहगाथायाः 'किं वाऽहारेंति'ति पदम् ।

अथ 'सव्वओ वा' इति व्याख्यायते—तत्र 'सर्वतः' सर्वप्रदेशैर्नैरयिका आहारयन्तीति । वाऽपीति वचनादभीक्ष्णमाहारयन्तीत्यपि वाच्यं, तच्चैवम्—'नेरइयाणं भंते ! सव्वओ आहारेंति सव्वओ परिणामेंति सव्वओ ऊससंति सव्वओ नीससंति अभिक्खणं आहारेंति अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति ? हंता गोयमा ! नेरइया सव्वओ आहारेंति ।'

'सव्वओ'ति सर्वात्मप्रदेशैः 'अभिक्खणं'ति अनवरतं पर्याप्तत्वे सति 'आहच्चे'ति कदाचित्—न सर्वदा अपर्याप्तकावस्थायामिति ।

तथा 'कइभागं'ति आहारतयोपात्तपुद्गलानां कतिथं भागमाहारयन्ति इति वाच्यं, तच्चैव—'नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कइभागमाहारेंति ? कइभागं आसाइत्ति ? गोयमा ! असंखेज्जइभागं आहारेंति अणंतभागं आसाइत्ति' 'सेयालंसि'ति एष्यत्काले ग्रहणकालोत्तरकालमित्यर्थः । 'असंखेज्जइभागमाहारेंति' इत्यत्र केचिद् व्याचक्षते—गवादिप्रथमबृहद्ग्रासग्रहण इव कांश्चिद् ग्रहीतासंख्येयभागमात्रान् पुद्गलानां आहारयन्ति तदन्ये तु पतन्तीति ।

अन्ये त्वाचक्षते—ऋजुसूत्रनयदर्शनात् स्वशरीरतया परिणतानामसंख्येयभागमाहारयन्ति, ऋजुसूत्रो हि गवादिप्रथमग्रासग्रहणमिव गृहीतानां शरीरत्वेनापरिणतानामाहारतां नेच्छति, शरीरतया परिणतानामपि केषाञ्चिदेव विशिष्टाहारकार्यकारिणां तामभ्युपगच्छति शुद्धनयत्वात्तस्येति ।

अन्ये पुनरित्थमभिदधति 'असंखेज्जइभागमाहारेंति'ति शरीरतया परिणमति, शेषास्तु किट्टीभूय मनुष्याभ्यवहताहारवन्मलीभवन्ति, न शरीरत्वेन परिणमन्तीत्यर्थः ।

'अणंतभागं आसाइत्ति'ति आहारतया गृहीतानामनन्तभागमास्वादयन्ति तद्वरसादीन् रसनादीन्द्रियद्वारेणोपलभन्ते इत्यर्थः ।

'सव्वापि' व ति दारं, तत्र सर्वाण्येवाहारद्रव्याण्याहारयन्तीति वाच्यं । वाशब्दः समुच्चये, तच्चैवम्—'नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए परिणमेंति ते किं सव्वे आहारेंति ? णो सव्वे आहारेंति ? गोयमा ! सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति ।' इह विशिष्टग्रहणगृहीता आहारपरिणामयोग्या एव ब्रह्माः, उज्झितशेषा इत्यर्थः । अन्यथा पूर्वापरसूत्रयोर्विरोधः स्यात्, इथा चैवं व्याख्या; यदाह—

“जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियालणा नत्थि ।

किं कालियाणुओणो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥”

'कीस व भुज्जो परिणमंति'ति द्वारगाथापदम् तत्र 'कीस'ति पदावयवे पदसमुदायोपचारात् कीसत्ताएत्ति दृश्यं, किंस्वतवा—किंस्वभावतया कीदृशतया वा केन प्रकारेण किरूपतयेत्यर्थः । वाशब्दः समुच्चये । 'भुज्जो'ति 'भूयोभूयः' पुनः पुनः परिणमन्ति आहारद्रव्याणीति प्रकृतमित्येतदत्र वाच्यं, तच्चैव—'नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति' ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! सोइंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अणिडुत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए अमणुण्णत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्जियत्ताए अहत्ताए नो उडुत्ताए दुक्खत्ताए नो सुहत्ताए एएसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।'

तत्र 'अनिष्टतया' सदैव तेषां सामान्येनावल्लभतया, तथा 'अकान्ततया' सदैव तद्भावेनाकमनीयतया, तथा 'अप्रियतया' सर्वेषामेव द्वेष्यतया, तथा 'अमनोज्ञतया' कथयाऽप्यमनोरमतया, तथा 'अमनोऽभ्यतया' चिन्तयाऽपि अमनोगम्यतया, तथा 'अनीसिततया' आनुमनिष्टतया । एकार्था वैते^२ शब्दाः । 'अभिज्जियत्ताए'ति अभिध्येयतया तृप्तेरनुवादकत्वेन पुनरप्यभिलाषनिमित्ततया । अहृद्यत्वेनेत्यन्ये अशुभत्वेनेत्यर्थः । 'अहत्ताए'ति गुरुपरिणामतया^३ नो उहत्ताए'ति नो लघुपरिणामतयेति सङ्ग्रहगाथार्थः ।

इदं च सङ्ग्रहणीगाथाविवरणसूत्रं, क्वचित् सूत्रपुस्तक एव दृश्यत इति ।

१ ते तद् च. छ.

२. ओसन्न क.

३. गरुड क. ग. च. छ.

४. गिण्हंति ग. घ.

५. श्वैते ख. ग. घ. च.

६. अहिज्जियत्ताए क. छ.

अथ नैरयिकाऽहाराधिकारात्तद्विषयमेव प्रश्नचतुष्टयमाह—

१।१६.

‘नेरइयाण’मित्यादि, ‘पुव्वाहारिय’ति ये पूर्वमाहताः पूर्वकाल एकीकृताः संगृहीताः इतियावत् अभ्यवहता वा ‘पोग्गल’ति स्कन्धाः ‘परिणय’ ति ते ‘परिणताः’ पूर्वकाले शरीरेण सह सम्पृक्ताः परिणतिं गता इत्यर्थः । इति प्रथमः प्रश्नः । इह च सर्वत्र प्रश्नत्वं काकुपाठादवगम्यते । तथा ‘आहारिय’ति पूर्वकाले ‘आहताः’ संगृहीताः—अभ्यवहता वा, ‘आहरिञ्जमाणे’ति ये च’ वर्त्तमानकाले ‘आहियमाणः’ संगृह्यमाणः अभ्यवहियमाणः वा पुद्गलाः ‘परिणय’ति ते परिणता इति द्वितीयः ।

तथा ‘अणाहारिय’ति येऽतीतकालेऽनाहताः ‘आहारिञ्जिस्समाणे’ति ये चानागते काले आहरिष्यमाणाः पुद्गलास्ते परिणता इति तृतीयः । तथा ‘अणाहारिया अणाहारिञ्जिस्समाणा’ इत्यादि अतीतानागतहरणक्रियानिषेधाच्चतुर्थः ।

इह च यद्यपि चत्वार एव प्रश्ना उक्तास्तथाऽप्येते त्रिषष्टिः संभवन्ति, यतः पूर्वाहता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाश्चेति षट् पदानिह सूचितानि । तेषु चैकैकपदाश्रयणेन षड्, द्विकयोगे पंचदश, त्रिकयोगे विंशतिः, चतुष्कयोगे पञ्चदश, पञ्चकयोगे षट्, षड्योगे एक इति ।

अत्रोत्तरमाह—‘गोषमे’त्यादि व्यक्तं, नवरं ये पूर्वमाहतास्ते पूर्वकाल एव परिणताः ग्रहणानन्तरमेव परिणामभावात् ।

ये पुनराहता आहियमाणाश्च ते परिणताः, आहतानां परिणामभावादेव, परिणमन्ति च आहियमाणां परिणामभावस्य वर्त्तमानत्वादिति । वृत्तिकृता तु द्वितीयप्रश्नोत्तरविकल्प एवविधो दृष्टः—यदुत आहता आहरिष्यमाणा पुद्गलाः परिणताः परिणस्यन्ते च । यतोऽयं तेनैवं व्याख्यातः—यदुत ये पुनराहता आहरिष्यन्ते पुनस्तेषां केचित् परिणताः परिणताश्च ये संपृक्ताः शरीरेण सह ये तु न तावत् संपृच्यन्ते कालान्तरे तु संपृच्यन्ते ते परिणस्यन्त इति ।

ये पुनराहता आहरिष्यन्ते पुनस्ते नो परिणताः, अनाहतानां संपर्कभावेन परिणामभावात्, यस्मात्त्याहरिष्यन्ते ततः परिणस्यन्ते आहतास्यावश्यं परिणामभावादिति ।

चतुर्थस्वतीतभविष्यदाहरणक्रियाया अभावेन परिणामभावादवसेय इति । एतदनुसारेणैव प्राग्दर्शितविकल्पानामुत्तरसूत्राणि वाच्यानीति ।

अथ शरीरसंपर्कलक्षणपरिणामात्पुद्गलानां चयादयो भवन्तीति तद्दर्शनार्थं प्रश्नयन्नाह—

१।१७,१८.

‘नेरइयाण’मित्यादि, चयादिसूत्राणिपरिणामसूत्रसमानोतिकृत्वाऽतिदेशतोऽधीतानीति, तथाहि—‘जहा परिणया तहा चियावी’त्यादि इह च पुस्तकेषु वाचनाभेदो दृश्यते तत्र न संमोहः कार्यः, सर्वत्राभिधेयस्य तुल्यत्वात् । केवलं परिणतसूत्रानुसारेण प्रश्नसूत्राणि व्याकरणानि च मतिमताऽध्येयानीति ।

तत्र ‘चित्ताः’ शरीरे चयं गताः, उपचिताः पुनर्बहुशः प्रदेशशामीप्येन शरीरे चिता एवेति, उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलानुदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते, उदीरणालक्षणं चेदम्—

“जं करणेणाकड्डिय उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ॥”

तथा ‘वेदिताः’ स्वेन रसविपाकेन प्रतिसमयमनुभूयमानाः अपरिसमाप्ताशेषानुभावा इति । तथा निर्जीर्णाः कात्स्न्ये नानुसमयमशेषतद्विपाकहानियुक्ता इति ।

‘माह’ति परिणतादिसूत्राणां संग्रहणाय गाथा भवति, सा चेयम् ‘परिणये’त्यादि व्याख्यातार्था । नवरं एकैकस्मिन् पदे परिणतचितोपचितादौ चतुर्विधाः आहताः, आहताः आहियमाणाश्च, अनाहता आहरिष्यमाणाश्च, अनाहता अनाहरिष्यमाणाश्च, इत्येवं चतुरूपाः पुद्गला भवन्ति, प्रश्ननिर्वचनविषया स्युरिति ।

पुद्गलाधिकारादेवेमामष्टदशसूत्रीमाह—

१।१९-२३.

‘नेरइयाणं भन्ते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जंती’त्यादि, व्यक्तं, नवरं—‘भिज्जंति’ति तीव्रमन्दमध्यतयाऽनुभागभेदेन भेदवन्तो भवन्ति, उद्वर्त्तन-करणापवर्त्तनकरणाभ्यां मन्दरसास्तीव्ररसाः तीव्ररसास्तु मन्दरसा भवन्तीत्यर्थः । उत्तरम्—‘कम्मदव्ववग्गणमहिगिच्च’ति समानजातीयद्रव्याणां राशिद्रव्यवर्गणा, सा चौदारिकादिद्रव्याणामप्यस्तीत्यत आह—कर्मरूपा द्रव्यवर्गणा कर्मद्रव्याणां वा वर्गणा कर्मद्रव्यवर्गणा, तामधिकृत्य—तामाश्रित्य, कर्मद्रव्यवर्गणासात्का इत्यर्थः, कर्मद्रव्याणामेव च मन्दतरानुभावचिन्ताऽस्ति । न द्रव्यान्तराणामितिकृत्वा कर्मद्रव्यवर्गणा-मधिकृत्येत्युक्तम्, ‘अणू चेव बायरा चेव’ति चेवशब्दः समुच्चयार्थः । ततश्चाणवश्च बादराश्च, सूक्ष्माश्च स्थूलाश्चेत्यर्थः । सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चैषां कर्मद्रव्यापेक्षयैवावगन्तव्यं नान्यापेक्षया, यत औदारिकादिद्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणीति । एवं चयोपचयोदीरणवेदन-निर्जरा शब्दार्थभेदेन वाच्याः ।

किन्तु चयसूत्रे उपचयसूत्रे च ‘आहारदव्ववग्गणमहिगिच्च’ति यदुक्तं तत्रायमभिप्रायः—शरीरमाश्रित्य चयोपचयौ प्राग् व्याख्यातौ, तौ चाहार-द्रव्येभ्यः एव भवतो नान्यतः अत आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तमिति, उदीरणादयस्तु कर्मद्रव्याणामेव भवन्त्यतस्तसूत्रेषूक्तं कर्मद्रव्यवर्गणा-मधिकृत्येति ।

१. X ख. ग. छ.

२. चितावी ख. ग. घ. छ.

३. अहिकिच्च क.

४. चयोपचयोदीरणा ख. ग. छ.

५. वेदनां क. ख. ग. छ.

६. अहिकिच्च क.

१।२४. 'ओयद्वेसु' ति अपवर्तितवन्तः इहापवर्तनं कर्मणां स्थित्यादेरध्यवसायविशेषेण हीनताकरणं, अपवर्तनस्य चोपलक्षणत्वादुद्वर्तनमपीह दृश्यं, तच्च स्थित्यादेर्वृद्धिकरणस्वरूपं।

'संक्रामिसु' ति संक्रमितवन्तः, तत्र संक्रमणं मूलप्रकृत्यभिन्नानामुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्परं संचारणं, तथा चाह—

“मूलप्रकृत्यभिन्नाः संक्रमयति गुणतः उत्तराः प्रकृतीः।

नन्वात्माऽमूर्तत्वादध्यवसायप्रयोगेण ॥”

अपरस्त्वाह—

“मोतूण आउयं खलु दंतणमोहं चरित्तमोहं च।

सेसाणं पणईणं उत्तरविहिसंक्रमो षण्णिओ ॥”

एतदेव निदर्शयते^१—यथा कस्यचित्तद्वेधमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवविधा जाता येन तदेव सद्देधमसद्देधतया संक्रामतीति, एवमन्यत्रापि योज्यमिति।

'निधत्तिसु' ति निधत्तान् कृतवन्तः। इह च विश्लिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते। उद्वर्तनापवर्तनव्यतिरिक्तकरणानामविषयत्वेन कर्मणोऽवस्थानमिति।

'निकाएंसु'^२ ति निकाचितवन्तः, नितरां बद्धवन्तः इत्यर्थः। निकाचनं च तेषामेव^३ पुद्गलानां परस्परविश्लिष्टानामेकीकरणमन्योऽन्यावगाहिता अग्निप्रतप्तप्रतिहन्यमानशूचीकलापस्येव सकलकरणानामविषयतया कर्मणो व्यवस्थापनमितियावत्।

'भिज्जंती'त्यादिपदानां संग्रहणी यथा 'भेइय' इत्यादिगाथा गतार्था, नवरं—अपवर्तनसंक्रमनिधत्तनिकाचनपदेषु त्रिविधः कालो निर्देष्टव्यः, अतीतवर्तमानानागतकालनिर्देशेन तानि वाच्यानीत्यर्थः। इह चापवर्तनादीनामिव भेदादीनामपि त्रिकालता युक्ता, न्यायस्य समानत्वात्, केवलमविवक्षणात् तन्निर्देशः सूत्रे कृत इति।

अथ पुद्गलाधिकारादिदं सूत्रचतुष्टयमाह—

१।२५-२७. 'नेरइयाण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरं 'तेयाकम्मत्ताए'ति तेजःशरीरकर्मणशरीरतया तद्रूपतयेत्यर्थः। 'अतीतकालसमए'ति कालस्वरूपः समयो न तु समाचाररूपः। कालोऽपि समयरूपो न तु वर्णादिस्वरूप इति परस्परेण विशेषणात् कालसमयः। अतीतः कालसमयः अतीतकालस्य चोत्सर्पिण्यादेः समयः—परमनिकृष्टोऽशोऽतीतकालसमयस्तत्र 'पडुप्पन्न'ति प्रत्युत्पन्नो—वर्तमानः, नोऽतीतकालेत्यादौ अतीतानागतकालविषयग्रहणप्रतिषेधो विषयातीतत्वात्। विषयातीतत्वं च तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति। प्रत्युत्पन्नत्वेऽप्यभिमुखान् गृह्णाति नान्यान्, 'ग्रहणसमयपुरवखडे'ति ग्रहणसमयः पुरस्कृतो—वर्तमानसमयस्य पुरोवर्ती येषां तो ग्रहणसमयपुरस्कृताः प्राकृतत्वादेव निर्देशः अन्यथा पुरस्कृतग्रहणसमया इति स्याद् ग्रहीष्यमाणा इत्यर्थः। उदीरणं च पूर्वकालगृहीतानामेव भवति, ग्रहणपूर्वकत्वादुदीरणाप्यका। अत उक्तं—अतीतकालसमयगृहीतानुदीरयन्तीति। गृह्यमाणानां ग्रहीष्यमाणानां चागृहीतत्वादुदीरणाऽभावस्तत उक्तं—'नो पडुप्पन्ने'त्यादि। वेदनानिर्जरासूत्रयोरप्येषैवोपपत्तिरिति।

अथ कर्माधिकारादेवेयमष्टसूत्री—

१।२८-३२. 'नेरइयाण'मित्यादिव्यक्ता च नवरं 'जीवाओ किं चलियं'ति जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं—तेष्वनवस्थानशीलं तदितरत्त्वचलितं तदेव बध्नाति, यदाह—

“कृत्तैर्देशैः स्वकदेशस्वं रागादिपरिणतो योम्यम्।

बध्नाति योगहेतोः कर्म स्नेहाक्त इव च मलम् ॥” इति

एवमुदीरणावेदनाऽपवर्तनासंक्रमणनिधत्तनिकाचनानि भाव्यानि। निर्जरा तु पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामात्मप्रदेशेभ्यः सातनम्। सा च नियमाच्चलितस्य कर्मणो नाचलितस्येति, इह संग्रहणीगाथा—'बंधोदये' त्यादिभावितार्था केवलमुदयशब्देनोदीरणा गृहीतेति। उक्ता नारकवक्तव्यता।

अथ चतुर्विंशतिदण्डकक्रमागतामसुरकुमारवक्तव्यतामाह—

'असुरकुमाराण'मित्यादि, तत्रासुरकुमारवक्तव्यता नारकवक्तव्यतावन्नेया यतः 'ठिऊसासाहारे' इत्यादिगाथोक्तानि सूत्राणि ४० 'परिणयचिए' इत्यादिगाथागृहीतानि ६ 'भेइयचिए' इत्यादिगाथागृहीतानि १८ 'बंधोदये'त्यादिगाथागृहीतानि ८, तदेवं द्विसप्ततिः सूत्राणि नारकप्रकरणोक्तानि त्रयोविंशतावसुरादिप्रकरणेषु समानि।

नवरं विशेषोऽयम्—'उक्कोसेणं साइरेणं सागरोवम'मिति यदुक्तं तदुबलिसञ्जमसुरकुमारराजमाश्रित्योक्तं यदाह—'चमरबलि सारमहियं'ति, 'सत्तण्हं थोवाणं'ति सप्तानां स्तोकानामुपरीति गम्यते, स्तोकलक्षणं चैवमाचक्षते—

१. उवद्वेसु ख. ग. घ. छ. ओवद्वेसु च

२. निर्दिस्यते क. ग. घ.

३. निकाइंसु क. ख. ग. घ. च. छ. अंगसुत्ताणि अधिकृत्य एष

पाठः स्वीकृतः।

४. चैषां क.

★ सूत्रचतुष्टयमिति उल्लिखितं वृत्तौ परं अंगसुत्ताणि पुस्तके एवं वेदेति निजरेतीति द्वयोरैकसूत्रता कृता इति तत्र सूत्रत्रयम्।

“हृदस्स अणवगल्लस्स निरुवकिहस्स वंतुणो ।
एणे ऊत्तासनीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥
सत्तपाणूणि से बोवे, सत्तयोवाणि से लवे ।
लबाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते विघाहिप ॥”

इदं जघन्यमुच्छ्वासादिमानं जघन्यस्थितिकानाश्रित्यावगन्तव्यम्, उक्तं चोक्तृष्टास्थितिकानाश्रित्येति ।

‘चउत्थभत्तस्स’ति चतुर्थभक्तमित्येकोपवासस्य संज्ञा ततस्तस्थोपरि, एकत्र दिने भुक्त्वाऽहोरात्रं चातिक्रम्य तृतीये भुञ्जत इति भावः ।
नागकुमारवक्तव्यतायाम् ‘उक्कोसेणं देसूणाई दो पत्तिओवमाई’ति यदुक्तं, तदुत्तरश्रेणिमाश्रित्यावसेयं यदाह—

“दाहिण दिवह्पलियं दो देसूणत्तरिल्लणं ।” इति ।

‘मुहुत्तपुहुत्तस्स’ति मुहूर्त्त उक्तलक्षण एव, पृथक्त्वं तु द्विप्रभृतिरानवभ्यः संख्याविशेषः समये प्रसिद्धः ।

एवं ‘सुवन्नकुमारणं’ति नागकुमाराणामिव सुपर्णकुमाराणामपि स्थित्यादिवाच्यम् । इदं च कियदूरं यावद्वाच्यम् ? इत्याह—जाव ‘थणिय-
कुमारणं’ति यावद्दरणाद् विद्युत्कुमारादिपरिग्रहः ।^१ एषां चेहायं क्रमोऽवसेयः—

“असुरा नाग सुवन्ना विञ्जु अग्गी य दीव उदही य ।

दिसि वाऊ थणियावि य दसभेया भवणवासीणं ॥”

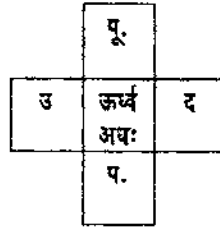
अथ भवनपतिवक्तव्यताऽनन्तरं दण्डकक्रमादेव पृथिव्यादीनां स्थित्यादि निरूपयन्नाह—‘पुढवी’त्यादि व्यक्तभावनस्पतिसूत्रात् । नवरम्—‘अंतो-
मुहुत्त’न्ति मुहूर्त्तस्यान्तरं मुहूर्त्तं भिन्नो मुहूर्त्त इत्यर्थः । ‘उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साई’ति यदुक्तं तत् खरपृथिवीमाश्रित्यावगन्तव्यं यदाह—

“सण्हा य१ सुद्ध१२ वातुय१४ मणोत्तिआ१६ सक्करा य१८ खरपुढवी२२ ।

एणं बारस चोहस सोवस अद्धार बावीसा ॥” इति ।

‘वेमायाए’ति विषमा विविधा वा मात्रा—कालविभागो विमात्रा तथा । इदमुक्तं भवति—विषमकाला पृथिवीकायिकानामुच्छ्वासादिक्रिया
इयत्कालादिति न निरूपयितुं शक्यते । ‘जहा नेरइयाणं’ मित्यादिदेशात्, ‘खेत्तओ असंखेअपएसोगाढाई कालओ अन्नयराठिइयाई’ इत्यादि दृश्यम् ।

‘निव्वाघाएण छद्विसिं’ति व्याघात आहारस्य लोकान्तनिष्कुटेषु संभवति नान्यत्र, ततो निष्कुटेषुऽन्यत्र षट्सु दिक्षु, कथम् ?—चतसृषु पूर्वादिदिक्षु
ऊर्ध्वमधश्च पुद्गलग्रहणं करोति, तस्य स्थापना—



‘वाघायं पडुच्च’ति व्याघातं प्रतीत्य, व्याघातश्च निष्कुटेषु, तत्र च ‘सिय तिदिसिं’ति स्यात्—कदाचित् तिसृषु दिक्षु आहारग्रहणं भवति, कथम् ?
यदा पृथिवीकायिकोऽधस्तने उपरितने वा कोणेऽवस्थितः स्यात्तदाऽधस्तादलोकः पूर्वदक्षिणयोश्चालोक इत्येवं तिसृणामलोके नाऽऽवृत्तत्वात्तदन्यासु
तिसृषु पुद्गलग्रहणम् । एवमुपरितनकोणेऽपि वाच्यम्, यदा पुनरध उपरि चालोको भवति तदा चतसृषु । यदा तु पूर्वादीनां षण्णां दिशा-
मन्यतरस्यामलोको भवति तदा पञ्चस्त्विति ।

‘फासाओ कखडाई’ति इह कर्कशादयो रूक्षान्ताः स्पर्शा दृश्याः, ‘सेसं तहेवं’ति शेषं—मणित्तावशेषं तथैव यथा नारकाणां तथा पृथिवी-
कायिकानामपि, तच्चेदम्—‘जाई भंते ! लुक्खाई आहारोति ताई किं पुद्दाई अपुद्दाई ? जइ पुद्दाई किं ओशादाई अणोगादाई?’ इत्यादि ।

‘नाणत्तं’ति नानात्वं भेदः पुनः पृथिवीकायिकानां नारकापेक्षयाऽऽहारं प्रतीदं यथा ‘कइभाग’मित्यादि तत्र ‘फासाई’ति स्पर्शं कुर्वन्ति
स्पर्शयन्ति—स्पर्शनेन्द्रियेणाहारपुद्गलानां कतिभागं स्पृशन्तीत्यर्थः अथवा स्पृशेनास्वादयन्ति प्राकृतशैल्या फासायति, स्पर्शनं वाऽऽददति—गृह्णन्ति
उपलभन्त इति फासाईति । इदमुक्तं भवति—यथा रसनेन्द्रियपर्याप्तपर्याप्तिका रसनेन्द्रियद्वारेणाहारमुपभुञ्जाना आस्वादयन्तीति व्यपदिश्यन्ते एवमेते
स्पर्शनेन्द्रियद्वारेणेति ।

‘सेसं जहा नेरइयाणं’ति तच्चैत्रम्—‘पुढविकाइयाणं भंते ! पुच्चाहारिया पोग्गला परिणया’इत्यादि प्राग्बच्च व्याख्येयमिति ।

१. इदं च छ. एवं च.

२. पुहत्तस्स क. ख. ग. घ. च.

३. ग्रह ख. ग. च. छ.

एवं 'जाव वणस्सइकाइयाणं' अनेन पृथिवीकायिकसूत्रमिवाप्यायिकादिसूत्राणि समानीत्युक्तं। स्थितौ पुनर्विशेषोऽत एवाह—नवरं 'ठिई वण्ण्येयव्वा जा जस्स'ति तत्र जघन्या सर्वेषामन्तर्मुहूर्तकम् उक्तृथा त्वपां सप्त वर्षसहस्राणि तेजसामहोरात्रत्रयं, वायूनां त्रीणि वर्षसहस्राणि, वनस्पतीनां दशति, उक्ता चेयं पृथिव्यादिक्रमेण—

“बावीसाई सहस्सा सत्त सहस्साई तिन्निऽहोस्ता ।

वाए तिन्निऽहस्सा दसवाससहस्सिया रुक्खे ।।” ति ।

'वेईदियाणं' ठिई भणिऊण ऊसासो वेमायाए'ति वक्तव्य इति शेषः। स्थितिश्च द्वीन्द्रियाणां द्वादश वर्षाणि, द्वीन्द्रियाणामाहारसूत्रे यदुक्तम्—'तथ्य णं जे से आभोगमिच्चित्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारुडे समुप्पज्जइ'ति। तस्यायमर्थः—असंख्यातसामायिक आहारकालो भवति। स चावसर्पिण्यादिरूपोऽप्यस्तीत्यत उच्यते—आन्तर्मुहूर्तकः, तत्रापि विमात्रया अन्तर्मुहूर्ते समवासंख्यातत्वस्यासंख्येयभेदत्वादिति।

'वेईदियाणं' दुविहे आहारे पन्नत्ते, लोमहारे पक्खेवाहारे य'ति, तत्र लोमाहारः खल्वोघतो वर्षादिषु षः पुद्गलप्रवेशः स सूत्राद् गम्यत इति। प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः तत्र प्रक्षेपाहारे बहवोऽस्पृष्टा एव शरीरादन्तर्बहिश्च विध्वंसन्ते स्थौल्यसौश्र्याभ्याम्, अत एवाह—'जे पोगले पक्खेवाहाराए गिण्हती' त्यादि।

'अणेगाई च णं भागसहस्साई'ति असंख्येया भागा इत्यर्थः, 'अणासाइज्जमाणाई'ति रसनेन्द्रियतः। 'अफासाइज्जमाणाई'ति स्पर्शनेन्द्रियतः। 'कयरे' इत्यादि यत्पदं तदेव दृश्यं—'कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया व'ति व्यक्तं च 'सब्वत्थेवा पोगेला अणासाइज्जमाणे' त्यादि। येऽनासाघमाणाः केवलं रसनेन्द्रियविषयास्ते स्तोकाः, अस्पृश्यमाणामनन्तभागवर्तिन इत्यर्थः। ये त्वस्पृश्यमाणाः केवलं स्पर्श-विषयास्तेऽनन्तगुणा रसनेन्द्रियविषयेभ्यः सकाशादिति।

'तेईदियचउरिंदियाणं' नाणत्तं ठिईए'ति तद्येदम्—'जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेईदियाणं एग्गुणपन्नसं' राईदियाई चउरिंदियाणं छम्मासा'।

तथाऽऽहारेऽपि नानात्वं, तत्र च 'ते ईदियाणं भंते ! जे पोगले आहारताए गेण्हंति' इत्यत आरभ्य तावत्सूत्रम् वाच्यं वावत् 'अणेगाई च णं भागसहस्साई अणासाइज्जमाणाई' इत्यादि।

इह च द्वीन्द्रियसूत्रापेक्षयाऽनाप्रायमाणानीत्यतिरिक्तमतो नानात्वम्। एवमल्पबहुत्वसूत्रे परिणामसूत्रे च।

चतुरिन्द्रियसूत्रेषु तु परिणामसूत्रे 'चक्खिंदियत्ताए धाणिंदियत्ताए'इत्यधिकमिति नानात्वमिति।

पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे 'ठिई भणिऊणं'ति 'जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाई' ति इत्येतद्रूपां स्थितिं भणित्वा 'उस्सासो'ति उच्छ्वासो विमात्रया वाच्य इति।

तथा तिर्यकपञ्चेन्द्रियाणामाहारार्थं प्रति यदुक्तं—'उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स'ति तदेवकुरुतरकुरुतिर्यक्षु लभ्यते। मनुष्यसूत्रे यदुक्तं—अष्टमभक्तरवेति तदेवकुर्वादिमिथुनकरानाश्रित्य समवसेयमिति।

'वाणमंतराणं'मित्यादि वाणमन्तराणां स्थितौ नानात्वम्, 'अवसेसं'ति स्थितेश्वशेषमायुष्कवर्जमित्यर्थः, प्रागुक्तमाहारादि वस्तु यथा नागकुमाराणां तथा दृश्यम्। व्यन्तराणां नागकुमाराणां च प्रायः समानधर्मत्वात्। तत्र व्यन्तराणां स्थितिर्जघन्येन दशवर्षसहस्राणि। उक्कर्षेण तु पत्योपममिति।

'जोइसियाणंपी'त्यादि ज्योतिष्काणामपि स्थितेश्वशेषं तथैव यथा नागकुमाराणाम्। तत्र ज्योतिष्काणां स्थितेश्वशेषेन पत्योपमाष्टमभागः उक्कर्षेण पत्योपमं वर्षलक्षाधिकमिति। नवरम्, 'उस्सास'ति केवलमुच्छ्वासस्तेषां न नागकुमारसमानः किन्तु वक्ष्यमाणः तथा चाह—'जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्से' त्यादि, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः। तत्र यज्जघन्यं मुहूर्तपृथक्त्वं तद्विना मुहूर्ताः यच्चोक्तं तदद्यै नव वेति। आहारोऽपि विशेषित एव तथा चाह 'आहारो'इत्यादि।

'वेमाणियाणं' ठिई भणियव्वा ओहिय'ति औधिकी—सामान्या, सा च पत्योपमादिका त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता तत्र जघन्या सौधर्ममाश्रित्य उक्तृथा चानुत्तरविमानानीति। उच्छ्वासप्रमाणं तु जघन्यं जघन्यस्थितिकदेवानाश्रित्य इतरत्कृष्टास्थितिकानाश्रित्येत्यर्थः। अत्र गाथा—

“जस्स जइ सागराई ठिई तस्स तत्तिएहिं पक्खेहिं ।

ऊसासो देवाणं वाससहस्सेहिं आहारो ।।” ति ।

तदेतावता ग्रन्थेनोक्ता चतुर्विंशतिदण्डकवक्तव्यता। इयं च केषुचित् सूत्रपुस्तकेषु 'एवं ठिई आहारो' इत्यादिनाऽतिदेशवादयेन दर्शिता सा चेतो विवरणग्रन्थादवसेयेति।★

उक्ता चारकादिधर्मवक्तव्यता। इयं चारम्भपूर्विकेति आरंभिनिरूपणायाह—

१।३३. 'जीवा णं किं आचारंभे'त्यादि। आरंभो—जीवोपघातःउपद्रवणमित्यर्थः सामान्येन वाऽऽश्रवद्वारप्रवृत्तिः।*

तत्र चाल्पानमारभन्ते आत्मना वा स्वयमारभन्ते इत्यात्मारम्भाः। तथा परमारभन्ते परेण वाऽऽरम्भयन्तीति परारम्भाः। तदुभयम्—आत्मपररूपं, तदुभयेन वाऽऽरम्भन्ते इति तदुभयारम्भाः। आत्मपरोभयारम्भवर्जितारम्भनारम्भा इति प्रश्नः। अत्रोत्तरं स्फुटमेव, नवरम्—अस्तिशब्दस्याव्ययत्वेन

१. वण्यई ख. ग. घ.

२. वेदियाणं ख. ग. घ.

३. गिण्हंति क. छ.

४. तेदिय ग.

५. आउणपण्णासं ख. घ. छ एगोप क.

६. पुहत्तस्य च. छ.

★ अंगमुत्ताणि ग्रन्थे—इयं च केषुचित् सूत्रपुस्तकेषु 'एवं ठिई आहारो' इति संकेताकिताः प्रती आश्रित्य संक्षिप्तपाठो गृहीतस्तस्य पादटिप्पणे एषा विस्तृत-वाचना उद्धृतास्ति।

७. चा... ग. घ.

बहुत्वार्थत्वाद् 'अस्ति'विद्यन्ते सन्तीत्यर्थः । अथवाऽस्ति अयं पक्षो, यदुत 'एगइय'त्ति एका एके केचनेत्यर्थः जीवाः । आत्मारम्भा अपीत्यादा-
वपिशब्द उत्तरपदापेक्षया समुच्चये, स चात्मारम्भत्वादिधर्माणामेकाश्रयताप्रतिपादनार्थः भिन्नाश्रयताप्रतिपादनार्थो वा ।

एकाश्रयत्वं च कालभेदेनावगन्तव्यं, तथाहि—कदाचित्पारारंभाः कदाचित्पारारंभाः कदाचित्तदुभयारंभाः, अत एव नो अनारम्भाः । भिन्नाश्रयत्वं
त्वेवम्—एके जीवा असंयता इत्यर्थः आत्मारम्भा वा परारम्भा वेत्यादि ।

अथैकस्वभावत्वाज्जीवानां भेदमसंभावयन्नाह—

१।३४. 'से केणट्टेण'ति अथ केन कारणेनेत्यर्थः, 'दुविहा पन्नत्'त्ति मयाऽन्यैश्च केवलिभिः । अनेन समस्तसर्वविदां मताभेदमाह, मतभेदे तु विरोधिवचनतया
तेषामसत्यवचनतापत्तिः, पाटलीपुत्रस्वरूपाभिधायकविरुद्धवचनपुरुषकदम्बकवदिति ।

प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्, संयतत्वात्प्रमादपरत्वाच्च इत्यत आह—'सुभं जोगं पडुच्च'त्ति शुभयोगः—उपयुक्ततया
प्रत्युपेक्षणादिकरणम्, अशुभयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततया, आहच—

“पुढवी आउकाए तेऊवाऊवणस्सहतसाणं ।

पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि विराहओ होइ ।।”

तथा—

“सव्यो पमत्तजोगो समणस्स उ होइ आरंभो ।।” ति ।

अतः शुभाशुभौ योगावात्मा(ना)रम्भादिकारणमिति ।

'अविरइं पडुच्च'त्ति, इहायं भावः—यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्ति तथाऽप्यविरतिं प्रतीत्य तदस्ति तेषाम् । न
हि ते ततो निवृत्ताः, अतोऽसंयतानामविरतिस्तत्र कारणमिति । निवृत्तानां तु कथंचिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्भकत्वं, यदाह्य

“जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।

सा होइ निज्जफला अज्झत्वविसोहिजुत्तस्स ।।”ति ।

'से तेणट्टेण'ति अथ तेन कारणेनेत्यर्थः ।

अथात्मारम्भकत्वादित्वमेव नारकादित्तुर्विशतिदण्डकैर्निरूपयन्नाह—

१।३५. 'नेरइयाण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरं, 'मणुस्से'त्यादौ अयमर्थः—मनुष्येषु संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तभेदाः पूर्वोक्ताः सन्ति ततस्ते यथा
जीवास्तथाऽध्येतव्याः । किन्तु संसारसमापन्नाः इतरे च ते न वाच्याः भववर्तित्यादेव तेषामिति । एतदेवाह 'सिद्धविरहिण' इत्यादि । व्यन्तरादयो
यथा नारकास्तथाऽध्येयाः, असंयतत्वसाधर्म्यादिति ।

आत्मारम्भकत्वादिभिर्धर्मैर्जीवा निरूपिताः ते च सलेश्या अलेश्याश्च भवन्तीति सलेश्यांस्तांस्तैरेव निरूपयन्नाह—

१।३६. 'सलेसा जह्ण ओहिय'त्ति । लेश्या—कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो, यदाह—

“कृष्णादिद्रव्यसाविव्यात् परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्यैव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ।।”

तत्र 'सलेश्याः' लेश्यावन्तो जीवाः 'जहा ओहिय'त्ति यथा नारकादिविशेषणवर्जिता जीवा अधीताः,—'जीवा णं भंते ! किं आयारंभा परारंभे'
त्यादिना दण्डकेन तथा सलेश्या जीवा अपि वाच्याः । सलेश्यानामसंसारसमापन्नत्वस्यासम्भवेन संसारसमापन्नेत्यादिविशेषणवर्जितानां शेषाणां
संयतादिविशेषणानां तेष्वपि युज्यमानत्वात् ।

तत्र चायं षाठ्ठकमः—'सलेसा णं भंते ! जीवा किं आयारंभे'त्यादि तदेव सर्वं, नवरं—जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यमिति, अयमेको दण्डकः,
कृष्णादिलेश्याभेदात्तदन्ये षट्, तदेवमेते सप्त ।

तत्र 'कण्हलेस्से' त्यादि, कृष्णलेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोतलेश्यस्य च जीवराशेर्दण्डको यथा औधिकजीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्यः—प्रमत्ता-
प्रमत्ताविविशेषणवर्जः, कृष्णादिषु हि अप्रशस्तभावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति, यच्चोच्यते—'पुव्वपडिवण्णओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए' ति, तद्द्रव्यलेश्यां
प्रतीत्येति मन्तव्यं, ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावः । तत्र सूत्रोच्चारणमेवम्—'कण्हलेसाणं भंते ! जीवा किं आयारंभा परारंभा तदुभयारंभा अणारंभा ?
गोयमा ! आयारंभावि जाव नो अणारंभा । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! अविरइं पडुच्च ।' एवं नीलकापोतलेश्यादण्डकावपीति ;
तथा तेजोलेश्यादेर्जीवराशेर्दण्डकाः यथा औधिका जीवास्तथा वाच्याः ।

नवरं तेषु सिद्धा न वाच्याः, सिद्धानामलेश्यत्वात्, तच्चैवम्—'तेउलेस्साणं भंते ! जीवा किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?
गोयमा ! अलेश्यइया आयारंभावि जाव नो अणारंभा, अलेश्यइया नो आयारंभा जाव अणारंभा । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा !
दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता, तंजहा—संजया य असंजया ये'त्यादि । ।

भवहेतुभूतमारम्भं निरूप्य भवाभावहेतुभूतं ज्ञानादिधर्मकदम्बकं निरूपयन्नाह—

१।३६. 'इहभविण'इत्यादि व्यक्तं, नवरम्—इह भवे—वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते न तु भवान्तरे तदैहभविकं । काकुपाटाद्येह प्रश्नताऽवसेया, तेन

किमैहभक्तिकं ज्ञानमुत 'परमविष्टि' (ग्रन्थग्रन्थ १०००)परभवे—वर्तमानानन्तरभावित्यनुगामितया यद्वर्तते तत्पारभक्तिकम् । आहोश्चित्तु 'तदुभयभक्ति' तदुभयरूपयोः—इहपरलक्षणयोर्भवयोर्दनुगामितया वर्तते तत्तदुभयभक्तिकम् । इदं चैवं न पारभक्तिकाद्भिद्यत इति परतरभवेऽपि यदनुयाति तद्ग्राह्यम्, इहभवत्यतिरिक्तत्वेन परतरभवस्यापि परभवत्वात् । हरदत्तानिर्देशश्चेह सर्वत्र प्राकृतत्वादिति प्रश्नः निर्वचनमापि सुगमं । नवरम् 'इहभक्ति' ऐहभक्तिकं यदिहाधीतं नानन्तरभवेऽनुयाति, पारभक्तिकं यदनन्तरभवेऽनुयाति, तदुभयभक्तिकं तु यदिहाधीतं परभवे परतरभवे चानुवर्तते इति ।

१।४०. 'दसणपि एवमेव'त्ति, दर्शनमिह सम्यक्त्वमवसेयं, मोक्षमार्गाधिकारात्, यदाह—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः।” यत्र तु ज्ञानदर्शनयोरेव ग्रहणं स्यात्तत्र दर्शनं सामान्यावबोधरूपमवसेयमिति । 'एवमेवे'ति ज्ञानवत् प्रश्ननिर्वचनाभ्यां समवसेयम् ।

१।४१. चारित्रसूत्रे निर्वचने विशेषः, तथाहि—चारित्रमैहभक्तिकमेव । न हि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्रो भवति, यावज्जीवताऽवधिकत्वात्तस्य । किञ्च चारित्रिणः संसारे सर्वविरतस्य देशविरतस्य च देवेष्वेकोत्यादात् तत्र च विस्तेरत्यन्तमभावात् मोक्षगतावपि चारित्रसंभवाभावात् । चारित्रं हि कर्मक्षपणायानुष्ठीयते मोक्षे च तस्याकिञ्चित्करत्वात् यावज्जीवमिति प्रतिज्ञारामाप्तेः तदन्वयश्चाग्रहणाद्, अनुष्ठानरूपत्वात् चारित्रस्य शरीराभावे च तदयोगात्, अत एवोच्यते 'सिद्धे नोचरिती नोअचरिती' 'नोअचरिती'ति चारित्रेणभावदिति । अनन्तरं चारित्रमुक्तं, तच्च द्विधा तपःसंयमभेदादिति, तयोर्निरूपणायतिदेशमाह—

१।४२,४३. 'एवं तवे संजमे'त्ति प्रश्ननिर्वचनाभ्यां चारित्रवत्तपःसंयमौ वाच्यौ, चारित्ररूपत्वात्तयोर्दिति ।

ननु सत्यपि ज्ञानादेर्माक्षहेतुत्वे दर्शने एव यतितव्यं, तस्यैव मोक्षहेतुत्वात्, यदाह—

“भट्टेण चरिताओ सुदुपरं दंसणं गहेयवं ।

सिञ्चंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिञ्चंति ॥”

इति यो मन्यते^१ तं शिक्षयितुं प्रश्नयत्राह—

१।४४. 'असंवृडे ण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरम् 'असंवृडे ण'ति 'असंवृतः' अनिरुद्धाश्रवद्वारः 'अणगारे'त्ति अविद्यमानगृहः, साधुरित्यर्थः । 'सिञ्चइ'त्ति 'सिञ्चति' अयासचरमभवतया सिद्धिगमनयोग्यो भवति । 'बुद्धइ'त्ति स एव यदा समुपपन्नकेवलज्ञानतया स्वपरपर्यायोपेताः श्रद्धालान् जीवादिपदार्थान् जानाति तदा बुध्यत इति व्यपदिश्यते । 'मुच्चइ'त्ति स एव संजातकेवलबोधो भवोपग्राहिकमर्माभिः प्रतिगमयं विमुच्यमानो मुच्यत इत्युच्यते । 'परिनिव्वाइ'त्ति स एव तेषां कर्मपुद्गलानामनुसमयं यथा यथा क्षयमाप्नोति तथा तथा शान्तीभवन् परिनिवर्ततेति प्राच्यते । 'सत्त्वदुक्खाणमंतं करेइ'त्ति स एव चरमभवायुषोऽन्तिमसमये क्षपिताशेषकर्मांशः सर्वदुःखानामन्तं करोतीति भण्यते इति प्रश्नः । उत्तरं तु कण्ठयं, नवरं 'नो इण्ठे समट्टे'त्ति 'नो' नैव 'इण्ठे'त्ति 'अयम्' अनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षः 'अर्थः' भावः 'समर्थः' बलवान्, बन्धगाणदूषणमुद्र-प्रहारजर्जरितत्वात् ।

१।४५. 'आउयवज्जाओ'त्ति यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवान्तर्मुहूर्त्तमात्रकाले एवायुषो बन्धस्तत उक्तमायुर्वज्जा इति । 'सिद्धिलवंधणवद्वज्जाओ'त्ति श्लथवन्धनं—स्पृष्टता वा बद्धता वा निधत्ता वा, तेन वद्धाः—आत्मप्रदेशेषु संबन्धिताः पूर्ववस्थायामशुभतरपरिणामस्य कर्थाञ्चदभावादिति शिथिलबन्धनबद्धाः, एताश्च शुभा एव द्रष्टव्याः । असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात्, ताः किमित्याह—'धणिववंधणवद्वज्जाओ पकरे'त्ति गाढतर बन्धना बद्धावस्था वा निधत्तावस्था वा निकाचिता वा 'प्रकरोति' । प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वात्कर्तुंगारभते, असंवृतत्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिवन्धहेतुत्वात्, आह च—

“जोगा पयडिपएसं'त्ति ।

पौनःपुन्यभावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोत्येवेति ।

तथा हरस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति । तत्र स्थितिः—उपात्तस्य कर्मणोऽवस्थानं तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः । असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात्, आह च—

“ठिइमणुभागं कसायओ कुणइ'त्ति ।

तथा 'मंदाणुभावे'त्यादि, इहानुभावो विपाको रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मन्दानुभावाः—परिपेलवरसाः सतीः गाढरसाः प्रकरोति । असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वादेव अनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति ।

'अप्पपएसे'त्यादि, अल्पं—स्तोकं प्रदेशाग्रं—कर्मदलिकपरिमाणं^२ यारां ताः तथा ता बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति । प्रदेशबन्धरथापि योगप्रत्ययत्वाद्, असंवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति ।

'आउयं चे'त्यादि, आयुः पुनः कर्म स्यात्—कदाविद्धन्नाति, स्यात् न बध्नाति । यस्मात्त्रिभागाद्यवशेषावुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिरतदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति ।

तथा 'असाए'त्यादि असातवेदनीयं च—दुःखवेदनीयं कर्म पुनः 'भूयो भूयः' पुनः पुनः 'उपविनोति' उपचितं करोति । ननु कर्मसात्कान्तवर्ति-त्वादसातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेश्च एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमेतद्ग्रहणं ? अत्रोच्यते—असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीति प्रतिपत्तयेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्युद्धमिति ।

१. नोचरिती नोअचरिती क. घ.

२. मन्यते ख. ग. छ.

३. प्रमाणं ख. घ.

४. अन्यदा तु ख.

‘अण्वाइयं’ति अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा—अविद्यमानस्वजनम् ऋणं—वाऽतीतम् ऋणजन्यदुःस्थताऽतिक्रान्तं दुःस्थतानिमित्ततयेति ऋणातीतम्, अणं वाऽणकं—पापमतिशयेनेतं—गतमणातीतम् । ‘अणवयम्’ति, ‘अवयगं’ति देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततत्रिषेधाद् अणवयम्, अनन्तमित्यर्थः । अथवाऽवनतम्—आसन्नमग्रम्—अन्तो यस्य तत्तथा तन्निषेधाद् अनवनताग्रम् । एतदेव वर्णनाशादवनताग्रमिति । अथवाऽनवगतम् —अपरिच्छिन्नमग्रं—परिमाणं यस्य तत्तथा ।

अत एव ‘दीर्घमद्धं’ति ‘दीर्घाद्धं’ दीर्घकालं, ‘दीर्घाद्धं वा’ दीर्घमार्गं । ‘चाउरंतं’ति चतुरन्तं—देवादिगतिभेदात्, पूर्वादिदिग्भेदाच्च चतुर्विभागं तदेव स्वार्थिकाणप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं । ‘संसारकंतारं’ति भवारण्यम् ‘अणुपरियट्टइ’ति पुनः पुनर्भ्रमतीति ।

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यत्स्यात्तदाह—

१।४६. ‘संवुडे ण’मित्यादि, व्यक्तं, नवरं संवृतः अनगारः प्रमत्ताप्रमत्तसंयतादि, स च चरमशरीरः स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरमशरीरस्तदपेक्षयेदं सूत्रं, यस्त्वचरमशरीरस्तदपेक्षया परम्परया सूत्रार्थोऽवसेयः ।

ननु पारम्पर्येणासंवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थरदावश्यम्भावो, यतः शुक्लपाशिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंभावी । तदेवं संवृतासंवृतयोः फलतो भेदाभाव एवेति? अत्रोच्यते—सत्यं, किन्तु यत्संवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः सहाय्यभ्रमप्रमाणं । यतो वक्ष्यति—‘जहन्नियं चरित्तराहणं आराहिता सत्तद्भुवगमहर्षेहिं सिञ्जइ’ति । यद्वासंवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतोऽपार्हर्षुद्रलपरायत्तमानमपि स्याद्, विराधनाफलत्वात्तस्येति । ‘वीडवयइ’ति व्यतिव्रजति व्यतिक्रामतीत्यर्थः ।

अनगारः संवृतत्वात्सिध्यतीत्युक्तं, यस्तु तदन्यः स विशिष्टगुणविकलः सन् किं देवः स्यात् वा ? इति प्रश्नयन्नाह—

१।४८. ‘जीवे ण’मित्यादि, व्यक्तम्, नवरम् ‘असंजए’ति असाधुः संयमरहितो वा । ‘अविरए’ति प्राणातिपातादिविरतिरहितः विशेषेण वा तपसि रतो यो न भवति सोऽविरतः । ‘अप्पाडिहए’त्यादि, प्रतिहतं—निराकृतमतीतकालकृतं निन्दादिकरणेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म—प्राणातिपातादि येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा तन्निषेधादप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, अनेनातीतानागतपापकर्मानिषेध उक्तः । असंयतोऽविरतश्चेत्यनेन वर्तमानपापासंवरणमभिहितम् ।

अथवा ‘न’ नैव ‘प्रतिहतं’ तपोविधानेन मरणकालाद् आरात्पितं प्रत्याख्यातं च मरणकालेऽप्याश्रवनिरोधेन पापकर्म येन स तथा ।

अथवा ‘न’ नैव प्रतिहतं सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तितः प्रत्याख्यातं च सर्वविरत्यङ्गीकरणतः पापकर्म—ज्ञानाचरणायशुभं कर्म येन स तथा ।

‘इओ’ति इतः प्रज्ञापकप्रत्यक्षात्तिर्यग्भवान्मनुष्यभवाद्वा च्युतो—मृतः ‘पेच्च’ ति जन्मान्तरे देवः स्यात् ? इति प्रश्नः ।

१।४९. ‘जे इमे जीवे’ति ये इमे प्रत्यक्षासन्नाः पंचेन्द्रियतिर्यज्ज्वो मनुष्या वा ‘गामे’ त्यादि ग्रामादिष्वधिकरणभूतेषु । तत्र ग्रामो—जनपदप्रायजनान्श्रितः स्थानविशेषः, आकरो—स्तोहाद्युत्पत्तिस्थानम्, नकरं—कररहितं, निगमो—वणिगुजनप्रधानं स्थानं, राजधानी—यत्र राजा स्वयं वसति, खेटे—भूमिप्राकारं, कर्वटं—कुनगरं, मडम्बं—सर्वतो दूर्वर्ति सन्निवेशान्तरं, द्रोणमुखं—जलपथस्थलपथोपेतं, पत्तनं—विविधदेशागतपण्यस्थानं, तद्य द्विधा—जलपत्तनं स्थलपत्तनं चेति रत्नभूमिरित्यन्ये, आश्रमं—तापसादिस्थानं, सन्निवेशो—शोषादिः, एषां द्वन्द्वस्ततस्तेषु । अथवा ग्रामादयो ये सन्निवेशास्ते तथा तेषु ।

‘अकामतण्हाए’ति अकामानां—निर्जराधनभिलाषिणां सतां तृष्णा—तृड् अकामतृष्णा तथा, एवमकामक्षुधा ।

‘अकामबंभवेरवासेण’ति अकामानां—निर्जराधनभिलाषिणां सताम् अकामो वा—निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण—स्त्रादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो—रात्रौ शयनमकामब्रह्मचर्यवासोऽतस्तेन ।

‘अकामअण्हाणसैयजल्लमलवंकपरिदाहेण’ति अकामा येऽस्मानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा तेन, तत्र स्वेदः—प्रस्वेदः याति च लभति चेति, जल्लो—रजोमात्रं, मलः—कटिनीभूतं रज एव, पड्डो—मल एव स्वेदेनार्त्रीभूत इति । ‘अप्यतरो वा भुञ्जतरो वा काल’ति प्राकृतत्वेन विभक्तिविपरिणामादल्पतरं वा भूयस्तरं वा बहुतरं कालं यावत्, वाशब्दो देवत्वं प्रत्यल्पेतरकालयोः समताऽभिधानार्थी, केवलं देवत्वे सामान्यतः सत्यपि अल्पतरकालमकामनिर्जरावतामविशिष्टं तस्यैव इतरेषां तु विशिष्टमिति, ‘अप्याणं परिकिलेसंति’ति विवाधयन्ति ।

‘कालमासे’ति कालो—मरणं, तस्य मासः—प्रक्रमादवसरः कालमासस्तत्र ‘काल किच्च’ति भूत्वा ‘वाणमंतरेसु’ति वनान्तरेषु—वर्माविशेषेषु भवा वर्षाणमकरणाद् वानमन्तराः, अन्ये त्वाहुः—वनेषु भवा वानास्ते च ते व्यन्तराश्चेति वानव्यन्तरास्तेषामेते वानमन्तरा वानव्यन्तरा वाऽतस्तेषु ‘देवलोकेषु’ देवाश्रयेषु ‘देवताए उववत्तारो भवन्ति’ति ये इमे इत्यत्र यच्छब्दोपादानात्ते देवतयोपपत्तारो भवन्तीति द्रष्टव्यम् ।

१।५०. ‘तेरिं’ति ये देवलोकेष्वकामनिर्जरावन्तो देवतयोत्पद्यन्ते तेषामिति ‘से जहानामए’ ‘से’ ति अथ यथा येन प्रकारेण नामेति संभावेन दावयालंकारे वा ‘ए’ इत्यामन्त्रणार्थोऽलंकारार्थ एव वा ‘इहं’ ति इह मर्त्यलोके ‘असोगवणे इव’ति अशोकवनम्, इतिशब्द उपप्रदर्शने, अनुरवारलोपः संधिश्च प्राकृतत्वात् । ‘वा’ इति विकल्पार्थः । अथवा ‘असोगवणे’ इत्यत्र प्रथमैकवचनकृत एकारः । शब्दस्तु वाक्यालङ्कारे । अशोकादयस्तु प्रसिद्धा एव । नवरं ‘सत्तवन्न’ति सप्तपर्णः सप्तच्छद इत्यर्थः । ‘कुसुमिय’ति संजातकुसुमं ‘माइवं’ति मयूरितं संजातपुष्पाविशेषमित्यर्थः, ‘तवइय’ति लवकितं संजातपल्लवत्वमंकरवदित्यर्थः, ‘श्वइय’ति स्तवकितं संजातपुष्पस्तवकमित्यर्थः ‘गुलुइय’ ति संजातगुल्मकं, गुल्मं च लतासमूहः ‘गुच्छिय’ति संजातगुच्छं, गुच्छश्च पत्रसमूहः, यद्यपि च स्तवकगुच्छयोरविशेषो नामकोऽधीतस्तथाऽपीह पुष्पपत्रकृतौ विशेषो भावनीयः, ‘जमलिय’ति यमलतया—समश्रेणितया तत्तरूणां व्यवस्थितत्वान् संजातयमलत्वेन यमलितं, ‘जुवलिय’ति युगलतया तत्तरूणां संजातत्वेन युगलितं, ‘विणमिय’ति विशेषेण पुष्पफलभरेण नमितमिति कृत्वा विनिमित्तं, ‘पणमिय’ ति तैव नमयिनुमारव्यात्वान् प्रणमितं प्रशब्दस्यादिकर्मात्त्वादिति,

तथा 'सुविभक्ताः अतिविभक्ताः सुनिष्पन्नतया पिण्ड्यो-सुम्ब्यो मञ्जर्यश्च प्रतीतास्ता एवावतंसका-शेखरकास्तान् धारयति यत्तत्सुविभक्तपिण्डीमञ्जर्यवतंसकधरं, ततः कुसुमितादीनां कर्मधारय इति ।

'सिरीए'ति श्रिया—चनलक्ष्या 'उवसोभमाणे उवसोभमाणे'ति इह द्विर्वचनमाभीक्ष्ये भृशत्वे इत्यर्थः ।

'आइन्न'ति क्वचित्प्रदेशे देवानां देवीनां च वृन्दैराल्मीयात्मीयावाऽऽसमर्यादानुल्लंघनेन व्याप्ताः आइ शब्दोऽत्र मर्यादावृत्तिः । तथा क्वचित् 'विइइन्न'ति तैरेव वृन्दैर्निजावाससीमोल्लंघनेन व्याप्ताः विशब्दो विशेषवाची । 'उवःशड'ति उपस्तीर्णाः उपशब्दः सामीप्यार्थः स्तृञ् च आच्छादनार्थस्ततश्चोत्पत्तद्भिर्निपत्तद्भिश्चानवरतक्रीडासकैरुपर्युपरि च्छादिताः । 'संधड'ति संस्तीर्णाः संशब्दः परस्परसंश्लेषार्थः ततश्च क्वचित्तैरेवा-क्रीडमानैरन्योऽन्यस्पर्द्धया समन्ततश्चरद्भिराच्छादिता इति । 'फुड'ति 'स्पृष्टाः' आसनशयनरमणपरिभोगद्वारेण परिभुक्ताः, स्फुटा वा प्रकाशा व्यन्तरसुरनिकरकिरणविसरनिरकृतान्धकारतया । 'अवगाढगाढ'ति गाढघबाढमवगाढास्तैरेव सकलक्रीडास्थान परिभोगनिहितमनोभिरधोऽपि व्याप्ताः । गाढावगाढा इति वाच्ये प्राकृतत्वादयगाढगाढाः ।

इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तदयोग्यः सामर्थ्यादवसीयत एवेति । 'अत्येगइए नो देवे सिया' इत्येतस्यादावुक्तस्य पक्षस्य निर्वचनं कृतं द्रष्टव्यमिति ।

अथोद्देशकनिगमनार्थमाह—

- १।५१. 'सेवं भंते सेवं भंते'ति यन्मया पृष्टं तत् भगवद्भिः प्रतिपादितं तत एवमित्यमेव भदन्त ! नान्यथा, अनेन भगवद्बचने बहुनानं दर्शयति । द्विर्वचनं चेह भक्तिसंभ्रमकृतमिति । एवं कृत्वा भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति चेति ।

॥ प्रथमशते प्रथमोद्देशकविवरणं समाप्तमिति ॥

द्वितीय उद्देशकः

व्याख्यातः प्रथमोद्देशकः । अथ द्वितीय आरभ्यते अस्य वैवं सम्बन्धः—प्रथमोद्देशके चलनादिधर्मकं कर्म कथितं तदेवेह निरूप्यते । तथोद्देशकार्थसंग्रहिण्यां 'दुक्खे'ति यदुक्तं तदिहोच्यते, तद्व्यस्तावनार्थं च पूर्वोक्तमेव ग्रन्थं स्मरयन्नाह—

- १।५२. 'सयगिहे'इत्यादि पूर्ववत् ।
- १।५३. 'जीवे ण'मित्यादि तत्र 'सयंकडं दुक्खं'ति यत्परकृतं तत्र वेदयतीति प्रतीतमेवातः स्वयंकृतमिति पृच्छति स्म । 'दुक्खं' ति सांसारिकं सुखमपि वस्तुतो दुःखमिति दुःखहेतुत्वात् दुःखं कर्म वेदयतीति काकुपाठात् प्रश्नः । निर्वचनं तु यदुदीर्णं तद् वेदयति । अनुदीर्णस्य हि कर्मणो वेदनमेव नास्ति, तस्मादुदीर्णं वेदयति नानुदीर्णम् । न च बन्धानन्तरमेवोदेति अतोऽवश्यं वेदयत्येकं वेदयत्येकं न वेदयति इत्येवं व्यपदिश्यते । अवश्यं वेद्यमेव च कर्म 'कडण कम्माण ण मोक्खो अत्थि' इति वचनादिति ।
- १।५४. 'एवं जाव वेमाणिए' इत्यनेन चतुर्विंशतिदण्डकः सूचितः, स चैवम्—'नेरइए णं भंते ! सयंकडं'मित्यादि । एवमेकत्वेन दण्डकः, तथा बहुत्वेनान्यः स चैवम्—
- १।५६. 'जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेती'त्यादि तथा 'नेरइयाणं भंते ! सयंकडं दुक्खं'मित्यादि नन्वेकत्वे योऽर्थो बहुत्वेऽपि स एवेति किं बहुत्वप्रश्ने न ? इति, अत्रोच्यते, क्वचिद्वस्तुनि एकत्वबहुत्वयोरर्थविशेषो दृष्टो तथा सम्यक्त्वादेः एकं जीवमाश्रित्य षट्षष्टिसागरोपमाणि साधिकानि स्थितिकाल उक्तो, नानाजीवानाश्रित्य पुनः सर्वाद्वा इति । एवमत्रापि संभवेदिति शंकायां बहुत्वप्रश्ने न दुष्टः अत्यन्ताऽव्युत्पन्नमतिशिष्यव्युत्पादनार्थत्वाद्देति ।

अथायुःप्रधानत्वात्प्रारकादिव्यपदेशस्यायुराश्रित्य दण्डकद्वयम्—

- १।५६. 'जीवे ण'मित्यादि एतस्य चेयं वृद्धोक्तभावना—यदा सप्तमक्षितावायुर्बद्धं पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीयधरणीप्रायोग्यं निर्वर्तितं वासुदेवेनेव तत्तादृशमंगीकृत्योच्यते—पूर्वबद्धं कश्चिन्न वेदयति अनुदीर्णत्वात्तस्य । यदा पुनर्वत्रैव बद्धं तत्रैवोपपद्यते तदा वेदयतीत्युच्यते, तथैव तस्योदितत्वादिति ।

अथ चतुर्विंशतिदण्डकमाहारादिभिर्निरूपयन्नाह—

- १।६०. 'नेरइए'इत्यादि, व्यक्तं, नवरं ।
- १।६१. 'महासरीरा य अप्पसरीरा ये'त्यादि, इहाल्पत्वं महत्त्वं चापेक्षिकम् । तत्र जघन्यम्—अल्पत्वमंगुलासंख्येयभागमात्रत्वम्, उक्तं तु महत्त्वं पञ्चधनुःशतमानत्वम् । एतच्च भवधारणीयशरीरापेक्षया । उत्तरवैक्रियापेक्षया तु जघन्यमंगुलमसंख्यातभागमात्रत्वम्, इतरत्तु धनुःसहस्रमानत्वमिति । एतेन च किं समशरीरा इत्यत्र प्रश्ने उत्तरमुक्तम् । शरीरविषमताऽभिधाने सत्याहारोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुखप्रतिपाद्यं भवतीति शरीरप्रश्नस्य द्वितीयस्थानोक्तस्यापि प्रथमं निर्वचनमुक्तम् ।

अथाहारोच्छ्वासप्रश्नयोर्निर्वचनमाह—'तस्य ण'मित्यादि, ये यतो महाशरीरास्ते तदपेक्षया बहुतान् पुद्गलान् आहारयन्ति, महाशरीरत्वादेव । दृश्यते हि लोके बृहच्छरीरो बह्नाशी स्वल्पशरीरश्चाल्पभोजी, हस्तिशकवत् । बाहुल्यापेक्षं चेदमुच्यते, अन्यथा बृहच्छरीरोऽपि कश्चिदल्पमश्नाति अल्पशरीरोऽपि कश्चिद् भूरि भुंक्ते, तथाविधमनुष्यवत् । न पुनरेवमिह बाहुल्यपक्षस्वैवाश्रयणात् ।

ते च नारका उपपातादिसद्देधानुभवादन्यत्रासद्देवोदयवर्तित्वेनैकान्तेन यथा महाशरीरं दुःखितास्तीव्राहाराभिलाषाश्च भवन्तीति ।

‘बहुतराए पोग्गले परिणामेति’ति आहारपुद्गलानुसारित्वात्परिणामस्य बहुतरानित्युक्तं, परिणामश्चापृष्टोऽप्याहारकार्यभित्कृत्वोक्तः । तथा ‘बहुतराए पोग्गले उस्ससंति’ति उच्छ्वासतया गृह्णन्ति, ‘निस्ससंति’ति निःश्वासतया विमुञ्चन्ति, महाशरीरत्वादेव । दृश्यते हि बृहच्छरीर-स्तज्जातोयेतरापेक्षया बहूच्छ्वासनिःश्वास इति । दुःखितोऽपि तथैव, दुःखिताश्च नारका इति बहुतरास्तानुच्छ्वासन्तीति ।

तथाऽऽहारस्यैव कालकृतं वैषम्यमाह—‘अभिकखणं आहारैति’ति अभीक्षणं—पौनःपुन्येन यो यतो महाशरीरः स तदपेक्षया शीघ्रशीघ्रतराहार-ग्रहण इत्यर्थः । ‘अभिकखणं ऊससंति अभिकखणं नीससंति’ एते हि महाशरीरत्वेन दुःखिततरत्वात् ‘अभीक्षणम्’ अनवरतमुच्छ्वासादि कुर्वन्तीति ।

तथा ‘जेते’इत्यादि ये ते, इह ये इत्येतावतैवार्यसिद्धौ यत्ते इत्युच्यते तद्भाषामात्रमेवेति । ‘अप्पसरीरा अप्पतराए पोग्गले आहारैति’ति ये यतोऽल्पशरीरास्ते तदाहरणीयपुद्गलापेक्षयाल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, अल्पशरीरत्वादेव । ‘आहच्च आहारैति’ति कदाचिदाहारयन्ति कदा-चिन्नाहारयन्ति, महाशरीराहारग्रहणान्तरालापेक्षया, बहुतरकालान्तरालतयेत्यर्थः । ‘आहच्च ऊससंति नीससंति’ति एते ह्यल्पशरीरत्वेनैव महा-शरीरापेक्षयाऽल्पतरदुःखत्वात् आहत्य कदाचित् सान्तरमित्यर्थः उच्छ्वासादि कुर्वन्ति, यच्च नारकाः सन्ततमेवोच्छ्वासादि कुर्वन्तीति प्रागुक्तं तन्महाशरीरापेक्षयेत्यवगन्तव्यमिति ।

अथवाऽपर्याप्तकालेऽल्पशरीराः सन्तो लोमाहारापेक्षया नाहारयन्ति उच्छ्वासाऽपर्याप्तकालेन नोच्छ्वासन्ति, अन्यदा त्याहारयन्ति उच्छ्वासन्ति चेत्यत आहत्याहारयन्ति आहत्योच्छ्वासन्तीत्युक्तं । ‘से तेणद्वेणं गोयमा ! एवं चुच्चइ—नेरइया सव्वे नो समाहारे’त्यादि निगमनमिति ।

समकर्मसूत्रे—

१।६३. ‘पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य’ति पूर्वोत्पन्नाः प्रथमतरमुत्पन्नास्तदन्ये^३ तु पश्चादुत्पन्नाः, तत्र पूर्वोत्पन्नानामायुषस्तदन्यकर्मणां च बहुतरवेदना-दल्पकर्मत्वं, पश्चादुत्पन्नानां च नारकाणामायुष्कादीनामल्पतराणां वेदितत्वात् महाकर्मत्वम् । एतच्च सूत्रं समानस्थितिका ये नारकास्तान्नीकृत्य प्रणीतम् । अन्यथा हि रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितेनारकस्य बहुन्यायुषि क्षयमिते^४ पत्न्योपमावशेषे च तिष्ठति तस्यामेव रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्रस्थिते नारकोऽन्यः कश्चिदुत्पन्न इति कृत्वा प्रागुत्पन्नं पत्न्योपमायुष्कं नारकमपेक्ष्य किं वक्तुं शक्यं महाकर्मैति ?

१।६४. एवं वर्णसूत्रे पूर्वोत्पन्नस्याल्पं कर्म ततस्तस्य विशुद्धो वर्णः, पश्चादुत्पन्नस्य च बहुकर्मत्वादविशुद्धतरो वर्ण इति ।

१।६८. एवं लेश्यासूत्रेऽपि इह च लेश्याशब्देन भावलेश्या ग्राह्याः बाह्यद्रव्यलेश्या तु वर्णद्वारेणैवोक्तेति ।

१।६८, ६९. ‘समवेयण’ति समवेदनाः समानपीडाः ‘सन्निभू’ति संज्ञा—सम्यग्दर्शनं तद्वन्तः संज्ञिनः संज्ञिनो भूताः—संज्ञित्वं गताः संज्ञिभूताः । अथवाऽसंज्ञिनः संज्ञिनो भूताः संज्ञिभूताः च्विप्रत्यययोगात्, मिथ्यादर्शनमपहाय सम्यग्दर्शनजन्यना समुत्पन्ना इति यावत् । तेषां च पूर्व-कृतकर्मविपाकमनुस्मरतामहो महदुःखसंकटमिदमकस्मादस्माकमापतितं, न कृतो भगवदहंत्वापीतः सकलदुःखक्षयकरो विषयविषमविषपरि-भोगविप्रलब्धचेतौभिर्धर्म इत्यतो महददुःखं मानसमुपजायतेऽतो महावेदनास्ते ।

असंज्ञिभूतास्तु मिथ्यादृश्यः, ते तु स्वकृतकर्मफलमिदमित्येवमजानन्तोऽनुपतप्तमानसा अल्पवेदनाः स्युरित्येके । अन्येत्वाहुः—संज्ञिनः—संज्ञिपचेन्द्रियाः सन्तो भूता—नारकत्वंगताः संज्ञिभूताः ते महावेदनाः । तीव्राशुभाध्यवसायेनाशुभतरकर्मबंधनेन महानरकेषूत्पादात् । असंज्ञिभूतास्त्वनुभूतपूर्वासंज्ञिभवाः ते चासंज्ञित्वादेवात्यन्ताशुभाध्यवसायाभावाद् रत्नप्रभायामनतितीव्रवेदनरकेषूत्पादादल्पवेदनाः । अथवा संज्ञिभूताः पर्याप्तकौभूताः असंज्ञिनस्तु अपर्याप्तकाः ते च क्रमेण महावेदना इतरे च भवन्तीति प्रतीयत एवेति ।

१।७०. ‘समकिरिय’ति समाः—तुल्याः क्रियाः—कर्मबंधनिबन्धनभूता^५ आरम्भिक्यादिका येषां ते समक्रियाः ।

१।७१. आरंभिय’ति आरंभः—पृथिव्याद्युपमर्दः, स प्रयोजनं—कारणं यस्याः साऽऽरम्भिकी । ‘पारिगहिय’ति परिग्रहो—धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वी-कारो धर्मोपकरणमूर्च्छा च, स प्रयोजनं यस्याः सा पारिग्रहिकी । ‘मायावत्तिय’ति माया—अनार्जवं उपलक्षणत्वात्क्रोधादिरपि च, सा प्रत्ययः—कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया । ‘अप्पच्चक्खाणकिरिय’ति अप्रत्याख्यानेन निवृत्त्यभावेन क्रिया—कर्मबन्धादिकरणमप्रत्याख्यानक्रियेति । ‘पंच किरियाओ कज्जति’ति क्रियन्ते, कर्मकर्त्तरिप्रयोगोऽयं, तेन भवन्तीत्यर्थः । ‘मिच्छदंसणवत्तिय’ति मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो—हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया ।

ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोधः ? उच्यते—आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहो, योगानां तद्रूपत्वात् । शेषपदैस्तु शेषबन्धहेतुपरिग्रहः प्रतीयत एवेति । तत्र सम्यग्दृष्टीनां चतस्र एव, मिथ्यात्वाभावात् । शेषाणां तु पञ्चापि, सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेनैवैव विवक्षितत्वादिति ।

१।७२, ७३. ‘सव्वे समाउया’ इत्यादेः^६ प्रश्नस्य निर्वचनचतुर्भङ्ग्या भावना क्रियते—

निबद्धदशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपच्चोत्पन्ना इति प्रथमभंगः ।

तेष्वेव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेष्वेके प्रथमतरमुत्पन्ना अपरे तु पश्चादिति द्वितीयः ।

१. महाशरीर ख. घ. च. छ.

२. प्रथमतरसमुत्पन्ना ख. ग. घ. छ.

३. क्षयमुपगते ग.

४. महदुःखं ख. ग.

५. कर्मनिबन्धनभूता क. ख. घ.

६. इत्यादि क. ख.

अन्यैर्विषममायुर्निबद्धं कैश्चिद्दशवर्षसहस्रस्थितिषु कैश्चिच्च पञ्चदशवर्षसहस्रस्थितिषु, उत्पत्तिः पुनर्युगपदिति तृतीयः ।
केचित्सागरोपमस्थितयः केचित्तु दशवर्षसहस्रस्थितयः इत्येवं विषमायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति चतुर्थः ।

इह संग्रहाथा—

“आहाराईसु समा कम्मे वन्ने तहेव लेसाए ।

वियणाए किरियाए आजय उववत्तिचउयंगी ॥”

१।७४. असुरकुमारा णं भंते ! इत्यादिनाऽसुरकुमारप्रकरणमाहारादिपदनवकोपेतं सूचितं । तच्च नारकप्रकरणवन्नेयम्, एतदेवाह—‘जह्वा नेरइया’-
इत्यादि । तत्राहारकसूत्रे नारकसूत्रसमानेऽपि भावना विशेषेण लिख्यते—असुरकुमाराणामल्पशरीरत्वं भवधारणीयशरीरापेक्षया जघन्यतो-
ऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं, महाशरीरत्वं तूत्कर्षतः सप्तहस्तप्रमाणत्वं । उत्तरवैक्रियापेक्षया त्वल्पशरीरत्वं जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं
महाशरीरत्वं तूत्कर्षतो योजनलक्षमानमिति । तत्रैते महाशरीरा बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया । देवानां ह्यसौ
स्यात् प्रधानश्च, प्रधानापेक्षया च शास्त्रे निर्देशो वस्तूनां विधीयते । ततोऽल्पशरीरग्राह्याहारपुद्गलापेक्षया बहुतरान्ते तानाहारयन्तीत्यादि
प्राग्वत् ।

अभीक्ष्णमाहारयन्ति अभीक्ष्णमुच्छ्वसन्ति च इत्यत्र ये चतुर्धादिरुपर्याहारयन्ति स्तोत्रसप्तकादेशोपर्युच्छ्वसन्ति तानाश्रित्याभीक्ष्णमित्युच्यते ।
उत्कर्षतो ये सातिरेकवर्षसहस्रस्योपरि आहारयन्ति सातिरेकपक्षस्य चोपर्युच्छ्वसन्ति तानंगीकृत्य एतेषामल्पकालीनाहारोच्छ्वासत्वेन पुनः
पुनराहारयन्तीत्यादिव्यपदेशविषयत्वादिति । तथाऽल्पशरीरा अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति च अल्पशरीरत्वादेव, यत्पुनस्तेषां
कादाचित्तु कत्वमाहोरोच्छ्वासयोस्तन्महाशरीराहारोच्छ्वासान्तरालापेक्षया बहुतमान्तरालत्वात् । तत्र हि अन्तराले ते नाहारादि कुर्वन्ति तदन्यत्र
कुर्वन्तीत्येवं विवक्षणादिति । महाशरीराणामप्याहारोच्छ्वासयोर्न्तरालमस्ति किन्तु तदल्पमित्यविवक्षणादेवाभीक्ष्णमित्युक्तम् ।

सिद्धं च महाशरीराणां तेषामाहारोच्छ्वासयोरल्पान्तरत्वम्, अल्पशरीराणां तु महान्तरत्वं । यथा सौधर्मदेवानां सप्तहस्तमानतया महाशरीराणां
तयोरन्तरं क्रमेण वर्षसहस्रद्वयं पक्षद्वयं च । अनुत्तरसुराणां च हस्तमानतया अल्पशरीराणां त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रयस्त्रिंशदेव च पक्षा
इति । एषां च महाशरीराणामभीक्ष्णाहारोच्छ्वासाभिधानेनाल्पस्थितिकत्वमवसीयते । इतरेषां तु विपर्ययो वैमानिकवदेवेति । अथवा लोमा-
हारापेक्षयाऽभीक्ष्ण—अनुसमयमाहारयन्ति महाशरीराः पर्याप्तकावस्थायां उच्छ्वासास्तु यथोक्तमानेनापि भवन् परिपूर्णभवापेक्षया पुनः पुन-
रित्युच्यते । अपर्याप्तकावस्थायां त्वल्पशरीरा लोमाहारतो नाहारयन्ति, ओजाहारत एवाहरणात् इति कदाचित् आहारयन्तीत्युच्यते । उच्छ-
वासापर्याप्तकावस्थायां च नोच्छ्वसन्यन्यदा तूच्छ्वसन्तीत्युच्यते आहत्योच्छ्वसन्तीति ।

‘कम्मवन्नलेस्साओ परिवन्नेयव्वाओ’ति कर्मादीनि नारकापेक्षया विपर्ययेण वाच्यानि, तथाहि—नारका ये पूर्वोत्पन्नास्ते-
ऽल्पकर्मकशुद्धतरवर्णशुभतरलेश्या उक्ताः असुरास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्ते महाकर्मणोऽशुद्धवर्णा अशुभतरलेश्याश्चेति, कथम् ? ये हि पूर्वोत्पन्ना
असुरास्तेऽतिकन्दर्पदर्याध्यातचित्तत्वात्प्रारकाननेकप्रकारया यातनया यातन्यतः प्रभूतमशुभं कर्म संचिन्वन्तीत्यतोऽभिधीयन्ते ते महाकर्मणः ।
अथवा ये बद्धायुषस्ते तिर्यगादिप्रायोग्यकर्मप्रकृतिबन्धानामहाकर्मणः तथाऽशुद्धवर्णा अशुभलेश्याश्च ते । पूर्वोत्पन्नां हि क्षीणत्वात् शुभ-
कर्मणः शुभो वर्णो लेश्या च हसतीति । पश्चादुत्पन्नास्त्वबद्धायुषोऽल्पकर्मणो बहुतरकर्मणामबंधनादशुभकर्मणामक्षीणत्वाच्च शुभवर्णादयः
स्युरिति ।

वेदनासूत्रं च^१ यद्यपि नारकाणामिवासुरकुमाराणामपि तथाऽपि तद्भावनायां विशेषः, स चायम्—ये संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः, चारित्र-
विराधनाजन्यचित्तसन्तापात् ! अथवा संज्ञिभूता संज्ञिपूर्वभवाः पर्याप्ता वा ते शुभवेदनामाश्रित्य महावेदना इतरे त्वल्पवेदना इति ।

१।७५. एवं नागकुमारदयोऽपि औचित्येन वाच्याः ।

१।७६. ‘पुढविकाइया णं भंते ! आहारकम्मवन्नलेस्सा जह्वा नेरइयाणं’ति चत्वार्यपि सूत्राणि नारकसूत्राणीव पृथिवीकायिकाभित्तापेनाधीयन्त इत्यर्थः ।
केवलमाहारसूत्रे भावनैवं—पृथिवीकायिकानामङ्गुलासंख्येयभागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पशरीरत्वम् । इतरच्च इत आगमवचनादवसेयम्—‘पुढवि-
काइयस्स ओगाहणइयाए चउट्टाणवडिए’ ति, ते च महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्तीति, उच्छ्वसन्ति च अभीक्ष्णं महा-
शरीरत्वादेव । अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वमल्पशरीरत्वादेव । कादाचित्तु च तयोः पर्याप्तकेतरावस्थापेक्षमवसेयम् ।

तथा कर्मादिसूत्रेषु पूर्वपश्चादुत्पन्नां पृथिवीकायिकानां कर्मवर्णलेश्याविभागो नारकेः सम एव ।

१।७७-८०. ‘वेदनाक्रियोस्तु नानात्वमत एवाह—‘पुढविकाइयाणं भंते ! सव्वे समवेदणे’त्यादि ।

‘असन्नि’ति मिथ्यादृष्टयोऽमनस्का वा ‘असन्निभूय’ति असंज्ञिभूता असंज्ञिनां या जायते तामित्यर्थः । एतदेव व्यनक्ति—‘अणिदाए’ति अनिर्द्धार-
णया वेदनां वेदयन्ति । वेदनामनुभवन्तोऽपि न पूर्वापात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमिति मिथ्यादृष्टित्वादवगच्छन्ति । विमनस्कत्वाच्च मत्तमूर्च्छितादि-
चदिति भावना ।

‘माईमिच्छादिट्ठि’ ति मायावन्तो हि तेषु प्रायेणोत्पद्यन्ते, यदाह—

“उम्मण्णदेसओ मग्गणासओ गूढहियथ माइल्लो ।

सदसीतो य ससल्लो तिरियाउं बंधए जीवो ॥”ति ।

ततस्ते मायिन उच्यन्ते, अथवा मायेहानन्तानुबंधिकषायोपलक्षणम् अतोऽनन्तानुबंधिकषायोदयवन्तोऽत एव मिथ्यादृष्टयो—मिथ्यात्वोदयवृत्तय इति। 'ताणं णियइयाओ'★ति तेषां पृथिवीकायिकानां नैयतिक्यो—नियता न तु त्रिप्रभृतयः, पञ्चैवेत्यर्थः। 'सं तेणट्टेणं समकिरियं'ति निगमनम्।

१।८२. 'जाव चउरिंदिय'ति, इह महाशरीरत्वमितरच्च स्वस्वावगाहनाऽनुसारेणावसेयम्। आहारश्च द्वीन्द्रियादीनां प्रक्षेपलक्षणोऽपीति।

१।८३. 'पंचिदियतिरिक्खजोगिया जहा णेरइय'ति प्रतीतं, नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्ति उच्छ्वसन्ति चेति यदुच्यते तत्संख्यात-वर्षायुषोऽपेक्ष्यत्ववसेयं, तथैव दर्शनात्। नासंख्यातवर्षायुषः तेषां प्रक्षेपाहारस्य षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात्। अल्पशरीराणां त्वाहारोच्छ्वास-योः कदाचित्कत्वं वचनप्रामाण्यादिति। लोमाहारापेक्षया तु सर्वेषामभ्यभीक्ष्णमिति घटत एव। अल्पशरीराणां तु यत्कदाचित्कत्वं तदपर्याप्तत्वे लोमाहारोच्छ्वासयोरभवेन पर्याप्तकत्वे च तद्भावेनावसेयमिति।

तथा कर्मसूत्रे यत्पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वमितरेषां तु महाकर्मत्वं तदायुष्कादितद्भववैद्यकमापेक्षयाऽवसेयम्।

तथा वर्णलेश्यासूत्रयोर्वत्पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्तं तत्तारुण्यात् पश्चादुत्पन्नानां चाशुद्धवर्णादि बाल्यादवसेयं, लोके तथैव दर्शनादिति।

१।८५. तथा 'संजयासंजय'ति देशविरताः स्थूलात् प्राणातिपातादेर्निवृत्तत्वादितरस्मादनिवृत्तत्वाच्चेति।

१।८६. 'मणुस्सा जहा नेरइय'ति तथा वाच्या इति गम्यम्। नानात्वं भेदः पुनरयं—'तत्र मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समाहारगा ?' इत्यादि प्रश्नः, 'नो इण्डे समड्डे' इत्याद्युत्तरम्।

१।८७. 'जाव दुविहा मणुस्सा पत्रत्ता, तंजहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य, तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोय्यले आहारेंते', एवं 'परिणामेंति ऊससंति नीससंति।'।

इह स्थाने नारकसूत्रे 'अभिवृत्तं आहारेंती'त्यधीतम्, इह तु 'आहस्से'त्यधीयते, महाशरीरा हि देवकुर्व्यादिमिथुनकः, ते च कदाचिदेवाहारयन्ति कावलिकाहारेण, 'अद्भुतभतस्स आहारो'ति वचनात्। अल्पशरीरास्त्वभीक्ष्णमल्पं च, बालानां तथैव दर्शनात्, संमूर्च्छिममनुष्णाणामल्प-शरीराणामनवरतमाहारसंभवाच्च।

१।८९. यच्चेह पूर्वोत्पन्नानां शुद्धवर्णादि तत्तारुण्यात् संमूर्च्छिमापेक्षया चेति।^१

१।९७. 'सरागसंजय'ति अक्षीणानुपशान्तकषायाः। 'वीयरागसंजय'ति उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च। 'अकिरिय'ति वीतरागत्वेनारंभादीनाम-भावादक्रियाः। 'एगा मायावत्तिय'ति अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया 'किरिया कज्जइ'ति क्रियते—भवति कदाचिदुद्गारक्षण-प्रवृत्तानामक्षीणकषायत्वादिति। 'आरंभिय'ति प्रमत्तसंयतानां 'सर्वः प्रमत्तयोग आरंभ' इतिकृत्वाऽऽरंभिकी स्यात्, अक्षीणकषायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति।

१।१००. 'वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमार'ति, तत्र शरीरस्याल्पत्वमहत्त्वे^३ स्वावगाहनानुसारेणावसेये। तथा वेदनायामसुरकुमाराः 'सन्निभूया य असन्निभूया य, सन्निभूया महावेयणा असन्निभूया अप्पवेयणा' इत्येवमधीताः। व्यन्तरा अपि तथैवाध्येतव्याः, यतोऽसुरादिषु व्यन्तरान्तेषु देवेषु असंज्ञिन उत्पद्यन्ते, यतोऽत्रैवोद्देशके वक्ष्यति—'असन्नी णं जहत्तेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु'ति, ते चासुरकुमारप्रकरणोक्तयुक्तेरल्पवेदना भवन्तीत्यवसेयम्।

यत्तु प्रागुक्तं संज्ञिनः सम्यग्दृष्टयोऽसंज्ञिनस्त्वितरे इति तद्वृद्ध्याख्यानुसारेणैवेति। ज्योतिष्कवैमानिकेषु त्वसंज्ञिनो नोत्पद्यन्तेऽतो वेदनापदे तेष्वधीयते 'दुविहा जोतिसिया—मायिमिच्छदिड्डी उववन्नगा ये'त्यादि, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदना इतरे च महावेदनाः शुभववेदना-माश्रित्येति। एतदेव दर्शयन्नाह—नवरं 'वेयणा' इत्यादि।

अथ चतुर्विंशतिदण्डकमेव लेश्याभेदविशेषणमाहारादिपदैर्निरूपयन्^३ दण्डकसप्तकमाह—

१।१०१. 'सलेस्साणं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारग'ति अनेनाहारशरीरोच्छ्वासकर्मवर्णलेश्यावेदक्रियोपपाताख्यपूर्वोक्तनवपदोपेतनारकादि-चतुर्विंशतिपददण्डको लेश्यापदविशेषितः सूचितः, तदन्ये च कृष्णलेश्यादिविशेषिताः। पूर्वोक्तनवपदोपेता एव यथासंभवं नारकादिपदात्मकाः षड् दण्डकाः सूचिताः।

तदेवमेतेषां सप्तानां दण्डकानां सूत्रसंक्षेपार्थं यो यथाऽध्येतव्यस्तं तथा दर्शयन्नाह—'ओहियाण'मित्यादि, तत्र औधिकानां पूर्वोक्तानां निर्विशेषणा-नां नारकादीनां तथा सलेश्यानामधिकृतानामेव शुक्ललेश्यानां तु सप्तमदण्डकवाच्यानामेषां त्रयाणामेको गमः—सदृशः पाठः, सलेश्यः शुक्ल-लेश्यश्चेत्येवंविधविशेषणकृत एव तत्र भेदः। औधिकदण्डकसूत्रवदनयोः सूत्रमिति हृदयम्। तथा 'जस्सत्थि' इत्येतस्य वक्ष्यमाणपदस्येह सम्बन्धाद्यस्य शुक्ललेश्याऽस्ति स एव तद्दण्डकेऽध्येतव्यः तेनेह पञ्चेन्द्रियतिर्यज्जो मनुष्या वैमानिकाश्च वाच्याः, नारकादीनां शुक्ललेश्याया अभावादिति।

'किणहलेसनीललेसाणपि एगो' गमो' औधिक एवेत्यर्थः। विशेषमाह—'नवरं वेयणा' इत्यादि, कृष्णलेश्यादण्डके नीललेश्यादण्डके च वेदनासूत्रे 'दुविहा णेरइया पत्रत्ता—सन्निभूया य असन्निभूया य' ति औधिकदण्डकाधीतं नाध्येतव्यम्, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्यामेवोत्पादात्, 'असण्णी खलु पठम'मितिवचनात्, प्रथमायां च कृष्णनीललेश्ययोरभावात्। तर्हि किमध्येतव्यमित्याह—'मायिमिच्छदिड्डीउववन्नगा ये'त्यादि, तत्र

★ अंगसुत्ताणि मध्ये 'जेयतियाओ' ति पाठः।

१. वेति क. ख. ग. च. छ.

२. अल्प ख. छ.

३. लेश्यालेश्या ख. घ. छ.

४. सप्त क.

५. एतो ख. घ. च.

मायिनो मिथ्यादृश्यश्च महावेदना भवन्ति, यतः प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनीं स्थितिमशुभां ते निर्वर्तयन्ति, प्रकृष्टयां च तस्यां महती वेदना संभवति, इतरेषां तु विपरीतेति।

तथा मनुष्यपदे क्रियासूत्रे यद्यथौघिकदण्डके 'तिविहा मणुस्सा पन्नत्ता, तंजहा—संजया, असंजया, संजयासंजया, तस्य णं जे ते संजया ते दुविहा पणत्ता, तंजहा—सरागसंजया य वीयरगसंजया य, तस्य णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—पमत्तसंजया य अप्पमत्तसंजया य' ति पठितं, तथाऽपि कृष्णनीललेश्यादण्डकयोर्नाध्येतव्यं, कृष्णनीललेश्योदये संयमस्य निषिद्धत्वात्। यद्योच्यते 'पुव्व-पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेस्साए' ति तत्कृष्णादिद्रव्यरूपां द्रव्यलेश्यामंगीकृत्य न तु कृष्णादिद्रव्यसाधिव्यजनितात्मपरिणामरूपां भाव-लेश्याम्, एतच्च प्रागुक्तमिति। एतदेव दर्शयन्नाह—'मणुस्से'त्यादि।

तथा कापोतलेश्यादण्डकोऽपि नीलादिलेश्यादण्डकवदध्येतव्यो, नवरं नारकपदे वेदनासूत्रे नारका औघिकदण्डकवदेव वाच्याः, ते चैवम्—'नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सन्निभूया य असन्निभूया य'ति असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्युत्पादेन कापोतलेश्यासम्भवादत् आह—'काउलेस्सा-णवी'त्यादि।

तथा तेजोलेश्या पद्मलेश्या च यस्य जीवविशेषस्यास्ति तमाश्रित्य यथौघिको दण्डकस्तथा तयोर्दण्डकौ भणितव्यौ, तदस्तिता चैवं—नारकाणां विकलेन्द्रियाणां तेजोवायूनां चाद्यास्तिस्र एव। भवनपतिपृथिव्यम्बुवनस्पतिव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रः। पञ्चैन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां षड्। ज्योतिषां तेजोलेश्या। वैमानिकानां तिस्रः प्रशस्ता इति। आह च—

“किण्हानीलाकाऊतेउलेसा य भवणवंतरिया।

जोइससोहम्मीसाणे तेउलेसा मुणेयव्वा ॥

“कये सणकुंमारे माहिं दे चैव वंमलोवे य।

यएसु पण्हेतेसा तेण परं सुकलेस्सा उ ॥

“तथा पुट्टवीआउवणस्सइबायरपत्तेय लेस चत्तारि।

गम्भयतिरियनरेसु छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥”

केवलमौघिकदण्डके क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागविशेषणा अधीताः इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपद्मलेश्ययोर्द्वितारागत्वासम्भवात्, शुक्ललेश्यायामेव तत्संभवात्। प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्त इति, एतदेव दर्शयन्नाह—तेउलेसा पण्हेलेसेत्यादि।

'गाह'ति उद्देशकादितः सूत्रार्थसंग्रहगाथा गतार्थाऽपि सुखबोधार्थमुच्यते—दुःखमायुश्चोदीर्ण, वेदयतीत्येकत्वबहुत्वाभ्यां दण्डकचतुष्टयता-मुक्तम्। तथा 'आहारे'ति 'नेरइया किं समाहारा' ? इत्यादि। तथा 'किं समकम्मा' ? तथा 'किं समवन्ना' ? तथा 'किं समलेसा' ? तथा 'किं समवेयणा' ? तथा 'किं समकिरिया' ? तथा 'किं समाउया समोववन्नग'ति गाथार्थः।

प्राक् सलेश्या नारका इत्युक्तमथलेश्या निरूपयन्नाह—

१।१०२.

'कइ ण'मित्यादि तत्रात्मनि कर्मपुद्गलानां लेशनात्—संश्लेषणाल्लेश्या, योगपरिणामश्चैताः योगनिरोधे लेश्यानामभावात्। योगश्च शरीर-नामकर्मपरिणतिविशेषः। 'लेस्साणं बीओ उद्देसओ'ति प्रज्ञापनायां लेश्यापदस्य चतुरुद्देशकस्येह द्वितीयोद्देशको लेश्यास्वरूपावगमाय भणितव्यः। प्रथम इति क्वचिद् दृश्यते सोऽपपाठ इति।

अथ कियहूरं यावदित्याह—'जाव इट्ठी' ऋद्धिवक्तव्यतां यावत्, स चायं संक्षेपतः—'कइ णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—कण्हेलेसा'ए, एवं सर्वत्र प्रश्न उत्तरं च वाच्यम्। 'नेरइयाणं तिन्नि कण्हेलेस्सा ३ तिरिक्खजोणियाणं ६ एगिदियाणं ४ पुढविआउवणस्सईगं ४, तेउवाउबेइदियतेइदियचउरिदियाणं ३, पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं ६' इत्यादि बहु वाच्यं यावत् 'एएसि णं भंते ! जीवाणं कण्हेलेस्साणं जाव सुकलेस्साणं कयरे कयरेहिंते अप्पिड्डिया वा महिड्डिया वा' ? गोयमा ! कण्हेलेसेहिंते नीललेसा महिड्डिया, नीललेसेहिंते कावोयलेसे'त्यादि।

अथ पशवः पशुत्वमश्नुवते इत्यादिवचनविप्रलम्भाद् यो मन्यतेऽनादावपि भवे एकधैव जीवस्यावस्थानमिति तद्बोधनार्थं प्रश्नयन्नाह—

१।१०३.

'जीवस्स ण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरं किंविधस्य जीवस्य ? इत्याह—'आदिष्टस्य' अमुष्य नारकादेरित्येवं विशेषितस्य 'तीतत्ताए'ति अनादा-वतीते काले 'कतिविधः उपाधिभेदात्कतिभेदः संसारस्य—भवाद्भवान्तरसंचरणलक्षणस्य संस्थानम्—अवस्थितिक्रिया, तस्य कालः—अवसरः संसारसंस्थानकालः। अमुष्य जीवस्यातीतकाले कस्यां कस्यां गताववस्थानमासीत् ? इत्यर्थः, अत्रोत्तरं—चतुर्विध उपाधिभेदादिति भावः।

१।१०४.

तत्र नारकभवानुगसंसारवस्थानकालस्त्रिधा—शून्यकालोऽशून्यकालो मिश्रकालश्चेति।

१।१०५.

तिरश्चां शून्यकालो नास्तीति तेषां द्विविधः।

१।१०६,१०७.

मनुष्यदेवानां त्रिविधोऽप्यस्ति, आह च—

“सुवासुभो मीतो तिविहो संसारचिड्ढाकालो।

तिरियाण सुववओ सेसाणं होइ तिविहोवि ॥”

तत्राशून्यकालस्तावदुच्यते—अशून्यकालस्वरूपपरिज्ञाने हि सति इतरौ सुज्ञानौ भविष्यत इति। तत्र वर्तमानकाले सप्तसु पृथिवीषु ये नारका वर्तन्ते तेषां मध्याद्यावन्न कश्चिदुद्वर्तते न चान्य उत्पद्यते तावन्मात्रा एव ते आसते स कालस्तान्नारकानङ्गीकृत्याशून्य इति भण्यते, आह च—

१. अप्पड्डिया महिड्डिया वा क. ग. च. छ.

“आइइसमइयाणं नेरइयाणं न जाव एक्कोवि ।
उब्बइइ अणो वा उदवज्जइ सो असुणो उ ॥”

मिश्रकालस्तु तेषामेव नारकाणां मध्यादेकादय उद्वृत्ताः यावदेकोऽपि शेषस्तावन्मिश्रकालः । शून्यकालस्तु यदा त एवादिष्टसामयिका नारका सामस्येनोद्वृत्ता भवन्ति नैकोऽपि तेषां शेषोऽस्ति स शून्यकाल इति, आह च—

“उब्बइए एक्कमिवि ता मीसो घरइ जाव एक्कोवि ।
निल्लेविएहिं सव्वेहिं वट्टमाणेहिं सुणो उ ॥”

इदं च मिश्रनारकसंसारवस्थानकालचिन्तासूत्रं न तमेव वार्त्तमानिकनारकभवमंगीकृत्य प्रवृत्तम्, अपि तु वार्त्तमानिकनारकजीवानां गत्यन्तरगमने तत्रैवोत्पत्तिमाश्रित्य । यदि पुनस्तमेव नारकभवमंगीकृत्येदं सूत्रं स्यात्तदाऽशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणता सूत्रोक्ता न स्यात्, आह च—

“एयं पुण ते जीवे एडुच्च सुत्तं न तच्चम्वं चेव ।
जइ होअ तच्चम्वं तो अनन्तकालो ण संभवइ ॥”

कस्मात् ? इति चेद् उच्यते, ये वार्त्तमानिका नारकास्ते स्वायुष्कालस्यान्ते उद्वर्तन्ते, असंख्यातमेव च तदायुः अत उत्कर्षतो द्वादश-मौहूर्त्तिकाशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणत्वाभावप्रसंगादिति, आह च—

“किं कारणमाइइ नेरइया जे इमम्मि समयम्मि ।
ते ठिइकालस्संते जम्हा सव्वे खविअंति ॥” इति ।

१।१०८. ‘सव्वत्थोवे असुन्नकाले’ति नारकाणामुत्सादोद्वर्तनाविरहकालस्योत्कर्षतोऽपि द्वादशमौहूर्त्तप्रमाणत्वात्, ‘मीसकाले अणंतगुणे’ ति मिश्राख्यो विवक्षितनारकजीवनिर्लेपनाकालोऽशून्यकालापेक्षयाऽनन्तगुणो भवति । यतोऽसौ नारकेतरेष्वागमनगमनकालः । स च त्रसवनस्पत्यादि-स्थितिकालमिश्रितः सन्नन्तगुणो भवति, त्रसवनस्पत्यादिगमनागमनानामनन्तत्वात् । स च नारकनिर्लेपनाकालो वनस्पतिकापस्थितेरनन्तभागे वर्त्तत इति, उक्तं च—

“धोवो असुन्नकालो सो उक्कोसेण नारसमुहुत्तो ।
तत्तो य अणंतगुणो मीसो निल्लेवणकालो । ।
आगमणगमणकालो तसाइतरुमीसिओ अणंतगुणो ।
अह निल्लेवणकालो अणंतभागे वणद्धाए ॥” ति ।

‘सुन्नकाले अणंतगुणे’ति सर्वेषां विवक्षितनारकजीवानां प्रायो वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालभवस्थानात् । एतदेव वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालावस्थानं जीवानां नारकभवान्तरकाल उत्कृष्टे देशितः समय इति । उक्तं च

“सुणो य अणंतगुणो सो पुण पायं वणस्सइगयाणं ।
एयं चेव य नारपभवंतरं देसियं जेइ ॥” ति ।

१।१०९. ‘तिरिक्खजोणियाणं सव्वत्थोवे असुन्नकाले’ति, स चान्तर्मुहूर्त्तमात्रः, अयं च यद्यपि सामान्येन तिरश्चामुक्तस्तथाऽपि विकलेन्द्रिय-संमूर्च्छिमानामेवावसेयः, तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तमानस्य विरहकालस्योक्तत्वात्, यदाह—

“भिन्नमुहुत्तो विगल्लिदिएसु सम्मुच्छिमेसुवि स एव ।”

एकेन्द्रियाणां तूद्वर्तनोपपातविरहाभावेनाशून्यकालाभाव एव, आह च—

“एगो असंखभाणो वट्टइ उब्बट्टणोववायंमि ।
एणनिगोए निच्चं एवं सेसेसु वि स एव ॥”

‘पृथिव्यादिषु पुनः अणुसमयमसंखेज्ज’ति वचनाद् विरहाभाव इति । ‘मिस्सकाले अणंतगुणे’ति नारकवत् । शून्यकालस्तु तिरश्चां नास्त्येव, यतो वार्त्तमानिकसाधारणवनस्पतीनां तत उद्वृत्तानां स्थानमन्यत्रास्ति ।

१।११०. ‘मणुस्सदेवाणं जहा नेरइयाणं’ति अशून्यकालस्यापि द्वादशमौहूर्त्तप्रमाणत्वात्, अत्र गाथा—

“एवं नरामराणवि तिरियाणं नवरि नत्वि सुन्नद्धा ।
जं निग्गयाण तेसिं भायणमच्चं तओ नत्वि ॥” इति ।

१।१११. ‘एयस्से’त्यादि, व्यक्तं । किं संसार एवावस्थानं जीवस्य स्यादुत मोक्षेऽपि ? इति शंकायां पृच्छमाह—

१।११२. ‘जीवे ण’मित्यादि, व्यक्तं, नवरं ‘अंतकिरियं’ ति अन्त्या च सा पर्यन्तवर्त्तिनी क्रिया चान्यक्रिया, अन्तस्य वा—कर्मान्तस्य क्रिया अन्तक्रिया तां कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणां मोक्षप्राप्तमित्यर्थः ।

‘अंतकिरियापयं नेयच्चं’ति तच्च प्रज्ञापनायां विशतितमं, तच्चैवम्—‘जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा, अत्येगइए णो करेज्जा, एवं नेरइए जाव वेमाणिए’ भव्यः कुर्यान्नैतर इत्यर्थः । ‘नेरइए णं भंते ! नेरइएसु वट्टमाणे अंतं केरज्जा ? गोयमा ! ने इणडे

समष्टे' इत्यादि, नवरं 'मणस्सेसु अंतं करेजा' मनुष्येषु वर्तमानो नारको मनुष्यीभूत इत्यर्थः ।
कर्मलेशादन्तक्रियाया अभावे केचिज्जीवा देवेषूपद्यन्तेऽतस्तद् विशेषाभिधानायाह—

१।११३. 'अह भंते !' इत्यादि व्यक्तं, नवरम् 'अथे'ति परिप्रथार्यः । 'असंजयभविद्यद्व्यदेवाणं'ति इह प्रज्ञापनाटीका लिख्यते—असंयताः चरण-
परिणामशून्याः, भव्याः—देवत्वयोग्या अत एव द्रव्यदेवाः समासश्चैवं—असंयताश्च ते भव्यद्रव्यदेवाश्चेति असंयतभव्यद्रव्यदेवाः । तत्रैतेऽसंयत-
सम्यग्दृष्टयः किलेत्येके, यतः किलोक्तम्—

“अणुत्वयमहव्यएहि य बालतवोऽकामनिज्जराए य ।
देवाउयं निबंघइ सम्महिद्दी य जो जीवो ॥”

एतद्यायुक्तं, यतोऽमीषामुत्कृष्टत उपरिमग्रैवेयकेषूपपात उक्तः । सम्यग्दृष्टीनां तु देशविरतानामपि न तत्रासौ विद्यते देशविरतश्रावकाणामच्युता-
दूर्ध्वमगमनात् नाप्येते निहवाः, तेषामिहैव मेदेनाभिधानात् । तस्मान्निध्यादृष्टय एव अभव्या भव्या वा असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो
निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिंगधारिणो गृह्यन्ते । ते ह्यखिलकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरिमग्रैवेयकेषूपत्पद्यत इति । असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने
चारित्रपरिणामशून्यत्वात् ।

ननु कथं तेऽभव्या भव्या वा श्रमणगुणधारिणो भवन्ति ? इति अत्रोच्यते—तेषां हि महाभिध्यादर्शनमोहप्रादुर्भवि सत्यपि चक्रवर्ति-
प्रभृत्यनेकभूपतिप्रवरपूजासत्कारसन्मानदानान् साधून् समवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियाकलापानुष्ठानं प्रति श्रद्धा जायते । ततश्च ते यथोक्तक्रिया-
कारिण इति ।

तथा 'अविराहियसंजमाणं'ति प्रव्रज्याकालादारभ्याभ्यचारित्रपरिणामानां संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद् वा स्वल्पमाया-
दिदोषैर्भवेऽप्यनाचरितचरणोपघातानामित्यर्थः । तथा 'विराहियसंजमाणं'ति उक्तविपरीतानाम् । 'अविराहियसंजमासंजमाणं'ति प्रतिपत्ति-
कालादारभ्याखण्डितदेशविरतिपरिणामानां श्रावकाणां, 'विराहियसंजमासंजमाणं'ति उक्तव्यतिरेकाणां । 'असत्रीणं'ति मनोलब्धि-
रहितानामकामनिर्जसवतां, तथा 'तावसाणं'ति पतितपत्राद्युपभोगवतां बालतपस्विनां, तथा 'कन्दपियाणं'ति कन्दर्पः—परिहासः स येषामस्ति
तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा व्यवहारतश्चरणवन्त एव कन्दर्पकौकुव्यादिकारकाः, तथाहि—

“कहकहकहस्स हसनं कंदप्पो अण्हिया य उल्लावा ।

कंदप्पकहाकहणं कंदप्पुवएसं संसा य ॥

भुमनयणवयणदसणच्छेहेहि करपायकन्नमाईहिं ।

तं तं करेइ जह जह हसइ परो अत्तणा अहसं ॥

वाया कुकुइओ पुण तं जंपइ जेण हस्साए अन्नो ।

नाणाविहजीवरुए कुब्बइ मुहत्तर^१ चैव ॥ इत्यादि ।

जो संजओवि एयासु अप्पसत्वासु भावणं कुणइ ।

सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥” ति ।

अतस्तेषां कन्दर्पिकाणाम् । 'चरणपरिव्वायगाणं'ति चरणपरिव्राजका—धाटिभैक्ष्योपजीविनस्त्रिदण्डिनः अथवा चरकाः—कच्छोटकादयः^४ परिव्राज-
कास्तु—कपिलमुनिसूनवोऽतस्तेषां । 'किव्विसियाणं'ति किल्विधं—पापं तदस्ति येषां ते किल्विषिकाः, ते च व्यवहारतश्चरणवन्तोऽपि ज्ञाना-
द्यवर्णवादिनः यथोक्तम्—

“णापस्स केवलीणं धम्मापरियस्स संघसाहूणं^५ ।

माई अवन्नवाई किव्विसियं भावणं कुणइ ॥”

अतस्तेषाम् । तथा 'तेरिच्छियाणं'ति तिरश्चां गवाश्वादीनां देशविरतिभाजाम् । 'आजीवियाणं'ति पाषण्डिविशेषाणां नाग्यधारिणां गोशालक-
शिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ति वा येऽविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीनि ते आजीविकाऽस्तित्वेनाजीविका अतस्तेषां । तथा
'आभिओगियाणं'ति अभियोजनं—विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणाद्यभियोगः स च द्विधा, यदाह—

“दुविहो खनु अभिओगो दव्वे भावे य होइ नायव्वो ।

दव्वंभे होति जोगा विज्जा मंता य भावमि ॥” इति

सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति तंऽभियोगिका आभियोगिका वा । ते च व्यवहारतश्चरणवन्त एव मन्त्रादिप्रयोक्तारः, यदाह—

“कोउयभूईकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।

इहिरससायगरुओ अहिओगं भावणं कुणइ ॥” इति ।

१. एव च ख. ग. घ.

२. व्यतिरेकिणाम् क. घ.

३. मुहत्तरए क. ख. ग. घ. च.

४. कच्छोटिका च.

५. सव्यसाहूणं क. ख. ग. घ.

कौतुकं—सौभाग्याद्यर्थं रूपनकं भूतिकर्म—ज्वरितादिभूतिदानं प्रश्नाप्रश्नं च—स्वप्नविद्यादि । 'सलिंगीणं' ति रजोहरणादिसाधुलिंगवतां किंविधाना-
मित्याह—'दंसणवावन्नगाणं'ति दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्नं—प्रष्टं येषां ते तथा तेषां निह्वानामित्यर्थः ।

'देवतोएसु उववज्जमाणाणं'ति, अनेन देवत्यादन्यत्रापि केचिदुत्पद्यन्त इति प्रतिपादितं, 'विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवईसु उक्कोसेणं सोहम्मे
कपे'ति, इह कश्चिदाह—विराधितसंयमानामुक्त्वेण सौधर्मे कल्पे इति यदुक्तं, तत्कथं घटते ? द्रौपद्याः सुकुमालिकाभवे विराधितसंयमाया ईशाने
उत्पादश्रवणात् इति । अत्रोच्यते—तस्याः संयमविराधना उत्तरगुणविषया बकुशत्वमात्रकारिणी न मूलगुणविराधनेति । सौधर्मोत्पादश्च
विशिष्टतरसंयमविराधनायां स्यात् । यदि पुनर्विराधनामात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारकं स्यात्तदा बकुशादीनामुत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युता-
दिभूत्यतिः स्यात् ? कथंचिद्विराधकत्वात्तेषामिति ।

'असन्नीणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु'ति इह यद्यपि 'चमरबलि सारमहिय'मित्यादिवचनादसुरादयो महर्द्धिकाः 'पलिओवममुक्कोसं
वंतरियाणं'ति वचनाच्च व्यन्तरा अल्पर्द्धिकास्तथाऽप्यत एव वचनादवसीयते—सन्ति व्यन्तरेभ्यः सकाशादल्पर्द्धियो भवनपतयः केचनेति ।

असञ्जी देवेषूपद्यत इत्युक्तं स च आयुषा इति तदायुर्निरूपयन्नाह—

१।११४. 'कइविहे ण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं 'असन्निआउए'ति असंज्ञी सन् यत्परभवयोन्यायुर्बध्नाति तदसंज्ञायुः 'नेरइयअसन्निआउए'ति नैरयिकप्रायोग्य-
मसंज्ञायुर्नैरयिकासंज्ञायुः एवमन्याप्यति ।

एतच्चासंज्ञायुः सम्बन्धमात्रेणापि भवति यथा भिक्षोः पात्रम्, अतस्तत्कृतत्वलक्षणसंबन्धविशेषनिरूपणायाह—

१।११५. 'असन्नी'त्यादि व्यक्तं, नवरं 'पकदेइ'ति बध्नाति, 'दसवाससहरसाइ'ति रत्नप्रभाप्रथमप्रतरमाश्रित्य 'उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं'ति
रत्नप्रभाचतुर्थप्रतरे मध्यमस्थितिकं नारकमाश्रित्येति । कथम् ? यतः प्रथमप्रस्तटे दशवर्षाणां सहस्राणि जघन्या स्थिति उत्कृष्टा नवतिः सहस्राणि ।
द्वितीये तु दश लक्षाणि जघन्या, इतरा तु नवतिर्लक्षाणि । एषैव तृतीये जघन्या, इतरा तु पूर्वकोटी । एषैव चतुर्थे जघन्या, इतरा तु सागरोपमस्य
दशभागः । एवं चात्र पल्योपमासंख्येयभागो मध्यमा स्थितिर्भवति ।

तिर्यक्सूत्रे यदुक्तं 'पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं'ति तन्मिथुनकतिरश्वोऽधिकृत्येति । 'मणुस्साउए वि एवं चेव'ति जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुक्त्वेतः
पल्योपमासंख्येयभाग इत्यर्थः । तत्र चासंख्येयभागो मिथुनकनरानाश्रित्य । 'देवा जहा नेरइय'ति देवा इति असंज्ञिविषयं देवायुरुपचारात्तथा
वाच्यं 'जहा नेरइय'ति यथाऽसंज्ञिविषयं नरकायुः तच्च प्रतीतमेव । नवरं भवनपतिव्यन्तरानाश्रित्य तदवसेयमिति ।

१।११६. एयस्स णं भंते ! इत्यादिना यदसंज्ञायुषोऽल्पबहुत्वमुक्तं तदस्य हस्वीदीर्घत्वमाश्रित्येति ।

॥ प्रथमशतके द्वितीय उद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

द्वितीयोद्देशकान्तिमसूत्रेष्वयुर्विशेषो निरूपितः । स च मोहदोषे सति भवतीत्यतो मोहनीयविशेषं निरूपयन्नादौ च संग्रहगाथायां यदुक्तं 'कंख-
पओसे'ति तद्दर्शयन्नाह—

१।११८. 'जीवाण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं जीवानां सम्बन्धि यत् 'कंखामोहणिजे'ति मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्च चारित्रमोहनीयमपि भवतीति
विशिष्यते—कांक्षा—अन्यान्यदर्शनग्रहः, उपलक्षणत्वाच्चास्य शंकादिपरिग्रहः । ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः ।
'कडे'ति कृतं क्रियानिष्पाद्यमिति प्रश्नः । उत्तरं तु 'हंता कडे'ति अकृतस्य कर्मत्वानुपपत्तेः ।

इह च वस्तुनः करणे चतुर्भगी दृष्टा, यथा देशेन हस्तादिना वस्तुनो देशस्याच्छादनं करोति, अथवा हस्तादिदेशेनैव समस्तस्य वस्तुनः, अथवा
सर्वात्मना वस्तुदेशस्य, अथवा सर्वात्मना सर्वस्य वस्तुनः इत्येतां कांक्षामोहनीयकरणं प्रतिप्रश्नयन्नाह—

१।११९. 'से'ति तस्य कर्मणः भदन्त ! 'किम्'इति प्रश्ने 'देशेन' जीवस्यांशेन 'देशः' कांक्षामोहनीयस्य कर्मणोऽंशः कृतः ? इत्येको भंगः, अथ 'देशेन'
जीवांशेनैव सर्वं कांक्षामोहनीयं कृतं ? इति द्वितीयः, उत 'सर्वेण' सर्वात्मना देशः कांक्षामोहनीयस्य कृतः ? इति तृतीयः, उताहो ! 'सर्वेण'
सर्वात्मना सर्वं कृतम् ? इति चतुर्थः ।

अत्रोत्तरं—'सव्वेणं सव्वे कडे'ति जीवस्वाभाव्यात् सर्वस्वप्रदेशावगाढतदेकसमयबन्धनीयकर्मपुद्गलबंधने सर्वजीवप्रदेशानां व्यापार इत्यत
उच्यते—सर्वात्मना 'सर्वं' तदेककालकरणीयं कांक्षामोहनीयं कर्म 'कृतं' कर्मतया बद्धं, अत एव च भंगत्रयप्रतिषेध इति, अत एवोक्तम्—

“एगपएसोगाढं सव्वपएसोहिं कम्मणो जोगं । बंधइ जहुत्तहेउं”ति,

'एगपएसोगाढं'ति जीवापेक्षया कर्मद्रव्यापेक्षया च ये एके प्रदेशास्तेष्ववगाढम् । सर्वजीवप्रदेशव्यापारत्वाच्च तदेकसमयबन्धनार्हं सर्वमिति गम्यम् ।
अथवा सर्वं यत्किंचित् कांक्षामोहनीयं तत्सर्वात्मना कृतं न देशेनेति ।

जीवानामिति सामान्योक्तौ विशेषो नावगम्यत इति विशेषावगमाय नारकादिदण्डकेन प्रश्नयन्नाह—

१।१२०. 'नेरइयाण'मित्यादि भावितार्यमेव ।

क्रियानिष्पाद्यं कर्मोक्तं, तद्विषया च त्रिकालविषयाऽतस्तां दर्शयन्नाह—

१।१२३. 'जीवाण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं 'करिसु'ति अतीतकाले कृतवन्तः, उत्तरं तु हन्त ! अकार्षुः । तदकरणेऽनादिसंसारभावप्रसंगात् ।

१।१२६. एवं 'करेति' सम्प्रति कुर्वन्ति ।

१।१२७. एवं 'करिस्सन्ति' अनेन च भविष्यत्कालता करणस्य दर्शितेति ।

कृतस्य च कर्मणश्चयादयो भवन्तीति तान् दर्शयन्नाह—

१।१२८. 'एवं चिप' इत्यादि व्यक्तं, नवरं चयः—प्रदेशानुभागादेर्वर्द्धनम्, उपचयस्तदेव पौनःपुन्येन । अन्ये त्वाहुः—चयनं—कर्मपुद्गलोपादानमात्रम्, उपचयं तु चित्तस्याबाधाकालं मुक्त्वा वेदनार्थं निषेकः, स चैवम्—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनम् एव यावदुक्त्यायां विशेषहीनम् निषिञ्चति, उक्तं च—

“मोक्षस्य सगमबाहं पदमाइ ठिईह बहुतरं दब्बं ।

सेसं विसेसहीणं जावुक्कोसन्ति सव्वासि ॥” ति ।

उदीरणम्—अनुदितस्य करणविशेषादुदयप्रवेशनम् । वेदनम्—अनुभवनम् । निर्जरणं—जीवप्रदेशेभ्यः कर्मप्रदेशानां शासनमिति ।

इह च सूत्रसंग्रहमाया भवति, सा च ग्राह्य 'कड-चिप' इत्यादि, भावितार्या च । नवरं 'आइतिप' इति कृतचितोपचितलक्षणे । 'चउमेय' इति सामान्यक्रियाकालत्रयक्रियाभेदात् । 'तियमेय' इति सामान्यक्रिया विरहात् । 'पच्छिम' इति उदीरितवेदितनिर्जाणां मोहपुद्गला इति शेषः । 'तिवि' इति त्रयस्त्रिविधा इत्यर्थः ।

नन्वाद्ये सूत्रत्रये कृतचितोपचिदान्युक्तानि उत्तरेषु कस्मान्नोदीरितवेदितनिर्जाणानि ? इति, उच्यते—कृतं चित्तमुपचितं च कर्म चिरमप्यवतिष्ठत इति करणादीनां त्रिकालक्रियामात्रातिरिक्तं चिरावस्थानलक्षणकृतत्वाद्याश्रित्य कृतादीन्युक्तानि । उदीरणानां तु न चिरावस्थानमस्तीति त्रिकालवर्तिना क्रियामात्रेणैव तान्यभिहितानीति ।

जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्तीत्युक्तम्, अथ तद् वेदनकारणप्रतिपादनाय प्रस्तावयन्नाह—

१।१२९. 'जीवा षं भंते !' इत्यादि, व्यक्तं, नवरं ननु जीवाः कांक्षामोहनीयं वेदयन्तीति प्राग् निर्णीतं किं पुनः प्रश्नः ? उच्यते—वेदनोपायप्रतिपादनार्थम्, उक्तं च—

“पुवमणियापि पच्छा जं मण्णइ तत्त्व कारणं अत्वि ।

पडिसेहो य अणुष्ठा हेउविसेतोवत्तंमोत्ति ॥”

१।१३०. 'तेहिं तेहिं' इति तैस्तैर्दर्शनान्तरश्रवणकुतीर्थिकसंसर्गादिभिर्विद्वद्भ्रसिद्धैः । द्विचनं चेह वीप्सायाम् । कारणैः—शंकादिहेतुभिः, किमित्याह—शंकिताः—जिनोक्तपदार्थान् प्रति सर्वतो देशतो वा संजातसंशयाः, कांक्षिताः—देशतः सर्वतो वा संजातान्यान्यदर्शनग्रहाः, 'वित्तिगिच्छिय' इति विचिकित्सिताः—संजातफलविषयशंकाः, भेदसमापन्ना इति—किम् इदम् जिनशासनमाहोश्चिदिदम् इत्येवं जिनशासनस्वरूपं प्रति मतेद्वैधीभावं गताः—अनध्यवसायरूपं वा मतिभङ्गं गताः, अथवा यत एव शङ्कित्वादिदेशेषणा अत एव मतेद्वैधीभावं गताः, 'कलुषसमापन्नाः' नैतदेवमित्येवं मतिविपर्यासं गताः । 'एवं खलु' इत्यादि, 'एवम्' इत्युक्तेन प्रकारेण 'खलु' इति वाक्यालंकारे निश्चयेऽवधारणे वा ।

एतच्च जीवानां कांक्षामोहनीयवेदनमित्यभेवावसेयं, जिनप्रवेदितत्वात्, तस्य च सत्यत्वादिति तत्सत्यतामेव दर्शयन्नाह—

१।१३१. 'से णूण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं 'तदेव' न पुरुषान्तरैः प्रवेदितं, रागाद्युपहतत्वेन तत्रवेदितस्यासत्यत्वसंभवात् । 'सत्यं' सूनृतं, तच्च व्यवहारतोऽपि स्यादत आह—'निःशंकम्' अविद्यमानसन्देहमिति ।

अथ जिनप्रवेदितं सत्यमित्यभिप्रायवान् यादृशो भवति तद्दर्शयन्नाह—

१।१३२. 'से नूण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरं 'नूनं' निश्चितम् 'एवं मणं धारेमाणे' इति 'तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितमित्यनेन प्रकारेण मनो—मानसम् उत्पन्नं सत् धारयन्—स्थिरीकुर्वन् 'एवं पकरेमणे' इति उक्तरूपेणानुत्पन्नं सत् प्रकुर्वन्—विदधानः 'एवं चिडेमाणे' इति उक्तन्यायेन मनश्चेष्टयन् नान्यमतानि सत्यानीत्यादिचिन्तायां व्यापारयन्, चेष्टमानो वा विधेयेषु तपोध्यानादिषु, 'एवं संवरेमाणे' इति उक्तवदेव मनः संवृण्वन्—मतान्तरेभ्यो निवर्त्तयन् 'प्राणातिपातादीन्' वा प्रत्याचक्षाणो जीव इति गम्यते । 'आणाए' इति आज्ञायाः—ज्ञानाघासेवारूपजिनोपदेशस्य 'आराहए' इति आराधकः—पालयिता भवतीति ।

अथ कस्मात्तदेव सत्यं यज्जिनैः प्रवेदितम् ? इति, अत्रोच्यते, यथावद्वस्तुपरिणामाभिधानादिति तमेव दर्शयन्नाह—

१।१३३. 'से णूण'मित्यादि 'अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ' इति अस्तित्वम्—अङ्गुल्यादेः अङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वम्, उक्तञ्च—

“सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च ।

अन्यथा सर्वभावानामेकत्वं संग्रसज्यते ॥”

तच्चेह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमवसेयम् । अङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथञ्चिद्ऋजुत्वादिपर्यायाव्यतिरिक्तत्वात् अस्तित्वे—अङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे वक्रत्वादिपर्याय इत्यर्थः । 'परिणमति' तथा भवति, इदमुक्तं भवति—द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां वर्तते यथा मृद्द्रव्यस्य पिंडप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्तायामिति ।

‘नत्थितं नत्थिते परिणमइ’त्ति नास्तित्वम्—अंगुल्यादेरंगुष्ठादिभावेनासत्त्वं तच्चान्गुष्ठादिभाव एव । ततश्चान्गुल्यादेर्नास्तित्व-
मंगुष्ठाद्यस्तित्वरूपमंगुल्यादेर्नास्तित्वे अंगुष्ठादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति, यथा मूढो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपं मृन्नास्तित्वरूपे पटे इति ।
अथवाऽस्तित्वमिति—धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्दवस्तु अस्तित्वे—सत्त्वे परिणमति, तत्सदेव भवति, नात्यन्तं विनाशि स्याद्, दिनाशस्य
पर्यायान्तरगमनमात्ररूपत्वात्, दीपादिविनाशस्यापि तमिसादिरूपतया परिणामात् । तथा ‘नास्तित्वम्’ अत्यन्ताभावरूपं यत् खरविषाणादि
तत् ‘नास्तित्वे’ अत्यन्ताभाव एव वर्तते, नात्यन्तमसतः सत्त्वमस्ति खरविषाणस्येवेति, उक्तं च—

“नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः ।”

अथवाऽस्तित्वमिति धर्मभेदात् सद् ‘अस्तित्वे’ सत्त्वे वर्तते यथा पटः पटत्व एव नास्तित्वं चासत् ‘नास्तित्वे’ असत्त्वे वर्तते यथा अपटो-
ऽपटत्व एवेति ।

अथ परिणामहेतुदर्शनायाह—

१।१३४.

‘जं ण’मित्यादि ‘अत्थितं अत्थिते परिणमइ’त्ति पर्यायः पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । ‘नत्थितं नत्थिते परिणमइ’त्ति वस्त्वन्तरस्य पर्याय-
स्तत्पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । ‘पओगस’ ति सकारस्यागमिकत्वात् ‘प्रयोगेण’ जीवव्यापारेण ‘वीसस’ति यद्यपि लोके विश्रसाशब्दो जरा-
पर्यायतया रूढस्तथाऽपीह स्वभावार्थो दृश्यः, इह प्राकृतत्वात् ‘वीससाए’त्ति वाच्ये ‘वीससा’ इत्युक्तमिति, अत्रोत्तरम्—‘पओगसावि तं’ति
प्रयोगेणापि तद्—अस्तित्वादि, यथा कुलालव्यापारमृत्पिंडो घटतया परिणमति । अंगुलिऋजुता वा वक्रतयेति । ‘अपिः’ समुच्चये, ‘वीससावि
तं’ति, यथा शुभ्राध्रमशुभ्राध्रतया ।

नास्तित्वस्यापि नास्तित्वपरिणामे प्रयोगविश्रसयोरेतान्येवोदाहरणानि । वस्त्वन्तरापेक्षया मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्सदेव स्यादिति
व्याख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि पूर्वोत्तरावस्थयोः सद्वस्तुत्वादिति । यद्यपि ‘अभावोऽभाव एव स्यात्’इति व्याख्यातं, तत्रापि प्रयोगेणापि
तथा विस्रसयाऽपि अभावोऽभाव एव स्यात् न प्रयोगादेः साफल्यमिति व्याख्येयमिति ।

अथोक्तहेत्वोरुभयत्र समतां भगवदभिमततां च दर्शयन्नाह—

१।१३५.

‘जहा ते’इत्यादि ‘यथा’ प्रयोगविश्रसाध्यामित्यर्थः ‘ते’इति तव मतेन अथवा सामान्येनास्तित्वनास्तित्वपरिणामः प्रयोगविश्रसाजन्व उक्तः ।
सामान्यश्च विधिः क्वचिदतिशयवति वस्तुन्यन्यथाऽपि स्याद् अतिशयवांश्च भगवानिति तमाश्रित्य परिणामान्यथात्वमाशंकमान आह—‘जहा
ते’इत्यादि, ‘ते’इति तव सम्बन्धि अस्तित्वं, शेषं तथैवेति ।

अथोक्तस्वरूपस्यैवार्थस्य सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह—

१।१३६, १३७.

‘से पूण’मित्यादि अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्वस्तु सत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्यर्थः । ‘दो आलावग’त्ति ‘से पूणं भंते ! अत्थितं अत्थिते
गमणिञ्ज’मित्यादि ‘पओगसावि तं वीससावि तं’ इत्येतदन्त एकः, परिणामभेदाभिधानात् ।

१।१३८.

‘जहा ते भंते ! अत्थितं अत्थिते गमणिञ्ज’मित्यादि ‘तहा मे अत्थितं अत्थिते गमणिञ्ज’मित्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वपरिणामयोः समता-
ऽभिधायीति ।

एवं वस्तुप्रज्ञापनाविषयां समभावतां भगवतोऽभिधायथ शिष्यविषयां तां दर्शयन्नाह—

१।१३९.

‘जहा ते’इत्यादि ‘यथा’ स्वक्रीयपरक्रीयताऽनपेक्षतया समत्वेन विहितमितिप्रवृत्त्या उपकारबुद्ध्या वा ‘ते’ तव भदन्त ! ‘एत्थ’ति एतस्मिन्
मयि संनिहिते स्वशिष्ये गमनीयं—वस्तु प्रज्ञापनीयं ‘तथा’ तेनैव समतालक्षणप्रकारेण उपकारधिया वा । ‘इहं’ति ‘इह’ अस्मिन् गृहिषाषण्डि-
कादौ जने गमनीयम् ? वस्तु प्रकाशनीयमिति प्रश्नः । अथवा ‘एत्थं’ति स्वात्मनि यथा गमनीयं सुखप्रियत्वादि तथा ‘इह’ परात्मनि,
अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकरणार्थतया ‘एत्थ’ मित्येतच्छब्दरूपं गमनीयं तथा ‘इह’मित्येतच्छब्दरूपमिति ? समानार्थत्वाद् द्वयोरपीति ।

कांक्षामोहनीयकर्मवेदनं सप्रसंगमुक्तम्, अथ तस्यैव बन्धमभिधातुमाह—

१।१४०.

‘जीवाणं भंते ! कंखे’त्यादि ।

१।१४१.

‘पमायपघय’त्ति ‘प्रमादप्रत्ययात्’ प्रमत्ततालक्षणाद्धेतोः प्रमादश्च मद्यादिः । अथवा प्रमादग्रहणेन मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणं बन्धहेतुत्रयं
गृहीतम् । इष्यते च प्रमादेऽन्तर्भावोऽस्य यदाह—

“पमाओ य मुण्दिदेहिं भणिओ अट्टभेयओ ।

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव च ॥

रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि अणायरो ।

जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्टहा बज्जिव्वओ ॥” ति ।

यथा ‘योगनिमित्तं’ च योगाः—मनःप्रभृतिव्यापाराः ते निमित्तं—हेतुर्यत्र तत्तथा बध्नन्तीति, क्रियाविशेषणं चेदम्, एतेन च योगाख्यश्चतुर्थः
कर्मबन्धहेतुरुक्तः, चशब्दः समुच्चये ।

अथ प्रमादादेरेव हेतुफलभावं दर्शनायाह—

१।१४२.

‘से ण’मित्यादि ‘पमाए किंपवहे’त्ति प्रमादेऽसौ कस्मात् प्रवहति—प्रवर्तत इति किं प्रवहः ? पाठान्तरेण किंप्रभवः ? ‘जोगप्यवहे’त्ति
योगो—मनःप्रभृतिव्यापारः तत्रवहत्वं च प्रमादस्य मद्याद्यासेवनस्य मिथ्यात्वादित्रयस्य च मनःप्रभृतिव्यापारसद्भावे भावात् ।

- १।१४३. 'वीरियप्पवहे'ति वीर्यं नाम वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमसमुत्थो जीवपरिणामविशेषः।
- १।१४४. 'सरीरप्पवहे'ति वीर्यं द्विधा—सकरणमकरणं च, तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोः केवलं ज्ञानं दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिघो जीवपरिणामविशेषस्तदकरणं, तदिह नाधिक्रियते। यस्तु मनोवाक्कायकरणसाधनः सलेश्यजीवकर्तृको जीवप्रदेशपरिस्पन्दत्सको व्यापारोऽसौ सकरणं वीर्यं, तच्च शरीरप्रवहम्। शरीरं विना तदभावादिति।
- १।१४५. 'जीवप्पवहे'ति इह यद्यपि शरीरस्य कर्मापि कारणं न केवलं एव जीवस्तथाऽपि कर्मणो जीवकृतत्वेन जीवप्राधान्यात् जीवप्रवहं शरीरमित्युक्तम्। अथ प्रसंगतो गोशालकमतं निषेधयन्नाह—
- १।१४६. 'एवं सइ'ति, 'एवम्' उक्तन्यायेन जीवस्य कांक्षामोहनीयकर्मबंधकत्वे सति 'अस्ति' विद्यते न तु नास्ति। यथा गोशालकमते नास्ति जीवानामुत्थानादि, पुरुषार्थासाधकत्वात्, नियतित एव पुरुषार्थसिद्धेः, यदाह—

“प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥” इति।

एवं हि अप्रामाणिकाया नियतेरभ्युपगमः कृतो भवति, अध्यक्षसिद्धपुरुषकारापलापश्च स्यादिति।

'उद्धरणे इ व'ति उत्थानमिति वेति वाच्ये प्राकृतत्वात्सन्धिलोपाभ्यामेवं निर्देशः। तत्र 'उत्थानं' ऊर्ध्वीभवनम् 'इतिः' उपप्रदर्शने, वाशब्दो विकल्पे समुच्चये वा। 'कम्मे इ व'ति कर्म—उत्क्षेपणापक्षेपणादि। 'बले इ व'ति बलं—शरीरः प्राणः। 'वीरिए इ व'ति वीर्यं—जीवोत्साहः। 'पुरिसक्कारपरक्कमे इ व'ति पुरुषकारश्च पौरुषाभिमानः, पराक्रमश्च स एव साधिताभिमतप्रयोजनः पुरुषकारपराक्रमः। अथवा पुरुषकारः—पुरुषक्रिया सा च प्रायः स्त्रीक्रियातः प्रकर्षवती भवतीति तत्त्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणं, पराक्रमस्तु शत्रुनिराकरणमिति।

कांक्षामोहनीयस्य वेदनं बन्धश्च सहेतुक उक्तः। अथ तस्यैवोदीरणामन्यच्च तद्गतमेव दर्शयन्नाह—

- १।१४७. 'से नूण'मित्यादि 'अप्पणा चेव'ति 'आत्मनैव' स्वयमेव जीवः, अनेन कर्मणो बन्धादिषु मुख्यवृत्त्या आत्मनः एवाधिकारः उक्तो, नापरस्य, आह य—

“अणुमेत्तोवि न कस्सइ, बंधो परवत्तुपच्चया भणिओ।” ति।

'उदीरेइ'ति उदीरयति—करणविशेषेणाकृष्य भविष्यत्कालवेद्यं कर्म क्षपणायोदयावलिकार्यां प्रवेशयति। तथा 'गरहइ' ति आत्मनैव गर्हते निन्दति अतीतकालकृतं कर्म स्वरूपतः, तत्कारणगर्हणद्वारेण वा जातिविशेषबोधः सन्। तथा 'संवरइ'ति संवृणोति न करोति वर्तमानकालिकं कर्मस्वरूपतः तद्देहेतुसंवरणद्वारेण वेति। गर्हादौ च यद्यपि गुर्वादीनामपिसहकारित्वमस्ति तथाऽपि न तेषां प्राधान्यं जीववीर्यस्यैव तत्र कारणत्वात्। गुर्वादीनां च वीर्याल्लासनमात्र एव हेतुत्वादिति।

अथोदीरणमेवाश्रित्याह—

- १।१४८. 'जं तं भते !'इत्यादि व्यक्तं, नवरं अथोदीरयतीत्यादि पदत्रयोद्देशेऽपि कस्मात् 'तं किं उदिन्नं उदीरेइ' इत्यादिना आद्यपदस्यैव निर्देशः कृतः ? उच्यते—उदीर्णादिके कर्मविशेषणचतुष्टये उदीरणामेवाश्रित्य विशेषणस्य सद्भावाद् इतरयोस्तु तदभावाद्। एवं तर्हि उद्देशसूत्रे गर्हते संवृणोतीत्येतत् पदद्वयं कस्मादुपात्तम् ? उत्तरत्रानिर्देश्यमाणत्वात्तस्वेति, उच्यते—कर्मण उदीरणायां गर्हासंवरणे प्रायः उपायौ इत्यभिधानार्थम्, एवमुत्तरत्रापि वाच्यमिति।

प्रश्नार्थश्रेहोत्तरव्याख्यानाद्बोद्धव्यः, तत्र 'नो उदिन्नं उदीरेइ'ति उदीर्णत्वादेव उदीर्णस्याप्युदीरणे उदीरणाऽविरामप्रसंगात्। 'नो अणुदिन्नं उदीरेइ'ति इहानुदीर्ण—चिरेण भविष्यदुदीरणम् अभविष्यदुदीरणं च तन्नोदीरयति तद्विषयोदीरणायाः सम्प्रत्यनागतकाले चाभावात्। 'अणुदिन्नं उदीरणाभिवियं कम्म उदीरेइ'ति अनुदीर्णं स्वरूपेण किन्त्वनन्तरसमय एव यदुदीरणाभिविकं तदुदीरयति, विशिष्टयोग्यताप्राप्तत्वात्।

तत्र भविष्यतीति भवा सैव भविका उदीरणा भविका यस्येति प्राकृतत्वाद् उदीरणाभविकम्, अन्यथा भविकोदीरणमिति स्यात्, उदीरणाया^३ वा भव्यम्—योग्यमुदीरणाभव्यमिति। 'नो उदयाणंतरपच्छाकड' न्ति उदयेनान्तरसमये पश्चात्कृतम् अतीततां नीतं यत्तत्तथा तदपि नोदीरयति^४, तस्यातीतत्वात् अतीतस्य चासत्त्वाद् असत्तश्चानुदीरणीयत्वादिति।

इह च यद्यप्युदीरणादिषु कालस्वभावादीनां कारणत्वमस्ति तथाऽपि प्राधान्येन पुरुषवीर्यस्यैव कारणत्वमुपदर्शयन्नाह—

- १।१४९. 'जं त'मित्यादि व्यक्तं, नवरं उत्थानादिनोदीरयतीत्युक्तं, तत्र च यदापत्रं तदाह—

- १।१५०. 'एवं सइ'ति 'एवम्' उत्थानादिसाध्ये उदीरणे सतीत्यर्थः, शेषं तथैव।

कांक्षामोहनीयस्योदीरणोक्ता, अथ तस्यैवोपशमनमाह—

१. उदीरणा क. च. छ.
२. उद्देशके ख. ग. घ. छ.

३. उदीरणायां क.
४. नो उदीरयति क. ख. छ.

१।१५१. 'से णूण'मित्यादि, उपशमनं मोहनीयस्यैव, यदाह—

“मोहस्तेनोवसमो खाजोवसमो चउण्ह घाईणं ।

उदयवखयपरिणामा अडुण्हवि होति कम्माणं ।।”

उपशमश्चोदीर्णस्य क्षयः अनुदीर्णस्य च विपाकतः प्रदेशतश्चाननुभवनं, सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः। अयं चानादि-
मिथ्यादृष्टेरौपशमिकसम्यक्त्वलाभे उपशमश्रेणिगतस्य चेति ।

१।१५२. 'अणुदिन्नं उवसामेति'ति उदीर्णस्य त्ववश्यं वेदनादुपशमनाभाव इति । उदीर्णं सद्देघते इति वेदनसूत्रं, तत्र—

१।१५६. 'उदिन्नं वेएइ'ति अनुदीर्णस्य वेदनाभावात्, अथानुदीर्णमपि वेदयति तर्हि उदीर्णानुदीर्णयोः को विशेषः स्यात् ? इति ।

वेदितं सन्निर्जीर्यत इति निर्जरासूत्रं, तत्र—

१।१६०. 'उदयाणंतरपच्छकड'ति उदयेनानन्तरसमये यत्पश्चात्कृतम्—अतीततां गमितं तत्तथा तत् 'निर्जरयति' प्रदेशेभ्यः शातयति, नान्यद्, अननु-
भूतरसत्वादिति । उदीरणोपशमवेदननिर्जरणसूत्रोक्तार्थसंग्रहाथा—

“तइएण उदीरंति उवसामेति य पुणोवि वीएणं ।

वेइंति निजरंति य पटमचउत्तेहिं सवेऽवि ॥”

अथ कांक्षामोहनीयवेदनादिकं निर्जरान्तं सूत्रप्रपञ्चं नारकादिचतुर्विंशतिदण्डकैर्नियोजयन्नाह—

१।१६३. 'नेरइयाण'मित्यादि इह च 'जहा ओहिया जीवा' इत्यादिना 'हंता वेयंती, कहन्नं भंते ! नेरइयाणं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेयंति ? गोयमा! तेहिं
तेहिं कारणेहिं' इत्यादिसूत्रं निर्जरासूत्रान्तं स्तनितकुमारप्रकरणान्तेषु प्रकरणेषु सूचितं, तेषु च यत्र यत्र जीवपदं प्रागधीतं तत्र तत्र नारकादि-
पदमध्येयमिति ।

पञ्चेन्द्रियाणामेव शङ्कितत्वादयः कांक्षामोहनीयवेदनप्रकारा घटन्ते नैकेन्द्रियादीनाम्, अतस्तेषां विशेषेण तद्देवनप्रकारदर्शनायाह^१—

१।१६४. 'पुढविकाइयाण'मित्यादि, व्यक्तं, नवरम्—

१।१६५. 'एवं तक्का इ व'ति एवं—वक्ष्यमाणोल्लेखेन तर्को—विमर्शः स्त्रीलिंगनिर्देशश्च प्राकृतत्वात् । 'सन्ना इ व'ति संज्ञा—अर्थावग्रहरूपं ज्ञानं । 'पण्णा
इ' व'ति प्रज्ञा—अशेषविशेषविषयं ज्ञानमेवम् । 'मणे इव'ति मनःस्यूत्यादिविशेषमतिभेदरूपं 'वइ इ व'ति वाग्—वचनं 'सेसं तं चेव'ति शेषं
तदेव यद् औधिकप्रकरणेऽधीतं, तच्चेदम्—'हंता गोयमा ! तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पवेइयं । से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे'इत्यादि
तावद् वाच्यं यावद् 'से णूणं भंते ! अपण्णा चेव निजरेइ अपण्णा चेव गरहइ' इत्यादेः सूत्रस्य 'पुरिसक्कारपरकमेइ व'ति पदम् ।

१।१६७. 'एवं जाव चउरिंदिय'ति पृथिवीकायप्रकरणवदक्कायादिप्रकरणानि चतुरिन्द्रियप्रकरणान्तान्यध्येयानि । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रकरणादीनि तु
वैमानिकप्रकरणान्तानि औधिकजीवप्रकरणवत्तदभिलाषेनाध्येयानीति, अत एवाह—

१।१६८. 'पंचेदिए'त्यादि ।

भवतु नाम शेषजीवानां कांक्षामोहनीयवेदनं निर्ग्रन्थानां पुनस्तत्र संभवति, जिनागमावदातबुद्धित्वात्तेषामिति प्रश्नयन्नाह—

१।१६९. 'अत्थि ण'मित्यादि काक्काऽध्येयम् 'अस्ति' विद्यतेऽयं पक्षः—यदुत 'श्रमणाः' व्रतिनः, अपिशब्दः श्रमणानां कांक्षामोहनीयस्यावेदनसंभावनार्थः ।
ते च शाक्यादयोऽपि भवन्तीत्याह—'निर्ग्रन्थाः' सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थान्निर्गताः, साधव इत्यर्थः ।

१।१७०. 'णाणंतरेहिं'ति एकस्माज्ज्ञानादन्यानि ज्ञानानि ज्ञानान्तराणि तैर्ज्ञानविशेषैर्ज्ञानविशेषेषु वा शंकिता इत्यादिभिः सम्बन्धः, एवं सर्वत्र । तेषु चैवं
शंकादयः स्युः—यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि संति तत् किमपरेण मनःपर्यायज्ञानेन ?
तद्विषयभूतानां मनोद्रव्याणामवधिर्नैव दृष्टत्वात्, उच्यते चागमे मनःपर्यायज्ञानमिति किमत्र तत्त्वमिति ज्ञानतः शंका । इह समाधिः—यद्यपि
मनोविषयमप्यवधिज्ञानमस्ति तथाऽपि न मनःपर्यायज्ञानमवधावन्तर्भवति । भिन्नस्वभावत्वात्, तथाहि—मनःपर्यायज्ञानं मनोमात्रद्रव्य-
ग्राहकमेवाददर्शनपूर्वकं च । अवधिज्ञानं तु किञ्चिन्मनोव्यतिरक्तद्रव्यग्राहकं किञ्चिन्नोभयग्राहकं दर्शनपूर्वकं च न तु केवलमनोद्रव्यग्राहकं इत्यादि
बहुवक्तव्यमतोऽवधिज्ञानातिरिक्तं भवति मनःपर्यायज्ञानमिति ।

तथा २. दर्शनं—सामान्यबोधः तत्र यदि नामेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तः सामान्यार्थविषयो बोधो दर्शनं तदा किमेकश्चक्षुर्दर्शनमन्यस्त्वचक्षुर्दर्शनम् ?
अथेन्द्रियानिन्द्रियभेदात् भेदस्तदाचक्षुष इव श्रोत्रादीनामपि दर्शनभावात् । षडिन्द्रियनोइन्द्रियजानि दर्शनानि स्युन द्वे एवेति । अत्र समाधिः—
सामान्यविशेषात्मकत्वाद् वस्तुनः क्वचिद्विशेषतस्तत्रिर्देशः क्वचिच्च सामान्यतः । तत्र चक्षुर्दर्शनमिति विशेषतः अचक्षुर्दर्शनमिति च सामान्यतः ।
यच्च प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य संभवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं चेत्सुक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्वप्राप्तकारित्वविभागात् । मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि
प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात्तद्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति ।

अथवा दर्शनं—सम्यक्त्वम्, तत्र च शंका—

“भिच्छत्तं जमुदिन्नं तं खीणं अपुदीयं च उवसंतं ।”

१. निर्जीर्यति क. ख.

३. दर्शयन्नाह ग.

२. दण्डके क. ख. च. छ.

इत्येवंलक्षणं क्षायोपशमिकम् । औपशमिकमप्येवं लक्षणमेव, यदाह—

“लीणम्भि उदिन्ममी अणुदिञ्जंते य सेसभिच्छते ।

अंतोमुहुत्तमेतं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥”

ततोऽनयोर्न विशेषः उक्तश्चासाविति, समाधिश्च—क्षयोपशमो हि उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभववापेक्षयोपशमः प्रदेशानुभव-
स्तूदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति, उक्तं च—

“वेण्ड संतकम्मं खओवसमिणसु नाणुमावं सो ।

उवसंतकसाओ पुण वेदेइ ण संतकम्मं ति ॥”

तथा ३. चारित्रं—चरणं तत्र च यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिलक्षणं छेदोपस्थापनीयमपि तल्लक्षणमेव, महाव्रतानामवद्यविरतरूपत्वात्, तत्कोऽनयोर्भेदः ? उक्तश्चासाविति, अत्र समाधिः—ऋजुजडवक्रजडानां प्रथमचरमजिनसाधूनामाधासनाय छेदोपस्थापनीयमुक्तम् । व्रतारोपणे हि मनाक् सामायिकाशुद्धावपि व्रताखण्डनाद्यारित्रिणो व्यं चारित्रस्य व्रतरूपत्वादिति बुद्धिः स्यात्, सामायिकमात्रे तु तदशुद्धौ भ्रं नश्चारित्रं, चारित्रस्य सामायिकमात्रत्वादित्येवमनाधासस्तेषां स्यादिति, आह च—

“रिउवक्कजडा पुरिमेयराण सामाइए वयारुहणं ।

मणयममुद्देवि जओ सामाइए हुंति हु वयाइं ॥” इति ।

तथा ४. लिंगं—साधुवेषः । तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्ररूपं लिंगं साधूनामुपदिष्टं, तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्यां सप्रमाणधवलवसनरूपं तदेवोक्तं ? सर्वज्ञानामविरोधिवचनत्वादिति । अत्रापि ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञाशिष्यानाश्रित्य भगवतां तस्योपदेशः, तथैव तेषामुपकारसम्भवादिति समाधिः ।

तथा ५. प्रवचनमागमः । तत्र च यदि मध्यमजिनप्रवचनानि चतुर्यामधर्मप्रतिपादकानि, कथं प्रथमेतरजिनप्रवचने पञ्चयामधर्मप्रतिपादके ? सर्वज्ञानामविरोद्धवचनत्वात् । अत्रापि समाधिः—चतुर्यामोऽपि तत्त्वतः पञ्चयाम एवासौ, चतुर्थव्रतस्य परिग्रहेऽन्तर्भूतत्वात् । येषां हि नाम-परिगृहीता भुज्यते इति न्यायादिति ।

तथा ६. प्रवचनमधीते वेति वा प्रावचनः—कालापेक्षया बह्वागमः पुरुषः । तत्रैकः प्रावचनिक एव कुरुते अन्यस्त्वेवमिति किमत्र तत्त्वमिति ? समाधिश्चेह— चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषेण उत्सर्गापवादादिभावितत्वेन च प्रावचनिकानां विचित्रा प्रवृत्तिरिति नासौ सर्वथाऽपि प्रमाणम्, आगमाविरुद्धप्रवृत्तरेव प्रमाणत्वादिति ।

तथा ७. कल्पो—जिनकल्पिकादिसमाचारः । तत्र यदि नाम जिनकल्पिकानां नाग्न्यादिरूपो महाकष्टः कल्पः कर्मक्षयाय, तदा स्थविरकल्पिकानां वस्त्रपात्रादिपरिभोगरूपो यथाशक्तिकरणात्मकोऽकष्टस्वभावः कथं कर्मक्षयायेति ? इह च समाधिः—द्वावपि कर्मक्षयहेतु, अवस्थाभेदेन जिनोक्त-त्वात् । कथकष्टयोश्च विशिष्टकर्मक्षयं प्रत्यकारणत्वादिति ।

तथा ८. मार्गः—पूर्वपुरुषक्रमायता सामाचारी । तत्र केषाञ्चिद्द्विधैत्यवन्दनानेकविधकायोत्सर्गकरणादिकाऽऽवश्यकसामाचारी तदन्येषां तु न तथैति किमत्र तत्त्वमिति ? समाधिश्च—गीतार्थाशठप्रवर्तिताऽसौ सर्वाऽपि न विरुद्धा, आचरितलक्षणोपेतत्वात् । आचरितलक्षणं वेदम्—

“असद्रेण समाइञ्जं जं कत्वइ केणई असावजं ।

न निवारियमवेहिं बहुमणुमयमेयमाचरिं ॥” ति ।

तथा ९. मतं—सामान एवागमे आचार्याणामभिप्रायः । तत्र च सिद्धसेनदिवाकरो मन्यते—केवलिनो युगपद् ज्ञानं दर्शनं च, अन्यथा तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्यात् । जिनभद्रगणिकमाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने, जीवस्वरूपत्वात् । तथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मति-श्रुतोपयोगौ, न चैकतरोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावः । तत्क्षयोपशमस्योत्कृष्टतः षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वादतः किं तत्त्वमिति ? इह च समाधिः—यदेव मतमागमानुपाति तदेव सत्यमिति मन्तव्यमितरत्सुनरूपेक्षणीयम् । अथ चावहुश्रुतेन नैतदवसातुं शक्यते तदैवं भावनीयम्—आचार्याणां सम्प्रदायादिदोषादयं मतभेदः । जिनानां तु मतमेकमेवाविरुद्धं च, रागादिविरहितत्वात् । आह च—

“अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जुगण्ववरा ।

जिपरागदोसमोहा य णण्णहावाइणो तेण ॥” ति ।

तथा १०. भंगाः—द्रव्यादिसंयोगभंगकाः । तत्र च द्रव्यतो नाम एका हिंसा न भावत इत्यादि चतुर्भङ्गयुक्ता च तत्र प्रथमोऽपि भंगो युज्यते, यतः किल द्रव्यतो हिंसा—ईर्यासमित्या गच्छतः पिपीलिकादिव्यापादनं, न चेयं हिंसा, तल्लक्षणायोगात्, तथाहि—

“जो उ पमत्तो पुरिसो तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता ।

वावजंती नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥” ति ।

उक्ता चैयमतः शंका, न चेयं युक्ता । एतद्गाथोक्तहिंसालक्षणस्य द्रव्यभावहिंसाश्रयत्वात्, द्रव्यहिंसायास्तु मरणमात्रतया रुढत्वादिति ।

तथा ११. नयाः—द्रव्यास्तिकादयः । तत्र यदि नाम द्रव्यास्तिकमतेन नित्यं वस्तु, पर्यायास्तिकनयमतेन कथं तदेवानित्यं ? विरुद्धत्वात्, इति

शंका, इयं चायुक्ता । द्रव्यापेक्षयैव तस्य नित्यत्वात्, पर्यायापेक्षया चानित्यत्वात् । दृश्यते चापेक्षयैकत्रैकदा विरुद्धानामपि धर्माणां समावेशो । यथा जनकापेक्षया य एव पुत्रः स एव पुत्रापेक्षया पितेति ।

तथा १२. नियमः—अभिग्रहः । तत्र यदि नाम सर्वविरतिः सामायिकं तद् किमन्येन पौरुष्यादिनियमेन ? सामायिकेनैव सर्वगुणावातेः उक्तश्रासौ इति शंका, इयं चायुक्ता । यतः सत्यपि सामायिके युक्तः पौरुष्यादिनियमः, अप्रमादवृद्धिहेतुत्वादिति, आह च—

“सामाह्य वि हु सावज्जवागरूवे उ गुणकरं एयं ।

अपमायवुद्धिजणगतणेण आणाओ विवेयं ॥” ति ।

तथा १३. प्रमाणं—प्रत्यक्षादि । तत्रागमप्रमाणम्—आदित्यो भूमेरुपरि योजनशतैरथभिः संचरति, चक्षुः प्रत्यक्षं च तस्य भुवो निर्गच्छतो ग्राहकमिति किमत्र सत्यमिति सन्देहः, अत्र समाधिः—न हि सम्यक् प्रत्यक्षमिदं, दूरतरदेशतो विभ्रमादिति ।

॥ प्रथमशते तृतीयोद्देशकः ॥

चतुर्थ उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके कर्मणः उदीरणवेदनाद्युक्तमिति तस्यैव भेदादीन् दर्शयितुं तथा द्वारगाथायां ‘पगइ’ति यदुक्तं तच्चाभिधातुमाह—

१।१७४. ‘कइ ण’मित्यादि, व्यक्तं, नवरं ‘कम्मपगडीओ’ति प्रज्ञापनायां त्रयोविंशतितमस्य कर्मप्रकृत्यभिधानस्य पदस्य प्रथमोद्देशको नेतव्यः । एतद्व्याख्यानं चार्थानां सङ्ग्रहगाथाऽस्तीत्यत आह—गाहा, सा चैवम्—‘कइ’त्यादि । तत्र ‘कइपगडी’ति द्वारं, तच्चैवम्—‘कइ णं भंते ! कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! अडु, तंजहा—णाणावरणिज्ज’मित्यादि—

‘कह’ बंधइ’त्यादि’ द्वारमिदं चैवम्—कहन्नं भंते ! जीवे अडु कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणावरणिज्जं कम्मं निग्गच्छइ’ विशिष्टोदयावस्थं जीवस्तदासादयतीत्यर्थः । ‘दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं निग्गच्छइ’ विपाकावस्थां करोतीत्यर्थः । ‘दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं निग्गच्छइ, मिच्छत्तेणं उदिन्नेणं एवं खलु जीवे अडु कम्मपगडीओ बंधइ’ इत्यादि । न चैवमिहेतरेतराश्रयदोषः कर्मबन्धप्रवाहस्यानादित्वादिति ।

‘कइहि व’ ठणेहि’ति द्वारं तच्चैवम्—जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं कइहि ठणेहि बंधइ ? गोयमा ! दोहिं ठणेहि’, तंजहा—रागेण य दोसेण य’इत्यादि ।

‘कइ वेएइ व’ति द्वारमिदं चैवम्—जीवे णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइए वेएइ, अत्थेगतिए नो वेएइ, जे वेएइ से अडु’ इत्यादि । ‘जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइए वेएइ, अत्थेगतिए नो वेएइ’ केवलिनोऽवेदनात् । ‘णेइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेएइ ? गोयमा ! नियमा वेएइ’इत्यादि ।

‘अणुभागो कइविहो कस्स’ति कस्य कर्मणः कतिविधो रसः ? इति द्वारम् । इदं चैवम्—‘णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कतिविहे अणुभागे पण्णत्ते ? गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते, तंजहा—सोयावरणे सोववित्राणावरणे’ इत्यादि । द्रव्येन्द्रियावरणो भावेन्द्रियावरणश्चेत्यर्थः ।

अथ कर्मविन्ताधिकारात्मोहनीयमाश्रित्याह—

१।१७५. ‘जीवे णं भंते’इत्यादि ‘मोहणिजेणं’ति मिथ्यात्वमोहनीयेन ‘उदिण्णेणं’ति उदितेन ‘उवड्ढाएज्ज’ति ‘उपतिष्ठेत’ उपस्थानं—परलोकक्रियास्वभ्युपगमं कुर्यादित्यर्थः ।

१।१७६. ‘वीरियत्ताए’ति वीर्ययोगाद्वीर्यः—प्राणी, तद्भावो वीर्यता । अथवा वीर्यमेव स्वार्थिकप्रत्ययाद् वीर्यता । वीर्याणां वा भावो वीर्यता तथा । ‘अवीरियत्ताए’ति अविद्यमानवीर्यतया वीर्याभावेनेत्यर्थः । नो अवीरियत्ताए’ति वीर्यहेतुकत्वादुपस्थानस्येति ।

१।१७७. ‘बालवीरियत्ताए’ति बालः—सम्यग्दानदबोध्यात् सद्बोधकार्यविरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टिस्तस्य या वीर्यता—परिणतिविशेषः सा तथा तथा । ‘पंडियवीरियत्ताए’ति पण्डितः—सकलावयवर्जकस्तदन्यस्य परमार्थतो निर्ज्ञानत्वेनापण्डितत्वाद् यदाह—

“तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागणः ।

तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणप्रतः स्यातुम् ॥” इति

सर्वविरत इत्यर्थः । ‘बालपंडियवीरियत्ताए’ति बालो देशे चिरत्यभावात्, पण्डितो देश एव विरतिसद्भावादिति बालपण्डितो—देशविरतः ।

इह च मिथ्यात्वे उदिते मिथ्यादृष्टित्वाज्जीवस्य बालवीर्येणैवोपस्थानं स्यात्नेतराभ्याम् । एतदेवाह—‘गोयमे !’त्यादि ।

उपस्थानविपक्षोऽपक्रमणमतस्तदाश्रित्याह—

१।१७८. ‘जीवे ण’मित्यादि ‘अवक्कमेज्ज’ति ‘अपक्रामेत्’ अपसर्पेत्, उत्तमगुणस्थानकाद् हीनतरं गच्छेदित्यर्थः ।

१।१८०. ‘बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज’ति मिथ्यात्वमोहोदये सम्यक्त्वात् संयमाद्देशसंयमाद् वा ‘अपक्रामेत्’ मिथ्यादृष्टिर्भवेदिति । ‘णो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज’ति नहि पण्डितत्वात्प्रधानतरं गुणस्थानकमस्ति यतः पण्डितवीर्येणापसर्पेत् । ‘सिय बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्ज’ति स्यात् कदाचिद्वारिभोहनीयोदयेन संयमादपगत्य बालपण्डितवीर्येण देशविरतो भवेदिति ।

वाचनान्तरे त्वेवम्—'बालवीरियत्ताए नो पंडियवीरियत्ताए नो बालपंडियवीरियत्ताए'ति तत्र च मिथ्यात्वमोहोदये बालवीर्यस्यैव भावा-
दितरवीर्यद्वयनिषेध इति ।

उदीर्णविपक्षत्वादुपशान्तस्येत्युपशान्तसूत्रद्वयं तथैव ।

१।१८३. नवरम् 'उवद्वाएजा पंडियवीरियत्ताए'ति उदीर्णालापकापेक्षयोपशान्तालापकयोरयं विशेषः—प्रथमालापके सर्वथा मोहनीयेनोपशान्तेन सतोपतिष्ठेत
क्रियासु पण्डितवीर्येण, उपशान्तमोहावस्थायां पण्डितवीर्यस्यैव भावादितरयोश्चाभावात् ।

वृद्धैस्तु काञ्चिद्वाचनामाश्रित्वेदं व्याख्यातं—मोहनीयेनोपशान्तेन सता न मिथ्यादृष्टिर्जायते, साधुः श्रावको वा भवतीति । द्वितीयालापके तु
'अवक्रमेज्ज बालपंडियवीरियत्ताए'ति मोहनीयेन हि उपशान्तेन संयतत्वाद् बालपण्डितवीर्येणपक्रमम् देशसंयतो' भवति । देशतस्तस्य मोहो-
पशमसद्भावात् । न तु मिथ्यादृष्टिः, मोहोदय एव तस्य भावात्, मोहोपशमस्य चेहाधिकृतत्वादिति ।

अथापक्रामतीति यदुक्तं तत्र सामान्येन प्रश्नयन्नाह—

१।१८७. 'से भंते ! कि'मित्याह—'से'ति असौ जीवः अथार्थो वा शेषशब्दः 'आयाए'ति आत्मना 'अणायाए'ति अनात्मना, परत इत्यर्थः 'अपक्रामति'
अपसर्पति । पूर्वं पण्डितवरुचिर्भूत्वा पश्चान् मिश्ररुचिर्मिथ्यारुचिर्वा भवतीति, कोऽसौ ? इत्याह—मोहनीयं कर्म मिथ्यात्वमोहनीयं चारित्रमोहनीयं
वा वेदयन् उदीर्णमोह इत्यर्थः ।

१।१८८. 'से' कहमेयं भंते !'ति अथ 'कथं' केन प्रकारेण 'एतद्' अपक्रमणम् 'एवं'ति मोहनीयं वेदयमानस्येति । इहोत्तरं—'गोयमे'त्यादि 'पूर्वम्'
अपक्रमणात् प्राग् 'असौ' अपक्रमणकारी जीवः 'एतद्' जीवादि अहिंसादि वा वस्तु 'एवं' यथा जिनेरुक्तं 'रोचते' श्रद्धते करोति वा । 'इदानीं'
मोहनीयोदयकाले सः जीवः एतद् जीवादि अहिंसादि वा एवं यथा जिनेरुक्तं 'नो रोचते' न श्रद्धते न करोति वा । 'एवं खलु' उक्तप्रकारेण
'एतद्' अपक्रमणं एवं मोहनीयवेदनेत्यर्थः ।

मोहनीयकर्माधिकारात् सामान्यकर्म चिन्तयन्नाह—

१।१८९. 'से नूण'मित्यादि 'नेरइवस्स वे'त्यादौ नास्ति मोक्षः इत्येवं सम्बन्धात् षष्ठी । 'जे कडे'ति तैरेव यद् बद्धं 'पावे कम्मे'ति 'पापं' अशुभं नरकगत्यादि,
सर्वमेव वा 'पापं' दुष्टं मोक्षव्याधातहेतुत्वात् । 'तस्स'ति तस्मात्कर्मणः सकाशात् 'अवेइयत्त'ति तत्कर्मननुभूय ।

१।१९०. 'एवं खलु'ति वक्ष्यमाणप्रकारेण 'खलु' वाक्यालंकारे 'मए'ति मया, अनेन च वस्तुप्रतिपादने सर्वज्ञत्वेनात्मनः स्वातन्त्र्यं प्रतिपादयति । 'पएसकम्मे'
य'ति प्रदेशः—कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोत्प्रेतास्तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म । 'अणुभागकम्मे य'ति अनुभागः—तोषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानता-
विषयो रसस्तद्रूपं कर्म अनुभागकर्म । तत्र यत् प्रदेशकर्म तन्नियमाद् वेदयति, विपाकस्याननुभवनेऽपि कर्मप्रदेशानामवश्यं क्षपणात्, प्रदेशेभ्यः
प्रदेशान्नियमाच्छतयतीत्यर्थः । अनुभागकर्म च तथाभावं वेदयति वा न वा, यथा मिथ्यात्वं तद्वक्ष्योपशमकालेऽनुभागकर्मतया न वेदयति
प्रदेशकर्मतया तु वेदयत्येवेति ।

इह च द्विविधेऽपि कर्मणि वेदयितव्ये प्रकारद्वयमस्ति, तच्चाहर्तैव ज्ञायते इति दर्शयन्नाह—'ज्ञातं' सामान्येनावगतम्, एतद् वक्ष्यमाणं वेदनाप्रकारद्वयं
'अर्हता' जिनेन 'सुयं'ति 'स्मृतं' प्रतिपादितम् अनुचिन्तितं वा । तत्र स्मृतमिव स्मृतं केवलित्वेन स्मरणाभावेऽपि जिनस्यात्यन्तमव्यभि-
चारसाधर्म्यादिति । 'विष्णायं'ति विविधप्रकारैः देशकालादिविभागरूपैर्ज्ञातं विज्ञातम् ।

तदेवाह—'इमं कम्मं अयं जीवे'ति अनेन द्वयोरपि प्रत्यक्षतामाह केवलित्वादर्हतः । 'अब्भोवगमियाए'ति प्राकृतत्वाद्भ्युपगमः प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो
ब्रह्मचर्यभूमिशयनकेशलुञ्चनादीनामंगीकारस्तेन निर्वृता आभ्युपगमिकी तथा 'वेयइस्सइ'ति भविष्यत्कालनिर्देशः । भविष्यत्पर्यवस्यो विशिष्टज्ञान-
वतामेव ज्ञेयः अतीतो वर्तमानश्च पुनरनुभवद्वारेणान्यस्यापि ज्ञेयं संभवतीति ज्ञापनार्थः । 'उवक्कमियाए'ति उपक्रम्यते अनेनेत्युपक्रमः—
कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी—स्वयमुदीर्णस्योदीरणाकरणेन वोदयमुपनीतस्य^३ कर्मणोऽनुभवस्तथा औपक्रमिक्या वेदनया वेदयिष्यति ।

तथा च 'आहाकम्मं'ति यथाकर्म—बद्धकर्मानतिक्रमेण 'अहानिगरणं'ति निकरणानां—नियतानां देशकालादीनां करणानां—
विपरिणामहेतुनामनतिक्रमेण यथा यथा तत्कर्म भगवता दृष्टं तथा तथा विपरिणंस्यतीति, इति शब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति ।

अनन्तरं कर्म चिन्तितं । तच्च पुद्गलात्मकमिति परमाण्वादिपुद्गलांश्चिन्तयन्नाह—अथवा परिणामाधिकारात् पुद्गलपरिणाममाह—

१।१९१. 'एस णं भंते !'इत्यादि 'पोम्ले'ति परमाणुरुत्तरत्र स्कन्धग्रहणात् । 'तीतं'ति अतीतम्, इह च सर्वेऽध्वभावकाला इत्यनेनाधारे द्वितीया । ततश्च
सर्वस्मिन्नतीत इत्यर्थः । 'अणंतं'ति अपरिमाणं, अनादित्वात् । 'सासयं'ति सदा विद्यमानं, न हि लोकोऽतीतकालेन कदाचिच्छून्य इति । 'समयं'
ति कालं । 'भुवि'ति अभूदिति । एतद्वक्तव्यं स्यात्? सद्भूतार्थत्वात् ।

१।१९२. 'पडुण्णं'ति प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमित्यर्थः । वर्तमानस्यापि शाश्वतत्वं सदाभावाद् ।

१।१९३. एवमनागतस्यापीति ।

अनन्तरं स्कन्धः उक्तः । स्कन्धश्च स्वप्रदेशापेक्षया जीवोऽपि स्यादिति जीवसूत्रं, जीवाधिकाराच्च प्रायो यथोत्तरप्रधानजीववस्तुवक्तव्यतामुद्देशकान्तं
यावदाह—

१।२००. 'छमस्ये ण'मित्यादि । इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो, न पुनरकेवलमात्रम् । उत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति । केवलेणं ति
असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णं वाऽसाधारणेन वा यदाह—

“केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च ।”

‘संजमेणं’ति पृथिव्यादिरक्षणरूपेण, ‘संवरेण’ति इन्द्रियकषायनिरोधेन, ‘सिञ्जिसु’ इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति ।

एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृथं—यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमादयोऽपि भवन्ति विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति ।

१।२०१. ‘अंतकरे’ति भवान्तकारिणः, ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह—‘अंतिमसरीरिया व’ति अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाः चरमदेहा इत्यर्थः । वाशब्दो समुच्चये । ‘सव्वदुक्खाणमंतं करेसु’इत्यादौ ‘सिञ्जिसु सिञ्जती’त्याद्यपि द्रष्टव्यं सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात् सर्वदुःखान्तकरणस्येति ।

‘उपपन्ननाणदंसणधरे’ उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा, न त्वनादिसिद्धिज्ञानाः । अत एव ‘अरह’ति पूजार्हः ‘जिण’ति रागादिजेतारः । ते च छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह—‘केवली’ति सर्वज्ञाः ‘सिञ्जती’त्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् ‘सिञ्जिसु सिञ्जति सिञ्जिस्सती’त्वेवमतीतो निर्देशो द्रष्टव्यः, अत एव ‘सव्वदुक्खाण’मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति ।

१।२०४. ‘जहा छउमत्थो’इत्यादेरियं भावना ‘आहोहिणं भंते ! मणूसेऽतीतमणंतं सासय’मित्यादि दण्डकत्रयं । तत्राद्यः परमावधेरधस्ताद् योऽवधिः सोऽधोऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसौ आधोऽवधिकः—परिमितक्षेत्रविषयावधिकः । ‘परमाहोहिओ’ति परम आधोऽवधिकद् यः स परमाधोऽवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः । ‘परमोहिओ’ति छदित्पाठो, व्यक्तश्च । स च समस्तरूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः । ‘तिन्नि आलावण’ति कालत्रयभेदतः ।

१।२०५. ‘केवलीण’मित्यादि केवलिनोऽप्येते एव त्रयो दण्डकाः विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

१।२०८. ‘से णूण’मित्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति ।

१।२०९. ‘अलमत्सुति वत्तच्चं सिय’ति अलमस्तु पर्याप्तं भवतु, नातः परं किञ्चिद् ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्यास्तीत्येतद् वक्तव्यं ‘स्यात्’ भवेत् सत्यत्वादस्येति ।

॥ प्रथमशते चतुर्थोद्देशकः ॥

पञ्चम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशकस्यान्तिम सूत्रेष्वर्हदादय उक्तास्ते च पृथिव्यां भवन्तीति अथवा पृथिवीतोऽप्युद्भूता मनुजत्वमवाप्ताः सन्तस्ते भवन्तीति पृथिवीप्रतिपादनायाह तथा ‘पुढवि’ति यदुद्देशकसंग्रहिण्यामुक्तं तत्रातिपादनाय चाह—

१।२११. ‘कइ ण’मित्यादि तत्र ‘रयणप्पम’ति नरकवर्जं प्रायः प्रथमकाण्डे इन्द्रनीलादिवहुविधरत्नसंभवात् रत्नानां प्रभा—दीप्तिर्यस्यां सा रत्नप्रभा । यावत्करणादिदं दृश्यं—शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभेति, शब्दार्थश्च रत्नप्रभावदिति । ‘तमत्तम’ति तमस्तमःप्रभैत्यर्थः, तत्र प्रकृतं तमस्तमस्तमस्तस्येव प्रभा यस्याः सा तमस्तमःप्रभा ।

एतासु च नरकावासा भवन्तीति तान् आवासाधिकाराच्च शेषजीवावासान् परिमाणतो दर्शयन्नाह—

१।२१२. ‘इमीसे ण’मित्यादि, ‘अस्यां’ दिनेयप्रत्यक्षायां ‘निरयावाससयसहस्स’ति आवसन्ति येषु ते आवासाः नरकाश्च ते आवासाश्चेति नरकावासास्तेषां यानि शतसहस्राणि तानि तथेति ।

शेषपृथिवीसूत्राणि तु गाथाऽनुसारेणाध्येयानि, अत एवाह ‘गाह’ति सा चैयं ‘तीसा य पन्नवीसा’ इत्यादि । सूत्राभिलापश्च—‘सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए कइ निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता ? गोयमा ! पणवीसं निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता’ इत्यादिरिति ।

१।२१३. ‘छण्हं पि जुयलयाणं’ति दक्षिणोत्तरदिग्भेदेनासुरादिनिकायो द्विभेदो भवतीति युगलान्युक्तानि, तत्र षट्सु युगलेषु प्रत्येकं षट्सप्ततिर्भवन्नलक्षणापि । एषां चासुरादिनिकाययुगलानां दक्षिणोत्तरदिशोरयं विभागः—

“चउतीसा चउचत्ता अइत्तीसं च सयसहस्साओ ।

पभा चत्तालीसा दाहिणओ हुंति भवणाइं ॥”

‘चत्तालीस’ति द्वीपकुमारादीनां षण्णां प्रत्येकं चत्वारिंशद्भवन्नलक्षाः,

“तीसा चत्तालीसा चोत्तीसं चैव सयसहस्साइं ।

छायाला छत्तीसा उत्तरओ होंति भवणाइं ॥”

‘छत्तीस’ ति द्वीपकुमारादीनां षण्णां प्रत्येकं षट्त्रिंशद्भवन्नलक्षणापीति ।

अथाधिकृतोद्देशकार्यसंग्रहाय गाथामाह—

१. कालत्रय निर्देशनन्य च. छ.

१।२१४, २१५. 'पुढवी' त्यादि, तत्र पुढवीति लुप्तविभक्तिकत्वाद्भिर्देशस्य पृथिवीषु, उपलक्षणत्वाच्चास्य पृथिव्यादिषु जीवावासेष्विति द्रष्टव्यमिति । 'ठिइ'ति 'सूचनात् सूत्र'मिति न्यायात् स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः । एवं 'ओगाहणे'ति अवगाहनास्थानानि । शरीरादिपदानि तु व्यक्तान्येव । एकारान्तं च पदं प्रथमैकवचनान्तं दृश्यम्, इत्येवमेतानि स्थितिस्थानादीनि दश वस्तूनि इहोदेशके विचारयितव्यानीति गाथासमासार्थः । विस्तारार्थं तु सूत्रकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति ।

तत्र रत्नप्रभापृथिव्यां स्थितिस्थानानि तावन्नरूपयन्नाह—

१।२१६. 'इमीसे ण'मित्यादि व्यक्तं, नवरं 'एयमेगंसि निरयावासंसि'ति प्रतिनरकावासमित्यर्थः 'ठितिठण' ति आयुषो विभागाः 'असंखेज्ज' ति संख्यातीतानि, कथं ? प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उक्त्वा तु सागरोपमम् । एतस्यां वैकैकसमयवृद्ध्याऽसंख्येयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, असंख्येयत्वात्सागरोपमसमयानामिति ।

एवं नरकावासापेक्षयाऽप्यसंख्येयान्येव तानि केवलं तेषु जघन्योत्कृष्टविभागो ग्रन्थान्तरादवसेयो, यथा प्रथमप्रस्तटनकरेषु जघन्या स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उक्त्वा तु नवतिरिति एतदेव दर्शयन्नाह—'जहणिया ठिती' त्यादि, जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्रादिका इत्येकं स्थितिस्थानं, तच्च प्रतिनरकं भिन्नरूपं, सैव समयाधिकेति द्वितीयं, इदमपि विचित्रम्, एवं यावदसंख्येयसमयाधिका सा, सर्वान्तिमस्थितिस्थानदर्शनायाह—'तप्पाउग्गुक्कोसिय'ति उक्त्वा असावनेकविधेति विशेष्यते तस्य—विवक्षितनरकावासस्य प्रायोग्या—उचिता उत्कर्षिका तत्रायोग्यो-त्कर्षिका इत्यपरं स्थितिस्थानम्, इदमपि 'विचित्रं', 'विचित्रत्वादुत्कर्षस्थितेरिति ।

एवं स्थितिस्थानानि प्ररूप्य तेष्वेव क्रोधाद्युपयुक्तत्वात्प्रारकाणां विभागेन दर्शयन्निदमाह—

१।२१७. 'इमीसे ण'इत्यादि 'जहणियाए ठिईए वट्टमाण'ति या यत्र नरकावासे जघन्या तस्यां वर्तमानाः 'किं कोहोवउत्ते'त्यादि प्रश्ने 'संखेवी' त्याद्युत्तरं । तत्र च प्रतिनरकं जघन्यस्थितिकानां एकादिसंख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिकानां तु कादाचित्कत्वात् तेषु च क्रोधाद्युपयुक्तानामेकत्वानेकत्वसंभवादशीतिर्भङ्गाः । एकेन्द्रियेषु तु सर्वकषायोपयुक्तानां प्रत्येकं बहूनां भावादभङ्गकम् । आह च—

“संभवइ जहिं विरहो असीई भंगा तहिं करेज्जाहि ।

जहियं न होइ विरहो, अभंगयं सत्तवीसा वा ॥”

अयं च तत्सत्तापेक्षो विरहो द्रष्टव्यो, न तूपादापेक्षया । यतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता उपादविरहकाल उक्तः । ततश्च यत्र सप्तविंशति-र्भगकाः उच्यन्ते, तत्रापि विरहभावादशीतिः प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एवेति ।

तत्र 'संखेवि ताव होज्ज कोहोवउत्ते'ति, प्रतिनरकं स्वकीयस्वकीयस्थित्यपेक्षया जघन्यस्थितिकानां नारकाणां सदैव बहूनां सद्भावात् नारकभवस्य च क्रोधोदयप्रचुरत्वात्सर्व एव क्रोधोपयुक्ता भवेयुरित्येको भंगः ।

'अहवा' इत्यादिना द्वित्रिचतुः संयोगभंगा दर्शिताः । तत्र द्विकसंयोगे बहुवचनान्तं क्रोधमयुञ्जता षड्भंगाः कार्याः, तथाहि—क्रोधोपयुक्तश्च मानोपयुक्तश्च १ तथा क्रोधोपयुक्तश्च मानोपयुक्तश्च २ एवं मायया एकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ, लोभेन च द्वौ एवमेते द्विकसंयोगे षट् ।

त्रिकसंयोगे तु द्वादश भवन्ति १२, तथाहि—क्रोधे नित्यं बहुवचनं मानमाययोरेकवचनमित्येकः १ मानैकत्वे मायाबहुत्वे च द्वितीयः २ माने बहुवचने मायावामेकत्वमिति च तृतीयः ३, मानबहुत्वे मायाबहुत्वे च चतुर्थः ४, पुनः क्रोधमानलोभैरित्येवमेव चत्वारः ४, पुनः क्रोधमायालोभै-रित्येवमेव चत्वारः ४ एवमेते द्वादश ।

चतुष्कसंयोगे त्वष्टौ, तथाहि—क्रोधे बहुवचनेन मानमायालोभेषु चैकवचनेनैकः, इत्यमेव लोभे बहुवचनेन द्वितीयः । एवमेतावेकवचनान्त-मायया जातौ, एवमेव बहुवचनान्तमाययाऽन्यौ द्वौ—एवमेते चत्वार एकवचनान्तमानेन जाताः, एवमेव बहुवचनान्तमानेन चत्वार इत्येवमष्टौ, एवमेते जघन्यस्थितिषु नारकेषु सप्तविंशतिर्भवन्ति, जघन्यस्थितौ हि बहवो नारका भवन्त्यतः क्रोधे बहुवचनमेव ।

१।२१८. 'समयाहियाए जहण्डिईए वट्टमाण नेरइया किं कोहोवउत्ता' इत्यादि प्रश्नः इहोत्तरम्—'कोहोवउत्ते य' इत्यादयोऽशीतिर्भङ्गाः । इह समया-धिकायां यावत्संख्येयसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ नारका न भवन्त्यपि भवति चेदेको वाऽनेको वेति ततः क्रोधादिष्वेकत्वेन चत्वारो विकल्पाः, बहुत्वेन चान्ये चत्वार एव । ४

द्विकसंयोगे चतुर्विंशतिः, तथाहि—क्रोधमानयोरेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारः ४, एवं क्रोधमाययोः ४, एव क्रोधलोभयोः ४, एवं मानमाययोः ४, एवं मानलोभयोः ४, एवं मायालोभयोरिति ४ द्विकयोगे चतुर्विंशतिः ।

त्रिकयोगे द्वात्रिंशत्, तथाहि—क्रोधमानमायास्वेकत्वेनैकः, एष्वेव मायाबहुत्वेन द्वितीयः एवमेतौ मानैकत्वेन, द्वावेवान्यौ तद्बहुत्वेन, एवमेते चत्वारः क्रोधैकत्वेन, चत्वार एवान्ये क्रोधबहुत्वेनेत्येवमष्टौ क्रोधमानमायात्रिके जाताः । तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमानलोभेषु । तथैवान्येऽष्टौ क्रोध-मायालोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ मानमायालोभेष्विति द्वात्रिंशत् ।

चतुष्कसंयोगे षोडश, तथाहि—क्रोधादिष्वेकत्वेनैको लोभस्य बहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मायैकत्वेन, तथाऽन्यौ मायाबहुत्वेन, एवमेते चत्वारो मानैकत्वेन, तथाऽन्ये चत्वार एव मानबहुत्वेन, एवमेतेऽष्टौ क्रोधैकत्वेन । एवमन्येऽष्टौ क्रोधबहुत्वेनेति षोडश । एवमेते सर्व एवाशीतिरिति । एते च जघन्यस्थितौ एकादिसंख्यातान्तसमयाधिकायां भवन्ति, असंख्यातसमयाधिकायास्तु जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टस्थितिं यावत्सप्तविंशति-र्भङ्गास्त एव, तत्र नारकाणां बहुत्वादिति ।

अथावगाहनाद्वारं तत्र—

१।२१६. 'ओगाहणाठाण'ति अवगाहन्ते—आसते यस्यां साऽवगाहना—तनुस्तदाधारभूतं वा क्षेत्रं तस्याः स्थानानि—प्रदेशवृद्ध्या विभागः अवगाहना स्थानानि, तत्र 'जहन्निय' ति जघन्याऽगुलासंख्येयभागमात्रा सर्वनरकेषु 'तप्पाउग्गुक्कोसिय'ति तस्य विवक्षितनरकस्य प्रायोग्या या उत्कर्षिका सा तत्रायोग्योत्कर्षिका यथा त्रयोदशप्रस्तटे धनुःसप्तकं रत्नत्रयमंगुलषट्कं चेति ।

१।२२०. 'जहन्नियाए'इत्यादि जघन्यायां तस्यामेव चैकादिसंख्यातान्तप्रदेशाधिकायामवगाहनायां वर्तमानानां नारकाणामल्पत्वात् क्रोधाद्युपयुक्त एकोऽपि लभ्यतेऽतोऽशीतिर्भङ्गः । 'असंखेज्जपएसे'त्यादि, असंख्यातप्रदेशाधिकायां तत्रायोग्योत्कृष्टायां च नारकाणां बहुत्वात् तेषु च बहूनां क्रोधोपयुक्तत्वेन क्रोधे बहुवचनस्य भावात् मानादिषु त्वेकत्वबहुत्वसंभवात् सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्तीति ।

ननु ये जघन्यस्थितयो जघन्यावगाहनाश्च भवन्ति तेषां जघन्यस्थितिकत्वेन सप्तविंशतिर्भङ्गकाः प्राप्नुवन्ति जघन्यावगाहनत्वेन चाशीतिरिति विरोधः? अत्रोच्यते, जघन्यस्थितिकानामपि जघन्यावगाहनाकालेऽशीतिरेव, उत्पत्तिकालभावित्वेन जघन्यावगाहनामल्पत्वादिति, या च जघन्यस्थितिकानां सप्तविंशतिः सा जघन्यावगाहनत्वमतिक्रान्तानामिति भावनीयम् ।

शरीरद्वारे—

१।२२२. 'सत्तावीसं भंग'ति अनेन यद्यपि वैक्रियशरीरे सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तास्तथाऽपि या स्थित्याश्रया अवगाहनाश्रया च भङ्गकरूपणा सा तथैव दृश्या, निरवकाशत्वात्तस्याः, शरीराश्रयायाश्च सावकाशत्वात् । एवमन्यत्रापि विमर्शनीयमिति ।

१।२२३. 'एण्णं गमेणं तिन्नि सरीरया भाणियव्व' ति, वैक्रियशरीरसूत्रपाठेन त्रीणि शरीरकाणि वैक्रियतैजसकार्मणानि भणितव्यानि, त्रिष्वपि भङ्गकाः सप्तविंशतिर्याच्येत्यर्थः ।

ननु विग्रहगतौ केवले ये तैजसकार्मणशरीरे स्यातां तयोरेवत्वेनाशीतिरपि भङ्गकानां संभवतीति कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति ? अत्रोच्यते—सत्यमेतत्, केवलं वैक्रियशरीरानुगतयोस्तयोरिहाश्रयणं केवलयोश्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेवेति । यच्च द्वयोरैवातिदेश्यत्वे त्रीणीत्युक्तं तत् त्रयाणामपि गमस्यात्यन्तसाम्योपदर्शनार्थमिति ।

संहननद्वारे—

१।२२४. 'छण्हं संघयणाणं असंघयणि'ति षण्णां संहननानां—वज्रर्षभनाराचादीनां मध्यादेकतरेणापि संहननेनासंहननानीति । कस्मादेवमित्यत आह—'नेवद्धी'त्यादि, नैवास्थ्यादीनि तेषां सन्ति अस्थिसंचयरूपं च संहननमुच्यते इति । 'अनिट्ठ'ति इष्यन्ते स्मेतीहास्तत्रिषेधादिनिष्ठाः, अनिट्ठमपि किञ्चित् कमनीयं भवतीत्यत उच्यते—अकान्ताः । अकान्तमपि किञ्चित् कारणवशात् प्रीतये भवतीत्याह—(ग्रन्थाग्रम् २०००) 'अप्पिया' अप्रीतिहेतवः । अप्रियत्वं तेषां कुतः ? यतः 'असुभ'ति असुभस्वभावाः । ते च सामान्या अपि भवन्तीत्यतो विशिष्यते—'अमणुण्ण'ति न मनसा—अन्तः-संवेदनेन शुभतया ज्ञायन्त इत्यमनोज्ञाः । अमनोज्ञता चैकदाऽपि स्यादत आह—'अमणाम'ति न मनसा अम्यन्ते—गम्यन्ते पुनः पुनः स्मरणतो ये ते अमनोऽमाः । एकार्थिका वैते शब्दाः अनिट्ठाप्रकर्षप्रतिपादनार्था इति । 'सरीरसंघायत्ताए'ति संघाततया, शरीररूपसंचयतयैत्यर्थः ।

संस्थानद्वारे—

१।२२६. 'किंसंठिय'ति किं संस्थितं—संस्थानं येषां तानि किंसंस्थितानि । 'भवधारणिज्ज'ति, भवधारणं—निजजन्मातिवाहनं प्रयोजनं येषां तानि भवधारणीयानि, आजन्मधारणीयानीत्यर्थः । 'उत्तरवेउक्विय'ति पूर्ववैक्रियापेक्षयोत्तराणि—उत्तरकालभावीनि वैक्रियाणि उत्तरवैक्रियाणि, 'हुंडसंठिय'ति सर्वत्रासंस्थितानि ।

दृष्टिद्वारे—

१।२३३. 'सम्मामिच्छदंसणे असीइभंग'ति मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात्तद्भावस्यापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि लभ्यते इत्यशीतिर्भङ्गाः ।

ज्ञानद्वारे—

१।२३४. 'तिन्नि णाणाइं नियम'ति ये ससम्यक्त्वा नरकेषूत्पद्यन्ते, तेषां प्रथमसमयादारभ्य भवप्रत्ययस्याविधिज्ञानस्य भावात् त्रिज्ञानिन एव ते । ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते संज्ञिभ्योऽसंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये संज्ञिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभंगस्य भावात् त्र्यज्ञानिनः, ये त्वसंज्ञिभ्यस्तेषामाद्या-दन्तर्मुहूर्तात्परतो विभंगस्योत्पत्तिरिति तेषां पूर्वमज्ञानद्वयं पश्चाद् विभंगोत्पत्तावज्ञानत्रयमित्यत उच्यते—'तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए' ति 'भजनया' विकल्पनया कदाचिद् द्वे कदाचित् त्रीणीत्यर्थः । अत्रार्थे गाथे स्याताम्—

“सबी नेरइएसुं उरत्तपरिचायणंतरे समए ।
विभंगं ओहिं वा अविग्गहे विग्गहे लहइ । ।
अस्समी नरएसुं पज्जतो जेण लहइ विभंगं ।
नाणा तिभेव तओ अण्णाणा दोन्नि तिभेव ॥”

१।२३६. 'एवं तिन्नि णाणे'त्यादि, आभिनिबोधिकज्ञानवत् सप्तविंशतिर्भङ्गक्रोपेतानि आद्यानि त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि चेति । इह च त्रीणि ज्ञानानीति यदुक्तं तदाभिनिबोधिकस्य पुनर्गणनेनान्यथा द्वे एव ते वाच्ये स्यातामिति । 'तिन्नि अण्णाणाइं' इत्यत्र यदि मत्स्यज्ञानश्रुताज्ञाने विभंगात्पूर्वकालभाविनी विवक्ष्येते ततो जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिर्भङ्गकास्तेषामवसेया इति ।

योगद्वारे—

१।२४०. 'एवं कायजोए'ति, इह यद्यपि केवलकार्मणकाययोगेऽशीतिर्भङ्गाः संभवन्ति तथाऽपि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाययोगाश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्तेति ।

उपयोगद्वारे—

१।२४१. 'सागारोवउत्त'ति, आकारो—विशेषांशग्रहणशक्तिस्तेन सहेति साकारः, तद्विकलोऽनाकारः सामान्यग्राहीत्यर्थः ।

१।२४४. 'णाणत्तं लेसासु'ति, रत्नप्रभापृथिवीप्रकरणवच्छेषपृथिवीप्रकरणान्यध्यायानि, केवलं लेश्यासु विशेषः, तासां भिन्नत्वाद्, उक्त एव तद्दर्शनाय गाथा—'काऊ'इत्यादि । तत्र 'तइयाए मीसिय'ति बालुकाप्रभाप्रकरणे उपरितननरकेषु कापोती, अधस्तनेषु तु नीली भवतीति ते यथासंभवं प्रश्नसूत्रे चाध्येतव्य इत्यर्थः । यच्च सूत्राभिलाषेषु नरकावाससंख्यानानात्वं, तत् 'नीला य पन्नवीसा' इत्यादिना पूर्वप्रदर्शितेन समवसेवमिति । एवं च सूत्राभिलाषः कार्यः—'सक्करम्भाए णं भंते ! पुढवीए पणवीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एकमेकंसि निरयावासंसि कइ लेसाओ पन्नताओ ? गोयमा ! एमा काउलेसा पण्णता । सक्करम्भाए णं भंते ! जाव काउलेसाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?, इत्यादि 'जाव सत्तावीसं भंगा' । एवं सर्वपृथिवीषु गाथानुसारेण वाच्याः ।

असुरकुमाराप्रकरणे—

१।२४५. 'पडिलोमा भंग'ति नारकप्रकरणे हि क्रोधमानादिना क्रमेण भङ्गनिर्देशः कृतः, असुरकुमारादिप्रकरणेषु लोभमायादिनाऽसौ कार्य इत्यर्थः । अत एवाह—'सव्वेवि ताव होज्ज लोहोवउत्त'ति, देवा हि प्रायो लोभवन्तो भवन्ति तेन सर्वेऽप्यसुरकुमारा लोभोपयुक्ताः स्युः । द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहुवचनमेव । मायोपयोगे त्वेकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भंगकौ । एवं सप्तविंशतिर्भंगकाः कार्यः ।

'नवरं णाणत्तं जाणियव्वं' ति नारकाणामसुरकुमारादीनां च परस्परं नानात्वं ज्ञात्वा प्रश्नसूत्राणि उतरसूत्राणि चाध्येयानीति हृदयं, तच्च नारकाणामसुरकुमारादीनां च संहननसंस्थानलेश्यासूत्रेषु भवति, तच्चैवं—'चउसट्टीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेकंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरगा किंसंघयणी ? गोयमा ! असंघयणी, जे पोग्गला इह्ठ कंता ते तेसि संघायत्ताए परिणमति, एवं संठाणेषु, नवरं भवधारणिज्जा समवउरंसंठिया उत्तरवेउच्चिया अत्रयरसंठिया एवं लेसासुवि ।

'नवरं कइ लेसाओ पन्नताओ ? गोयमा ! चत्तारिं तंजहा—किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा, चउसट्टीए णं जाव कण्हलेसाए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता ? गोयमा ! सव्वेवि ताव होज्ज लोहोवउत्ता'इत्यादि । एवं 'नीलाकाऊतेऊवि' नागकुमारादिप्रकरणेषु तु 'नुलसीए नागकुमारावाससयसहस्सेसु' इत्येवं "चउसट्टी असुराणं नागकुमाराणं होइ चुलसीइ" इत्यादेर्वचनान् प्रश्नसूत्रेषु भवनसंख्यानानात्वमवगम्य सूत्राभिलाषः कार्य इति ।

१।२४७. 'एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु ठाणेषु अभंगयं'ति, पृथिवीकायिका एकैकस्मिन् कषाये उपयुक्ता बहवो लभ्यन्त इत्यभंगकं दशस्वपि स्थानेषु । नवरं 'तेउलेसाए असीई भंग'ति, पृथिवीकायिकेषु लेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या, सा च यदा देवलोकाद्युतो देव एकोऽनेको वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते तदा भवति । ततश्च तदैकत्वादिभवनानादशीतिर्भंगका भवन्तीति ।

इह पृथिवीकायिकप्रकरणे स्थितिस्थानद्वारं साक्षाल्लिखितमेवस्ति । शेषाणि तु नारकवद्व्याच्यानि, तत्र च 'नवरं णाणत्तं जाणियव्वं' इत्येतस्यानुवृत्तेर्नानात्वमिह प्रश्नत उत्तरतश्चावसेयं, तच्च शरीरादिषु सप्तसु द्वारेष्विदम्—'असंखिज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावासासयसहस्सेसु जाव पुढविकाइयाणं कइ सरीरा पन्नता ? गोयमा ! तिञ्चि सरीरा, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए' । एतेसु च 'कोहोवउत्तावि माणोवउत्तावी'त्यादि वाच्यम् ।

तथा 'असंखेज्जेसु णं जाव पुढविकाइयाणं सरीरगा किंसंघयणी ?' इत्यादि तथैव, नवरं 'पोग्गला मणुज्जा अमणुज्जा सरीरसंघायत्ताए परिणमति' । एवं संस्थानद्वारेऽपि, किन्तु उत्तरे 'हुंडसंठिया' एतावदेव वाच्यं, न तु 'दुविहा सरीरगा पन्नता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउच्चिया य' इत्यादि, पृथिवीकायिकानां तदभावादिति ।

लेश्याद्वारे पुनरेवं वाच्यं—'पुढविकाइयाणं भंते ! कइ लेसाओ पन्नताओ ? गोयमा ! चत्तारिं, तंजहा—कण्हलेसा जाव तेउलेसा' एतासु च तिसृष्वभंगकमेव । तेजोलेश्यायां त्वशीतिर्भंगकाः, एतच्च प्रागेवोक्तमिति ।

दृष्टिद्वारे इदं वाच्यम्—'असंखेज्जेसु जाव पुढविकाइया किं सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी सम्मागिच्छदिट्ठी ? गोयमा ! मिच्छदिट्ठी' शेषं तथैव ।

ज्ञानद्वारेऽपि तथैव, नवरं 'पुढविकाइया णं भंते ! किं णाणी अज्जाणी ? गोयमा ! णो णाणी अज्जाणी—नियमा दोअज्जाणी ।

योगद्वारेऽपि तथैव, नवरं 'पुढविकाइया णं भंते ! किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ? गोयमा ! नो मणजोगी नो वयजोगी कायजोगी' ।

१।२४८. 'एवं आउक्काइयावि'ति पृथिवीकायिकवदक्कायिका अपि वाच्याः, ते हि दशस्वपि स्थानकेष्वभंगकाः तेजोलेश्यायां चाशीतिर्भंगकवन्तो, यतस्तेष्वपि देव उत्पद्यत इति ।

१।२४९. 'तेउक्काइए'त्यादौ सव्वेसु वि ठाणेषु'ति स्थितिस्थानादिषु, दशस्वप्यभंगकं, क्रोधाद्युपयुक्तानामेकदैव तेषु बहूनां भावात् । इह देवा नोत्पद्यन्त इति तेजोलेश्या तेषु नास्ति, ततस्तत् संभवान्नाशीतिरपीत्यभंगकमेवेति । एतेषु च सूत्राणि पृथिवीकायिकसमानि केवलं वायुकायसूत्रेषु शरीरद्वारे एवमध्येयम्—'असंखेज्जेसु णं भंते ! जाव वाउक्काइयाणं कइ सरीरा पन्नता ? गोयमा ! चत्तारिं तंजहा—ओरालिए वेउच्चिए तेयए कम्मए'ति ।

१।२५०. 'वणप्फइकाइए'त्यादि, वनस्पतयः पृथिवीकायिकसमाना वक्तव्याः दशस्वपि स्थानकेषु भंगकाभावात् । तेजोलेश्यायां च तथैवाशीतिर्भंगकसद्भावादिति ।

ननु पृथिव्यपवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वभ्युपगम्यते । तत एव च ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च, अल्पाश्चिते इत्येवमशीतिर्भंगाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु ? नैवं, पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविवक्षितत्वात्, तत एवोच्यते—

“उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उववणो”ति,

‘उभयं’ प्रदिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपमिति ।

१।२५१. ‘बेइंदिए’त्यादावेवमक्षरघटना—‘जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं असीइं चेव’ति तत्रैकादि-संख्यातान्तसमायाधिकायां जघन्यस्थितौ १ तथा जघन्यायामवगाहनायां च २ तत्रैव च संख्येयान्तप्रदेशवृद्ध्यायां ३ मिश्रदृष्टौ च नारकाणामशीतिर्भंगका उक्ताः । विकलेन्द्रियाणामप्येतेषु स्थानेषु मिश्रदृष्टिवर्जेष्वशीतिरेव, अल्पत्वात्तेषां एकैकस्यापि क्रोधाद्युपयुक्तस्य संभवात् । मिश्रदृष्टिस्तु विकलेन्द्रियेष्वेकेन्द्रियेषु च न भवतीति न विकलेन्द्रियाणां तत्राशीतिस्तत्राप्यभंगकमिति इति । वृद्धैस्त्वह सूत्रे कुतोऽपि दाचनाविशेषाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभंगकमिति व्याख्यातमिति ।

इहैव विशेषाभिधानायाह—नवरमित्यादि, अयमर्थः—दृष्टिद्वारे ज्ञानद्वारे च नारकाणां सप्तविंशतिरुक्ता, विकलेन्द्रियाणां तु ‘अब्यहिय’ति अन्यधिकान्यशीतिर्भंगकानां भवति, क ? इत्याह—सम्यक्त्वे’ अल्पीयसां हि विकलेन्द्रियाणां सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं भवति । अल्पत्वाच्च तेषामेकत्वस्यापि संभवेनाशीतिर्भंगकानां भवति । एवमाभिनिबोधिके श्रुते चेति ।

तथा ‘जेही’त्यादि, येषु स्थानेषु नैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भंगकास्तेषु स्थानेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भंगकाभावः । तानि च प्रागुक्ताशीति-भंगकस्थानविशिष्टानि संतव्यानि, भंगकाभावश्च क्रोधाद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति ।

विकलेन्द्रियसूत्राणि च पृथिवीकायिकसूत्राणीवाध्येयानि, नवरमिह लेश्याद्वारे—तेजोलेश्या नाध्येतव्या ।

दृष्टिद्वारे च ‘बेइंदिया णं भंते ! किं सम्महिद्वी मिच्छदिद्वी समामिच्छदिद्वी ? गोयमा ! सम्महिद्वीवि मिच्छदिद्वीवि नो समामिच्छदिद्वी । सम्महंसणे वट्टमाणा बेइंदिया किं कोहोवउत्ता ?’ इत्यादि प्रश्ने उत्तरमशीतिर्भङ्गकाः ।

तथा ज्ञानद्वारे—‘बेइंदिया णं भंते ! किं णाणी अन्नाणी ? गोयमा ! णाणीवि अन्नाणीवि । जइ णाणी दुन्नाणी—‘मइणाणी सुयणाणी य’ शेषं तथैवाशीतिश्च भंगा इति ।

योगद्वारे—‘बेइंदिया णं भंते ! किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ? गोयमा ! णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी य’ शेषं तथैव । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्राप्यपि ।

१।२५२. ‘पंचिदिये’त्यादि ‘जहिं सत्तावीसं भंग’ति यत्र नारकाणां सप्तविंशतिर्भंगकास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चमभंगकं । तच्च जघन्यस्थित्यादिकं पूर्वं दर्शितमेव । भंगकाभावश्च क्रोधाद्युपयुक्तानां बहूनामेकदैव तेषु भावादिति । सूत्राणि चेह नारकसूत्रवदध्येयानि नवरं शरीरद्वारेऽयं विशेषः—‘असंखेज्जेसु णं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजोणियावासेसु पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया सरीरा पन्नता ? गोयमा ! चत्तारि, तंजहा—ओरालिए वेउळ्विए तेयए कम्मए’ सर्वत्र चाभंगकमिति ।

तथा संहननद्वारे ‘पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया संघयणा पन्नता ? गोयमा ! छ संघयणा पन्नता, तंजहा—वइरोसहनारायं जाव छेवट्टं’ति । एवं संस्थानद्वारेऽपि ‘छ संठाणा पन्नता, तंजहा—समचउरंसे ६’ ।

एवं लेश्याद्वारे—‘कइ लेसाओ पन्नताओ ? गोयमा ! छ लेसा पन्नता, तंजहा—किणहलेसा ६’ ।

१।२५३. ‘मणुस्साणवि’ति यथा नैरयिका दशसु द्वारेष्वभिहितास्तथा मनुष्या अपि भणितव्या इति प्रक्रमः, एतदेवाह—‘जेही’त्यादि, तत्र नारकाणां जघन्यस्थितावेकादिसंख्यातान्तसमायाधिकायां १ तथा जघन्यावगाहनायां २ तस्यामेव संख्यातान्तप्रदेशाधिकायां ३ मिश्रे च ४ अशीतिर्भंगका उक्ताः । मनुष्याणामप्येतेष्वशीतिरेव, तत्कारणं च तदल्पत्वमेवेति ।

नारकाणां मनुष्याणां च सर्वथा साम्यपरिहारयाह—‘जेसु सत्तावीसा’इत्यादि, सप्तविंशतिर्भंगकस्थानानि च नारकाणां जघन्यस्थित्यसंख्यात-समायाधिकजघन्यस्थितिप्रभृतीनि । तेषु जघन्यस्थितौ विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वेन तद्वर्जेषु मनुष्याणामभंगकम् । यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधोदय एव भवति । तेन तेषां सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तस्थानेषु युज्यन्ते । मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाद्युपयोगवतां बहूनां भावात्त्र कषायोदये विशेषोऽस्ति । तेन तेषां तेषु स्थानेषु भंगकाभाव इति ।

इहैव विशेषाभिधानायाह—नवरमित्यादि । येषु स्थानेषु नारकाणामशीतिस्तेषु मनुष्याणामप्यशीतिः तथा ‘जेसु सत्तावीसा तेषु अभंगय’मित्युक्तं, केवलं मनुष्याणामिदमभ्यधिकं यदुत जघन्यकस्थितौ तेषामशीतिर्न तु नारकाणां तत्र सप्तविंशतिरुक्तेत्यभंगकम् । तथाऽहारकशरीरे अशीतिराहारकशरीरवतां मनुष्याणामल्पत्वाच्चनारकाणां तु तत्रास्त्येवेत्येतदभ्यधिकं मनुष्याणामिति ।

इह च नारकसूत्राणां मनुष्यसूत्राणां च प्रायः शरीरादिषु चतुर्षु ज्ञानद्वार एव च विशेषः, तथाहि—‘असंखेज्जेसु णं भंते ! मणुस्सावासेसु मणुस्साणं कइ सरीरा पन्नता ? गोयमा ! पंच, तंजहा—ओरालिए वेउळ्विए आहारए तेयए कम्मए । असंखेज्जेसु णं जाव ओरालियसरीरे वट्टमाणा मणुस्सा किं कोहोवउत्ता ४ ? गोयमा ! कोहोवउत्तावि ४ । एवं सर्वशरीरकेषु नवरमाहारकेऽशीतिर्भंगकानां वाच्या ।

एवं संहननद्वारेऽपि नवरं ‘मणुस्साणं भंते ! कइ संघयणा पण्णता ? गोयमा ! छसंघयणा पण्णता, तंजहा—वइरोसहनाराए जाव छेवट्टे ।’

संस्थानद्वारे ‘छ संठाणा पण्णता, तंजहा—समचउरंसे जाव हुंडे ।’

लेश्याद्वारे ‘छ लेसाओ, तंजहा—किणहलेसा जाव सुकलेसा ।’

ज्ञानद्वारे ‘मणुस्साणं भंते ! कइ णाणाणि ? गोयमा ! पंच, तंजहा—आभिणिबोहियणाणं जाव केवलणाणं ।’ एतेषु च केवलवर्जेष्वभंगकम् केवले तु कषायोदय एव नास्तीति ।

१।२५४. ‘वाणमंतरे’त्यादि, व्यन्तरादयो दशस्वपि स्थानेषु यथा भवनवासिनस्तथा वाच्याः । यत्रासुरादीनामशीतिर्भंगका यत्र च सप्तविंशतिस्तत्र व्यन्तरादीनामपि ते तथैव वाच्याः । भङ्गकास्तु लोभमादौ विधायाध्येयाः । तत्र भवनवासिभिः सह व्यन्तराणां साम्यमेव, ज्योतिष्कादीनां तु न

तथेति तैस्तेषां सर्वथा साम्यपरिहारसूचनायाह—‘णवरं णाणत्तं जाणियच्चं जं जस्स’ ति ‘यत्’ लेश्यादिगतं ‘यस्य’ ज्योतिष्कादेः ‘नानात्वम्’ इतरापेक्षया भेदस्तद् ज्ञातव्यमिति । परस्परतो विशेषं ज्ञात्वैतेषां सूत्राण्यध्येयानीतिभावः ।

तत्र लेश्याद्वारे—ज्योतिष्काणामेकैव तेजोलेश्या वाच्या । ज्ञानद्वारे त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानान्येव त्रीण्येव, असंज्ञिनां तत्रोपपाताभावेन विभंग-स्यापर्याप्तकावस्थायामपि भावात् ।

तथा वैमानिकानां लेश्याद्वारे तेजोलेश्यादयस्तिस्त्रो लेश्या वाच्याः । ज्ञानद्वारे च त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि चेति । वैमानिकसूत्राणि चैवमध्येयानि—‘संखेज्जेसु णं भंते ! वेमाणियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावाससि केवइया ठिइठाणा पन्नत्ता ?’ इत्येवमादीनि ।

॥ प्रथमशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

अथ षष्ठो व्याख्यायते, तस्य चायं सम्बन्धः—अनन्तरोद्देशकेऽन्तिमसूत्रेषु ‘असंखेज्जेसु णं भंते ! ज्योतिसियवेमाणियावासेसु’ तथा संखेज्जेसु णं भंते ! वेमाणियावाससयसहस्सेसु’ इत्येतदधीतं, तेषु च ज्योतिष्कविमानावासाः प्रत्यक्षा एवेति तद्गतदर्शनं प्रतीय तथा ‘जावते’ इति यदुक्तभादि-गाथायां तच्च दर्शयितुमाह—

१।२५६. ‘जावइयाओ’ इत्यादि, यत्परिमाणत् ‘ओवासंतराओ’ ति ‘अवकाशान्तरात्’ आकाशविशेषादवकाशरूपान्तरालाद् वा, यावत्पवकाशान्तरे स्थित इत्यर्थः । ‘उदयते’ ति उदयन् उदगच्छन् ‘चक्खुप्फासं’ ति चक्षुषो—दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो न तु स्पर्श एव चक्षुषोऽप्राप्तकारित्वादिति चक्षुःस्पर्शस्तं । ‘हव्वं’ ति शीघ्रं, स च किल सर्वाम्यन्तरमण्डले सप्तचत्वारिंशति योजनानां सहस्रेषु द्वयोः शतयोजिषष्टौ (४७२६३) च साधिकायां वर्त्तमान उदये दृश्यते । अस्तमयेऽप्येवम् । एवं प्रतिमण्डलं दर्शने विशेषोऽस्ति, स च स्थानान्तरादवसेयः ।

१।२५७. ‘सव्वओ समंतं’ ति ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘समन्तात्’ विदिक्षु, एकार्थौ वैतौ । ‘ओभासई’ त्यादि ‘अवभासयति’ ईषत्प्रकाशयति यथा स्थूलतरमेव वस्तु दृश्यते । ‘उद्धोतयति’ भृशं प्रकाशयति यथा स्थूलमेव दृश्यते । ‘तपति’ अपनीतशीतं करोति यथा वा सूक्ष्मं पिपीलिकादि दृश्यते तथा करोति । ‘प्रभासयति’ अतितापयोगाद् विशेषतोऽपनीतशीतं विघत्ते यथा वा सूक्ष्मतरं वस्तु दृश्यते तथा करोतीति ।

एतत्क्षेत्रमेवाश्रित्याह—‘तं भंते !’ त्यादि—

१।२५८. ‘तं भंते !’ ति यत् क्षेत्रमवभासयति यदुद्धोतयति तपति प्रभासयति च ‘तत्’ क्षेत्रं किं भदन्त ! स्पृष्टमवभासयति अस्पृष्टमवभासयति ? इह यावत्करणादिदं दृश्यं—‘गोयमा ! पुडं ओभासेइ नो अपुडं ।

१।२५९. तं भंते ! ओगाढं ओभासेइ अणोगाढं ओभासेइ ? गोयमा ! ओगाढं ओभासइ नो अणोगाढं ।

१।२६०. एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ नो परम्पयोगाढं ।

१।२६१. तं भंते ! किं अणुं ओभासइ बायरं ओभासइ ? गोयमा ! अणुपि ओभासइ बायरपि ओभासइ ।

१।२६२. तं भंते ! उड्ढं ओभासइ तिरियं ओभासइ अहे ओभासइ ? गोयमा ! उड्ढंपि ओभासइ तिरियंपि ओभासइ अहेपि ओभासइ ।

१।२६३. तं भंते ! आइं ओभासइ मज्झे ओभासइ अंते ओभासइ ? गोयमा आइंपि ओभासइ मज्झेपि ओभासइ अंतेपि ओभासइ ।

१।२६४. तं भंते ! सविसए ओभासइ अविसए ओभासइ ? गोयमा ! सविसए ओभासइ नो अविसए ।

१।२६५. तं भंते ! आणुपुव्विं ओभासेइ अणाणुपुव्विं ओभासइ ? गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासइ नो अणाणुपुव्विं ।

१।२६६. तं भंते ! कइदिसिं ओभासइ ? गोयमा ! नियमा छदिसिं ति ।

एतेषां च पदानां प्रथमोद्देशकनारकाहारसूत्रव्याख्या दृश्येति ।

य एव ‘ओभासइ’ इत्यनेन सह सूत्रप्रपञ्च उक्तः स एव ‘उज्जोवेई’ त्यादिना पदत्रयेण वाच्य इति दर्शयन्नाह—

१।२६७. एवं ‘उज्जोवेई’ त्यादि । स्पृष्टं क्षेत्रं प्रभासयतीत्युक्तम् ।

अथ स्पर्शनामेव दर्शयन्नाह—

१।२६८. ‘सव्वति’ ति प्राकृत्वात् स्वतः सर्वासु दिक्षु ‘सव्ववति’ ति प्राकृतत्वादेव सर्वात्मना सर्वेण वाऽऽतपेनापत्तिः—व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापत्तिः, अथवा सर्व—क्षेत्रम्, इतिशब्दो विषयभूतं क्षेत्रं सर्वं न तु समस्तमेवेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थः । तथा सर्वेणातपेनापो—व्याप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वापत्तिः । इतिशब्दः सामान्यतः सर्वेणातपेन व्याप्तिर्न तु प्रतिप्रदेशं सर्वेणेत्यस्यार्थस्योपप्रदर्शनार्थः । अथवा सह व्यापेन—आतपव्याप्त्या यत्तत्सर्वव्यापम् । इतिशब्दस्तु तथैव ।

‘फुसमाणकालसमयं’ ति स्पृश्यमानक्षणे, अथवा स्पृशतः—सूर्यस्य स्पर्शनायाः कालसमयः स्पृशत्कालसमयस्तत्र आतपेनेति गम्यते, यावत्क्षेत्रं स्पृशति सूर्य इति प्रकृतं तावत्क्षेत्रं स्पृश्यमानं स्पृष्टमिति वक्तव्यं स्यादिति प्रश्नः । हन्तेत्याद्युत्तरं । स्पृश्यमानस्पृष्टयोश्चैकत्वं प्रथम-सूत्रादवगन्तव्यमिति ।

१. वेमाणियावासेसु ख. ग. घ. च. छ.

४. आसि ग.

२. अस्तमये ख. घ. छ.

५. सर्वासि ग.

३. वैतौ क. ख. ग. घ. च.

स्पर्शनामेवाधिकृत्याह—

१।२७०. 'लौयंते भंते ! अलोयंत'मित्यादि, लोकान्तः—सर्वतो लोकावसानम्, अलोकान्तस्तु तदनन्तर एवेति । इहापि—

१।२७१. 'पुष्टं फुसइ' इत्यादिसूत्रप्रपञ्चो दृश्यः, अत एवोक्तं 'जाव नियमा छद्दिसिं' ति । एतद्भावना चैवं—स्पृष्टमलोकान्तं लोकान्तः स्पृशति, स्पृष्टत्वं च व्यवहारतो दूरस्थस्यापि दृष्टं यथा चक्षुःस्पर्श इति, अत उच्यते—अवगाढम्—आसन्नमित्यर्थः । अवगाढत्वं चासतिमात्रमपि स्यादत उच्यते—अनन्तरावगाढम्—अव्यवधानेन संबद्धं न तु परम्पराऽवगाढं—शुंखलाकटिका इव परम्परासम्बद्धम् । तं चाणुं स्पृशति, अलोकान्तस्य क्वचिद्विवक्षया प्रदेशमात्रत्वेन सूक्ष्मत्वात् बादरमपि स्पृशति क्वचिद्विवक्षयैव बहुप्रदेशत्वेन बादरत्वात् । तमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च स्पृशति, ऊर्ध्वादिदिक्षु लोकान्तस्यालोकान्तस्य च भावात् । तं चादौ मध्येऽन्ते च स्पृशति कथम् ? अधस्तिर्यग्ूर्ध्वलोकप्रान्तानामादिमध्यान्तकल्पनात् । तं च स्वविषये स्पृशति—स्पृष्टावगाढादौ, नाविषयेऽस्पृष्टादाविति । तं चानुपूर्व्या स्पृशति, आनुपूर्वी चेह प्रथमे स्थाने लोकान्तस्ततोन्तरं द्वितीये स्थानेऽलोकान्त इत्येवमवस्थानतया स्पृशति, लोकान्तस्य पार्श्वतः सर्वतोऽलोकान्तस्य भावात् । इह च विदिक्षु स्पर्शना नास्ति दिशां लोकविष्कम्भप्रमाणत्वाद् विदिशां च तत्परिहारेण भावादिति ।

एवं द्वीपान्तसागरान्तादिसूत्रेषु स्पृष्टदिपदभावना कार्या । नवरं दीपान्तसागरान्तसूत्रे ।

१।२७२. 'छद्दिसिं इत्यस्यैवं भावना—योजनसहस्रावगाढा द्वीपाश्च समुद्राश्च भवन्ति, ततश्चोपरितनानधस्तानांश्च द्वीपसमुद्रप्रदेशानाश्रित्य ऊर्ध्वाधोदिग्व्ययस्य स्पर्शना वाच्या । पूर्वादिदिशां तु प्रतीतैव समन्ततस्तेषामवस्थानात् ।

१।२७३. 'उदयंते पोयंते'ति नद्याद्युदकान्तः 'पोतान्तं' नौपर्यवसानं, इहाप्युच्छ्रयापेक्षया उर्ध्वादिक्स्पर्शना वाच्या जलनिमज्जनेन वेति ।

१।२७४. 'छिदंते दूसंत'ति छिद्रान्तः 'दूष्यान्तं' वस्त्रान्तं स्पृशति इहापि षड्दिक्स्पर्शनाभावना वस्त्रोच्छ्रयापेक्षया । अथवा कम्बलरूपवस्त्रपोडलिकायां तन्मध्योत्पन्नजीवमक्षणेन तन्मध्यरन्नापेक्षया लोकान्तसूत्रवत् षड्दिक्स्पर्शना भावयितव्या ।

१।२७५. 'छायंते आयवंतं'ति इह छायाभेदेन षड्दिग्भावनैवम्—व्योमवर्तिपक्षिप्रभृतिद्रव्यस्य या छाया तदन्त आतपान्तं चतसृषु दिक्षु स्पृशति तथा तस्या एव छायाया भूमेः सकाशात्तद् द्रव्यं यावदुच्छ्रयोऽस्ति, ततश्च छायान्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशति । अथवा प्रासादवराण्डिकादेर्या छाया तस्या भित्तोरवतरन्त्या आरोहन्त्या वाऽन्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति भावनीयम् । अथवा तयोरेव छायाऽऽतपयोः पुद्गलानामसंख्येय-प्रदेशावगाहित्वाद्युच्छ्रयसद्भावः तत्सद्भावोच्चोर्ध्वाधोविभागः । ततश्च छायान्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति ।

स्पर्शनाऽधिकारादेव प्राणातिपातादिपापस्थानप्रभवकर्मस्पर्शनामधिकृत्याह—

१।२७६. 'अत्थि'ति अस्त्ययं पक्षः—'किरिया कजइ'ति क्रियत इति क्रिया—कर्म सा क्रियते—भवति ।

१।२७७. 'पुष्टे' इत्यादेर्वाख्या पूर्ववत् ।

१।२७८. 'कडा कजइ'ति कृता भवति, अकृतस्य कर्मणोऽभावात् ।

१।२७९. 'अत्तकडा कजइ'ति आत्मकृतमेव कर्म भवति, नान्यथा ।

१।२८०. 'अणाणुपुव्विं कडा कजइ'ति पूर्वपश्चाद्विभागो नास्ति यत्र तदनुपूर्वीशब्देनोच्यत इति ।

१।२८१. 'जहा नेरइया जहा एगिदियवजा भाणियव्वं' ति नारकवदसुरादयोऽपि वाच्याः । एकेन्द्रियवर्जाः ते त्वन्यथा, तेषां हि दिक्पदे 'निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं' इत्यादेर्विशेषाभिलापस्य जीवपदोक्तस्य भावात्, अत एवाह—'एगिदिया जहा जीवा तथा भाणियव्वं' ति ।

१।२८२. 'जाव मिच्छादंसणसल्ले' इह यावत्करणात् 'माणे मावा लोभे पेजे' अनभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वंगमात्रं प्रेम । 'दोसे' अनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपप्रीतिमात्रं द्वेषः । 'कलह' राटिः । 'अब्बक्वाणे' असहोषाविष्करणं । 'पेसुन्ने' प्रच्छन्नसहोषाविष्करणं । 'परपरिवाए' विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषचलनम् । 'अरतिरती' अरतिः—मोहनीयोदयाच्चित्तोदवेगस्तत्कला रतिः—विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिरतिरतिः । 'मायानोसे' तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः । अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वैधान्तरभाषान्तरकरणेन यत्परवच्चनं तन्मायामृषेति । मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्ययानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति ।

एवं तावद्गौतमद्वारेण कर्म प्ररूपितं । तच्च प्रवाहतः शाश्वतमित्यतः शाश्वतानेव लोकादिभावान् रोहकाभिधानमुनिपुंगवद्वारेण प्ररूपयितुं प्रस्तावयन्नाह—

१।२८३. 'तेणं कालेण'मित्यादि 'पगइमइए'ति स्वभावत एव परोपकारकरणशीलः । 'पगइमउए'ति स्वभावत एव भावमार्दविकः अत एव 'पगइविणीए'ति तथा 'पगइउवसंते'ति क्रोधोदयाभावात् । 'पगइपयणुकोहमाणभायालोभे' सत्यपि कषायोदये तत्कार्याभावात् प्रतनुक्रोधादिभावः । 'मिउमइव-संपपे'ति भृदु यन्मार्दवम्—अत्यर्थमहंकृतिजयस्तत्संपन्नः—प्राप्तो गुरुपदेशाद् यः स तथा 'अल्लीणे'ति गुरुसमाश्रितः संलीनो वा । 'मइए'ति अनुपतापको गुरुशिक्षागुणात् । 'विणीए'ति गुरुसेवागुणात् ।

१।२८४. 'भवसिद्धिया यत्ति भविष्यतीति भवा, भवसिद्धिः—निवृत्तिर्येषां ते भवसिद्धिकाः, भव्याः इत्यर्थः ।

१।२८५. 'सत्तमे उवासंतरे'ति सप्तमपृथिव्या अधोवर्त्याकाशमिति ।

सूत्रसंग्रहाय—के ? तत्र—

१।२८६. 'ओवासे'ति सप्तावकाशान्तराणि, 'वाय'ति तनुवाता, घनवाताः, 'घणउदहि'ति घनोदधयः सप्त, 'पुढवि'ति नरकपृथिव्यः सप्तैव, 'दीवा य'ति

१. न स्पर्शनास्ति क. ग. घ. च. छ.

२. स्पर्श घ. च.

जम्बूद्वीपादयोऽसंख्येया एव, 'सागरा' लवणादयः, 'वास'ति वर्षाणि भरतादीनि सप्तैव, 'नेरइयाइ'ति चतुर्विंशतिदण्डकः 'अत्थि य'ति अस्ति कायाः पञ्च, 'समय'ति कालविभागाः, कर्माण्यष्टौ, लेश्या षट्, दृष्टयो—मित्यादृष्ट्यादयास्तिस्रः, दर्शनानि चत्वारि, ज्ञानानि पञ्च, सञ्ज्ञाश्चतस्रः शरीराणि पञ्च, योगास्त्रयः, उपयोगौ द्वौ, द्रव्याणि षट्, प्रदेशा अनन्ताः पर्यवा अनन्ता एव, 'अद्ध'ति अतीताद्धा अनागताद्धा सर्वाद्धा चेति । 'पुव्विं लोयंति'ति, अयं सूत्राभिलापनिर्देशः, तथैव पश्चिमसूत्राभिलापं दर्शयन्नाह—

१।३०१. 'पुव्विं भंते ! लोयंते पच्छ सव्वद्धे'ति । एतानि च सूत्राणि शून्यज्ञानादिवादनिरासेन विचित्रवाह्याध्यात्मिकवस्तुसत्ताऽभिधानार्थानि ईश्वरादि-कृतत्वनिरासेन चानादित्वाभिधानार्थानीति ।

लोकान्नादिलोकपदार्थप्रस्तावाद्यथ गौतममुखेनलोकस्थितिप्रज्ञापनायाह—

१।३१०. 'कइविहा ण'मित्यादि, अयं सूत्राभिलापः—आकाशप्रतिष्ठितो वायुः—तनुवातघनवातरूपः, तस्यावकाशान्तरोपरि स्थितत्वात्, आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितमेवेति न तत्रतिष्ठाचिन्ता कृतेति(१) ।

तथा वातप्रतिष्ठित उदधिः—घनोदधिस्तनुवातघनवातोपरि स्थितत्वात्(२) ।

तथा उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी घनोदधीनामुपरि स्थितत्वात् रत्नप्रभादीनां, बाहुल्यापेक्षया चेदमुक्तम्, अन्यथा ईषत्प्राग्भारपृथिवी आकाश-प्रतिष्ठितैव(३) ।

तथा पृथिवीप्रतिष्ठितास्त्रस्तथाराः प्राणाः, इदमपि प्रायिकमेव अन्यथाऽऽकाशपर्वतविमानप्रतिष्ठिता अपि ते सन्तीति (४) ।

तथाऽजीवाः—शरीरादिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु तेषां स्थितत्वात् (५) ।

तथा जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः कर्मसु—अनुदयावस्थकर्मपुद्गलसमुदायरूपेषु संसारिजीवानामाश्रितत्वात् । अन्ये त्वाहुः—जीवाः कर्मभिः प्रतिष्ठिताः—नारकादिभावेनावस्थापिताः(६) ।

तथा अजीवा जीवसंगृहीताः मनोभाषादिपुद्गलानां जीवैः संगृहीतत्वात्, अथाजीवाः जीवप्रतिष्ठितास्तथाऽजीवा जीवसंगृहीता इत्येतयोः को भेदः ? उच्यते—पूर्वस्मिन् वाक्ये आधाराधेयभाव उक्तः, उत्तरे तु संग्राह्यसंग्राहकभाव इति भेदः । यद्य यस्य संग्राह्यं तत्तस्याधेयमप्यथापत्तिः स्यात्, यथाऽपूपस्य तैलमित्याधाराधेयभावोऽप्युत्तरवाक्ये दृश्य इति (७) ।

तथा जीवाः कर्मसंगृहीताः संसारिजीवानामुदयप्राप्तकर्मवशवर्तित्वात्, ये च यद्वशास्ते तत्र प्रतिष्ठिताः । यथा घटे रूपादय इत्येवमिहाप्याधाराधेयता दृश्येति (८) ।

१।३११. 'से जहानामए केइ'ति स 'यथानामकः' यत् प्रकारनामा देवदत्तादिनामेत्यर्थः, अथवा 'से' इति 'स' यथा इति दृष्टान्तार्थः 'नाम' इति संभावनायाम् 'ए' इति वाक्यालंकारे 'वत्थिं'ति 'बस्तिं' दृति 'आडोवेइ'ति आटोपयेत् वायुना पूरयेत्, 'उप्पिं सियं बंधइ'ति उपरिं सितं 'षिड् बन्धने' इति वचनात् । क्तप्रत्ययस्य च भावार्थत्वात् कर्मार्थत्वाद्वा बन्धं—ग्रन्थिमित्यर्थः बध्नाति करोतीत्यर्थः । अथवा 'उप्पिंसि'ति उपरि 'त'मिति बस्तिं 'से आउयाए'ति सोऽफ्यस्तस्य वायुकायस्य 'उप्पिं'ति उपरि, उपरिभावश्च व्यवहारतोऽपि स्यादित्यत आह—उपरितले सर्वोपरीत्यर्थः । यथा वायुराधारो जलस्य दृष्ट एवमाधाराधेयभावो भवति । आकाशघनवातादीनामिति भावः । आधाराधेयभावश्च प्रागेव सर्वपदेषु व्यंजित इति ।

'अत्थाहमतारमपोरुसियंसि'ति अस्ताधम्—अविद्यमानस्ताधम्—अगाधमित्यर्थः, अस्ताधो वा निरस्ताधस्तलमिवेत्यर्थः अत एवात्तरं—तरीतुमशक्यं, पाठान्तरेणापारं—पारवर्जितं पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषेयं तत्रतिषेधादपौरुषेयं ततः कर्मधारयोऽतस्तत्र मकारश्चेहलाक्षणिकः । 'एवं या' इत्यत्र वाशब्दो दृष्टान्तान्तरतासूचनार्थः ।

लोकस्थित्यधिकारादेवेदमाह—'अत्थि ण'मित्यादि अन्ये त्वाहुः—'अजीवा जीवपइट्टिया' इत्यादेः पदचतुष्टयस्य भावनार्थमिदमाह—

१।३१२. 'पोग्गले'ति कर्मशरीरादिपुद्गलाः । 'अण्णमण्णबद्ध'ति अन्योऽन्यं जीवाः पुद्गलानां पुद्गलाश्च जीवानां संबद्धा इत्यर्थः । कथं बद्धा इत्याह—'अन्नमन्नपुट्टा' पूर्व स्पर्शनामात्रेणान्योऽन्यं स्पृष्टस्ततोऽन्योऽन्यं बद्धाः गाढतरं संबद्धा इत्यर्थः । 'अण्णमण्णमोगाढ'ति परस्परं लोलीभावं गतः, अन्योऽन्यं स्नेहप्रतिबद्धा इति । अत्र रागादिरूपः स्नेहः यदाह—

'स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषविलस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ।।' इति ।

अत एव अण्णमण्णघट्ताए ति अन्योऽन्यं घटासमुदायो येषां तेऽन्योऽन्यघटस्तद्भावस्तत्ता तथाऽन्योऽन्यघटतया ।

१।३१३. 'हरए सिय'ति 'हदो' नदः 'स्यात्' भवेत् 'पुण्णे'ति भृतो जलस्य, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि व्यवहारतः स्यादत आह—'पुण्णप्पमाणे'ति पूर्णप्रमाणः पूर्णं वा जलेनात्मनो मानं यस्य स पूर्णात्ममानः । 'वोलट्टमाणे' ति व्यपलोड्यन् अतिजलभरणाच्छर्धमानजल इत्यर्थः । 'वोसट्टमाणे'ति जलप्राचुर्यादेव विकशन्—स्फारीभवन् वद्धमान इत्यर्थः । 'समभरघट्ताए' ति समो न विषमो घटकदेशमनाश्रितत्वेन भरो—जलसमुदायो यत्र स समभरः सर्वथा भृतो वा समभरः, समशब्दस्य सर्वशब्दार्थत्वात्, समभरश्वासौ घटश्चेति समासः समभरघट इव समभरघटस्तद्भावस्तत्ता तथा समभरघटतया सर्वथाभृतघटाकारतयेत्यर्थः ।

'अहे ण'ति अहेशब्दः अथार्थः अयशब्दश्चानन्तर्यार्थः, णमिति वाक्यालंकारे 'महं'ति महतीं 'सयासवं'ति आश्रवति—ईषत्क्षरतिजलं वैस्ते

आश्रवाः—सूक्ष्मरन्धाणि सन्तो— विद्यमानाः सदा वा सर्वदा शतसंख्या वाऽऽश्रवा यस्यां सा सदाश्रवाः शताश्रवा वाऽतस्ताम् एवं 'सयच्छिद्रं' नवरं छिद्रं—महत्तरं रन्ध्रम् 'ओगाहेज्'ति 'अवगाहयेत्' प्रवेशयेत् ।

'आसवदारेहे'ति आश्रवच्छिद्रैः 'आपूरमाणी'ति आपूर्यमाणा जलेनेति शेषः, इह द्विवचनमाभीक्ष्ण्ये 'पुण्णे'त्यादि प्राग्वन्नवरं 'वोसट्टमाणा' इत्यादौ वृद्धैरयं विशेष उक्तः—'वोसट्टमाणा' भृता सती या तत्रैव निमज्जति सोच्यते । 'समभरघट्ताए'ति हृदक्षिसमभरघटवद् हृदस्याध-स्त्योदकेन सह तिष्ठतीत्यर्थः । यथा नौश्च हृदोदकं चान्योऽन्यावगाहेन वर्तते एवं जीवाश्च पुद्गलाश्चेति भावना ।

लोकस्थितावेवेदमाह—

१।३१४. 'सदा' सर्वदा 'समियं'ति सपरिमाणं न बादराफ्कायवदपरिमितमपि, अथवा 'सदा'इति सर्व्वर्तुषु 'समित'मिति रात्रौ दिवसस्य च पूर्वापरयोः प्रहरयोः तत्रापि कालस्य स्निग्धेतरभावमपेक्ष्य बहुत्वमल्पत्वं चावसेयमिति, यदाह—

“पदमचरिमाउ सिसिरे, सिन्हे अद्धं तु तासिं वज्जेता ।

पायं ष्वे सिणेहाइरक्खण्णा पवेसे वा !!”

लेपितपात्रं बहिर्न स्थापयेत् स्नेहादिरक्षणार्थायेति । 'सूक्ष्मः स्नेहकाय'इति अफ्कायविशेष इत्यर्थः ।

१।३१५. 'उट्टे'ति ऊर्ध्वाल्लोके वर्तुलवैतादृश्यादिषु 'अहे'ति अधोलोकग्रामेषु, 'तिरियं'ति तिर्यग्ल्लोके ।

१।३१६. 'दीहकालं चिड्ड'ति तडागादिपूरणात् 'विद्धंसमागच्छइ'ति स्वल्पत्वात्तस्येति ।

॥प्रथमशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

अथ सप्तम आरभ्यते, तस्य चैवं सम्बन्धः—विध्वंसमागच्छतीत्युक्तं प्राक् इह तु तद्विपर्यय उत्पादोऽभिधीयते । अथवा लोकस्थितिः प्रागुक्ता इहापि सैव । तथा 'नेरइए'ति यदुक्तं संग्रहिण्यां तद्यावसरायातमिहोच्यत इति, तत्रादिसूत्रम्—

१।३१८. 'नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे' ति ननुत्पद्यमान एव कथं नारक इति व्यपदिश्यते ? अनुत्पन्नत्वात् तिर्यकादिवद् इति, अत्रोच्यते—उत्पद्यमान उत्पन्न एव तदायुष्कोदयात् अन्यथा तिर्यगाद्यायुष्काभावान्नारकायुष्कोदयेऽपि यदि नारको नासौ तदन्यः कोऽसौ ? इति । 'किं देशेणं देसं उववज्जइ'ति देशेण च 'देशेण च' यदुत्पत्तं प्रवृत्तं तद्देशेणदेशं, छान्दसत्वाद्याव्ययीभावप्रतिरूपः समासः, एवमुत्तरत्रापि । तत्र जीवः किं 'देशेण' स्वकीयावयवेन 'देशेण' नारकावयविनोऽशतयोत्पद्यते अथवा 'देशेण' देशमाश्रित्योत्पादयित्वेति^१ शेषः एवमन्यत्रापि । तथा 'देशेणं सव्वं'ति देशेण च सर्वेण च यत् प्रवृत्तं तद्देशेणसर्वं, तत्र देशेण—स्वावयवेन सर्वतः सर्वात्मना नारकावयवितयोत्पद्यते, इत्यर्थः । आहोस्वित् सर्वेण—सर्वात्मना देशतो नारकांशतयोत्पद्यते, अथवा 'सर्वेण' सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः ।

अत्रोत्तरम्—देशेणदेशतयोत्पद्यते, यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्व्वर्त्यते, तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत् । यथा हि पटदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्धः पटदेशो न निर्व्वर्त्यते तथा पूर्ववयवप्रतिबद्धेन तद्देशेनोत्तरावयवप्रदेशो न निर्व्वर्त्यते इति भावः । तथा न देशेण सर्वतयोत्पद्यते, अपरिपूर्णकारणत्वात्, तन्तुना पट इवेति । तथा न सर्वेणदेशतयोत्पद्यते, संपूर्णपरिणामिकारणत्वात् समस्तघटकारणैर्घटैकदेशवत् । 'सव्वेणं सव्वं उववज्जइ' सर्वेण तु सर्व उत्पद्यते । पूर्णकारणसमवायाद्, घटवदिति चूर्णिव्याख्या ।

टीकाकारस्त्वेवमाह—किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्यं तत्र देशत उत्पद्यते ? अथवा देशेण सर्वत उत्पद्यते ? अथवा सर्वात्मना यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देशे उत्पद्यते ? अथवा सर्वात्मना सर्वत्र ? इति, एतेषु पाश्चात्यमंमौ ग्राह्यौ । यतः सर्वेण—सर्वात्मप्रदेशव्यापारेण इलिकागतौ यत्रोत्पत्तव्यं तस्य देशे उत्पद्यते, तद्देशेनोत्पत्तिस्थानदेशस्यैव व्याप्तत्वात् । कन्दुकगतौ वा सर्वेण सर्वत्रोत्पद्यते विमुच्यैव पूर्व्वस्थानमिति । एतच्च टीकाकारव्याख्यानं वाचनान्तरविषयमिति ।

उत्पादे चाहारक इत्याहारसूत्रम्—

१।३२०. तत्र 'देशेण देश'मिति आत्मदेशेनाभ्यवहार्यद्रव्यदेशमित्येवं गमनीयम् । उत्तरम् —'सव्वेण वा देसमाहारेइ'ति, उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चिदादत्ते कांश्चिद् विमुञ्चति, तत्तत्तापिकागततैलग्राहकविमोचकापूपवद्, अत उच्यते—देशमाहारयतीति । 'सव्वेण वा सव्वं'ति सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहारपुद्गलानादत्ते एव प्रथमतः तैलग्राहकतापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदित्युच्यते—सर्वमाहारयतीति । उत्पादस्तदाहारेण सह प्राग्दण्डकाभ्यामुक्तः ।

१।३२२, ३२४. अथोत्पादप्रतिपक्षत्वाद्द्वर्तमानकालनिर्देशसाधर्म्याच्चोद्वर्तनादण्डकस्तदाहारदण्डकेन सह ।

१।३२६, ३२८. तदनन्तरं च नोद्वर्तनाऽनुत्पन्नस्य स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ उत्पन्नप्रतिपक्षत्वाच्चोद्वृत्ततदाहारदण्डकाविति ।

पुस्तकान्तरे तूत्पादतदाहारदण्डकानन्तरमुत्पादे संत्युत्पन्नः स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ । ततस्तूत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्तनाया उद्वर्तनातदाहारदण्डकौ ।

१।३३०, ३३२. उद्वर्तनायां चोद्वृत्तः स्यादित्युद्वृत्ततदाहारदण्डकौ कण्ठ्याश्चैत इति ।

एवं तावदद्याभिर्दण्डकैर्देशसर्वाभ्यामुत्पादादि चिन्तितम्, अथाद्याभिरेवाद्देशसर्वाभ्यामुत्पादाद्येव चिन्तयन्नाह—

- १।३३४. 'नेरइएण'मित्यादि 'जहा पढमिल्लेण'ति यथा देशेन, ननु देशस्य चार्धस्य च को विशेषः? उच्यते—देशस्त्रिभागादिरनेकथा, अर्द्धं त्वेकधैवेति । उत्पत्तिरुद्धर्तना च प्रायो गतिपूर्विका भवतीति गतिसूत्राणि—
- १।३३५. 'विग्रहगइसमावन्नए'ति विग्रहो—वक्रं तद्रथाना गतिर्विग्रहगतिः, तत्र यदा वक्रेण गच्छति तदा विग्रहगतिसमापन्न उच्यते, अविग्रहगतिसमापन्नस्तु ऋजुगतिकः स्थितो वा । विग्रहगतिनिषेधमात्राश्रयणात् । यदि चाविग्रहगतिसमापन्न ऋजुगतिक एवोच्यते तदा नारकादिपदेषु सर्वदैवाविग्रहगतिकानां यद् बहुत्वं वक्ष्यति तन्न स्याद् । एकादीनामपि तेषूत्पादश्रवणात् । टीकाकारेण तु केनाप्यभिप्रायेणाविग्रहगतिसमापन्न ऋजुगतिक एव व्याख्यात इति ।
- १।३३७. 'जीवा णं भंते !'इत्यादि प्रश्नः, तत्र जीवानामानन्त्यात् प्रतिसमयं विग्रहगतिमतां तन्निषेधवतां च बहूनां भावादाह—'विग्रहगइ'इत्यादि । नारकाणां त्वपत्वेन विग्रहगतिमतां कदाविदसंभवात् संभवेऽपि चैकादीनामपि तेषां भावाद् विग्रहगतिप्रतिषेधवतां च सदैव बहूनां भावात् आह—
- १।३३८. 'सव्वेवि ताव होज्ज अविग्गहे'त्यादि विकल्पत्रयम् । असुरादिषु एतदेवातिदेशत आह—'एव'मित्यादि जीवानां निर्विशेषणामेकेन्द्रियाणां चोक्तयुक्त्या विग्रहगतिसमापन्नत्वे तत्प्रतिषेधे च बहुत्वमेवेति न भंगत्रयम् । तदन्येषु तु त्रयमेवेति 'तियभंगो'ति त्रिकरूपो भंगत्रयमित्यर्थः ।
गत्यधिकाराद्यवनसूत्रम्—
- १।३३९. 'महिङ्गिए'ति महर्द्धिको विमानपरिवाराद्यपेक्षया, 'महज्जुइए'ति महाद्युतिकः शरीराभरणाद्यपेक्षया 'महब्बले'महाबलः शारीरप्राणापेक्षया 'महायसे'ति महायशः बृहत्ख्यातिः 'महेसक्खे'ति महेशो—महेश्वर इत्याख्या—अभिधानं यस्यासौ महेशाख्यः 'महासोक्खे'ति क्वचित्, 'महाणुभावे'ति महानुभावः विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः, 'अविउक्कतियं चयमाणे'ति च्यवमानता किलोत्पत्तिसमयेऽप्युच्यत इत्यत आह—व्युक्रान्तिः—उत्पत्तिस्तन्निषेधादव्युक्रान्तिकम् । अथवा व्यवक्रान्तिः—मरणं, तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकं तद्यथा भवत्वेव च्यवमानो जीवमानो जीवन्नेव मरणकाल इत्यर्थः । 'अविउक्कतियं चयं चयमाणे'ति क्वचिद् दृश्यते, तत्र च 'चयं' शरीरं 'चयमाणे'ति त्यजन् 'किञ्चित्कालं'ति कियन्तमपि कालं यावन्नारय्येदिति योगः ।
कुतः ? इत्याह—'हीप्रत्ययं' लज्जानिमित्तं, स हि च्यवनसमयेऽनुपक्रान्त एव पश्यत्युत्पत्तिस्थानमात्मनः, दृष्ट्वा च तदेवभवविसदृशं पुरुषपरिभुज्यमानस्त्रीगर्भाशयरूपं जिह्वेति, हिया च नाहारयति । तथा 'जुगुप्साप्रत्ययं' कुत्सानिमित्तं शुक्रादेरुत्पत्तिकारणस्य कुत्साहेतुत्वात् । 'परीसहवतियं'ति इह प्रक्रमात् परीषहशब्देनारतिपरीषहो ग्राह्यः, ततश्चारतिपरीषहनिमित्तं, दृश्यते चारतिप्रत्ययाल्लोकेऽप्याहारग्रहणवैमुख्यमिति । 'आहारं' मनसा तथाविधपुद्गलोपादानरूपम् । 'अहे णं'ति अथ लज्जादिक्षणानन्तरमाहारयति बुभुक्षावेदनीयस्य चिरं सोढुमशक्यत्वादिति । 'आहारिज्जमाणे आहारिए' इत्यादौ भावार्थः प्रथमसूत्रवत् । अनेन च क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाभिधानेन तदीयाऽऽहारकालस्यात्यन्तता । तदनन्तरं च 'पहीणे य आउए भवइ'ति 'चः' समुच्चये प्रक्षीणं प्रहीणं वाऽऽयुर्भवति, ततश्च यत्रोत्पद्यते मनुजत्वादौ 'तमाउयं'ति तस्य मनुजत्वादेरायुस्तदायुः 'प्रतिसंवेदयति' अनुभवतीति ? 'तिरिक्खज्जोणियाउयं वा' इत्यादौ देवनारकायुषोः प्रतिषेधो, देवस्य तत्रानुत्पादादिति ।
उत्पत्त्यधिकारादिदमाह—
- १।३४०. 'गब्भं वक्कममाणे'ति गर्भं व्युक्रामन् गर्भं उत्पद्यमान इत्यर्थः ।
- १।३४१. 'दव्विंदियाइ'ति निर्वृत्युपकरणलक्षणानि, तानि हीन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां भविष्यन्तीत्यनिन्द्रिय उत्पद्यते । 'भाविंदियाइ'ति लब्ध्युपयोगलक्षणानि, तानि च संसारिणः सर्वावस्थाभावीनीति ।
- १।३४२. 'ससरीरि'ति सह शरीरेणेति सशरीरी, इन्समासान्तभावात् 'असरीरि'ति शरीरवान् शरीरी तन्निषेधादशरीरी 'वक्कमइ'ति व्युक्रामति, उत्पद्यत इत्यर्थः ।
- १।३४४. 'तप्पढमयाए'ति तस्य गर्भव्युक्रमणस्य प्रथमता तद्व्यथमता तथा 'कि'मिति प्राकृतत्वात् कम् ? 'माउओयं'ति 'मातुरोजः' जनन्या आर्त्तवं, शोणितमित्यर्थ, 'पिउसुक्कं'ति पितुः शुक्रं, इह यदिति शेषः 'तं'ति आहारमिति योगः । 'तदुभयसंसिद्धं'ति तयोर्भयं तदुभयं द्वयं, तच्च तत् संश्लिष्टं च संसृष्टं वा—संसर्गवत् तदुभयसंश्लिष्टं तदुभयसंसृष्टं वा ।
- १।३४५. 'जं से'ति या तस्य गर्भसत्त्वस्य माता 'रसविगतीओ'ति रसरूपा विकृतीः—दुग्धाद्या रसविकारास्ताः 'तदेगदेसेणं'ति तासां रसविकृतीनामेकदेशस्तदेकदेशस्तेन सह ओज आहारयतीति ।
- १।३४६. 'उच्चारेइ व'ति उच्चारो—विष्ठा 'इति' उपप्रदर्शने 'वा' विकल्पे खलो—निष्ठीवनं, 'सिंघाणं'ति नासिकाश्लेष्मा ।
- १।३४७. 'केसमसुरोमनहत्ताए'ति इह श्मश्रूणि—कूर्चकेशाः रोमाणि—कक्षादिकेशाः ।
- १।३४८. 'जीवे ण'मित्यादि ।
- १।३४९. 'सव्वओ'ति सर्वात्मना 'अभिवक्खणं'ति पुनः पुनः 'आहच्च'ति कदाचिदाहारयति कदाचिन्नाहारयति, तथास्वभावत्वात्, यतश्च सर्वतः आहार- यतीत्यादि ततो मुखेन न प्रभुः कावलिकमाहारमाहर्तुमिति भावः ।
अथ कथं सर्वत आहारयति ? इत्याह—'माउजीवरसहरणी'त्यादि रसो ह्रियते—आदीयते यया सा रसहरणी नाभिनालमित्यर्थः । मातृजीवस्य रसहरणी मातृजीवरसहरणी, किमित्याह—'पुत्तजीवरसहरणी' पुत्रस्य रसोपादाने कारणत्वात् कथमेवमित्याह—मातृजीवप्रतिबद्धता सती सा

यतः 'पुत्रजीवं फुड'ति पुत्रजीवं स्पृष्टवती । इह च प्रतिबद्धता गाढसम्बन्धः, तदंशत्वात् । स्पृष्टता च सम्बन्धमात्रम्, अतदंशत्वात् । अथवा मातृजीवरसहरणी पुत्रजीवरसहरणी चेति द्वे नाड्यौ स्तः, तयोश्चाद्या मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टेति, 'तम्हे'ति यस्मादेवं तस्मान्मातृजीवप्रतिबद्धया रसहरण्या पुत्रजीवस्पर्शनादाहारयति । 'अवरावि य'ति पुत्रजीवरसहरण्यपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा सती मातृजीवं स्पृष्टवती 'तम्हे'ति यस्मादेवं तस्माच्चिनोति शरीरं, उक्तं च तन्वान्तरे—

“पुत्रस्य नामो मातुश्च, इदि नामी निबध्यते ।

ययाऽसौ पुष्टिमाप्नोति, केदार इव कुन्त्यया ॥” इति ।

गर्भाधिकारादेवेदमाह—

- १।३५०. 'कइ ण'मित्यादि 'भाइअंग'ति आर्तवविकारबहुलानीत्यर्थः 'मत्सुलुंग'ति मस्तकभेज्जकम्, अन्ये त्वाहुः—मेदः किप्फिसादि मस्तुलुंगमिति ।
 १।३५१. 'पेइयंग'ति पैतृकांगानि शुक्रविकारबहुलानीत्यर्थः । 'अड्ढिमिज'ति अस्थिमध्यावयवः, केशादिकं बहुसमानरूपत्वादेकमेव, उभयव्यतिरिक्तानि तु शुक्रशोणितयोः समविकाररूपत्वात् मातापित्रोः साधारणानीति ।
 १।३५२. 'अम्मापिइए ण'ति अम्बापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचाराद्, उक्तलक्षणानि मातापित्रांगानीत्यर्थः । 'जावइयं से कालं'ति यावन्तं कालं 'से'ति तत् तस्य वा जीवस्य 'भवधारणीयं' भवधारणप्रयोजनं मनुष्यादिभ्रवोपग्राहकमित्यर्थः । 'अव्वावन्ने'ति अविनष्टम्, 'अहे ण'ति उपचयान्तिमसमयादनन्तरमेतद् अम्बापतृकं शरीरं । 'बोक्कसिज्जमाणे'ति व्यवकृष्यमाणं हीयमानम् ।

गर्भाधिकारदेवापरं सूत्रम्—

- १।३५३. 'गब्भगए समाणे'ति गर्भगतः सन् मृत्वेति शेषः, 'एगइए'ति सगर्वराजादिगर्भरूपः ।
 १।३५४. संज्ञित्वादिविशेषणानि च गर्भस्थस्यापि नरकप्रायोग्यकर्मबन्धसंभवाभिधायकतयोक्तानि । वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या संग्रामयतीति योगः । अथवा वीर्यलब्धिको वैक्रियलब्धिकश्च सन्निति, 'पराणीएण'ति 'पराणीकं' शत्रुसैन्यं 'सोच्च'ति आकर्ष्य 'निशम्य' मनसाऽवधार्य 'पएसे निच्छुभइ'ति गर्भदेशाद् बहिः क्षिपति 'समोहण्णइ'ति समवहन्ति समवहतो भवति तथाविधपुद्गलग्रहणार्थम् । 'संग्रामं संग्रामयति' युद्धं करोति ।
 'अत्यकामए'इत्यादि अर्थे—द्रव्ये कामो—वांछामात्रं यस्यासावर्थकामः, एवमन्यान्यपि विशेषणानि, नवरं राज्यं—नृपत्वं, भोगा—गन्धरसस्पर्शाः, कामौ—शब्दरूपे, कांक्षा—गुह्यः आसक्तिरित्यर्थः । अर्थे कांक्षा संजाताऽस्येत्यर्थकांक्षितः, पिपासेव पिपासा—प्राप्तेऽप्यर्थेऽतुतिः । 'तच्चित्ते'ति तत्र—अर्थादौ चित्तं—सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः, 'तम्पणे'ति तत्रैव—अर्थादौ मनो—विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः, 'तल्लेसे'ति लेश्या—आत्मपरिणामविशेषः, 'तदज्जवसिए'ति इहाध्यवसायोऽध्यवसितं, तत्र तच्चित्तादिभावयुक्तस्य सतस्तस्मिन्—अर्थादावेवाध्यवसितं—परिभोगक्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः, 'तत्तिव्वज्जवसाणे'ति तस्मिन्नेव—अर्थादौ तीव्रम्—आरम्भकालादारभ्य प्रकर्षयापि अध्यवसानं—प्रयत्नविशेषतक्षणं यस्य स तथा, 'तदझेवउत्ते'ति तदर्थम्—अर्थादिनिमित्तमुपयुक्तः—अवहितस्तदर्शोपयुक्तः, 'तदपियकरणे'ति तस्मिन्नेव—अर्थादावर्षितानि—आहितानि करणानि—इन्द्रियाणि कृतकारितानुमितिरूपाणि वा येन स तथा, 'तब्भावणाभाविए'ति असकृदनादौ संसारे तद्भावनाया—अर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तथा, 'एयंसि ण अंतरंसि'ति एतस्मिन् संग्रामकरणावसरे कालं—मरणमिति ।
 १।३५६. 'तहारूवस्स'ति तथाविधस्य उचितस्येत्यर्थः, 'श्रमणस्य' साधोः, वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमणमाहनवचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थः । 'माहणस्स'ति मा हन इत्येवमादिशक्ति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद्यः स माहनः । अथवा ब्रह्मणो—ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावत्वाद् ब्राह्मणो देशविरतः तस्य वा 'अंतिए'ति समीपे एकमप्यास्तामनेकम् 'आर्यम्' आराद् यातं पापकर्मभ्य इत्यर्थम्, अत एव धार्मिकमिति, 'तओ'ति तदनन्तरमेव, 'संवेगजायसइ'ति संवेगेन—भवभयेन जाता श्रद्धा—श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा 'तिव्वधम्माणुरागरत्ति'ति तीव्रो यो धर्मानुरागो—धर्मबहुमानस्तेन रक्त इव यः स तथा ।
 'धम्मकामए'ति धर्मः—श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्मैति ।

- १।३५७. 'अंबखुजए व'ति आम्रफलवत्कुम्भः 'अच्छेज्ज'ति आसीत् सामान्यतः, एतदेव विशेषत उच्यते—'चिडेज्ज'ति ऊर्ध्वस्थानेन 'निसीएज्ज'ति निषदनस्थानेन, 'तुयहेज्ज'ति शयीत्, 'सममागच्छइ'ति, समं—अविषमं 'सम्मं'ति पाठे 'सम्मम्' अनुपधातहेतुत्वादागच्छति—मातुरुदराद् योन्या निष्कामति । 'तिरियमागच्छइ'ति तिरश्चीनो भूत्वा जठराग्निर्गन्तुं प्रवर्तते यदि तदा 'दिनिघातं' मरणमाप्स्यते, निर्गमाभावादिति ।
 गर्भान्निर्गतस्य च यत्स्यात्तदाह—वर्णवज्ज्याणि य'ति वर्णः—शलाघा वध्यो—हन्तव्यो येषां तानि वर्णवध्यानि, अथवा वर्णाद्बाह्यानि वर्णबाह्यानि अशुभानीत्यर्थः, चशब्दो वाक्यान्तरत्वद्योतनार्थः । ★ 'से'ति तस्य गर्भनिर्गतस्य 'बद्धाइ'ति सामान्यतो बद्धानि 'पुड्ढाइ'ति पोषितानि गाढतरबन्धतः 'निहत्ताइ'ति उद्वर्तनापवर्तनकरणवर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः, अथवा बद्धानि, कथम् ? यतः पूर्वं स्पृष्टानीति, 'कडाइ'ति निकचितानि सर्वकरणयोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः, 'पड्ढविद्याइ'ति मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मसहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः, 'अभिनिविद्धाइ'ति तीव्रानुभावतया निविधानि, 'अभिसमत्रागयाइ'ति उदयाभिमुखीभूतानीति, ततश्च 'उदिन्नाइ'ति उदीर्णानि स्वतः उदीरणाकरणेन बोधितानि, व्यतिरेकमाह—'नो उवसंताइ'ति अनिष्टादीनि व्याख्यातान्येवैकार्थानि वा, 'हीणस्सरे'ति अल्पस्वरः, 'दीणस्सरे'ति दीनस्येव—दुःस्थितस्येव स्वरो यस्य स दीनस्वरः, 'अणादेयवयणे पच्चायाए यावि'ति इहैवमक्षरघटना—प्रत्याजातश्चापि—समुत्पन्नोऽपि चानादेयवचनो भवतीति ।

॥ प्रथमशते सप्तमोद्देशकः ॥

अष्टम उद्देशकः

गर्भवक्तव्यता सप्तमोद्देशकस्यान्ते उक्ता । गर्भवासश्चायुषि सतीत्यायुर्निरूपणायाह, तथाऽऽदिगाथायां यदुक्तं 'बाले'ति तदभिधानाय चारमोद्देशकः, तत्र च सूत्रम्—

१।३५६. 'एगंतबाले'इत्यादि 'एकान्तबालः' मिथ्यादृष्टिरविरतो वा एकान्तग्रहणेन मिश्रतां व्यवच्छिनत्ति । यद्यैकान्तबालत्वे समानेऽपि नानाविधायुर्बन्धनं तन्महारम्भाद्युन्मार्गदेशनादितनुकषायत्वादि अकामनिर्जरादि तद्भेदविशेषवशादिति, अत एव बालत्वे समानेऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्ननुष्यो देवायुरेव प्रकरोति न शेषाणि । एकान्तबालप्रतिपक्षत्वादेकान्तपण्डितसूत्रं, तत्र च—

१।३६०. 'एगंतपंडि ए णं'ति एकान्तपण्डितः—साधुः 'मणुस्से'ति विशेषणं स्वरूपज्ञापनार्थमेव । 'अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वायोगात्, तदयोगश्च सर्व-विरतेरन्यस्याभावादिति ।

'एगंतपंडि ए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ सिय नो पकरेइ'ति सम्यक्त्वसप्तके क्षपिते न बध्नात्यायुः साधुः, अर्वाक् पुनर्बध्नातीत्यत उच्यते—स्यात्प्रकरोतीत्यादि ।

१।३६१. 'केवलमेव दो गईओ पत्रायंति'ति केवलशब्दः सकलार्थस्तेन साकल्येनैव द्वे गती 'प्रज्ञायते' अवबुध्यते केवलिना, तयोरेव सत्त्वादिति । 'अंतकिरिय'ति निर्वाणं 'कपोववत्तिय'ति कल्पेषु अनुत्तरविमानान्तदेवलोकेषूपपत्तिरुत्पत्तिः सैव कल्पोपत्तिका । इह च कल्पशब्दः सामान्येनैव वैमानिकदेवाऽऽवासाभिधायक इति ।

एकान्तपण्डितद्वितीयस्थानवर्तित्वाद् बालपण्डितस्य अतो बालपण्डितसूत्रं, तत्र च—

१।३६२. 'बालपंडि ए णं'ति श्रावकः ।

१।३६३. 'देसं उवरमइ'ति विभक्तिविपरिणामादेशात् 'उपरमते' विरतो भवति, ततो 'देसं' स्थूलं प्राणातिपातादिकं 'प्रत्याख्याति' वर्जनीयतया प्रतिजानीते । आयुर्वन्धस्य क्रियाः कारणमिति क्रियासूत्राणि पञ्च, तत्र—

१।३६४. 'कच्छंति व'ति 'कच्छे' नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे, 'दहंसि व'ति हृदे प्रतीते, 'उदगंसि व'ति उदके—जलाश्रयमात्रे 'दवियंसि व'ति 'त्रिविके' तृणादिद्रव्यसमुदाये, 'वलयंसि व'ति वलये वृत्ताकारनद्याद्युदककूटिलगतिसुक्तप्रदेशे 'नूमंसि व'ति नूमे अवतमसे 'गहणंसि व'ति गहने वृक्षवल्लीलतावितानवीरुत्समुदाये 'गहणविदुगंसि व'ति 'गहनविदुर्गे' पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्त्यादिसमुदाये 'पव्वयंसि व'ति पर्वते 'पव्वयविदुगंसि व'ति पर्वतसमुदाये 'वणंसि व'ति वने एकजातीयवृक्षसमुदाये, 'वणविदुगंसि व'ति नानाविधवृक्षसमूहे 'मिगवित्तीए'ति मृगैः—हरिणैर्वृत्तिः—जीविका यस्य स मृगवृत्तिकः स च मृगरक्षकोऽपि स्यादित्यत आह—'मियसंकप्पे'ति मृगेषु संकल्पो—वधाध्यवसायः छेदनं वा यस्यासौ मृगसंकल्पः, स च चलचित्तयाऽपि भवतीत्यत आह—'मियपणिहाणे'ति मृगवधैकाग्रचित्तः 'मिगवहाए'ति मृगवधाय 'गंत'ति गत्वा कच्छदाविति योगः । 'कूटपासं'ति कूटं च—मृगग्रहणकारणं गत्वादि पाशश्च—तद्बन्धनमिति कूटपाशम् 'उद्दाइ'ति मृगवधाद्योद्दाति रचयतीत्यर्थः । 'ततो णं'ति ततः कूटपाशकरणात् 'कइकिरिए'ति कतिक्रियः ? क्रियाश्च कायिक्यादिकाः ।

१।३६५. 'जे भविए'ति यो भव्यो योग्यः कर्त्तव्यत्वात् 'जावं च णं'मिति शेषः, यावन्तं कालमित्यर्थः कस्याः कर्ता इत्याह—'उद्दवणयाए'ति कूटपाशाशरणतायाः ताप्रत्ययश्चेह स्वार्थिकः 'तावं च णं'ति तावन्तं कालं 'काइयाए'ति गमनादिकायचेष्टारूपया 'अहिगरणियाए'ति अधिकरणेन—कूटपाशरूपेण निर्वृत्ता या सा तथा 'पाउसियाए'ति प्रद्वेषो—मृगेषु दुष्टभावस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी तथा 'तिहिं किरियाहिं'ति क्रियन्त इति क्रियाः—चेष्टाविशेषाः, 'पारितावणियाए'ति परितापनप्रयोजना पारितापनिकी, सा च बद्धे सति मृगे भवति । प्राणातिपातक्रिया च घातिते इति ।

१।३६६. 'ऊसविए'ति उत्सर्पः ऊसिक्किऊणेत्यर्थः ऊर्ध्वीकृत्येति वा 'निसिरइ'ति निसृजति—क्षिपति यावदिति शेषः ।

१।३६८. 'उसुं'ति बाणम् ।

१।३७०. 'आयंयकण्णायतं'ति कर्णं यावदायतः—आकृष्टः कर्णायतः आयतं—अयलवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायत आयतकर्णायतस्तम् 'आयामेत्ति' आयम्य आकृष्य 'मग्गओ' ति पृष्ठतः 'सयपाणिण'ति 'स्वकपाणिना' स्वकहस्तेन 'पुव्वायामण्णयाए'ति पूर्वार्कषणेन 'से णं भंते ! पुरिसे'ति 'सः' शिरश्छेत्ता पुरुषः 'मियवेरेणं'ति इह वैरं वैरहेतुत्वाद् वधः पापं वा वैरं वैरहेतुत्वादिति ।

अथ शिरश्छेत्तुपुरुषहेतुकत्वादिषु निपातस्य कथं धनुर्द्धरपुरुषो मृगवधेन स्पृष्ट इत्याकृतवतो गौतमस्य तदभ्युपगतमेवार्थमुत्तरतया प्राह—

१।३७१. क्रियमाणं धनुःकाण्डादि कृतमिति व्यपदिश्यते ? युक्तिस्तु प्राग्वत्, तथा सन्धीयमानं—प्रत्यज्वायामारोप्यमाणं काण्डं धनुर्वाऽऽरोप्यमाणप्रत्यज्ज्वं 'सन्धितं' कृतसन्धानं भवति ?, तथा 'निर्वृत्त्यमानं' नितरां वर्तुतीक्रियमाणं प्रत्यज्वाकर्षणेन निर्वृत्तितं—वृत्तीकृतं मण्डलाकारं कृतं भवति ? तथा 'निसृज्यमानं' निक्षिप्यमाणं काण्डं निसृष्टं भवति ? यदा च निकृष्टं तदा निसृज्यमानताया धनुर्द्धरेण कृतत्वात् तेन काण्डं निसृष्टं भवति, काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः, ततश्चोच्यते—'जे मियं मारेइ' इत्यादीति ।

इह च क्रियाः प्रक्रान्ताः ताश्चान्तरोक्ते मृगादिवधे यावत्यो यत्र कालविभागे भवन्ति तावतीस्तत्र दर्शयन्नाह—'अन्तो छण्ह'मित्यादि, षण्मासान् यावत् प्रहारहेतुकं मरणं परतस्तु परिणामान्तरापादितमितिकृत्वा षण्मासादूर्ध्वं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम्, एतच्च व्यवहारनयापेक्षया

१. ज्ञानार्थमिव ख. घ. छ.

२. परिणामादेशात् ख. ग. घ. च. छ.

३. मिगवत्तए क. ख. घ. छ.

४. करणताया ख. च. छ.

५. तथा तथा क. च. छ.

६. स्वहस्तेन ग. घ. च. छ.

प्राणातिपातक्रियाव्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतं प्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव प्राणातिपातक्रिया इति ।

- १।३७२. 'सतीए'ति शकृत्वा—प्रहरणविशेषेण 'समभिधंसेज्ज'ति हन्यात् 'सयपाणिण'ति स्वकहस्तेन 'से'ति तस्य 'काइयाए'ति 'कायिक्या' शरीरस्यन्दरूपया 'आधिकराणिक्या' शक्तिखड्गव्यापाररूपया, 'प्राद्वेषिक्या' मनोदुष्प्रणिधानेन 'पारितापनिक्या' धरितापनरूपया 'प्राणातिपातक्रियया' मारणरूपया 'आसन्ने'त्यादि शकृत्वाऽभिध्वंसकः असिना वा शिरश्छेत्ता पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, तथा पुरुषवैरेण च स्पृष्टः, मारितपुरुषवैरभावेन किम्भूतेनेत्याह—आसन्नो वधो यस्माद्वैरात्तत्तथा तेनासन्नवधकेन, भवति च वैराद् वधो वधकस्य तमेव वध्य-माश्रित्यान्यतो वा तत्रैव जन्मनि जन्मान्तरे वा, यदाह—

“वहमारणअव्भस्त्राणदाणपरघणविलोवणार्हणं ।

सव्वजह्नो उदओ दसगुणिओ एकसिकयाणं ॥” ति ।

'चः' समुच्चयेऽनवकांक्षणा—परप्राणनिरपेक्षा स्वगतापायपरिहारनिरपेक्षा वा वृत्तिः—वर्तनं यत्रैव^१ वैरे तत्तथा तेनानवकांक्षणवृत्तिकेनेति ।

क्रियाधिकार एवेदमाह—

- १।३७३. 'सरिसय'ति सदृशकौ शीलप्रमाणादिना 'सरित्तय'ति 'सदृशकृत्यौ' सदृशच्छवी 'सरिक्वय' ति सदृग्वयसौ समानयौवनाद्यवस्थौ 'सरिसभंड-मत्तोवगरण'ति भाण्डं—भाजनं मृन्मयादि, मात्रो—मात्रया युक्त उपधिः स च कांस्यभाजनादिभोजनभाण्डिका, भाण्डमात्रा वा—गणिमादिद्रव्यरूपः परिच्छदः, उपकरणानि—अनेकधाऽऽवरणप्रहरणादीनि ततः सदृशानि भाण्डमात्रोपकरणानि ययोस्तौ तथा । अनेन च समानविभूतिकत्वं तयोर्भिहितं । 'सवीरिए' ति सवीर्यः ।

- १।३७४. 'वीरियवज्जाइ'ति वीर्यं वध्यं येषां तानि तथा ।

वीर्यप्रस्तावादिदमाह—

- १।३७५. 'जीवा ण'मित्यादि ।

- १।३७६. 'सिद्धा णं अवीरिय'ति सकरणवीर्याभावादवीर्याः सिद्धाः, 'सेलेसिपडिवन्नगा य'ति शीलेशः—सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येयमवस्था शैलेशी । शैलेशो वा—मेरुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी । सा च सर्वथा योगनिरोधे षड्वहस्वाक्षरोच्चरकालमाना तां प्रतिपन्नका ये ते तथा । 'लद्धिवीरिएणं सवीरिय'ति वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमतो या वीर्यस्य लब्धिः सैव तद्गहेतुत्वाद् वीर्यं—लब्धिवीर्यं तेन सवीर्याः । एतेषां च श्रायिकमेव लब्धिवीर्यं । 'करणवीरिएणं'ति लब्धिवीर्यकार्यभूता क्रिया करणं तद्रूपं करणवीर्यं । 'करणवीरिएणं सवीरियावि अवीरियावि'ति तत्र 'सवीर्याः, उत्थानादिक्रियावन्तः अवीर्यास्तूत्थानादिक्रियाविकलाः, ते चापर्याप्त्यादिकालेऽवगन्तव्या इति ।

- १।३८०. 'नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्व'ति औषिकजीवेषु सिद्धाः सन्ति मनुष्येषु तु ते नेति, मनुष्यदण्डके वीर्यं प्रति सिद्धस्वरूपं नाध्येयमिति ।

॥ प्रथमशते अष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

अष्टमोद्देशकान्ते वीर्यमुक्तं, वीर्याच्च जीवा गुरुत्वाद्यासादन्यतीति गुरुत्वादिप्रतिपादनपरः तथा संग्रहण्यां यदुक्तं 'गरुए'ति तत्प्रतिपादनपरश्च नवमोद्देशकः, तत्र च सूत्रम्—

- १।३८४. 'कहण्ण'मित्यादि, 'गरुयत्त'ति 'गुरुकत्वम्' अशुभकर्मापचयरूपमधस्ताद्गमनहेतुभूतं 'लघुकत्वं' गौरवविपरीतम् ।

- १।३८६. 'एवम् आउलीकरेति'ति इहैवंशब्दः पूर्वोक्ताभिलाषसंसूचनार्थः स चैवम् 'कहण्णं भंते ! जीवा संसारं आउलीकरेति ? गोयमा ! पाणाइवाएण'-मित्यादि, एवमुत्तरत्रापि, तत्र 'आउलीकरेति' प्रचुरीकुर्वन्ति कर्माभिरित्यर्थः ।

- १।३८७. 'परित्तीकरेति'ति स्तोत्रं कुर्वन्ति कर्माभिरिव ।

- १।३८८. 'दीहीकरेति'ति दीर्घं प्रचुरकालमित्यर्थः ।

- १।३८९. 'हस्सीकरेति'ति अल्पकालमित्यर्थः ।

- १।३९०. 'अणुपरियट्टंति'ति पौनःपुन्येन भ्रमन्तीत्यर्थः ।

- १।३९१. 'वीइवयंति'ति व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्तीत्यर्थः ।

'पसत्था चत्तारि'ति लघुत्वपरीतत्वह्रस्वत्वव्यतिव्रजनदण्डकाः प्रशस्ताः मोक्षांगत्वात्, 'अप्पसत्था चत्तारि'ति गुरुत्वाकुलत्वदीर्घत्वानुपरिवर्तनदण्डका अप्रशस्ताः अमोक्षांगत्वादिति ।

गुरुत्वलघुत्वाधिकारादिदमाह—

- १।३९३. 'सत्तमे ण'मित्यादि, इह चेयं गुरुलघुव्यवस्था—

“निच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दब्बं ।

ववहारओ उ जुज्जइ बायरत्थंसेसु नऽण्णेषु ।”

अगुरुलहू चउफासो अरुविदव्या य होति नायव्या ।

सेसा उ अट्टफासा गुरुलहुया निच्छयणयस्स ॥ ”

‘चउफास’ ति सूक्ष्मपरिणामानि ‘अट्टफास’ति बादराणि । गुरुलघुद्रव्यं रूपि, अगुरुलघुद्रव्यं त्वरूपि रूपि चेति । व्यवहारतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति, तत्र च निदर्शनानि—गुरुल्लोष्टोऽधोगमानत्, लघुधूमः उद्ध्वंगमनात्, गुरुलघुर्वायुस्तिर्यग्गमनात्, अगुरुलघ्वाकाशं तत्त्वभावत्वादिति ।

एतानि चावकाशान्तरादिसूत्राप्येतद्गाथाऽनुसारेणावगन्तव्यानि, तद्यथा—

“ओवासवायधणउदहीपुदविदीवा य सागरा वासा ।

नेरइयाई अत्थि य समया कम्माइ लेसाओ ॥

दिट्ठी दंसणणाणे सण्ण सरीरा थ जोग उवओणे ।

दव्वपएसा पज्जव तीयाआगाभिसव्वद्ध ॥ ” ति ।

१।३६८. ‘वेउव्वियतेयाईं पडुच्च’ति नारका वैक्रियतैजसशरीरे प्रतीत्य गुरुलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते, एताश्च गुरुलघुका एव, यदाह—

“ओरालियवेउव्वियाहारपतेय गुरुलहू दव्वं” ति ।

‘जीवं च कम्मं च पडुच्च’ति जीवापेक्षया कर्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुका एव जीवस्यारूपित्वेनागुरुलघुत्वात् कर्मणशरीरस्य च कर्मणवर्गणात्मकत्वात् कर्मणवर्गणानां चागुरुलघुत्वात् आह च—

“कम्ममणभासाई एयाईं अगुरुलहुयाईं”ति ।

१।३६९. ‘णणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं’ति, यस्य यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि ज्ञात्वाऽसुरादिसूत्राप्यध्येयानीतिहृदयम् । तत्रामुरादिदेवा नारक-वद्वाच्याः, पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरुलघवो जीवं कर्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः इति । वायवस्तु औदारिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः । एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्जोऽपि । मनुष्यास्तवैदारिकवैक्रियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति ।

१।४००-४०३. ‘धम्मत्थिकाए’ति इह वावत्करणाद् ‘अहम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए’ति दृश्यं ‘चउत्थपएणं’ ति एते ‘अगुरुलहू’ इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधः कार्यो, धर्मास्तिकायादीनामरूपितयाऽगुरुलघुत्वादिति ।

१।४०४,४०५. पुद्गलास्तिकायसूत्रे उत्तरं निश्चयनयाश्रयम्, एकान्तगुरुलघुनोस्तन्मतेनाभावात् । ‘गुरुलहूयदव्वाइं’ति औदारिकादीनि चत्वारि ‘अगुरुलहूयदव्वाइं’ ति कर्मणादीनि ।

१।४०६,४०७. ‘समया कम्माणि य चउत्थपएणं’ति समयाः—अमूर्ताः कर्माणि च—कर्मणवर्गणात्मकानीत्यगुरुलघुत्वमेषां ।

१।४०९. ‘दव्वलेसं पडुच्च तइयपएणं’ति द्रव्यतः कृष्णलेश्या औदारिकादिशरीरवर्णः औदारिकादिकं च गुरुलघ्वितिकृत्वा गुरुलघु इति अनेन तृतीय-विकल्पेन व्यपदेश्या । भावलेश्या तु जीवपरिणतिस्तस्याश्चामूर्तत्वादगुरुलघ्वित्यनेन व्यपदेश इत्यत आह—‘भावलेसं पडुच्च चउत्थपदेणं’ति ।

१।४११. ‘दिट्ठीदंसणे’त्यादि दृष्ट्यादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वादगुरुलघुलक्षणानि चतुर्थपदेन वाच्यानि । अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपक्षत्वादधीतम्, अन्यथा ह्यरेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते ।

१।४१२. ‘हेट्ठिल्लए’ति औदारिकादीनि ‘तइयपएणं’ति गुरुलघुपदेन, गुरुलघुवर्गणात्मकत्वात् । ‘कम्मयं चउत्थपएणं’ति अगुरुलघुद्रव्यात्मकत्वात् कर्मणशरीराणाम् ।

१।४१३. मनोयोगवाग्योगौ चतुर्थपदेन वाच्यौ, तद्द्रव्याणामगुरुलघुत्वात् । काययोगः कर्मणवर्जस्तृतीयेन गुरुलघुत्वात्तद्द्रव्याणामिति ।

१।४१५. ‘सव्वदव्वे’त्यादि ‘सर्वद्रव्याणि’ धर्मास्तिकायादीनि ‘सर्वप्रदेशाः’ तेषामेव निर्विभागा अंशाः सर्वपर्ययाः वर्षोपयोगादयो द्रव्यधर्माः । एते पुद्गलास्तिकायवद् व्यपदेश्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन चेत्यर्थः । यतः सूक्ष्माप्यमूर्तानि च द्रव्याप्यगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि, प्रदेशपर्यवास्तु तत्तद्द्रव्यसम्बन्धित्वेन तत्तत्त्वभावा इति ।

गुरुलघुत्वाधिकारादिदमाह—

१।४१७. ‘से नूण’मित्यादि, ‘लाघवियं’ति लाघवमेव लाघविकम्—अल्पोपधिकम्, ‘अप्पिच्छ’ति अल्पोऽभिलाष आहारादिषु ‘अमुच्छ’ति उप-धावसरक्षणानुबन्धः, ‘अणेहिं’ ति भोजनादिषु परिभोगकालेऽनासक्तिः, अप्रतिबद्धता—स्वजनादिषु स्नेहाभाव इत्येतत्पकमिति गम्यम् । श्रमणानां निर्ग्रन्थानां ‘प्रशस्तं’ सुन्दरम्, अथवा लाघविकं प्रशस्तं, कथंभूतमित्याह—‘अप्पिच्छ’ अल्पेच्छारूपमित्यर्थः^३ एवमित्तराण्यपि पदानि ।

उक्ता लाघविकस्य प्रशस्तता, तच्च क्रोधाद्यभावाविनाभूतमिति क्रोधादिदोषाभावाविनाभूतकांक्षाप्रदोषक्षयकार्याभिधानार्थं च क्रमेण सूत्रे, व्यक्ते च । नवरं—

१।४१९. कांक्षा—दर्शनान्तरग्रहो गृद्धिर्वा सैव प्रकृष्टो दोषः कांक्षाप्रदोषः कांक्षाप्रद्वेषं वा, रागद्वेषावित्यर्थः । कांक्षाप्रदोषः प्रागुक्तः, प्रदोषत्वं च कांक्षायास्तद्विषयभूतदर्शनान्तरस्य विपर्यस्तत्वादिति दर्शनान्तरस्य विपर्यस्ततां दर्शयन्नाह—

१।४२०. 'अण्णउत्थिए' इत्यादि, अन्ययुथं—विवक्षितसंघादपरः संघस्तदस्ति येषां तेऽन्ययुथिकाः, तीर्थान्तरीया इत्यर्थः। 'एवम्' इति वक्ष्यमाणं 'आइक्खंति' ति आख्यान्ति सामान्यतः, 'भासंति' ति विशेषतः, 'पण्णवेत्ति' ति उपपत्तिभिः, 'परुवेत्ति' ति भेदकथनतः। द्वयोर्जीवयोरकस्य वा समयभेदेनायुर्द्वयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम्—'एगे जीवे' इत्यादि 'दो आउयाइं पकोइ' ति जीवो हि स्वपर्यायसमूहात्मकः, स च यदैकमायुःपर्यायं करोति तदाऽन्यमपि करोति, स्वपर्यायत्वात्, ज्ञानसम्यक्त्वपर्यायवत्। स्वपर्यायकर्तृत्वं च जीवस्याभ्युपगन्तव्यमेव, अन्यथा सिद्धत्वादि-पर्यायाणामनुत्पादप्रसंग इति भावः।

उक्तार्थस्यैव भावनार्थमाह—'जमि'त्यादि विभक्तिविपरिणामाद् यस्मिन् समये इहभवो—वर्तमानभवो यत्रायुषि विद्यते फलतयैतदिहभवायुः, एवं परभवायुरपि, अनेन चेहभवायुःकरणसमये परभवायुःकरणं नियमितम्।

अथ परभवायुःकरणसमये इहभवायुःकरणं नियमयन्नाह—'जं समयं' परभविद्याउय'मित्यादि, एवमेकसमयकार्यतां द्वयोरप्यभिधायैकक्रिया-कार्यतामाह—'इहभविद्याउस्से'त्यादि 'पकरणयाए' ति कारणेन 'एवं खलु' इत्यादि नियमनम्।

१।४२१. 'जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंती' त्याद्यनुवादवाक्यस्यान्ते तत् प्रतीतं न केवलमित्ययं वाक्यशेषो दृश्यः। जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु' ति तत्र 'आहंसु' ति उक्तवन्तः यच्चायं वर्तमाननिर्देशोऽधिकृतेऽतीतनिर्देशः स सर्वो वर्तमानः कालोऽतीतो भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थः। मिथ्यात्वं चास्यैवम्—एकेनाध्यवसायेन विरुद्धवोरायुषोर्बन्धायोगात्। यच्चोच्यते—पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं करोति, स्वपर्यायत्वादिति। तदनैकान्तिकं सिद्धत्वकरणे संसारित्वाकरणादिति।

टीकाकारव्याख्यानं त्विहभवायुर्यदा प्रकरोति—वेदयते इत्यर्थः परभवायुस्तदा प्रकरोति बध्नातीत्यर्थः। इहभवायुरुपभोगेन परभवायुर्बध्नाति इत्यर्थः। मिथ्या चैतत्परमतं, यस्माज्जातमात्रो जीव इहभवायुर्वेदयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्वर्द्धं तदा दानाध्ययनादीनां वैयर्थ्यं स्यादिति। एतद्यायुर्वन्धकालादन्यत्रावसेयम्। अन्यथाऽऽयुर्वन्धकाले इहभवायुर्वेदयते परभवायुस्तु प्रकरोत्येवेति।

अन्ययुथिकप्रस्तावादिदमाह—

१।४२३. 'तेण'मित्यादि, 'पासावच्चिजे' ति पार्श्वपत्यानां—पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वपत्नीयः। 'धेरे' ति श्रीमन्महावीरजिनशिष्याः श्रुतवृद्धाः 'सामाइयं' ति समभाररूपं 'न यण्णं' ति न जानन्ति, सूक्ष्मत्वात्तस्य। 'सामाइयस्स अट्ठं' ति प्रयोजनं कर्मानुपादाननिर्जरणरूपम्। 'पञ्चक्खाणं' ति पौरुष्यादिनियमं, तदर्थं च आश्रवद्वारनिरोधम्। 'संजमं' ति पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणं, तदर्थं च—अनाश्रवत्वं। 'संवरं' ति इन्द्रियनोद्भ्रियनिवर्तनं, तदर्थं तु अनाश्रवत्वमेव। 'विवेगं' ति विशिष्टबोधं, तदर्थं च—त्याज्यत्यागादिकं 'विउस्सगं' ति व्युत्सर्गं कायादीनां तदर्थं वानभिष्वंगताम्।

१।४२४. अज्जो !' ति हे आर्य ! ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात्।

१।४२५. 'किं भे' ति किं भवतामित्यर्थः।

१।४२६. 'आया जे' ति आत्मा नः—अस्माकं मते सामाधिकमिति, यदाह—

“जीवो गुणपडिक्खणो नयस्स दब्बडियस्स सामाइयं” ति।

सामायिकार्थोऽपि जीव एव, कर्मानुपादानादीनां जीवगुणत्वात् जीवाव्यतिरिक्तत्वाच्च तद्गुणानामिति। एवं प्रत्याख्यानाद्यप्यवगन्तव्यम्।

१।४२७. 'जइ मे अज्जो !' ति यदि भवतां हे आर्याः! स्थविराः सामायिकमात्मा तदा 'अवहट्ठ' ति अपहृत्य त्यक्त्वा क्रोधादीन् किमर्थं गर्हध्वे ? 'निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' इति वचनात् क्रोधादीनेव अथवा 'अवज्ज' मिति गम्यते, अयमभिप्रायः—यः सामायिकवान् त्यक्तक्रोधादिश्च स कथं किमपि निन्दति ? निन्दा हि किल द्वेषसम्भवेति। अत्रोत्तरं—संयमार्थमिति, अवधे गर्हिते संयमो भवति, अवधानुमतेर्व्यवच्छेदनात्। तथा—

१।४२८. गर्हा संयमः तद्देहेतुत्वात्, न केवलमसौ गर्हा कर्मानुपादानहेतुत्वात्संयमो भवति, 'गरहावि' ति गर्हैव च सर्वं 'दोसं' ति दोषं—रागादिकं पूर्वकृतं पापं वा द्वेषं वा 'प्रविनयति' क्षपयति, किं कृत्वा ? इत्याह—'सव्वं बालियं' ति बाल्यं—बालतां मिथ्यात्वमविरतिं च 'परिण्णाए' ति 'परिज्ञाय' ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यायेति। इह च गर्हायास्तद्वत्तत्त्वाभेदादेककर्तृकत्वेन परिज्ञायेत्यत्र कृत्वाप्रत्ययविधिरदुष्ट इति।

'एवं खु' ति एवमेव 'णे' इत्यस्माकम् 'आया संजमे उवहिए' ति उपहितः प्रक्षिप्तो न्यस्तो भवति, अथवाऽऽत्मरूपः संयमः 'उपहितः' प्राप्तो भवति। 'आया संजमे उवहिए' ति आत्मा संयमविषये पुष्टो भवति, आत्मरूपो वा संयम उपचितो भवति। 'उवड्डिए' ति 'उपस्थितः' अत्यन्तावस्थायी।

१।४२९. 'एएसि णं भंते ! पयाणं' इत्यस्य 'अदिङ्गण' मित्यादिना सम्बन्धः। कथमदृष्टानामित्याह—'अन्नाणयाए' ति अज्ञानो—निज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता तथाऽज्ञानतया स्वरूपेणानुपलम्भादित्यर्थः। एतदेव कथमित्याह—'असवणयाए' ति अश्रवणः—श्रुतिवर्जितस्तद्भावस्तथा, 'अबोहीए' ति अबोधिः—जिनधर्मान्वासिः, इह तु प्रक्रमान्महावीरजिनधर्मान्वासिस्तथा, अथवौत्पत्तिक्यादिबुद्ध्याभावेन, 'अण्णमिमेणं' ति विस्तारबोधाभावेन हेतुना, 'अदृष्टानां' साक्षात्स्वयमनुपलब्धानाम्, 'अश्रुतानाम्' अन्यतोऽनाकर्णितानाम्, 'अस्सुवाणं' ति 'अस्मृताणां' दर्शनाकर्णनाभावेनाननुध्यातानाम्, अत एव 'अविज्ञातानां' विशिष्टबोधविषयीकृतानाम्, एतदेव कुत इत्याह—'अव्योकडणं' ति अव्याकृतानां विशेषतो गुरुभिरनाख्यातानाम्, 'अव्योक्खिण्णाणं' ति विपश्चादव्यवच्छेदितानाम्, 'अनिज्जुद्धाणं' ति महतो ग्रन्थात्सुखावबोधाय संक्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धृतानाम्, अत एवास्माभिः 'अनुपधारितानाम्' अनुवधारितानाम् 'एयमट्ठे' ति एवं प्रकारोऽर्थः अथवाऽयमर्थः 'नो सहहिए' ति न श्रद्धितः, 'नो पत्तिए' ति 'नो' नैव 'पत्तियं' ति प्रीतिरुच्यते तद्योगात् 'पत्तिए' प्रीतः—प्रीतिविषयीकृतः, अथवा न प्रीतितः न प्रत्ययितो वा हेतुभिः, 'नो रोइए' ति न विकीर्षितः।

'एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह' ति अथ यथैतद्वस्तु यूयं वदथ एवमेतद्वस्त्विति भावः।

- १।४३१. 'चाउज्जामाउ'ति चतुर्माहाव्रतात् पार्श्वनाथजिनस्य हि चत्वारि महाव्रतानि । नापरिगृहीता स्त्री भुज्यते इति मैथुनस्य परिग्रहेऽन्तर्भावदिति । 'सपडिक्रमणं'ति पार्श्वनाथधर्मो हि अप्रतिक्रमणः, कारण एव प्रतिक्रमणकरणादन्यथा त्वकरणात् । महावीरजिनस्य तु सप्रतिक्रमणः, कारणं विनाऽप्यवश्यं प्रतिक्रमणकरणादिति । 'देवानुपिय'ति प्रियामंत्रणं 'मा पडिबंधं' ति मा व्याघातं कुरुष्वेति गम्यम् ।
- १।४३३. 'मुंडभावे'ति मुंडभावो—दीक्षितत्वं, 'फलगसेज्ज'ति प्रतलायतविष्कम्भवत् काष्ठरूपा, 'कट्टसेज्ज'ति असंस्कृतकाष्ठशयनं, कष्टशय्या वाऽमनोज्ञा वसतिः, 'लद्धावलद्धी'ति लब्धं च—लाभोऽपलब्धिश्च—अलाभोऽपरिपूर्णलाभो वा लब्धापलब्धिः, 'उच्चावय'ति उच्चावचाः अनुकूलप्रतिकूला असमंजसा वा, 'गामकंटय'ति ग्रामस्य—इन्द्रियसमूहस्य कण्टका इव कण्टका—बाधकाः शत्रवो वा ग्रामकण्टकाः, क एते इत्याह—'बावीसं परीसहोवसग्'ति परीषहः—क्षुदादयस्त एवोपसर्गा—उपसर्जनात् धर्मभ्रंशनात् परीषहोपसर्गाः, अथवा द्वाविंशतिपरीषहाः, तथा उपसर्गा—दिव्यादयः ।
- कालस्यवैशिकपुत्रः प्रत्याख्यानक्रियया सिद्ध इति तद्विपर्ययभूताप्रत्याख्यानक्रियानिरूपणसूत्रम्—
- १।४३४. 'भंते'इत्यादि, तत्र 'भंते'ति हे भदन्त ! 'इति' एवमामंत्र्येति शेषः, अथवा भदन्त ! इतिकृत्वा, गुरुरितिकृत्वैत्यर्थः, 'सेड्वियस्स' ति श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितशिरोवेष्टनोपेतपौरजननायकस्य 'तणुयस्स'ति दरिद्रस्य 'किवणस्स'ति रंकस्य 'खत्तियस्स' ति राज्ञः 'अपच्चक्खाणकिरिय'ति प्रत्याख्यानक्रियाया अभावोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्मबन्धः ।
- १।४३५. 'अविरइ'ति इच्छया अनिवृत्तिः सा हि सर्वेषां समवेति ।
अप्रत्याख्यानक्रियायाः हि प्रस्तावादिदमाह—
- १।४३६. 'आहाकम्म'मित्यादि आध्याया—साधुप्रणिधानेन यत् सचेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते चोयते वा गृहादिकं व्यूयते^१ वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म 'किं बंधइ'ति प्रकृतिबन्धमाश्रित्य स्पृष्टावस्थापेक्षया वा 'किं पकरेइ'ति स्थितिबन्धापेक्षया बद्धावस्थापेक्षया वा 'किं चिणाइ'ति अनुभागवन्धापेक्षया निघन्तावस्थाऽपेक्षया वा 'किं उवचिणाइ'ति प्रदेशबन्धापेक्षया निकाचनापेक्षया वेति ।
- १।४३७ 'आयाए'ति आत्मना धर्मं चारित्रधर्मं श्रुतधर्मं वा 'पुढविकायं नावकंखइ'ति नापेक्षते, नानुकम्पत इत्यर्थः ।
- १।४३८. आधाकर्मविपक्षश्च प्रासुकैषणीयमिति प्रासुकैषणीयसूत्रम् ।
अनन्तरसूत्रे संसारव्यतिव्रजनमुक्तं, तच्च कर्मणोऽस्थिरतया प्रलोटने सति भवतीत्यस्थिरसूत्रम्—
- १।४४०. तत्र 'अथिरे'ति अस्थानु द्रव्यं लोघादि 'प्रलोटयति'^२ परिवर्तते, अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयचलनेनास्थिरत्वात् 'प्रलोटयति' बन्धोदयनिर्जरादिपरिणामैः परिवर्तते । 'स्थिरं' शिलादि न प्रलोटयति, अध्यात्मचिन्तायां तु स्थिरो जीवः, कर्मक्षयेऽपि तस्यावस्थितत्वात्, नासौ 'प्रलोटयति' उपयोगलक्षणस्वभावाच्च परिवर्तते । तथा अस्थिरं भंगुरस्वभावं तृणादि 'भज्यते' विदलयति, अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तद् भज्यते व्यपैति । तथा 'स्थिरं' अभंगुरमयः शलाकादि न भज्यते, अध्यात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः स च न भज्यते शाश्वतत्वादिति ।
- जीवप्रस्तावादिदमाह—'सासए बालए'ति बालको व्यवहारतः शिशुनिश्चयतोऽसंयतो जीवः स च शाश्वतो द्रव्यत्वात्, 'बालियत्तं'ति इहेकप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद् बालत्वं व्यवहारतः शिशुत्वं निश्चयतस्त्वसंयतत्वं तच्चाशाश्वतं पर्यायत्वादिति । एवं पण्डितसूत्रमपि, नवरं पण्डितो व्यवहारेण शास्त्रज्ञो जीवः निश्चयतस्तु संयत इति ॥

॥ प्रथमशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशकेऽस्थिरं कर्मेत्युक्तं, कर्मादिषु च कुतीर्थिका विप्रतिपद्यन्ते अतस्तद्विप्रतिपत्तिनिरासप्रतिपादनार्थः तथा संग्रहण्यां 'चलणाउ'ति यदुक्तं तत्रप्रतिपादनार्थश्च दशमोद्देशको व्याख्यायते, तत्र च सूत्रम्—

- १।४४२. 'अण्णउत्थिया ण'मित्यादि, 'चलमाणे अचलिए'ति चलत्कर्माचलितं, चलता तेन चलितकार्याकरणात्, वर्तमानस्य चातीततया व्यपदेश्यशक्यत्वात्, एवमन्यत्रापि वाच्यमिति ।

'एगयओ न साहण्णति'ति एकत् एकत्वेनैकत्कन्धतयेत्यर्थः 'न संहन्येते' न संहतौ—मिलितौ स्याताम् । 'नत्थि सिणेहकाए'ति स्नेहपर्यवराशिर्नास्ति, सूक्ष्मत्वात्, त्र्यादियोगे तु स्थूलत्वात्सोऽस्ति । 'दुक्खत्ताए कज्जंति'ति पञ्च पुद्गलाः संहत्य दुःखतया—कर्मतया क्रियन्ते, भवन्तीत्यर्थः, 'दुक्खेऽवि य ण'ति कर्मापि च 'से'ति तत् शाश्वतगनादित्वात् 'सय'ति सर्वदा 'सगिय'ति सम्यक् सपरिमाणं वा 'वीयते चयं याति' अपचीयते अपचयं याति ।

तथा 'पुब्बं'ति भाषणात् प्राक् 'भास'ति वाक्द्रव्यसंहतिः 'भास'ति सत्यादिभाषा स्यात्, तत्कारणत्वात् विभंगज्ञानित्वेन वा तेषां मतमात्रमेतत् निरुपपत्तिकमुन्मत्तकवचनवदतो नेहोपपत्तिरित्यर्थं गवेपणीया, एवं सर्वत्रापीति, तथा 'भासिज्जमाणी भासा अभास'ति निःसृज्यमाणवामुद्भव्याणि अभाषा, वर्तमानसमयस्यातिसूक्ष्मत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति, 'भासासमयविड्कंतं च णं'ति इह तत्प्रत्ययस्य भावार्थत्वाद् विभक्तिविपरिणामाच्च भाषासमयव्यतिक्रमे च 'भासिय'ति निःसृष्टा सती भाषा भवति, प्रतिपाद्यस्याभिधेयै^३ प्रत्ययोत्पादकत्वादिति, 'अभासओ णं भास'ति अभाषमाणस्य भाषा भाषणात्पूर्वं पश्चाच्च तदभ्युपगमात्, 'नो खलु भासओ'ति भाष्यमाणायास्तस्या अनभ्युपगमादिति ।

१. X क. च.

२. ऊयते ख. ग. च. छ.

३. प्रलोटयति ग.

४. परिणामाच्च ख. ग. घ. च. छ.

५. अभिधेये ख. ग. घ. छ.

तथा—‘पुञ्जं किरिए’त्यादि, क्रिया कायिक्यादिका सा यावन्न क्रियते तावत् ‘दुःख’ ति दुःखहेतुः । ‘कञ्जमाणि’ ति क्रियमाणा क्रिया ‘न दुःखा’ न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यतिक्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणताव्यतिक्रमे च कृता सती क्रिया दुःखेति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरुपपत्तिकम् । अथवा पूर्वं क्रिया दुःखा, अनभ्यासात् । क्रियमाणा क्रिया न दुःखा, अभ्यासात् । कृता क्रिया दुःखा, अनुतापश्रमादेः । ‘करणओ दुःख’ ति करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वत इत्यर्थः । ‘अकरणओ दुःख’ ति अकरणमाश्रित्याकुर्वत इति यावत् । ‘नो खलु सा करणओ दुःख’ ति अक्रियमाणत्वे दुःखतया तस्या अभ्युपगमात् । ‘सेवं वक्तव्यं सिया’ अथैवं पूर्वोक्तं वस्तु वक्तव्यं स्यादुपपन्नत्वादस्येति ।

अथान्ययूथिकान्तरमतमाह—‘अकृत्यम्’ अनागतकालापेक्षयाऽनिर्वर्तनीयं जीवैरिति गम्यं ‘दुःखम्’ असातं तत्कारणं वा कर्म, तथाऽकृतत्वादेवास्पृश्यम्—अबन्धनीयं, तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं चातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं । कालत्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधाद् अकृत्वाऽकृत्वा, आभीक्ष्ये द्विर्वचनं, दुःखमिति प्रकृतमेव, के ? इत्याह—प्राणभूतजीवसत्त्वाः, प्राणादिलक्षणं चेदम्—

“प्राणा द्वित्रिवतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तवः स्मृताः ।

जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥”

‘वेयणं’ ति शुभाशुभकर्मवेदानां पीडां वा ‘वेदयन्ति’ अनुभवन्ति, इत्येतद्वक्तव्यं स्यात्, एतस्यैवोपपद्यमानत्वाद्, यादृच्छिकं हि सर्वं लोके सुखदुःखमिति, यदाह—

“अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।

काकस्य तालेन यथाऽयिषातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥”

१।४४३. ‘से कहमेवं’ति अथ कथमेतद् भदन्त ! ‘एवम् ?’ अन्ययूथिकोक्तन्यायेन ? इति प्रश्नः । ‘जं णं अण्णउत्थिया’ इत्याहुत्तरं । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । मिथ्या चैतदेवं—यदि चलदेव प्रथमसमये चलितं न भवेत्तदा द्वितियादिष्वपि तदचलितमेवेति न कदाचनापि चलेत्, अत एव वर्तमानस्यापि विवक्षयाऽतीतत्वं न विरुद्धम् । एतच्च प्रागेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते । यच्चोच्यते—चलितकार्याकरणादचलितमेवेति, तदयुक्तं, यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानेषु स्थासकोशादिवस्तुष्वन्यक्षणाभावि वस्तु आद्यक्षणे स्वकार्यं न करोत्येव, असत्त्वाद् । अतो यदन्यसमयचलितं कार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमयचलितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र ? कारणानां स्वस्वकार्यकरणत्वभावत्वादिति ।

यच्चोक्तं—द्वौ परमाणु न संहन्येते, सूक्ष्मतया स्नेहाभावात्, तदयुक्तम्, एकस्यापि परमाणोः स्नेहसंभवात्, सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वेन तैरेवाभ्युपगमाच्च, यत उक्तम्—‘तिणिण् परमाणुपोगला एगयओ साहणंति ते भिज्जमाणा दुहावि तिहावि कज्जति, दुहा कज्जमाणा एगओ दिवहे’ति, अनेन हि सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वाभ्युपगमेन तस्य स्नेहोऽभ्युपगत एवेत्यतः कथं परमाण्वोः स्नेहाभावेन संघाताभाव इति ।

यच्चोक्तम्—एकतः सार्द्ध एकतः सार्द्ध इति, एतदप्यचारु, परमाणोरर्द्धीकरणे परमाणुत्वाभावप्रसंगात् । तथा यदुक्तं—पंच पुद्गलाः संहताः कर्मतया भवन्ति, तदयसंगतं, कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्, पञ्चाणुकस्य च स्कन्धमात्रत्वात्, तथा कर्म जीवावरणस्वभावविष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसंख्यातप्रदेशात्मकं जीवमानुष्यादिति ।

तथा यदुक्तं—कर्म च शाश्वतं, तदपि असमीचीनं, कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्यभावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावप्रसंगात् । दृश्यते च ज्ञानादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तं—कर्म सदा चीयतेऽपचीयते चेति तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति ।

यच्चोक्तं—भाषणात्पूर्वं भाषा, तद्धेतुत्वाद्, तदयुक्तमेव, औपचारिकत्वात्, उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वाद् । किं च—उपचारस्तात्त्विके वस्तुनि सति भवतीति तात्त्विकी भाषाऽस्तीति सिद्धम् । यच्चोक्तं—भाष्यमाणाऽभाषा, वर्तमानसमयस्याव्यावहारिकत्वात् । तदयसम्यग्, वर्तमानसमय-स्यैवास्तित्वेन व्यवहारांगत्वाद् अतीतानागतयोश्च विनशानुत्पन्नतयाऽसत्त्वेन व्यवहारानंगत्वादिति, यच्चोक्तं—भाषासमयेत्यादि, तदयसाधु, भाष्य-माणभाषाया अभावे भाषासमय इत्यस्याप्यभिलाषत्वाभावप्रसंगात् । यश्च प्रतिपाद्यस्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति हेतुः सोऽनैकान्तिकः, करादिवेधनाभिधेयप्रतिपादकत्वे सत्यपि भाषात्वासिद्धेः । तथा यदुक्तम्—अभाषकस्य भाषेति, तदसंगततरम्, एवं हि सिद्धस्याचेतनस्य वा भाषाप्राप्तिप्रसंग इति ।

एवं क्रियाऽपि वर्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वादिति । यच्चानभ्यासादिकं कारणमुक्तं तच्चानैकान्तिकम् । अनभ्यासादावपि यतः काचित्सुखादिरूपैव । तथा यदुक्तम्—अकरणतः क्रिया दुःखेति, तदपि प्रतीतिबाधितं, यतः करणकाल एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते, न पुनः पूर्वं पश्चाद् वा तदसत्त्वादिति ।

तथा यदुक्तम्—‘अकिञ्च’मित्यादि यदृच्छावादिमताश्रयणात्, तदयसाधीयो, यतो यद्यकरणादेव कर्म दुःखं सुखं वा स्यात् तदा विविधै-हिकपारलौकिकानुष्ठानाभावप्रसंगः स्यात्, अभ्युपगतं च किञ्चित्पारलौकिकानुष्ठानं तैरपि चेति, एवमेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम् । उक्तं च वृद्धैः—

“परतिस्थियक्तव्यस्य पढमसए दसमयंमि उहेसे ।

विब्भंणीणादेसा मइमेया वावि सा सन्वा ॥

सब्भूयमसब्भूय भंगा चत्तारि होत्ति विब्भंणे ।

उम्भत्तवायसरिसं तो अण्णाणंति निदिहुं ॥”

सद्भूते—परमाणौ असद्भूतं—अर्धादि, असद्भूते—सर्वगात्वनि सद्भूतं चैतन्यं, सद्भूते—परमाणौ सद्भूतं—निष्प्रदेशत्वम्, असद्भूते—सर्वगात्वनि असद्भूतं कर्तृत्वमिति ।

‘अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामी’त्यादि तु प्रतीतार्थमेवेति । नवरं ‘दोण्हं परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए’ति एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णसिग्धरूक्षस्यशानामन्यतरदविरुद्धं स्पशद्वयमेकदैवास्ति, ततो द्वयोरपि तयोः सिग्धत्वभावात् स्नेहकायोऽस्त्येव । ततश्च तौ

विषमस्नेहात्संहन्येते, इदं च परमतानुवृत्त्योक्तम्, अन्यथा रूक्षावपि रूक्षत्ववैषम्ये संहन्येते एव, यदाह—

“समनिद्रयाए बंधो न होइ समलुक्खयाए वि न होइ ।

वेमायनिद्रलुक्खत्तणेण बन्धो उ खंषाणं ॥” ति

‘खंधेवि य णं से असासए’ति उपचयापचयिकत्वात्, अत एवाह—‘सया समिय’मित्यादि । ।

‘पुव्विं भाषा अभास’ति भाष्यत इति भाषा भाषणाच्च पूर्व न भाष्यते इति न भाषेति ‘भासिज्जमाणी भासा भास’ति शब्दार्थोपपत्तेः ‘भासिया अभास’ति शब्दार्थवियोगात् ।

‘पुव्विं किरिया अदुक्ख’ति करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न दुःखा । सुखापि नासौ, असत्त्वादेव, केवलं परमतानुवृत्त्याऽदुःखेत्युक्तं ‘जहा भास’ति वचनात् । ‘कज्जमाणी किरिया दुक्खा’ सत्त्वात्, इहापि यत्क्रियमाणा क्रिया दुःखेत्युक्तं तत्परमतानुवृत्त्यैव, अन्यथा सुखाऽपि क्रियमाणैव क्रिया, तथा ‘किरियासमयवितिक्रंतं च ण’मित्यादि दृश्यमिति ।

‘किच्चं दुक्ख’मित्यादि, अनेन च कर्मसत्ताऽवेदिता, प्रमाणसिद्धत्वात्स्य, तथाहि—इह यद्द्वयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसभेत्तयोरैकस्य दुःखलक्षणं फलमन्यस्येतरत् न तद्दिशिष्टहेतुमन्तरेण संभाव्यते, कार्यत्वाद्, घटवत् । यश्चासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मेति, आह च—

“जो तुल्लाहाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं ।

कज्जत्ताओ गोयम ! षडो व्व हेऊ य से कम्मं ॥” ति ।

पुनरन्यन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह—

१।४४४. ‘अण्णउत्थिया ण’मित्यादि । तत्र च ‘इरियावहियं’ति ईर्या—गमनं तद्विषयः पन्था—मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । ‘संपराइयं च’ति संपरैति—परिभ्रमति प्राणी भवे एभिरिति संपरायाः—कषायास्तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी, कषायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः । ‘परउत्थियवत्तव्वं णेयव्वं’ति इह सूत्रेऽन्ययूथिकवत्तव्वं स्वयमुच्चारणीयं, ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्तस्य, तच्चेदम्—‘जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहियापकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तंजहा—इरियावहियं च संपराइयं चे’ति ।

‘ससमयवत्तव्वयाए णेयव्वं’ सूत्रमिति गम्यं, सा चैवम्—

१।४४५. ‘से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जन्नं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव संपराइयं च जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एवं किरियं पकरेइ तंजहा’इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेणाध्ययमिति । मिथ्यात्वं चास्त्यैवम्—ऐर्यापथिकी क्रियाऽकषायोदयप्रभवा इतरा तु कषायप्रभवेति कथमेकस्यैकदा तयोः संभवः ? विरोधादिति ।

अनन्तरं क्रियोक्ता, क्रियावतां चोत्पादो भवतीत्युत्पादविरहरूपणायाह—

१।४४६. ‘निरयगई’त्यादि ।

१।४४७. ‘वक्कंतीपयं’ति व्युत्क्रान्तिः—जीवानामुत्पादस्तदर्थं पदं—प्रकरणं व्युत्क्रान्तिपदं तच्च प्रज्ञापनायां षष्ठं, तच्चार्थलेशत एवं द्रष्टव्यं—पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मतौ मनुष्यगतौ देवगतौ चोत्कर्षतो द्वादशमुहूर्ताः जघन्यतस्त्वेकसयम उत्पादविरह इति, तथा—

“चउवीसई मुहुत्ता १ सत्त अहोरत्त २ तह य पण्णरसइ ।

मासो य ४ दो य ५ चउरो ६ छम्मासा ७ विरहकालो उ ॥

उक्कोसो त्यणाइसु सन्वासु जहण्णओ भवे समओ ।

एमेव य उव्वट्ठण संखा पुण सुवरता तुल्ला ॥”

सा चैवम्—

“एगो य दो य तिण्णि य संखमसंखा व एगसमएणं ।

उव्वज्जंतेवइया उव्वट्ठंतावि एमेव ॥”

तिर्यग्मतौ च विरहकालो यथा—

“भिन्नमुहुत्तो विमल्लिंदियाण संमुच्छिमाण य तहेव ।

बारस मुहुत्त गब्भे उक्कोस जहन्नओ समओ ॥”

एकेन्द्रियाणां तु विरह एव नास्ति, मनुष्यगतौ तु—

“बारस मुहुत्त गब्भे मुहुत्तं संमुच्छिमे चउवीसं ।

उक्कोस विरहकालो दोसुवि य जहन्नओ समओ ॥”

देवगतौ तु-

“भवणवणजोइसोहम्मीसाणे चजवीसइ मुहुत्ता उ ।
उक्कोसविरहकालो पंचसुवि जहन्नओ सम्मओ ॥
णवदिण वीस मुहुत्ता बारस दस चव दिणमुहुत्ताओ ।
बावीसा अद्धं विय पणयालअसीइदिदससयं ॥
संखेज्जा मासा आणयपाणएसु तह आरण्णुए वासा ।
संखेज्जा विन्नेया गेवेज्जेसुं अओ वोच्छं ॥
हेट्ठिमि बाससयाइं मज्झिं सहस्ताइं उवरिमे लक्खा ।
संखेज्जा विन्नेया जहा संखेण तीसुंपि ॥
पलिया असंखभागे उक्कोसो होइ विरहकालो उ ।
विज्जयाइसु निदिदो सब्बेसु जहण्णओ सम्मओ ॥
उववायविरहकालो इय एसो वण्णिओ उ देवेसु ।
उव्वट्ठणावि एवं सब्बेसु होइ विण्णेया ॥
जहण्णेण एगसमओ उक्कोसेणं तु होंति छम्मासा ।
विरहो सिद्धिगईए उव्वट्ठणवज्जिया नियमा ॥” इति ॥

॥ प्रथमशते दशमोद्देशकः ॥

इति गुरुगमभंगैः सागरस्याहमस्य,
स्फुटमुपचित्तजड्यः पञ्चमांगस्य सद्यः ।
प्रथमशतपदार्थावर्तगर्तव्यतीतौ,
विदरणवरपोतौ प्राच्य सद्धीवराणाम् ॥

॥ इति श्रीमदभयदेवाचार्यविरचितायां भगवतीवृत्तौ प्रथमशतं समाप्तमिति ॥



द्वितीयं शतकम्

प्रथम उद्देशकः

व्याख्यातं प्रथमं शतमथ द्वितीयं व्याख्यायते। तत्रापि प्रथमोद्देशकः, तस्य चायमभिसम्बन्धः—प्रथमशतान्तिमोद्देशकान्ते जीवानामुत्पादविरहोऽभिहितः। इह तु तेषामेवोच्छ्वासादि चिन्त्यत इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदमुपोद्घातसूत्रानन्तरसूत्रम्—

२।२. 'जे इमे' इत्यादि, यद्यप्येकेन्द्रियाणामागमादिप्रमाणज्जीवत्वं प्रतीयते तथाऽपि तदुच्छ्वासादीनां साक्षादनुपलम्भाज्जीवशरीरस्य च निरुच्छ्वासादेरपि कदाचिद्दर्शनात् पृथिव्यादिभूच्छ्वासादिविषया शंका स्यादिति तत्रिरासाय तेषामुच्छ्वासादिकमस्तीत्येतस्यागमप्रमाणप्रसिद्धस्यप्रदर्शनपरमिदं सूत्रमवगन्तव्यमिति।

उच्छ्वासाधधिकाराज्जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेषुच्छ्वासादिद्रव्याणां स्वरूपनिर्णयाय प्रश्नयन्नाह—

२।३. 'किष्णं भंते ! जीवे'त्यादि, किमित्यस्य सामान्यनिर्देशत्वात् 'कानि' किंविधानि द्रव्याणीत्यर्थः।

२।४. 'आहारगमो नेयव्यो'ति प्रज्ञापनाया अष्टाविंशतितमाहारपदोक्तसूत्रपद्धतिरिहाध्येत्यर्थः, सा चैयम्—'दुवन्नाइं तिवण्णाइं जाव पंचवण्णाइंपि । जाइं वन्नओ कालाइं ताइं किं एगमुणकालाइं जाव अणंतमुणकालाइंपि' इत्यादिरिति।

२।७. 'जीवा-एगिदिए'त्यादि, जीवा एकेन्द्रियाश्च 'वाघाया य निव्वाघाया य'ति मतुबुलोपाद् व्याघातनिर्व्याघातवन्तो भणितव्याः। इह चैवं पाठेऽपि निर्व्याघातशब्दः पूर्वं द्रष्टव्यः, तदभिलापस्य सूत्रे तथैव दृश्यमानत्वात्। तत्र जीवा निर्व्याघाताः सव्याघाताः सूत्रे एव दर्शितः, एकेन्द्रियास्त्वेवम्—'पुढविक्काइया णं भंते ! कइदिसं आपमंति ? गोयमा ! निव्वाघाएणं छदिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिविसि'मित्यादि। एवमफ्कायादिष्वपि, तत्र निर्व्याघातेन षड्दिशम्। षड्दिशो यत्रानमनादौ तत्तथा, व्याघातं प्रतीय स्यात्त्रिदिशं स्याच्चतुर्दिशं स्यात्पञ्चदिशमानमन्ति, यतस्तेषां लोकान्तवृत्तायलोकेन' त्र्यादिदिशुच्छ्वासादिपुद्गलानां व्याघातः संभवतीति। 'सेसा नियमा छदिसि'ति शेषा नारकादित्रसाः षड्दिशमानमन्ति, तेषां हि त्रसनाइचन्तभूतत्वात् षड्दिशमुच्छ्वासादिपुद्गलग्रहोऽस्त्येवेति।

अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावदुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायिकानामप्युच्छ्वासादिना वायुनैव भवितव्यमुत्तान्येन केनापि पृथिव्यादीनामिव तद्विलक्षणेन ? इत्याशंकायां प्रश्नयन्नाह—

२।८. 'वाउयाए ण'मित्यादि, अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वासवायुना भाव्यं तस्याप्यन्येनैवमनवस्था। नैवमचेतनत्वात्तस्य, किंच योऽयमुच्छ्वासवायुः स वायुत्वेऽपि न वायुसंभाव्यौदारिकवैक्रियशरीररूपः तदीयपुद्गलानामानप्राणसंज्ञितानामौदारिकवैक्रियशरीरपुद्गलेभ्योऽनन्तगुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतथैतच्छरीरव्यपदेश्यत्वात्, तथा च प्रत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नानवस्था।

२।९. 'वाउकाए णं भंते !'इति, अयं च प्रश्नो वायुकायप्रस्तावाद् विहितोऽन्यथा पृथिवीकायिकादीनामपि मृत्वा स्वकाये उत्पादोऽस्त्येव, सर्वेषामेषां कायस्थितेरसंख्याततयाऽनन्ततया चोक्तत्वात्, यदाह—

“अस्संबोसप्पिणीउस्सप्पिणीओ एगिदियाण उ चउण्हं।

ता चैव ऊ अणंता वणस्सईए उ बोद्धवा ॥”

तत्र वायुकायो वायुकाय एवानेकशतसहस्रकृत्वः 'उद्दाइत्ति अपडुत्थ' मृत्वा 'तत्थेव'ति वायुकाय एव 'पच्चायाइ'ति 'प्रत्याजायते' उत्पद्यते।

२।१०. 'पुडे उद्दाइ'ति स्पृष्टः स्वकायशस्त्रेण परकायशस्त्रेण वा 'अपद्रवति' म्रियते 'नो अपुडे'ति सोपक्रमापेक्षमिदम्।

२।११. 'निक्खमइ'ति स्वकडेवरान्निःसरति। 'सिय ससरीरी'ति स्यात्—कथंचित्

२।१२. 'ओरालियवेउक्वियाइं विष्णजहाये'त्यादि, अयमर्थः—औदारिकवैक्रियापेक्षयाऽशरीरी तैजसकार्मणापेक्षया तु सशरीरी निष्कामतीति।

वायुकायस्य पुनः पुनस्तत्रैवोत्पत्तिर्भवतीत्युक्तम्, अथ कस्यचिन्मुनेरपि संसारवक्रापेक्षया पुनः पुनस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यादिति दर्शयन्नाह—

२।१३. 'मडाई णं भंते ! नियंठे'इत्यादि, मृतादी—प्रासुकभोजी, उपलक्षत्वादेश्चणीयादी चेति दृश्यं, 'निर्ग्रन्थः' साधुरित्यर्थः 'हव्वं' शीघ्रमागच्छतीति योगः। किंविधः सन् ? इत्याह—'नो निरुद्धभवे'ति अनिरुद्धाग्रेतनजन्मा चरमभवान्नाह इत्यर्थः। अयं च भवद्वयप्राप्तव्यमोक्षोऽपि स्यादित्याह—'नो

निरुद्धभवपवंचे'ति प्राप्तव्यभवविस्तार इत्यर्थः। अयं च देवमनुष्यभवप्रपञ्चापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—'षो पहीणसंसारे'ति अप्रहीणचतुर्गतिगमन इत्यर्थः। यत एवमत एव 'नो पहीणसंसारवेयगिज्ञ'ति अप्रशीणसंसारवेधकर्म्म। अयं च सकृच्चतुर्गतिगमनतोऽपि स्यादित्यत आह—'नो वोच्छिन्नसंसारे'ति अत्रुदितचतुर्गतिगमनानुबन्ध इत्यर्थः। अत एव 'नो वोच्छिन्नसंसारवेयगिज्ञे'ति 'नो' नैव व्यवच्छिन्नम्—अनुबन्धव्यवच्छेदेन चतुर्गतिगमनवेधं कर्म यस्य स तथा। अत एव 'नो निद्वियद्वे'ति अनिष्ठितप्रयोजनः। अत एव 'नो निद्वियद्वकरणिजे'ति 'नो' नैव निष्ठितार्थानामिव करणीयानि—कृत्यानि यस्य स तथा। यत एवंविधोऽसावतः पुनरपीति अनादौ संसारे पूर्व प्राप्तमिदानीं पुनर्विशुद्धचरणवाप्तेः सकाशादसंभावनीयम् 'इत्यत्यं'ति इत्यर्थम् एतमर्थम्—अनेकशस्तिर्यङ्गनरनाकिनारकगतिगमनलक्षणम् 'इत्यत्'मिति षाठान्तरं तत्रानेन प्रकारेणेत्यं तदुभाव इत्यत्वं मनुष्यादित्वमिति भावः, अनुस्वारलोपश्च प्राकृतत्वात् 'ह्वं'ति शीघ्रम् 'आगच्छइ'ति प्राप्नोति।

अभिधीयते च—कषायोदयाद्यतिपतितचरणानां चारित्रवतां संसारसागरपरिभ्रमणं, यदाह—

“जइ उवसंतकसाओ लहइ अणंतं पुणोवि पडिवायं” ति।

स च संसारचक्रगतो मुनिजीवः प्राणादिना नामषट्केन कालभेदेन युगपद्य वाच्यः स्यादिति बिभण्णिषुः प्रश्नयन्नाह—

२।१४. 'से णमि'त्यादि, तत्र 'सः' निर्ग्रन्थजीवः किंशब्दः प्रश्ने सामान्यावाचित्वाच्च नपुंसकलिगेन निर्दिष्टः 'इति' एवमन्वर्थयुक्ततयेत्यर्थः वक्तव्यः स्यात्। प्राकृतत्वाच्च सूत्रे नपुंसकलिगताऽस्येति। अन्वर्थयुक्तशब्दैरुच्यमानः किमसौ वक्तव्यः स्यात् ? इति भावः।

अत्रोत्तरं—'पाणेति वक्तव्य'मित्यादि, तत्र प्राण इत्येतत्तं प्रति वक्तव्यं स्यात् यदोच्छ्वासादिमत्त्वमात्रमाश्रित्य तस्य निर्देशः क्रियते। एवं भवनादिधर्मविवक्षया भूतादिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य कालभेदेन व्याख्येया। यदा तूच्छ्वासादिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयितेत्येतत्तं प्रति वाच्यं स्यात्। अथवा निगमनवाक्यभेदेमतो न युगपत्पक्षव्याख्या कार्येति।

२।१५. 'जम्हा जीवे'इत्यादि, यस्मात् 'जीवः'आत्माऽसौ 'जीवति' प्राणान् धारयति तथा 'जीवत्वम्' उपयोगलक्षणम् आयुष्कं च कर्म 'उपजीवति' अनुभवति तस्माज्जीव इति वक्तव्यं स्यादिति। 'जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्महेहिं'ति सक्तः—आसक्तः शक्तो वा—समर्थः सुन्दरसुन्दरसु चेत्यसु, अथवा सक्तः—संबद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति।

अनन्तरोक्तस्यैवार्थस्य विपर्ययमाह—

२।१७. 'मडाई'त्यादि 'पारगए'ति पारगतः संसारसागरस्य 'भाविनिभूतवदि'त्युपचारादिति 'परंपरगए'ति परम्परया—मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकानां मनुष्यादिसुगतीनां वा पारम्पर्येण गतो भवाम्भोधियारं प्राप्तः परम्परागतः।

इहानन्तरं संयतस्य संसारवृद्धिहानी उक्ते सिद्धत्वं चेति, अधुना तु तेषामन्येषां चार्थानां व्युत्पादनार्थं स्कन्दकचरितं विवक्षुरिदमाह—

२।२२. 'उष्णणणाणदंसणधरे' इह यावत्करणात् 'अरहा जिणे केवली सव्वण्णु सव्वदरिसी आगासगएणं छत्तेण'मित्यादिं समवसरणान्तं वाच्यमिति।

२।२३. 'गद्दभालस्स'ति गर्दभालाभिधानपरिव्राजकस्य।

२।२४. 'रिउव्वेयजजुव्वेयसामवेयअथव्वणवेय'ति इह षष्ठीबहुवचनलोपदर्शनात् ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणवेदानामिति दृश्यम्। इतिहासः—पुराणं स पंचमो येषां ते तथा तेषां 'चउण्हं वेयाणं'ति विशेष्यपदं 'निघंटुछट्ठाणं'ति निघण्टो नामकोशः 'संगोवंगाणं'ति अंगानि—शिक्षादीनि षड् उपांगानि—तदुक्तप्रपञ्चनपराः प्रबन्धाः 'सरहस्साणं'ति ऐदम्पर्ययुक्तानां, 'सारए'ति सारकोऽध्यापनद्वारेण प्रवर्तकः, स्मारको वाऽन्येषां विस्मृतस्य सूत्रादेः स्मरणात्, 'वारए'ति वारकोऽशुद्धपाठनिषेधात्, 'धारए'ति क्वचित्पाठः तत्र धारकोऽधीतानामेषां धारणात्, 'पारए'ति पारगामी, 'षडंगविदिति' षडंगानि—शिक्षादीनि वक्ष्यमाणानि, सांगोपांगानामिति यदुक्तं तद्वेदपरिकरज्ञापनार्थम्, अथवा षडंगविदित्यत्र तद्विचारकत्वं गृहीतं 'विद विचारणे'इति वचनादिति न पुनरुक्तत्वमिति। 'सद्धितंतविसारए'ति कापिलीयशास्त्रपण्डितः, तथा 'संखाणे'ति गणितस्कन्धे सुपरिनिष्ठित इति योगः।

षडंगवेदकत्वमेव व्यनक्ति—'सिक्खाकण्णे'ति शिक्षा—अक्षरस्वरूपनिरूपकं शास्त्रं कल्पश्च—तथाविधसमाचारनिरूपकं शास्त्रमेव ततः समाहारद्वन्द्वात् शिक्षाकल्पे। 'वागरणे'ति शब्दशास्त्रे 'छंदे'ति पद्यलक्षणशास्त्रे 'निरुत्ते'ति शब्दव्युत्पत्तिकारकशास्त्रे। 'जोतिसामयणे'ति ज्योतिःशास्त्रे 'बंधणएसु'—ति ब्राह्मणसंबन्धिषु 'परिवायएसु य'ति परिव्राजकसत्केषु 'नयेषु'नीतिषु दर्शनेष्वित्यर्थः।

२।२५. 'नियंठे'ति निर्ग्रन्थः श्रमण इत्यर्थः 'वेसालियसावए'ति विशाला—महावीरजननी तस्या अपत्यमिति वैशालिकः—भगवांस्तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिकश्रावकः, तद्वचनामृतपाननिरत इत्यर्थः।

२।२६. 'इणमकखेवं'ति एनम् 'आक्षेपं' प्रश्नं 'पुच्छे'ति पृष्ठवान्, 'मागह'ति मगधजनपदजातत्वान्मागधस्तस्यामन्त्रणं हे मागध ! 'वड्डइ'ति संसारवर्धनात् 'हायइ'ति संसारपरिहान्येति। 'एतावतावे'त्यादि, एतावत् प्रश्नजातं तावदाख्याहि 'उच्यमानः' पृच्छ्यमानः, 'एवम्' अनेन प्रकारेण, एतस्मिन्नाख्याते पुनरन्यत्रस्यामीति हृदयम्।

२।२७. 'संकिए' इत्यादि, किमिदमिहोत्तरमिदं वा ? इति संजातशंकः। इदमिहोत्तरं साधु इदं च न साधु अतः कथमत्रोत्तरं लभ्ये ? इत्युत्तरलाभाकांक्षावान्

काङ्क्षितः। अस्मिन्नुत्तरे दत्ते किमस्य प्रतीतिरुत्पत्स्यते न वा ? इत्येवं विचिकित्सितः। 'भेदसमावन्ने' मतेर्भगं—किंकर्तव्यताव्याकुलता-तक्षणमापन्नः। 'कलुषसमापन्नः' नाहमिह किञ्चिज्ज्ञानामीत्येवं स्वविषयं कालुष्यं समापन्न इति। 'नो संचाइए'ति न शक्नोति 'पमोक्खमक्खाइउं'ति प्रमुच्यते पर्यनुयोगबंधनादनेनेति प्रमोक्षम्—उत्तरं—'आख्यातुं' वक्तुम्।

२।३०. 'महया जणसंमदे इ वा जणवूहे इ वा' इत्यत्रेदमन्यद् दृश्यम्—'जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणक्कलिया इ वा जणसंनिवाए इ वा बहुजणो अण्णमण्णस एवमाइक्खइ ४—एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे ३ आइगरे जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे कयंगलाए नयरीए छत्तपलासए चेइए अहापडिरुवं उग्गहं उग्गिण्हिता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्सवि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमणवंदणनमंसणपडिपुच्छणपञ्जुवासणयाए एगस्सवि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस सवणयाए ? किमंग पुण विउलस्स अट्टस्स गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पञ्जुवासामो । एयं णो पेच्चभवे हियाए सुहाए खभाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविसइ इति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता एवं भोगा राइण्णा खत्तिया माहणा भडा जोहा मल्लई लेच्छई अण्णे य बहवे राईसर-तलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्टिसेणावइसत्यवाहपभियओ जाव उक्किट्टसीहनायबोलकलयलरवेणं समुद्धरवभूयं पिव करेमाणा सावत्थीए नयरीए मज्झमज्झेणं निगच्छंति ।'

अस्यायमर्थः—श्रावस्त्यां नगर्यां यत्र 'महय'ति महान् जनसंमर्दस्तत्र बहुजनोऽन्योऽन्यस्यैवमाख्यातीति वाक्यार्थः । तत्र जनसंमर्दः—उरोनिष्पेषः, 'इति' उपप्रदर्शने 'वा' समुच्चये, पाठान्तरे शब्द इति वा । जनव्यूहः—चक्राद्याकारो जनसमुदायः, बोलः—अव्यक्तवर्णो ध्वनिः, कलकलः—स एवोपलभ्यमानवचनविभागः, ऊर्मिः—संबाधः कल्लोलाकारो वा जनसमुदायः, उक्कलिका—समुदाय एव लघुतरः, जनसन्निपातः—अपरा-परस्थानेभ्यो जनानां मीलनं, 'यथाप्रतिरूप'मित्युचितं, 'तथारूपाणां' संगतरूपाणां 'नामगोयस्सवि'ति नाम्ना यादृच्छिकस्याभिधानस्य गोत्रस्य च—गुणनिष्पन्नस्य 'सवणयाए' श्रवणेन 'किमंग पुण'ति किंपुनरिति पूर्वोक्तार्थस्य विशेषद्योतनार्थः अंगेत्यामन्त्रणे अभिगमनम्—अभिमुखगमनं, वन्दनं—स्तुतिः, नमस्यनं—प्रणमनं, प्रतिप्रच्छनं—शरीरादिवाचार्त्ताप्रश्नः, पर्युपासनं—सेवा, तेषां—अभिगमनादीनां भावस्तत्ता तथा आर्यस्येत्यार्यप्रणेतृकत्वात् धार्मिकस्य धर्मप्रतिबद्धत्वात्। 'वंदामो'ति स्तुमः, 'नमस्यामः' इति प्रणमामः, 'सत्कारयामः' आदरं कुर्मो वस्त्रार्चनं वा 'सन्मानयाम' उचितप्रतिप्रतिभिः ।

किंभूतम् ? इत्याह—कल्याणं—कल्याणहेतुं, मंगलं—दुरितोपशमनहेतुं, दैवतं—देवं, चैत्यम्—इष्टदेवप्रतिमा चैत्यमिव चैत्यं, 'पर्युपासयामः' सेवामहे । एतत् 'नः' अस्माकं 'प्रेत्यभवे' जन्मान्तरे 'हिताय' पथ्यान्नवत्, 'सुखाय' शर्मणे 'क्षमाय' संगतत्वाय, 'निःश्रेयसाय' मोक्षाय, 'आनुगामिकत्वाय' परम्पराशुभानुबन्धसुखाय भविष्यति 'इतिकृत्वा' इतिहेतोर्बहवः 'उग्गाः' आदिदेवावस्थापिताऽऽरक्षकवंशजाताः, 'भोगाः' तेनैवावस्थापितगुरुवंशजाताः, 'राज्याः' भगवद्वयस्यवंशजाः 'क्षत्रियाः' राजकुलीनाः, 'भटाः' शौर्यवन्तः, 'योधाः' तेभ्यो विशिष्टतराः 'मल्लकिनो लेच्छकिनश्च' राजविशेषाः, 'राजानः' नृपाः, 'ईश्वराः' युवराजास्तदन्ये च महर्द्धिकाः, 'तलवराः' प्रतुष्टनरपतिवित्तीर्णपट्टबन्धविभूषिता राजस्थानीयाः, 'माडम्बिकाः', 'संनिवेशविशेषनायकाः', 'कौटुम्बिकाः' कतिपयकुटुम्बप्रभवो राजसेवकाः,

उत्कृष्टिश्च आनन्दमहाध्वनिः, सिंहनादश्च—प्रतीतः, बोलश्च—वर्णव्यक्तिवर्जितो महाध्वनिः, कलकलश्च—अव्यक्तवचनः, स एवैतल्लक्षणो यो रवस्तेन समुद्धरवभूतमिव—जलधिश्चिह्नप्राप्तमिव तन्मयभिवेत्यर्थः, नगरमिति मन्यत इति ।

एतस्यार्थस्य संक्षेपं कुर्वन्नाह—'परिसा निग्गच्छइ'ति ।

२।३१. 'तए णं'ति 'ततः' अनन्तरम् 'इमेयारूवे'ति 'अयं' वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षः स च कविनोच्यमानो न्यूनाधिकोऽपि भवतीत्यत आह—एतदेव रूपं यस्यासावेतद्रूपः 'अज्झत्थिए'ति आध्यात्मिक आत्मविषयः 'वित्थिए'ति स्मरणरूपः 'पत्थिए'ति प्रार्थितः—अभिलाषात्मकः 'मणोगए'ति मनस्येव यो गतो न बहिः वचनेनाप्रकाशनात् स तथा 'संकल्पः' विकल्पः 'समुण्णज्जित्थ'ति समुत्पन्नवान् 'सेयं'ति श्रेयः—कल्याणं 'पुच्छित्तए'ति योगः । 'इमाइं च णं'ति प्राकृतत्वाद् 'इमान्' अनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षासन्नान् चशब्दादन्यांश्च 'एयारूवाइं'ति एतद्रूपान् उक्तस्वरूपान्, अथवैतेषामेवानन्तरोक्तानामर्थानां रूपं येषां प्रष्टव्यतासाधर्म्यात्तत्तथा तान् 'अर्थान्' भावान् लोकसान्तत्वादीस्तदन्यांश्च 'हेऊइं'ति अन्वय-व्यतिरेकलक्षणहेतुगम्यत्वाद्धेतवो—लोकसान्तत्वादय एव तदन्ये वाऽतस्तान् 'पसिणाइं'ति प्रश्नविषयत्वात् प्रश्ना एत एव तदन्ये वाऽतस्तान् 'कारणाइं'ति कारणम्—उपपत्तिमात्रं तद्विषयत्वात्कारणानि एत एव तदन्ये वाऽतस्तानि 'वागरणाइं'ति व्याक्रियमाणत्वाद्वाकारणानि एत एव तदन्ये वाऽतस्तानि 'पुच्छित्तए'ति प्रष्टुं 'तिकट्टु' इतिकृत्वाऽनेन कारणेन एवं 'संपेहेइ'ति 'एवम्' उक्तप्रकारं भगवद्वन्दनादिकरणमित्यर्थः 'संप्रेक्षते' पर्यालोचयति ।

'परिव्यायगावसहे'ति परिव्राजकमठः 'कुण्डिका' कमण्डलु 'काञ्चनिका' रुद्राक्षकृता 'करोटिका' मृद्भाजनविशेषः 'भृशिका' आसनविशेषः 'केशरिका' प्रमार्जनार्थं चीवरखण्डं 'षड्नालकं' त्रिकाष्टिका 'अंकुशकं' तरुपल्लवग्रहणार्थमंकुशाकृतिः 'पवित्रकम्' अंगुलीयकं 'गणेत्रिका' कलात्रिकाऽऽभरणविशेषः 'धाउरत्ताओ'ति साटिका इति विशेषः, 'तिदंडे'त्यादि त्रिदण्डकादीनि दश हस्ते गतानि—स्थितानि यस्य स तथा, 'पहारेत्थ'ति 'प्रधारितवान्' संकल्पितवान् 'गमनाय' गंतुं ।

२।३२. 'गोयमाइ'ति गोयम इति एवमामन्थ्येति शेषः, अथवाऽयीत्यामन्त्रार्थमेव । 'से काहे व'ति अथ कदा वा ? कस्यां वेलायामित्यर्थः 'किह व'ति केन वा प्रकारेण ? साक्षादर्शनतः श्रवणतो 'केवच्चिरेण' व'ति कियतो वा कालात् ?

२।३३. 'सावस्त्री नाम नयरी होत्य'ति विभक्तिपरिणामादस्तीत्यर्थः अथवा कालस्यावसर्पिणीत्वात्सिद्धगुणा कालान्तर एवाभवन्नेदानीमिति । 'अदूरागते'-
ति अदूरे आगतः । स चावधिस्थानापेक्षयाऽपि स्यात् अथवा दूरतरमार्गपेक्षया (ग्रंथाग्र ३०००) क्रोशादिकमप्यदूरं स्यादत उच्यते—'बहुसंपत्ते'
ईषदूनसंप्राप्तो बहुसंप्राप्तः, स च विश्रामादिहेतोरारामादिगतोऽपि स्यादत उच्यते—'अद्धाणपडिवन्ने'ति मार्गप्रतिपन्नः किमुक्तं भवति ? 'अंतरापदे
वट्टइ'ति विवक्षितस्थानयोरन्तरालमार्गं वर्तत इति ।

अनेन च सूत्रेण कथं द्रक्ष्यामि ? इत्यरयोत्तरमुक्तं कथम् ? यतोऽदूरागतादिविशेषणस्य साक्षादेव दर्शनं संभवति, तथा 'अज्ञेव णं दच्छसि'
इत्यनेन कियच्चिरादित्यस्योत्तरमुक्तं, 'काहे' इत्यस्य चोत्तरं सामर्थ्यागम्यं, यतो यदि भगवता मध्याह्नसमये इयं वार्ताऽभिहिता तदा मध्याह्नस्योपरि
मुहूर्त्ताद्यतिक्रमणे या वेला भवति तस्यां द्रक्ष्यसीति सामर्थ्यादुक्तम् । अदूरागतादिविशेषणस्य हि तद्देशप्राप्तौ मुहूर्त्तादिरेव कालः संभवति न बहुतर
इति ।

२।३४. 'अगाराओ'ति निष्कम्बेतिशेषः 'अनगारिता' साधुतां 'प्रव्रजितुं' गन्तुम्, अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया 'प्रव्रजितुं' प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुम् ।

२।३६. 'अब्भुट्टे'ति आसनं त्यजति । यच्च भगवतो गौतमस्यासंयतं प्रत्युभ्युत्थानं तद्भाविसंयतत्वेन यस्य पक्षपातविषयत्वाद् गौतमस्य चाक्षोणरागत्वात्,
तथा भगवदाविष्कृततदीयविकल्पस्य तत्समीपगमनतस्तत्कथनाद् भगवज्ज्ञानातिशयप्रकाशनेन भगवत्पतीव बहुमानोत्सादनस्य विकीर्षितत्वादिति ।
'हे खंदय'ति सम्बोधनमात्रं 'सागयं खंदय'ति 'स्वागतं' शोभनमागमनं तव स्कन्दक ! महाकल्याणनिधेर्भगवतो महावीरस्य संपर्केण तव,
कल्याणनिबन्धनत्वात्तस्य । 'सुसागर्य'ति अतिशयेन स्वागतम् । कथंचिदेकार्थौ वा शब्दावेतौ, एकार्थशब्दोच्चारणं च क्रियमाणं न दुष्टं,
संभ्रमनिमित्तत्वात्स्वेति । 'अणुरागयं खंदय'ति रेफस्यागमिकत्वात् 'अन्वागतं' अनुरूपमागमनं स्कन्दक ! तवेति दृश्यम् । 'सागयमणुरागयं'ति
शोभनत्वानुरूपत्वलक्षणधर्मद्वयोपेतं तवागमनमित्यर्थः । 'जेणेव इहं'ति यस्यामेव दिशीदं भगवत्समवसरणं 'तेणेव'ति तस्यामेव दिशि 'अत्थे
समत्थे'ति अस्त्येषोऽर्थः ? 'अट्ठे समट्ठे'ति पाठान्तरं, काक्का चेदमध्येयं, ततश्चार्थः किं 'रागर्थः' संगतः ? इति प्रश्नः स्याद्, उत्तरं तु 'हंता
अत्थि' सदभूतोऽयमर्थः इत्यर्थः ।

२।३७. 'णाणी'त्वादि अस्यायमभिप्रायः—ज्ञानी ज्ञानसामर्थ्याज्ज्ञानाति तपस्वी च तपःसामर्थ्यादिवतासात्रिध्याज्ज्ञानातीति प्रश्नः कृतः 'रहरसकडे'ति रहः
कृतः—प्रच्छन्नकृतौ, हृदय एवावधारितत्वात् ।

२।३८. 'धम्मोवए'ति कुत एतत् ? इत्याह—'धम्मोवए'ति उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो न तु सदा संशुद्धः अर्हत्त्वन्दनाद्यर्हत्वात्, जिनो रागादिजेतृत्वात्,
केवली असहायज्ञानत्वात्, अत एवातीतप्रत्युत्पन्नानागतविज्ञायकः, स च देशज्ञोऽपि स्यादित्याह—सर्वज्ञः सर्वदर्शी ।

२।३९. 'वियट्ठोइ'ति व्यावृत्ते २ सूर्ये भुंक्ते इत्येवंशीलो व्यावृत्तभोजी प्रतिदिनभोजीत्यर्थः ।

२।४२. 'ओरालं'ति प्रधानं 'सिंजारं'ति शृंगारः—अलंकारादिकृता शोभा तद्योगात् शृंगारं, शृंगारमिव शृंगारमतिशयशोभावदित्यर्थः । 'कल्याणं' श्रेयः
'शिवम्' अनुपद्रवमनुपद्रवहेतुर्वा, 'धन्वं' धर्मधनलब्धुं तत्र वा साधु तद्वाऽर्हति, 'मंगल्यं' मंगले—द्वितीयप्रापके साधु मंगल्यम्, 'अलंकृतं'
मुकुटादिभिर्विभूषितं—वस्त्रादिभिस्तन्निषेधादनलंकृतविभूषितं, 'लक्ष्णवज्जणगुणोववेयं'ति लक्षणं—मानोन्मानादि, तत्र मानं—जलद्रोणमानता,
जलभूतकुण्डिकायां हि मातव्यः पुरुषः प्रवेश्यते तत्रवेशे च यज्जलं ततो निस्सरति तद्यदि द्रोणमानं भवति तदाऽसौ मानोपेत उच्यते । उन्मानं
त्वर्द्धभारमानतां मातव्यपुरुषो हि तुलारोपितो यद्यर्द्धभारमानो भवति तदोन्मानोपेतोऽसावुच्यते । प्रमाणं पुनः स्वांगुलेनाद्योत्तरभ्रतांगुलोच्छ्रयत्ता
यदाह—

“जलद्रोणमद्धमारं समुहाइ समूत्तिओ उ जो नव उ ।

माणुम्माणपमाणं तिविहं खतु लक्खणं एयं ॥”

व्यंजनं—मषतिलकादिकमथवा सहजं लक्षणं पश्चाद्भव्यं व्यंजनमिति ! गुणाः—सौभाग्यादयो लक्षणव्यंजनानां वा ये गुणारत्तरूपपेतं यत्तत्तथा,
उपअपइतम् इत्येतस्य स्थाने निरुक्तिवशाद् उपपेतं भवतीति, 'सिरीए' ति लक्ष्म्या शोभया वा ।

२।४३. 'हट्ठतुच्चित्तमाणंदिए'ति हृष्टनुष्टमत्यर्थं तुष्टं हृष्टं वा—विस्मितं तुष्टं च—तोषवच्चित्तं—मनो यत्र तत्राथा, तद् हृष्टतुष्टचित्तं यथा भवति एवम्
'आनन्दितः' ईषन्मुखसौम्यतदिभावेः समृद्धिमुपगतः, ततश्च 'नंदिए'ति नन्दितरतैरेव समृद्धतरतामुपगतः 'पीडमणे'ति प्रीतिः—प्रीणनमाथायनं
मनसि यस्य स तथा 'परमसोमणस्सिए'ति परमं सौमनस्यं—सुमनस्कता संजातं यस्य स परमसौमनस्यितास्तद्वाऽस्यास्तोति परमरसौमनस्यिकः
'हरिसवसविसप्पमाणंहियए'ति हर्षवशेन विसर्षद्—विस्तारं क्रजद् हृदयं यस्य स तथा, एकार्थिकानि—वैतानि प्रमोदप्रकर्षप्रतिपादनाधीनीति ।

२।४५. 'दवओ णं एगे लोए सअंते'ति पञ्चास्तिकायमयैकद्रव्यत्वाल्लोकस्य सान्तोऽसौ, 'आयामविकखंभेणं'ति आयामो—दैर्घ्यं विष्कम्भो—विस्तारः
'परिक्खेवेणं'ति परिधिना 'भविसु य'ति अभवत् इत्यादिभिश्च पदैः पूर्वोक्तपदानामेव तात्पर्यमुक्तम् । 'धुवे'ति ध्रुवोऽवलत्वात् स चानियतरूपोऽपि
स्यादत आह—'णियए'ति नियत एकरवरूपत्वात्, नियतरूपः कादाचित्कोऽपि स्यादत आह—'सासए'ति शाश्वतः प्रतिक्षणं सद्भावात्, स च
नियतकालापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—'अक्खए'ति अक्षयोऽविनाशित्वात्, अयं च बहुतरप्रदेशापेक्षयाऽपि स्यादित्यत आह—'अव्वए'ति
अव्ययस्तत्प्रदेशानामव्ययत्वात्, अयं च द्रव्यतयाऽपि स्यादित्याह—'अवट्ठिए'ति अवस्थितः पर्यायाणामनन्ततयाऽवस्थितत्वात् किमुक्तं भवति ?
नित्य इति ।

‘वण्णपज्जव’ति वर्णविशेषा एकगुणकालत्वादयः, एवमन्येऽपि गुरुलघुपर्यवास्तद्विशेषा बादरस्कन्धानाम्, अगुरुलघुपर्यवा अपूनां सूस्म-स्कन्धानाममूर्त्तानां च ।

२।४६. ‘भाणपज्जव’ति वर्णविशेषा ज्ञानपर्यवा ज्ञानविशेषा बुद्धिकृता वाऽविभागपरिच्छेदाः, अनन्ता गुरुलघुपर्यवा औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य, इतरे तु कर्मणादिद्रव्याणि जीवस्वरूपं चाश्रित्येति ।

२।४७. ‘जेवि य ते खंदया पुच्छ’ति अनेन समग्रं सिद्धप्रश्नसूत्रमुपलक्षणत्वाद्योत्तरसूत्रांशश्च सूचितः, तच्च द्वयमप्येवम्—‘जेवि य खंदया इमेयारूवे जाव किं सअंता सिद्धी ? अणंता सिद्धी ? तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु मए खंदया ! चउच्चिहा सिद्धी पण्णत्ता, तंजहा—दव्वओ, खेतओ, कालओ, भावओ ति, दव्वओ णं एगा सिद्धि’ति, इह सिद्धिर्यद्यपि परगार्यतः सकलकर्मक्षयरूपा सिद्धाधाराऽऽकाशदेशरूपा वा तथाऽपि सिद्धाधाराकाशदेशप्रत्यासन्नत्वेनेषत्प्राग्भारापृथिवी सिद्धिरुक्ता, ‘किंचिविसेसाहिए परिकखेवेणं’ति किंचिच्चिन्नगव्यूतद्वयाधिके द्वे योजनशते एकोनपञ्चाशदुत्तरे भवति इति ।

२।४८. ‘वलमरणे’ति वलतो—बुभुक्षापरिगतत्वेन वलवलायमानस्य—संयमाद् वा भ्रस्यतो मरणं तद् वलमरणम् । तथा वशेन—इन्द्रियवशेन ऋतस्य—पीडितस्य दीपकलिकारूपाक्षितचक्षुषः शलमस्येव यन्मरणं तद्वशात्तमरणम् । तथाऽन्तःशल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धृततोमरादेः भावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम् । तथा तस्मै भवाय मनुष्यादेः सतो मनुष्यादावेव बद्धावुषो यन्मरणं तत्तद्भवमरणम्, इदं च नरतिरश्चामेवेति । ‘सत्थोवाडणे’ति शस्त्रेण—क्षुरिकादिना अवपाटनं—विदारणं देहस्य यस्मिन् मरणे तच्छस्त्रावपाटनम् । ‘वेहाणसे’ति विहायसि—आकाशे भवं वृक्षशाखाद्युद्वद्धत्वेन यत्तन्निरुक्तिवशाद् वैहानसम् । ‘गद्धपट्टे’ति गृध्रेः—पक्षिविशेषैर्मृद्धैर्वा—मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य—विदारितस्य करिकरभरासभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद् गृध्रस्पृष्टं गृद्धस्पृष्टं वा, गृध्रैर्वा भक्षितस्य—स्पृष्टस्य यत्तद् गृध्रस्पृष्टम् ।

‘दुवालसविहेणं बालमरणेणं’ति उपलक्षणत्वादस्यान्येनापि बालमरणान्तःपातिनां मरणेन प्रियमाण इति ‘वड्ढइ वड्ढइ’ति संसारवर्द्धनेन भृशं वर्द्धते जीवः, इदं हि द्विर्वचनं भृशार्थं इति ।

‘पाओवगमणे’ति पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्, इदं च चतुर्विधाहारपरिहारनिष्पन्नमेव भवतीति । ‘नीहारिमे य’ति निहरिण निर्वृत्तं यत्तन्निहारिमं प्रतिश्रये यो प्रियते तस्यैतत्, तत्कडेवरस्य निहारणात् । अनिहारिमं तु योऽटव्यां प्रियते इति । यच्चान्यत्रेह स्थाने इंगितमरणमभिधीयते तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेष इति नेह भेदेन दर्शितमिति ।

२।५१. ‘धम्मकहा भाणियव्व’ति, सा चैवम्—

“जह जीवा बज्झंती मुच्चंती जह य संकिलिस्संति ।

जह दुक्खाणं अंतं करेति केई अपडिबद्धा ॥

अट्टनियट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेति ।

जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडोति ॥” इत्यादि ।

इह च ‘अट्टनियट्टियचित्ता’ आर्त्तं निर्वर्तितं चित्ते यैस्ते तथा, आर्त्ताद् वाऽनिर्वर्तितं चित्तं यैस्ते आर्त्तानिर्वर्तितचित्ताः ।

२।५२. ‘सद्दहामि’ति निर्ग्रन्थं प्रवचनमस्तीति प्रतिपद्ये । ‘पत्तियामि’ति प्रीतिं प्रत्ययं वा सत्यमिदमित्येवंरूपं तत्र करोमीत्यर्थः । ‘रोएमि’ति चिकीर्षा-मीत्यर्थः । ‘अब्भुट्टेमि’ति एतदंगीकरोमीत्यर्थः ।

अथ श्रद्धानाद्युल्लेखं दर्शयति—एवमेतन्नैर्ग्रन्थं प्रवचनं सामान्यतः, अथ यथैतद्वयं यदर्थेति योगः । ‘तहमेयं’ति तथैव तद्विशेषतः ‘अवितहमेयं’ सत्यमेतदित्यर्थः ‘असदिद्धमेयं’ति सन्देहवर्जितमेतत् ‘इच्छियमेयं’ति इष्टमेतत् ‘पडिच्छियमेयं’ति प्रतीपितं प्राप्तुमिष्टम् ‘इच्छियपडिच्छियं’ति युगपदिच्छाप्राप्ताविषयत्वात् ‘तिकडु’ति इतिकृत्विति, अथवा ‘एवमेयं भंते !’ इत्यादीनि पदानि यथायोगमेकार्यान्यत्यादरप्रदर्शनायोक्तानि ।

‘आलित्ते णं’ति अभिविधिना ज्वलितः ‘लोए’ति जीवलोकः ‘पलित्ते णं’ति प्रकर्षेण ज्वलितः एवविधश्चासौ कालभेदेनापि स्यादत उच्यते—आदीप्तप्रदीप इति, ‘जराए मरणेण य’ति इह वह्निनेति वाक्यशेषो दृश्यः ।

‘झियायभाणसि’ति ध्यायमाने ध्यायति वा, दह्यमान इत्यर्थः, ‘अप्पसारे’ति अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् ‘आयाए’ति आत्मना एकात्मन्—विजनं अन्तं—भूभागं ‘पच्छ पुरा य’ति विवक्षितकालस्य पश्चात् पूर्वं च सर्वदैवेत्यर्थः ।

‘थेजे’ति स्वैर्यधर्मयोगात् स्वैर्यो वैश्वासिको विश्वासप्रयोजनत्वात् संमतस्तत्कृतकार्याणां संमतत्वात् ‘बहुमतः’ बहुशो बहुभ्यो वाऽन्येभ्यः सकाशाद् बहुरिति वा मतो बहुमतः ‘अनुमतः’ अनु—विप्रियकरणस्य पश्चादपि मतोऽनुमतः ‘भंडकरंडगसमाणे’ति भाण्डकरण्डकम्—आभरणभाजनं तत्समान आदेयत्वादिति ।

‘मा णं सीत’मित्यादौ मा शब्दो निषेधार्थः णमिति वाक्यालंकारार्थः, इह स्पृशत्विति यथायांगं योजनीयम्, अथवा मा एनमात्मानमिति व्याख्येयम् । ‘वाल’ति व्यालाः—श्वापदभुजगाः ‘मा णं वाइयपित्तियसंभियसन्निवाइय’ति इह प्रथमाबहुवचनलोपो दृश्यः । ‘रोगायंक’ति रोगाः—कालसहा

१. बंधनेन क.

३. अलंकारार्थः ख.ग.घ.च.थ.

२. निरुक्त क.ख.च.छ.

व्याधयः आतंकास्त एव सद्योघातिनः 'परीसहोवसम्'ति अस्य मा णमित्यनेन सम्बन्धः स्पृशन्तु छुपन्तु भवन्त्वित्यर्थः । 'त्तिकट्टु'इत्यभिसंधाय यः पालित इति शेषः, स किम् ? इत्याह—'एस मे'इत्यादि ।

'तं इच्छामि'ति तत्तस्मादिच्छामि 'सयमेव'ति स्वयमेव भगवतैवेत्यर्थः प्रत्राजितं रजोहरणादिवेषदानेनात्मानमिति गम्यते । भावे वा क्तप्रत्ययस्तेन प्रव्राजानमित्यर्थः, मुण्डितं शिरोलुचनेन 'सेहावियं'ति सेहितं प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापग्राहणतः शिक्षितं सूत्रार्थग्राहणतः । तथाऽऽचारः—श्रुत-ज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादि, गोचरो—भिक्षाटनम् एतयोः समाहारद्वन्द्वस्ततस्तदाख्यातमिच्छामीति योगः । तथा विनयः—प्रतीतो, वैनयिकं—तत्फलं कर्मक्षयादि, चरणं—व्रतादि, करणं—षिण्डविशुद्ध्यादि, यात्रा—संयमयात्रा, मात्रा—तदर्थमेवाहारमात्रा, ततो विनयादीनां द्वन्द्वः, ततश्च विनयादीनां वृत्तिः—वर्तनं यत्रासौ विनयवैनयिकचरणकरणयात्रामात्रावृत्तिकोऽतस्तं धर्मम् 'आख्यातम्' अभिहितमिच्छामीति योगः ।

'एवं देवाणुषिया ! गंतव्यं'ति युगमात्रभून्यस्तदृष्टित्यर्थः 'एवं चिद्वियव्यं'ति निष्क्रमणप्रवेशादिवर्जिते स्थाने संयमात्मप्रवचनबाधापरिहारेणोर्ध्व-स्थानेन स्थातव्यम्, 'एवं निसीइयव्यं'ति, 'निषत्तव्यं' उपवेष्टव्यं संदंशकभूमिप्रभार्जनादिन्यायेनेत्यर्थः 'एवं तुयद्वियव्यं'ति शयितव्यं सामा-धिकोच्चारणादिपूर्वकं 'एवं भुजियव्यं'ति धूर्मांगारादिदोषवर्जनतः 'एवं भासियव्यं'ति मधुरादिविशेषणोपपन्नतयेति 'एवमुत्थावोत्थाय' प्रमाद-निद्राव्यपोहेन विबुद्ध्य विबुद्ध्य प्राणादिषु विषये यः संयमो—रक्षा तेन संयतव्यं—यतितव्यम् ।

२।५४. 'तमाणाए'ति 'तद्' अनन्तरं 'आज्ञया' आदेशेन ।

२।५५. 'ईरियासमि'ति ईर्यायां—गमने समितः सम्यक्प्रवृत्तत्वरूपं हि समितत्वम्, 'आयाणभंडमत्तनिकखेवणासमि'ति आदानेन—ग्रहणेन सह भाण्डमात्रायां—उपकरणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा न्यासस्तस्या समितो यः स तथा 'उच्चारे'त्यादि, इह च 'खेल'ति कण्ठमुखश्लेष्मा सिंधानकं च—नासिकाश्लेष्मा, 'मणसमि'ति संगतमनःप्रवृत्तिकः, 'मणगुते'ति मनोनिरोधवान्, 'गुते'ति मनोगुप्तत्वादीनां निगमनं, एतदेव विशेषणयाह—'गुत्तिदि'ति 'गुत्तबंधयारी'ति गुप्तं—ब्रह्मगुप्तियुक्तं ब्रह्म चरति यः स तथा 'चाइ'ति संगत्यागवान्, 'लज्जु'ति संयमवान् रज्जुरिव वा रज्जुः—अवक्रव्यवहारः, 'धन्ने'ति धन्यो—धर्मधनं लब्धेत्यर्थः, 'खंतिखमे'ति शान्त्या क्षमते न त्वसमर्थतया योऽसौ क्षान्तिक्षमः, 'जितेन्द्रिय' इन्द्रियविकाराभावात्, यद्य प्रायगुत्तेन्द्रिय इत्युक्तं तदिन्द्रियविकारगोपनमात्रेणापि स्वादिति विशेषः, 'सोहिए'ति शोभितः शोभावान् शोधितो वा निराकृतातिचारत्वात्, सौहर्दं—मैत्री सर्वप्राणिषु तद्योगात्सौहर्दो वा, 'अणियाणे'ति प्रार्थनारहितः, 'अप्सुसुए'ति 'अल्पौत्सुक्यः'त्वरारहितः, 'अवहिल्लेस्से'ति अविद्यमाना बहिः—संयमाद्बहिस्ताल्लेश्या—मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिल्लेश्यः, 'सुसामण्णए'ति शोभने श्रमणत्वे रतोऽतिशयेन वा श्रामण्ये रतः, 'दंते'ति दान्तः क्रोधादिदमनात् द्यन्तो वा रागद्वेषयोरन्तार्थं प्रवृत्तत्वात्, 'इणमेव'ति इदमेव प्रत्यक्षं 'पुरओ काउं'ति अग्रे विधाय मार्गानभिज्ञो मार्गज्ञनरमिव पुरस्कृत्य वा प्रधानीकृत्य 'विहरति' आस्ते इति ।

२।५७. 'एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ'ति इह कश्चिदाह—नन्दनेन स्कन्दकचरिताउग्रागेवैकादशांगनिष्पत्तिरवसीयते, पंचमांगान्तर्भूतं च स्कन्दकचरितमिदमुप-लभ्यते इति कथं न विरोधः ? उच्यते, श्रीमन्महावीरतीर्थे किल नव वाचनाः, तत्र च सर्ववाचनासु स्कन्दकचरितापूर्वकाले ये स्कन्दकचरिताभिधेया अर्थास्ते चरितान्तरद्वारेण प्रज्ञाप्यन्ते । स्कन्दकचरितोत्पत्तौ च सुधर्मस्वाभिना जम्बूनामानं स्वशिष्यमंगीकृत्याधिकृतवाचनायामस्यां स्कन्दक-चरितमेवाश्रित्य तदर्थप्ररूपणा कृतेति न विरोधः । अथवा सातिशायित्वाद् गणधराणामनागतकालभा.वचरितनिबन्धनमदुष्टमिति, भाविशिष्य-सन्तानापेक्षयाऽतीतकालनिर्देशोऽपि न दुष्ट इति ।

'मासियं'ति मासपरिमाणं 'भिक्खूपडिमं'ति भिक्षुवित्तमभिग्रहविशेषम्, एतत्स्वरूपं च—

“गच्छा विणिक्खमिन्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं ।

दत्तेगमोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं ॥” इत्यादि ।

नन्वयमेकादशांगधारी पठितः, प्रतिमाश्च विशिष्टश्रुतवानेव करोति, यदाह—

“गच्छे च्चिय णिम्माओ जा पुवा दस भवे असंपुण्णा ।

नवमस्त तइयवत्थू होइं जहण्णो सुयाहिगमो ॥”

इति कथं न विरोधः ? उच्यते, पुरुषान्तरविषयोऽयं श्रुतनियमः तस्य तु सर्वविदुपदेशेन प्रवृत्तत्वात् दोष इति ।

२।५६. 'अहासुत्तं'ति सामान्यसूत्रानतिक्रमेण वा 'अहाकथं'ति प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमेण वा 'अहामग्गं'ति ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण वा 'अहातच्चं'ति यथातत्त्वं तत्त्वानतिक्रमेण मासिकी भिक्षुप्रतिमिति शब्दार्थानतिलंघनेनेत्यर्थः । 'अहासग्गं'ति यथा-साम्यं समभावानतिक्रमेण 'क्राएणं'ति न मनोरथमात्रेण 'फासेइ'ति उचितकाले विधिना ग्रहणात् 'पालेइ'ति असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात् 'सोहेइ'ति शोभयति पारणकदिने गुर्वादिदत्तशेषभोजनकरणात्, शोभयति वाऽतिचारपङ्कक्षालनात् 'तीरेइ'ति पूर्णेऽपि तदवधौ स्तोकाकालाव-स्थानात् 'पूरेइ'ति पूर्णेऽपि तदवधौ तत्कल्पपरिमाणपूरणात्, 'किट्टेइ'ति कीर्तयति पारणकदिने इदं चेदं चैतस्याः कृत्यं तद्य मया कृतमित्येवं कीर्तनात् 'अणुपालेइ'ति तत्समाप्तौ तदनुमोदनात्, किमुक्तं भवति ? इत्याह—आज्ञयाऽऽराधयतीति ।

२।६०. एवमेताः सप्त सप्तमासान्ताः ततोऽष्टमी प्रथमसप्तरात्रिन्दिवा—सप्ताहोरात्रमनाः एवं नवमी दशमी चेति, एतास्तिस्त्रोऽपि चतुर्थभक्तेनापानकेनेति उत्तानकादिस्थानकृतस्तु विशेषः, 'राइदिय'ति रात्रिन्दिवा, एकादशी अहोरात्रपरिमाणा, इयं च षष्ठभक्तेन । 'एगराइय'ति एकरात्रिकी, इयं चाष्टमेन भवतीति ।

२।६१. 'गुणरयणसंवच्छरं'ति गुणानां—निर्जराविशेषाणां रचनं कारणं संवत्सरेण—सत्रिभागवर्षेण यस्मिंस्तपसि तद् गुणरचनसंवत्सरं, गुणा एव वा रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्नः संवत्सरो यत्र तद्गुणरत्नसंवत्सरं—तपः, इह च त्रयोदशमासाः सप्तदशदिनाधिकास्तपःकालः, त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणककाल इति, एवं चायम्—

“पण्णरसवीसचउब्बीस चैव चउवीस पण्णवीसा य ।
चउवीस एकवीसा चउवीसा सत्तवीसा य ॥
तीसा तेत्तीसावि य चउब्बीस छवीस अट्टवीसा य ।
तीसा बत्तीसावि य सोलसमासेसु तवदिवसा ॥
पण्णरस दसइच्छण्वंचउरपंचसु य तिण्णि तिण्णित्ति ।
पंचसु दो दो य तथा सोलसमासेसु पारणगा ॥”

इह च यत्र मासेऽष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्वन्ते तावन्त्यग्रेतनमासादाकृष्य पूरणीयानि, अधिकानि चाग्रेतनमासे क्षेप्तव्यानि ।

२।६२. 'चउत्थं चउत्थेणं'ति चतुर्थं भक्तं यावद्भक्तं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थम् इयं चोपवासस्य संज्ञा, एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति । 'अणिक्रिखतेणं' ति अविश्रान्तेन 'दिय'ति दिवा दिवस इत्यर्थः, 'ठाणुकुडुए'ति, स्थानम्—आसनमुत्कुकुटुकम्—आधारे पुतालगनरूपं यस्यासौ स्थानोत्कुकुटुकः 'वीरासणेणं' ति सिंहासनोपविष्टस्य भून्यस्तपादस्यापनीतसिंहासनस्येव यदवस्थानं तद् वीरासनं तेन 'अवाउडेण य'ति प्रावरणाभावेन च ।

२।६४. 'ओरालेण'मित्यादि 'ओरालेन' आशंसारहेततया प्रधानेन, प्रधानं चाल्यमपि स्यादित्याह—'विपुलेन' विस्तीर्णेन बहुदिनत्वात्, विपुलं च गुरुभिरननुज्ञातमपि स्यात् प्रयलकृतं वा स्यादत आह—'पयत्तेणं'ति प्रदत्तेनानुज्ञातेन गुरुभिः प्रयत्नेन वा प्रयलवता—प्रमादरहितेनेत्यर्थः, एवंविधमपि सामान्यतः प्रतिपत्रं स्यादित्याह—'प्रगृहीतेन' बहुमानप्रकर्षादाश्रितेन, तथा 'कल्याणेन' नीरोगताकारणेन 'शिवेन' शिवहेतुना 'धन्येन' धर्मधनसाधुना 'मांगल्येन' दुरितोपशमसाधुना 'सश्रीकेण' सम्यक्पालनात् सशोभेन 'उदग्रेण' उन्नतपर्यवसानेन उत्तरोत्तरं वृद्धिमतेत्यर्थः 'उदात्तेन' उन्नतभाववता 'उत्तमेणं'ति ऊर्ध्वं तमसः—अज्ञानाद्यत्ततथा तेन ज्ञानयुक्तेनेत्यर्थः उत्तमपुरुषासेवितत्वाद् वोत्तमेन 'उदारेण' औदार्यवता निःस्पृहत्वातिरेकात् 'महानुभागेन' महाप्रभावेण 'सुकके'ति शुष्को नीरसशरीरत्वात् 'लुक्खे'ति बुभुक्षावशेन रूक्षीभूतत्वात्, अस्थोनि चर्मादनद्धानि यस्य सोऽस्थिचर्मावन्नद्धः किटिकिटिकाभिर्मांसास्थिसम्बन्ध्युपवेशनादिक्रियासमुत्थः शब्दविशेषस्तां भूतः—प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः 'कृशः' दुर्बलः 'धमनीसंततो' नाडीव्याप्तो मांसक्षयेण दृश्यमाननाडीकत्वात् ।

'जीवंजीवेणं'ति अनुस्वारस्यागमिकत्वात् 'जीवजीवेन' जीवबलेन गच्छति न शरीरबलेनेत्यर्थः । 'भासं भासिते'त्यादौ कालत्रयनिर्देशः 'गिलाइ'ति ग्लायति ग्लानो भवति ।

'से जहानामए'ति 'से'ति यथार्थः यथेति दृष्टान्तार्थः नामेति संभावनायाम् 'इति' वाक्यालंकारे 'कडुसगडिय'ति काष्ठभृता शकटिका काष्ठशकटिका 'पत्तसगडिय'ति पलाशादिपत्रभृता गन्त्री 'पत्ततिलभंडमसगडिय'ति पत्रयुक्ततिलानां भाण्डकानां च—मृन्मयभाजनानां भृता गन्त्रीत्यर्थः 'तिलसंठगसगडिय'ति क्वचित्पाठः प्रतीतिार्थः । 'एरण्डकडुसगडिय'ति एरण्डकाष्ठमयी एरण्डकाष्ठभृता वा शकटिका, एरण्डकाष्ठग्रहणं च तेषामसारत्वेन तच्छकटिकायाः शुष्कायाः सत्या अतिशयेन गमनादौ सशब्दत्वं स्यादिति 'अंगारशकटिका' अंगारभृता गन्त्री 'उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी'ति विशेषणद्वयं काष्ठादीनामाद्राणामेव संभवतीति यथासंभवमायोज्यमिति । हुताशन इव भस्मराशिप्रतिच्छन्नः 'तवेणं तेएणं'ति तपोलक्षणो न तेजसा, अयमभिप्रायः—यथा भस्मच्छन्नोऽग्निर्बहिर्वृत्त्या तेजो रहितोऽन्तर्वृत्त्या तु ज्वलति । एवं स्कन्दकोऽपि अपचितमांसशोणितत्वाद् बहिर्निस्तेजा अन्तस्तु शुभध्यानतपसा ज्वलतीति ।

उक्तमेवार्थमाह—

२।६६. 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि'ति पूर्वरात्रश्च—रात्रेः पूर्वो भागः अपरात्रश्च—अपकृष्टा रात्रिः पश्चिमतद्भाग इत्यर्थः, तल्लक्षणो यः कालसमयः कालात्मकः समयः स तथा तत्र, अथवा पूर्वरात्रापररात्रकालसमय इत्यत्र रेफलोपात् पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि'ति स्याद्, धर्मजागरिकां जाग्रतः—कुर्वत इत्यर्थः, 'तं अत्थि ता मे' ति देवमप्यस्ति तावन्मम उत्थानादि न सर्वथा क्षीणमिति भावः ।

'तं जाव ता मे अत्थि' ति तत्—तस्माद्यावता इति भाषामात्रे 'मे' ममास्ति 'जाव य'ति यावच्च 'सुहत्थि'ति शुभार्थी भव्यान् प्रति सुहस्ती वा पुरुषवरगन्धहस्ती, एतच्च भगवत्साक्षिकोऽनशनविधिर्महाफलो भवतीत्यभिप्रायेण भगवन्निर्वाणे शोकदुःखभाजनं मा भूवमहम् इत्यभिप्रायेण वा चिन्तितमनेनेति ।

'कल्लमि'त्यादि, 'कल्लं'ति श्वः प्रादुः—प्राकाश्ये ततः प्रकाशप्रभातायां रजन्यां 'फुल्लोत्पलकमलकमलोन्मीलिते' फुल्लं—विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं तच्च कमलश्च—हरिणविशेषः फुल्लोत्पलकमलौ तयोः क्रोमलम्—अकठोरमुन्मीलितं—दलानां नयनयोश्चोन्मीलनं यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन् 'अथे'ति रजनीविभातानन्तरं पाण्डुरे प्रभाते रक्तशोकप्रकाशेन किंशुकस्य शुकमुखस्य गुंजाहस्य च रागेण सद्दृशो यः स तथा तस्मिन्, तथा कमलाकरा—हृदादयस्तेषु षण्डानि—नलिनीषण्डानि तेषां बोधको यः स कमलाकरषण्डबोधकस्तस्मिन् 'उत्थिते' अभ्युद्गते, कस्मिन् ? इत्याह—सूरे, पुनः किम्भूते? इत्याह—सहस्तरास्सिमीत्यादि ।

'कडाईहिं'ति इह पदैकदेशात्समुदायो दृश्यस्ततः कृतयोग्यादिभिरिति स्यात्, तत्र कृता योगाः—प्रत्युपेक्षणादिव्यापारा देषां सन्ति ते कृत-

योगिनः । आदिशब्दात् प्रियधर्माणो दृढधर्माण इत्यादि गृह्यत इति, 'विउलं'ति विपुलं विपुलाभिधानं 'मेघघणसनिगासं'ति घनमेघसदृशं—सान्द्रजलदसमानं कालकमित्यर्थः 'देवसनिवायं'ति देवानां सनिपातः—समागमो रमणीयत्वाद् यत्र स तथा तं 'पुढविशिलापट्टयं'ति पृथ्वीशिलारूपः पट्टकः—आसनविशेषः पृथिवीशिलापट्टकः काष्ठशिलाऽपि शिला स्यादतस्तदव्यवच्छेदाय पृथिवीग्रहणम् । 'संलेहणाजूसणाजूसियस्स'ति संलिख्यते—कृशीक्रियतेऽनयेति संलेखना—तपस्तस्या जोषणा—सेवा तथा जुष्टः—सेवितो जूषितो वा क्षपितो यः स तथा तस्य 'भत्तापाणपडियाइक्खियस्स'ति प्रत्याख्यातभक्त्यापानस्य 'कालं'ति मरणं 'तिकट्टु' इतिकृत्वा इदं विषयोक्त्य । 'एवं संपेहेइ'ति 'एवम् उक्तलक्षणमेव 'संप्रेक्षते' पर्यालोचयति संगतासंगतविभागतः ।

- २।६८. 'उच्चारणासवणभूमिं पडिलेहेइ'ति पादपोपगमनादारादुच्चारदेस्तस्य कर्त्तव्यत्वाद्दुच्चारविभूमिप्रत्युपेक्षणं न निरर्थकम् । 'संपलियकनिसण्णे'ति पद्मासनोपविष्टः 'सिरसावत्तं'ति शिरसाऽप्राप्तम्—अस्पृष्टम्, अथवा शिरसि आवर्त्तं आवृत्तिरावर्त्तनं—परिभ्रमणं यस्यासौ सप्तम्यलोपाच्छिरस्यावर्त्तस्तम् ।
- २।६९. 'सट्ठिं भत्ताइं'ति प्रतिदिनं भोजनद्वयस्य त्यागाक्षिशता दिनैः षष्टिभक्तानि त्यक्तानि भवन्ति 'अणसणाए'ति प्राकृतत्वादनशनेन 'छेइत्त'ति 'छित्त्वा'परित्यज्य 'आलोइयपडिकंते'ति आलोचितं गुरुणां निवेदितं यदतिचारजातं तत्, प्रतिक्रान्तम् —अकरणविषयीकृतं येनासावालोचितप्रतिक्रान्तः अथवाऽऽलोचितश्चासावालोचनादानात् प्रतिक्रान्तश्च मिथ्यादुष्कृतदानादालोचितप्रतिक्रान्तः ।
- २।७०. 'परिणिच्वाणवत्तियं'ति परिनिर्वाणं—मरणं तत्र यच्छरीरस्य परिष्ठापनं तदपि परिनिर्वाणमेव तदेव प्रत्ययो—हेतुर्वस्य स परिनिर्वाणप्रत्ययोऽतस्तं ।
- २।७१. 'कहिं गए'ति कस्यां गतौ 'कहिं उववण्णे'ति क देवलोकादौ ? इति ।
- २।७२. 'एगइयाणं'ति एकेषां न तु सर्वेषाम् ।
- २।७३. 'आउक्खए णं'ति आयुष्कर्मदलिकनिर्जरणेन, 'भवक्खएणं'ति देवभवनिबन्धनभूतकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेन 'टित्तिक्खएणं'ति आयुष्कर्मणः स्थितेर्वेदनेन 'अणंतरं'ति देवभवसम्बन्धिनं 'चयं'ति शरीरं 'चइत्त'ति त्यक्त्वा अथवा 'चयं'ति च्यवं—च्यवनं 'चइत्त'ति च्युत्वा कृत्वाऽनन्तरं क गमिष्यति ? इत्येवमन्तरशब्दस्य सम्बन्धः कार्य इति ।

॥द्वितीयशते प्रथमोद्देशकः ॥

द्वितीय उद्देशकः

अथ द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायगभिसम्बन्धः—केण वा मरणेण मरमाणे जीवे बह्वइ ति प्रागुक्तं, मरणं च मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्यान्यथा च भवतीति समुद्घातस्वरूपमिहोच्यते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम्—

- २।७४. 'कइ णं भंते ! समुग्घाए'त्यादि तत्र 'हन् हिंसागत्योः' इति वचनाद् हननानि—घाताः सम्—एकीभावे उत्—प्राबल्येन तत्तश्चैकीभावेन प्राबल्येन च घाताः समुद्घाताः, अथ केन सहैकीभावः ? उच्यते—यदाऽऽत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवतीति वेदनाद्यनुभवज्ञानेन सहैकीभावः । अथ प्राबल्येन घाताः कथम् ? उच्यते—यस्माद् वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यानुवीरणाकारणेनाकृत्य उदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जयति, आत्मप्रदेशैः सह श्लिथान् शातयतीत्यर्थः, अतः प्राबल्येन घाता इति ।

'सत्त समुग्घाए'ति वेदनासमुद्घातादयः । एते च प्रज्ञापनायामिव द्रष्टव्याः, अत एवाह—'छाउमत्थिए'त्यादि, 'छाउमत्थियसमुग्घायवज्जं'ति 'कइ णं भंते ! छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता' इत्यादिसूत्रवर्जितं 'समुग्घायपयं'ति प्रज्ञापनायाः षट्त्रिंशत्तमपदं समुद्घातार्थमिह नेतव्यं तद्यैवम्—'कइ णं भंते ! समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तंजहा—वेयणसमुग्घाए कसायसमुग्घाए'इत्यादि । इह संग्रहगाथा—

“वेयण कसाय मरणे वेज्जिव तेयए य आहारे ।

केवलिए चेव भवे जीवमणुस्साण सत्तेव ॥”

जीवपदे मनुष्यपदे च सप्त वाच्याः । नारकादिषु तु यथायोगमित्यर्थः । तत्र वेदनासमुद्घातेन समुद्भूत आत्मा वेदनीयकर्मपुद्गलानां शातं करोति, कषायसमुद्घातेन कषायपुद्गलानां मारणान्तिकसमुद्घातेनायुःकर्मपुद्गलानां, वैकुर्विकसमुद्घातेन तु समुद्भूतो जीवप्रदेशान् शरीराद् वर्तिर्नष्काश्य शरीरविष्कम्भवाहत्यामात्रमायामतश्च संख्येययोजनानि दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् निसिरिता प्राग्बद्धान् शातयति यथासूक्ष्मांश्चादत्ते, यथोक्तम्—'वेउच्चियसमुग्घाएणं समोहण्णइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दण्डं निसिरइ, निसिरित्ता अहाबायरे पोग्गले घरिसाइइ, अहासुहुमे पोग्गले आइयइ'ति एवं तैजसाहारकसमुद्घातावपि व्याख्येयौ । केवलिसमुद्घातेन तु समुद्भूतः केवली वेदनीयादिकर्मपुद्गलान् शातयतीति, एतेषु च सर्वेष्वपि समुद्घातेषु शरीराजीवप्रदेशनिर्गमोऽस्ति ।

सर्वे चैतेऽन्तर्मुहूर्त्तमानाः नवरं केवलिकोऽष्टसामयिकः । एतेचैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामादितस्त्रयो, वायुनारकाणां चत्वारः, देवानां पंचेन्द्रियतिरश्चां च पञ्च, मनुष्याणां तु सप्तेति ।

॥द्वितीयशते द्वितीयोद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

अथ तृतीय आरम्भते । अस्य चायमभिसम्बन्धः—द्वितीयोद्देशके समुद्घाताः प्ररूपिताः, तेषु च मारणान्तिकसमुद्घातः तेन समवहता केचि-
त्पृथिवीषूपघन्त इतीह पृथिव्यः प्रतिपाद्यन्ते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम्—

२।७५. 'कइ णं भंते ! पुढवीओ'इत्यादि, इह च जीवाभिगमे नारकद्वितीयोद्देशकार्थसंग्रहगाथा—

“पुढवी ओगाहिता निरया संठाणमेव बाहल्लं ।
विकखंभपरिक्खेवो वण्णो गंधो य फासो य ॥”

सूत्रपुस्तकेषु च पूर्वार्द्धमेव लिखितं शेषाणां विवक्षितार्थानां यावच्छब्देन सूचितत्वादिति । तत्र 'पुढवि'ति पृथिव्यो वाच्याः ताक्षैवम्—'कइ णं
भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! सत्त, तंजहा—रणम्भे'त्यादि ।

'ओगाहिता निरय'ति पृथिवीमवगाह्य कियद्दूरे नरकाः ? इति वाच्यं, तत्रास्यां रत्नप्रभायामशीतिसहस्रोत्तरयोजनलक्षबाहल्यायामुपर्येकं योजन-
सहस्रमवगाह्याधोऽप्येकं वर्जयित्वा त्रिंशत्ररकलक्षाणि भवन्ति । एवं शर्कराप्रभादिषु यथायोगं वाच्यम् ।

'संठाणमेव'ति नरकसंस्थानं वाच्यम् । तत्र ये आवलिकाप्रविद्यस्ते वृत्ताख्यसाश्चतुरस्राश्च, इतरे तु नानासंस्थानाः ।

'बाहल्लं'ति नरकाणां बाहल्यं वाच्यं, तद्य त्रीणि योजनसहस्राणि, कथम् ? अथ एकं मध्ये शुषिरमेकमुपरि च संकोच एकमिति ।

'विकखंभपरिक्खेवो'ति एतौ वाच्यौ । तत्र संख्यातविस्तृतानां संख्यातयोजन आयामो विष्कम्भः परिक्षेपश्च, इतरेषां त्वन्यथेति ।

तथा वर्णादयो वाच्याः, ते चात्यन्तमनिधा इत्यादि बहु वक्तव्यं यावदयमुद्देशकान्तः, यदुत—

२।७६. 'किं सध्वपाणा ?'इत्यादि, अस्य चैवं प्रयोगः—अस्यां रत्नप्रभायां त्रिंशत्ररकलक्षेषु किं सर्वे प्राणादयः उत्पन्नपूर्वाः ? अत्रोत्तरम्—'असइ'ति
असकृद्—अनेकशः । इदं च वेलाद्वयादावपि स्यादतीऽत्यन्तबाहुल्यप्रतिपादनायाह—'अदुव'ति अथवा 'अणंतखुत्तो'ति 'अनन्तकृत्वः'
अनन्तवाराणिति ।

॥द्वितीयशते तृतीयोद्देशकः ॥

चतुर्थ उद्देशकः

तृतीयोद्देशके नारका उक्ताः, ते च पंचेन्द्रिया इतीन्द्रियप्ररूपणाय चतुर्थोद्देशकः तस्य चादिसूत्रम्—

२।७७. 'कइ ण'मित्यादि, 'पढमिल्लो इंदियउद्देसओ नेयव्वो'ति प्रज्ञापनायामिन्द्रियपदाभिधानस्य पंचदशपदस्य प्रथम उद्देशकोऽत्र 'नेतव्वः'अध्येतव्वः ।
तत्र च द्वारगाथा—

“संठाणं बाहल्लं पोहत्तं कइपएसओगाढे ।
अप्पाबहुपुडुपविट्ठविसय अणगार आहारे ॥”

इह च सूत्रपुस्तकेषु द्वारत्रयमेव लिखितं शेषास्तु तदार्थां यावच्छब्देन सूचिताः । तत्र संस्थानं श्रोत्रादीन्द्रियाणां वाच्यं, तद्येदं—श्रोत्रेन्द्रियं
कदम्बपुष्पसंस्थितं चक्षुरिन्द्रियं मसूरकचन्द्रसंस्थितं, मसूरकम्—आसनविशेषश्चन्द्रः—शशी, अथवा मसूरकचन्द्रो—धान्यविशेषदलं । घ्राणे-
न्द्रियमतिमुक्तकचन्द्रसंस्थितं, अतिमुक्तचन्द्रकः—पुष्पविशेषदलं, रसनेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थितं, स्पशनेन्द्रियं नानाकारम् ।

'बाहल्लं'ति इन्द्रियाणां बाहल्यं वाच्यं, तद्येदं—सर्वाण्यंगुलासंख्येयभागबाहल्यनि ।

'पोहत्तं'ति पृथुत्वं, तद्येदं—श्रोत्रचक्षुर्घ्राणानामंगुलासंख्येयभागो जिह्वेन्द्रियस्यांगुलपृथक्त्वं, स्पशनेन्द्रियस्य च शरीरमानम् ।

'कइपएस'ति अनन्तप्रदेशनिष्पन्नानि पञ्चापि 'ओगाढे'ति असंख्येयप्रदेशावगाढानि ।

'अप्पाबहु'ति सर्वस्तोकं चक्षुरवगाहतस्ततः श्रोत्रघ्राणरसनेन्द्रियाणि क्रमेण संख्यातगुणानि ततः स्पशनं त्वसंख्येयगुणमित्यादि ।

'पुडुपविट्ठ'ति श्रोत्रादीनि चक्षुरहितानि स्पृष्टमर्थं प्रविष्टं च गृह्णन्ति ।

'विसय'ति सर्वेषां जघन्यतोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागो विषयः उत्कर्षतस्तु श्रोत्रस्य द्वादश योजनानि, चक्षुषः सातिरेकं लक्षं, शेषाणां च नव
योजनानीति ।

'अणगारे'ति अनगारस्य समुद्घातगतस्य ये निर्जरापुद्गलास्तात्र छद्मस्थो मनुष्यो पश्यतीति ।

'आहारे'ति निर्जरापुद्गलाभारकादयो न जानन्ति न पश्यन्ति आहारयन्ति चेत्येवमादि बहु वाच्यम् ।

अथ किमन्तोऽयमुद्देशकः ? इत्याह—'यावदलोकः' अलोकसूत्रान्तः, तद्येदम्—

२।७८. 'अलोमे णं भंते ! किणा फुडे कइहि वा काएहि फुडे ? गोयमा ! नो धम्मत्थिकाएणं फुडे जाव नो आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे आकासत्थिकायस्स पएसेहि फुडे, नो पुढविकाइएणं फुडे जाव नो अद्धासमएणं फुडे, एगे अजीवदव्वेसे अगुरुलहुए अणंतेहि अगुरुलहुयगुणेहि संजुते सव्यागासे अणंतभाग्णे'ति ।

नालोको धर्मास्तिकायादिना पृथिव्यादिकायैः समये च स्पृष्टो—व्याप्तः, तेषां तत्रासत्त्वात्, आकाशास्तिकायदेशादिभिश्च स्पृष्टः, तेषां तत्र सत्त्वात्, एकश्चासावजीवद्रव्यदेशः, आकाशद्रव्यदेशत्वात्तस्येति ।

॥द्वितीयशते चतुर्थोद्देशकः ॥

पंचम उद्देशकः

अनन्तरमिन्द्रियाण्युक्तानि तद्वशाच्च परिचारणा स्यादिति तत्रिरूपणाय पञ्चमोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—

२।७९. 'देवब्भूएणं'ति देवभूतेनात्मना करणभूतेन नो परिवारयतीति योगः । 'से णं'ति असौ निर्ग्रन्थदेवः 'तत्र' देवलोके 'नो' नैव 'अण्णे'ति 'अन्यान्' आत्मव्यतिरिक्तान् 'देवान्' सुरान् तथा नो अन्येषां देवानां सम्बन्धिनीर्देवीः 'अभिजुजिय'ति 'अभियुज्य' वशीकृत्य आश्लिष्य वा 'परिवारयति' परिभुक्ते णो 'अप्पणिच्चियाओ'ति आत्मीयाः 'अप्पणामेव अप्पणं विउव्विय'ति स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्य, एवं च स्थिते—'एगे वि व णं'मित्यादि 'परउत्थियवत्तव्वा णेयव्व'ति एवं चेत्यं ज्ञातव्या—'जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ तं समयं इत्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेयणाए इत्थीवेयं वेएइ, एवं खलु एगेऽवि व णं'मित्यादि । मिथ्यात्वं चैषामेवं—स्त्रीरूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात् पुरुषवेदस्यैवैकत्र समये उदयो न स्त्रीवेदस्य, स्त्रीवेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव, न पुरुषवेदस्योदयः, पररपरविरुद्धत्वादिति ।

२।८०. 'देवलोएसु'ति देवजनेषु मध्ये 'उववत्तारो भवंति'ति प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवतीति दृश्यं, 'महिद्धिए'इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यं—'महजुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे कडयतुडियथंभियभुए' त्रुटिका—बाहुरक्षिका 'अंगयकुंडलमड्ढगंडकण्णपीढधारी' अंगदानि—बाह्याभरणविशेषान्, कुंडलानि—कर्णाभरणविशेषान्, मृद्यगण्डानि च—उल्लिखितकपोलानि, कर्णपीठानि—कर्णाभरणविशेषान् धारयतीत्येवंशीलो यः स तथा, 'विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउत्तिमउडे' विचित्रमाला च—कुसुमसगु मौलौ—मस्तके मुकुटं च यस्य स तथा, इत्यादि यावत् 'रिद्धीए जुईए पभाए छायाए उच्चोए तेएणं लेसाए दस दिसाओ उच्चोवेमाणे'ति तत्र ऋद्धिः—परिवारादिका, युतिः—इष्टार्थसंयोगः, प्रभा—यानादिदीप्तिः, छाया—शोभा, अर्द्धिः—शरीरस्थरत्नादितेजोच्चाला, तेजः—शरीरार्चिः, लेश्या—देहवर्णः, एकाथविंते, उद्द्योतयन्, प्रकाशकरणेन, 'पभासेमाणे'ति प्रभासयन् शोभयन् ।

इह यावत्करणादिदं दृश्यं—'पासाइए' द्रपदृणां चित्तप्रसादजनकः 'दरिसणिजे' यं पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति 'अभिरुवे' मनोज्ञरूपः 'पडिरुवे'ति द्रष्टरं द्रष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथेति । एकैकैकैक एव वेदो वेद्यत इह कारणमाह—'इत्थी इत्थिवेएण'मित्यादि ।

परिचारणायां किल गर्भः स्यादिति गर्भप्रकरणं, तत्र—

२।८१. 'उदगग्ग्भे णं'कचित् 'दगग्ग्भे णं'ति दृश्यते तत्रोदकगर्भः—कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य चावस्थानं जघन्यतः समयः समयानन्तरमेव प्रवर्षणात् । उक्कृष्टतरतु षण्मासान्, षण्णं मासानामुपरि वर्षणात् । अयं च मार्गशीर्षपौषादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्या-रागमेघोत्पादादिलिङ्गो भवति । यदाह—

“पौषे समार्गशीर्षे सन्ध्यारागोऽन्वुदाः सपरिवेधाः ।

नात्यर्थं मार्गशीरे शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥”

२।८४. 'कायभवत्थे णं भंते !'इत्यादि, काये—जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो—जन्म स कायभवस्तत्र तिष्ठति यः स कायभदस्थः स च कायभवस्थ इति, एतेन पर्यायेणेत्यर्थः 'चउच्चीसं संवच्छराइ'ति स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया, इत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति । केचिदाहुः—द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनरतत्रैवान्यबीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति ।

२।८६. 'एयजीवे णं भंते !'इत्यादि, मनुष्णाणं तिरश्चां च बीजं द्वादश मुहूर्तान् यावद् योनिभूतं भवति, ततश्च गवादीनां शतपृथक्त्वरयापि बीजं गवादिद्योनिप्रविष्टं बीजमेव, तत्र च बीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यते, स च तेषां बीजस्वामिनां सर्वेषां पुत्रो भवतीत्यत उक्तम्—'उक्कोसेणं सयपुहुत्तसे'त्यादि । 'सयसहरसपुहुत्तं'ति मत्स्यादीनामेकसंयोगेऽपि शतसहरसपृथक्त्वं गर्भे उत्पद्यते निष्पद्यते चेत्येकस्यैकभवग्रहणे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां भवतीति । मनुष्ययोर्नै पुनरुत्पन्ना अपि बहवो न निष्पद्यन्त इति ।

२।८८. 'इत्थीए पुरिसस्स य'इत्येतस्य 'मैहुणवत्तिए नामं संयोगे समुप्यज्जति' इत्यनेन सम्बन्धः कस्यामसौ उत्पद्यते ? इत्याह—'कम्मकडाए जोणीए'ति नामकर्मनिर्वर्तितायां यौनौ अथवा कर्म—मदनोद्दीपको व्यापारस्तत् कृतं यस्यां सा कर्मकृताऽतस्तस्यां मैथुनस्यवृत्तिः—प्रवृत्तिर्यस्मिन्नसौ मैथुनवृत्तिको मैथुनं वा प्रत्ययो—हेतुर्यस्मिन्नसौ स्वार्थिके कप्रत्यये मैथुनप्रत्ययिकः 'नामं'ति नाम नामवतोरभेदोपचारादेतन्नामेत्यर्थः संयोगः संपर्कः।

'ते' इति स्त्रीपुरुषौ 'दुहओ'ति उभयतः 'सेहं' रेतः शोणितलक्षणं 'संचिनुतः' सम्बन्धयतः इति। 'मैहुणवत्तिए नामं संजोए'ति प्रागुक्तम्।

अथ मैथुनस्यैवासंयमहेतुताप्ररूपणसूत्रम्—

२।८९. 'रूपनालियं व'ति रूतं—कर्पासविकारस्तद्भूता नालिका—शुषिरवंशादिरूपा रूतनालिका ताम्। एवं बूरनालिकामपि, नवरं बूरं—वनस्पति-विशेषावयवविशेषः। 'समभिद्धसेज्ज'ति रूतादिसमभिध्वंसनात्, इह चायं वाक्यशेषो दृश्यः—एवं मैथुनं सेवमानो योनिगतसत्त्वान् मेहनेनाभिध्वंसयेत्। एते च किल ग्रन्थान्तरे पञ्चेन्द्रिया श्रूयन्ते इति। 'एरिसएण'मित्यादि च निगमनमिति।

पूर्वं तिर्यङ्मनुष्योत्पत्तिर्विचारिता, अथ देवोत्पत्तिविचारणायाः प्रस्तावनायेदमाह—

२।९४. 'अह'ति आढ्या धनधान्यादिभिः परिपूर्णाः 'दित'ति दीप्ताः—प्रसिद्धाः दृप्ता वा दर्पिताः 'विच्छिन्नविपुलभवनसयणासणजाणवाहणा' विस्तीर्णानि—विस्तारवन्ति विपुलानि—प्रचुराणि भवनानि—गृहाणि शयनासनयानवाहनैराकीर्णानि येषां ते तथा, अथवा विस्तारणानि—विपुलानि भवनानि येषां शयनासनयानवाहनानि चाकीर्णानि गुणवन्ति येषां ते तथा, तत्र यानं—गन्ध्यादि, वाहनं तु—अश्वादि 'बहुधुणबहुजायरुवरयया' बहु—प्रभूतं धनं—गणिमादिकं तथा, बहु एव जातरूपं—सुवर्णं रजतं च—रूप्यं येषां ते तथा, 'आओगपोगसंपउत्ता' आयोगो—द्विगुणादि-वृद्ध्याऽर्थप्रदानं प्रयोगश्च—कालान्तरं तौ संप्रयुक्तौ—व्यापारितौ यैस्ते तथा, 'विच्छिद्यविउलभत्तपाणा' विच्छिर्दितं—विविधमुज्जितं बहुलोकभोजनत उच्छिद्यवशेषसंभवात् विच्छिर्दितं वा—विविधविच्छिन्तमद्विपुलं भक्तं च पानकं च येषां ते तथा, 'बहुदासीदासगोमहिसगवेलगम्भूया' बहवो दासीदासा येषां ते गोमहिसगवेलकाश्च प्रभूता येषां ते तथा, गवेलका—उरभ्राः 'बहुजणरस अपरिभूया' बहुलोकस्यापरिभवनीयाः 'आसवे'त्यादौ क्रियाः—कायिक्यादिकाः 'अधिकरणं' गंत्रीयंत्रकादि 'कुसल'ति आश्रवादीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनः, 'असहेजे'त्यादि अविद्यमानं साहाय्यं—परसाहायकं अत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्यास्ते च ते देवादयश्चेति कर्मधारयः अथवा व्यस्तामेदं तेनासाहाय्या आपद्यपि देवादिसाहायकानपेक्षाः स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थः अथवा पाषण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यक्त्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षन्ते, स्वयमेव तद्व्यतिघातसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वाद्येति, तत्र देवा—वैमानिकाः 'असुरे'ति असुरकुमाराः 'नाग'ति नागकुमाराः उभयेऽप्यमी भवनपतिविशेषाः 'सुवण्ण'ति सद्दर्पाः ज्योतिष्काः यक्षराक्षसकिंनरकिंपुरुषाः—व्यन्तरविशेषाः 'गरुल'ति गरुडध्वजाः सुपर्णकुमाराः—भवनपतिविशेषाः गन्धर्वा महोरगाश्च—व्यन्तरविशेषाः 'अर्णात्तिकमभिज्ज'ति अनतिक्रमणीयाः—अचालनीयाः।

'लद्ध'ति अर्थश्रवणात् 'गहियट्ट'ति अर्थावधारणात् 'पुच्छियट्ट'ति सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् 'अभिगहियट्ट'ति प्रश्नितार्थस्याभिगमनात् 'विणिच्छियट्ट'ति ऐदम्पर्यर्थस्योपलम्भाद् अत एव 'अड्ढिमिज्जपेम्माणुरारगत्ता' अस्थीनि च—कोकसानि मिज्जा च—तन्मध्यवर्ती धातु-स्थितिज्जास्ताः प्रेमानुरागेण—सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भारिारगेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा, अथवाऽस्थिमिजासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा।

केनोत्लेखेन ? इत्याह 'अयमाउसो'इत्यादि, अयमिति—प्राकृतत्वादिदम् 'आउसो'ति आयुष्मन्निति पुत्रादेरामंत्रणं 'सेसे'ति शेषं—निर्ग्रन्थ-प्रवचनव्यतिरक्तं धनधान्यपुत्रकलत्रमित्रकुप्रवचनादिकमिति, 'असियफलिह'ति उच्छ्रितम्—उन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं येषां ते उच्छ्रितस्फटिकाः मौनीन्द्रप्रवचनावात्स्या परितुष्टमानसा इत्यर्थ इति वृद्धव्याख्या। अन्ये त्वाहुः—उच्छ्रितः—अर्गलास्थानादपनीयोद्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागदपनीत इत्यर्थः परिधः—अर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिधाः, अथवोच्छ्रितो—गृहद्वारादपगतः परिधो येषां ते उच्छ्रितपरिधाः औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकाणां गृहप्रवेशनार्थमर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थः। 'अवंगुयदुवो'ति अप्रावृतद्वाराः—कपाटादिभिरस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः, सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाषण्डिकाद् बिभ्यति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या। अन्ये त्वाहुः—भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः। 'चियत्तो'ति लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशंकीयास्त इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—'चियत्तो'ति नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः—शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्वं विशेषणमिति। अथवा 'चियत्तो'ति त्यक्तोऽन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथंचिद्वेशो यैस्ते तथा।

'बहुह'इत्यादि शीलव्रतानि—अणुव्रतानि गुणा—गुणव्रतानि विरमणानि—औचित्येन रागादिनिवृत्तयः प्रत्याख्यानानि—पौरुष्यादीनि पौषधं—पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासः—अवस्थानं पौषधोपवासः, एषां द्वन्द्वोऽतस्तैर्युक्ता इति गम्यम्। पौषधोपवास इत्युक्तं, पौषधं च यदा यथाविधं च ते कुर्वन्तो विहरन्ति, तद्दर्शयन्नाह—'चाउहसे'त्यादि, इहोद्दिष्ट—अमावस्या 'पडिपुण्णं पोसहं'ति आहारादिभेदाद्यतुर्विधमपि सर्वतः।

'वत्यपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं' ति इह पतद्ग्रहं—पात्रं पादप्रोच्छनं—रजोहरणं 'पीढे'त्यादि पीठम्—आसनं फलकं—अवष्टम्भनफलकं शय्या—वसतिवृहत्संस्तारको वा संस्तारको—लघुतरः एषां समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन 'अहापरिग्गहिएहं'ति यथाप्रतिपन्नैर्न पुनर्हासं नीतैः।

२।९५. 'धेर'ति श्रुतवृद्धः, 'रूवसम्पन्न'ति इह रूपं—सुविहितनेपथ्यं शरीरसुन्दरता वा तेन सम्पन्ना—युक्ता रूपसंपन्नाः 'लज्जासंपन्ना लघवसंपन्ने'ति लज्जा—प्रसिद्धा संयमो वा लघवः—द्रव्यतोऽल्पोपधिवत् भावतो गौरवत्यागः, 'ओयसी'ति ओजस्विनो मानसावष्टम्भयुक्ताः 'तेयंसो'ति 'तेजस्विनः,

शरीरप्रमायुक्ताः 'वहंसि'ति 'वर्चस्विनः' विशिष्टप्रभावोपेताः 'वचस्विनो वा, विशिष्टवचनयुक्ताः 'जसंसी'ति ख्यातिमंतः अनुस्वारश्रैतेषु प्राकृतत्वात्, 'जीवियासमरणभयविष्यमुक्ता'ति जीविताशया मरणभयेन च विप्रमुक्ता ये ते तथा ।

इह यावत्करणादिदं दृश्यं—'तवष्पहाणा गुणष्पहाणा' गुणाश्च संयमगुणाः तपःसंयमग्रहणं चेह तपःसंयमयोः प्रधानमोक्षाङ्गताभिधानार्थं, तथा 'करणष्पहाणा चरणष्पहाणा' तत्र करणं—पिण्डविशुद्ध्यादि, चरणं—व्रतश्रमणधर्मादि 'निग्गहष्पहाणा' निग्रहः—अन्यायकारिणां दण्डः 'निच्छय-ष्पहाणा' निश्चयः—अवश्यकरणाभ्युपगमस्तत्त्वनिर्णयो वा 'मद्दवष्पहाणा अञ्जवष्पहाणा' मनु जितक्रोधादित्वात्माईवादिप्रधानत्वमवगम्यत एव तत्किं मार्दवेत्यादिना ? उच्यते, तत्रोदयविकलतोक्ता, मार्दवादप्रधानत्वे तूदयाभाव एवेति । 'लाघवष्पहाणा' लाघवं—क्रियासु दक्षत्वं 'खंतिष्पहाणा मुक्तिष्पहाणा एवं विज्ञामंतवेयबंभनयनिपमसञ्जसोयष्पहाणा' 'चारुष्पहाणा'सञ्जज्ञाः 'सोही' शुद्धिहेतुत्वेन शोधयः सुहृदो वा—मित्राणि जीवानामिति गम्यम् 'अणियाणा अप्पुसुया अबहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिपसिणवागरणे' ति अच्छिप्राणि—अविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा, तथा 'कुत्तियावणभूय'ति कुत्रिकं—स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणं भूमित्रयं तत्संभवं वस्त्वपि कुत्रिकं तत्संपादक आपणो—हृष्टः कुत्रिकापणस्तद्भूताः समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः 'सद्धि'ति सार्द्धं सहेत्यर्थः 'संपरिवृताः' सम्यक्परिवारिताः परिकरभावेन परिकरिता इत्यर्थः पंचभिः श्रमणशतैरेव ।

२।६६. 'सिंघाडा'ति शृङ्गाटकफलाकारं स्थानं, त्रिकं—रथ्यात्रयमीलनस्थानं, चतुष्कं—रथ्याचतुष्कमीलनस्थानं चत्वरं—बहुतररथ्यामीलनस्थानं, महापथो—राजमार्गः, पन्था—रथ्यामात्रम् । यावत्करणाद् 'बहुजणसदे इ वा'इत्यादि पूर्वं व्याख्यातमत्र दृश्यम् ।

२।६७. 'पडिसुणो'ति अभ्युपगच्छति 'सयाइ'ति स्वकीयानि 'कयबलिकम्म'ति स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म यैः स्वगृहदेवतानां ते तथा, 'कय-क्रोडयमंगलपायच्छित्त'ति कृतानि कौतुकमंगलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नविधातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्तै तथा । अन्ये त्वाहुः 'पायच्छित्त'ति पादेन पादे वा फुसाश्चक्षुदोषपरिहारार्थं पादच्छुताः' कृतकौतुकमंगलाश्च ते पादच्छुताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि—मणीतिलकादीनि मंगलानि तु—सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाकुंरादीनि । 'सुद्धप्पावेसाइ'ति शुद्धात्मनां वैष्याणि—वैषोचितानि अथवा शुद्धानि च तानि प्रवेश्यानि च राजादि-समाप्रवेशोचितानि शुद्धप्रवेश्यानि 'वत्याइ पवराइ परिहिय'ति क्वचित् दृश्यते, क्वचिच्च 'वत्याइ पवरपरिहिय'ति, तत्र प्रथमपाठो व्यक्तः, द्वितीयस्तु प्रवरं यथाभवत्येवं परिहिताः प्रवरपरिहिताः 'पायविहारचारेणं'ति पादविहारेण न यानविहारेण यश्चारे—गमनं स तथा तेन ।

'अभिगमेणं'ति प्रतिपत्त्या अभिगच्छति तत् समीपम् अभिगच्छन्ति 'सचित्तार्णं'ति पुष्पताम्बूलादीनां 'विउसरणयाए'ति 'व्यदसर्जनया'त्यागेन 'अच्चित्तार्णं'ति वस्त्रमुद्रिकादीनाम् 'अविउसरणयाए'ति अत्यागेन 'एगसाडिएणं'ति अनेकोत्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् 'उत्तरासंगकरणेणं'ति उत्तरासंगः—उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः 'चक्षुःस्पर्श' दृष्टिपाते 'एगतीकरणेणं'ति अनेकत्वस्य—अनेकालम्बनत्वस्य एकत्वकरणम्—एका-लम्बनत्वकरणमेकत्रीकरणं तेन 'तिविहाए पञ्जुवासाणाए'ति इह पर्युपासनात्रैविध्यं मनोवाक्कायभेदादिति ।

२।६८. 'महइमहालियाए'ति आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वान्महातिमहत्याः ।

२।१००. 'अणण्हयफले'ति न आश्रवः अनाश्रवः अनाश्रवो—नवकर्मनुपादानं फलमस्येत्यनाश्रवफलः संयमः 'बोदाणफले'ति 'दाप् लवने' अथवा 'द्वैप् शोधने' इति वचनाद् । व्यवदानं—पूर्वकृतकर्मवन्मगहनस्य लवनं प्राकृतकर्मकचवरशोधनं वा फलं यस्य तद्व्यवदानफलं तप इति ।

२।१०१. 'किंणितियं'ति कः प्रत्ययः—कारणं यत्र तत् किंप्रत्ययम् ? निष्कारणमेव देवा देवलोकेषूपद्यन्ते तपःसंयमयोरुक्तनीत्या तदकारणत्वादित्यभिप्रायः ।

२।१०२. 'पुव्वतवेणं'ति पूर्वतपः—सरागावस्थाभावितपस्या, वीतरगावस्थापेक्षया सरागावस्थायाः पूर्वकालभावित्वात्, एवं संयमोऽपि अयथाख्यात-चारित्र्यमित्यर्थः । ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वावाप्तिः, रागांशस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् ।

'कम्मियाए'ति कर्म विद्यते यस्यासौ कर्मा तद्भावस्तत्ता तथा कर्मितया । अन्ये त्वाहुः—कर्मणां विकारः कार्मिका तथाऽक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः । 'संगियाए'ति संगो यस्यास्ति स संगी तद्भावस्तत्ता तथा, ससंगो हि द्रव्यादिषु संयमादियुक्तोऽपि कर्म बध्नाति, ततः संगितया देवत्वावाप्तिरिति । आह च—

“पुव्वतवसंजमा होति राणिणो पच्छिमा अरागस्स ।

रागो संगो बुत्तो संगो कम्मं भवो तेणं ॥”

'सञ्जे ण'मित्यादि सत्योऽयमर्थः कस्मात् ? इत्याह—'नो चेव ण'मित्यादि नैवात्मभाववक्तव्यतयाऽयमर्थः आत्मभाव एव—स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो—वाच्योऽभिमानाद् येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव—आत्मभाववक्तव्यता—अहंमानिता तथा, न वयमहंमानितयैवं ब्रूमः अपि तु परमार्थ एवायमेवंविध इति भावना ।

२।१०७. 'अतुरियं'ति कायिकत्वराहितम् 'अवचलं'ति मानसचापत्यरहितम् 'असंभंते'ति असंभ्रान्तज्ञानः 'घरसमुदाणस्स' गृहेषु समुदानं—भैक्षं गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय 'थिक्खायरियाए'ति भिक्षासमाचारेण ।

२।१०८. 'जुगंतरपलोयणाए'ति युगं—यूपस्तत्प्रमाणमन्तरं—स्वदेहस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना तथा दृष्ट्या 'रियं' ति ईर्या गमनम् ।

- २।१०६. 'से कहमेयं मण्णे एव'ति अथ कथमेतत् स्थविरवचनं मन्ये इति वितर्कार्थो निपातः 'एवम्' अमुना प्रकारेणेति बहुजनवचनम्।
- २।११०. 'पभू णं'ति 'प्रभवः' समर्थास्ते 'समियां णं'ति सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक् ते व्याकर्तुं वर्तन्ते अविपर्यासास्ते इत्यर्थः समञ्जन्तीति वा सम्यञ्चः समिता वा—सम्यक्प्रवृत्तयः श्रमिता वा—अभ्यासवन्तः 'आउज्जिय'ति 'आयोगिकाः' उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः जानन्तीति भावः, 'पलिउज्जियं'ति परिसमन्तात् योगिकाः परिज्ञानिन इत्यर्थः परिजानन्तीति भावः।
अनन्तरं श्रमणपर्युपासनासंविधानकमुक्तम्, अथ सा यत्फला, तद्दर्शनार्थमाह—
- २।१११. 'तहारूव'मित्यादि 'तथारूपम्' उचितस्वभावं कञ्चन पुरुषं श्रमणं वा तपोयुक्तम्, उपलक्षणत्वादस्योत्तरगुणवन्तमित्यर्थः, 'माहनं' वा स्वयं हनननिवृत्तत्वात्परं प्रति मा हनेतिवादिनम्, उपलक्षणत्वादेव मूलगुणयुक्तमिति भावः। वाशब्दो समुच्चये, अथवा 'श्रमणः' साधुः 'माहनः' श्रावकः। 'सवणफले'ति सिद्धान्तश्रवणफला। 'णाणफले'ति श्रुतज्ञानफलं, श्रवणाद्धि श्रुतज्ञानमवाप्यते। 'विण्णाणफले'ति विशिष्टज्ञानफलं, श्रुतज्ञानाद्धि हेयोपादेयविवेककारिविज्ञानमुत्पद्यते एव। 'पच्चक्खाणफले'ति विनिवृत्तिफलं विशिष्टज्ञानो हि पापं प्रत्याख्याति। 'संजमफले' कृतप्रत्याख्यानस्य हि संयमो भवत्येव। 'अण्हयफले'ति अनाश्रवफलः संयमवान् किल नवं कर्म नोपादत्ते। 'तवफले'ति अनाश्रवो हि लघुकर्मत्वात्तपस्यतीति। 'बोदाणफले'ति व्यवदानं—कर्मनिर्जरणं, तपसा हि पुरातनं कर्म निर्जरयति। 'अकिरियाफले'ति योगनिरोधफलं, कर्मनिर्जरातो हि योगनिरोधं कुरुते। 'सिद्धिपञ्चवसाणे'ति सिद्धिलक्षणं पर्यवसानफलं—सकलफलपर्यन्तवर्ति फलं यस्या सा तथा।
'गाह'ति संग्रहमाथा, एतल्लक्षणं, चैतद्—'विषमाक्षरपादं वा' इत्यादि छन्दःशास्त्रप्रसिद्धमिति।
तथारूपस्यैव श्रमणादेः पर्युपासना यथोक्तफला भवति, नातथारूपस्य, असम्यग्भाषित्वादिति असम्यग्भाषितामेव केषाञ्चिद्दर्शयन्नाह—
- २।११२. 'अन्नउत्थिये'त्यादि, 'पचयस्स अहे'ति अधस्तात्तस्योपरि पर्वत इत्यर्थः। 'हरए'ति ह्रदः 'अघे'ति अघाभिधानः क्वचित्तु 'हरए' ति न दृश्यते। अघेत्यस्य च स्थाने 'अघे'ति दृश्यते। तत्र वाच्यः—अपां प्रभवो ह्रद एवेति। 'ओराल'ति विस्तीर्णः—'बलाहय'—ति मेघाः 'संसेयंति' 'संस्विद्यन्ति' उत्पादाभिमुखीभवन्ति, 'संमुच्छंति'ति संमुच्छन्ति उत्पद्यन्ते 'तव्वइरिते य'ति ह्रदपूर्णादतिरिक्तश्चोत्कलित इत्यर्थः। 'आउयाए'ति अप्कायः 'अभिनिस्सवइ'ति अभिनिःश्रवति क्षरति।
- २।११३. 'मिच्छं ते एवमाइक्खंति'ति मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विभंगज्ञानपूर्वकत्वात् प्रायः सर्वज्ञवचनविरुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रत्यक्षेण प्रायोऽन्यथोपलम्भाच्चावगन्तव्यम्।
'अदूरसामंते'ति नातिदूरे नाप्यतिसमीप इत्यर्थः 'एत्थ णं'ति प्रज्ञापकेनोपदर्शयमाने 'महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे'ति आतप इवातपः—उष्णता महाश्लासावातपश्चेति महातपः महातपस्योपतीरं—तीरसमीपे प्रभव—उत्पादो यत्रासौ महातपोपतीरप्रभवः। प्रश्रवति—क्षरतीति प्रश्रवणः प्रस्यन्दन इत्यर्थः। 'चक्कमंति' उत्पद्यन्ते 'विउक्कमंति' विनश्यन्ति, एतदेव व्यत्ययेनाह—च्यवन्ते चेति उत्पद्यन्ते चेति।
उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह 'एस ण'मित्यादि 'एषः' अनन्तरोक्तरूपः एष चान्ययूथिकपरिकल्पिताद्यसञ्ज्ञो महातपोपतीरप्रभवः प्रश्रवण उच्यते, तथा 'एषः' योऽयमनन्तरोक्तः 'उसिणजोणीए'त्यादि स महातपोपतीरप्रभवस्य प्रश्रवणस्यार्थः—अभिधानान्वर्थः प्रज्ञप्तः इति।

॥द्वितीयशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

पंचमोद्देशकस्यान्तेऽन्यवृत्तिका मिथ्याभाषिण उक्ताः, अथ षष्ठे भाषास्वरूपमुच्यते, तत्र सूत्रम्—

- २।११५. 'से णूणं भंते ! मण्णामी'ति 'ओहारिणी भास'ति सेशब्दोऽथशब्दार्थे स च वाक्योपन्यासे, 'नूनम्' 'उपमानावधारणतर्कप्रश्नहेतुषु' इह अवधारणे 'भदन्त' इति गुर्वामन्त्रणे 'मन्ये' अवबुध्ये इति। एवमवधार्यते—अवगम्यतेऽनयेत्यवधारणी, अवबोधबीजभूतेत्यर्थः। भाष्यत इति भाषा—तद्योग्यतया परिणामितनिसृष्टनिसृज्यमानद्रव्यसंहतिरिति हृदयम्। एष पदार्थः, अयं पुनर्वाक्यार्थः—अथ भदन्त ! एवमहं मन्येऽवश्यमवधारणी भाषेति। एवममुना सूत्रक्रमेण भाषापदं प्रज्ञापनायामेकादशं भणितव्यमिह स्थाने। इह च भाषा द्व्यक्षेत्रकालभावैः सत्यादिभिश्च भेदैरन्यैश्च बहुभिः पर्यायैर्विचार्यते।

॥द्वितीयशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

भाषाविशुद्धेर्देवा भवन्तीति देवोद्देशकः सप्तमः, तस्य चेदं सूत्रम्—

- २।११६. 'कइ णं'मित्यादि, 'कइ णं'ति कति देवा जात्यपेक्षयेति गम्यम्। कतिविधा देवाः ? इति हृदयम्।

२।११७. 'जहा ठाण्णए'ति यथा—यत्प्रकारा यादृशी प्रज्ञापनाया द्वितीये स्थानपदाख्ये पदे देवानां वक्तव्यता 'से'ति तथाप्रकारा भणितव्येति, नवरं 'भवणा पण्णत्ता' ति क्रचिद् दृश्यते, तस्य च फलं न सम्यगवगम्यते, देववक्तव्यता चैवम्—'इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सवाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेड्डा वेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्जे अट्टहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तारिं च भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं'इत्यादि ।

तद्गतमेवाभिधेयविशेषं विशेषेण दर्शयति—'उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे'ति, उपपातो—भवनपतिस्वस्थानप्राप्त्याभिमुखं तेनोपपातमाश्रित्येत्यर्थः लोकस्यासंख्येयतमे भागे वर्तन्ते भवनवासिन इति । 'एवं सव्वं भाणियव्वं'ति 'एवम्' उक्तन्यायेनान्यदपि भणितव्यं, तच्चेदम्—'समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइ भागे'ति मारणान्तिकादिसमुद्घातवर्तिनो भवनपतयो लोकस्यासंख्येय एव भागे वर्तन्ते ।

तथा 'संठाणेणं लोयस्स असंखेज्जे भागे' स्वस्थानस्य—उक्तभवनवाससातिरेककोटिसप्तकलक्षणस्य लोकसंख्येयभागवर्तित्वादिति, एवमसुरकुमाराणाम्, एवं तेषामेव दाक्षिणात्यानामौदीच्यानां, एवं नागकुमारादिभवनपतीनां यथौचित्येन व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां वैमानिकानां च स्थानानि वाच्यानि कियद्दूरं यावदित्याह—'जाव सिद्धे'ति यावत् सिद्धगण्डिका—सिद्धस्थानप्रतिपादनपरं प्रकरणं, सा चैवम्—'कहि णं भंते ! सिद्धाणं ठाणा पण्णत्ता ?'इत्यादि ।

इह च देवस्थानाधिकारे यत्सिद्धगण्डिकाऽभिधानं तत्स्थानाधिकारबलादित्यवसेयं, तथेदमपरमपि जीवाभिगमप्रसिद्धं वाच्यं, तद्यथा—'कप्पाण पड्डाणं' कल्पविमानानामाधारे वाच्य इत्यर्थः, स चैवम्—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणपुढवी किंपइड्डिया पण्णत्ता ? गोयमा ! घणोदहिपइड्डिया पण्णत्ता' इत्यादि, आह च—

“घणउदहिपइड्डाणा सुरभवणा होति दोसु कप्पेसु ।

तिसु वाउपइड्डाणा तदुभवसुपइड्डिया तिसु य ॥

तेण परं उवरिमया आगसंतरपइड्डिया सवे ।” ति ।

तथा 'बाहल्ल'ति विमानपृथिव्याः पिंडो वाच्यः, स चैवम्—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणपुढवी केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! सत्तावीसं जोयणसयाइ'इत्यादि, आह च—

“सत्तावीस सयाइ आइमकप्पेसु पुढविबाहल्लं ।

एक्किक्काणि सेसे दु दुगे य दुगे चउके य ॥”

त्रैवेयकेषु द्वाविंशतिर्बोजनानां शतानि, अनुत्तरेषु त्वेकविंशतिरिति ।

'उच्चत्तमेव' ति कल्पविमानोच्चत्वं वाच्यं, तच्चैवम्—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणा केवइयं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचजोयणसयाइ' इत्यादि, आह च—

“पंच सउच्चत्तेणं आइमकप्पेसु होति उ विमाणा ।

एक्केक्कुडुडि सेसे दु दुगे य दुगे चउके य ॥”

त्रैवेयकेषु दशबोजनशतानि अनुत्तरेषु त्वेकादशेति ।

'संठाणं'ति विमानसंस्थानं वाच्यम्, तच्चैवम्—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणा किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! जे आवलियापविड्डा ते वट्टा तंसा चउरंसा, जे आवलियाबाहिरा ते नाणासंठिय'ति ।

उक्तार्थस्य शेषमतिदिशन्नाह—जीवाभिगमेत्यादि, स च विमानानां प्रमाणवर्णप्रमाणान्धादिप्रतिपादनार्थः ।

॥द्वितीयशते सप्तमोद्देशकः ॥

अष्टम उद्देशकः

अथ देवस्थानाधिकाराच्चमरचञ्चाभिधानदेवस्थानादिप्रतिपादनायाष्टमोद्देशकः, तस्य वेदं सूत्रम्—

२।११८. 'कहि ण'णमित्यादि, 'असुरिंदस्स'ति सवेश्वरतामात्रेणापि स्यादित्याह—असुरराजस्य, वशवर्त्तसुरनिकायस्येत्यर्थः । 'उप्पायपच्चए'ति तिर्यग्-लोकगमनाय यत्रागत्योत्पत्तति स उत्पातपर्वत इति ।

'गोत्थुभस्से'त्यादि, तत्र गोस्तुभो लवणसमुद्रमध्ये पूर्वस्यां दिशि नागराजावासपर्वतस्तस्य चादिमध्यान्तेषु विष्कम्भप्रमाणमिदम्—

“कमसो विक्खंभो से दसबावीसाइ जोयणसयाइ ।

सत्तसए तेवीसे चत्तारिसए य चउवीसे ॥”

इहैव विशेषमाह—'नवर'मित्यादि, ततश्चेदमापन्नम्—'मूले दसवावीसे जोयणसए विक्खंभेणं गज्जे चत्तारि चउवीसे उवरिं सत्ततेवीसे, मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मज्जे एयं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं उवरिं दोण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं' पुस्तकान्तरे त्वेतत्सकलमस्येवेति ।

'वरवइरविग्गहिए'ति वरवज्रस्येव विग्रहः—आकृतिर्यस्य स स्वार्थिके कप्रत्यये सति वरवज्रविग्रहिको, मध्ये क्षाम इत्यर्थः । एतदेवाह—'महामउंदे' त्यादि मुकुन्दो—वाघविशेषः, 'अच्छे'ति स्वच्छ आकाशस्फटिकवत् । यावत्करणादिदम् दृश्यम्—'सण्हे' श्लक्ष्णः श्लक्ष्णपुद्गलनिवृत्तत्वात् 'लण्हे' मसृणः 'घट्टे' घृष्टः इव घृष्टः खरशानया प्रतिमेव 'मट्टे' मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशानया प्रतिमेव प्रमार्जनिकयेव वा शोधितः अत एव 'नीरए' नीरजा रजोरहितः 'निम्मले' कठिनमलरहितः 'निण्णके' आर्द्रमलरहितः 'निक्कडच्छाए' निरावरणदीप्तिः 'सण्णभे' सत्यभावः 'रामरिईए' सकिरणः 'सउज्जेए' प्रत्यासन्नवस्तुद्वयोत्तकः पासाइए ४ ।

'पउमवरवेइयाए वणसंडस्स य वण्णओ'ति वेदिकावर्णको यथा—'सा णं पउमवरवेइया अद्धं जोयणं उद्धं उच्चत्तेणं पंचधणुयायाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामईं तिण्णिच्छकूडउवरितलपरिक्खेवसमा परिक्खेवेणं, तीसे णं पउमवरवेइयाए इमे एयारूवे वण्णादासे पण्णत्ते' 'वर्णकव्यासः' वर्णकविस्तरः 'वइरामया नेमा'इत्यादि, 'नेम'ति स्तम्भानां मूलपादाः ।

वनखण्डवर्णकस्त्वेवम्—'से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्खवालविक्खंभेणं पउमवरवेइयापरिक्खेवसमे परिक्खेवेणं, किण्णे किण्णभासे' इत्यादि ।

२।११६. 'बहुसमरमणिज्जे'ति अत्यन्तसमो रमणीयश्चेत्यर्थः 'वज्रओ'ति वर्णकस्तस्य वाच्यः, स चायम्—'से जहानामए आलिगपुक्खरे इ वा' आलिगपुक्करं—मुरजमुखं तद्वत्सम इत्यर्थः 'मुइंगपुक्खरे इ वा सरतले इ वा करतले इ वा आयंसमंडले इ वा चंदमंडले इ वे'त्यादि ।

२।१२०. 'पासायवडिंसए'ति प्रासादोऽवतंसक इव—शेखरक इव प्रधानत्वात् प्रासादावतंसकः ।

'पासायवण्णओ'ति प्रासादवर्णको वाच्यः स चैवम्—'अब्भुग्गयमूसियपहसिए' अभ्युद्गतमभ्रोद्गतं वा यथाभवत्येवमुच्छ्रितः अधवः मकारस्यागमिकत्वाद् अभ्युद्गतश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः, प्रथमैकवचनलोपश्चात् दृश्यः । तथा प्रहसित इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः प्रभया वा सितः—शुक्लः संबद्धो वा प्रभासित इति 'मणिकणगरयणभत्तिचित्ते' मणिकनकरत्नानां भक्तिभिः—विच्छ्रित्तिभिश्चित्रो विचित्रो यः स तथा इत्यादि ।

'उल्लोयभूमिवण्णओ'ति उल्लोचवर्णकः प्रासादस्योपरिभागवर्णकः, स चैवम्—'तस्स णं पासायवडिंसयस्स इमेयारूवे उल्लोए पण्णत्ते' पउमलयभत्तिचित्ते जाव सव्वतवण्णज्जमाए अच्छे जाव पडिरूवे' भूमिवर्णकस्त्वेवम्—'तस्स णं पासायवडिंसयस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तंजहा—आलिगपुक्खरे इ वे'त्यादि ।

'सपरिवारं'ति चमरसम्बन्धिपरिवारसिंहासनोपेतं, तन्नैवम्—तस्स णं सिंहासणस्स अवरुत्तरे णं उत्तरे णं उत्तरपुरत्थिमे णं एत्थ णं चमरस्स चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीणं चउसट्ठी भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ एवं पुरत्थिमे णं पंचण्हं अग्गमहिरीणं सपरिवाराणं पंच भद्दासणाइं सपरिवाराइं दाहिणपुरत्थिमे णं अक्खिंतरियाए परिसाए चउव्वीसाए देवसाहस्सीणं चउव्वीसं भद्दासणसाहस्सीओ, एवं दाहिणे णं मज्झिमाए अट्ठावीसं भद्दासणसाहस्सीओ, दाहिणपच्चत्थिमे णं बाहिरियाए बत्तीसं भद्दासणसाहस्सीओ पच्चत्थिमे णं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्ता भद्दासणाइं, चउट्ठीसिं आयरक्खदेवाणं चत्तारि भद्दासणसहस्सचउसट्ठीओति ।

'तेत्तीसं भोम'ति वाचनान्तरे दृश्यते, तत्र भौमानि—विशिष्टस्थानानि नगराकारणीत्यन्ते ।

२।१२१. 'ओवारियलेणं'ति गृहस्य पीठबन्धकल्पम् । 'सव्वप्पमाणं वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्वं'ति अयमर्थः—यत्तस्यां राजधान्यां प्राकारप्रासादसभादि वस्तु तस्य सर्वस्योच्छ्रयादि प्रमाणं सौधर्मवैमानिकविमानप्राकारप्रासादसभादिवस्तुगतप्रमाणस्याद्धं च नेतव्यं, तथाहि—सौधर्मवैमानिकानां विमानप्राकारो योजनानां त्रीणि शतान्युच्चत्वेन, एतस्यास्तु सार्द्धं शतम् । तथा सौधर्मवैमानिकानां भूतप्रासादः पंच योजनानां शतानि तदन्ये चत्वारस्तत्परिवारभूताः सार्द्धं द्वे शते प्रत्येकं च तेषां चतुर्णामप्यन्ये परिवारभूताश्चत्वारः सपादशतम् । एवमन्ये तत्परिवारभूताः सार्द्धां द्विषष्टि एवमन्ये सपादैकत्रिंशत् । इह तु मूलप्रासादाः सार्द्धं द्वे योजनशते एवमर्द्धार्द्धहीनास्तदपरे यावदन्तिमाः पंचदश योजनानि पंच च योजनस्याष्टंशाः ।

एतदेव वाचनान्तरे उक्तम्—'चत्तारि परिवारीओ पासायवडिंसगणं अद्धच्छहीणाओ'ति एतेषां च प्रासादानां चतसृष्वपि परिपाटीषु त्रीणि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति, एतेभ्यः प्रासादेभ्यः उत्तरपूर्वयां दिशि सभा सुधर्मा सिद्धायतनमुपपातसभा हदोऽभिषेकसभाऽलंकारसभा व्यवसायसभा चेति । एतानि च सुधर्मसभादीनि सौधर्मवैमानिकसभादिभ्यः प्रमाणतोऽर्द्धप्रमाणानि । ततश्चोच्छ्रय इहेषां षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चाशदायामो विष्कम्भश्च पंचविंशतिरिति । एतेषां च विजयदेवसम्बन्धिनामिव 'अणेगखंभसयसण्णिदिट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेइया' इत्यादिवर्णको वाच्यः ।

तथा 'दासाणं उप्पिं बहवे अट्ठुमंगलगा झया छत्ताइछत्ता'इत्यादि, अलंकारश्च सभादीनां वाच्यः । सर्वं च जीवाभिगमोक्तं विजयदेवसम्बन्धि चमरस्य वाच्यं, यावदुपपातउत्पातसभायां संकल्पश्चाभिनवोत्सवस्य किं मम पूर्वं पश्चाद् वा कर्तुं श्रेयः ? इत्यादिरूपः ।

अभिषेकश्चाभिषेकसभायां महदूर्ध्वा सामानिकादिदेवकृतः, विभूषणा च वस्त्रालंकारकृताऽलंकारसभायां, व्यवसायश्च व्यवसायसभायां पुस्तकवाचनतः, अर्चनिका च सिद्धायतने सिद्धप्रतिमादीनां, सुधर्मसभागमनं च सामानिकादिपरिवारोपेतस्य चमरस्य, परिवारश्च सामानिकादिः,

ऋद्धिमत्त्वं च 'एवंमहिद्धि' इत्यादिवचनैर्वाच्यमस्येति । एतद् वाचनान्तरेऽर्थतः प्रायोऽवलोक्यत एवेति ।

॥द्वितीयशतेऽष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

चमरचञ्चालक्षणं क्षेत्रमष्टमोद्देशक उक्तम् । अथ क्षेत्राधिकारादेव नवमे समयक्षेत्रमुच्यत इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदं सूत्रम्—

२।१२२. 'किमिद'मित्यादि, तत्र समयः—कालस्तेनोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रम् । कालो हि दिनमासादिरूपः सूर्यगतिस्मभिव्यंग्यो मनुष्यक्षेत्र एव न परतः, परतो हि नादित्याः संचरिष्यव इति ।

२।१२३. 'एवं जीवाभिगमवक्तव्यया नेयव्व'ति एषां चैवम्—एगं जोयणसयसहसं आयामविकखंभेण'मित्यादि 'जोइसविहूणं' ति तत्र जम्बू-द्वीपादिमनुष्यक्षेत्रवक्तव्यतायां जीवाभिगमोक्ततायां ज्योतिष्कवक्तव्यताऽप्यस्ति ततस्तद्विहीनं यथा भवत्येवं जीवाभिगमवक्तव्यता नेतव्येति ।

वाचनान्तरे तु 'जोइसअद्धिविहूणं'ति इत्यादि बहु दृश्यते, तत्र 'जंबूद्वीवे णं भन्ते ! कइ चंदा पभासिं सु वा ३ ? कति सूरिया तविं सु वा ३? कइ नक्खत्ता जोइ जोइं सु वा ३ ? इत्यादिकानि प्रत्येकं ज्योतिष्कसूत्राणि, तथा—'से केणट्टेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ जंबूद्वीवे दीवे गोयमा ! जंबूद्वीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं लवणरस दाहिणेणं जाव तत्थ तत्थ बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जाव उवसोहेमाणा चिईति, से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जंबूद्वीवे दीवे'इत्यादीनि प्रत्येकमर्थसूत्राणि च सन्ति । ततश्चैतद्विहीनं यथा भवत्येवं जीवाभिगमवक्तव्यतया नेयं अस्योद्देशकस्य सूत्रं 'जाव इमा गाह'ति संग्रहगाथा—सा च

“अरहंत समय बायर विज्जू थणिया बलाहगा अगणी ।

आगर निहि नइ उवराग निग्गमे बुद्धिवयणं च ॥”

अस्याश्चार्थस्तत्रानेन सम्बन्धेनायातो—जम्बूद्वीपादीनां मानुषोत्तरान्तानामर्थानां वर्णनस्यान्ते इदमुक्तम्—'जाव च णं माणुसुत्तरे पव्वए तावं च णं अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ' मनुष्यलोक उच्यत इत्यर्थः । तथा 'अरहंते'ति जावं च णं अरहंता चक्रवर्ती जाव सावियाओ मणुया पगइभइया विणीया तावं च णं अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ । 'समय'ति जावं च णं समयो इ वा आवलिया इ वा जाव अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ, एवं जावं च णं बायरे विज्जुयारे बायरे थणियसहे जावं च णं बहवे ओराला बलाहया संसेयति, 'अगणि' ति जावं च णं बावरे तेउवाए जावं च णं आगरा इ वा निही इ वा नई इ वा 'उवराग'ति चंदोवरागा इ वा सूरुवरागा इ वा तावं च णं अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ । उपरागो—ग्रहणं 'निग्गमे बुद्धिवयणं च'ति यावच्च निर्गमादीनां वचनं—प्रज्ञापनं तावन्मनुष्यलोक इति प्रकृतं, तत्र 'जावं च णं चंदिमसूरियाणं जाव तारावुवाणं अइगमणं निग्गमणं वुद्धी निव्वुद्धी आघविज्जइ तावं च णं अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ'ति । अतिगमनमिहोत्तरायणं निर्गमनं—दक्षिणायनं वृद्धिः—दिनस्य वद्धनं निवृद्धिः—तस्यैव हानिरिति ।

॥द्वितीयशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः

अनन्तरं क्षेत्रमुक्तं तद्यास्तिकायदेशरूपमित्यस्तिकायाभिधानपरस्य दशमोद्देशकस्यादिसूत्रम्—

२।१२४. 'कइ ण'मित्यादि अस्तिशब्देन प्रदेशो उच्यन्तेऽत्रस्तेषां काया—राशयोऽस्तिकायाः अथवाऽस्तीत्ययं निपातः कालत्रयाभिधावी, ततोऽस्तीति—सन्ति आसन् भविष्यन्ति च ये कायाः—प्रदेशराशयस्तेऽस्तिकाया इति । धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः, तथाहि—धर्मास्तिकायादिपदस्य मांगलिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः । तदनन्तरं च तद्विषयत्वाद् धर्मास्तिकायः ततश्च तदाधारत्वादाकाशास्तिकायः, ततोऽनन्त-त्वामूर्त्तत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिकायः, ततस्तदुपष्टम्भकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ।

२।१२५. 'अवण्णे'इत्यादि, यत एवावर्णादिरत एव अरूपी अमूर्तो न तु निःस्वभावो, नञः पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतो द्रव्यतः अवस्थितः प्रदेशतः 'लोगदव्वे'ति लोकस्य—पंचास्तिकायात्मकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यं, भावत इति पर्यायतः 'गुणओ'ति कार्यतः 'गमणगुणे'ति जीवपुद्गलानां गति परिणतानां गत्युपष्टम्भहेतुर्मत्स्यानां जलमिवेति ।

२।१२६. 'ठाणगुणे'ति जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतुर्मत्स्यानां स्थलमिवेति ।

२।१२७. 'अवगाहणागुणे'ति जीवादीनामवकाशहेतुर्बदराणां कुण्डमिव ।

२।१२८. 'उवओगुणे'ति उपयोगः—चैतन्यं साकारमाकारभेदम् ।

२।१२६. 'गहणगुणे'ति ग्रहणं—परस्परं सम्बन्धनं जीवेन वा ! औदारिकादिभिः प्रकारैरिति ।

२।१३३. 'खंडं चक्रे'इत्यादि यथा खण्डचक्रं चक्रं न भवति, खण्डचक्रमित्येवं तस्य व्यपदिश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चक्रं चक्रं भवति। एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेनाप्यूनो न धर्मास्तिकाय इति वक्तव्यः स्याद्। एतच्च निश्चयनयदर्शनं, व्यवहारनयमतं तु—एकदेशेनोनमपि वस्तु वस्त्वैव, यथा खण्डोऽपि घटो घट एव, छिन्नकर्णोऽपि श्वा श्वैव, भणन्ति च—'एकदेशविकृतमनन्यवदिति' ।

२।१३४. 'से किंखाइति' अथ किं पुनरित्यर्थः 'तत्त्वेऽपि' समस्ताः ते च देशापेक्षयाऽपि भवन्ति प्रकारकार्त्वर्येऽपि सर्वशब्दप्रवृत्तेरित्यत आह—'कसिण' ति कृत्वा न तु तदेकदेशापेक्षया सर्व इत्यर्थः ते च स्वभावरहिता अपि भवन्तीत्यत आह—प्रतिपूर्णाः—आत्मस्वरूपेणाविकलाः, ते च प्रदेशान्तरापेक्षया स्वस्वभावन्यूना अपि तथोच्यन्त इत्यत आह—'निरवसेस'ति प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावान्यूनाः, तथा 'एगगहणगहिय'ति एकग्रहणेन—एकशब्देन धर्मास्तिकाय इत्येवंलक्षणेन गृहीता ये ते तथा एकशब्दाभिधेया इत्यर्थः एकार्था वैते शब्दाः ।

२।१३५. 'पएसा अणता भाणियव्व' ति धर्माधर्मयोरसंख्येयाः प्रदेशा उक्ताः आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वाच्याः, अनन्तप्रदेशिकत्वात् त्रयाणामपीति । उपयोजगुणो जीवास्तिकायः प्राग्दर्शितः अथ तद्देशभूतो जीव उत्थानादियुग इति दर्शयन्नाह—

२।१३६. 'जीवे ण'मित्यादि, इह च 'सउद्धाने'इत्यादीनि विशेषणानि मुक्तजीवव्युदासार्थानि । 'आयभावेण'ति आत्मभावेन उत्थानशयनगमनभोजनादिरूपेणात्मपरिणामविशेषेण, 'जीवभावं'ति जीवत्वं चैतन्यं 'उपदर्शयति' प्रकाशयतीति वक्तव्यं स्याद् ? विशिष्टस्योत्थानादेर्विशिष्टचेतना-पूर्वकत्वादिति ।

२।१३७. 'अणताणं आभिणिबोहिण'त्यादि 'पर्यकाः' प्रज्ञाकृता अविभागाः पलिच्छेदाः, ते चानन्ता आभिनिबोधिकज्ञानस्यातोऽनन्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां सम्बन्धिनम् अनन्ताभिनिबोधिकज्ञानपर्यवात्मकमित्यर्थः । 'उपयोगं' चेतनाविशेषं गच्छतीति योगः । उत्थाना- दावात्मभावे वर्तमान इति हृदयम् ।

अथ यद्युत्थानाद्यात्मभावे वर्तमानो जीव आभिनिबोधिकज्ञानाद्युपयोगं गच्छति तत् किमेतावतैव जीवभावमुपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यात् ? इत्याशंकाह—'उवओगे'त्यादि, अत उपयोगलक्षणं जीवभावमुत्थानाद्यात्मभावेनोपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यादेवेति ।

अनन्तरं जीवचिन्तासूत्रमुक्तम्, अथ तदाधारत्वेनाकाशचिन्तासूत्राणि—

२।१३८. 'कतिविहे णं भंते !'इत्यादीनि तत्र लोकालोकाकाशयोर्लक्षणमिदं—

“धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत्क्षेत्रम् ।

तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ब्रह्मलोकख्यम् ॥” इति ।

२।१३९. 'लोगागासे ण'मित्यादौ षट् प्रश्नाः, तत्र लोकाकाशेऽधिकरणे 'जीव'ति संपूर्णानि जीवद्रव्याणि 'जीवदेस'ति जीवस्यैव बुद्धिपरिकल्पिता द्वायादयो विभागाः । 'जीवप्पएस'ति तस्यैव बुद्धिकृता एव प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा, निर्विभागा भागा इत्यर्थः । 'अजीव'ति धर्मास्तिकायादयः ।

ननु लोकाकाशे जीवा अजीवाश्चेत्युक्ते तद्देशप्रदेशास्तत्रोक्ता एव भवन्ति, जीवाद्यव्यतिरिक्तत्वाद्देशादीनां, ततो जीवाजीवग्रहणे किं देशादिग्रहणेनेति ? नैवं, निरवयवा जीवादय इति मतव्यवच्छेदार्थत्वादस्येति, अत्रोत्तरं—'गोयमा ! जीवावी'त्यादि, अनेन चाद्यप्रश्नत्रयस्य निर्वचनमुक्तम् ।

अथान्त्यस्य प्रश्नत्रयस्य निर्वचनमाह—'जे अजीवे'त्यादि, 'रूवी य'ति मूर्ताः, पुद्गला इत्यर्थः । 'अरूवी य'ति अमूर्ताः, धर्मास्तिकायादय इत्यर्थः । 'खंध'ति परमाणुप्रचयात्मकाः स्कन्धाः 'रकन्धदेशाः' द्वायादयो विभागाः 'रकन्धप्रदेशाः' तस्यैव निरंशा अंशाः 'परमाणुपुद्गलाः' स्कन्धभावमनापन्नाः परमाणव इति । ततो लोकाकाशे रूपिद्रव्यापेक्षया 'अजीवावि अजीवदेसाधि अजीवप्पएसवि' इत्येतदर्थतः स्याद्, अणूनां स्कन्धानां चाजीवग्रहणेन ग्रहणात् ।

'जे अरूवी ते पंचविहे'त्यादि अन्यत्रारूपिणो दशविधा उक्ताः तद्यथा—आकाशास्तिकायस्तद्देशस्तद्विशेषेण धर्माधर्मास्तिकायौ समयश्चेति दश, इह तु सभेदस्याकाशस्याधारत्वेन विवक्षितत्वात्तदाधेयाः सप्त वक्तव्या भवन्ति, न च तेऽत्र विवक्षिताः, वक्ष्यमाणकारणात् । ये तु विवक्षितारस्तानाह—पंचेति, कथमित्याह—'धम्मत्थिकाए'इत्यादि, इह जीवानां पुद्गलानां च बहुत्वादेकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा स्थाने संकोचादितथाविधपरिणामवशाद् बहवो जीवाः पुद्गलाश्च तथा तद्देशास्तद्विशेषश्च संभवन्तीतिकृत्वा जीवाश्च जीवदेशाश्च जीवप्रदेशाश्च, तथा रूपिद्रव्यापेक्षयाऽजीवाश्चाजीवदेशाश्चाजीवप्रदेशाश्चेति संगतम्, एकत्राप्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य सद्भावात् ।

धर्मास्तिकायादौ तु द्वितयमेव युक्तं, यतो यदा संपूर्णं वस्तु विवक्ष्यते तदा धर्मास्तिकायादील्युच्यते, तदंशविवक्षायां तु तद्विशेषा इति, तेषामवस्थितरूपत्वात् । तद्देशकल्पना त्वयुक्ता, तेषामवस्थितरूपत्वादिति । यद्यपि चानवस्थितरूपत्वं जीवादिदेशानामप्यस्ति तथाऽपि तेषामेकत्राश्रये भेदेन संभवः प्ररूपणाकारणं इह तु तन्नास्तिकायादेरेकत्वादसंकोचादिधर्मकत्वाद्येति, अत एव धर्मास्तिकायादिदेशनिषेधायाह—'नो धम्मत्थिकायस्स देसे' तथा 'नो अधम्मत्थिकायस्स देसे'ति ।

चूर्णिकारोऽप्याह—'अरूविणो दव्वा समुदयसद्वेणं भन्नंति, नीसेसा पएसेहिं वा नीसेसा भणिज्जा, नो देसेणं, तस्स अणवडियप्पमाणत्तणओ, तेण न देसेण निद्वेसो, जो पुण देससद्वो एएसु कओ सो सविसयगयववहारत्थं परदव्वफुसणादिगयववहारत्थं चे'ति । तत्र स्वविषये—धर्मास्तिकाया-

दिविषये यो 'देशस्य व्यवहारो'—यथा धर्मास्तिकायः स्वदेशेनोर्ध्वलोकाकाशं व्याप्नोतीत्यादिस्तदर्थम् । तथा परद्रव्येण—ऊर्ध्वलोकाकाशादिना यः स्वस्य स्पर्शनादिगतो व्यवहारो यथोर्ध्वलोकाकाशेन धर्मास्तिकायस्य देशः स्पृश्यते इत्यादिस्तदर्थमिति । 'अद्धासमय' ति अद्धा—काल-स्तल्लक्षणः समयः—क्षणोऽद्धासनयः, स चैक एव वर्तमानक्षणलक्षणः अतीतानगतयोरसत्त्वादिति ।

कृतं लोकाकाशगतप्रश्नषट्कस्य निर्वचनम्, अथालोकाकाशं प्रति प्रश्नयत्राह—

- २।१४० 'पुच्छ तह चेष'ति यथा लोकप्रश्ने तथाहि—'अलोकाकासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पएस'ति । निर्वचनं त्वेषां षण्णामपि निषेधः । तथा 'एग्रे अजीवदव्वदेसे'ति अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाशद्रव्यस्य भागरूपत्वात् । 'अगरुयलहुए'ति गुरुलघुत्वाव्यपदेश्यत्वात् 'अणंतेहिं अगरुयलहुयगुणेहिं'ति 'अननैः' स्वपर्यायपरपर्यायरूपैर्गुणैः, अगुरुलघुस्वभावा-रित्यर्थः । 'सव्वायासे अणंतभागूणे'ति लोकाकाशस्यालोकाकाशापेक्षयाऽनन्तभागरूपत्वादिति ।
अथानन्तरोक्तान् धर्मास्तिकायादीन् प्रमाणतो निरूपयत्राह—
- २।१४१. 'केमहालए'ति लुप्तभावप्रत्ययत्वान्निर्देशस्य किं महत्त्वं यस्यासौ किं महत्त्वं ? 'लोए'ति लोकः लोकप्रमितत्वात्लोकव्यपदेशाद् वा, उच्यते च—'पंचत्थिकायमइयं लोयं'इत्यादि । लोके चासौ वर्तते, इदं चाप्रश्नितमप्युक्तं, शिष्यहितत्वादाचार्यस्थेति 'लोकमात्रः' लोकपरिमाणः, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि व्यवहारतः स्यादित्यत आह—लोकप्रमाणः, लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्तद्विशानाम् । स चान्योऽन्यानुबन्धेन स्थित इत्येत-देवाह—'लोयफुडे'ति लोकेन—लोकाकाशेन सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः, तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्ट्वा तिष्ठतीति ।
पुद्गलास्तिकायो लोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठतीत्यनन्तरमुक्तमिति स्पर्शनाऽधिकारादधोलोकादीनां धर्मास्तिकायादिगतां स्पर्शनां दर्शयन्निदमाह—
- २।१४६. 'अहोलोए ण'मित्यादि 'सातिरेगं अद्ध'ति लोकव्यापकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य सातिरेकसप्तप्रमाणत्वाच्चाधोलोकस्य ।
- २।१४७. 'असंखेज्जइभागं'ति असंख्यातयोजनप्रमाणस्य धर्मास्तिकायस्याष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्लोकोऽसंख्यातभागवर्तीति तस्यासावसंख्येय-भागं स्पृशतीति ।
- २।१४८. 'देसूणं अद्धं'ति देशेनसप्तप्रमाणत्वाद्ूर्ध्वलोकस्येति ।
- २।१४६-१५२. 'इमा णं भंते !'इत्यादि इह प्रतिपृथिवि पंच सूत्राणि देवलोकसूत्राणि द्वादश, त्रैवेयकसूत्राणि त्रीणि, अनुत्तरेष्वग्रागभारासूत्रे द्वे—एवं द्विपञ्चाशत्सूत्राणि धर्मास्तिकायस्य किं संख्येयं भागं स्पृशन्तीत्याद्यभिलाषेनावसेयानि । तत्रावकाशान्तराणि संख्येयभागं स्पृशन्ति, शेषस्त्व-संख्येयभागमिति निर्वचनम् ।
- २।१५३. एतन्नेव सूत्राप्यधर्मास्तिकायलोकाकाशयोरिति । इहोक्तार्थसंग्रहगाथा भावितार्थैवेति ।

॥द्वितीयशते दशमोद्देशकः ॥

श्रीपंचभागे गुरुसूत्रमिण्डे, शतं स्थितानेकशते द्वितीयम् ।

अनैपुणेनापि मया व्यचारि, सूत्रप्रयोगज्ञावचोऽनुवृत्त्या ॥ इति ।

॥ इति श्री भगवतीवृत्ती द्वितीयं समाप्तम् ॥



जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित आगम साहित्य

वाचना-प्रमुख : गणाधिपति तुलसी
संपादक : विवेक : आचार्य महाप्रज्ञ

अंगसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-साहित)

भाग-१—(आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	पृ. ११००,	मू. ७००.००
भाग-२—(भगवई-विआहपण्णती)	पृ. १५००,	मू. ७००.००
भाग-३—(नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं)	पृ. ६२५,	मू. ५००.००

अवंगसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-साहित, शब्द-सूची)

(खण्ड-१)—(ओवाइयं, राइपसेणइयं, जीवाजीवाभिगमे)	पृ. ८००,	मू. ४००.००
(खण्ड-२)—(पण्णवणा, जंबुद्दीवपण्णती, चंदपण्णती, सुरपण्णती, निरयावलियाओ, कप्पवडिसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ)	पृ. ११७०,	मू. ६००.००

नवसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-साहित, शब्द-सूची)

(चार मूल, चार छेद, आवश्यक—आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहज्झयणं)	पृ. १३००,	मू. ७००.००
---	-----------	------------

आगम शब्दकोष

अंगसुत्ताणि तीनों भागों की समग्र शब्द-सूची	पृ. ८२३,	मू. ३००.००
--	----------	------------

मूल, छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण-सहित

दसवेआलियं	पृ. ६५०,	मू. ५००.००
उत्तरज्झयणाणि, भाग-१	पृ. ५१६,	मू. ५००.००
उत्तरज्झयणाणि, भाग-२	पृ. ५३६,	मू. ५००.००
सूयगडो, भाग-१	पृ. ७००,	मू. ६००.००
सूयगडो, भाग-२	पृ. ४१३,	मू. ४००.००
ठाणं	पृ. १०६०,	मू. ७००.००
समवाओ	पृ. ४६८,	मू. ५००.००
अनुओगदाराइं		मुद्रणाधीन
आयारो भाष्य (मूलपाठ, संस्कृत भाष्य, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण सहित)	पृ. ६००	मू. ३००.००
आयारो (मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण)	पृ. ३५६,	मू. २००.००
दसवेआलियं (गुटका)	पृ. १०७,	मू. २.००
उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	पृ. ४४१,	मू. ५.००
गाथा (आगमों के आधार पर भगवान् महावीर का जीवन और दर्शन रोचक शैली में)	पृ. ६००,	मू. २५०.००
भगवती की जोड़, भाग-१	पृ. ४७२,	मू. १३०.००
भगवती की जोड़, भाग-२	पृ. ५७५,	मू. ७०.००
भगवती की जोड़, भाग-३	पृ. ४८०,	मू. २००.००
भगवती की जोड़, भाग-४	पृ. ४७६,	मू. ३००.००
भगवती की जोड़, भाग-५	पृ. ४२०,	मू. ३००.००